भाषाविज्ञान

डॉ० भोलानाथ तिवारी

नवीन संशोधित संस्करण

किताब महल

भूमिका

भाषाविज्ञान की ओर मुझे आकर्षित करने का श्रेय स्वर्गीय श्रद्धेय गुरुवर धीरेन्द्र वर्मा को है। इस क्षेत्र मे कुछ गति होते ही मैने चार दिशाओं मे कार्य करने का निश्चय किया था और इस पुस्तक को लेकर इन दिशाओं मे निम्नांकित पुस्तकें प्रकाशित करने का विनम्र प्रयास किया है : (क) **सामान्य भाषाविज्ञान** : (१) भाषाविज्ञान, (२) शब्दों का जीवन, (३) शब्दों का अध्ययन, (४) भाषाचिंतन, (५) तुलनात्मक भाषाविज्ञान (अनुवाद), (६) आधुनिक भाषाविज्ञान, (७) शब्दो की कहानी, (८) शब्दविज्ञान, (९) व्यतिरेकी भाषाविज्ञान (संपादित), (१०) अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान (संपादित), (ख) **व्यावहारिक भाषाविज्ञान** : (१) हिन्दी भाषा, (२) ताजुज्बेकी, (३) अनुवादविज्ञान, (४) अभिव्यक्तिविज्ञान (अनुवाद), (५) हिन्दी ध्वनियाँ और उनका उच्चारण, (६) पारिभाषिक शब्दावली : कुछ समस्याएँ (सम्पादित), (७) काव्यानुवाद की समस्याएँ (सम्पादित), (८) कार्यालयी अनुवाद की समस्याएँ (सम्पादित), (९) पत्रकारिता के अनुवाद की समस्याएँ, (१०) भारतीय भाषाओ से हिन्दी में अनुवाद की समस्याएँ, (११) शैलीविज्ञान, (१२) व्यावहारिक शैलीविज्ञान, (१३) अनुवाद की व्यावहारिक समस्याएँ, (१४) कोशविज्ञान, (१५) हिन्दी भाषा की संरचना, (१६) अच्छी हिन्दी, (१७) हिन्दी भाषा-शिक्षण, (१८) हिन्दी वर्तनी की समस्याएँ, (१९) राजभाषा हिन्दी, (२०) हिन्दी भाषा की सामाजिक भूमिका, (२१) हिन्दी भाषा का संक्षिप्त इतिहास, (ग) **कोश** : (१) तुलसी शब्द-सागर, (२) बालकोश, (३) बृहत् पर्यायवाची कोश, (४) हिन्दी मुहावरा कोश, (५) कथाकोश (संकलित), (६) हिन्दी साहित्य की अन्तर्कथाएँ, (७) भाषाविज्ञान कोश, (८) कामायनी शब्दानुक्रमणिका, (९) व्यावहारिक हिन्दी-अँग्रेजी कोश, (१०) संक्षिप्त व्यावहारिक हिन्दी-अँग्रेजी कोश, (११) व्यावहारिक हिन्दी कोश, (१२) खालिकबारी (अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाएँ पुस्तक मे), (१३) ताजुज्बेकी-हिन्दी कोश (ताजुज्बेकी पुस्तक मे), (घ) **भाषाविज्ञान का इतिहास** : भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका।

इस दिशा मे मेरा पहला ग्रन्थ 'भाषाविज्ञान' मूलतः मेरे एम० ए० के नोटों पर आधारित था। धीरे-धीरे परिवर्तित-परिवर्धित होते इस सत्रहवें संस्करण मे इसका आकार अपेक्षित से काफी बड़ा हो गया है। इस संस्करण मे अनेक अनपेक्षित अंश निकाल दिये गये तथा साथ ही नये अपेक्षित अंश जोड़ भी दिये गये है। 'प्रोक्तिविज्ञान' शीर्षक एक नया अध्याय भी इस संस्करण में सम्मिलित कर दिया गया है।

इस पुस्तक के विभिन्न संस्करणों मे मुझे डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, डॉ० रमेशचन्द्र मेहरोत्रा आदि कई मित्रो तथा बिटिया मुकुल प्रियदर्शनी से बड़ी सहायता मिली है जिसके लिए मै इनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

—भोलानाथ तिवारी

विषय-सूची

८ ध्वनि विज्ञान [स्वप्न विज्ञान] २९३–३९६

— —

प्रवेश | १

भाषा किसे कहते हैं ?

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के नाते उसे आपस में सर्वदा ही विचार-विनिमय करना पडता है। कभी वह शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने आपको प्रकट करता है तो कभी सिर हिलाने से उसका काम चल जाता है। समाज के उच्च और शिक्षित वर्ग में लोगों को निमंत्रित करने के लिए निमंत्रण-पत्र छपवाये जाते है तो देहात के अनपढ़ और निम्नवर्ग में निमंत्रित करने के लिये हल्दी, सुपारी या इलायची बाँटना पर्याप्त समझा जाता रहा है। रेलवे गॉर्ड और रेल-चालक का विचार-विनिमय झंडियों से होता है, तो बिहारी के पात्र 'भरे भवन में करते है नैनन ही सों बात।' चोर अँधेरे में एक-दूसरे का हाथ छूकर या दबाकर अपने आपको प्रकट कर लिया करते हैं। इसी तरह हाथ से संकेत, करतल-ध्वनि, आँख टेढी करना, मारना या दबाना, खाँसना, मुँह बिचकाना तथा गहरी साँस लेना आदि अनेक प्रकार के साधनों से हमारे विचार-विनिमय का काम चलता है। ऐसे ही यदि पहले से निश्चित कर लिया जाये तो स्वाद या गंध द्वारा भी अपनी बात कही जा सकती है। उदाहरण क लिए, 'यदि मै कॉफी पिलाऊँ तो समझ जाना कि मेरे पास समय है, तुम्हारा काम करूँगा, किन्तु यदि चाय पिलाऊँ तो समझ जाना कि समय नहीं है, काम नहीं करूँगा;' या 'यदि मेरे कमरे में गुलाब की अगरबत्ती जलती मिले तो समझना कि तुम्हारा काम हो गया है, किन्तु यदि चंदन की अगरबत्ती जलती मिले तो समझ जाना कि काम नहीं हुआ है।' आशय यह कि गंध-इंद्रिय, स्वाद-इंद्रिय, स्पर्श-इंद्रिय, दृग-इंद्रिय तथा कर्ण-इंद्रिय—इन पाँचों ज्ञान-इंद्रियों में किसी के भी माध्यम से अपनी बात कही जा सकती है। यों इनमें पहली तथा दूसरी का प्रयोग प्रायः नही होता; हाँ, किया जा सकता है; स्पर्श-इंद्रिय का भी कम ही होता है। इससे अधिक प्रयोग आँख का होता है, जैसे रेल का सिगनल, गार्ड की हरी या लाल झंडी, सिर हिलाकर 'हाँ' या 'नहीं' करना, आदि। किन्तु इन सभी में सबसे अधिक प्रयोग कर्ण-इन्द्रिय का होता है। अपनी सामान्य बातचीत में हम इसी का प्रयोग करते है। वक्ता बोलता है और श्रोता सुनकर विचार या भाव को ग्रहण करता है।

कहने को अभिव्यक्ति के उपर्युक्त पाँचों ही प्रकार के साधन भाषा है, किन्तु सामान्यतः जैसा कि हम आगे देखेंगे, भाषा का इतना विस्तृत अर्थ प्राय. नही लिया जाता।

परिभाषा

अपने व्यापकतम रूप से तो '**भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा अपने विचारों को व्यक्त करते है,**' किन्तु भाषाविज्ञान में हम जिस भाषा का अध्ययन-विश्लेषण करते है, वह इतनी व्यापक नही है। उसमें हम उन सभी साधनों को नहीं लेते जिनके द्वारा विचारों को व्यक्त करते है और न उसे लिया जाता है जिसके द्वारा हम सोचते है। भाषा उसे कहते है जो बोली और सुनी जाती है और बोलना भी पशु-पक्षियों का नहीं, गूँगे मनुष्यों का भी नहीं, केवल बोल सकने वाले मनुष्यों का।

भाषा की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं: (१) 'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाष' धातु से बना है जिसका अर्थ है—'बोलना' या 'कहना'। अर्थात्, 'भाषा वह है जिसे बोला जाय'। (२) प्लेटो ने 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि विचार

और भाषा मे थोडा ही अन्तर है। 'विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।' (३) स्वीट के अनुसार 'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारो को प्रकट करना ही भाषा है।' (४) वेन्द्रिए कहते हैं, 'भाषा एक तरह का संकेत है। संकेत से आशय उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मानव अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता हैं। ये प्रतीक कई प्रकार के होते हैं, जैसे नेत्रग्राह्य, कर्णग्राह्य और स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से कर्णग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं।' आधुनिक भाषाशास्त्रियो मे अधिकाश ने भाषा की परिभाषा लगभग एक-सी दी है। उदाहरणार्थ, (५) ब्लॉक तथा ट्रेगर—A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a society group cooperates (६) स्त्रुत्वां—A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of a social group cooperate and interact (6) विश्वकोशो मे भी लगभग यही बात कही गई है। जैसे—Language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which, human beings, as members of a social group and participants in culture interact and communicate —इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका। दो अन्य परिभाषाएँ ये हैं Language is a purely human and non-instinctive method of communicating ideas, emotions and desires by means of voluntarily produced symbols —सपीर, I will consider a language to be a set (finite or infinite) of sentences, each finite in length and constructed out of a finite set of elements —चॉम्स्की। इनमें सपीर मे 'असहजवृत्तिक (non-instinctitive) शब्द ध्यान देने योग्य है। मानवतर भाषाएँ प्राय सहजवृत्तिक (instinctive) होती हैं।

यों अच्छा हो कि परिभाषा पर पहुँचने के पूर्व भाषा-विषयक मूलभूत बातो पर विचार कर ले—

(१) भाषा वक्ता के विचार को श्रोता तक पहुँचाती है, अर्थात् वह विचार-विनिमय का साधन होती है।

(२) भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के उच्चारणावयवो से नि सृत ध्वनि-समष्टि होती है। इसका आशय यह है कि अन्य साधनो से अन्य प्रकार की ध्वनियो (जैसे चुटकी बजाना, ताली बजाना, आदि) से भी विचार-विनिमय हो सकता है, किन्तु वे भाषा के अन्तर्गत नही आतीं।

(३) भाषा में प्रयुक्त ध्वनि-समष्टियाँ (या शब्द) सार्थक तो होती हैं, किन्तु उनका भावो या विचारों से कोई सहजात सम्बन्ध नही होता। यह सम्बन्ध 'यादृच्छिक' या 'माना हुआ' होता है। इसीलिए भाषा मे यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक (Arbitrary vocal symbols) होते हैं। इसका आशय यह है कि किसी ध्वनि-समष्टि या शब्द का जो अर्थ है, वह यों ही, बिना किसी तर्क नियम या कारण आदि के मान लिया गया है। यदि यह सम्बन्ध सहजात, तर्कपूर्ण, स्वाभाविक या नियमित होता तो सभी भाषाओ मे शब्दो का साम्य मिलता। अंग्रेज 'व्, आ, ट्, अ, र्' (वाटर) के योग को पानी समझता, तो इसका हिन्दी पर्याय भी लगभग यही होता। वह 'प्, आ, न्, ई' (पानी) का योग न होता। इसी कारण एक ही वस्तु, भाव या विचार के लिए विभिन्न भाषाओं में विभिन्न शब्द मिलते हैं। इस प्रसंग मे कभी-कभी एक प्रकार की शका उठाई जाती है। वह शका ध्वन्यात्मक (Onomotopoetic) शब्दो के बारे में है। लोगो की धारणा है कि यदि अन्य शब्दो मे नही, तो कम से कम ध्वन्यात्मक शब्दो मे अर्थ का सम्बन्ध ध्वनि मे अवश्य है। इसमे संदेह नही कि ध्वन्यात्मक (खटखट, धडधड, भो-

भों आदि) शब्दों में, अर्थ का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध ध्वनि से अवश्य है, किन्तु वह इतना अधिक नहीं है जितना प्रायः लोग मानते है। यदि यह सम्बन्ध पूर्ण होता तो सभी भाषाओं में 'तड़-तड़ाहट' को 'तड़तड़ाहट' ही कहते। कुत्ते सारे संसार में प्रायः एक से भूँकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनके भूँकने की ध्वनि के लिए प्रयुक्त शब्द सारी भाषाओं में एक या एक-से होने चाहिए। किन्तु, तथ्य यह है कि इसके लिए विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों में बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ, हिन्दी भो-भों या भौं-भौं, अंग्रेजी bow-bow, फ्रांसीसी gnaf-gnaf, जापानी wan-wan, रूसी गफ-गफ, उजबेक वोव-वोव, गुजराती भस-भस तथा तमिल कोल-कोल आदि। इसका अर्थ यह है कि एक ही ध्वनि के लिए विभिन्न भाषाओं में थोड़े-बहुत अनुकरण का सहारा लेते हुए बिना किसी खास नियम या पूर्ण व्यवस्था के ही ये शब्द बना या मान लिये गये हैं। यही स्थिति सभी प्रकार के शब्दों के बारे में है। यदि शब्द या भाषा में प्रयुक्त ये सार्थक ध्वनि-समष्टियाँ यों ही मानी हुई या यादृच्छिक (Arbitrary) न होतीं तो संसार की सभी भाषाएँ लगभग एक-सी होतीं। हिन्दी का 'भाषा' शब्द अंग्रेजी में 'लैंग्विज'' फ़ारसी में 'ज़बान', रूसी में 'यज़िक', जर्मन में 'स्प्राखे', अरबी में 'लिस्सान' तथा ग्रीक में 'लेइखेइन' न होता। यों इसमें संदेह नहीं कि इस यादृच्छिकता की अपनी सीमा होती है। ऐसा भी असम्भव नहीं कि अनेक शब्दों के निर्माण के समय निर्माणकर्ता के मस्तिष्क में या उनके सामने कुछ ऐसे तत्त्व रहे हों जिन्होंने शब्द के बनाने में सहायता की हो। साथ ही भाषा के अस्तित्व में आ जाने के बाद ऐसे बहुत से शब्द बनते भी हैं (जैसे वायुयान, हस्ती, रेलगाड़ी, घुसपैठिया), जो यादृच्छिक न होकर साधार और सुचिंतित होते है।

इस प्रसंग में एक और बात भी ध्यान देने की है। भाषा में प्रतीक वस्तु का नहीं होता, उसकी 'मानसिक संकल्पना' का होता है।
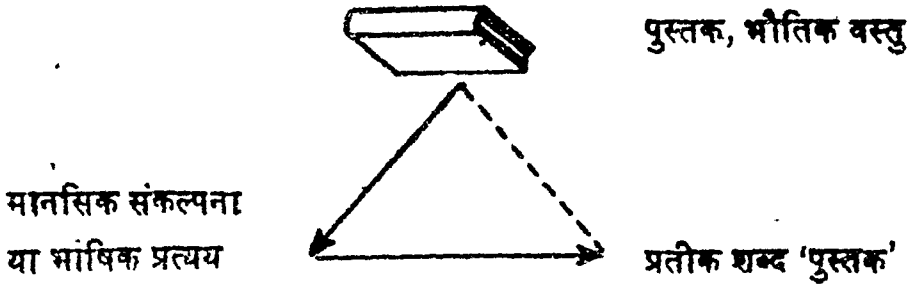
अर्थात्, प्रतीक का सीधा सम्बन्ध भौतिक वस्तु से नहीं होता। वह सम्बन्ध आरोपित है जिसे यहाँ बिन्दुओं से दिखाया गया है। भाषाभाषी के मस्तिष्क में भौतिक वस्तु की, मानसिक संकल्पना (भाषिक प्रत्यय) होती है और भाषिक प्रतीक उसी संकल्पना का प्रतीक होता है। इन तीनों को क्रमशः 'संकेतित वस्तु', 'संकेतार्थ' तथा 'संकेत-प्रतीक शब्द, भी कह सकते है।

एक बात और। सम्बन्ध तीन प्रकार के होते है : (१) **भौतिक सम्बन्ध**—जैसे आग और धुआँ में; (२) **भावनात्मक सम्बन्ध**—जैसे पूजा के फूल और श्रद्धाभाव में; (३) **यादृच्छिक सम्बन्ध**—यह भाषिक प्रतीकों और उसकी मानसिक संकल्पना में होता है। जैसे 'आग' की संकल्पना और 'आग' शब्द में। इसी आधार पर भौतिक प्रतीक, भावनात्मक प्रतीक तथा यादृच्छिक प्रतीक की चर्चा की जाती है।

(४) भाषा एक 'व्यवस्था' (System) होती है। उसके अपने नियम होते हैं जिससे उस भाषा के सभी बोलने वाले परिचित होते हैं। इसीलिए वक्ता जो कुछ कहता है, श्रोता वही

समझता है। भूतकाल का वाक्य भूतकाल का ही समझा जाता है, भविष्यकाल का नही। यदि गहराई से देखे तो भाषा व्यवस्थाओं की व्यवस्था है। ध्वनि, शब्दरचना, रूपरचना, वाक्यरचना सभी स्तरो पर उसमे व्यवस्था होती है। उदाहरण के लिए, हिन्दी मे ङ, ढ शब्द के प्रारम्भ मे नही आते या ड्, ञ् शब्द के आदि मे और अत मे नही आते। यह ध्वनि-स्तर पर व्यवस्था है। वाक्य-स्तर पर हिन्दी मे कर्ता+कर्म+क्रिया का क्रम होता है, किन्तु अग्रेजी मे कर्ता+क्रिया+कर्म का। यह वाक्य के स्तर पर व्यवस्था है। हिन्दी मे तत्सम प्रत्यय विदेशी शब्द के साथ प्राय नही आता। इसीलिए हिन्दी मे 'दीनता' बनता है, 'गरीबता' (गरीबी) नही बनता। यह शब्द-स्तर की व्यवस्था है।

एक दृष्टि से भाषा मे व्यवस्था दो प्रकार की होती है आतरिक और बाह्य। ऊपर भाषा की सरचना मे ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ आदि के स्तर पर जो व्यवस्था की चर्चा की गई, वह भाषा के भीतर की अर्थात् आतरिक व्यवस्था है। बाह्य व्यवस्था भाषाभाषियो मे इस रूप मे होती है कि किसी भाषाभाषी समुदाय के एक सदस्य के लिए किसी वस्तु-प्रत्यय-प्रतीक का जो सम्बन्ध होता है, दूसरो के लिए भी वही सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए, सभी हिन्दी भाषियो के मस्तिष्क मे 'पुस्तक' वस्तु का एक ही प्रत्यय या बिंब होता है जो 'पुस्तक' प्रतीक से व्यक्त होता है। इस तरह एक भाषा के सभी भाषियो मे वस्तु-बिंब-प्रतीक की दृष्टि से सहमति होती है। यदि ऐसा न हो तो वक्ता 'पुस्तक' कहे और श्रोता कॉपी, कागज या कुछ और समझे। यह है भाषा की बाह्य व्यवस्था जो भाषा को समाज मे बोधगम्य बनाती है।

(५) भाषा का प्रयोग समाज-विशेष मे होता है और उसी मे वह बोली और समझी जाती है।

उपर्युक्त सारी विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए भाषा की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—भाषा, उच्चारण-अवयवो से उच्चरित, यादृच्छिक (Arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज-विशेष के लोग आपस मे विचारो का आदान-प्रदान करते हैं।

अभी कहा गया है कि 'भाषा उच्चारण-अवयवो से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीको की उस व्यवस्था को कहते है जिसके द्वारा समाज-विशेष के लोग विचार-विनिमय करते हैं।' यदि इसमे 'भाषा के प्रकार्य (फक्शन) को जोड दें' तथा 'व्यवस्था' को गहराई से देखे और मानव-भाषा को दृष्टि मे रखे तो निम्नांकित बाते इस परिभाषा मे जोडी जा सकती हैं (क) भाषा विचार-विनिमय का साधन तो है ही, साथ ही कोई व्यक्ति चाहता है तो भाषा के माध्यम से अपने विचारो तथा अनुभवों को लेख, कविता, पुस्तक आदि मे व्यक्त भी करता है। (ख) यही नही, किसी व्यक्ति के भाषा-प्रयोग के आधार पर उस व्यक्ति के सामाजिक स्तर तथा व्यक्तित्व के विषय मे भी काफी कुछ पता सुनने वाले को भाषा से चल जाता है। (ग) जिसे प्रतीको की व्यवस्था कहा गया है, वह तत्वत 'प्रतीको की सरचनात्मक व्यवस्था' होती है। अर्थात्, भाषिक व्यवस्था के भीतर सरचना के स्तर होते हैं जो कई होते हैं। जैसे ध्वनि-स्तर, रूप-स्तर, वाक्य-स्तर आदि। (घ) जिस भाषा की चर्चा यहाँ की जा रही है, वह मानव-भाषा है, अत उसे मानव-उच्चारणावयवो से उच्चारित' कहना अधिक सही है, अन्यथा सभी जीव-जन्तुओ की उच्चरित भाषा इसके अन्तर्गत आ जायेगी जो यहाँ अपेक्षित नही है।

तो भाषा की अधिक व्यवस्थित और सर्वसमावेशी परिभाषा हुई—

भाषा मानव-उच्चारणावयवो से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीको की वह सरचनात्मक व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस मे विचार-विनिमय

करते हैं, लेखक, कवि या वक्ता रूप में अपने अनुभवों एवं भावों आदि को व्यक्त करते है तथा अपने वैयक्तिक और सामाजिक व्यक्तित्व, विशिष्टता तथा अस्मिता (identity) के संबंध में जाने-अनजाने जानकारी देते हैं।

मानव-भाषा

मानव-भाषा और उसके अभिलक्षण पर विचार करने के लिए यह आवश्यक होगा कि पहले मानवेतर भाषाओं पर संक्षेप में विचार कर लें।

मानवेतर भाषा

ऐसा प्राय. सोचा जाता है कि भाषा केवल मनुष्य की ही बपौती है, किन्तु ऐसी बात है नहीं। मानवेतर कई प्राणी किसी-न-किसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। यही नही, पेड़-पौधो की भी भाषा का अनुमान लगाया गया है। यहाँ इनमें से कुछ पर अत्यन्त सक्षेप में विचार किया जा रहा है :—

(क) मधुमक्खियों की भाषा—मानवेतर भाषाओं में मधुमक्खियों की भाषा प्रमुख है। मधुमक्खियाँ अपने साथ की मधुमक्खियों को अपनी सांकेतिक भाषा के माध्यम से कई तरह की सूचनाएँ देती है। मान ले एक मधुमक्खी उड़ते-उड़ते कही दूर चली गई तथा उसे वहाँ काफी फूल मिल गए जिनसे खाद्य-सामग्री ली जा सकती है तो वह लौटकर अपने छत्ते पर आएगी और वहाँ विभिन्न प्रकार के नाच करके, अर्थात् नृत्य-भाषा के माध्यम से अपने सहवासियों को एक तो इस बात की सूचना देगी कि खाद्य सामग्री छत्ते से किस दिशा में है तथा दूसरे वह लगभग कितनी दूर है। यही नही, कभी-कभी वे यह भी सकेत देती हैं कि उस स्थान पर खाद्य सामग्री किसी प्रकार की है। उल्लेख्य है कि किसी छत्ते में कुछ सजातीय तत्वों से ही वे मधु बनाती है, उसमें किसी विजातीय तत्त्व के आने से मधु के गुण-स्वाद में अंतर आ जाता है। सभी मधु एक रग या गंध के नहीं होते। उसका रहस्य यही है। कुछ तत्वों से उसमें एक रग आता है तो दूसरों से दूसरा। यही स्थिति गध की भी है। उदाहरण के लिए, बिहार के मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले में तथा आस-पास जहाँ लीची के मौसम में उसके फूलों से सामग्री लेकर मधुमक्खियाँ जो मधु बनाती हैं, उसमें लीची की गंध होती है तथा उसका रंग सामान्य शहद की तुलना में सफ़ेद होता है, वहीं सरसों के मौसम में जो शहद बनता है, उसमे कुछ पीलापन और लालिमा होती है तथा उसमें सरसों की गंध होती है।

कोई मधुमक्खी जब अपनी सहवासी मधुमक्खियो को उपर्युक्त प्रकार के संदेश देना चाहती है तो वह छत्ते के ऊपर नृत्य करती है। यह नृत्य दो प्रकार का होता है। एक तो गोलाकार नृत्य (Round dance) होता है तथा दूसरा पुच्छचालन नृत्य (tailwagging dance)। गोलाकार नृत्य से वे यह सूचना देती है कि खाद्य-स्रोत लगभग दस मीटर के भीतर है। इसमें वे एक बिन्दु से नृत्य करती गोलाकार पथ पर बढ़ती है तथा उस बिन्दु के पास पहुँच कर उलटे वापस होकर फिर उसी बिन्दु पर पहुँचकर फिर वापस मुड़ती है। यही प्रक्रिया कई बार चलती है। बीच-बीच में रुक-रुककर वे यही प्रक्रिया बार-बार दुहराती हैं। इससे सहवासिनी मधुमक्खियों को इस बात का पता चल जाता है कि सामग्री का प्राप्ति-स्थान लगभग दस मीटर के भीतर है। चूंकि चारों ओर दस मीटर का क्षेत्र बहुत बड़ा नहीं होता, अत. ऐसी स्थिति में दिशा बताने की आवश्यकता नही होती। हाँ, बीच में जब वे थोड़ी देर के लिए रुकती है तो जो नमूना वे अपने साथ लाई रहती है, उसकी गंध से अन्य मधुमक्खियों को वे यह भी बता देती है कि किस प्रकार की सामग्री वे लाए। यह इसलिए कि मान लें १० मीटर के क्षेत्र में किसी अन्य प्रकार की भी सामग्री उपलब्ध है तो ऐसा न हो कि कुछ तो एक प्रकार की सामग्री लाएँ और कुछ दूसरे प्रकार की, और इस प्रकार

मिश्रण से मधु अपेक्षित स्तर का बन पाए। इन दो के अतिरिक्त यह भी पाया गया है कि यदि स्रोत-स्थान पर खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा मे है तो वे तेजी से और देर तक नृत्य करती हैं तथा कम मात्रा मे है तो धीरे-धीरे और थोडी ही देर तक नाचती है। इस तरह नृत्य की अवधि और उसकी गति मे तीव्रता या अतीव्रता से वे सामग्री की मात्रा का भी संकेत कर देती हैं।

मधुमक्खियों का एक और भी नृत्य होता है जिसके आधार पर वे सौ मीटर के बाहर तक की सामग्री का पता अपनी सहवासिनी मक्खियो को देती हैं। इस नृत्य को पुच्छचालन नृत्य कहते है। इसमे दो अर्धवृत्त बनाते हुए मधुमक्खी नाचती है। यह नृत्य तीन प्रकार का होता है। यदि सामग्री सूरज की ओर है तो यह नृत्य सीधी रेखा मे ऊपर की ओर होता है, यदि सामग्री सूरज की ओर न होकर दूसरी दिशा मे है तो सीधी रेखा मे नीचे की ओर यह नृत्य होता है या फिर अन्य दिशा मे तो अस्सी अंश के कोण पर बाएँ सीधी रेखा में। इस तरह पुच्छचालन नृत्य द्वारा की गई अभिव्यक्ति सूर्य से सबद्ध है। दिशा के अतिरिक्त इस नृत्य में मधुमक्खियाँ दूरी का भी संकेत करती हैं। समीप के लिए नृत्य थोडी देर तक, तो दूर के लिए काफी देर तक या फिर नाच के बीच मे भिनभिनाकर भी वे दूरी का संकेत करती हैं। भिनभिनाना कम देर तक हो तो समीप, और नही तो दूर। कभी-कभी पुच्छचालन नृत्य मे मधुमक्खियाँ ग्यारह किलोमीटर तक का संकेत देती भी पाई गई हैं।

यहाँ स्वभावत एक प्रश्न उठता है कि पूरी दुनिया की मधुमक्खियाँ एक ही भाषा का प्रयोग करती हैं या आदमियो की भाषाओं की तरह उनमें भी अन्तर होता है। इस दिशा मे अध्ययनो से पता चला है कि अलग-अलग प्रजाति की मधुमक्खियों की भाषा मे तो अतर होता ही है, एक या सबद्ध प्रजाति की मधुमक्खियो की भाषाएँ भी पूर्णत एक नही होतीं। ऊपर जिस नृत्य-भाषा का उल्लेख है, वह आस्ट्रिया की काली मधुमक्खियो की है। पास ही इटली की इसी प्रजाति की मधुमक्खियो की भाषा उससे कुछ भिन्न है। ये दस से सौ मीटर की दूरी के संकेत के लिए हँसिया नृत्य करती हैं जो अर्धचद्राकार होता है।

यो मधुमक्खियाँ चाहे कही की हो, यह पाया गया है कि आदमियो की तरह वे अपने समाज से भाषा नहीं सीखती, उनमे यह क्षमता सहज होती है। हाँ, प्रारम्भ मे दूरी आदि की दृष्टि से उनके नृत्य बहुत सही नही होते तथा धीरे-धीरे वे अपेक्षित सटीकता सीखती हैं।

कुछ मधुमक्खी-विज्ञानवेत्ताओ ने इतालवी तथा आस्ट्रियाई मधुमक्खियो के क्रॉस ब्रीड से मिश्र मधुमक्खियाँ भी पैदा की। पाया यह गया कि उनके शरीर की बनावट यदि इतालवी मधुमक्खियों से मिलती-जुलती है तो वे उन जैसी भाषा का ही प्रयोग करती हैं किन्तु यदि वे आस्ट्रियाई मधुमक्खियों-जैसी हैं तो भाषा भी उन-जैसी ही होती है।

(ख) पक्षियो की भाषा—बहुत पुराने जमाने से पक्षियो के बोलने तथा गाने की ओर लोगो का ध्यान जाता रहा है। इसी कारण पौराणिक कथाओ तथा लोक-साहित्य मे पक्षियो के बोलने तथा गाने से सबद्ध अनेक बाते मिलती हैं। किस्सा तोता मैना या

कोयल काको देत है, कागा काको लेत ?
केवल मीठे वचन ते सबको मन हर लेत।

आदि उसी परम्परा में हैं। या पक्षी कई चाक्षुष-संकेतों का भी भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करते है। उदाहरण के लिए, ग्रीब (एक जल पक्षी) तथा नकलची चिड़िया (Mocking bird) अमेरिका का एक पक्षी जो दूसरे पक्षियो के आवाज की नकल करने के लिए प्रसिद्ध है) आदि का सहवास-ऋतु मे नृत्य संकेतक होता है। मोर का नृत्य भी अनभिप्राय नहीं होता। यद्यपि इन सबका अभी तक ठीक से अध्ययन नहीं हुआ है।

भाषा के रूप में पक्षी मोटे रूप में दो प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते है । एक तो संगीतात्मक होती है जिसे 'पक्षियों का गाना' या 'पक्षिगान' (Bird song) कहते हैं। दूसरी संगीतात्मक न होकर सामान्य होती है जिसे 'पक्षियों का बोलना' या 'पक्षी-पुकार' (Bird call) कह सकते है। इनमें पहला अर्थात् 'गाना' अपनी संरचना में काफ़ी जटिल होता है। इनका प्रयोग प्रायः नर पक्षी ही करते है। नर पक्षी एक तो सहवास-ऋतु में अपनी मादा को अपने पास बुलाने के लिए इनका प्रयोग करते हैं, दूसरे बहुत से नर पक्षियों का अपना क्षेत्र होता है जिसके भीतर ही वे अकेले नर पक्षी-रूप में विचरण करते है। ऐसे नर पक्षी अपने क्षेत्र-विशेष में अपना अधिकार जताने के लिए भी ज़ोर-जोर से गाते है। एक बार एक पक्षि-विशेषज्ञ ने एक नर पक्षी का संगीत टेप कर लिया तथा पास के एक नर पक्षी के क्षेत्र में जाकर उसे ज़ोर-ज़ोर से बजाने लगा। उसे सुनते ही अपने क्षेत्र में अन्य नर पक्षी की उपस्थिति का अनुमान लगाकर, उस क्षेत्र का नर पक्षी बहुत ज़ोर-ज़ोर से गाने लगा। वस्तुतः अपने पड़ोसी नर पक्षी की आवाज प्रायः नर पक्षी पहचानते है।

ऐसा लगता है कि पक्षिसंगीत का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः या परोक्षतः नर पक्षी की कामेच्छा से होता है। ऐसा भी पाया गया है कि नर पक्षी सहवास ऋतु में केवल तब तक गाता है जब तक उसे मादा पक्षी न मिले। मादा पक्षी मिलने के बाद वह प्रायः नहीं गाता। यह बात चैफ़िंच (गौरैया की तरह का एक पक्षी जो गाता है) में मुख्य रूप से पाई जाती है। एक ही नर पक्षी की उपर्युक्त दोनों प्रकार की संगीतात्मक आवाजें पूर्णतः एक नहीं होतीं। मादा को बुलाने के लिए जब वह गाता है तो उसके संगीत में एक तरलता तथा मादकता होती है किन्तु अपने क्षेत्र में दूसरे नर पक्षी की आवाज सुनकर प्रतिक्रियास्वरूप वह जो गाता है, उसमें वह तरलता या मादकता नहीं होती, बल्कि उसमें क्रोधयुक्त चुनौती होती है और साथ ही उसका अनुतान अपेक्षाकृत अधिक आरोहात्मक होता है। गाने वाले प्रसिद्ध रॉबिन पक्षी में तो इन दोनों कामों के लिए प्रायः दो प्रकार के (एक-दूसरे से काफ़ी भिन्न) संगीत का प्रयोग मिलता है।

कुछ पक्षियों की ऐसी भी प्रजातियाँ होती हैं जिनमें मादा पक्षी भी गाता है मुख्यतः नर पक्षी के गाने पर उसके उत्तर-स्वरूप। पूर्वी अफ्रीका के एक पक्षी (बाउ-बाउ श्राइक) में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। कभी-कभी तो गान मे स्वर के चौदह घटक पाए गए जिनमें चार पहले नर गाता है, फिर मादा तीन, फिर नर चार और फिर अंत में मादा तीन। या, यह भी पाया गया है कि पहले नर पूरे को गाता है, फिर मादा उसे पूरा दुहराती है। किन्तु दोनों की लय तथा गति में अन्तर होता है। झाड़ीवाले इलाकों मे अलग-अलग अपना चारा खोजते-खाते नर-मादा कभी-कभी आपस में सम्पर्क बनाए रखने के लिए भी थोड़ी-थोड़ी देर पर गाते पाए जाते है।

जिस तरह मानव-भाषा में अलग-अलग क्षेत्रों में एक ही भाषा की अलग-अलग बोलियाँ मिलती है, उसी तरह पक्षियों के गाने में भी बोलियाँ पाई जाती है। उदाहरण के लिए, चैफ़िंच के गाने में स्थानीय भेद प्रायः मिलते है। ये वर्षा के पहले गाता है। कहना न होगा कि भारतीय मोर का गाना भी वर्षा से सम्बद्ध पाया गया है। इनके इस वर्षापूर्व गीत मे स्थानीय अन्तर बहुत स्पष्ट मिलता है। एक बार एक पक्षि-विशेषज्ञ ने एक प्रयोग किया। उसने एक ही चैफ़िंच के तीन बच्चे लिए तथा तीनों को तीन अलग-अलग क्षेत्रों में छोड़ दिया। बाद में पाया गया कि तीनों अपने-अपने क्षेत्रों के तीन प्रकार के गाने गाने लगे। इसका अर्थ यह हुआ कि यह अन्तर उनमें जन्मजात नही था, उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र के पक्षि-समाज मे इस प्रकार अलग-अलग प्रकार से गाना अनुकरण द्वारा सीखा। अर्थात्, जैसे मनुष्य अपने आसपास के समाज से भाषा सीखता है, वही प्रवृत्ति एक सीमा तक कुछ पक्षियों में भी मिलती है।

पक्षियों की दूसरी प्रकार की भाषा, जैसा कि ऊपर कहा गया, संगीतात्मक न होकर सामान्य होती है जिसे पक्षियों का बोलना या पक्षि-पुकार कहा जा सकता है। इसका प्रयोग पक्षी साथ-साथ खाने की खोज में जाने, साथ-साथ उड़ने, साथ-साथ कहीं उतरने, खतरे की चेतावनी देने तथा साथ-साथ अपने-अपने घोंसलों में जाने के लिए करते हैं। इस बोलने में कुछ में तो एक आवाज़ होती है तथा कुछ में आवाज़ों की एक शृंखला होती है। सौ-सौ, सवा सौ-सवा सौ के झुंड में रहने वाले गौरैया पक्षी उड़ने के लिए तीन तरह से बोलते हैं। एक उड़ने के पूर्व, दूसरा उड़ने के बीच में तथा तीसरा उतरते समय। इसका उद्देश्य होता है पूरे झुंड का साथ-साथ उड़ना तथा साथ-साथ उतरना। श्यामा (ब्लैक बर्ड), चैफिंच, राबिन, रेन, मिसिल थ्रश, गार्डन वार्बलर आदि बहुत-सी चिड़ियों में यह पाया गया है कि यदि उन्हें कोई साँप या बिल्ली दिख जाए तो देखने वाली चिड़िया 'चिक' जैसा बोलती हैं, जिसे सुनकर सभी चिक-चिक कह उठती हैं। इस आवाज़ के अनुतान की संरचना आरोही, फिर अवरोही होती है। पेड़ पर साँप या बिल्ली आदि के देखने पर भी ऐसा ही होता है। पक्षियों में एक विशेषता यह होती है कि वे दोनों कान से साथ नहीं सुनते। जिस ओर से आवाज़ आती है, उधर के कान आवाज को पहले सुन लेते हैं तथा दूसरे कान में आवाज बाद में पहुँचती है। इस तरह खतरे की दिशा का भी उन्हें अनुमान हो जाता है। ऊपर जिन चिड़ियों का उल्लेख किया गया, उनकी इस स्थिति में प्रयुक्त आवाज़ों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर तो होता है, किन्तु सभी की संरचना प्रायः समान होती है।

श्यामा, चैफिंच, रीडबंटिंग, वृहत् टिटमाउस (ग्रेट टिटमाउस), नील टिटमाउस (ब्ल्यू टिटमाउस) आदि कई चिड़ियाँ यदि ऊपर कोई बाज आदि हमलावर पक्षी उड़ रहा हो तो सीट जैसी अत्यन्त कर्कश आवाज करेंगी जो अपनी संरचना में अन्य आवाजों से भिन्न होगी। इसे सुनते ही सभी पक्षी या तो कहीं दुबक जाते हैं या छिप जाते हैं। खतरा टल जाने पर फिर विशेष प्रकार की आवाज़ करते हैं जिसे सुनकर सभी निश्चित होकर विचरने लगते हैं। ऊपर कहा गया कि पक्षियों के गाने की संरचना जटिल होती है, उसकी तुलना में उपर्युक्त प्रकार असंगीतात्मक आवाजों की संरचना सरल होती है। साथ ही इनमें बोली-भेद भी विशेष नहीं होता, जैसा कि गाने में होता है।

मानव-भाषा में जैसे व्यक्ति-बोली (idiolect) होती है, वैसे ही चिड़ियों की भाषा में भी होती है। गिलीमोट (मरे) पक्षी के बच्चों के साथ प्रयोग किया गया तो पाया गया कि अंडे में से निकलने के तीन-चार दिन के बाद वे अपने माँ-बाप की आवाज को अन्य पक्षियों से अलग पहचान लेते हैं। उनकी आवाज तो उन्हें आकर्षित करती हैं, किन्तु अन्यों की नहीं।

चिड़ियाँ अपनी भाषा में, जिन सामान्य असंगीतात्मक आवाजों का प्रयोग करती हैं, वे प्रायः सहजात होती हैं। किन्तु जहाँ तक उनके गाने का प्रश्न है, कुछ तो सहजात होती हैं, किन्तु कुछ अंशतः और कभी-कभी पूर्णतः सीखी जाती हैं। उदाहरण के लिए, कोयल का गाना सहजात होता है। कोयल के बच्चों को प्रयोग के तौर पर कोयल-समाज से अलग रखा गया तथा उन्हें अन्य पक्षियों की आवाजें सुनाई जाती रहीं, कोयल की नहीं। किन्तु पाया यह गया कि ऐसे बच्चे भी अपनी प्रजाति की तरह ही बोलते हैं। किन्तु दूसरी ओर कुछ पक्षी अपना गाना सीखते हैं। उदाहरण के लिए, नर बुलफिंच पक्षी अपना गाना पूरी तरह सीखता है। प्रयोग के रूप में प्रारम्भ से ही उसे कैनरी पक्षी के पिंजड़े में रखा गया तो वह बड़े होने पर उसी का गाना गाने लगा, अपना नहीं।

(ग) प्राइमेट की भाषा—'प्राइमेट' जीवविज्ञान का एक बहुसमावेशी शब्द है। इसमें स्तनपायी प्राणियों के लेम्यूर बन्दर, लगूर, बैबून, गिबन, गोरिल्ला, चिंपैंजी, बनमानुस तथा आदमी आदि सर्वाधिक विकसित प्राणी आते हैं। इस वर्ग के प्राणियों में कइयों की भाषा पर

काम हुए है तथा कइयों को तरह-तरह की सांकेतिक भाषाएँ सिखाने के भी यत्न हुए है। उदाहरण के लिए, एक चिंपैजी शिशु 'गुआ' को एक बच्चे के साथ रखा गया तथा सोलह महीनों में वह सौ शब्द (बच्चे की तुलना में अधिक) समझने लगा, किन्तु उससे अधिक शब्द वह कभी नहीं समझ सका। साथ ही वह अलग-अलग शब्दों के अर्थ ही समझ सका, उनके आधार पर तरह-तरह के वाक्य नहीं बना सका। एक दूसरा चिंपैंजी शिशु बहुत परिश्रम करने पर भी 'मामा', 'पापा,' 'कम' जैसे शब्द बोलने लगा, किन्तु और आगे नहीं। ऐसे ही यह देखकर कि इनका उच्चारण-अवयव मनुष्य-जैसा समर्थ नहीं होता, अतः इनके लिए मनुष्य की तरह बोलना कठिन है, कुछ को सांकेतिक भाषाओं का अभ्यास कराया गया, किन्तु कोई खास सफलता मिली नहीं। यह पाया गया कि आदमी के बच्चे की तरह उनके बच्चे या वे कुछ थोड़े संकेतों से, उन्हे अलग-अलग क्रमों में जोड़कर तरह-तरह के नए वाक्य आदि नहीं बना सकते। साथ ही सहज रूप से उनकी अपनी भाषा में अभिव्यक्ति-व्यवस्था उद्दीपन-अनुक्रिया (Stimulus-responsed system) रूप में होती है। बन्दर तरह-तरह की आवाज़ों तथा मुखाकृतियों से क्रोध, आवेश, प्यार आदि विभिन्न प्रकार के भावों को व्यक्त करते है और इस तरह की अभिव्यक्तियाँ भी उद्दीपन-अनुक्रिया रूप में ही होती है। वेरवेट (Vervet) नामक अफ्रीकी बन्दर अलग-अलग तरह की छत्तीस ध्वनियों (गुर्राना, चीखना, वुफ़-वुफ़, वा-वा, दाँत कटकटाना, र्र्र, एड, उह, अर्र आदि) से इक्कीस परिस्थितियों में बाईस तरह के भावादि (जैसे भय, क्रोध, खतरे की चेतावनी, पुकारना आदि) व्यक्त करता है।

(घ) डॉल्फ़िन की भाषा—यह एक प्रकार का समुद्री जीव है जिसे कुछ लोगों ने 'समुद्री बन्दर' कहा है, यद्यपि यह बन्दर न होकर ह्वेल-सा होता है। यह भी तरह–तरह की आवाज़ें करता है, किन्तु उन ध्वनियों का प्रयोग अन्य डालफ़िनों से कुछ कहने के लिए नहीं होता, बल्कि वे आवाज़ें रास्ते में आनेवाली चीज़ों का उसे पता देती है, राडार की तरह। कुछ ध्वनियाँ उसके मुँह से परेशानी में सहज ही निकल जाती है, तथा कुछ सहवास-ऋतु मे मादा डॉल्फ़िन को पास आने का संकेत देने के लिए होती है। वस्तुतः डॉल्फ़िन की ध्वनियाँ आभिव्यक्तिक न होकर सहज भावात्मक अधिक होती है। यों कुछ लोगों न डॉल्फ़िन को आपस में सम्प्रेषण करने का प्रशिक्षण भी देना चाहा, किन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली।

(ङ) पेड़-पौधों की भाषा—एक समय था जब पेड़-पौधे जड़ माने जाते थे। अपने यहाँ भारतीय परम्परा में जड़-चेतन की संकल्पना में 'जड़' में पेड़-पौधे भी आते है। आधुनिक काल में बीज आदि से पेड़-पौधों के जनमने, बढ़ने और फिर सूख जाने की ओर लोगों का ध्यान जाने पर यह माना जाने लगा कि पेड़-पौधे भी जड़ नहीं होते। हाँ, यह अवश्य है कि उनकी चेतनता एक खास तरह की होती है जो मनुष्य या अन्य जीव-जन्तुओं से भिन्न प्रकार की होती है। इस मान्यता को प्रामाणिक आधार प्रदान किया प्रसिद्ध भारतीय वनस्पति-शास्त्रवेत्ता जगदीशचन्द्र वसु (१८५८-१९३७ ई०) ने। उन्होंने नई-नई पद्धतियों को अपना कर पेड़-पौधों पर नये-नये प्रयोग किये तथा इसके लिये नये-नये यन्त्र और उपकरण बनाये। इन्हीं यन्त्रों में पौधों की वृद्धि नापने के लिए क्रेस्कोग्राफ़ नाम का यन्त्र भी था जो वृद्धि को एक करोड़ गुना बढ़ाकर दिखाता था, अतः उनका बढ़ना बहुत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था। ऐसे ही उन्होने अन्य यन्त्रों और उपकरणों की सहायता से पेड़-पौधों पर नींद, हवा, भोजन तथा दवा आदि का प्रभाव भी दिखाया जो बहुत कुछ जीव-जन्तुओं जैसा ही था। इस तरह उन्होंने पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओ के ऊतकों की क्रियाओं में अद्भुत समानता प्रदर्शित की तथा सिद्ध कर दिया कि पेड़-पौधे भी प्राणवान होते है। यह बात दूसरी है कि उनकी प्राणवानता तथाकथित जीव-जन्तुओं से कई बातों में भिन्न होती है। जैसे जीव-जन्तु चल-फिर सकते है, किन्तु पेड़-पौधे एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने आप नही जा सकते। पेड़-पौधों की प्राणवत्ता के सम्बन्ध में 'सजीव और निर्जीव की अभिक्रियाएँ', 'वनस्पतियों की अभिक्रिया' तथा पौधों की 'प्रेरक यांत्रिकी' आदि उनकी पुस्तकें दर्शनीय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब पेड़-पौधे जीव-जन्तुओं की भाँति ही नींद, भोजन, हवा तथा दवा आदि से प्रभावित होते हैं तो क्या विभिन्न-जीव जन्तुओं की तरह वे भाषा का भी प्रयोग करते हैं? अभी हाल में कुछ अनुसंधानों से यह सिद्ध हुआ है कि कुछ पेड़ अपनी जाति के अन्य पेड़ों को विशिष्ट प्रकार के संदेश देते हैं और वे अन्य पेड़ संदेश पाकर तदनुसार कार्य करते हैं। दो अमरीकी वनस्पतिशास्त्रियों ने 'विलो' और 'बर्च' नामक पेड़ों पर अनुसंधान करके यह निष्कर्ष निकाला है कि पेड़ संकट के समय एक-दूसरे को चेतावनी देते हैं। र के लिए कीड़ों से क्षतिग्रस्त होने वाले पेड़ ज्यों ही क्षतिग्रस्त होते हैं, वे दूसरे पेड़ों को र - कीड़ों से क्षतिग्रस्त होने से बचाने के लिए चेतावनी देते हैं। वस्तुतः ये वैज्ञानिक यः के लिए परीक्षण कर रहे थे कि कुछ पेड़ कैटरपिलर या मकड़ियों के आक्रमण से कैसे बच निकलते हैं। उन्होंने परीक्षण में पाया कि कुछ पेड़ों पर ज्यों ही क्षतिकारक कीड़े-मकोड़े पहुँचते हैं, वे एल्कोलाइड तथा टर्पिनाइड जैसे रसायनों का उत्पादन शुरू कर देते हैं जिनके पत्तियों में पहुँचने पर पत्तियाँ कीड़ों के खाने योग्य नहीं रह जातीं। यही नहीं, वह प्रोटीन भी, जिसे कीड़े अपने भोजन के रूप में पेड़ों से प्राप्त करते हैं, इन रसायनों के कारण दूषित हो जाता है और उस पेड़ पर पहुँचने वाले कीड़े अपना खाद्य न पा सकने के कारण धीरे-धीरे मर जाने को बाध्य होते हैं।

इन वैज्ञानिकों को यह पाकर बेहद आश्चर्य हुआ कि इस प्रकार की स्थिति में ऐसे पेड़ों से तीस-चालीस मीटर की दूरी पर स्थित पेड़ भी य ही रसायन अपने भीतर उत्पन्न करने लगे, ताकि कीड़े उन पर हमला न कर सकें। प्रश्न यह उठता है कि तीस-चालीस मीटर की दूरी पर स्थित इन पेड़ों को यह सूचना कैसे मिली कि वे ऐसे कीड़ों के आक्रमण से बचने की पूर्व तैयारी करने लगे। जड़ों के माध्यम से किसी संकेत के पहुँचने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि जड़ें इतनी दूरी तक नहीं जातीं। इन वैज्ञानिकों का विश्वास है कि क्षतिग्रस्त पेड़ हवा में कोई रसायन छोड़कर अन्य पेड़ों को कीड़ों के आक्रमण के विरुद्ध तैयार रहने की चेतावनी देते हैं। इस तरह यदि यह बात ठीक है तो यह रसायन या ये रसायन ही पेड़ों की अपनी सांकेतिक भाषा के प्रतीक हैं जिनके माध्यम से य पेड़ आक्रमण के विरुद्ध तैयारी का संदेश आपस में एक-दूसरे को देते हैं।

मानव-भाषा और मानवेतर भाषा में अन्तर

ऊपर हमने मानव-भाषा की परिभाषा तथा कुछ मानवेतर भाषाओं पर विचार किया। उल्लेख्य है कि अपनी प्रकृति की दृष्टि से य दोनों भाषाएँ (मानव और मानवेतर) एक नहीं हैं। उनमें कई भिन्नताएँ हैं। इस समस्या पर मुख्यतः हॉकिट (Hockett The Origin of Speech (लेख), १९६०), मैकनल (Mc Neill The Acquisition of Language, १९७०) तथा चाम्स्की (Chomsky Cartesian Linguistics, १९६६) ने विचार किया है। हॉकिट ने दोनों की तुलना सर्जनात्मकता, यादृच्छिकता तथा पैटर्न की द्वैतता आदि तेरह आधारों पर की है। मैकनल के आधार दो प्रकार के हैं संरचनात्मक तथा प्रकार्यपरक। उदाहरण के लिए, संरचनात्मकता की दृष्टि से मानव-भाषा में योजन-व्यवस्था (Combining system) है। विभिन्न रूपों में समान ध्वनियों को जोड़ने से अलग-अलग शब्द बन जाते हैं तथा समान शब्दों को अलग-अलग रूपों में जोड़ने पर अलग-अलग वाक्य बन जाते हैं। जहाँ तक प्रकार्य का प्रश्न है, ये तीन तरह के होते हैं वस्तुपरक (वस्तुओं को संकेतित करना), भावपरक (भावों का संकेतित करना) तथा प्रकथनपरक (Predicative, बाहरी घटनाओं या आंतरिक स्थिति के विषय में कहना या टिप्पणी करना)। चॉम्स्की ने इस सम्बन्ध में जो कहा है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनके अनुसार मानवेतर भाषा सर्जनात्मक नहीं होती, जबकि मानव-भाषा होती है। सर्जनात्मकता में तीन बातें आती हैं (क) असीमितता—मनुष्य अपनी भाषा के द्वारा असीमित पुराने और नए भावों तथा विचारों,

आदि को अभिव्यक्ति दे सकता है, किन्तु मानवेतर भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति बहुत सीमित होती है। (ख) **उद्दीपन-अनुक्रिया-मुक्तता**—मानव-भाषा उद्दीपन-अनुक्रिया रूप में नहीं होती, जबकि मानवेतर भाषा प्रायः होती है। (ग) **संदर्भ-उपयुक्तता**—मानव-भाषा नए-से-नए, पहले से सर्वथा अज्ञात और अननुमानित संदर्भ के पूर्णतः उपयुक्त अभिव्यक्ति देने में समर्थ है, किन्तु मानवेतर भाषा नहीं।

उपर्युक्त बातों के आधार पर भाषा के अभिलक्षण पर विचार किया जा सकता है।

भाषा के अभिलक्षण

यहाँ 'भाषा' से आशय है 'मनुष्य की भाषा' तथा 'अभिलक्षण' (property) से आशय है 'विशेषता' या 'मूलभूत लक्षण'। किसी भी वस्तु के अभिलक्षण ही उस वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलगाते हैं। इस तरह मानव-भाषा के अभिलक्षण वे हैं जो उसे अन्य सभी प्राणियों की भाषाओं से अलगाते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि भाषा केवल मनुष्यों की ही बपौती नहीं। मकड़ी, मधुमक्खी, गिबन (बन्दरों की एक जाति, जिनके हाथ बहुत लम्बे होते हैं), सिकिलबैक (एक प्रकार की छोटी मछली) तथा चिम्पैंजी आदि अनेक ऐसे जीव-जन्तु हैं जो किसी-न-किसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि मनुष्य की भाषा, अन्य सभी जीवों की भाषा से स्पष्टतः अलग है. उसके अपने कुछ ऐसे अभिलक्षण हैं जो सभी मिलकर उसे अन्य सभी प्राणियों की भाषाओं से अलग करते हैं। अर्थात् इन अभिलक्षणों में कुछ तो अन्य जीवों की भाषाओं में मिलते हैं. किंतु सभी केवल मानव-भाषा में। हॉकिट इस प्रसंग में सात अभि-लक्षणों का उल्लेख करते हैं। कुछ अन्य लोगों ने इससे कुछ कम या कुछ अधिक अभिलक्षणों का उल्लेख किया है। मुख्य अभिलक्षण निम्नांकित नौ-दस माने जा सकते हैं—

१. **यादृच्छिकता**—'यादृच्छिक' का अर्थ है 'जैसी इच्छा हो' या 'माना हुआ'। हमारी भाषा में किसी वस्तु या भाव का किसी शब्द से सहज-स्वाभाविक या तर्कपूर्ण संबंध नहीं है, वह समाज की इच्छानुसार मात्र माना हुआ सम्बन्ध है। यदि सहज-स्वाभाविक सम्बन्ध होता तो सभी भाषाओं में एक वस्तु के लिए एक ही शब्द होता। 'पानी' के लिए सभी भाषाएँ 'पानी' का ही प्रयोग करतीं। अंग्रेजी 'वाटर' का प्रयोग न करती, न फ़ारसी 'आब' का और न रूसी 'वदा' का। विभिन्न भाषाओं के सभी शब्दों में हम यह यादृच्छिकता पाते हैं। यह यादृच्छिकता शब्द के स्तर पर थी। व्याकरण के स्तर पर रूपरचना तथा वाक्यरचना में भी यही बात है। अंग्रेजी कर्ता कारक के लिए किसी भी कारक चिह्न का प्रयोग नहीं करती (Ram slapped Mohan), किन्तु हिन्दी 'ने' का प्रयोग करती है (राम ने मोहन को थप्पड़ मारा)। ऐसे ही हिन्दी में वाक्य में कर्ता-कर्म-क्रिया (राम ने पत्र लिखा) का क्रम है तो अंग्रेजी में कर्ता-क्रिया-कर्म (Ram wrote a letter) का। इस तरह ये सारी बातें यादृच्छिक हैं। कहीं भी इनके पीछे कोई तर्क नहीं है—न शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में, न रूप-रचना में और न वाक्य के पदक्रम या अन्वय आदि में। यही है भाषा की यादृच्छिकता। यों यादृच्छिकता थोड़ी बहुत तो अन्य प्राणियों (जैसे मधुमक्खी, गिबन आदि) की भाषा में भी मिलती है, किन्तु मानव-भाषा जितनी नहीं।

२. **सृजनात्मकता** (Creativity)—भाषा में शब्द और रूप तो प्रायः सीमित होते हैं, किन्तु उन्हीं के आधार पर हम अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार सादृश्य के आधार पर नित्य नए-नए असीमित वाक्यों का सृजन करके उनका प्रयोग करते हैं। हम ऐसे अनेकानेक वाक्यों का रोज ही प्रयोग करते हैं, जो ठीक उसी रूप में पहले कभी भी नहीं प्रयुक्त हुए। मज़े की बात यह है कि वाक्यों के नए होने पर भी, श्रोता को उन्हें समझने में कोई भी कठिनाई नहीं होती।

यह कमाल इस सृजनात्मकता का ही है जो वक्ता और श्रोता दोनों ही को भाषिक क्षमता में होती है। और उसी के परिणाम-स्वरूप वक्ता नित्य नए-नए वाक्य का प्रयोग कर लेता है और श्रोता उन्हें समझ लेता है। हम 'मैं', 'वह' 'तुम', 'बुलवाना' इन चार शब्दों में बहुत सारे वाक्यों का सृजन कर सकते हैं, जैसे 'मैंने उसे तुमसे बुलवाया', 'मैंने तुम्हें उससे बुलवाया', 'उसने मुझे तुमसे बुलवाया' तथा 'उसने तुम्हें मुझसे बुलवाया' आदि। किन्तु अन्य जीव-जन्तु अपनी भाषा में इस तरह सृजन नहीं कर सकते। वे तो जैसा जानते हैं, उसको वैसे ही दुहरा भर सकते हैं। मधुमक्खी एक मात्र अपवाद है जिसकी भाषा में यह गुण थोड़ा-बहुत होता है, किन्तु मानव-भाषा जितना नहीं। इस अभिलक्षण का उत्पादकता (Productivity) भी कहा गया है।

३ अनुकरणग्राह्यता—मानव-भाषा समाज-विशेष से अनुकरण द्वारा सीखी या ग्रहण की जाती है। जन्म से कोई भी व्यक्ति कोई भाषा नहीं जानता, माँ के पेट से कोई भी बच्चा भाषा सीखकर नहीं आता, किन्तु अन्य सभी जीव-जन्तु अपनी भाषा अपने समाज से नहीं सीखते, बल्कि उनकी अपनी भाषिक क्षमता उनमें जन्मजात होती है। अनुकरणग्राह्यता के कारण ही एक व्यक्ति अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक भाषाएँ भी अनुकरण से सीख सकता है किन्तु कोई अन्य जीव-जन्तु ऐसा नहीं कर सकता। इस तरह मानव-भाषा आनुवंशिक (Hereditary) नहीं होती, जैसी कि अन्य जीव-जन्तुओं की भाषाएँ होती हैं। भाषा के इस अभिलक्षण को कुछ अन्य नामों से भी पुकारा गया है सांस्कृतिक प्रेषणीयता (Cultural Transmission)—क्योंकि संस्कृति के साथ-साथ, उसके एक अंगरूप में भाषा सीखी जाती है, परम्परानुगामिता (Conventionality)—क्योंकि परम्परा या रूढ़ि (Convention) के रूप में भाषा सीखी जाती है, सीखने के योग्य होना या अधिगम्यता (*Learnability*)—क्योंकि भाषा सीखी जा सकती है।

४ परिवर्तनशीलता—मानवेतर जीवों की भाषा परिवर्तनशील नहीं होती। उदाहरणार्थ, कुत्ते पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही प्रकार की अपरिवर्तित भाषा का प्रयोग करते आ रहे हैं, किन्तु मानव-भाषा हमेशा परिवर्तित होती रहती है। संस्कृत-काल का 'कर्म' प्राकृत-काल में 'कम्म' हो गया तो आधुनिक काल में 'काम'। इस तरह चिर परिवर्तनशीलता भी मानव-भाषा को अन्य जीवों की भाषाओं से अलगाती है। इस अन्तर का मुख्य कारण इस मानव-भाषा का अनुकरणग्राह्य होना है, जबकि अन्य भाषाएँ आनुवंशिक होती हैं।

५ विविक्तता (Discreteness)—मानव-भाषा का स्वरूप ऐसा नहीं है जो पूरा अविच्छिन्न रूप से एक हो। वह वस्तुतः कई घटकों या इकाइयों में विभाज्य है। उदाहरण के लिए, 'वाक्य' एकाधिक 'शब्दों' से बनता है तथा 'शब्द' एकाधिक 'ध्वनियों' से। यह बहुघटकता, विच्छिन्नता, विविक्तता या कई इकाइयों में विभाज्यता अन्य जीवों की भाषा में नहीं मिलती। उदाहरणार्थ, बहुत से नर जीव यदि मादा को यह बतलाना चाहते हैं कि वे कामोत्तेजित हैं तो एक विशिष्ट प्रकार का ध्वनि-संकेत करते हैं जो मानव द्वारा प्रयुक्त वाक्यादि जैसा नहीं होता, जो विभिन्न शब्दों से बना हो। वह पूरा-का-पूरा अविच्छिन्न रूप से एक ही इकाई होता है। यदि उसके ध्वनि-संकेत को टुकड़ों में विभक्त भी करें, तो वे उस रूप में सार्थक नहीं होते, जैसे मानव-भाषा के वाक्य के शब्द। इस तरह एकाधिक इकाइयों से बना होना या विविक्तता केवल मानव-भाषा का ही अभिलक्षण है।

६ द्वैतता (Duality)—भाषा में किसी भी वाक्य या उच्चार (Utterance) को लें, उसमें दो स्तर होते हैं। एक स्तर की इकाइयाँ सार्थक होती हैं तथा दूसरे स्तर की इकाइयाँ निरर्थक होती हैं। इन दो स्तरों की स्थिति को ही द्वैतता कहते हैं। इन इकाइयों में सार्थक इकाइयों को रूपिम (शब्द, धातु, प्रत्यय, उपसर्ग, कारकचिह्न आदि) कहते हैं।

उदाहरण के लिए, 'बंदर ने फल तोड़े' वाक्य में बंदर+ने+फल+ तोड़ + ए ये पाँच सार्थक इकाइयाँ (अथवा रूपिम) है। दूसरे स्तर की इकाइयाँ वे ध्वनियाँ है जिनसे ये सार्थक इकाइयाँ बनी है। उदाहरणार्थ 'बंदर' में ब्+अ+न्+द्+अ×र् ये छह ध्वनियाँ हैं। इन ध्वनियों का अपना कोई अर्थ नहीं होता, किन्तु ये आपस में मिलकर, भाषा में सार्थक इकाइयों का निर्माण करती हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि ये ध्वनियाँ अपने आप में निरर्थक होती है, किन्तु ये अर्थभेदक होती है। उदाहरण के लिए, 'क' और 'घ' ध्वनियों का अपना कोई अर्थ नहीं है, किन्तु 'कोड़ा' और 'घोड़ा' में अर्थ का भेद या अन्तर 'क' और 'घ' के कारण ही है। इस तरह यहाँ 'क'-'घ' ध्वनियाँ अर्थभेदक है। पहले स्तर की इकाइयों को 'रूपिम' कहा गया है, उसी तरह दूसरे स्तर की इकाइयों को भाषाविज्ञान में **स्वनिम** कहते है जिन्हे यहाँ सरलता के लिए 'ध्वनि' कहा गया है।

इस द्वैतता को 'अभिरचना की द्वैतता' (Duality of Pattern) भी कहते है, अर्थात् भाषा में एक साथ दो स्तरों पर अभिरचनाएँ होती है। अर्थद्योतक या विचारद्योतक इकाइयों (अर्थात् रूपिम) के स्तर पर तथा अर्थभेदक इकाइयों (अर्थात् स्वनिम) के स्तर पर। इस तरह भाषा इन दो स्तरों पर पाई जाने वाली अभिरचनाओं के योग का परिणाम होती है। अभिरचना (Pattern) उस विशिष्ट क्रम तथा व्यवस्था वाले स्वरूप या साँचे को कहते हैं जो भाषा में उपर्युक्त दोनों स्तरों पर पाए जाते है। यह अभिलक्षण भी प्रायः केवल मानव-भाषा में ही मिलता है। यों अपवादतः मधुमक्खियों की भाषा में भी यह थोड़ा-बहुत होता है।

७. **भूमिकाओं की परस्पर परिवर्तनीयता** (Interchangeability of. roles)—जब हम बातचीत करते है तो वक्ता-श्रोता की भूमिकाएँ बदलती रहती है। वक्ता बोलता है तो श्रोता सुनता है; फिर जब श्रोता उत्तर देता है या अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो वह वक्ता बन जाता है और तब प्रथम वक्ता श्रोता हो जाता है। यही है भूमिकाओं की अदला-बदली या उनका क्रम-परिवर्तन या उनकी परस्पर परिवर्तनीयता। यों अनेक मानवेतर प्राणियों (जैसे बंदर, मधुमक्खी आदि) की भाषाओं में भी यह अभिलक्षण मिलता है, पर थोड़ी देर तक, बहुत लंबा नहीं। साथ ही कुछ प्राणियों में, सभी में नही।

८. **अंतरणता** (Displacement)—कुछ अपवादों को छोडकर मानवेतर जीवों की भाषा केवल वर्तमान के विषय में सूचना दे सकती है, भूत या भविष्य के विषय में नही। इसके विपरीत मानव-भाषा वर्तमान काल में प्रयुक्त होते हुए भी भूत तथा भविष्य के विषय में भी कहने में समर्थ है। इस तरह मानव-भाषा कालांतरण कर सकती है। ऐसे ही मानवेतर भाषा प्रायः उसी स्थान या उसके आसपास के बारे में सूचना दे सकती है जहाँ भाषा-व्यापार हो रहा है, दूर के स्थान के विषय में नही। किन्तु मानव-भाषा इसमें भी समर्थ है। इस तरह वह स्थानान्तरण भी कर सकती है। इस प्रकार दिक्कालांतरण (स्थान और काल का अन्तरण) मानव-भाषा का एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण है। यों भविष्य के विषय में मधुमक्खियाँ तथा कुछ अन्य जीव भी कभी-कभी संप्रेषण करते पाए गए है।

९. **मौखिकता-श्रव्यता**—मानव-भाषा मुँह से बोली जाती है तथा कान से सुनी जाती है, इस तरह वह मौखिक-श्रव्य सरणि (channel) का प्रयोग करती है। भाषा की लिखित-पठित सरणि मूलतः इसी पर आधारित होती है। यों मानवेतर प्राणियों में भी कुछ इसका प्रयोग करते है, किन्तु कुछ अन्य सरणियों का भी/ही प्रयोग करते हैं। जैसे मधुमक्खियाँ नृत्य द्वारा भी कभी-कभी संप्रेषण करती है जो दृश्य-सरणि है तथा ऐसे ही गंध निकालकर भी संप्रेषण करना देखा गया है जो घ्राण-सरणि है।

१० असहजवृत्तिकता (Non-instinctivity)—मानवेतर प्राणी भूख, कामेच्छा, भय आदि जीव-सुलभ सहज बातों के कारण प्राय सहजवृत्तिकत (instinctively) अपने मुँह से कुछ ध्वनियाँ निकालते है, किन्तु ध्वनियाँ उस अर्थ में भाषा नहीं होती, जिस अर्थ मे मानव-भाषा होती है। मानव-भाषा मूलत असहजवृत्तिक (non-instinctive) होती है। जीवन की सहजात वृत्तियो (instincts) मे उसका सबन्ध नही होता।

ये सभी अभिलक्षण, समवेत रूप मे, केवल मानव-भाषा मे ही मिलते हैं। इस प्रकार ये दसो मिलकर मानव-भाषा को मानवेतर भाषा से अलगाते हैं।

'भाषा' तथा 'वाक्' अथवा 'भाषा-व्यवस्था' तथा 'भाषा-व्यवहार'।

भाषा के ये दो रूप मानने का श्रेय मूलत सस्यूर को है। उन्होंने सक्षेप में इन पर विचार किया। बाद मे त्रुबेत्स्कॉय, यल्मस्लव तथा चॉम्स्की आदि ने इनके अन्तर कई दृष्टियों से स्पष्ट किए। मुख्य अंतर ये हैं—(१) भाषा एक व्यवस्था है, जो किसी भाषा के सभी भाषियो के मस्तिष्क मे भाषिक क्षमता (Competence) के रूप में होती है, जबकि वाक् उस भाषाभाषी समाज के व्यक्ति द्वारा उस भाषा का प्रयुक्त या व्यवहृत रूप है। यह भाषा का प्रयोग अथवा भाषिक निष्पादन (Performance) है। 'तोता हिन्दी बोल रहा है' वाक्य ठीक है। कोई तोता हिन्दी के एक-दो वाक्य सीखकर बोल सकता है—उच्चरित कर सकता है, किन्तु 'तोता हिन्दी जानता है' वाक्य गलत है, क्योंकि यहां हिन्दी जानने का अर्थ है हिन्दी भाषा या उसकी व्यवस्था को जानना, जो तोता के लिए सम्भव नही। अर्थात्, तोता के लिए कोई भाषा जानना सम्भव नही, हां, वाक्-रूप मे वह किसी भाषा के एक-दो वाक्य का प्रयोग कर सकता है। (२) भाषा की सत्ता मानसिक होती है, जबकि वाक् की सत्ता भौतिक होती है, वास्तविक उच्चारण या लेखन के रूप मे होती है। (३) भाषा अमूर्त होती है, किन्तु उसकी तुलना मे वाक् मूर्त होता है, क्योंकि उसमे वाक्य अपना रूप ले लेता है। (४) भाषा सामाजिक है, व्यक्ति-निरपेक्ष, किन्तु वाक् वैयक्तिक है, व्यक्ति-सापेक्ष। (५) वाक् भाषा पर ही आधारित होती है, किन्तु भाषा का पता वाक् मे ही चलता है। इस प्रकार दोनो परस्पर सापेक्ष सकल्पनाएँ हैं। (६) भाषा समरूपी (Homogenious) होती है, किन्तु वाक् विषमरूपी (Heterogenious)। ऐसा माना जाता है, किन्तु मेरे अपने विचार मे भाषा भी एक सीमा तक विषमरूपी ही होती है—सभी भाषाभाषियों के मस्तिष्क मे भाषा का एक रूप हो नही सकता।

सस्यूर द्वारा प्रयुक्त फ्रांसीसी शब्द Langue तथा Parole (जो अंग्रेजी मे भी चलते हैं) के प्रतिशब्द के रूप मे हिन्दी मे क्रमश 'भाषा' और 'वाक्' का प्रयोग चलता रहा है। अब लगता है कि ये प्रतिशब्द सस्यूर के ठीक मतव्य को व्यक्त नहीं कर पाते। अत इन्हें क्रमश 'भाषा-व्यवस्था' (Language system) तथा 'भाषा-व्यवहार' (Language behaviour) कहना कदाचित् अधिक ठीक है।

भाषिक सरचना और उसके विभिन्न स्तर

भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की सरचनात्मक व्यवस्था है। अर्थात् इस व्यवस्था की अपनी विशेष प्रकार की सरचना होती है। साथ ही इस सरचना मे केवल एक स्तर नहीं होता। इसमे कई स्तर होते हैं। जैसे ध्वनि-स्तर, रूप-स्तर, वाक्य-स्तर, अर्थ-स्तर आदि। प्रत्येक स्तर पर भाषा की इकाइयां अलग-अलग होती हैं। जैसे ध्वनि इकाई ध्वनि-स्तर पर, तो वाक्य-स्तर पर वाक्य इकाई, या रूप-स्तर पर रूप इकाई। यह ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक स्तर की अपनी अलग सरचना होती है। इसे यों कहना शायद अधिक उचित होगा कि प्रत्येक इकाई की सरचना का आशय है उस इकाई की व्यवस्था। उदाहरण के लिए, वाक्य-स्तर पर

वाक्य इकाई होती है। 'राम ने श्याम को मारा' तथा 'श्याम ने राम को मारा' ये दोनों दो वाक्य है। इन दोनों में ही मोटे रूप से पाँच-पाँच घटक है: राम, ने, श्याम, को, मारा; किन्तु इन वाक्यों के इन आंतरिक घटकों की व्यवस्था समान नहीं है। पहले में 'राम' कर्ता है तो दूसरे में कर्म तथा पहले में 'श्याम' कर्म है तो दूसरे में कर्ता। इस प्रकार 'राम' और 'श्याम' की दृष्टि से दोनों वाक्यों की आंतरिक संरचना अलग-अलग है। ऐसे ही 'मोहन ने शंकर को बुलाया' तथा 'श्याम ने मोहन को बुलाया' वाक्यों में 'मोहन' दोनों में ही है, किन्तु आंतरिक संरचना में अंतर के कारण इन दोनों वाक्यों में 'मोहन' की स्थिति एक नहीं है। ध्वनि-स्तर की बात लें तो इसी तरह 'लिखना' और 'खिलना' दोनों ही में, ल्, इ, ख्, न्, आ ध्वनियाँ हैं, किन्तु इनकी आंतरिक संरचना अलग-अलग है, इसीलिए दोनों दो शब्द है तथा दोनों के दो अर्थ है।

'भाषिक संरचना के विभिन्न स्तर' के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। हॉकिट पाँच स्तर मानते है: (१) व्याकरणिक, (२) स्वनिमिक, (३) रूपस्वनिमिक, (४) आर्थी, (५) स्वनिक। इनमें प्रथम तीन को उन्होंने केन्द्रीय कहा है और अन्तिम दो को परिधीय। अर्थात्, प्रथम तीन भाषा के केन्द्र में हैं, किन्तु अन्तिम दो केन्द्र में न होकर अपेक्षाकृत बाहरी, अर्थात् परिधि में है। पहली में रूप तथा वाक्य आते हैं, दूसरी में स्वनिम, तीसरी में पहली और दूसरी में सम्बन्ध-स्थापन होता है, चौथी का सम्बन्ध अर्थ से है। यहाँ वाक्य आदि आसपास के भाषिक एवं संबद्ध भाषेतर संदर्भों से जुड़ते है। पाँचवीं में स्वनों अर्थात् ध्वनियों का उच्चारण, प्रसरण तथा श्रवण आता है। हॉकिट 'भाषा-व्यवस्था' में इन पाँचों को 'उपव्यवस्था' का नाम देते हैं।

सामान्यतः भाषिक संरचना में पाँच स्तर माने जाते है: वाक्य, रूप या पद, शब्द, ध्वनि और अर्थ।

कुछ लोग वाक्य, रूप, ध्वनि और अर्थ ये चार ही स्तर मानते है। इनके अनुसार 'ध्वनि' में ही 'स्वनिम' भी समाहित है तथा 'रूप' में 'शब्द'। 'रूप-स्वनिमिक' स्तर अलग न होकर 'रूप' और 'ध्वनि' दोनों से सबद्ध है—क्योंकि रूपों के मिलने पर उनमें आने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तन तथा फिर प्राप्त नए रूप इसमें आते है। जैसे एक + अंत = एकांत या यदि + अपि = यद्यपि।

मेरे अपने विचार में भाषिक संरचना के मुख्य स्तर मूलतः चार है: प्रोक्ति-स्तर, व्याकरणिक स्तर, ध्वनि-स्तर तथा अर्थ-स्तर। स्पष्टता के लिए व्याकरणिक स्तर में वाक्य तथा रूप को अलग-अलग लें तो पांच स्तर हो जाते हैं: प्रोक्ति, वाक्य, रूप, ध्वनि, अर्थ। 'रूप' मूलतः शब्द या धातु में कारक-चिह्न या प्रत्यय जोड़कर बनते है, अतः शब्द को एक अलग स्तर भी माना जा सकता है, तथा धातु को भी उसी में समाहित किया जा सकता है। इस तरह छह स्तर हुए: अर्थ, प्रोक्ति, वाक्य, रूप, शब्द, ध्वनि। भाषा को ध्यान से देखें तो ध्वनियों से 'शब्द बनते है, शब्दों (तथा धातुओं) से 'रूप,' रूपों से 'वाक्य' और एकाधिक वाक्यों से 'प्रोक्ति'। दूसरे शब्दों में भाषा की सहज इकाई प्रोक्ति है, जिसका अर्थ होता है। प्रोक्ति का विश्लेषण करें तो वाक्य मिलते है, वाक्यों के विश्लेषण से शब्दादि, तथा उनके विश्लेषण से ध्वनि। यहाँ संक्षेप में इन स्तरों की चर्चा की जा सकती है।

(१) अर्थ—भाषा का मूलभूत काम है अर्थ की अभिव्यक्ति। वक्ता या लेखक का पूरा मंतव्य या अर्थ तो प्रोक्ति से व्यक्त होता है। यों प्रोक्ति के भीतर प्रत्येक वाक्य का, वाक्य के भीतर प्रत्येक रूप का, रूप के भीतर प्रत्येक शब्द एवं धातु का तथा कारक-चिह्न और प्रत्यय का अपना अर्थ होता है। आधुनिक भाषाविज्ञान में रूप के भीतर के इन शब्दों, धातुओं, कारक-चिह्नों तथा प्रत्ययों आदि को 'रूपिम' कहते है जो अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम

इकाई होते हैं। मैं हॉकिट की इस बात से सहमत नहीं हूँ कि भाषा की सरचना का अर्थ-स्तर परिधीय होता है। मेरे विचार में वह सर्वाधिक केन्द्रीय स्तर है। उसी के आधार पर अन्य स्तरो का चयन करके वक्ता बोलता है तथा लेखक लिखता है। (विस्तार के लिए देखिए 'अर्थविज्ञान' शीर्षक सातवाँ अध्याय)

(२) प्रोक्ति—प्रोक्ति की सकल्पना भाषाविज्ञान मे अपेक्षाकृत नई है। यों प्राचीन भारत मे 'महावाक्य' द्वारा इसी सकल्पना को द्योतित किया गया है। वस्तुत भाषा का प्रयोग किसी मंतव्य को अभिव्यक्ति देने के लिए होता है और मतव्य को अभिव्यक्ति देने के लिए एकाधिक वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है। एकाधिक वाक्यों के उस समुच्चय को ही प्रोक्ति कहते हैं जो एक सुव्यवस्थित इकाई के रूप मे वक्ता या लेखक के मतव्य को अभिव्यक्ति दे। (विस्तार के लिए देखिए 'प्रोक्तिविज्ञान' शीर्षक चौथा अध्याय)

(३) वाक्य—अब तक भाषाविज्ञान तथा व्याकरण मे भाषा की चरम इकाई तथा सहज इकाई वाक्य माना जाता रहा है। अब प्रोक्ति को चरम और सहज इकाई मान लेने पर वाक्य प्रोक्ति के भीतर की एक इकाई माना जाने लगा है। इसमे वाक्य, उपवाक्य तथा पदबंध (फ्रेज) आते हैं। (विस्तार के लिए देखिए 'वाक्यविज्ञान' शीर्षक पाँचवाँ अध्याय)

(४) रूप—वाक्य रूपों से बनता है या वाक्य को विश्लेषित करने पर रूप मिलते हैं। 'रूप' को ही 'पद' भी कहते है। रूप मे 'शब्द' तथा 'धातु' रूप मे अर्थतत्व होते हैं तथा 'कारक-चिह्न' और 'प्रत्यय' रूप मे सबधतत्व। 'राम ने रावण को मारा' वाक्य मे 'राम ने', 'रावण को' तथा 'मारा' तीन रूप हैं जिनमे 'राम', 'रावण,' 'मार्' अर्थतत्व हैं और' ने', 'को', 'आ' सबधतत्व। (विस्तार के लिए देखिए 'रूपविज्ञान' शीर्षक छठा अध्याय)

(५) शब्द—आमतौर शब्द को भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई माना गया है, क्योंकि भाषा मे भाव या विचार की अभिव्यक्ति मूलत शब्द मे ही होती है। शब्द मे ही प्रत्ययादि जोडकर 'रूप' बनते हैं और रूप मे 'वाक्य' और वाक्यो से 'प्रोक्ति'। शब्द मे धातु भी समाहित है। यों यदि शब्द को थोडा विस्तृत अर्थ दें तो उपसर्ग, कारक-चिह्न एव प्रत्यय को भी उसी मे 'बद्धशब्द'(जो अकेले न आकर किसी शब्द और धातु के साथ प्रयुक्त हो) या 'बद्धतत्व' रूप मे शब्द के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ऐसा करने की आवश्यकता इसलिए है कि कारक-चिह्न प्रत्यय और उपसर्ग यो न तो प्रोक्ति है, न वाक्य, न रूप, न शब्द और न ध्वनि। वे सार्थक होते हैं और प्राय लघुतम होते हैं, अत शब्द के साथ ही उन्हे रखा जा सकता है। यों यदि 'रूपिम' को इकाई मानें तो उसमे तो शब्द, धातु उपसर्ग, प्रत्यय, कारक-चिह्न आदि सभी आ जाते है। (विस्तार के लिए देखिए 'शब्दविज्ञान' शीर्षक नौवाँ अध्याय)

(६) ध्वनि—ध्वनियाँ अलग से सार्थक नहीं होतीं, किन्तु ये आपस मे मिलकर सार्थक शब्द, रूप, वाक्य तथा प्रोक्ति का निर्माण करती है। ध्वनि-स्तर मे किसी भाषा की विभिन्न ध्वनियों, उनकी स्वनिम-व्यवस्था, आक्षरिक सरचना, बलाघात, अनुतान आदि का अध्ययन होता है। (विस्तार के लिए देखिए 'ध्वनिविज्ञान' शीर्षक आठवाँ अध्याय)

रूपस्वनिमिक स्तर रूप और ध्वनि स्तरो को जोड़ने वाला स्तर है, अत इसे अलग स्तर न मानकर दोनो की सधि माना जा सकता है। इसका क्षेत्र है शब्दो, रूपो, उपसर्गों तथा प्रत्ययों आदि के योग से होने वाले ध्वनि-परिवर्तन तथा परिवर्तन के बाद प्राप्त नए शब्द या रूप। उदाहरण के लिए, घोड़ा + दौड = घुडदौड, पानी + घाट = पनघट। सस्कृत मे सधि के अतर्गत इन्हीं का अध्ययन होता रहा है। यो यदि इसे अलग स्तर मानना हो तो यह सातवाँ स्तर माना जा सकता है।

भाषा लिखी भी जाती है और लिखने में प्रत्येक लिपि की अपनी आंतरिक व्यवस्था और संरचना होती है। नागरी में 'लिपि' शब्द के लेखन में 'इ' के दोनों चिह्न ल् तथा प् व्यंजन के पहले आएँगे, किन्तु रोमन में LIPI रूप में L तथा P के बाद में। इस तरह लेखन-व्यवस्था और उसकी संरचना भी भाषा के लिखित रूप की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि उसे भी ले लें तो 'लेखन-संरचना' रूप में स्तरों में उसे शामिल किया जा सकता है।

यों प्रोक्ति, वाक्य, रूप, शब्द, ध्वनि, अर्थ, रूपस्वनिम ये सात तो भाषा के केन्द्रीय स्तर है, किन्तु लेखन केन्द्रीय स्तर के अंतर्गत तो नहीं है, परिधीय भी न होकर, इन सबसे अलग है, किन्तु है भाषा से पूरी तरह संबद्ध।

भाषाविज्ञान

ऊपर 'भाषा' को हम समझ चुके है। संक्षेप में कह सकते है **जिस विषय में 'भाषा' का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, उसे भाषाविज्ञान कहा जाता है।** भाषाविज्ञान की अपेक्षाकृत और विस्तृत परिभाषा देने के पहले भाषाविज्ञान के प्रकरणों का परिचय प्राप्त कर लेना उपयोगी होगा।

भाषाविज्ञान के प्रकार[1]

भाषाविज्ञान भाषा के अध्ययन का विज्ञान है। इसमे भाषा का अध्ययन कई दृष्टियों मे किया जाता है और किया जा सकता है। कहना न होगा कि प्रत्येक दृष्टि मे किया गया अध्ययन, स्वभावतः भाषा के विज्ञान के एक नए प्रकार, एक नए रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यहाँ उन्ही को लिया जा रहा है। सुविधा के लिए यहाँ कुछ प्रकारों को हम अकेले ले रहे है और कुछ को जोड़ों के रूप में।

सामान्य (जेनरल) भाषाविज्ञान--भाषाविज्ञान के उस प्रकार को सामान्य भाषा-विज्ञान कहते है जिसमें भाषा-विशेष की ओर अपनी दृष्टि न डाल कर, **सामान्य भाषा** (जिसमें सभी भाषाएँ सम्मिलित है) की ओर हम अपनी दृष्टि डालें तथा अपना अध्ययन भाषा-विषयक **सामान्य** बातों तक ही सीमित रखें। जैसे भाषाएं कैसे सबसे पहले जनमी होंगी, प्रारंभिक भाषा का स्वरूप क्या रहा होगा, भाषा में विकास या परिवर्तन कैसे-कैसे होता है और क्यो होता है, उन परिवर्तनों के पीछे कौन-कौन से कारण काम करते है, क्यों कुछ भाषाओं में विकास या परिवर्तन तेजी से होता है, किन्तु कुछ में यह धीरे-धीरे होता है, भाषा की क्या-क्या विशेषताएँ होती है, वे कौन-कौन से अभिलक्षण (विशेषताएं) होते है जो मानव-भाषा को मानवेतर भाषाओं से अलगाते है, कैसे धीरे-धीरे एक भाषा से ही अनेक बोलियाँ और भाषाएँ बन जाती है, जैसे एक ही भाषा संस्कृत से हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, सिंधी, पंजाबी, असमी, उड़िया, नेपाली, सिंहली आदि भाषाएँ और सैकड़ो बोलियाँ बन गई है। भाषा(ओं) से संबद्ध इस प्रकार की अनेकानेक बातें 'सामान्य भाषाविज्ञान' में ली जाती है।[2]

---

१. जिसे यहाँ 'प्रकार' कहा जा रहा है, उसे कुछ लोगो ने शाखाएं (जैसे लॉयन्स, 'लैंग्विज ऐंड लिंग्विस्टिक्स', दूसरा अध्याय) भी कहा है। यों प्रस्तुत पुस्तक मे 'शाखाएँ' ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान, अर्थविज्ञान आदि को कहा गया है तथा 'सामान्य', एककालिक-बहुकालिक, तुलनात्मक-व्यतिरेकी आदि को 'प्रकार' माना गया है।

२. लॉयन्स ने अपनी एक पुस्तक (लैंग्विज ऐंड लिंग्विस्टिक्स) में 'वर्णनात्मक भाषाविज्ञान' (डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स) को 'सामान्य भाषाविज्ञान' के साथ रखा है, जैसे दोनों एक-दूसरे के विरोधी हों, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नही। यों सामान्य भाषाविज्ञान के साथ 'विशिष्ट भाषाविज्ञान' को रखा जा सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से अब तक भाषाविज्ञान के इस प्रकार के किसी प्रकार (विशिष्ट भाषाविज्ञान) की सत्ता स्वीकारी नही गई है।

वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव) भाषाविज्ञान—'भाषाविज्ञान' के इस 'प्रकार' में भाषा सामान्य का नहीं, बल्कि किसी विशिष्ट भाषा का वर्णन करते हैं। 'वर्णनात्मक' (डिस्क्रिप्टिव) के विरोध में 'आदेशात्मक' (प्रिस्क्रिप्टिव) को रखा जा सकता है। 'वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव) भाषाविज्ञान' भाषा के स्वरूप को केवल वर्णित (डिस्क्राइब) करता है, यह नहीं दिखाता कि भाषा का वह रूप शुद्ध है या अशुद्ध, मानक है या अमानक। इसके विपरीत 'आदेशात्मक' (प्रिस्क्रिप्टिव) में 'वर्णन' (डिस्क्राइब) न करके, यह निर्धारित तथा आदेशित (प्रिस्क्राइब) करते हैं कि अमुक भाषा में ऐसा बोलना या लिखना उचित है और ऐसा नहीं। कहना न होगा कि व्याकरण यही करता है। 'वर्णनात्मक भाषाविज्ञान' यदि आज की हिन्दी का वर्णन करेगा तो मात्र यह कहकर छुट्टी पा लेगा कि हरियाणा तथा दिल्ली में और आसपास बहुत से लोग 'मुझे या मुझको जाना है' के स्थान पर 'मैंन जाना है' बोलते हैं, या पूरब के लोग कोट, तकिया, रुमाल, कलम आदि शब्दों को पुंलिंग न बोलकर स्त्रीलिंग बोलते हैं, किन्तु हिन्दी व्याकरण उपर्युक्त 'न' वाले प्रयोग को अशुद्ध मानेगा तथा उसके प्रयोग का वर्णन करेगा और कोट आदि शब्दों को पुंलिंग मानेगा और यह संकेत देगा कि इन्हें स्त्रीलिंग रूप में प्रयुक्त करना गलत है। इस तरह 'व्याकरण' भाषा के प्रयोग को वैसे ही निर्धारित (प्रिस्क्राइब) और आदेशित करता है, जैसे डॉक्टर एक मरीज के लिए दवा तथा खाद्य-अखाद्य निर्धारित और आदेशित करता है। अन्तर यह है कि डॉक्टर खाद्य-अखाद्य निर्धारित करता है तो व्याकरण प्रयोग्य-अप्रयोग्य। इसके विपरीत 'वर्णनात्मक भाषाविज्ञान' भाषा के प्रयोग में जो कुछ भी है, उसका तटस्थ भाव से वर्णन मात्र कर देता है, वह चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध। 'निर्धारणात्मक भाषाविज्ञान' (प्रिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स) नाम का 'भाषाविज्ञान' का कोई प्रकार तो नहीं है, किन्तु 'व्याकरण' मूलतः और तत्त्वतः यही है।

एककालिक भाषाविज्ञान-बहुकालिक भाषाविज्ञान—आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक सस्यूर (२०वीं सदी के प्रारम्भिक डेढ़ दशकों में) ने सर्वप्रथम भाषाविज्ञान के इन प्रकारों की ओर भाषाशास्त्रियों का ध्यान दिलाया था और इन्हें क्रमशः 'सिनक्रॉनिक' और 'डाइक्रॉनिक' कहा था। उसके पूर्व १९वीं सदी में भाषाविज्ञान के नाम पर भाषाविज्ञान के मात्र 'ऐतिहासिक' प्रकार पर बल था तथा उसमें 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' की सहायता ली जाती थी। 'एककालिक' से आशय 'भाषाविज्ञान' के उस प्रकार से है जिसमें किसी भाषा का एक काल-बिंदु पर अध्ययन करते हैं। ऐसे ही कई कालों के सुश्रृंखलित अध्ययन को 'बहुकालिक' कहते हैं। 'एककालिक' को 'समकालिक' या 'सकालिक' नाम से भी कुछ लोगों ने पुकारा है। इसी प्रकार 'बहुकालिक को 'कालक्रमिक' भी कहा जाता है। 'बहुकालिक' या 'कालक्रमिक भाषा-विज्ञान' 'ऐतिहासिक भाषाविज्ञान' भी कहा जाता है। 'इतिहास' आखिरकार विभिन्न कालों के अध्ययन का कालक्रमिक सुश्रृंखलित रूप ही तो है। इस तरह मूलतः 'ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान' का आधार 'एककालिक भाषाविज्ञान' ही है। यह एक अजीब बात है कि भाषाविज्ञान-जगत् में 'ऐतिहासिक भाषाविज्ञान' पहले आया और उसके मूल आधार 'एककालिक भाषा-विज्ञान' की ओर विद्वानों का ध्यान बाद में गया।

एककालिक भाषाविज्ञान में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, किसी भाषा का एक काल में अध्ययन करते हैं। इस अध्ययन में उस काल में प्रयुक्त भाषा के स्वरूप का वर्णन होता है। इसी वर्णन करने की चर्चा ऊपर वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में की गई। भाषाओं के इस वर्णन करने की समय-समय पर कई पद्धतियों या मॉडलों का विकास होता रहा है जिनमें संरचनात्मक भाषाविज्ञान (Structural Linguistics) तथा रूपांतरक प्रजनक व्याकरण (Transformational-Generative Grammer) मुख्य हैं।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान-व्यतिरेकी भाषाविज्ञान—तुलनात्मक भाषाविज्ञान का प्रयोग मूलतः १८वीं-१९वीं सदी में शुरू हुआ जिसमें दो या अधिक भाषाओं की तुलना करके ध्वनि,

शब्द तथा व्याकरण की समानताओं का पता लगाते थे तथा उनके आधार पर दो या अधिक भाषाओं को एक स्रोत से विकसित होने का निर्णय करते थे। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार इस तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त समानताएँ ही थीं। तुलना में जो बातें समान न होकर असमान या विरोधी मिलती थीं, वे भाषाविज्ञान में विशेष उपयोग की नहीं मानी जाती थी। केवल उनके आधार पर यदि उनका प्रतिशत काफ़ी हो तो यह मान लिया जाता था कि संबद्ध भाषाएँ एक स्रोत या परिवार की नहीं है। बीसवीं सदी के दूसरे चरण के अंत में इन अंतरों की उपयोगिता का पता भाषाशिक्षण और अनुवाद के प्रसंग में चला और भाषाओं में अंतर मालूम करने के लिए 'व्यतिरेकी भाषाविज्ञान' (कंट्रास्टिव लिंग्विस्टिक्स) नाम से भाषाविज्ञान का एक अलग प्रकार ही मान लिया गया। 'व्यतिरेक' का अर्थ है 'विरोध' (कंट्रास्ट)। एक भाषाभाषी जब दूसरी भाषा सीखता है तो दोनों भाषाओं की समानताएँ भाषा सीखने वाले के लिए समस्या या कठिनाई नहीं उत्पन्न करतीं, दोनों में अंतर ही कठिनाई उत्पन्न करते है। व्यतिरेकी विश्लेषण के आधार पर वे अंतर मालूम कर लिए जाते है और फिर उन पर बल देकर भाषा सिखाने में सुविधा होती है। ऐसे ही अनुवाद में भी दो भाषाओं के अंतर ही कठिनाई उत्पन्न करते है, समानताएँ नहीं। इस प्रकार भाषाशिक्षण और अनुवाद के लिए व्यतिरेकी भाषाविज्ञान बहुत उपयोगी है।

सैद्धांतिक भाषाविज्ञान (थ्यूरिटिकल लिंग्विस्टिक्स)—**अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान** (अप्लाइड लिंग्विस्टिक्स)—सैद्धांतिक भाषाविज्ञान में भाषा-विषयक विभिन्न सिद्धान्तों (भाषा की संरचना तथा भाषा-प्रयोग आदि विषयक) का निर्धारण होता है। इस सैद्धांतिक भाषाविज्ञान से प्राप्त संकल्पनाओं तथा तथ्यों का अन्य क्षेत्रों (जैसे भाषा सिखाने, कोश बनाने, अनुवाद करने, किसी रचना का शैलीय विश्लेषण करने तथा किसी व्यक्ति का उच्चारण-दोष ठीक करने आदि) में व्यावहारिक प्रयोग 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' कहा जाता है। इस तरह इसमें मुख्यतः भाषा-शिक्षण, कोशकला, अनुवाद, शैलीय विश्लेषण तथा वाग्दोष सुधार, आदि आते है।

वस्तुतः 'भाषाविज्ञान' भाषाओं के अध्ययन-विश्लेषण का विज्ञान है। यह भाषा की आंतरिक प्रकृति पर प्रकाश डालता है तथा भाषा-संबंधी सिद्धांतों का निर्धारण करता है। इस तरह यह सिद्धांतपरक है। इसके विपरीत 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' प्रयोगपरक है; इसमें जैसा कि ऊपर कहा गया, भाषाविज्ञान से प्राप्त सिद्धांतों का अन्य विषयों—जैसे भाषा सिखाने, अनुवाद कराने, कोश बनाने, व्यक्ति का उच्चारण ठीक करने, लिपि को सुधारने तथा शैली का विवेचन करने आदि—में प्रयोग किया जाता है।

'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' में अनुप्रयुक्त' शब्द अंग्रेज़ी 'अप्लाइड' (Applied) का प्रतिशब्द या समानार्थी है, अर्थात् 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' में भाषाविज्ञान से प्राप्त सिद्धांतों का मानव जाति की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग (Application) करते हैं। सीधे-सरल शब्दों में कहना चाहे तो भाषाविज्ञान से प्राप्त सिद्धांतों का विभिन्न विषयों में प्रयोग ही 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' है।

'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' के विषय में सामान्यतः तो मतभेद नहीं हैं, किन्तु कुछ लोगों ने इसका प्रयोग सीमित अर्थों में अवश्य किया है। यदि उनके प्रयोगों को दृष्टि में रखे तो अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान के प्रति तीन दृष्टिकोण हमारे सामने आते है—

(१) ज्ञान के किसी अन्य क्षेत्र को स्पष्ट करने के लिए भाषाविज्ञान और उसके सिद्धांतों का प्रयोग (अनुप्रयोग) 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' है। उदाहरण के लिए, फिशमैन भाषाविज्ञान का प्रयोग सामाजिक व्यवहार (Social behaviour) को समझने के लिए एक साधन (Tool) के रूप में करते हैं। ऐसे ही स्किनर तथा मिलर आदि मनोविज्ञानविदों ने मानव के मानसिक व्यवहार (Psychological behaviour) को समझने के लिए भाषाविज्ञान का एक

साधन के रूप मे प्रयोग किया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' भाषा-विज्ञान का इस प्रकार का प्रयोग है।

(२) भाषाशिक्षण के लिए भाषाविज्ञान का प्रयोग 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' है। पिट कार्डर ने अपनी एक पुस्तक का नाम रखा है—'इट्रोडक्शन टु अप्लाइड लिंग्विस्टिक्स' (अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की भूमिका), किन्तु उसमे मात्र भाषाशिक्षण विषय ही लिया है। इस तरह इनकी दृष्टि मे 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' और 'भाषाशिक्षणविज्ञान' पर्याय हैं।

(३) तीसरा दृष्टिकोण अपेक्षाकृत बहुत व्यापक है। इसके अनुसार भाषाविज्ञान के सिद्धान्तो का किसी भी अन्य विषय मे अनुप्रयोग 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' है। वस्तुत अधिकाश लोग अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान को इसी रूप मे मानते है। इस तरह अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान का आयाम बहुत विस्तृत है तथा इनमे भाषाविज्ञान के सिद्धातो के अनुप्रयोग के उपर्युक्त दो ('१' और '२') रूप तो आ ही जाते हैं, इनके अतिरिक्त भी अनेकानेक अन्य भी आ जाते हैं। इसीलिए अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान मे शैलीविज्ञान, अनुवादविज्ञान, भाषाशिक्षणविज्ञान तथा कोशविज्ञान आदि को माना जाता है।

निष्कर्षत भाषाविज्ञान वह विज्ञान है जिसमे भाषा अथवा भाषाओं का एककालिक, बहुकालिक, तुलनात्मक, व्यतिरेकी अथवा अनुप्रायोगिक अध्ययन-विश्लेषण तथा तद्विषयक सिद्धांतों का निर्धारण किया जाता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भाषाविज्ञान के कुछ प्रकार रूप मे भी हैं जो अन्य विषयो से भाषाविज्ञान के जुडने के कारण, या अन्य विषयो का भी भाषा से सरोकार होने के कारण विकसित हुए हैं। जैसे—समाजभाषाविज्ञान (समाजशास्त्र), मनोभाषाविज्ञान (मनोविज्ञान), शैलीविज्ञान (साहित्य) तथा नृजाति-भाषाविज्ञान (एथनोलिंग्विस्टिक्स, नृजातिविज्ञान) आदि। इनमें 'समाजभाषाविज्ञान' पर यहाँ अत्यन्त सक्षेप मे विचार किया जा रहा है। यों इसे तथा कुछ अन्यो को आगे अलग-अलग लिया जा रहा है।

समाजभाषाविज्ञान (Socio-linguistics)—समाज के परिप्रेक्ष्य मे भाषा का अध्ययन समाजभाषाविज्ञान के अतर्गत आता है। इसमे भाषा और उसे बोलने वाले समाज के बीच पाए जाने वाले सबधों का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं। भाषाविज्ञान से इसका अतर कई आधारों पर दिखाए जा सकता है। जैसे—(क) शुद्ध भाषाविज्ञान भाषा को भाषिक प्रतीक के रूप में लेता है, किंतु समाजभाषाविज्ञान उसे सामाजिक प्रतीक रूप में। (ख) भाषाविज्ञान में भाषा की सबसे बडी इकाई प्राय 'वाक्य' मानी जाती रही है, किंतु समाजभाषाविज्ञान 'प्रोक्ति' को यह स्थान देता है। (ग) भाषाविज्ञान समाज से प्राय अलग रखकर भाषा की सरचना पर विचार करता है, किंतु समाजभाषाविज्ञान उस अध्ययन को अधूरा मानता है और उसके अनुसार समाज के परिप्रेक्ष्य मे भाषा का अध्ययन ही भाषा का वास्तविक अध्ययन है और इस तरह समाजभाषाविज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि मे समाजभाषाविज्ञान ही वास्तविक भाषाविज्ञान है। (घ) मानक भाषा, अमानक भाषा तथा भाषा और बोली मे अतर दिखाना भाषाविज्ञान के लिए सभव नहीं है, क्योंकि यदि मात्र सरचना की बात लें (जिस पर भाषाविज्ञान का बल है) तो मानक भाषा, अमानक भाषा एव भाषा तथा बोली मे कोई भी अतर नहीं है। यह अतर समाजभाषाविज्ञान ही दिखा सकता है और दिखा पाता है।

समाजभाषाविज्ञान के प्रति इसके विद्वानो के दृष्टिकोण पूर्णत एक नहीं हैं (क) फिशमैन आदि इसे 'भाषा का समाजशास्त्र' मानते हैं। राजभाषा किसे बनाएँ, भाषा का मानकीकरण कैसे करें तथा उसे आधुनिक कैसे बनाएँ जैसी बातो पर इस दृष्टिकोण वालो का अधिक बल होता है। (ख) गम्पर्ज तथा फर्ग्यूसन आदि समाजभाषाविज्ञान को समाजोन्मुख भाषाविज्ञान मानते हैं। ये भाषा को सामाजिक प्रतीक मानते हैं तथा भाषा के विषमरूपी रूप

का जाति, वर्ग, धर्म आदि के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करते हैं। (ग) लेबॉव आदि समाजभाषाविज्ञान को ही वास्तविक भाषाविज्ञान मानते है तथा वास्तविक प्रयोग में प्राप्त विकल्पों के अध्ययन पर बल देते है। इनके अनुसार इन विकल्पों को छोड़कर भाषा का एक आदर्श रूप मानकर मात्र उसकी संरचना का अध्ययन बहुत सार्थक नही है।

भाषाविज्ञान का नाम

भाषाविज्ञान के लिए आरम्भ में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ, उनमें Comparative Grammar उल्लेख्य है। पहले व्याकरण और भाषाविज्ञान को मूलतः एक मानते थे। भाषाविज्ञान में कोई विशेषता यदि थी, तो उसके तुलनात्मक (Comparative) होने की। इसी कारण उसे '**कम्परेटिव ग्रामर**' (Comparative Grammar) कहा गया। किन्तु यह स्पष्ट हो जाने पर कि भाषाविज्ञान केवल तुलनात्मक व्याकरण ही नहीं है, यह नाम छोड़ दिया गया। १९वीं सदी में भाषाविज्ञान में भाषाओं की तुलना पर पर्याप्त बल दिया जाता था। इस आधार पर इन लोगों ने '**कंपरेटिव फ़िलालोजी**' (Comparative Philology) कहा। यह नाम कुछ दिन तक चला, पर बाद में यह भी छोड़ दिया गया। इसमें सबसे अधिक आपत्ति 'कम्परेटिव' (तुलनात्मक) शब्द पर थी, क्योंकि शास्त्रीय ज्ञान प्रायः सर्वदा ही तुलनात्मक होता है, अतः यह पूँछ व्यर्थ थी। सन् १८१७ ई० में डेवीज़ ने भाषाविज्ञान के मिलते-जुलते अर्थ में **ग्लासॉलोजी** (Glossology) का प्रयोग किया था। १९वीं सदी के प्रथम तीन चरणों में भाषाविज्ञान के लिए इसका प्रयोग कुछ लोगों ने किया, किन्तु बाद मे यह भी न चल सका। इसी प्रकार प्रिचर्ड ने १८४१ में **ग्लाटॉलोजी** (Glottology) का प्रयोग भाषाविज्ञान के लिए किया। बाद में मैक्समूलर ने थोड़े भिन्न अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया। २०वीं सदी के आरम्भ में टकर ने इस विज्ञान के नामों पर विचार करते हुए Glottology को सर्वोत्तम ठहराया, किन्तु उसके बावजूद किसी ने इस नाम को याद करने का भी गौरव नहीं दिया।

कई देशों में इसके लिए **फ़िलालोजी** (Philology) शब्द चलता रहा है। भारत में पुरानी पीढ़ी के लोगों में (तथा कुछ अन्य देशों में भी) तो आज भी यह शब्द प्रचलित है। 'फिलालोजी' मूलतः यूनानी भाषा का शब्द है। इसमें Philos का अर्थ है 'प्यार' या 'प्रेमी' और logos का अर्थ है 'बातचीत', 'शब्द' या 'भाषा' आदि। यूनानी से लैटिन में इसका रूप Philologia और फ्रांसीसी में Philologie हुआ। अंग्रेजी 'फ़िलालोजी' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सन् १३८६ ई० में मिलता है। उस समय इसका अर्थ था—व्याकरण, आलोचना, साहित्य और ज्ञान का प्रेम। बाद में विकसित होकर इसका अर्थ हो गया—'वह ज्ञान जो ग्रीक और लैटिन आदि क्लैसिकल भाषाओं को समझाने में सहायता दे'। भाषाविज्ञान के लिए अंग्रेजी मे इस शब्द का पहला प्रयोग १८वी सदी के दूसरे दशक में मिलता है। बीच मे जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इसके साथ 'कम्परेटिव' शब्द जोड़ दिया गया, पर फिर व्यर्थ समझ कर हटा दिया गया। भाषाविज्ञान के आधुनिक विद्वान् अब इस शब्द को पसन्द नहीं करते। फ्रांसीसी भाषा में तो इस 'Philologie' का प्रयोग 'पाठविज्ञान' के लिए भी होता है और यों अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी और जर्मन में 'फ़िलालोजी' में भाषा के अध्ययन के अतिरिक्त साहित्य, शैली तथा इनसे सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का अध्ययन आदि भी आता है। कभी-कभी इसका अर्थ साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से भाषा-अध्ययन भी किया जाता है।

अंग्रेजी में इस विज्ञान के लिए 'साइन्स ऑव लैंग्वेज' नाम भी चलता है, किन्तु यह नाम एक फ्रेज़ जैसा है; अपनी लम्बाई के कारण ही नाम-जैसा नही लगता। आज इसके लिए अधिक प्रचलित (और कदाचित् ठीक भी) नाम 'लिंग्विस्टिक्स' (Linguistics) है। इसका आधार लैटिन शब्द lingua (=जीभ) है। मूलतः भाषाविज्ञान के अर्थ में Linguistique

मे यह अग्रेजी मे गृहीत हुआ और लगभग दो दशको तक इसी रूप मे चलता रहा। छठे दशक मे इसका रूप Linguistics हो गया और तब मे यही नाम चल रहा है। फ्रेन्च मे यह अब भी Linguistique है। जर्मन मे Sprachwissenschaft नाम प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ भी भाषाविज्ञान है। यही दशा रूसी की भी है। उसमे 'यजिकाज्नानिये' शब्द है जिसमे 'यजिक' तो 'भाषा' या 'जिह्वा' है और 'ज्नानिये' विज्ञान। यो Filologiya तथा Linguistiks भी चलते हैं।

भारत मे ठीक आज के अर्थ मे तो भाषाविज्ञान जैसा विषय पहले कभी नही था, किन्तु उसके समीपवर्ती अर्थों मे प्राचीन काल मे निर्वचनशास्त्र, व्याकरण, शब्दानुशासन तथा शब्दशास्त्र आदि का प्रयोग होता था। आधुनिक काल मे तुलनात्मक भाषाशास्त्र, भाषाशास्त्र, भाषाविज्ञान, भाषाविचार, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, शब्दशास्त्र, भाषातत्त्व, शब्दतत्त्व, भाषालोचन (पं० सीताराम चतुर्वेदी की पुस्तक), भाषिकी आदि शब्द हिन्दी, मराठी तथा बगला आदि मे प्रयुक्त हो रहे हैं। हिन्दी मे 'भाषाविज्ञान' अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हो गया है। यो कुछ लोगो का कहना रहा है कि 'भाषाविज्ञान' शब्द 'फिलालोजी' का प्रतिशब्द था, और, आज 'फिलालोजी' शब्द इस विज्ञान के नए अर्थ का द्योतक नही है, अत 'भाषाविज्ञान' शब्द को फिलालोजी का प्रतिशब्द मानकर, उसी के स्थान पर प्रयुक्त करना चाहिए और 'लिंग्विस्टिक्स' के अर्थ मे 'भाषातत्त्व' को अपना लेना चाहिए। किन्तु तथ्य यह है कि 'भाषाविज्ञान' शब्द 'फिलालोजी' का समानार्थी भले ही रहा हो, किन्तु हिन्दी आदि मे उसका प्रयोग और अर्थ 'लिंग्विस्टिक्स' मे भिन्न प्राय नही रहा है, साथ ही वह इस विज्ञान के लिए, अपने यहा दो-तीन दशकों से अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित भी है, अतएव 'लिंग्विस्टिक्स' के स्थान पर हिन्दी मे 'भाषाविज्ञान' का प्रयोग ही उचित माना जा सकता है। यो 'भाषाशास्त्र'[1] या इस तरह के अन्य नामो मे भी कोई अशुद्धि नही है, किन्तु एक विज्ञान के लिए एक ही शब्द निश्चित कर लेना स्पष्टता आदि की दृष्टि से अधिक अच्छा रहता है।

इधर कुछ लोगो ने भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र मे अन्तर करते हुए आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए 'भाषाशास्त्र' नाम को उपयुक्त माना है। डॉ० उदयनारायण तिवारी लिखते हैं कि "अमेरिका मे फिलॉलोजी शब्द (भाषाविज्ञान) का व्यवहार प्राचीन भाषा तथा साहित्य एव शिलालेखो की भाषा के अध्ययन के सदर्भ मे किया जाता है। दूसरे शब्दो मे फिलॉलोजी के अतर्गत प्राचीन भाषा-सामग्री का विश्लेषण किया जाता है और लिंग्विस्टिक्स (भाषाशास्त्र) के अंतर्गत आधुनिक जीवित भाषाओ एव बोलियो का अध्ययन करते हैं। इसके अन्तर्गत केवल कथ्य भाषा की ही व्याख्या की जाती है। साहित्य की लिखित भाषा-सामग्री की व्याख्या प्रस्तुत करना इस विषय की सीमा के बाहर है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि लिंग्विस्टिक्स भाषा के यथातथ्य रूप का अध्ययन करता है, आदर्श रूप का नही।"

इस सम्बन्ध मे मुझे निम्नलिखित बातें कहनी है—(क) यह बात अपने आप अजीब-सी लगती है कि पुरानी भाषा का अध्ययन-विश्लेषण करना हो तो हम भाषावैज्ञानिक अध्ययन कहे और आधुनिक भाषा का अध्ययन-विश्लेषण करना हो तो भाषाशास्त्रीय अध्ययन कहे। अध्ययन-विश्लेषण की किसी भी शाखा मे इस प्रकार का अन्तर बहुत सार्थक नही कहा जा सकता। (ख) और मान लें किसी भाषा के पूरे इतिहास पर काम किया गया और एक पुस्तक प्रकाशित हुई, तो क्या उस पुस्तक के उन अशो को, जो पुराने साहित्य, शिलालेख, ताम्रपत्र

---

[1] डॉ० बाबूराम सक्सेना ने 'भाषाशास्त्र' को 'लिंग्विस्टिक्स' के लिए अशुद्ध नाम माना है। किन्तु आज 'शास्त्र' शब्द, मात्र अपने मूल अर्थ मे ही न प्रयुक्त होकर बहुत विस्तृत अर्थ रखने लगा है। यदि 'भौतिकशास्त्र', 'तर्कशास्त्र', 'रसायनशास्त्र' आदि मे उसका प्रयोग ठीक है, तो 'भाषाशास्त्र' मे उसके अशुद्ध होने का कोई कारण नहीं दीखता।

आदि के आधार पर लिखे गए हैं (मान लें १००० से ४००, तक की हिन्दी), भाषाविज्ञान का कहेंगे और उस अंश को जो २०वीं सदी उत्तरार्द्ध से सम्बद्ध है, भाषाशास्त्र का कहेंगे ? वह पुस्तक किस विषय की कहलाएगी,—भाषाविज्ञान की, या भाषाशास्त्र की ? (ग) लिंग्विस्टिक्स की एक शाखा ऐतिहासिक भी है जिसमें भाषा के इतिहास पर विचार किया जाता है और यदि भाषा-विशेष का इतिहास प्राचीन है तो इसमें साहित्य, शिलालेख आदि से मदद लेनी ही पड़ेगी । तो क्या भाषाशास्त्र की यह शाखा भाषाविज्ञान कहलायेगी ? (घ) 'फ़िलॉलोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक्स' में जो भेद है, वह वस्तुतः ठीक उसी प्रकार का नहीं है, जैसा कि डॉ० उदयनारायण तिवारी के उद्धरण में है । जहाँ तक मैं समझता हूँ, 'फ़िलॉलोजी' का कभी-कभी अर्थ लिया जाता है साहित्यिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन, जैसा कि डॉ० गुणे ने किया है । इसी प्रकार कुछ मतों के अनुसार पाठविज्ञान भी उसमें समाहित है । वेब्स्टर के अनुसार फ़िलॉलोजी 'Study of literature that includes or may include grammar, criticism, literary history, language history, system of writing and any thing else that is relevant to literature or to language as used in literature.' है । किन्तु, हमारे यहाँ 'भाषाविज्ञान' इस व्यापक अर्थ में कभी भी प्रयुक्त नहीं हुआ है, अतः उसे 'फ़िलॉलोजी' का प्रतिशब्द मानने का कोई ठोस आधार नहीं है । इस तरह मेरे विचार में 'भाषाविज्ञान' और 'भाषाशास्त्र' में ऐसा भेद करना बहुत वांछनीय नहीं है । प्रचलित नाम 'भाषाविज्ञान' हर दृष्टि से भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए काफ़ी अच्छा है । यों आवश्यकता पड़ने पर 'भाषाशास्त्र' को उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है ।

कुछ लोग भाषाविज्ञान को 'भाषिकी' भी कहते रहे हैं । मैं स्वयं 'भाषिकी' नाम की एक पत्रिका निकालता रहा हूँ, किन्तु अब इस नाम का प्रचार भी कम हो गया है ।

भाषाविज्ञान विज्ञान है या कला ?

जैसा कि पीछे भाषाविज्ञान पर विचार करते समय कहा जा चुका है, इसमें भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है, और इस तरह स्पष्ट ही यह विज्ञान है ।

'विज्ञान' शब्द का मूल अर्थ 'विशिष्ट ज्ञान' है । उपनिषदों में इसका प्रयोग 'ब्रह्मविद्या' के लिए भी हुआ है । आज सामान्य प्रयोग में 'शास्त्र' में और इसमें कोई भेद प्रायः नहीं किया जाता । यों मूलतः 'शास्त्र' और 'विज्ञान' में अन्तर है । 'विज्ञान' तो 'विशेष ज्ञान' है और 'शास्त्र' 'शासन करने वाला' है, अर्थात् वह यह बतलाता है कि क्या करणीय है और क्या अकरणीय । अपने यहाँ अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र के प्राचीन प्रयोग इसी ओर संकेत करते है । इस अर्थ में व्याकरण को शास्त्र कह सकते है, किन्तु इस मूल अर्थ की दृष्टि से भाषाविज्ञान को शास्त्र नहीं कह सकते । यह बात दूसरी है कि अब मूल अर्थ भुला दिया गया है और 'विज्ञान' तथा 'शास्त्र' पर्याय से हो गये हैं । इसीलिए राजनीतिविज्ञान (Political Science) तथा राजनीतिशास्त्र, भौतिकविज्ञान और भौतिकशास्त्र, समाजविज्ञान और समाजशास्त्र, मानवविज्ञान और मानवशास्त्र एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि भाषाविज्ञान किस सीमा तक विज्ञान है । वस्तुतः 'विज्ञान' का अर्थ आज के प्रयोग में केवल एक नहीं है । गणित, भौतिक और रसायन जिस अर्थ में विज्ञान हैं, ठीक उसी अर्थ में मानवविज्ञान, राजनीतिविज्ञान, समाजविज्ञान आदि विज्ञान नहीं है । विज्ञान में प्रायः विकल्प नहीं होता और उसके सत्य (जैसे अमुक कारण हो तो अमुक कार्य होगा) काफ़ी सीमा तक देश-काल से परे, अर्थात् सार्वलौकिक और सार्वकालिक होते हैं । वे बातें गणित या भौतिकी पर जितनी लागू होती है, उतनी राजनीतिविज्ञान आदि पर नहीं, फिर भी वे विज्ञान कहे जाते हैं । इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भाषाविज्ञान

विज्ञान तो है, किन्तु उस सीमा तक नही जितना कि गणितादि। यो इसमे सन्देह नहीं कि दिनोदिन यह विकसित तथा अधिक वैज्ञानिक होता जा रहा है।

अब 'विज्ञान' और 'कला' का प्रश्न लें। अध्ययन के विषयो को विज्ञान और कला दो वर्गों (वाणिज्य आदि के अतिरिक्त) मे बाँटा जाता रहा है। बी० ए०, एम० ए० या आर्ट्स फैकल्टी मे 'आर्ट्स'(कला) का यही अर्थ है। वस्तुत ज्ञान की इन दो शाखाओं के कारण ही यह प्रश्न उठा था कि भाषाविज्ञान 'विज्ञान' है या 'कला'। यह बात ध्यान देने की है कि इस प्रश्न मे 'कला' का अर्थ 'ललित या उपयोगी कला' नही है, जैसा कि कुछ लोग ले लेते हैं। इस प्रकार भाषाविज्ञान, 'ललित कला' या 'उपयोगी कला' मे 'कला' का जो अर्थ है, उस अर्थ मे तो कला नहीं है, किन्तु बी० ए० आदि मे कला का जो विस्तृत अर्थ है, उस दृष्टि से कला है क्योंकि मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि ऐसे विषय जो रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र आदि की भाँति निश्चित विज्ञान (Exact science) नही हैं, कला (arts) के ही अन्तर्गत माने जाते हैं। भाषाविज्ञान भी लगभग इन्ही की कोटि का है। इस प्रसंग मे यह भी उल्लेख्य है कि इस रूप मे 'कला' का अर्थ या क्षेत्र बहुत निश्चित नहीं है। गणित को इस संदर्भ मे कला मे रखते भी हैं और नही भी रखते। कुछ विश्वविद्यालयो मे बी० एस-सी० पास व्यक्ति गणित में मास्टर की डिग्री ले तो उसे एन० एस-सी० की उपाधि मिलती है और बी० ए० पास व्यक्ति डिग्री ले तो उसे एम० ए० की उपाधि मिलती है। यही नही, यूरोप के कुछ विश्वविद्यालय सभी विषयो को साइंस मानकर साइंस की डिग्री देते हैं तथा कुछ परम्परागत रूप से सभी मे आर्ट की।

आजकल अध्ययन के विषयो को मोटे रूप से तीन वर्गों में रखने की परम्परा चल पडी है (क) प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) जैसे भौतिकी, रसायनशास्त्र आदि, (ख) सामाजिक विज्ञान (Social Science), जैसे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि, (ग) मानविकी (Humanities), जैसे साहित्य, संगीतशास्त्र, चित्रकला, आदि। यदि भाषाविज्ञान को इनमे रखने की बात उठाई जाए तो वह समवेत रूप मे सामाजिक विज्ञान के निकट पडेगा। यो यदि उसके विभिन्न विभागो की ओर दृष्टि दौडाएँ तो उसकी ध्वनिविज्ञान-शाखा, विशेषत ध्वनि के उच्चरित होने के बाद कान तक के सचरण का अध्ययन, प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में पडता है तो उसकी शैलीविज्ञान-शाखा एक सीमा तक मानविकी मे।

व्याकरण और भाषाविज्ञान

'व्याकरण' शब्द का अर्थ है 'टुकडे-टुकडे करना', अर्थात् टुकडे-टुकडे करके उसका ठीक स्वरूप दिखाना।' यह किसी भाषा के टुकडे-टुकडे करके उसके ठीक स्वरूप को दिखाता है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है (साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृति —वाक्यपदीय), यह शुद्ध और अशुद्ध प्रयोग का ज्ञान कराता है। इस प्रकार किसी भाषा के सम्यक् ज्ञान के लिए व्याकरण सीखा जाता है। पहले लोग व्याकरण और भाषाविज्ञान मे अधिक अन्तर नही मानते थे, इसीलिए भाषाविज्ञान को तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar) कहा गया था, किन्तु यथार्थत इन दोनो मे पर्याप्त भेद है। यदि शास्त्र तथा विज्ञान का ठीक और मूल अर्थ मे प्रयोग करें तो व्याकरण शास्त्र है तथा भाषाविज्ञान विज्ञान। यो साम्य भी है। आगे संक्षेप मे कुछ बातें दी जा रही हैं—

(१) दोनो का सम्बन्ध भाषा के अध्ययन से है। (२) व्याकरण के समकालिक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक, ये तीन भेद होते हैं। भाषाविज्ञान के भी इस प्रकार के रूप हैं, जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है। दोनो के इन समनामी रूपो में पर्याप्त साम्य भी है। यो कुछ लोगों ने व्याकरण और वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को एक ही माना है, किन्तु वस्तुत दोनो एक नहीं हैं।

भेद

(१) भाषाविज्ञान 'विज्ञान' है। यह भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। कि
व्याकरण का रूप इससे भिन्न है। वह भाषा का विवेचन तो करता है, किन्तु साथ ही भाष
को शुद्ध रूप में बोलना, समझना और लिखना आदि सिखाता भी है। करणीय-अकरणीय प्रयोग
का ज्ञान कराने के कारण वह शास्त्र है। साथ ही दैनिक जीवन में उपयोगिता के कारण किस
अंश तक वह कला भी है। स्वीट ने इसीलिए व्याकरण को भाषा की कला और विज्ञान दोन
ही कहा है।

(२) व्याकरण का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है। उसका ध्यान एक भाषा के रूप पर ह
प्रायः केन्द्रित रहता है, पर दूसरी ओर यद्यपि 'भाषाविज्ञान' 'बहुभाषाज्ञान' नहीं है, किन्
उसमें प्रायः एकाधिक भाषाओं की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही वह अनेक भाषाओं के अने
प्रकार के अध्ययन द्वारा अनेक शास्त्रों और विज्ञानों से सहायता लेता और अपने सामान्
सिद्धान्तों का भी निर्धारण करता है। वह इस दिशा में कार्य करता है और व्याकरण के भ
दार्शनिक आधारों की व्याख्या करता है, किन्तु व्याकरण में इस प्रकार के सामान्य सिद्धान्त
का विवेचन प्रायः नहीं आता।

(३) व्याकरण सीधे किसी भाषा के नियम तथा साधु रूप आदि सामने रख देता है
वह वर्णन-प्रधान है। भाषा के व्यावहारिक पक्ष पर ही उसका ध्यान केन्द्रित रहता है, कारण
आदि पर नहीं; किन्तु भाषाविज्ञान विवेचन और शोध-प्रधान है, उसका ध्यान रूप आदि के
पूरे-पूरे विवेचन, कारण तथा इतिहास आदि पर जाता है। प्रयोग-निर्देश पक्ष उसका विषय ह
नहीं है। भाषाविज्ञान सीधे यह नहीं कह देगा कि हिन्दी में 'जाना' क्रिया का सामान्य भूत क
रूप 'गया' होगा, जैसा कि व्याकरण कहता है। वह जाँच-पड़ताल आरम्भ करेगा और अंत
यह भी बतलाएगा कि हिन्दी की 'जा' क्रिया से मूलतः 'गया' का सम्बन्ध नहीं है। वह संस्कृ
धातु 'गम्' के रूप 'गतः' का विकसित रूप है, जबकि 'जा' का सम्बन्ध धातु 'या' से है। आज
'गम्' धातु का यह एक ही रूप बचा है, अन्य सारे रूप 'या' या 'जा' के हैं, अतः इसे भी 'जा
से सम्बद्ध मान लिया गया है। यदि कोई संस्कृत में 'एकादश' न कहकर 'एकदश' कहे त
व्याकरण केवल असाधु प्रयोग कहकर मौन हो जायगा, किन्तु भाषाविज्ञान इसे स्पष्ट करेगा कि
एकदश ही कभी शुद्ध रहा होगा, पर बाद में 'द्वादश' के सादृश्य से उसे 'एकादश' हो जान
पड़ा। व्याकरण मात्र इतना कहकर संतोष कर लेगा कि बँगला में अपेक्षाकृत लिंग का ध्यान
कम रखा जाता है, किन्तु भाषाविज्ञान उसका कारण भी देगा कि संभवतः यह आसपास की
मुंडा भाषाओं का प्रभाव है। इस प्रकार व्याकरण के मूल का पूर्ण विवेचन भाषाविज्ञान का
कार्य है और इस प्रकार वह एक सीमा तक व्याकरण का भी व्याकरण है।

(४) एक प्रकार से व्याकरण भाषाविज्ञान का अनुगामी है। भाषाविज्ञान नये विकासों
का भी लेखा-जोखा लेता चलता है, बाद में उसे व्याकरण साधु मानता चलता है। इसी कारण
फ्रांस में प्रायः प्रति दसवें वर्ष व्याकरण में परिवर्तन कर देने की परम्परा रही है। इस रूप
में भाषाविज्ञान का सम्बन्ध भाषा के अधिक से अधिक जीवित रूप से होता है, पर व्याकरण
इतना प्रगतिवादी नहीं है। वह जीवित रूपों को प्रारम्भ में असाधु मानता है। हाँ, कुछ दिन
में उसे इनके प्रयोगों के आगे झुकना अवश्य पड़ता है और उस असाधु को साधु स्वीकार
करना पड़ता है। भाषाविज्ञान के अन्तर्गत ध्वनि-विचार में हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्द
व्यंजनांत माने जाने लगे हैं, क्योंकि आज का हमारा उच्चारण 'राम' न होकर 'राम्' जैसा
है, किन्तु व्याकरण के ग्रन्थों में अभी हाल तक और कुछ में तो अब भी इन्हें अकारांत माना
जाता है। धीरे-धीरे व्याकरण भाषाविज्ञान की इस मान्यता को ग्रहण कर रहा है। इससे
स्पष्ट है कि व्याकरण अप्रगतिवादी या पुरातनवादी है और इसकी तुलना में भाषाविज्ञान
प्रगतिवादी या नवीनतावादी है। यह व्याकरण की प्राचीनवादिता का ही परिणाम है कि

संस्कृत के विकास से उत्पन्न भाषाओ के 'प्राकृत' (असंस्कृत) और 'अपभ्रंश' (=बिगडी हुई) जैसे नाम पडे और दूसरी ओर यह भाषाविज्ञान की प्रगतिवादिता का ही ज्वलन्त उदाहरण है कि यह 'धर्म' से 'धम्म' या 'धरम' हो जाने को 'अवनति' या 'विकार' न मानकर 'विकास' मानता है।

(५) आधुनिक मतानुसार व्याकरण के प्रमुख विवेच्य विषय हैं भाषा की रूप-रचना और वाक्य-गठन, किन्तु भाषाविज्ञान ध्वनि, अर्थ, शब्द-समूह और लिपि आदि की भी विवेचना प्रस्तुत करता है।

इधर भाषाविज्ञान के कई सम्प्रदायो ने अपने सिद्धान्तो को व्याकरण (रूपांतरक-प्रजनक व्याकरण, व्यवस्थापरक व्याकरण, स्तरपरक व्याकरण, संबंधपरक व्याकरण) कहा है, अतः उपर्युक्त बातो पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया है। यो इन नामो मे व्याकरण का पुराना वाला अर्थ नही है।

भाषाविज्ञान की शाखाएँ

भाषाविज्ञान मे भाषा से सम्बद्ध सभी विषय आते है। इन अलग-अलग विषयो (जैसे ध्वनिविज्ञान, वाक्यविज्ञान, रूपविज्ञान, आदि) को यहा 'भाषाविज्ञान की शाखाएँ' कहा जा रहा है। यो इन्हे 'भाषा के अध्ययन के विभाग' भी कहा जा सकता है।[१] इन शाखाओं या विभागो मे कुछ तो मुख्य है तथा कुछ गौण। यहाँ दोनो को अलग-अलग लिया जा रहा है।

मुख्य

(१) **प्रोक्तिविज्ञान** (Discoursology)—किसी बात को कहने के लिए प्रयुक्त वाक्यों के उस समुच्चय को 'प्रोक्ति' कहते है जिसमे एकाधिक वाक्य आपस मे सुसबद्ध होकर अर्थ और संरचना की दृष्टि मे एक इकाई बन गए हो। अंग्रेजी का एक पुराना शब्द है 'डिस्कोर्स'। उसी को अब अंग्रेजी मे इस अर्थ का शब्द मान लिया गया है। इसी के एक प्रतिशब्द के रूप मे, हिन्दी मे 'प्रोक्ति' शब्द का प्रयोग इधर प्राय दस वर्षों से हो रहा है। प्रोक्ति के अध्ययन के लिए हिन्दी मे **प्रोक्तिविज्ञान** मेरा अपना बनाया हुआ शब्द है। 'डिस्कोर्स' के अध्ययन के लिए अंग्रेजी मे भी कोई शब्द नही है। मै उसके लिए 'डिस्कोर्सालोजी' नाम का सुझाव देना चाहूँगा। पहले प्रोक्ति की सत्ता की ओर न तो हमारे वैयाकरणो का ध्यान रहा है, न पुराने और नए भाषाशास्त्रियो का। इसलिए भाषा की मूलभूत सहज इकाई वाक्य को ही कहा गया तथा व्याकरण और भाषाविज्ञान दोनो ही मे वाक्य के आधार पर ही भाषा का विश्लेषण किया गया। भारतीय काव्यशास्त्री अपवाद हैं जिन्होंने प्रोक्ति के लिए 'महावाक्य' का प्रयोग आज से कई सौ वर्ष पहले किया था। इस प्रकार उनके मन मे इसकी संकल्पना तो थी (वाक्योच्चयो महावाक्यम्—विश्वनाथ 'साहित्य-दर्पण' मे), किन्तु वे इसे मूल न मानकर वाक्यबन्ध-जैसा मानते थे। इस तरह उनमे भी मूल इकाई 'वाक्य' को ही मानने का संकेत है। यदि उसे मूल मानते तो 'महावाक्य' न कहकर कुछ ऐसा नया नाम देते जिसमे वाक्य शब्द न होता। समाजभाषाविज्ञान के विकास के कारण इस ओर लोगो का ध्यान अब गया है। अर्थ और संरचना आदि सभी दृष्टियो से विचार करने पर प्रोक्ति ही भाषा की

---

१ वस्तुत भाषाविज्ञान की पुस्तको मे इस सम्बन्ध मे बहुत मतैक्य नही है। कुछ में ये शाखाएँ मानी गई है, तो कुछ मे विभाग। लॉयन्स आदि कुछ भाषाशास्त्रियो ने 'शाखाएँ' का प्रयोग वर्णनात्मक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक अर्थात् भाषाविज्ञान के प्रकारो के लिए किया है।

मूलभूत सहज इकाई ठहरती है और क्योंकि समाज में विचार-विनिमय के लिए उसी (प्रोक्ति) का प्रयोग किया जाता है तथा वाक्य उसी का विश्लेषण करने पर प्राप्त होते है, अतः वाक्य मूलतः भाषा की सहज इकाई नहीं हो सकते। 'लंका का अत्याचारी राजा रावण अयोध्या के राजकुमार राम की पत्नी सीता को उठाकर अपने रथ पर बैठाकर ले गया। पता चलने पर राम और उनकी सेना ने उस पर चढ़ाई की। युद्ध में रावण-पक्ष के काफ़ी लोग मारे गए। अन्त में वही हुआ जो होना था। राम ने रावण को बाण से मारा और रावण वीरगति को प्राप्त हुआ।' यह एक प्रोक्ति है जिसमें कई वाक्य है; जैसे—'युद्ध में रावण-पक्ष के काफ़ी लोग मारे गए' या 'राम ने रावण को बाण से मारा' आदि। ये सभी वाक्य आपस में सुसंबद्ध हैं। 'प्रोक्तिविज्ञान' भाषाविज्ञान की वह शाखा है जिसमें प्रोक्ति का अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। चूंकि यह अध्ययन भी भाषा के अन्य स्तरों (जैसे वाक्य, रूप, ध्वनि आदि) के अध्ययन की तरह **एककालिक**, **कालक्रमिक**, **तुलनात्मक**, **व्यतिरेकी** तथा **सैद्धांतिक** रूप में हो सकता है, इसीलिए इसके '**एककालिक प्रोक्तिविज्ञान**' (जिसमें किसी भाषा की एक काल की प्रोक्तियों का अध्ययन हो), '**कालक्रमिक प्रोक्तिविज्ञान**' (जिसमें कालक्रमानुसार किसी भाषा की प्रोक्तियों का विकासात्मक अध्ययन हो), '**तुलनात्मक प्रोक्तिविज्ञान**' (दो भाषाओं की प्रोक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर) तथा **व्यतिरेकी** या **सैद्धांतिक** आदि भेद माने जा सकते हैं।

(२) **वाक्यविज्ञान** (Syntax)—वाक्य को भाषा की मूलभूत सहज इकाई मानने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है तथा अब भी काफी भाषाशास्त्री और वैयाकरण इसी मत के हैं, इसीलिए वाक्य से चलकर रूप, ध्वनि आदि की संरचना पर विचार करने की परम्परा रही है, तथा है। किन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा, उपर्युक्त तर्क के आधार पर वाक्य को भाषा की मूलभूत सहज इकाई न मानकर उसे किसी प्रोक्ति का विश्लेषण करने पर प्राप्त एक इकाई रूप में मानना अधिक समीचीन है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, वाक्यविज्ञान भाषाविज्ञान की वह शाखा है जो वाक्य का अध्ययन-विश्लेषण करती है। वाक्यविज्ञान में वाक्य का अध्ययन-विश्लेषण भाषा के अन्य स्तरों की तरह **एककालिक**, **कालक्रमिक**, **तुलनात्मक**, **व्यतिरेकी** एवं **सैद्धांतिक** आदि सभी रूपों में किया जा सकता है, इसीलिए प्रोक्तिविज्ञान की तरह इस शाखा के भी कई रूप या उपशाखाएँ मानी जा सकती है। वाक्य का अध्ययन पदक्रम, अन्वय, निकटस्थ अवयव, केन्द्रिकता, मूलवाक्यता (बीजवाक्यता), रूपांतरित वाक्यता, बाह्य संरचना-आंतरिक संरचना, परिवर्तन (कारण और दिशाएँ) आदि की दृष्टियों से किया जाता है।

(३) **रूपविज्ञान** (Morphology)—रूपविज्ञान में भाषा में प्रयुक्त रूपों (पदों) का अध्ययन करते हैं। जैसे 'प्रोक्ति' के भीतर 'वाक्य' मिलते है, उसी प्रकार 'वाक्य' के भीतर 'रूप' मिलते हैं। 'राम ने रावण को बाण से मारा' वाक्य में चार रूप हैं: 'राम ने' कर्ता कारक का रूप, 'रावण को' कर्म कारक का रूप, 'बाण से' करण कारक का रूप तथा 'मारा' 'मार्' धातु का भूतकालिक रूप। रूपविज्ञान में रूप-रचना का अध्ययन होता है। पश्चिमी भाषाशास्त्री मॉर्फ़ोलोजी (रूपविज्ञान) में शब्द-रचना को भी लेते हैं तथा उन्हीं के अनुकरण पर बहुत से भारतीय भाषाशास्त्री भी। किन्तु, मेरे विचार में शब्द-रचना शब्दविज्ञान के अन्तर्गत आना चाहिए, रूपविज्ञान के अंतर्गत नहीं। वाक्यविज्ञान की तरह ही रूपविज्ञान के भी **एककालिक**, **कालक्रमिक**, **तुलनात्मक**, **व्यतिरेकी**, **सैद्धांतिक** आदि भेद किए जा सकते हैं।

(४) **शब्दविज्ञान** (Wordology)—पश्चिम में इस तरह का कोई विभाग भाषाविज्ञान के अन्तर्गत नहीं है। 'शब्दविज्ञान' तथा इसके लिए अंग्रेज़ी प्रतिशब्द 'वर्डालोजी' मेरे

अपने बनाए शब्द हैं। शब्दविज्ञान हिन्दी वाक्यविज्ञान, रूपविज्ञान, अर्थविज्ञान आदि के सादृश्य पर है तो Wordology फोनॉलोजी, मार्फोलोजी आदि के सादृश्य पर। अंग्रेजी मे कुछ लोग शब्दविज्ञान को 'लेक्सिकॉलोजी' मे समाहित करने की बात सोचते हैं, किन्तु 'लेक्सिकॉलोजी' तो कोशविज्ञान है जो सर्वथा अलग है। कुछ लोग 'मॉर्फोलोजी' मे इसकी कुछ बातें ले लेन के पक्ष में हैं, किन्तु 'शब्द-रचना', 'शब्दो की व्युत्पत्ति', 'किसी भाषा द्वारा प्रयुक्त शब्दो के भडार का प्रयोग, रचना, इतिहास आदि के आधार पर वर्गीकरण', 'किसी भाषा के शब्द-भडार का इतिहास', 'उसमे परिवर्तन के कारण तथा दिशाएँ' एव शब्दो मे सम्बद्ध अन्य अनेक प्रकार के अध्ययन रूपविज्ञान (मॉर्फोलोजी) मे सुविधापूर्वक नही लिए जा सकते, क्योकि रूपविज्ञान तो रूप का विज्ञान है, शब्द का नही। ऊपर हमने देखा कि 'राम ने रावण को बाण से मारा' वाक्य मे 'राम ने', 'रावण को', 'बाण से' तथा 'मारा' रूप हैं तो इनके भीतर 'राम', 'रावण', 'बाण' तथा मार् (धातु) शब्द हैं। शब्द शब्दकोश मे होते हैं और उनका एक अर्थ होता है, जबकि रूप का अर्थ भी होता है और उसमें वाक्य के अन्य शब्दो से सम्बन्ध दिखाने की क्षमता भी होती है—अर्थ उसके भीतर शब्द होने के कारण तथा सम्बन्ध दिखाने की क्षमता उसमे प्रयुक्त 'सम्बन्धतत्त्व' (जैसे ने, को, से आदि) होने के कारण। सम्बन्धतत्त्व ही वाक्य मे इन शब्दो (राम, रावण, बाण आदि) के सम्बन्धो का द्योतन करते हैं—एक को कर्ता दूसरे को कर्म तथा तीसरे को करण आदि बनाते हैं। शब्दविज्ञान भी एककालिक, कालक्रमिक, तुलनात्मक, व्यतिरेकी आदि हो सकता है।

(५) **ध्वनिविज्ञान**—रूपो या शब्दो का विश्लेषण करे तो हम ध्वनि पर पहुँचते हैं। इसी को स्वन (Phone) भी कहते हैं। ध्वनिविज्ञान मे इन्ही ध्वनियो (स्वनो) का अध्ययन करते हैं। सच पूछा जाए तो इस ध्वनि के अध्ययन के दो रूप हैं। एक तो मात्र सैद्धांतिक है जिसमे 'जिन उच्चारण-अवयवो से ध्वनियो का उच्चारण किया जाता है', उनके बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। साथ ही किसी भाषा की ध्वनियो के विषय मे तो नही, किंतु सामान्य रूप से 'स्वर तथा व्यजन मे अतर', स्वर-व्यजन का वर्गीकरण, 'अक्षर', 'बलाघात' तथा 'अनुतान' आदि पर विचार करते हैं। ध्वनिविज्ञान का दूसरा रूप भाषा-सापेक्ष होता है जिसमे भाषा-विशेष की ध्वनियो पर विचार करते हैं। इसमे 'भाषा-विशेष की ध्वनियो का वर्गीकरण', 'उस भाषा मे प्रयुक्त ध्वनियो की व्यवस्था', उसमे 'बलाघात' 'अनुतान' 'सधि', 'सहिता' (सगम, विवृति) आदि का विवेचन आता है। अंग्रेजी मे प्रथम को Phonetics तथा दूसरे को Phonology कहते हैं। हिन्दी मे कई शब्द इनके लिए प्रयुक्त होते रहे हैं। अब प्राय 'फोनेटिक्स' को **स्वनविज्ञान** तथा फोनॉलोजी को **स्वनप्रक्रिया** कहने लगे हैं। स्वनप्रक्रिया को भाषाविज्ञान के सरचनावादी सप्रदाय के लोग स्वनिमविज्ञान (Phonemics) भी कहते हैं। यो फोनॉलोजी पहले ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान को भी कहते थे। ध्वनियो का अध्ययन मुख्यत भाषाविशेष के प्रसग मे एककालिक, कालक्रमिक, तुलनात्मक एव व्यतिरेकी आदि प्रकारो का हो सकता है। औच्चारणिक, सावहनिक तथा श्रावणिक स्वनविज्ञान का भी उल्लेख इस प्रसग मे किया जा सकता है जिसमे क्रमश 'ध्वनियो का उच्चारण', 'बोलने पर लहरो द्वारा ले जाई जाकर उनका दूसरों के कान तक पहुँचना' (वहन) तथा 'श्रवण' आता है।

(६) **अर्थविज्ञान** (Semantics)—भाषा के अर्थ-पक्ष का अध्ययन अर्थविज्ञान का विषय है। इसमें 'अर्थ क्या है', 'अर्थ का निर्धारण कैसे होता है', 'वह कितने प्रकार का होता है', 'अर्थ मे परिवर्तन के कारण और उनकी दिशाएँ', 'समानार्थता', 'विलोमार्थता' तथा 'बहुअर्थता' आदि का अध्ययन करते हैं। अर्थविज्ञान मे अर्थ का अध्ययन एककालिक भी हो सकता है, कालक्रमिक भी, तुलनात्मक भी और व्यतिरेकी भी। यह भी उल्लेख्य है कि अर्थ-विज्ञान में शब्द उपसर्ग, प्रत्यय, शब्दबध, पद, पदबध, वाक्य, प्रोक्ति, मुहावरे, लोकोक्तियो

आदि सभी के अर्थ का अध्ययन किया जाता है। इस संबंध में प्रकरणार्थविज्ञान[1] (प्राग्मैटिक्स) का भी उल्लेख किया जा सकता है। यह भी अर्थविज्ञान में ही आता है।

गौण

भाषाविज्ञान की ये अन्य शाखाएँ या अन्य विभाग मुख्य तो नहीं हैं, किंतु ये गौण होते हुए भी महत्वपूर्ण हैं, और इसीलिए इन पर भी काम होता रहा है और हो रहा है।

(१) **लिपिविज्ञान**—इसके अंतर्गत लिपि का **एककालिक, कालक्रमिक, तुलनात्मक** तथा **व्यतिरेकी** अध्ययन आता है। इसके अतिरिक्त यदि व्यापक रूप में देखें तो 'लिपि का जन्म', 'लिपि का विकास', 'लिपि-निर्माण', 'लिपि-सुधार', 'आशुलिपि', 'ब्रेल लिपि' आदि का अध्ययन भी इससे बाहर नहीं है। यह ध्यान देने की बात है लिपि का विकास भाषा के बाद हुआ और सिवा इसके कि भाषा इसके माध्यम से लिखी जाती है, भाषा का कोई बहुत सीधा संबंध लिपि से नहीं है, इसीलिए लिपिविज्ञान को भाषाविज्ञान की मुख्य शाखाओं में प्रायः नहीं रखा जाता।

(२) **भाषा की उत्पत्ति**—भाषाविज्ञान का सबसे अधिक स्वाभाविक, आवश्यक, किन्तु विचित्र प्रश्न 'भाषा की उत्पत्ति' का है। इस पर विद्वानों ने तरह-तरह से विचार कर अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। आधुनिक काल के अधिकांश विद्वान तो इस प्रश्न को भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत मानते ही नहीं, किन्तु इसे बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। जब भाषा का पूरा जीवन हमारे अध्ययन का विषय है, तो उसके जन्म के प्रश्न को भला कैसे ठुकरा सकते हैं? हाँ, इसका अध्ययन कठिन अवश्य है और यही कारण है कि इसका कोई निश्चित उत्तर हम नहीं पा सके हैं और न निकट भविष्य में इसकी कोई आशा ही है।

(३) **भाषाओं का वर्गीकरण**—ऊपर के प्रधान विभागों के अन्तर्गत संकेतित वाक्य, रूप, शब्द, ध्वनि तथा अर्थ के आधार पर प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत हम संसार की भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन कर उनका वर्गीकरण करते हैं। इसी आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि कौन-कौन सी भाषाएँ एक परिवार की हैं। साथ ही इससे अर्थ या ध्वनि-सम्बन्धी अनेक गुत्थियों पर भी प्रकाश पड़ता है। तत्वतः यह भाषाविज्ञान का स्वतन्त्र विभाग न होकर उपर्युक्त पाँचों विभागों के आधार पर अध्ययन का एक पृथक् क्षेत्र मात्र है। आजकल **भाषा-प्रकार-विज्ञान** (Linguistic typogy) के अन्तर्गत विशेषताओं के आधार पर भाषाओं को वर्गीकृत करते हैं।

(४) **भाषा-भूगोल** (Linguistic Geography)—इसमें किसी भाषाक्षेत्र (के भौगोलिक विस्तार) का ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ तथा शब्द आदि की दृष्टि से अध्ययन करके उसे भाषाओं और बोलियों में बाँटा जाता है। उत्तरी भारत में भारतीय आर्यभाषा-परिवार की कितनी भाषाएँ हैं और उसकी कितनी बोलियाँ तथा उपबोलियाँ हैं एवं उनकी निश्चित सीमाएँ क्या हैं, इस प्रकार का अध्ययन इसी के अन्तर्गत आता है। इसमें आवश्यकतानुसार, एककालिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक तीनों ही पद्धतियों को अपनाना पड़ता है। भाषाविज्ञान की **'बोली-भूगोल'** (Dialect Geography) नाम से प्रसिद्ध शाखा भी यथार्थतः इसी के अन्तर्गत आती

१. कुछ लोगों के अनुसार वाक्य तक का अर्थ अर्थविज्ञान में है, किंतु प्रोक्ति का अर्थ अलग से 'प्रकरणार्थविज्ञान' का विषय है (लायन्स, लैंग्विज ऐंड लिंग्विस्टिक्स, १९८१, पृ० १९४)। पहले मैं भी ऐसा ही मानता था, इसीलिए अपनी पुस्तक भाषाविज्ञान के १९८४ के संस्करण में मैंने प्रकरणार्थ विज्ञान को अलग अध्याय के रूप में रखा था, किंतु अब मेरे विचार में किसी भी प्रकार का अर्थ क्यों न हो, वह 'अर्थविज्ञान' का ही विषय है। इसीलिए इस संस्करण में मैं उसे इसी में रख रहा हूँ। १९७० के लगभग अर्थविज्ञान के **व्याख्यात्मक** (Interpretive) तथा **प्रजनक** (Generative) दो रूपों की बात चली थी।

है। इन दोनों के आधार पर भाषा या बोली आदि के एटलस या भाषिक एटलस भी बनाये जाते हैं जिनमें ध्वनि, रूप, वाक्य, अर्थ या शब्द आदि विषयक विशेषताएँ दिखाई जाती हैं। यह भी वस्तुत पाँच प्रमुख अध्ययनों या विभागों का भौगोलिक स्तर पर प्रयोग है।

(५) भाषाकालक्रमविज्ञान (Glottochronology)—सांख्यिकी (Statistics) या गणनाशास्त्र के आधार पर अनेक विज्ञानों में बडे उपयोगी निष्कर्ष निकाले जाने लगे हैं। भाषा-कालक्रमविज्ञान गणनाशास्त्र के आधार पर बहुत से ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों को ज्ञात करने की एक पद्धति है जिन्हें ज्ञात करने के भाषाविज्ञान के पास अभी तक निश्चित और वैज्ञानिक साधन नहीं थे। इसमें आधारभूत शब्द-समूह मे पुराने और नये तत्त्वों के आधार पर किसी भाषा की आयु आदि का पता लगाया जाता है। अभी तक यह शाखा अपनी बाल्यावस्था मे है और इसके निष्कर्षों के सम्बन्ध मे सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं।

(६) भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology)—इसमे भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के पास उस काल के सम्बन्ध मे कुछ जानने के लिए अभी तक कोई साधन नहीं था, या था भी तो अपर्याप्त, किन्तु भाषाविज्ञान के इस विभाग न अब एक नवीन आशा की किरण दी है। अभी तो इसकी शैशवावस्था है, किंतु संभव है इस आधार पर हम निकट भविष्य मे प्रागैतिहासिक संस्कृतियो का विशेष परिचय पा सकें।

(७) शैलीविज्ञान (Stylistics)—एकभाषाभाषी सभी व्यक्तियों की भाषा ध्वनि, शब्द, रूप तथा वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से पूर्णत समान नहीं होती। इसी प्रकार एक ही भाषा में लिखने वाले लेखकों एव कवियों की भाषा मे उनकी कुछ शैलीगत विशेषताएँ होती हैं जिनके आधार पर बतलाया जा सकता है कि कौन किसकी रचना है। इन वैयक्तिक अंतरों या शैलीगत विशेषताओं या काव्यभाषा का अध्ययन शैलीविज्ञान का विषय है।

(८) सर्वेक्षण-पद्धति (Field Method)—किसी क्षेत्र मे बोली जाने वाली भाषा के विश्लेषण के लिए सामग्री एकत्र करने की पद्धति का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। इसमें 'सूचक कैसा चुनें', 'सर्वेक्षक कैसा हो', 'प्रश्नावली कैसे बनाएँ', 'सामग्री कैसे लिखें' जैसे प्रश्नों पर विचार किया जाता है।

(९) भूभाषाविज्ञान (Geo linguistics)—इसके अंतर्गत विश्व मे भाषाओं का वितरण, उनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक महत्व का आकलन, वे कैसे एक-दूसरे पर अंत क्रिया (interact) करती हैं, राष्ट्रों की संस्कृति भाषा को कैसे प्रभावित करती है तथा राष्ट्रभाषा या राजभाषा जैसी समस्याओं का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। यह भाषाविज्ञान की अपेक्षाकृत नयी शाखा है।

उपर्युक्त मुख्य तथा गौण शाखाओं के अतिरिक्त, भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा का कुछ अन्य दृष्टियों से एव आधारों पर भी अध्ययन किया जाता है और इनमे कुछ का भाषा-विज्ञान के विभागों एव उपविभागों के रूप में उल्लेख भी होता है। उदाहरणार्थ, सुरविज्ञान (Tonetics)—इसमे भाषाओं के सुरों का अध्ययन होता है। भाषा शिक्षणविज्ञान, भाषाविकास (Linguistic Phylogeny)—इसमे भाषा मे परिवर्तनशीलता या विकास, तथा उसके कारणों का अध्ययन होता है। व्यक्तिबोली विकास (Linguistic Ontogeny)—इसमें एक व्यक्ति की भाषा या बोली मे विकास का अध्ययन किया जाता है। बोलीविज्ञान (Dialectology)—इसका संबध बोलियों के अध्ययन मे है।

तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)—इसका अर्थ है दो या अधिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन एवं उस अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकालने की पद्धति। इस पद्धति पर अध्ययन एक या कई कालों का हो सकता है। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में भी इस

पद्धति से सहायता ली जाती है। **पुनर्निर्माण** (Reconstruction) का अर्थ है एक परिवार की दो या अधिक भाषाओं या बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उस अज्ञात भाषा के स्वरूप का पता लगाना, या उसका पुनर्निर्माण करना, जिससे वे दोनों निकली हों और जिसके स्वरूप को जानने के लिए अन्य कोई पूर्ण साधन न हो। इसी तुलनात्मक और ऐतिहासिक पद्धति से इंडो-हिट्टाइट तथा इंडो-यूरोपियन (भारोपीय) आदि प्राचीन भाषाओं का पुनर्निर्माण किया गया है।

मेटालिंग्विस्टिक्स (Metalinguistics)—इसका प्रयोग भाषाविज्ञान में कई अर्थों में किया गया है। ट्रेगर ने इसका प्रयोग अर्थविज्ञान के लिए किया है, क्योंकि वे उसे भाषाविज्ञान से बाहर मानते हैं। कुछ लोग इसका प्रयोग भाषाविज्ञान के उस अंग के लिए करते हैं जिसमें संस्कृति के अन्य अंगों से भाषा के सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। कुछ अन्य लोगों ने इसका प्रयोग भाषा के दार्शनिक स्वरूप के विवेचन के लिए किया है। रूसो, मॉरिस तथा कारनेप आदि तर्कशास्त्र में इसका प्रयोग एक चौथे अर्थ में करते हैं। यहीं से लेकर भाषाविज्ञानवेत्ता इसका प्रयोग भाषा के अध्ययन की तकनीक या शिल्प-विधि (हॉगन इसे Metalanguage कहते हैं) के अध्ययन के लिए कर रहे हैं। इसी के अन्तर्गत उस भाषा तथा पारिभाषिक शब्दावली का भी अध्ययन आता है जिसका भाषा के अध्ययन में प्रयोग होता है। इसे कुछ लोग Exoo-linguistics, कुछ लोग Meta-research तथा कुछ लोग Meta-sprog भी कहते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि अर्थविज्ञान को कुछ लोग मेटालिंग्विस्टिक्स कहकर उसे भाषा-विज्ञान से बाहर रखते हैं। इसी प्रकार फ़ोनेटिक्स को कुछ लोग प्रीलिंग्विस्टिक्स (Prelinguistcs) मानकर इसके शुद्ध सैद्धांतिक रूप (ध्वनि-उत्पत्ति, ध्वनि-अवयव आदि) को भाषाविज्ञान से बाहर रखना चाहते हैं। **जाति-भाषाविज्ञान** (Ethnolinguistics)—इसमें जातिविज्ञान और भाषाविज्ञान, इन दोनों विज्ञानों के सम्बन्धों और आपसी प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त **भाषा के विविध रूपों** (भाषा, बोली, उपबोली, आदि), उन रूपों के बनने के कारण, **भाषा की प्रकृति** तथा **भाषाविज्ञान का इतिहास** आदि का भी अध्ययन भाषाविज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है।

उपर्युक्त शाखाओं-प्रशाखाओं में बहुतों के बारे में आगे स्वतंत्र अध्यायों के रूप में या अन्य अध्यायों के अन्तर्गत विस्तार से विचार किया गया है।

भाषाविज्ञान के अध्ययन से लाभ

इस विषय में ऊपर तथा आगे भी यत्र-तत्र विचार किया गया है। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख बातें गिनाई जा रही हैं—

(१) अपनी चिरपरिचित भाषा के सम्बन्ध में जिज्ञासा की तृप्ति।

( ) प्राचीन तथा प्रागैतिहासिक संस्कृति पर प्रकाश।

(३) किसी जाति या सम्पूर्ण मानवता के मानसिक विकास का प्रत्यक्षीकरण।

(४) प्राचीन साहित्य के अर्थ, उच्चारण तथा प्रयोग आदि से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान।

(५) पूरे विश्व के लिए एक कृत्रिम भाषा का विकास (जैसे 'एसपेरैंतो' आदि)।

(६) मातृभाषाओं तथा विदेशी भाषाओं के सीखने में पूर्णता, सरलता और शीघ्रता।

(७) एक भाषा से दूसरी भाषा में सटीक अनुवाद में सहायता।

(८) अनुवाद करने वाली, स्वयं टाइप करने वाला टाइपराइटर तथा इसी प्रकार की अन्य मशीनों के विकास में सहायता।

(९) भाषा, लिपि आदि में सरलता एवं शुद्धता आदि की दृष्टि से परिवर्तन-परिवर्द्धन करने में सहायता।

(१०) किसी भाषा के लिए लिपि, उसका व्याकरण, कोश तथा उसे पढाने के लिए पाठ्य-पुस्तक बनाने मे सहायता ।

(११) तुतलाहट, हकलाहट, अशुद्ध उच्चारण, अशुद्ध श्रवण आदि दूर करने मे सहायता ।

(१२) मनोविज्ञान, प्राचीन भूगोल, शिक्षा, समाजविज्ञान, दर्शन तथा इजीनियरिंग (कम्यूनिकेशन) आदि मे सहायता ।

भाषाविज्ञान से मनुष्य के अन्य ज्ञानो का सम्बन्ध

ज्ञान अपने विराटतम रूप मे अखड है । तत्वत उसे अलग-अलग शास्त्रो तथा विज्ञानो आदि मे इस प्रकार नही विभाजित किया जा सकता कि एक-दूसरे से पूणत अलग हो । केवल सुविधा के लिए अखड ज्ञान को हमने अलग-अलग विज्ञानों एव शास्त्रो आदि मे विभाजित कर रखा है । इस तरह अखड ज्ञान का यह विभाजन केवल व्यावहारिक है, तात्त्विक नही । यदि इस तात्त्विक स्थिति को ध्यान मे रखे तो स्पष्ट ही एक अखड ज्ञान के अश होने के कारण सभी ज्ञान-विज्ञान किसी न किसी रूप मे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं ।

ऊपर तात्त्विक दृष्टि से बात कही जा रही थी । व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य ने अपनी ज्ञान की सीमा और अध्ययन-विश्लेषण की सुविधा के अनुसार अखंड ज्ञानक्षेत्र को कुछ विभागो मे बाँट रखा है जिसको उसने अलग-अलग विज्ञानो एवं शास्त्रो आदि की सज्ञा दी है । इन ज्ञानो, विज्ञानो एव शास्त्रो मे कुछ तो सामान्य और व्यावहारिक धरातल पर एक-दूसरे से बहुत सबद्ध नही कहे जा सकते, जैसे साहित्य और गणित, रसायनशास्त्र और भाषा-विज्ञान, काव्यशास्त्र और भौतिकशास्त्र या वनस्पतिविज्ञान और दर्शन आदि । दूसरी ओर, ज्ञान के ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो एक-दूसरे से सबद्ध है । यह सम्बन्ध कई प्रकार का है । उदाहरण के लिए, कुछ तो एक-दूसरे से सामान्य सम्बन्ध रखते है, कुछ एक-दूसरे के पूरक-जैसे होते हैं और कुछ का तो आपस मे ऐसा सम्बन्ध होता है कि एक की जानकारी के बिना दूसरे का अध्ययन प्राय असभव है । दोनो अन्योन्याश्रित होते हैं । भाषाविज्ञान से भी अनेक ज्ञानो, विज्ञानो एवं शास्त्रो के अनेक स्तरो मे विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध हैं । यहाँ कुछ प्रमुख के साथ भाषाविज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट किया जा रहा है—

(क) व्याकरण—भाषाविज्ञान और व्याकरण एक-दूसर के इतने समीप (दोनो का सम्बन्ध भाषा से है) हैं कि कभी-कभी दोनो को एक, या भाषाविज्ञान को व्याकरण तथा व्याकरण को भाषाविज्ञान मानने का भ्रम लोगो को हो जाता है । यो दोनो मे अतर स्पष्ट है । व्याकरण को हम शास्त्र कह सकते हैं जो इस बात के निर्देश पर अधिक बल देता है कि भाषा मे कहाँ, कैसा प्रयोग होना चाहिए, कैसा प्रयोग शुद्ध है और कैसा अशुद्ध (साधुत्वज्ञान विषया सैषा व्याकरण स्मृति —भर्तृहरि १ १४२) । इसके विपरीत, भाषाविज्ञान विज्ञान है जिसका सम्बन्ध इस आदर्श से नही है कि कहाँ, कैसा प्रयोग होना चाहिए । वह तो केवल इस बात को जानना चाहता है कि कब, कहाँ, कैसा प्रयोग होता है । व्याकरण विवरण और वर्णन प्रधान है तो भाषाविज्ञान विवेचन-विश्लेषण-प्रधान । एक और प्रमुख अन्तर यह है कि व्याकरण केवल व्याकरण के रूप आदि देकर चुप हो जाता है, जबकि भाषाविज्ञान और गहराई मे जाकर यह भी पता लगाता है कि वह रूप क्या है, कहाँ से आया है, कितना पुराना है, आदि । उदाहरण के लिए, व्याकरण यह कहकर चुप हो जाएगा कि 'जा (ना)' का भूतकाल का रूप 'गया' होता है, किन्तु भाषा-विज्ञान और गहराई मे जाकर यह खोज लगायेगा कि मूलत 'गया' का 'जा' मे कोई सबन्ध नही है । सस्कृत मे 'गम्' और 'या' दो धातुएँ थीं । 'या' से 'जा' का विकास हुआ जिसमे जाता, जाना, जाये, जाया आदि रूप बनते हैं । 'गम्' से हिन्दी मे केवल एक ही रूप आया—'गया' । अकेला रूप होने के कारण इसके लिए अलग धातु की कल्पना नही की गई और इसे भी 'जा'

का ही रूप मान लिया गया। इस तरह भाषाविज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण है। जहाँ तक संबन्धों का प्रश्न है, भाषा के अध्ययन में दोनों एक-दूसरे के पूरक तो हैं ही, अन्योन्याश्रित भी है। बिना भाषाविज्ञान की जानकारी के अच्छा व्याकरण नहीं लिखा जा सकता और दूसरी ओर भाषाओं के विश्लेषण में भाषाविज्ञान व्याकरण से पर्याप्त सामग्री और सहायता लेता है। उदाहरण के लिए, व्याकरण का संधि-प्रकरण पूरी तरह भाषाविज्ञान पर आधारित है। दूसरी ओर भाषाविज्ञान अपनी प्रमुख शाखा रूपविज्ञान तथा वाक्यविज्ञान की सारी की सारी मूलभूत सामग्री व्याकरण से ही लेता है।

(ख) साहित्य—भाषाविज्ञान भाषा के अध्ययन के लिए (जीवित भाषाओं के जीवित रूप को छोड़कर) सारी सामग्री साहित्य से लेता है। यदि आज संस्कृत, अवेस्ता या ग्रीक साहित्य हमारे सामने न होता तो किस आधार पर भाषाविज्ञान कह पाता या जान पाता कि य तीनों भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से निकली है। इसी प्रकार यदि आदि काल से आधुनिक काल तक का हिन्दी साहित्य हमारे सामने न होता, तो भाषाविज्ञान हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किस प्रकार कर पाता! इस प्रकार हम देखते है कि भाषा के तुलनात्मक और ऐतिहासिक दोनों ही अध्ययनों में भाषाविज्ञान को साहित्य की सहायता लेनी पड़ती है। सत्य तो यह है कि केवल जीवित भाषाओं के अध्ययन को छोड़कर पुरानी या मृत भाषा का, भाषाविज्ञान चाहे जिस रूप में अध्ययन करना चाहे, उसे पग-पग पर साहित्य की सहायता लेनी पड़ेगी और जीवित भाषा के सम्बन्ध में भी 'क्यों', 'कब' एवं 'कैसे' आदि के उत्तर के लिए उसे साहित्य की ही छानबीन करनी पड़ेगी। जीवित भाषा यह बतला देगी कि भोजपुरी में 'बाटे' शब्द है, पर यह कहाँ से आया, इसके लिए भाषाविज्ञान संस्कृत साहित्य को छानेगा और तब कह सकेगा कि इसका मूल संस्कृत रूप 'वर्त्तते' है, या बुन्देलखण्ड की ओर नटखट लड़कों से

ओना मासी धम
बाप पढ़ै न हम

सुनकर जब भाषाविज्ञान का कान खड़ा होगा कि यह 'ओना मासी धम' क्या बला है, तो प्राचीन साहित्य का अध्ययन ही उसे बतलायेगा कि शाकटायन के प्रथम सूत्र 'ॐ नमः सिद्धम्' का ही यह बिगड़ा रूप है।

दूसरी ओर साहित्य भी भाषाविज्ञान से कम सहायता नही लेता। भाषाविज्ञान उसके क्लिष्ट अर्थों एवं विचित्र प्रयोगों तथा उच्चारण-सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डालता है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर जायसीकृत 'पद्मावत' के बहुत से शब्दों को उनके मूल रूपों से जोड़कर उनके अर्थों को स्पष्ट किया है, साथ ही शुद्ध पाठ के निर्धारण में भी इससे पर्याप्त सहायता ली है। इस प्रकार साहित्य और भाषा-विज्ञान, दोनों ही एक-दूसरे के सहायक है।

(ग) मनोविज्ञान—भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान का बहुत गहरा सम्बन्ध है। भाषा विज्ञान की वाहिका है और विचारों का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क तथा मनोविज्ञान से है। इस प्रकार भाषा की आंतरिक गुत्थियों को सुलझाने में भाषाविज्ञान मनोविज्ञान से बहुत अधिक सहायता लेता है। विशेषतः अर्थविज्ञान तो पूर्णतः मनोविज्ञान पर ही आधारित है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वाक्यविज्ञान के अध्ययन में भी मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है। इसी प्रकार कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तन के कारण जानने के लिए भी हमे मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ती है। भाषा की उत्पत्ति और प्रारम्भिक रूप की जानकारी मे भी मनोविज्ञान, विशेषतः बाल-मनोविज्ञान और अविकसित लोगो का मनोविज्ञान हमारी बहुत सहायता करता है। दूसरी ओर मनोविज्ञान भी भाषाविज्ञान से कम सहायता नही लेता। पागलों के मनोवैज्ञानिक

उपचार मे उनके द्वारा कही गई ऊलूल-जलूल बातो के विश्लेषण---जिसमे भाषाविज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है---के द्वारा ही उनकी मानसिक गुत्थियो एव ग्रथियो का पता लगाया जाता है। यो भी विचारो के विश्लेषण आदि मे उसे भाषाविज्ञान से कुछ सहायता अपेक्षित होती है। दोनो के इस घनिष्ट सम्बन्ध के कारण ही अब भाषाविज्ञान की एक नई शाखा अस्तित्व मे आ गई है जिसे मनोभाषाविज्ञान (Psycholinguistics) कहते हैं।

(घ) शरीरविज्ञान---भाषा मुख से निकली ध्वनि है, अतएव भाषाविज्ञान को---हवा भीतर से कैसे चलती है, स्वर-यत्र, स्वर-तत्री, नासिका-विवर, कौवा, तालु, दाँत, जीभ, ओठ, कठ, मूर्द्धा तथा नाक के कारण उसमे क्या परिवर्तन होते हैं तथा कान द्वारा कैसे ध्वनि का ग्रहण होता है---इन सबका अध्ययन करना पडता है और इनमे शरीरविज्ञान ही उसकी सहायता करता है। लिखित भाषा का ग्रहण आँखो से ही होता है, अतएव इस प्रक्रिया का भी अध्ययन भाषाविज्ञान के अतर्गत ही है और इसके लिए भी उसे शरीरविज्ञान का ऋणी होना पडता है। इसी प्रकार सुरलहर, अक्षर-बलाघात, आदि का अध्ययन भी शरीरविज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

(ङ) भूगोल---भाषाविज्ञान से भूगोल का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ लोगो के अनुसार स्थानीय भौगोलिक परिस्थिति का भाषा पर बहुत प्रभाव पडता है। किसी स्थान मे बोली जाने वाली भाषा मे वहा के पड-पौधे, जानवर, पक्षी तथा अन्न आदि के लिए शब्द अवश्य मिलते हैं, पर यदि उनमे से किसी की समाप्ति हो जाय तो उसके नाम का वहाँ की भाषा से भी लोप हो जाता है। 'सोमलता' शब्द का आज हमारी जीवित भाषा मे न पाया जाना सम्भवत भौगोलिक कारण से ही है। किसी स्थान मे एक भाषा का दूर तक प्रसार न होना, भाषा मे कम विकास होना तथा किसी स्थान मे बोलियो का अधिक होना भी भौगोलिक परिस्थिति पर ही निर्भर करता है। जहाँ दुर्गम पहाड एव रेगिस्तान होंगे तथा गहरे समुद्र होंगे, स्वभावत उनके दोनो ओर के लोगो मे सपर्क कम हो सकेगा, अतएव भाषा के प्रसार या उसमे परिवर्तन की सम्भावना कम होगी। पहाड तथा जगली लोगो मे आपस मे कम मिलने के कारण ही प्राय भिन्न-भिन्न बोलियो का विकास हो जाता है। भूगोल देशो, नगरो, नदियो तथा प्रान्तो आदि के नामो के रूप मे भाषाविज्ञान को अध्ययन की बडी मनोरजक सामग्री प्रदान करता है। अर्थ-विचार मे भी भूगोल भाषाविज्ञान की सहायता करता है। 'उष्ट्र' का अर्थ 'भैंसा' से 'ऊँट' कैसे हो गया, 'सैंधव' का अर्थ 'घोडा' और 'नमक' ही क्यो हुआ, या सस्कृत मे 'कश्मीर' का अर्थ 'केसर' क्यो है, आदि समस्याओ पर विचार करने मे भी भूगोल की सहायता अपेक्षित है। भाषाविज्ञान की शाखा 'भाषा-भूगोल' तो भूगोल से और भी अधिक सम्बद्ध है और इसकी अध्ययन-पद्धति भी भूगोल की पद्धति पर ही बहुत कुछ आश्रित है। दूसरी ओर किसी जगह के प्रागैतिहासिक काल के भूगोल के अध्ययन मे भाषाविज्ञान भी पर्याप्त सहायता देता है।

(च) इतिहास---इतिहास का भी भाषाविज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है। इतिहास के तीन रूपो को लेकर यहाँ भाषाविज्ञान मे उसका सम्बन्ध दिखलाया जा रहा है (१) राजनीतिक इतिहास---किसी देश मे किसी अन्य देश का राज्य होना दोनो ही देशो की भाषाओ को प्रभावित करता है। भारतीय भाषाओ मे कई हजार अग्रेजी शब्दो का प्रवेश तथा दूसरी ओर अग्रेजी मे कई हजार भारतीय शब्दो का प्रवेश, भारत की राजनीतिक परतन्त्रता या इन दोनो के बीच राजनीतिक सम्बन्ध का ही परिणाम है। हिन्दी मे अरबी, फारसी, तुर्की तथा पुर्तगाली शब्दो के आने का कारण जानने के लिए भी हमे राजनीतिक इतिहास का ही सहारा लेना पडेगा। पूर्वी द्वीपसमूह की भाषा तथा वहाँ के नामो में सस्कृत शब्दो का आधिक्य भी भारत से वहाँ के सास्कृतिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध की ओर स्पष्ट सकेत करता है। इस प्रकार राजनीतिक इतिहास तथा भाषाविज्ञान, दोनो एक-दूसरे के अध्ययन मे सहायता पहुँचाते हैं।

(२) **धार्मिक इतिहास**—भारत में हिन्दी-उर्दू-समस्या धर्म या सांप्रदायिकता की ही देन है। धर्म के रूप के परिवर्तन का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। यज्ञ का लोकधर्म से उठ जाने का ही फल है कि यज्ञ से सम्बन्धित अनेक शब्द जो कभी जीवित भाषा में प्रचलित रहे होंगे, आज अज्ञात है। व्यक्तियों के नामों को भी धर्म प्रभावित करता है। इस प्रकार धर्म से व्यक्तिवाचक नामों पर प्रकाश पड़ता है। धार्मिक इतिहास ही इस प्रश्न का उत्तर देता है कि क्यों बंगाली तथा मराठी में ब्रजभाषा के भी कुछ रूप आ गये हैं, या एक ही गाँव के रहने वाले हिन्दू की भाषा क्यों अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत-मिश्रित है, तो मुसलमान की भाषा अधिक अरबी-फ़ारसी-मिश्रित। धर्म के कारण ही बहुत-सी बोलियाँ अन्यों की तुलना में महत्त्वपूर्ण होकर भाषा बन जाती हैं। मध्ययुग में ब्रजभाषा और अवधी के महत्त्व का कारण हमें धार्मिक इतिहास में ही मिलता है। दूसरी ओर धर्म के प्राचीन रूप की बहुत-सी गुत्थियाँ भाषाविज्ञान से सुलझ जाती हैं। एक देश के दूसरे देश पर धार्मिक प्रभाव के अध्ययन में धर्म से सम्बद्ध शब्दों का अध्ययन बड़ी सहायता करता है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे से सहायता लेते हैं। (३) **सामाजिक इतिहास**—सामाजिक व्यवस्था तथा परंपराओं का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है और दूसरी ओर भाषा से भी सामाजिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान तथा सामाजिक इतिहास भी एक-दूसरे के सहायक हैं। प्राचीन साहित्य में पतिविहीन स्त्री के लिए 'विधवा' शब्द है, किंतु पत्नीविहीन पति के लिए कोई शब्द नहीं है। यह सामाजिक व्यवस्था का ही परिणाम है। पुरुष स्त्री के मरने पर फिर शादी कर लेता था, अतः उसके लिए पत्नी-विहीन रूप में किसी नाम की आवश्यकता नहीं थी, पर दूसरी ओर पति के मरने पर पत्नी को आजीवन उसी रूप में रहना पड़ता था, अतः उसके लिए एक नाम आवश्यक था। प्रागैतिहासिक काल के समाज के अध्ययन के लिए तत्कालीन भाषा से पर्याप्त सहायता ली जाती है। भारोपीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन के आधार पर मूल भरोपीय लोगों की सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश पडता है। भाषा के आधार पर की गई प्रागैतिहासिक खोज भी इसी प्रकार का अध्ययन है। भारतीय भाषाओं में माँ, बाप, बहन, चाचा तथा भाई आदि के अतिरिक्त साला, बहनोई, मौसी, मौसा, फूफा, परदादा, मामा, ससुर तथा सास जैसे शब्द भी हैं, पर योरोपीय भाषाओं में इनके लिए अलग-अलग शब्द नहीं है। आवश्यकतानुसार उन्हें जोड़-जाड़कर बनाना पड़ता है। यह भी सामाजिक व्यवस्था का ही परिणाम है। इस भाषा-वैज्ञानिक तथ्य से इन दोनों देशों के समाज पर अच्छा प्रकाश पडता है। संस्कृत में मौसी और बूआ के लिए 'मातृस्वसा' और 'पितृस्वसा' शब्द हैं, पर मौसा और फूफा के लिए नहीं है। इससे तत्कालीन कौटुम्बिक व्यवस्था पर यह प्रकाश पडता है कि परिवार में फूफा और मौसा के लिए कोई विशेष स्थान नही था। इसीलिए उनके लिए किसी नाम की आवश्यकता का अनुभव उस युग में हुआ ही नही। बाद में जब उनका स्थान हो गया तो 'मौसा' और 'फूफा' जैसे शब्द बना लिए गये। इस प्रकार ये दोनों एक-दूसरे के अध्ययन में हाथ बँटाते है।

(छ) **भौतिकशास्त्र**— मनुष्य जब कुछ कहता है तो ध्वनि उसके मुँह से निकलने के बाद और किसी के कान तक पहुँचने के पूर्व आकाश में लहरों के रूप में चलती है। इन लहरों का अध्ययन करने में भौतिकशास्त्र ही हमारी सहायता करता है। वह बतलाता है कि ये लहरें किस प्रकार की होती है तथा अन्य ध्वनियों एव भाषा-ध्वनियों की लहरों में क्या अन्तर होता है। **प्रयोगात्मक ध्वनिशास्त्र** (Experimental Phonetics) के अध्येता भाषाविज्ञान के इस क्षेत्र के अध्ययन में भौतिकशास्त्र से बहुत लाभ उठा रहे हैं। स्वर-व्यंजन आदि के तात्त्विक रूप पर भौतिकशास्त्र के आधार पर इधर बहुत प्रकाश डाला गया है।

(ज) **तर्कशास्त्र**—तर्कशास्त्र का भाषाविज्ञान से कोई बहुत सीधा सम्बन्ध तो नही है, पर भाषाविज्ञान वर्णनात्मक विषय न होकर व्याख्या-प्रधान है और व्याख्या में बिना तर्क के काम नही चल सकता, अतएव उसे तर्कशास्त्र का ऋणी होना ही पड़ता है। यास्क मुनि ने

अपने अर्थविज्ञान-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निरुक्त' में तर्कशास्त्र से बहुत सहायता ली है। दूसरी ओर तर्कशास्त्र भी भाषाविज्ञान का कम ऋणी नहीं है। तर्क भाषा के ही सहारे चलता है, अतएव उसे अपने अध्ययन में बड़ी सतर्कता से प्रतिक्षण अपने सामने आने वाले शब्दों एवं वाक्यों पर वैज्ञानिक दृष्टि रखनी पड़ती है।

(झ) मानवविज्ञान—मानवविज्ञान में मानव के विकास का विविध दृष्टियों (मर्यादा, सामाजिक मनोविज्ञान, धर्म, अन्धविश्वास तथा पर्व आदि) से अध्ययन किया जाता है और भाषा स्वयं मानव के विकास का प्रतीक है, अतएव दोनों ही एक-दूसरे से अपने अध्ययन के लिए सामग्री लेते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य में तरह-तरह के अन्धविश्वास घर करते रहे हैं जिनका लेखा-जोखा मानवविज्ञान में मिलता है। इन अन्धविश्वासों का भाषा पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष में जिनके दो-चार लड़के मर जाते हैं, उनके लड़कों को जीवित रखने के लिए लोग अधिकतर रद्दी नामों से पुकारने लगते हैं, जैसे जोखू (उसे तराजू में जोख या तौल कर), छेदी (उसकी नाक छेदकर), बेचू (उसे दो-चार पैसे में किसी दूसरे के हाथ बेचकर), घुरहू (कूड़ा), कतवारू (कूड़ा), अलियार (कूड़ा) या लेंढा (रद्दी) आदि। स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेतीं और उसे घुमा-फिराकर किसी और रूप में पुकारती हैं। इसी प्रकार माँ-बाप अपने बड़े लड़के का नाम नहीं लेते। अन्धविश्वास के ही कारण बिच्छू को 'टेढ़की', 'साँप' को 'जेवर' (रस्सी), या 'कीरा', लाश को 'मिट्टी' तथा 'चेचक' को 'माता' कहते हैं। पाखाना के लिए जितने भी नाम हैं, उसे घुमा-फिराकर कहने का प्रयास है। उदाहरणार्थ, छिया (घृणित), पाखाना (पैर रखने की जगह), टट्टी (आड़ की जगह) तथा झाड़ा (झाड़ी में यो हो) आदि। क्रियारूप में भी उसके लिए घुमा फिराकर ही प्रयोग मिलते हैं, जैसे बहरे जाना (औरतें 'पाखाना जाने' के लिए कुछ भोजपुरी क्षेत्रों में इसका प्रयोग करती हैं। इसका अर्थ बाहर जाना है), दिसा जाना, जंगल जाना, नदी जाना, मैदान जाना, निपटने जाना तथा फराकत होने जाना आदि।

अन्धविश्वास के अतिरिक्त और भी सामाजिक मनोविज्ञान से सम्बद्ध बहुत-सी गुत्थियाँ हैं जिनके उदाहरण भाषा से मिलते हैं और उनके स्पष्टीकरण के लिए भाषाविज्ञान को मानव-विज्ञान की शाखाओं-प्रशाखाओं का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ, अशोक ने अपने शिला-लेखों में अपने लिए 'देवानांप्रिय' का प्रयोग किया है, पर बाद में संस्कृत के ग्रंथकारों ने इसे मूर्ख का पर्याय बना दिया है। द्रविड भाषाओं में 'पिल्ले' या 'पिल्लई' अच्छे शब्द हैं और इनका प्रयोग नामों में भी किया जाता है, पर हिन्दी प्रदेश में 'पिल्ला' कुत्ते के बच्चे को कहते हैं। ऋग्वेद की पुरानी ऋचाओं में 'असुर' का अर्थ देवता है, पर परवर्ती काल की ऋचाओं में 'राक्षस' है। 'यक्ष' शब्द का पालि साहित्य में प्रयोग बुरे अर्थ में है, पर संस्कृत में अच्छे अर्थ में। इन सभी के कारण जानने के लिए भाषाविज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। भाषा की उत्पत्ति और उसके प्राचीन रूप तथा लिपि की उत्पत्ति आदि के अध्ययन में मानवविज्ञान से भाषाविज्ञान को सहायता मिलती है।

(ञ) दर्शन—दर्शन और भाषाविज्ञान दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। भारत में मीमांसकों, नैयायिकों आदि दार्शनिकों ने इसी कारण अपने विषय पर विचार करते समय भाषाविज्ञान की भी अनेक बातों पर विचार किया है। जैसे मीमांसा के अन्विताभिधानवाद सिद्धान्त के अनुसार भाषा में वाक्य की ही सत्ता मूल है, 'पद' उसी के तोड़े गए अंश हैं। किन्तु, अभिहितान्वयवाद के अनुसार 'पद' की ही सत्ता है वाक्य उसी का जोड़ा हुआ रूप है। भाषाविज्ञान की अर्थविज्ञान-शाखा को तो लोग बहुत दिनों तक दर्शन के ही अन्तर्गत मानते रहे हैं। भाषा, भाषाविज्ञान और व्याकरण का भी अपना दर्शन होता है।

इनके अतिरिक्त समाजविज्ञान, सांख्यिकी, गणित, भाषाशिक्षण, काव्यशास्त्र, यान्त्रिकी आदि अन्य ज्ञान-विज्ञानों से भी भाषाविज्ञान का सम्बन्ध है। समाजविज्ञान से सम्बन्ध के कारण ही 'समाजभाषाविज्ञान' का विकास हुआ है।

२ | भाषा

भाषा की उत्पत्ति और प्रारम्भिक रूप

भाषा की उत्पत्ति

जब हम भाषा पर विचार करने चलते हैं तो स्वभावतः पहला प्रश्न यह उठता है कि भाषा की उत्पत्ति हुई कैसे ? इस प्रश्न पर विचार अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है, पर अब भाषाविज्ञानवेत्ता इस प्रश्न को भाषाविज्ञान के क्षेत्र का नही मानते। कोई इसे मानवविज्ञान के क्षेत्र का मानता है, तो कोई प्राचीन इतिहास का। कुछ लोग ऐसे भी है जो कहते है कि भाषाविज्ञान एक विज्ञान है, अत इसके अन्तर्गत विचारणीय विषय केवल वे हो सकते है, जिन पर विचार करने के लिए वैज्ञानिक और ठोस आधार हो, किन्तु भाषा की उत्पत्ति—जो कदाचित् लाखों वर्ष पूर्व हुई थी—पर विचार करने के लिए ऐसे आधार का अभाव है। केवल अनुमान ही किया जा सकता है, अतएव यह भाषाविज्ञान का अंग नही माना जा सकता। इन्ही सब बातों के कारण अब से लगभग सवा सदी पूर्व (१८६६ ई० मे) जब पेरिस मे भाषाविज्ञान-परिषद् (La Societe de Linguistique) की स्थापना की गई तो संस्थापकों ने परिषद् के परिनियमों (सेक्शन २) मे स्पष्ट शब्दों मे भाषा की उत्पत्ति पर विचार आदि करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया, और इस प्रश्न को सदा-सर्वदा के लिए भाषाविज्ञान से निकाल देने का प्रयास किया। उसके बाद भी अन्य अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के मत व्यक्त किये और आज तो प्रायः सभी मूर्धन्य विद्वान् इस सम्बन्ध मे एकमत-से हैं कि इस प्रश्न का स्थान भाषाविज्ञान मे नही है। किन्तु, इस प्रतिबन्ध और उपेक्षा के बावजूद भी इन बीच के वर्षों में यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है; और, यह कहना भी अनुचित न होगा कि न केवल उठाया गया है, अपितु प्राय. हर दशक मे इस सम्बन्ध मे एक-दो नये सिद्धान्त या पुराने सिद्धान्तो की नवीन व्याख्याएँ हमारे समक्ष रक्खी गई है। बात बड़ी सीधी है। जब भाषाविज्ञान 'भाषा' का विज्ञान है तो निश्चय ही 'भाषा' का पूरा इतिहास और उसका हर रूप भाषाविज्ञान के अध्ययन का विषय है। ऐसी स्थिति में भाषा की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप के अध्ययन को निश्चय ही इससे अलग नही किया जा सकता। और यह तर्क कि विचार करने के लिए सामग्री का अभाव है, अतः उसे विषय से अलग माना जायगा, कोई तर्क नहीं है। विचार करते रहने मे तो सम्भव है इस दिशा मे हम कुछ आगे बढ़ते रहे—जैसा कि मनोविज्ञानवेत्ता तथा मानवविज्ञानविद् कर रहे है—किन्तु छोड देने पर तो यह प्रश्न जहाँ का तहाँ ही पड़ा रह जायगा।

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, इस प्रश्न पर अत्यन्त प्राचीन काल से विचार होता आया है और लोगो ने कई वादो और सिद्धान्तो को इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप समार के समक्ष रक्खा है। ये सभी वाद या सिद्धान्त सीधे यह बतलाते हैं कि अमुक प्रकार से भाषा की उत्पत्ति हुई, अर्थात् ये सीधे जन्म को पकड़ने का प्रयास करते हैं, इसी कारण इनको 'प्रत्यक्ष मार्ग' के अन्तर्गत रक्खा जाता है। दूसरी ओर भाषा के आरम्भ तक पहुँचने का एक 'परोक्ष मार्ग' भी है। 'परोक्ष मार्ग' मे जन्म पर दृष्टि न ले जाकर भाषाओ के वर्तमान रूप पर दृष्टि ले जाई जाती है और उनके ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन आदि के आधार पर धीरे-धीरे वर्तमान से भूत की ओर चला जाता है। इसमे भाषा की उत्पत्ति पर तो प्रकाश नही पडता, पर उसके आरम्भिक रूप का कुछ अनुमान अवश्य लग जाता है। यहाँ दोनो मार्गों को सक्षेप मे देखा जा सकता है।

क प्रत्यक्ष मार्ग

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्राचीनतम विचार यूनानियों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। 'ओल्ड टेस्टामेंट' मे भी इस सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे कुछ बातें कही गई हैं। इसी प्रकार भारत, मिस्र, अरब तथा अन्य देशो की धार्मिक तथा भाषाशास्त्र-विषयक पुस्तको मे भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कुछ-न-कुछ बातें मिल जाती हैं। १८वी सदी के पूर्व व्यक्त लगभग सारे मत दिव्य सिद्धान्त (आगे देखिये) के अन्तर्गत आ सकते हैं। १८वीं सदी में इस प्रश्न पर कई भाषाविज्ञानवेत्ताओ तथा अन्य क्षेत्रों के विद्वानों ने गम्भीरता से विचार किया। इन विद्वानों मे गियाम्बटिस्टा, ब्रोसेस, काडिलाक, रूसो तथा हर्डर के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। इनमें भी हर्डर का नाम विशेष उल्लेख्य है। इन्होने भाषा की उत्पत्ति पर एक लेख लिखा था, जिस पर बर्लिन अकादमी ने पुरस्कार दिया था। यों, बाद मे हर्डर ने अपने ही मत को महत्वहीन क़रार दिया।

१९वीं सदी मे इस प्रश्न पर विचार करने वालों की सख्या और भी बढ गई। इनमे ग्वायर, ग्रिम, राये, डार्विन, हम्बोल्ट, श्लाइखर, अर्नेस्ट रेनन, जेस्पसन, मैक्समूलर, गाइगर, स्टाइन्थल, स्वीट, मार्टी, स्पेंसर, रेगनॉड तथा टेलर आदि के नाम उल्लेख्य हैं। आगे जिन वादो का उल्लेख किया जायेगा, उनमे बहुत से इसी काल के हैं।

२०वीं सदी की आयु अभी तीन चौथाई से कुछ ही अधिक बीती है, किन्तु काफी विद्वानो ने इस प्रश्न पर विचार किया है। कुछ उल्लेख्य नाम वुण्ट डिलैगुना, बर्नर्ड शा, होनिग्स्वाल्ड, रेवेज, जोहान्सन, हम्फरी तथा समरफेल्ट आदि के हैं। इनमे रेवेज तथा जोहान्सन के सिद्धान्त विशेषत उल्लेख्य हैं, जिन पर आगे विचार किया गया है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई प्रकार के सिद्धान्त, मतवाद या वाद विभिन्न विद्वानो द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ कुछ प्रमुख मत दिये जा रहे हैं। इनमे प्रथम दो का सीधे भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्ध है, अन्यो का विशेषत अर्थ-ध्वनि के सम्बन्ध से।

[illegible], [illegible] उत्पत्ति सिद्धान्त—भाषाओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यह सबसे प्राचीन मत है। लोगो का विश्वास [illegible] भी अनेक [illegible] रहा है, और कुछ अशो मे तो आज भी है कि ससार और उसकी अनेकानेक चीजो की भाँति [illegible] भाषा को भी भगवान ने ही बनाया। भारतीय पडित वेदो को अपौरुषेय मानते रहे हैं। [illegible] अनुयायियों का दृढ विश्वास रहा है कि सस्कृत को ईश्वर ने बनाया और फिर उसी भाषा मे वेदो की रचना [illegible] की। सस्कृत को 'देवभाषा' कहने मे भी उनके इसी विश्वास की ओर सकेत है। [illegible] भाषा तथा उसके व्याकरण के मूलाधार पाणिनि के १४ सूत्र शिव के डमरू से निकले [illegible] । यहाँ भी उसी ओर सकेत है। ईश्वर-निर्मित होने के कारण ही इसे सनातनी [illegible] गर की सभी भाषाओ का मूल मानते हैं। बौद्ध [illegible] हुआ है।

'पालि' को भी इसी प्रकार मूल भाषा मानते रहे है, और उनका विश्वास रहा है कि भाषा अनादि काल से चली आ रही है। जैन लोग तो संस्कृत पडितों और बौद्धों मे भी चार कदम आगे है। उनके अनुसार तो अर्धमागधी केवल मनुष्यों की ही मूल भाषा नही है, बल्कि सभी जीवो की मूल भाषा है, जब महावीर स्वामी इस भाषा में उपदेश देते थे तो क्या देव-योनि के लोग और क्या पशु-पक्षी, सभी उस उपदेश का रसास्वादन करते थे। ईसाई और उनमे भी प्रमुखतः कैथोलिक लोग 'हिब्रू' (जिसमें उनका धर्मग्रंथ 'Old Testament' लिखा गया है) को संसार की सभी भाषाओं की जननी मानते है। उनके अनुसार 'हिब्रू' आदम और हव्वा को पूर्ण विकसित भाषा क रूप में भगवान द्वारा दी गई थी, फिर बाबुल की मीनारवाली घटना के कारण उसी के अनेक रूप हो गये और इस प्रकार संसार में अनेक भाषाएँ हो गईं। इसके आधार पर हिब्रू के विद्वानों ने संसार की अनेक भाषाओं से उन शब्दों को इकट्ठा किया था, जो हिब्रू शब्दों से मिलते-जुलते थे और उनसे यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यथार्थतः हिब्रू सभी भाषाओं की जननी है। मुसलमान लोग 'क़ुरान' को ख़ुदा का कलाम मानते है। मिस्र मे भी वहाँ के प्राचीन लोगों का अपनी भाषा के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही विश्वास था। प्लेटो ने सभी चीज़ों के नामों को प्राकृतिक या प्रकृति-प्रदत्त कहा था। यह भी मत 'दैवी-उत्पत्ति' का ही एक रूप है। इसी मत के प्रभाव से लोगों का यह भी मत रहा है कि मनुष्य जन्म से ही एक भाषा सीख कर आता है और वही भाषा ईश्वर की तथा सबसे पुरानी भाषा है। इसी का निश्चय करने के लिए मिस्र के राजा सैमेटिकस (Psammitichos) ने दो बच्चो को जन्म के बाद ही अलग रखा था। उसके पास जाने वालों को कुछ बोलने का निषेध था। बड़े होने पर उनके मुँह से केवल 'बेकोस (bekos) शब्द ही सुना गया। (रोटी देने वाले फ्रीजियन नौकर ने ग़लती से कभी इस शब्द का उच्चारण उनके सामने कर दिया था। 'बेकोस' फ्रीज़ियन शब्द है, और इसका अर्थ 'रोटी' होता है)। फ्रेडरिक-द्वितीय (११९४-१२५०), स्कॉटलैंड के जेम्स-चतुर्थ (१४८८-१५१३) तथा अकबर बादशाह (१५५६-१६०५) ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये थे। अकबर का प्रयोग बहुत सफल था और फल यह हुआ कि लड़के गूँगे निकले। इस प्रकार कहना न होगा कि बच्चा माँ के पेट से कोई भाषा सीख कर नहीं आता, अर्थात् ईश्वर-प्रदत्त कोई भाषा नही है, और ऐसा मानना अंधविश्वास मात्र है। आज इस मत को कोई भी नहीं मानता। इसके विपक्ष में दो बातें मुख्यतः कही जा सकती है: (क) एक तो यह कि यदि यह ईश्वर-प्रदत्त है तो विभिन्न भाषाओं में इतना भेद क्यों है? पूरे ससार के गदहे, घोड़े, भैंसे, कुत्ते आदि एक से बोलते है, किन्तु मनुष्यों में वह एकरूपता नहीं है। (ख) दूसरे, यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती तो कदाचित् आरम्भ से ही वह विकसित होती किन्तु इतिहास में इसके उलटे प्रमाण मिलते है।

(२) **विकासवादी सिद्धान्त**—इसके अनुसार भाषा का धीरे-धीरे विकास हुआ है। सिद्धांततः तो यह ठीक है, किन्तु इसमे विकास या उत्पत्ति एवं अर्थ-ध्वनि के सम्बन्ध का कोई संकेत नहीं है।

(३) **धातु सिद्धान्त**—इस ओर संकेत प्लेटो ने किया था, किन्तु इसे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय जर्मन प्रोफ़ेसर हेस (Heyse) को है। इन्होंने कभी अपने किसी व्याख्यान में इसका उल्लेख किया था, जिसे बाद मे उनके शिष्य डॉ० स्टाइन्थाल ने मुद्रित रूप में विद्वानों के समक्ष रक्खा। मैक्समूलर ने भी पहले इसे स्वीकार किया, और अपनी पुस्तक में भी इसे स्थान दिया, किन्तु बाद मे इसे निरर्थक कहकर छोड़ दिया।

इसी को डिंग-डांगवाद (Ding-dong Theory) या रणन सिद्धान्त भी कहा गया है। कुछ लोग ग़लती से 'डिंग-डांगवाद' का प्रयोग 'अनुकरण सिद्धान्त' या 'अनुरणन सिद्धात' के लिए करते है। धातु सिद्धांत का 'डिंग-डांगवाद' नाम आधार है, जो आगे की बातों से

स्पष्ट हो जायगा। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की हर चीज की अपनी ध्वनि होती है। यदि हम एक डंडे से एक काठ, एक लोहे, एक सोने, एक कपड़े और एक कागज पर मारें तो देखेंगे सब का 'टन-टन' (मूल वस्तु घट पर मारने का शब्द या टन-टन), या सबकी 'ध्वनि' अलग-अलग होगी। इसी प्रकार आरम्भ में, मनुष्य में एक ऐसी सहजात् शक्ति थी कि जिस किसी चीज के सम्पर्क में वह आता, उसके लिए उसके मुँह से एक प्रकार की ध्वनि निकल जाती।[1] विभिन्न वस्तुओं की ये ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियाँ 'धातु' थीं। आरम्भ में इस प्रकार से धातुओं की संख्या बहुत बड़ी थी, किन्तु उनमें बहुत-सी (पर्याय होने के कारण या योग्यतमावशेष-सिद्धान्त के कारण) धीरे धीरे लुप्त हो गईं और केवल ४००-५०० धातुएँ शेष रहीं। उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार उन धातुओं की ध्वनि तथा उनके अर्थ में एक रहस्यात्मक सम्बन्ध (mystic harmony) था। इस मत के समर्थकों का यह भी कहना था कि प्राचीन मनुष्य में वह शक्ति थी, किन्तु भाषा बन जाने पर शक्ति की आवश्यकता नहीं रही, अतः वह धीरे-धीरे नष्ट हो गई। आज का मनुष्य इसीलिए उससे शून्य है। इस सिद्धान्त को कुछ दार्शनिकों ने भी कभी किसी रूप में माना था, और इसे नेटिविस्टिक थ्यूरी (Nativistic Theory) की संज्ञा दी थी।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध कई बातें कही जा सकती हैं (क) पहली बात तो यह है कि आदि मनुष्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है। कुछ कल्पनाएँ साधार होती हैं, इसीलिए उन्हें माना जाता है, किन्तु यह तो निराधार कल्पना है, अतः सर्वथा त्याज्य है। (ख) दूसरे, संसार की भाषाओं में भारोपीय तथा सेमिटिक आदि कुछ परिवारों में तो धातुओं का पता चलता है, किन्तु अन्य ऐसे बहुत से भाषा-परिवार हैं, जिनमें धातु जैसी कोई चीज ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि धातु की बात मान भी लें तो ऐसी भाषाओं की समस्या का हल इससे नहीं निकलता। (ग) तीसरे, भाषा केवल धातु से ही नहीं बनती। प्रत्यय, उपसर्ग आदि अन्य घटकों की भी आवश्यकता पड़ती है। इस मत में उनके लिए कुछ नहीं कहा गया है। (घ) चौथी बात, जो इसके विरुद्ध कही जा सकती है, सबसे महत्त्वपूर्ण है। जिन भाषाओं में धातुएँ हैं, उनमें वे कृत्रिम या खोजी हुई हैं। आज भाषाविज्ञानवेत्ता यह नहीं मानते कि धातुओं के आधार पर प्राचीन काल में शब्द बने, अपितु यह माना जाता है कि भाषा के अध्ययन विश्लेषण के आधार पर धातुओं का पता, भाषा की उत्पत्ति के कई हजार वर्ष बाद लगाया गया और धातु में उपसर्ग या कृत् प्रत्यय जोड़कर शब्द बनाने का ढंग उसके बाद अपनाया गया। इस प्रकार इस मत में कोई तत्त्व नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यही सब सोचकर, बाद में मैक्समूलर ने इसे छोड़ दिया था।

(४) **निर्णय सिद्धान्त**—इसे प्रतीकवाद, स्वीकारवाद, संकेत सिद्धान्त, संकेतवाद आदि भी कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में मनुष्यों ने जब देखा कि हाथ आदि के संकेतों से काम नहीं चल रहा है, तो उन्होंने इकट्ठे होकर आवश्यक वस्तुओं या क्रियाओं आदि के लिए प्रतीक ध्वनि-संकेत, सांकेतिक नाम, या शब्द निश्चित करके स्वीकार किया और वहीं से भाषा का आरम्भ हुआ। ध्यान देने पर पता चलता है कि यह सिद्धान्त भी निरर्थक है। (क) यदि कोई भाषा नहीं थी तो आरम्भ में लोग कैसे इकट्ठे हुए ? (ख) एकत्र भी हो गए तो शब्द कैसे गढ़े गये ? (ग) वस्तुतः बिना विचार-विनिमय के न तो इकट्ठा होना सम्भव है, और न प्रतीक-रूप में नामों आदि का निर्णय ही। और, यदि इकट्ठा होने के लिए या नाम निश्चित करने के लिए लोग विचार-विनिमय कर ही सकते थे, तो उसके बाद

---

1 Human speech is the result of an instinct of primitive man which made him to give a vocal expression to evey external impression

किसी अन्य भाषा की क्या आवश्यकता थी ? वह तो स्वय एक सफल या असफल भाषा थी। इस प्रकार इस वाद मे निर्णय के पूर्व इकट्ठा होने तथा निर्णयार्थ विचार-विनिमय के लिए प्रयुक्त भाषा की उत्पत्ति का भी प्रश्न खडा हो जाता है, अतः इसके सहारे भी हमारी समस्या का हल नही मिलता।

(५) **अनुकरण सिद्धान्त** (Imitative Theory)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी अनेक विद्वानो ने किया है कि भाषा की उत्पत्ति अनुकरण के आधार पर हुई। मनुष्य ने अपने आसपास के जीवो और चीज़ो आदि की आवाज़ आदि के अनुकरण पर प्रारम्भ मे शब्द बनाये और उसी पर भाषा का महल खडा हुआ। इस सिद्धान्त के अतर्गत तीन उपसिद्धान्त रखे जा सकते है : (क) ध्वन्यात्मक अनुकरण, (ख) अनुरणनात्मक अनुकरण, तथा (ग) दृश्यात्मक अनुकरण। नीचे तीनो पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

(क) ध्वन्यात्मक अनुकरण सिद्धान्त—इसके अन्य नाम अनुकरण सिद्धान्त, अनुकरण-मूलकतावाद, भो-भो वाद, शब्दानुकरणवाद तथा शब्दानुकरणमूलकतावाद आदि है। अग्रेजी मे इसे Bow-wow Theory, Onomotopoeic या Onomotopoetic Theory या Echoic Theory आदि कहते है। इसके अनुसार मनुष्य ने अपने आसपास के पशु-पक्षियों आदि से होने वाली ध्वनियो के अनुकरण पर अपने लिए शब्द बनाये और फिर उसी आधार पर पूरी भाषा खड़ी हुई। इसके विरुद्ध कई बातें कही गई है : (क) रेनन ने इस सिद्धात का विरोध इस आधार पर किया था कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ एवं विकसित प्राणी होता हुआ भी मनुष्य स्वयं कोई ध्वनि नही उत्पन्न कर सका और दूसरो की ध्वनियों का उसे अपनी भाषा बनाने के लिए सहारा लेना पडा। किन्तु, तत्वतः इस प्रकार के विरोध के लिए कोई ठोस आधार नहीं है। मनुष्य स्वय ध्वनि उत्पन्न करता रहा होगा, पर अन्य जानवरो आदि के नामो या उनकी क्रियाओ के लिए उसने उनकी ध्वनियो के अनुकरण पर शब्दों का अनजाने ही निर्माण किया होगा। (ख) यदि इसे स्वीकार भी करे तो हर भाषा के कुछ ही शब्दों की रचना इससे स्पष्ट होती हैं। जैसे—चीनी मिआऊ (= बिल्ली); हिन्दी म्याऊँ (म्याऊँ का मुँह कौन पकड़े), मे-मे (भेड की बोली), बे-बे (बकरी की बोली), मिमियाना, बिबियाना, दहाड़ना, गरजना, गुर्राना, हिनहिनाना, फटफटिया (मोटर साइकिल के लिए देहाती नाम), पो-पो (मोटर के लिए बच्चो द्वारा प्रयुक्त शब्द), घुग्घू = उल्लू, अपनी आवाज़ के कारण), अग्रेज़ी कक्कू, काक, सस्कृत काक (काक इति शब्दानुकृतिः-निरुक्त) तथा कोकिल आदि। शेष ९९ प्रतिशत से भी अधिक शब्दों के बारे मे यह मत मौन है। इस सिद्धान्त को आंशिक रूप से ही सत्य माना जा सकता है। (ग) कुछ भाषाएँ ऐसी भी है, जिनमे ऐसे शब्द है ही नही। उदाहरण के लिए, उत्तरी अमेरिका की 'अथवस्कन' मे इस प्रकार के शब्दो का नितान्त अभाव है। ऐसी भाषाओ की दृष्टि से इस मत का कोई मूल्य नही है। (घ) कुछ लोग इस सिद्धान्त का विरोध इस आधार पर करते है कि इन शब्दो का आधार ध्वनि-अनुकरण होता तो संसार की सभी भाषाओं मे इनके लिए एक-से शब्द होते, किन्तु यह आवश्यक नही है। अनुकरण प्रायः सर्वदा ही अपूर्ण रहता है, यह आवश्यक नही कि शब्द बिल्कुल ही ध्वनि के अनुरूप हो। प्रायः उसमे ध्वनि का थोडा या अधिक आधार होता है और इसलिए एक ही ध्वनि के अनुकरण पर ही बने विभिन्न भाषाओं के शब्दों में ध्वन्यात्मक अन्तर असम्भव नही है (देखिए भाषा की परिभाषा मे 'यादृच्छिकता')।

मैक्समूलर ने इस बात की हँसी उडाई थी और हँसी मे ही इसे Bow-Wow Theory कहा था। 'वाउवाउ' अग्रेज़ी मे कुत्ते की बोली को कहते है, और यो अंग्रेज़ बच्चे कुत्ते को भी 'बाव-बाव' कहते है, किन्तु साथ ही पापुवा के पूर्वोत्तरी किनारे की भाषा मे भी ध्वनि के आधार पर कुत्ते को इसी नाम से पुकारते है। मैक्समूलर ने पापुवा की भाषा के आधार

पर ही यह नाम दिया था। किन्तु, यह स्पष्ट है कि यह मत बिल्कुल ही त्याज्य नहीं है। पर साथ ही भाषा के सारे शब्दों या सारी भाषाओं का समाधान इससे नहीं किया जा सकता। हाँ, यह लगता है कि अधिकांश भाषाओं के विकास की प्राथमिक अवस्था में ऐसे शब्द पर्याप्त रहे होंगे।

(ख) **अनुरणनात्मक अनुकरण, अनुरणन सिद्धान्त या अनुरणनमूलकतावाद**—इसको बहुत-सी पुस्तकों में ध्वनि-अनुकरण से अलग रखा गया है, पर यथार्थतः यह भी एक प्रकार का ध्वनि अनुकरण ही है। ऊपर पशु पक्षियों आदि के अनुकरण की बात थी, यहाँ धातु, काठ, पानी आदि निर्जीव चीजों की ध्वनि का अनुकरण है, जैसे झनझनाना, तड़तड़ाना, कल-कल, छल-छल, ठक-ठक, खट-पट आदि। अंग्रेजी में murmur gazz, thunder, juzz आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। संस्कृत में, नद-नद नाद के आधार पर ही नद या नदी आदि हैं। इस प्रकार पत् धातु (गिरना) का आधार कदाचित् पत्र का 'पत्' ध्वनि करते हुए गिरना है। इस वर्ग के भी कुछ शब्द प्रायः सभी भाषाओं में मिल जायेंगे। जैसे कि ऊपर 'क' के बारे में कहा गया है, इसके आधार पर भी भाषा के दो-चार या दस-बीस शब्दों का ही समाधान हो सकता है, पूरी भाषा का नहीं।

(ग) **दृश्यात्मक अनुकरण**—इसके शब्द (जगबग, दगदग, जगजग) तो भाषा में और भी कम होते हैं। उपर्युक्त आक्षेप इस पर भी लागू होते हैं।

(६) **मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त**—मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनोरागव्यंजक शब्द-मूलकतावाद, आवेग सिद्धान्त, पूह-पूहवाद, मनोभावाभिव्यंजकतावाद आदि कुछ अन्य नामों का भी इसके लिए हिन्दी में प्रयोग होता है। अंग्रेज़ी में इसे Pooh-pooh[1] या Interjectional Theory कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में मनुष्य विचार-प्रधान प्राणी न होकर अन्य पशुओं की भाँति भाव-प्रधान था और प्रसन्नता, दुःख, विस्मय, घृणा आदि के भावावेश में उसके मुख से ओ, छि, धिक्, आह, ओह, फ़ाई, पूह, पिश आदि जैसे शब्द सहज ही निकल जाया करते थे।[2] धीरे-धीरे इन्हीं शब्दों से भाषा का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के मान्य होने में कई कठिनाइयाँ हैं (क) पहली बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में ऐसे शब्द एक ही रूप में नहीं मिलते। यदि स्वभावतः आरम्भ में ये निःसृत हुए होते तो अवश्य ही सभी मनुष्यों में लगभग एक से होते। संसार भर के कुत्ते दुःखी होने पर लगभग एक ही प्रकार भूँक कर रोते हैं, पर संसार भर के आदमी न तो दुःखी होने पर एक प्रकार से 'हाय' करते हैं और न प्रसन्न होने पर एक प्रकार से 'वाह'। बल्कि लगता है कि इनके साथ संयोग से ही इस प्रकार के भाव सम्बद्ध हो गये हैं, और ये पूर्णतः यादृच्छिक हैं। (ख) साथ ही इन शब्दों से पूरी भाषा पर प्रकाश नहीं पड़ता। किसी भाषा में इनकी संख्या चालीस-पचास से अधिक नहीं होगी, और वहाँ भी इन्हें पूर्णतः भाषा का अंग नहीं माना जा सकता। बेनफी ने यह ठीक ही कहा था कि ऐसे शब्द केवल वहाँ प्रयुक्त होते हैं जहाँ बोलना सम्भव नहीं होता, इस प्रकार यह भाषा नहीं है। (ग) यदि इन्हें भाषा का अंग भी माना जाय तो अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि कुछ थोड़े शब्दों की उत्पत्ति की समस्या पर ही इनसे प्रकाश पड़ता है। यों इससे यह तो बिल्कुल ही स्पष्ट नहीं है कि और शब्द, जो भाषा के अपेक्षाकृत अधिक प्रमुख अङ्ग हैं, इन शब्दों से किस प्रकार विकसित या उत्पन्न हुए?

हाँ, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार की ध्वनियाँ आरम्भ में

---

१ यह नाम मैक्समूलर ने मजाक में दिया था।

२ विकासवाद के पिता डार्विन इन ध्वनियों का कारण शारीरिक मानते हैं।

अधिक रही होंगी और उनका प्रयोग भी भाषा के अभाव में अधिक होता रहा होगा, अतः इसके कारण धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण का अभ्यास बढ़ा होगा, जिससे भाषा के विकसित होने में कुछ सहायता मिली होगी।

(७) **यो-हे-हो सिद्धान्त**—इसे यो-हे-हो-वाद, श्रमध्वनि सिद्धान्त या श्रम-परिहरण-मूलकतावाद भी कहते है। इसके जन्मदाता न्वायर (Noire) नामक विद्वान् थे। उनका सिद्धान्त था कि परिश्रम का कार्य करते समय साँस के तेज़ी से बाहर-भीतर आने-जाने, साथ-साथ स्वरतंत्रियो के विभिन्न रूपों मे कम्पित होने एवं तदनुकूल ध्वनियाँ उच्चरित होने से कार्य करने वाले को राहत मिलती है।

इसीलिए कठिन परिश्रम करते समय कुछ कहकर श्रमिक लोग श्रम-परिहार किया करते है। धोबी 'हियो' या 'छियो' कहते है। मल्लाह थकान के लिए 'यो-हे-हो' कहते हैं। क्रेन पर काम करने वाले मज़दूर भी काम करते समय 'हो-हो' या कुछ इसी प्रकार के शब्द कहते है। इसी प्रकार सड़क कूटने वाले श्रमिक जब-जब दुर्मुस (सड़क कूटने का डंडा लगा हुआ लोहा या पत्थर) उठाते है तो 'हे' या 'हूँ' आदि कहते है। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि किसी क्रिया के साथ स्वभावतः होने वाली ध्वनि उस क्रिया की बोधिका होती है।

यह सिद्धान्त ऊपर के सभी सिद्धान्तों से गया-बीता है, क्योंकि इन शब्दों का भाषा में कोई भी स्थान नही है और न तो इन ध्वनियों से किसी विशिष्ट अर्थ का ही सम्बन्ध है।

(८) **इंगित सिद्धान्त** (Gestural Theory)—इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम संकेत करने का श्रेय पालिनेशियन भाषा के विद्वान् डॉ० राये को है। कुछ दिन बाद डार्विन ने भी छह असम्बद्ध भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इसे प्रमाणित किया था। इस सदी में १९३० के लगभग रिचर्ड ने इस सिद्धांत को पुनः उठाया और अपनी पुस्तक 'ह्यूमन स्पीच' में मौखिक इंगित सिद्धांत (Oral Gesture Theory) नाम से इसे विद्वानों के समक्ष रक्खा। आइसलैण्डिक भाषा के विद्वान् अलेक्ज़ेंडर जोहान्सन भी लगभग इसी समय भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे। बाद में उन्होंने अपनी तीन पुस्तकों में इंगित सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया। अपने विवेचन को उन्होंने भारोपीय भाषाओं के अतिरिक्त हिब्रू, पुरानी चीनी, तुर्की तथा कुछ अन्य भाषाओं पर भी आधारित किया है। ये भाषा के विकास की चार सीढ़ियाँ मानते है। पहली सीढ़ी भावव्यंजक ध्वनियो की है जब मनुष्य भय, क्रोध, दुःख, हर्ष, भूख, प्यास, मैथुनेच्छा, आदि के कारण बन्दरों आदि की तरह इस प्रकार की ध्वनियों द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता है। दूसरी सीढ़ी अनुकरणात्मक शब्दों की है। इस अवस्था में विभिन्न जीव-जन्तुओं तथा निर्जीव पदार्थों की ध्वनियो के अनुकरण पर शब्द बने होंगे। तीसरी सीढ़ी भाव-संकेत या इंगितों की है। इनका भी आधार अनुकरण है, पर यह अनुकरण (जीभ आदि द्वारा) बाहरी चीजों का न होकर अपने अंगों का (प्रमुखतः हाथ का) या अंगों के सकेतों (gestures) का है। इसे जोहान्सन ने विना जाने किया हुआ अनुकरण (unconscious imitation) कहा है। भाषा के विकास मे इसी को वे महत्वपूर्ण मानते है (इसकी आलोचना के लिए देखिए, टाटा सिद्धान्त)। पर, इस तीसरी स्थिति मे केवल स्थूल के लिए शब्द बने होंगे। मानव के मानसिक विकास के और आगे बढ़ने पर धीरे-धीरे सूक्ष्म भावों आदि के लिए भी शब्द बने। यह चौथी अवस्था थी। इस प्रसग मे उन्होंने स्वर, व्यंजन आदि के विकास की अवस्था की ओर भी संकेत किया है। ध्वनियों से अर्थ का सम्बन्ध भी वे स्थापित करते है, जैसे 'र्' से आरम्भ होने वाली धातुओं का अर्थ 'गति' (क्योंकि जीभ इसके उच्चारण से दौड़ती है) तथा 'म्' से आरम्भ होने वाली धातुओं का अर्थ बन्द करना, चुप होना, तथा समाप्त करना आदि,

क्योकि इसके उच्चारण में होठ लगभग यही क्रिया करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि आदि मानव ने अपने शरीर में तरह-तरह के 'कर्व' देखे और उनके अनुकरण पर उसने १९६ मूल भावो के शोतक शब्दो का आरम्भ मे निर्माण किया।

इस मत मे भाषा के विकास की आरम्भिक स्थितियाँ तो निश्चय ही आरम्भ और विकास की दृष्टि से मान्य हो सकती हैं, किन्तु इसके बाद मुह के जीभ आदि अगो से हाथ आदि बाह्य अगो के अनुकरण के आधार पर ध्वनि या शब्दो की उत्पत्ति गले से नही उतरती। दूसरे, इस प्रसग में ध्वनि और अर्थ का 'तर्कसम्मत सम्बन्ध' स्थापित करने की जोहान्सन ने जो कोशिश की है वह तो और भी असन्तोषजनक सिद्ध होती है। इसके आधार पर कुछ भाषाओ के कुछ शब्दो मे उनकी बातें मिल जायँ, यह बात दूसरी है, किन्तु पुरानी भाषाओ के प्राचीनतम शब्द-समूह पर दृष्टि दौडाने पर भी यह बात पूर्णत सही नहीं उतरती। उदाहरणत 'र्' से आरम्भ होने वाली धातुओं का अर्थ वे 'गति' मानते हैं। उदाहरण मे वे हिब्रू धातु rlk (मिलाना), rkb (चढ़ना) आदि देते हैं, किन्तु सस्कृत तथा ग्रीक आदि मे अन्य ध्वनियो से आरम्भ होने वाले गत्यर्थक धातुओं की भी कमी नही है। इस सिद्धान्त को और सूक्ष्मता से देखा जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि धातु या शब्द का क्या केवल प्रथम वर्ण ही महत्वपूर्ण है, और यदि है भी तो बाद के वर्ण किस आधार पर रखे गये। यो यदि तर्क देने ही हों तो गणितशास्त्र के आधार पर इनके भी कुछ उत्तर दिये जा सकते हैं, पर प्रश्न उठेगा कि उस काल म क्या मनुष्य मे इतनी तर्कशक्ति आ गई थी? शायद नही। तर्कबुद्धि और भाषा का विकास तो साथ-साथ हुआ है। इसके प्रतिपादक ने शब्दो के बनने मे सामान्य सिद्धान्त की बात उठाई। यदि उसे उतना यान्त्रिक माना जाय तो ससार की प्राय सभी प्राचीन भाषाओं मे प्रारम्भिक भावो को व्यक्त करने वाले समानार्थी शब्दों मे पर्याप्त साम्य होना चाहिए किन्तु यह बात भी प्राय नही के बराबर है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध इसी प्रकार की और भी कई आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। फलत इसके आरम्भिक अश को छोड़कर शेष को स्वीकार्य नहीं माना जा सकता।

(९) टा टा सिद्धान्त—इस सिद्धान्त (टा-टा वाद, Ta-ta Theory) के आरम्भ मे आदिम मानव काम करते समय जाने-अनजाने उच्चारण-अवयवों से काम करने वाले अवयवो की गति का अनुकरण करता था और इस अनुकरण म कुछ ध्वनियो और ध्वनि सयोगो मे शब्दो का उच्चारण हो जाया करता था। इन्ही ध्वनियो और शब्दो से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। कहना न होगा कि यह अनुकरण वाली बात बहुत कुछ इगित सिद्धान्त से मिलती-जुलती है। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न इससे भी सुलझता नहीं दिखाई देता। ऐसा अनुकरण न तो आज का सभ्य मानव करता है और न असभ्यतम और अविकसिततम मानव जो विश्व के कुछ स्थलो से मिला है। साथ ही तरह-तरह के बन्दरो मे भी जो हमारे तथाकथित जनक है, यह प्रवृत्ति नही दिखाई देती। फिर किस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है पता नही चलता (जोहान्सन के इगित सिद्धान्त के इस प्रकार के अश के विरुद्ध भी यही आपत्ति उठाई जा सकती है)। यदि इस प्रश्न को छोड दिया जाय तो भी उन आरभिक निरर्थक ध्वनियो से भाषा का विकास कैसे हुआ, इस बात का इस सिद्धान्त में कोई दो-टूक उत्तर नही दिया गया है, और इस तरह यह भी अमान्य ही कहा जायगा।

(१०) सगीत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त (सगीतवाद या Sing song Theory) मे भाषा की उत्पत्ति मानव के सगीत से मानी जाती है। डार्विन तथा स्पेंसर ने इसे कुछ रूपो में माना था। येस्पर्सन ने भी—जहाँ वे कहते हैं कि भाषा की उत्पत्ति खेल के रूप मे हुई और उच्चारणावयव खाली वक्त मे गान के खेल (singing sport) के उच्चारण करने में अभ्यस्त हुए—इसका समर्थन किया है। इसके अनुसार गाने (प्रेम, दुख आदि के अवसर पर) से

प्रारम्भिक अर्थविहीन अक्षर (meaningless syllable) बने, और विशेष स्थिति में उनका प्रयोग होने से उन अक्षरो से अर्थ का सम्बन्ध हो गया।

आदिम मनुष्य भावुक अधिक रहा होगा, और सम्भव है गुनगुनाने में उसे आनन्द आता रहा हो, किन्तु गुनगुनाने के अक्षरो से भाषा कैसे निकली, इसका स्पष्ट चित्र इसके समर्थको ने हमारे सामने नही रक्खा है। साथ ही गुनगुनाने की बात भी अनुमान पर ही अधिक आधारित है। ऐसी स्थिति में इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस सगीत का सम्बन्ध अपेक्षतया प्रेम से अधिक है, इसी कारण कुछ लोगो ने इसे प्रेम सिद्धान्त (Woo woo Theory) भी कहा है। प्रो० हडसन के अनुसार उनके विद्यार्थियों ने सादृश्य के आधार पर यह नाम दिया था।

(११) **सम्पर्क सिद्धान्त** (Contact Theory)—इस मत के प्रतिपादक जी० रेवेज़ (Revesz) है, जो मनोविज्ञान के विद्वान् थे। इस सिद्धान्त में 'सम्पर्क' का अर्थ है सामाजिक जीवों (जिनमे मनुष्य प्रमुख है) मे आपसी सम्पर्क रखने की सहजात् प्रवृत्ति। समाज का निर्माण इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ है। आदिम मनुष्य के भी छोटे-छोटे वर्ग था समाज थे और उसमे आपस मे प्रारम्भिक भावनाओ (भूख-प्यास, कामेच्छा, रक्षा आदि से सम्बद्ध) को एक-दूसरे पर अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न स्तरो पर तरह-तरह के सम्पर्क स्थापित किये जाते थे। इन सम्पर्कों के लिए स्पर्श आदि का सहारा भी चलता रहा होगा, पर साथ ही मुखोच्चरित ध्वनियाँ भी सहायक रही होंगी। भाषा उसी का विकसित रूप है। जैसे-जैसे संपर्क की आवश्यकता बढती गई और उसकी स्पष्टता की आवश्यकता का अनुभव होता गया, सम्पर्क के माध्यम (ध्वनि) का भी विकास होता गया। आरम्भ की ध्वनियाँ अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक थी, पर धीरे-धीरे मानव आवश्यकतानुसार कृत्रिमता के आधार पर उन्हे विकसित करता गया। सम्पर्क प्रारम्भ मे भावो के स्तर (emotional contact) पर रहा होगा और बाद मे विचारो के स्तर (intellectual contact) पर। विचारों के स्तर पर सम्पर्क के बढने पर भाषा मे अधिक विकास हुआ होगा। रेवेज ने इस सिद्धान्त पर विचार करते हुए ध्वन्यात्मक रूप के विकास पर भी प्रकाश डाला है। हर्ष, शोक आदि की स्थिति में, भावावेशात्मक ध्वन्याभिव्यक्ति को रेवेज विनिमय या दूसरे तक अपने भावों को पहुँचाने वाली अभिव्यक्ति नही मानते। किन्तु, सम्पर्क-ध्वनि का इससे सम्बन्ध अवश्य है, और कदाचित् एक-दूसरे का विकसित रूप भी है। सम्पर्क-ध्वनि का विकास संसूचक ध्वनि में होता है, जिसमे चिल्लाना, पुकारना आदि है। इसी अवस्था मे भाषा के आदिम शब्दो का विकास हुआ होगा जिनका विशेष अवसरों पर प्रयोग होने के कारण विशेष अर्थो से भी सम्बन्ध स्थापित हो गया होगा। इस समय सम्बन्धियो एवं वस्तुओं के लिए शब्द रहे होंगे, किन्तु उसका सम्बन्ध संज्ञा से न होकर क्रिया से रहा होगा। 'माँ' का अर्थ 'माँ दूध दो या कुछ और करो' आदि। इस प्रकार क्रिया पहले आई, संज्ञा बाद मे। साथ ही व्याकरणिक दृष्टि से ये शब्द न होकर वाक्य रहे होगे। फिर और विकास होने पर कई प्रकार के शब्दो को मिलाकर छोटे-छोटे वाक्य बने होगे, किन्तु वाक्यो मे अलग-अलग शब्दादि का बोलने वालो को पता न रहा होगा। धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो विचारो के स्तर पर सम्पर्क बढाता गया होगा, भाषा विकसित होती गई होगी।

प्रो० रेवेज़ ने बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान तथा आदिम अविकसित मनुष्य के मनोविज्ञान के सहारे जो यह सिद्धान्त रचा है, पूर्णतः तर्कसम्मत है, किन्तु इसमें मनोवैज्ञानिक ढंग से उत्पत्ति और विकास के सामान्य सिद्धान्तो का ही विवेचन है। हम शायद अधिक निकट होकर उत्पत्ति और विकास के और ठोस रूप को जानना चाहते है। इसीलिए इनके

सिद्धान्तो को देखने के बाद भी कासिडी आदि विद्वानो ने भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न को अनिर्णीत ही माना है।

(१२) **समन्वित रूप**—पिछली सदी के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानविद् स्वीट ने उपर्युक्त सिद्धान्तो मे कुछ के समन्वय के आधार पर भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। उनका कहना था कि भाषा प्रारम्भिक रूप मे 'भाव-सकेत' या 'इगित' (gesture) और 'ध्वनि-समवाय' (sound group) दोनो पर आधारित थी। ध्वनि-समवाय के आधार पर ही शब्दो का आगे विकास हुआ। आरम्भिक शब्द-समूह स्वीट के अनुसार तीन प्रकार के शब्दो का था—(१) पहले प्रकार के शब्द अनुकरणात्मक (imitative) थे, जैसे मिस्री माउ (बिल्ली, जो म्याऊँ-म्याऊँ करती है), स० काक (जो का-का करता है), अ० cuckoo, हिन्दी घुघ्घू आदि। स्वीट का यह भी कहना था कि आवश्यक नही है कि ध्वनि के अनुकरण पर आधारित शब्द पूर्णत आधार-ध्वनि के अनुसार ही हो। उनमे थोडा-सा भी सादृश्य हो सकता है। (२) दूसरे प्रकार के शब्द भावावेशव्यजक या मनोभावाभिव्यजक (interjectional) रहे होंगे। व्याकरण मे विस्मयादिबोधक के अन्तर्गत रक्खे जाने वाले शब्द इसी श्रेणी के हैं। जैसे ओह, आह, धिक्, हुश, हाय, वाह, आदि। इस वर्ग मे धातुएँ भी होती हैं, जैसे डैनिश v, स० पू, पी, धिक्कारना आदि। (३) तीसरे प्रकार के शब्दो को स्वीट ने प्रतीकात्मक (symbolic) कहा है। भाषा के प्रारम्भिक शब्द-समूह मे इस वर्ग के शब्दो की सख्या बहुत बडी रही होगी और इसमे अनेक प्रकार के शब्द रहे होंगे। कुछ सज्ञा, सर्वनाम और क्रिया शब्दो के उदाहरण स्पष्टीकरण के साथ नीचे दिये जा रहे हैं।

प्रतीकात्मक शब्द उसे कहते हैं, जिसका सयोग से या किसी अत्यन्त सामान्य और थोडे सम्बन्ध से किसी अर्थ से सम्बन्ध हो जाता है और वह उसका प्रतीक बन जाता है। उदाहरणार्थ, बच्चे यो ही मामा, पापा, बाबा जैसे शब्द बहुत छोटी अवस्था मे बोलने लगते हैं। माँ-बाप उनका प्रयोग प्राय अपने लिए समझ लेते हैं, और फल यह होता है कि विभिन्न अर्थों के साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे शब्द उनके प्रतीक बन जाते हैं। भाषाविज्ञान मे जिन्हे 'नर्सरी शब्द' (nursery word) कहते हैं, प्राय इसी प्रकार के होते हैं। इनमे अधिकाश मे आद्य ध्वनियाँ ओष्ठ्य होती हैं, और इनके अर्थ माता, पिता, चाचा, चाची, दाई आदि ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बच्चे की देखरेख करते हैं। अंग्रेजी mamma papa abba, mother, father brother, dady स० माता, पिता, भ्राता, तात, मामा, ग्रीक meter, phrater paters, लैटिन mater, amita pater, frater' जर्मन mubme, bruder, vater, फारसी मादर, पिदर, बिरादर, अल्बानियन ama, पुरानी नार्स amma, असीरियन ummu, हिब्रू em, स्लावेनिक baba, tata ded dyadya, हिन्दी माता, पिता, बाबा, दादा, भाई, बाई, दाई टोंगा bama तुर्की बाबा, इटैलियन babbo वल्गेरियन baba, सर्वियन baba, बास्क ama तथा मान् ama eme आदि मूलत इसी प्रकार के शब्द रहे होंगे।

बहुत से सर्वनामो का भी निर्माण इसी प्रकार होता है। स० त्वम्, ग्रीक to, लैटिन tu, हिन्दी तू जैसे शब्दो के उच्चारण मे सामने के किसी व्यक्ति की ओर मुह से सकेत करने का भाव स्पष्ट है। बहुत-सी प्राचीन भाषाओ मे 'यह' और 'वह' के लिए पाये जाने वाले सर्वनामो में भी इसी प्रकार की प्रतीकात्मकता दिखाई पडती है, जैसे अंग्रेजी this, that, रूसी तोत, एतअ, सस्कृत इदम, अदस् तथा जर्मन dies, das आदि।

बहुत-से क्रिया शब्दो या धातुओ के निर्माण की प्रक्रिया भी ऐसी ही है। 'पीना' साँस अन्दर लेने की तरह द्रव भीतर ले जाना है। लगता है कि प्रारम्भ में पीने के लिए साँस अन्दर लेकर इगित किया जाता रहा होगा। इसी आधार पर सस्कृत पिबामि या लैटिन

bibere जैसी क्रियाएँ बनी। अंग्रेजी के blow में स्पष्टतः फूंकने की क्रिया है। 'पीना' अर्थ रखने वाली अरबी धातु 'श्-र्-ब्' भी इसी प्रकार की है। 'शरबत' तथा 'शराब' आदि शब्द इसी की देन है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे भी होते है, जो किन्हीं दो वर्गो मे आते है। स्वीट के अनुसार अग्रेजी का 'hush' ऐसा ही शब्द है, जो भावाभिव्यंजक होता हुआ अंशतः या पूर्णतः प्रतीकात्मक भी है।

इस प्रकार आरम्भ में बहुत-से शब्द बने होंगे, किन्तु संसार मे जितने पैदा होते हैं, सभी नही रह जाते। वनस्पति और जीवों आदि मे जैसे योग्यतमावशेष (survival of the fittest) का सिद्धान्त चलता है, वैसे ही शब्दों में भी चलता है। फल यह हुआ होगा कि 'बोलने'; 'सुनने' और अपने अर्थ को स्पष्टतापूर्वक व्यंजित करने, इन तीनों ही कसौटियों पर जो खरे उतरे होगे, वे ही भाषा मे स्थान प्राप्त कर सके होंगे।

इस प्रसंग मे एक-दो प्रश्न और भी विचारणीय है। आरम्भ के शब्द तो स्थूल वस्तुओं या विचारो के द्योतक रहे होंगे, पर भाषा मे सूक्ष्मताओं को व्यक्त करने वाले शब्द भी बहुत अधिक है। ऐसे शब्द आदिम मनुष्य के वश के है नही, फिर ये कहाँ से आये? इनका बाद मे विकास हुआ होगा 'सादृश्य आदि के आधार पर'। इस प्रकार के निर्माण आज भी होते है। 'मक्खन' के आधार पर 'मक्खन लगाना' का प्रयोग 'बहुत चापलूसी करने' के लिए होता है। स्वीट के अनुसार दक्षिणी अफ्रीका की सासुतो भाषा में भिनभिनाने के आधार पर 'मक्खी' को 'न्सी-न्सी' कहते थे। अब इस शब्द का यहाँ मक्खी की तरह चारो ओर चक्कर लगाकर चापलूसी करने वाले तथा चूसने वाले के अर्थ मे भी प्रयोग होता है। सूक्ष्म भाव के अतिरिक्त नवज्ञात (स्थूल) वस्तुओ के नाम भी प्रायः इसी प्रकार सादृश्य आदि के कारण पुराने शब्दो के आधार पर रख लिये गये होंगे। अब भी ऐसा होता है। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियो की भाषा मे 'मूयूम' शब्द का अर्थ 'स्नायु' था। पुस्तक से वे अपरिचित थे। जब पहले-पहले उन लोगो ने पुस्तक देखी तो स्नायु की तरह खुलने-बन्द होने के कारण उसे भी 'मूयूम' कहने लगे, और इस प्रकार 'मूयूम' शब्द पुस्तक का भी वाचक हो गया। इस प्रकार के शब्दों का विकास उपचार[1] के कारण होता है। इन औपचारिक या लाक्षणिक प्रयोगों के कारण ही शब्द का अर्थ कहाँ से कहाँ चला आता है। यों उपचार के अतिरिक्त भी और रूपों मे अर्थ का विस्तार, संकोच और आदेश[2] आदि होता है।

इस प्रकार स्वीट के अनुसार भावाभिव्यजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से भाषा शुरू हुई। फिर उपचार के कारण बहुत से शब्दों का अर्थ विकसित होता गया या नये शब्द बनते गये।

नवीनतम खोजो के प्रकाश मे स्वीट के मत मे, मै कुछ और बातें जोड़ लेने की आवश्यकना के पक्ष में हूँ। मेरा आशय उन सिद्धान्तों से है, जिनमे कुछ तथ्य की बातें है। ऊपर इनका परिचय दिया जा चुका है।

निष्कर्पतः हम कह सकते है कि जितनी खोजे हुई है, उन के प्रकाश मे केवल इतना ही कहना सम्भव है कि भाषा की उत्पत्ति भावाभिव्यजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दो से हुई, और इसमे इंगित सिद्धान्त, सगीत सिद्धान्त एवं सम्पर्क सिद्धान्त से भी सहायता

---

१ यहाँ उपचार का अर्थ ज्ञात के आधार पर नवज्ञात (या अपूर्वज्ञात) का परिचय, व्याख्या या नामकरण। अँग्रेजी में इसके लिए metaphor शब्द है, किन्तु उपचार अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है।

२. देखिये 'अर्थविज्ञान' का अध्याय।

मिली। आगे चलने पर नवाभिव्यक्ति की आवश्यकता, योग्यतमावशेष सिद्धात, अर्थ (उपचार आदि) तथा ध्वनि मे परिवतन के कारण भाषा मे तेजी से परिवर्तन आता गया। यह परिवर्तन इतना बडा और बहुमुखी था कि आज इतने दिनो बाद, इसे भेद कर, इसके पूर्व की भाषा के रूप के सम्बन्ध मे निश्चय के साथ और अधिक कहना अब प्राय सम्भव नही है।[1]

ख परोक्ष मार्ग

ऊपर हम लोगो ने सीधी शैली से 'भाषा की उत्पत्ति' के प्रश्न पर विचार किया। इन सारे सिद्धान्तो और निष्कर्षों के बावजूद भी विद्वानो का कहना है कि भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक सुलझा नही है। इसीलिए कुछ लोग 'उल्टी शैली' या 'परोक्ष मार्ग' मे आदिम भाषा के स्वरूप के परिचय पर ही अधिक बल देते हैं। इससे मूल समस्या 'भाषा का उद्गम' या 'ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध' आदि पर तो प्रकाश नही पडता, किन्तु प्रारम्भिक भाषा का विविध दृष्टिकोणो से परिचय अवश्य मिल जाता है।

यह मार्ग तीन बातो पर आधारित किया जा सकता है—

(१) **बच्चों की भाषा**—कुछ लोगो का विचार है कि व्यक्तिगत विकास की ही भाँति सामूहिक या जातीय विकास भी होता है। इसीलिए व्यक्तिगत विकास के अध्ययन से सामूहिक विकास पर प्रकाश पड सकता है। यहाँ, इसका आशय यह है कि ऐसे लोगो के अनुसार मानव ने भाषा उसी प्रकार सीखी होगी, जैसे एक बच्चा सीखता है। कुछ लोगो ने इसी आधार पर भाषा के आरम्भ पर प्रकाश भी डाला है, पर, सच पूछा जाय तो इन दोनो मे कोई महत्त्वपूर्ण समानता नही है। बच्चो को एक बनी-बनाई भाषा सीखनी होती है, पर दूसरी ओर भाषा के आरम्भ के समय लोगो को भाषा का आविष्कार भी करना रहा होगा, केवल सीखना ही नही। आज एक विद्यार्थी किसी टेकनिकल स्कूल मे जाकर दो-एक वर्ष में किसी वस्तु का निर्माण करना सीख सकता है। उसके सीखने का रास्ता वैसा दुर्गम नही होगा, जैसा कि उस वस्तु के आविष्कार या प्रथम बनाने वाले का रहा होगा। भाषा के सम्बन्ध मे भी ठीक यही बात है। बच्चा भाषा सीखता है, वह आविष्कार नही करता, अत उसके आधार पर भाषा के आरम्भ के विषय मे पता लगाने का प्रयास हास्यास्पद ही होगा। हाँ, एक बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है। बच्चा आरभ के वर्षों मे निरर्थक ध्वनियो का उच्चारण करता है, और उसे दूसरे के अनुकरण का कुछ भी ध्यान नही रहता। उस समय उसके बोलने की दशा से भाषा की आरम्भिक दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कभी-कभी बच्चे उस समय पूर्णत नवीन शब्द भी गढ डालते हैं, जो आज की भाषा की विकसित दशा मे तो ग्रहण नही किये जा सकते, पर आरभिक दशा मे ऐसे शब्दो का लिया जाना असभव नही कहा जा सकता है।

(२) **असभ्य जातियों की भाषा**—असभ्य तथा अत्यन्त पिछडे हुए लोगो की भाषा के विश्लेषण से भी भाषा के आरम्भिक रूप पर प्रकाश पड सकता है, पर, बडी ही सतर्कता से इसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिए। सच तो यह है कि ये भाषाएँ सभ्य भाषाओ से कुछ ही पीढी पूर्व की हो सकती हैं, अत इनको बिल्कुल आरभिक भाषा नही माना जा सकता। असभ्य से असभ्य जाति की भाषा भी जाने कितनी ही सदी पुरानी होगी। इससे इतना ही लाभ हो सकता है कि सभ्य भाषाओ की तुलना मे इनमे अतर देखकर इसकी तुलना मे और पहले की भाषा की दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

---

[1] **एक नवीन प्रयोग**—मेरा अपना विचार यह है कि यदि एक प्रयोग किया जाय तो बच्चो के द्वारा प्रस्तुत विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड सकता है। मैं नही कह सकता कि इस

(३) **आधुनिक भाषाओं का इतिहास**—भाषा की आरंभिक दशा के विषय में कुछ जानने का, यह सबसे सीधा, अच्छा और महत्त्वपूर्ण पथ है। ऊपर हम लोगों ने देखा कि कुछ लोगो ने भाषा के आरंभ के विषय में कुछ सिद्धान्त दिये है, जिनके आधार पर आरभ से चलकर अत तक पहुँचना चाहते हैं। यहाँ हमारा रास्ता उसके ठीक उल्टा है। हम अत से शुरू करके आरंभ तक पहुँचना चाहते हैं। इस पथ के ठीक होने का निश्चय इसलिए है कि हमारा आरभ अनुमान पर आधारित न होकर निश्चित दशा पर आधारित है जबकि उपर्युक्त सिद्धांतों में कुछ अपवादों को छोड़कर शेष अनुमान ही अनुमान था।

आज की किसी भी भाषा को ले, उसका अध्ययन करे और फिर पीछे उसके इतिहास का वहाँ तक अध्ययन करते जायँ जहाँ तक सामग्री मिले। इस अध्ययन के आधार पर भाषा के विकास का सामान्य सिद्धान्त निकाल ले। उन सिद्धातों के प्रकाश मे आज की भाषा की तुलना उसके प्राचीनतम उपलब्ध रूप से करें और देखें कि कौन-सी बातें आज की भाषा में नहीं है, पर प्राचीन मे है। इसके बाद हम यह आसानी से कह सकते है कि वे विशेषताएँ यदि भाषा के प्राचीनतम उपलब्ध रूप मे दस प्रतिशत है तो भाषा के बिल्कुल प्रारम्भ मे सत्तर या अस्सी प्रतिशत रही होंगी।

उदाहरण के लिए, हिन्दी (खड़ीबोली) को लें। इसके अध्ययन के उपरान्त पुरानी हिन्दी, अपभ्रंश, प्राकृत, पालि, संस्कृत और वैदिक संस्कृत का अध्ययन करके विकास के सिद्धांतो पर विचार करे। फिर खड़ीबोली की तुलना वैदिक सस्कृत से ध्वनि, व्याकरण के रूप, शब्द-समूह, वाक्य आदि के विचार से करके वैदिक संस्कृत की वे विशेषताएँ निश्चित करे जो या तो खड़ीबोली में बिल्कुल नही है, या है भी तो बहुत कम। प्राचीन भारतीय भाषा में निश्चित ही उन विशेषताओं का विशेष स्थान रहा होगा, जो घटते-घटते वैदिक सस्कृत में कुछ शेष थी और खड़ीबोली तक आते-आते प्रायः नहीं के बराबर रह गई है।

इसी प्रकार किये गये अध्ययन के आधार पर भाषाओ की प्रारम्भिक प्रकृति पर यहाँ अत्यन्त संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

विषय मे किसी ने कुछ लिखा या किया है अथवा नही। कम से कम मेरे देखने में यह चीज़ नही आई। प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकता है—

अधिक से अधिक असभ्य और पिछड़ी जातियों के लगभग ५ लड़के और ३ लड़कियाँ (जो अवस्था मे एक वर्ष से कम के हों) लिये जायँ। एक बड़े से अहाते मे वे रखे जायँ, जिसमें कुछ टीले हो, कुछ फल वाले पेड़ हो (जिसमें कुछ ऐसे हो जिनका फल खाया जाता हो और कुछ ऐसे हों जिसका फल न खाया जाता हो।) एक तालाब हो तथा मछली, चिड़ियाँ और दो-एक कुत्ते आदि भी हो। उनकी सेवा किसी ऐसे होशियार आदमी से करवाई जाय जो वहाँ एक शब्द भी न बोले। पाँच-छः वर्ष की अवस्था से आगे चलने पर उनको आसानी से भोजन न दिया जाय। कभी पेड पर टाँग दिया जाय तो कभी टीले पर रखा जाय और कभी जब केवल एक अलग हो तो उसे भोजन उसकी आवश्यकता से अधिक दिया जाय, ताकि उसे औरो को बुलाने या देने का अवसर मिले। कुछ आदमी उनको चौबीसों घंटे आलोचनात्मक और अध्ययनपूर्ण दृष्टि से देखते रहे कभी-कभी उनको कठिनाइयो का सामना करने का भी अवसर दिया जाय। कभी एक को औरो से अलग कर कष्ट भी दिया जाय। साथ ही ऐसी परिस्थितियाँ भी लाई जायँ, जब उनमे एक-दूसरे के प्रति सहयोग की भावना उत्पन्न हो। मेरा विश्वास है कि ३०-४० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उनमे कोई साधारण टूटी-फूटी भाषा अवश्य विकसित हो जायगी। उनको सर्वदा देखने वाले अवश्य ही उस भाषा को समझेंगे और इस प्रकार भाषा के उद्गम की गुत्थी किसी सीमा तक सुलझ जायेगी। मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि पर भी ऐसे प्रयोगों से प्रकाश पड सकता है।

प्रारम्भिक अवस्था मे भाषा का प्रकृति

(क) ध्वनि—किसी भाषा के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ध्वनियो एव ध्वनि सयोगो मे, धीरे-धीरे जैसे जैसे भाषा आगे बढती है, सरलता आती जाती है। इस बात पर कुछ विस्तार से ध्वनि के अध्याय मे विचार किया जायगा। यहाँ इस सरल होने मे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरम्भिक भाषा मे आज की विकसित भाषाओ की तुलना मे ध्वनियाँ बहुत कठिन रही होगी। यहाँ कठिन से आशय उच्चारण मे कठिन सयुक्त व्यजन (जैसे आरभ मे स्स, क्न, ह्य आदि) या मूल ध्वनि आदि हैं। प्राचीन और पिछडी अनेक अफ्रीकी तथा अन्य भाषाओं मे 'क्लिक' ध्वनियाँ अधिक है।[1] इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि आरम्भ की भाषा मे क्लिक ध्वनियाँ भी कदाचित् अधिक रही होगी। वैदिक सस्कृत और हिन्दी की तुलना से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि अपेक्षाकृत अब शब्द सरल एव छोटे हो गये है। अन्य भाषाओ मे भी यही बात मिलती है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि भाषा की आरम्भिक अवस्था मे शब्द अपक्षतया बडे एव उच्चारण की दृष्टि से कठिन रहे होंगे। होमरिक ग्रीक तथा वैदिक सस्कृत मे सगीतात्मक स्वराघात की उपस्थिति के पर्याप्त प्रमाण मिलते है। अफ्रीका की असस्कृत भाषाओ म यह बात पर्याप्त मात्रा मे पाई जाती है, पर अब धीरे धीरे उसका लोप हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि आरम्भिक अवस्था मे लोग बोलने की अपेक्षा गाते ही अधिक होंगे, अर्थात् आरम्भिक भाषा मे सगीतात्मक स्वराघात (सुर) बहुत अधिक रहा होगा।

(ख) व्याकरण—प्रारम्भिक भाषा मे शब्दो के अपेक्षाकृत अधिक रूप रहे होंगे, जो बाद मे सादृश्य या ध्वनि परिवर्तन आदि के कारण आपस मे मिल कर कम हो गये। भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन मे हम देखते हैं कि आधुनिक भाषाओ की तुलना मे पुरानी भाषाओं मे सहायक क्रिया या परसर्ग आदि जोडने की आवश्यकता कम या नहीं के बराबर होती है। इसका आशय यह है कि आरम्भिक भाषा सश्लेषणात्मक रही होगी, अर्थात् सहायक क्रिया या परसर्ग इत्यादि जोडने की उसमे बिल्कुल ही आवश्यकता न रही होगी। अपने मे पूर्ण नियमो की उस समय कमी रही होगी, और अपवादो का आधिक्य रहा होगा। उन लोगो का मस्तिष्क व्यवस्थित न रहा होगा, अत भाषा मे भी व्यवस्था का अभाव रहा होगा। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बिल्कुल आरम्भ मे व्याकरण या भाषा-नियम नाम की कोई चीज ही न रही होगी।

(ग) शब्द समूह—भाषा का जितना ही विकास होता है, उसकी अभिव्यजना-शक्ति उतनी ही बढती जाती है। साथ ही सामान्य और सूक्ष्म भावो के प्रकट करने के लिए शब्द बन जाते है। इसका आशय यह है कि आरभिक भाषा मे अभिव्यजना शक्ति अत्यल्प रही होगी, और सूक्ष्म तथा सामान्य भावो के लिए शब्दो का एकान्त अभाव रहा होगा। आज भी कुछ असस्कृत भाषाएँ है जो लगभग इसी अवस्था म है। उत्तरी अमेरिका की चेरोकी भाषा मे सिर धोने के लिए, हाथ धोने के लिए, शरीर धोने के लिए अलग अलग शब्द है, पर 'धोने' के सामान्य अर्थ को प्रकट करने वाला एक भी शब्द नही है। टस्मानिया की मूल भाषा मे भिन्न भिन्न प्रकार के सभी पेडो के लिए अलग अलग शब्द है, पर 'पेड' के लिए कोई शब्द नही है। उनके पास कडा, नरम, ठडा और गर्म आदि के लिए भी शब्द नही है। इसी प्रकार जुलू लोगो की भाषा म लाल गाय, काली गाय और सफेद गाय के लिए शब्द है, पर गाय के लिए नहीं। इसम यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि आरम्भ मे शब्द केवल स्थूल और विशिष्ट के लिए ही रहे होंगे, सामान्य और सूक्ष्म के लिए नही।

---

१ ध्वनि के अध्याय मे इसका विशेष विवरण है।

ऊपर की बातों से यह यह भी निष्कर्ष निकलता है कि आरम्भ के कुछ दिनों के बाद शब्दों का बाहुल्य हो गया होगा। कुछ वर्तमान असभ्य भाषाओं के आधार पर इस बाहुल्य का एक और कारण यह भी दिया जा सकता है कि वे लोग अंधविश्वासी रहे होंगे, अतः सभी शब्दों को सर्वदा प्रयोग में लाना अनुचित माना जाता रहा होगा। उन्हें भय रहा होगा कि देवता या पित्र आदि कुपित न हो जाये, अतः एक ही वस्तु या कार्य के लिए भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोग में आते रहे होंगे।

(घ) **वाक्य**—भाषा वाक्य पर आधारित रहती है। वाक्य के शब्दों का विश्लेषण करके हमने उन्हें अलग-अलग कर लिया है और उनके नियमों का अध्ययन कर व्याकरण बनाया है। यह क्रिया भाषा और उनके साथ हमारे विचारों के बहुत विकसित होने पर की गई है। आरम्भ में इन शब्दों का हमें पता न रहा होगा और वाक्य इस इकाई के रूप में रहे होंगे। शब्दों के रूप मे उनका 'व्याकरण' या विश्लेषण नही हुआ रहा होगा। उत्तरी अमेरिका के वासियों की कुछ बहुत पिछड़ी भाषाओं मे कुछ दिन पूर्व तक वाक्यों मे अलग-अलग शब्दों की कल्पना तक नही की गई थी।

(ङ) **विषय**—अपने विकास की आरम्भिक अवस्था में लोग भावना-प्रधान रहे होंगे। तर्क या विचार की वैज्ञानिक शृङ्खला से वे अपरिचित रहे होंगे। पद्यात्मकता की ही प्रधानता रही होगी। यही कारण है कि संसार की सभी भाषाओं में पद्य या काव्य बहुत प्राचीन मिलता है, किंतु गद्य नही। इसी प्रकार गीत आदि की भी प्रधानता रही होगी। गीतों में भी स्वाभाविक और जन्मजात् भावना के कारण प्रेम, भय, क्रोध आदि के चित्र ही अधिक रहे होंगे।

निष्कर्ष—भाषा अपने प्रारम्भिक रूप में संगीतात्मक थी। उसमें वाक्य शब्द की भाँति थे। अलग-अलग शब्दों मे वाक्य के विश्लेषण की कल्पना नही की गई थी। स्पष्ट अभिव्यंजना का अभाव था। कठिन ध्वनियाँ अधिक थीं। स्थूल और विशिष्ट के लिए शब्द थे। सूक्ष्म और सामान्य का पता नहीं था। व्याकरण-सम्बन्धी नियम नहीं थे। केवल अपवाद ही अपवाद थे। इस प्रकार भाषा प्रत्येक दृष्टि से लँगड़ी और अपूर्ण थी।

भाषा की उत्पत्ति के संबंध मे हमे अभी तक कोई निश्चित उत्तर नहीं प्राप्त हो सका। हाँ, एक सीमा तक समन्वित रूप अवश्य मान्य हो सकता है। यों परोक्ष मार्ग के आधार पर भाषा की प्रारम्भिक अवस्था के विषय में जो बातें ऊपर कही गई है, वे निश्चित रूप से काफी सही हैं।

भाषा-विकास के चरण

इस प्रसग में भाषा के विकास के *तीन चरणों* की ओर भी पर्याप्त निश्चय के साथ संकेत किया जा सकता है। डार्विन ने हमें बताया है कि हम बंदरों के विकसित रूप है। इसका आशय यह हुआ कि कभी हमारी भाषा बंदरो के समीप रही होगी, और कभी उससे भी पिछडी। बंदरों मे उच्चारित या वाचिक भाषा के साथ-साथ आंगिक सकेतों की भी भाषा मिलती है, और दूसरी ओर असभ्य आदिम जातियो की तुलना मे शिक्षित लोगों मे भाषा का लिखित रूप मिलता है। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि मनुष्य में भाषा का प्रारंभिक रूप विभिन्न प्रकार के पशुओं की तरह आंगिक रहा होगा। वनबिलाव गुस्सा प्रकट करने के लिए अपने बालों को खड़ा कर लेता है, तो बन्दर ओठों को अजीब ढग से फैलाकर दाँत निकाल देता है, और कुत्ता प्यार-प्रदर्शन के लिए मालिक के शरीर को भी चाटता है, तो कभी पूँछ हिलाता है। ये आंगिक भाषा के ही रूप हैं। भाषा का दूसरा रूप वाचिक हुआ। इसमें उच्चरित ध्वनियो का प्रयोग हुआ। आरभ मे मानव-भाषा मे आंगिक संकेत अधिक थे और वाचिक कम, किंतु धीरे-धीरे पहले का प्रयोग सीमित होता गया और दूसरे का बढता गया। यों आज का सभ्य मानव भी अपनी भाषा के उस आदिम आंगिक रूप को पूर्णतः भूल

नही सका है, इसी कारण वाचिक भाषा के साथ-साथ विभिन्न अगो को हिला-उठा-तान आदि कर वह अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाता है। भाषा का तीसरा रूप लिखित है। इसने भाषा की उपयोगिता बहुत बढा दी है।

आगिक भाषा बडी स्थूल और सीमित थी। प्रेम, क्रोध, भूख आदि के सामान्य भाव ही वह प्रकट कर सकती थी। साथ ही उसके लिए दूसरे की आगिक चेष्टाओ को देखना भी आवश्यक था। बिना दिखाये अभिव्यक्ति सभव न थी। इसका आशय यह हुआ कि इसके लिए प्रकाश अनिवार्यत आवश्यक था। वाचिक भाषा के प्रयोग से तीनो कठिनाइयाँ दूर हो गई। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव एव विचार व्यक्त होने लगे तथा प्रत्यक्षता या प्रकाश भी अनावश्यक हो हो गये। किंतु वाचिक भाषा इन तीनो दृष्टियो से आगे बढकर भी देश काल की सीमा से बँधी थी। इसका प्रयोग उतनी ही दूरी (देश) तक हो सकता था, जहाँ तक सुनाई पडे और उसी समय (काल) इसमे अभिव्यक्ति सभव थी, जब यह बोली जा रही हो। मनुष्य ने भाषा को लिखित रूप देकर ये दोनो बधन समाप्त कर दिये। अपने लिखित रूप मे भाषा देश-काल से बँधी नही है। आज लिखकर दो-चार दस वर्ष बाद भी उसे पढा जा सकता है, या इसी प्रकार यहाँ लिखकर उसे सात समुन्दर पार भी पहुँचाया जा सकता है।

भाषा के दो आधार

भाषा के दो आधार हैं। एक मानसिक (psychical aspect) और दूसरा भौतिक (physical aspect)। मानसिक आधार भाषा की आत्मा है तो भौतिक आधार उसका शरीर। मानसिक आधार या आत्मा से आशय है, वे विचार या भाव जिनकी अभिव्यक्ति के लिए वक्ता भाषा का प्रयोग करता है और भाषा के भौतिक आधार के सहारे श्रोता जिनको ग्रहण करता है। भौतिक आधार या शरीर मे आशय है—भाषा मे प्रयुक्त ध्वनियाँ (वर्ण, सुर और स्वराघात आदि) जो भावो और विचारो की वाहिका है, जिनका आधार लेकर वक्ता अपने विचारो या भावो को व्यक्त करता है और जिनका आधार लेकर श्रोता विचारो या भावों को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, हम 'सुन्दर' शब्द लें। इसका एक अर्थ है। इसके उच्चारण करने वाले के मस्तिष्क मे वह अर्थ होगा और सुनने वाला भी इसे सुनकर अपने मस्तिक मे उस अर्थ को ग्रहण कर लेगा। यही अर्थ 'सुन्दर' की आत्मा है। दूसरे शब्दो मे यही है मानसिक पक्ष। पर साथ ही मानसिक पक्ष सूक्ष्म है, अत उसे किसी स्थूल का सहारा लेना पडता है। यह स्थूल हैं स+उ+न्+द्+अ+र्। सुन्दर के भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए वक्ता इन ध्वनि-समूहो का सहारा लेता है, और इन्हे सुनकर श्रोता 'सुन्दर' अर्थ ग्रहण करता है, अतएव ये ध्वनियाँ उस अर्थ की वाहिका शरीर या भौतिक आधार हैं। भौतिक आधार तत्वत अभिव्यक्ति का साधन है और मानसिक आधार साध्य। दोनो के मिलने से भाषा बनती है। कभी-कभी इन्ही को क्रमश बाह्य भाषा (outer speech) तथा आन्तरिक भाषा (inner speech) भी कहा गया है। प्रथम को समझने के लिये शरीरविज्ञान तथा भौतिकशास्त्र की सहायता लेनी पडती है, और दूसरे को समझने के लिए मनोविज्ञान की।

कुछ लोग वक्ता और श्रोता के मानसिक व्यापार को भी भाषा का मानसिक आधार मानते हैं और इसी प्रकार बोलने और सुनने की प्रक्रिया को भी भौतिक आधार। एक दृष्टि से यह भी ठीक है। यो तो उच्चारणावयवो एव ध्वनि ले जाने वाली तरगो को भी भौतिक आधार तथा मस्तिष्क को मानसिक आधार माना जा सकता है, किन्तु परम्परागत रूप मे भाषाविज्ञान मे केवल ध्वनियाँ, जो बोली और सुनी जाती हैं, भौतिक आधार मानी जाती हैं, और विचार, जो वक्ता द्वारा अभिव्यक्त किये जाते है और श्रोता द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, मानसिक आधार माने जाते हैं।

भाषा की विशेषताएं और प्रकृति

(१) **भाषा पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है**—कुछ लोगों का विश्वास है कि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति है। पिता की भाषा पुत्र को पैत्रिक सम्पत्ति की भाँति अनायास ही प्राप्त होती है। किन्तु, यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को एक-दो वर्ष की अवस्था से फ्रांस में पाला जाय तो वह हिन्दी या हिन्दुस्तानी आदि न समझ या बोल सकेगा और फ्रेंच ही उसकी मातृभाषा या अपनी भाषा होगी। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति होती तो भारतीय लड़का भारत से बाहर कहीं भी रहकर बिना प्रयास के हिन्दी समझ और बोल लेता। कुछ वर्ष पूर्व लखनऊ के अस्पताल में लगभग १२ वर्ष का एक लड़का लाया गया था जो मनुष्य की तरह कुछ भी नहीं बोल पाता था। खोज करने पर पता चला कि उसे कोई भेड़िया बहुत पहले उठा ले गया था और तब से वह उसी भेड़िये के साथ रहा। उसमें सभी आदतें भेड़िये-सी थीं। उसके मुँह से निःसृत ध्वनि भी भेड़िये से ही मिलती-जुलती थी। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति होती तो वह अवश्य मनुष्य की तरह बोलता, क्योंकि वह गूंगा नहीं था।

(२) **भाषा अर्जित सम्पत्ति है**—ऊपर के दोनों उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि अपने चारों ओर के समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है। भारतवर्ष में उत्पन्न शिशु फ्रांस रहकर इसीलिए फ्रेंच बोलने लगता है कि उसके चारों ओर फ्रेंच का वातावरण रहता है। इसी प्रकार भेड़िये का साथी लड़का एक ओर वातावरण के अभाव में मनुष्य की कोई भाषा नहीं सीख सका; और, दूसरी ओर भेड़िये के साथ रहने से वह उसी की ध्वनि का कुछ रूपों में अर्जन कर सका। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा आसपास के लोगों से अर्जित की जाती है, और इसीलिए यह पैत्रिक न होकर अर्जित सम्पत्ति है।

(३) **भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है**—ऊपर हम भाषा को अर्जित सम्पत्ति कह चुके हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस सम्पत्ति का अर्जन कहाँ से करता है? इसका एक मात्र उत्तर है 'समाज से।' इतना ही नहीं, भाषा पूर्णतः आदि से अंत तक समाज से सम्बन्धित है। उसका विकास समाज में ही होता है, और, इसीलिए यह एक सामाजिक संस्था है। यों, अकेले में, हम भाषा के सहारे सोचते अवश्य हैं, किन्तु वह भाषा इस सामान्य मुखर भाषा से भिन्न है जिसकी बात की जा रही है।

(४) **भाषा परम्परा है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है उसे उत्पन्न नहीं कर सकता**—भाषा परम्परा से चली आ रही है, व्यक्ति उसका अर्जन परम्परा और समाज से करता है। एक व्यक्ति उसमें परिवर्तन आदि तो कर सकता है, किन्तु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता (सांकेतिक या गुप्त आदि भाषाओं की बात यहाँ नहीं की जा रही है)। यदि कोई उसका जनक और जननी है तो समाज और परम्परा।

(५) **भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है**—ऊपर की बातों में भाषा के अर्जित एक समाज-सापेक्ष होने की बात हम कह चुके हैं। यहाँ 'अर्जन' की विधि के सम्बन्ध में इतना और कहना है कि भाषा को हम 'अनुकरण द्वारा' सीखते हैं। शिशु के समक्ष माँ 'दूध' कहती है। वह सुनता है और धीरे धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। वह भाषा के सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है।

(६) **भाषा चिरपरिवर्तनशील है**—यथार्थतः भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिए। उसका लिखित रूप को उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है। यह मौखिक भाषा स्वयं अनुकरण पर आधारित है, अतः दो आदमियों की भाषा बिल्कुल एक-सी नहीं होती। अनुकरण-प्रिय प्राणी होने पर भी मनुष्य अनुकरण की कला में

पूर्ण नहीं है। अनुकरण का 'पूर्ण' या 'ठीक न होना' कई बातों पर आधारित है। ऊपर हम कह चुके हैं कि भाषा के दो आधार हैं (१) शारीरिक (भौतिक) और (२) मानसिक। परिवर्तन मे ये दोनो ही कार्य करते हैं। अनुकरणकर्ता की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति सर्वदा ठीक वैसी ही नहीं रहती जैसी कि उसकी रहती है, जिसका अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुकरण मे कुछ न कुछ विभिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि अनुकरण करना।

ये साधारण और छोटी-छोटी विभिन्नताएँ ही भाषा मे परिवर्तन उपस्थित किया करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रयोग से घिसने और बाहरी प्रभावों से भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार भाषा प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है।

(७) भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है—जो वस्तु बन-बनाकर पूर्ण हो जाती है, उसका अन्तिम स्वरूप होता है, पर भाषा के विषय मे यह बात नही है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकती। अर्थात्, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप अन्तिम है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा से हमारा अर्थ जीवित भाषा से है। मृत भाषा का अन्तिम रूप तो अवश्य ही अन्तिम होता है, पर जीवित भाषा मे यह बात नहीं है। जैसा कि अन्य सभी के लिए सत्य है, भाषा के विषय मे असत्य नही है कि परिवर्तन और अस्थैर्य ही उसके जीवन का द्योतक है। पूर्णता और स्थिरता मृत्यु है, या मृत्यु ही पूर्णता या स्थिरता है।

(८) प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है—हर भाषा की अपनी एक भौगोलिक सीमा होती है। सीमा के भीतर ही उस भाषा का अपना वास्तविक क्षेत्र होता है। उस सीमा के बाहर उसका स्वरूप थोड़ा या अधिक परिवर्तित हो जाता है, या उस सीमा के बाहर किसी पूर्णत भिन्न भाषा की सीमा शुरू हो जाती है।

(९) प्रत्येक भाषा की एक ऐतिहासिक सीमा होती है—भौगोलिक सीमा की तरह भाषा की ऐतिहासिक सीमा भी होती है। अर्थात्, प्रत्येक भाषा इतिहास के किसी निश्चित काल से प्रारम्भ होकर इतिहास के निश्चित काल तक व्यवहृत होती है तथा वह भाषा अपने काल की परवर्ती या पूर्ववर्ती भाषा मे भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, मोटे रूप से प्राकृत भाषा का काल पहली ईसवी से ५०० ई० तक माना जाता है। इस कड़ी मे इसके पूर्व पालि भाषा थी, तथा इसके बाद अपभ्रंश, और, ये दोनों भाषाएँ (पालि तथा अपभ्रंश) प्राकृत से भिन्न हैं।

(१०) प्रत्येक भाषा की अपनी सरचना अलग होती है—दूसरे शब्दों मे किन्हीं भी दो भाषाओं का ढाँचा पूर्णतया एक नहीं होता है। उनमे ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य या अर्थ आदि में किसी भी एक स्तर पर या एक से अधिक स्तरो पर संरचना या ढाँचे मे अन्तर अवश्य होता है। यही अन्तर उनकी अलग या स्वतन्त्र सत्ता का कारण बनता है।

(११) भाषा की धारा स्वभावत कठिनता से सरलता की ओर जाती है—सभी भाषाओं के इतिहास से भाषा के कठिनता से सरलता की ओर जाने की बात स्पष्ट है। यों भी इसके लिए सीधा तर्क हमारे पास यह है कि मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि कम से कम प्रयास मे अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी 'कम प्रयास' के प्रयास मे वह 'सत्येन्द्र' को 'सतेन्द्र' और फिर 'सतेन' कहने लगता है, और एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब यह केवल 'सति' कहकर ही काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण 'ध्वनि' मे सम्बन्धित है। किन्तु, व्याकरण के रूपो के बारे में भी यही बात है। पुरानी भाषाओं (ग्रीक, संस्कृत आदि) मे रूपों और अपवादो का बाहुल्य है, किन्तु आधुनिक भाषाओं मे रूप कम हो गये हैं, साथ ही नियम बढ़ गये हैं और अपवाद कम हो गये हैं, और आगे भी कम होते जा रहे हैं।

भाषा पानी की धारा है जो स्वभावतः ऊँचाई (कठिनाई) के नीचे (सरलता) की ओर जाती है।

(१२) **भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है**—भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि आरम्भ में भाषा स्थूल थी, सूक्ष्म भावों के लिए या विचारों को गहराई से व्यक्त करने के लिए अपेक्षित सूक्ष्मता उसमें नहीं थी, फिर धीरे-धीरे उसने इसकी प्राप्ति की। इसी प्रकार दिन-पर-दिन भाषा में विकास होता रहा है, और वह अप्रौढ से प्रौढ़ और प्रौढ से प्रौढ़तर होती जा रही है। यह एक सामान्य सिद्धान्त तो है, किन्तु प्रयोग पर भी निर्भर करता है। आज की हिन्दी की तुलना में कल की हिन्दी अधिक सूक्ष्म और प्रौढ़ होगी, किन्तु संस्कृत की तुलना में आज की हिन्दी को सूक्ष्म और प्रौढ़ नहीं कह सकते, क्योंकि उन अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर अभी तक हिन्दी विकसित नहीं हुई, जिनमें संस्कृत हजारों वर्ष पूर्व हो चुकी है।

(१३) **भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है**—पहले लोगों का विचार था कि भाषा वियोग (व्यवहिति या विश्लेष) से संयोग (संहिति या संश्लेष) की ओर जाती है। कुछ लोगों का यह भी मत रहा है कि बारी-बारी से भाषाओं की जिन्दगी दोनों स्थितियों से गुजरती रहती है। किन्तु, अब ये मत प्रायः भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं। नवीन मत के अनुसार भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है। संयोग का अर्थ है मिली होने की स्थिति, जैसे 'रामः गच्छति' तथा वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति, जैसे 'राम जाता है।' संस्कृत में केवल 'गच्छति' (संयुक्त रूप) से काम चल जाता था, पर हिन्दी में 'जाता है' (वियुक्त रूप) का प्रयोग करना पड़ता है।

(१४) **हर भाषा का स्पष्टतः या अस्पष्टतः एक मानक रूप होता है।**

पीछे 'भाषा के अभिलक्षण' तथा 'भाषा की परिभाषा' में कुछ अन्य विशेषताओं की ओर भी संकेत किया गया है।

भाषा का विकास (परिवर्तन) और उसके कारण

भाषा मे परिवर्तन होना ही उसका विकास या विकार है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा चिरपरिवर्तनशील है। भाषा में विकास या परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों—ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ और वाक्य—में होता है (ध्वनि—लोप, आगम, विपर्यय, परिवर्तन आदि; रूप—रामस्य, राम का; वाक्य—शब्द-क्रम, अन्वय आदि; शब्द—पुराने का लोप और नये का आना; अर्थ—अर्थ में विस्तार, संकोच या आदेश आदि)। इन परिवर्तनों के कारण और उसके रूपो या दिशाओं पर अच्छी प्रकार विचार, इन पाँचों से सम्बद्ध अलग-अलग अध्यायों में आगे किया गया है। यहाँ संक्षेप में केवल कुछ सामान्य बातें ही कही जा रही हैं।

भाषा के विकास या परिवर्तन पर बहुत पहले से किसी न किसी रूप में विचार किया गया है। शब्दशास्त्र पर विचार करने वाले प्राचीन भारतीय आचार्यों में कात्यायन, पतंजलि, कैयट तथा काशिकाकार जयादित्य और वामन के नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। यूरोप में इस विषय पर गम्भीरता से और व्यवस्थित रूप से विचार करने वाले प्रथम व्यक्ति डैनिश विद्वान् जे० एच० ब्रेड्सडॉर्फ़ है। इन्होंने १८२१ में गॉथिक ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय तथा अन्यत्र भी भाषा-परिवर्तन के ७-८ कारण गिनाये थे। तब से इस सदी तक पाल, येस्पर्सन आदि अनेक लोगों ने इस विषय को उठाया। पिछले दशक में स्टुर्टवेट ने इस विषय का पहली बार बहुत विस्तार से विवेचन किया, यद्यपि उसे भी पूर्ण नहीं माना जा सकता है।

विकास के कारणों के प्रमुख दो वर्ग—भाषा मे विकास जिन कारणो से होता है, उन्हें प्रमुखत दो वर्गों मे रक्खा जा सकता है। एक अभ्यतर (या आन्तरिक वर्ग) और दूसरा बाह्य। अभ्यतर वर्ग मे भाषा की अपनी स्वाभाविक गति (जिसमे प्रमुखत भाषा की कठिन से सरल होने की प्रवृत्ति है) तथा वे कारण सम्मिलित हैं, जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि सम्बन्धी स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य वर्ग मे वे कारण आते हैं, जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं।

इन दोनो मे पहले प्रकार के कारण भीतरी, आंतरिक या अभ्यतर कहे जा सकते है और दूसरे प्रकार के कारणो को 'बाहरी' या 'बाह्य' की सज्ञा दी जा सकती है। यहाँ दोनों के अन्तर्गत आने वाले कुछ प्रमुख कारणो पर सक्षेप में विचार किया जा रहा है। विशेष महत्त्व के कारण सादृश्य पर अलग से विचार किया गया है।[1]

(क) अभ्यतर वर्ग

अभ्यतर वर्ग के अन्तर्गत वे सभी कारण आते हैं जो प्रभाव नहीं डालते। सक्षेप मे, प्रधान कारणों को यहाँ लिया जा सकता है—

(१) प्रयोग से घिस जाना—अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे अन्य सभी चीजो की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। संस्कृत की कारकीय विभक्तियाँ इसी प्रकार धीरे-धीरे घिसते-घिसते समाप्त हो गइ ।

(२) बल—जिस ध्वनि या अंश पर अधिक बल दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देता है, या समाप्त कर देता है। इस प्रकार इसके कारण भी भाषा में विकास या परिवर्तन हो जाता है। इस सम्बन्ध में 'ध्वनि' और 'अर्थ' के कारण में विस्तार से विचार किया जायेगा।

(३) प्रयत्न-लाघव—भाषा मे विकास लाने वाले या परिवर्तन उपस्थित करने वाले कारणों में यह सबसे महत्त्वपूर्ण है और भाषा मे विकास या परिवर्तन के ९० प्रतिशत से भी अधिक का दायित्व इसी पर है। इसे 'मुख-सुख' भी कहते हैं।

आदमी कम से कम प्रयास से अधिक से अधिक काम करना चाहते हैं। बोये हुए खेतो मे भी लोगो की यही प्रवृत्ति बीच से तिरछे रास्ता बना देती है। बोलने मे भी इसी प्रकार कम से कम प्रयत्न से लोग शब्दो को उच्चरित करना चाहते हैं और इस कम से कम प्रयास, या प्रयत्न-लाघव (प्रयत्न की लघुता) के प्रयास मे ही शब्दो को सरल बनाते या सरलता के लिए कभी तो बडा और कभी छोटा बना डालते हैं, या कभी केवल कठिन सयुक्त व्यजनों आदि

---

१ कुछ भाषाविज्ञानविदों ने भाषा के विकास के मूल कारण के रूप मे चार बातो का का उल्लेख किया है १ शारीरिक विभिन्नता, २ भौगोलिक विभिन्नता, ३ जातीय मानसिक अवस्था भेद, ४ प्रयत्न-लाघव। इनमे प्रयत्न-लाघव तो स्पष्टत ही मूल कारणो मे है, जैसा कि आगे समझाया गया है। शेष तीन के सम्बन्ध मे थोड़े स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। यदि न० १ का अर्थ यह लें कि एक ही समाज का एक व्यक्ति स्वस्थ या मोटा-ताजा है और दूसरा दुबला-पतला, अत दोनों की भाषा मे अन्तर होगा, तो यह प्राय व्यर्थ है, दूसरे का अर्थ यह लें कि रेगिस्तानी मुँह ढँके होंगे, ठडक म रहने वाले सर्दी के कारण कम मुँह खोलेंगे अतएव भाषा मे अन्तर होगा तो यह भी बहुत सार्थक नही है। इसी प्रकार यदि मानें कि मानसिक अवस्था के उच्च या निम्न होने से भाषा मे भेद होगा, तो यह ठीक नहीं है, किन्तु यदि दूसरा अर्थ लें, जैसा कि आगे लिया गया है तो तीनों ही किसी न किसी रूप मे भाषा के विकास मे काम करते हैं।

को सरल कर लेते हैं। कृष्ण का कन्हैया, कान्हा या किशन, भक्त का भगत, प्वाइंट्समैन का पैंटमैन, स्टेशन का टेसन, धर्म का धरम, 'वीवी जी' का बीजी, गोपेन्द्र का गोबिन, गृद्ध का गिद्ध तथा आलक्तक का आलता आदि सरल करके बोलने के प्रयास के ही फल है। अंग्रेजी मे क्नो (Know) का उच्चारण नो, क्नाइफ (Knife) का नाइफ तथा टाल्क (Talk) का टाक भी इसी का परिणाम है। सरलता या प्रयत्न-लाघव के लिये कुछ शब्द तो छोटे कर लिये जाते है, जैसे उपाध्याय से ओझा, 'कब ही' से कभी, 'जब ही' से जभी, 'हास्तिन् मृग' से 'हस्ती' फिर 'हाथी' या वोलने में 'मास्टर साहब' का 'मास्साब', 'पडित जी' का 'पडी जी', 'जैराम जी की' का 'जैरम', 'मार डाला' का 'माड्डाला'। कुछ शब्द सरल बनाने के लिए बड़े कर लिये जाते है, जैसे प्रसाद से परसाद, कृष्ण से कन्हैया, स्कूल से इस्कूल, स्नान से असनान, प्लेटो से अफलातून, ग्रहण से गरहन या गिरहन तथा उम्र से उमिर आदि, संक्षेप का प्रयोग, जैसे डी० एम० (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट), एन० टी० (नायब तहसीलदार), भारत (भारतवर्ष) या सुदी (शुक्ल दिवस) आदि भी प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से ही किया जाता है।

प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख कई प्रकार से लाया जाता है, जिनमे स्वर-लोप (जैसे अनाज से नाज या एकादश से ग्यारह), व्यंजन-लोप (जैसे स्थाली से थाली), अक्षर-लोप (शहतूत से तूत), स्वरागम (स्काउट से इस्काउट, कर्म से करम, कृपा से किरिपा), व्यंजनागम (अस्थि से हड्डी), विपर्यय (वाराणसी से बनारस, या पहुँचना से चहुँपना), समीकरण (शर्करा से शक्कर या कलक्टर से कलट्टर), विषमीकरण (काक से काग), तथा स्वतः अनुनासिकता (उष्ट्र से ऊँट, श्वास से साँस तथा राम से राँम) तथा कुछ अन्य (जैसे गृह से घर, वधू से बहू आदि) प्रमुख है। प्रयत्न-लाघव के अन्तर्गत आने वाले इन प्रधान तथा अन्य और प्रकारों[1] का विस्तृत और सोदाहरण परिचय 'ध्वनिविज्ञान' अध्याय के अन्तर्गत आगे दिया गया है।

(४) **मानसिक स्तर**—बोलने वालों के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है; विचारों मे परिवर्तन होने से अभिव्यंजना के ढंग में परिवर्तन होता है, और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पडता है। इसका स्पष्ट परिणाम अर्थ-परिवर्तन होता है, पर कभी-कभी ध्वनि पर भी असर देखा गया है।

(५) **अनुकरण की अपूर्णता**—यह इस वर्ग का अन्तिम कारण है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है और उसका अर्जन मनुष्य अनुकरण के सहारे समाज से करता है। अनुकरण यदि पूर्ण हो तब तो व्यक्ति किसी शब्द को ठीक उसी प्रकार कहेगा, जैसे वह व्यक्ति कहता है जिसका कि वह अनुकरण कर रहा है, किन्तु प्रायः ऐसा होता नहीं। अनुकरण प्रायः अपूर्ण या बेठीक होता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों की गति देखकर (जितना दिखायी दे सके) किया जाता है। वाक्य, अर्थ आदि का अनुकरण मानसिक रूप में समझ कर किया जाता है। होता यह है कि अनुकरण में अनुकर्त्ता (क) कुछ भाषिक तथ्यों को तो छोड़ देता है तथा (ख) कुछ को अपनी ओर से अनजाने ही जोड देता है। इस तरह अनुकरण में भाषा का परिवर्तन पनपता रहता है। जब एक पीढी से दूसरी पीढी, भाषा का अनुकरण कर रही होती है, ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ—भाषा के पाँचो क्षेत्रो मे इसी छोड़ने और जोडने के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया तेजी से घटित होती रहती है। आर० एम० पिडल (१९२६) तथा ए० डुग्फर (१९२७) ने कुछ स्थानों मे इस बात का अनेक वर्षो तक बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया, और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह परिवर्तन या विकास का सबसे बड़ा कारण है।। समाज में मोटे रूप मे तीन पीढ़ियाँ होती है। सद्योदित जो २०-२२

---

1. घोषीकरण, अघोषीकरण, अभिश्रुति, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, अग्रागम, स्वरभक्ति, उभय सम्मिश्रण, स्थान-विपर्यय, मात्राभेद, ऊष्मीकरण तथा संधि आदि।

या २५ से कम के उम्र है, बहुत सक्रिय जो २०-२३ या २५ से ३० वर्ष के बीच के होते है, और अस्तप्राय जो ६० से ऊपर के होते हैं। एक ही समाज मे इन तीनों की भाषा में स्पष्ट अन्तर मिलता है। यद्यपि यह अन्तर या देखने मे बहुत अधिक नही होता और कई पीढ़ियो के बाद ही भाषा पर उनकी सुस्पष्ट छाप दिखाई पडती है। पीढ़ी-परिवर्तन के साथ, अनुकरण की अपूर्णता के अतिरिक्त यो अन्य कारण भी काम करते है, जैसे अन्य प्रभाव, बल देने के लिए या नवीनता के लिए नये प्रयोग या एक से अनेक या अनेक से एक करने की प्रवृत्ति आदि। जैसा कि कह चुके हैं, एक-दो पीढी मे तो इसका स्पष्ट पता नही चलता, पर जब आठ-दस पीढी पीछे की भाषा को आठ-दस पीढी बाद की भाषा में हम तुलना करते हैं, तो दोनो के अन्तर का पता साफ चल जाता है, और हमे यह मानने को बाध्य होना पडता है कि भाषा विकसित या परिवर्तित हो गई है।

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण है जिनमे निम्नलिखित मुख्य हैं—

(क) शारीरिक विभिन्नता—ध्वनियो का उच्चारण अगो के सहारे करते है और सब उच्चारण-अग एक-से नहीं होते, अतएव उनका अनुकरण बिल्कुल पूर्ण नही हो पाता। सामान्यत इस विभिन्नता के प्रभाव का पता नही चलता, पर कई पीढी बाद जो परिवर्तन दिखाई पडता है, उनमे निश्चय ही इसका भी कुछ न कुछ हाथ रहता है।

(ख) ध्यान की कमी—इसके कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। इसका भी भाषा के विकास पर प्रभाव दस-बीस पीढी के बाद ही स्पष्ट हो पाता है।

(ग) अशिक्षा—अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण भी अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। श का स (देश से देस), ष का स (तृष्णा का तिसना), ण का न (गुण का गुन या कर्ण का कान) तथा क्ष का च्छ या छ (शिक्षा का सिच्छा या क्षत्रिय का छत्री) आदि मुख-सुख या प्रयत्न-लाघव के अतिरिक्त अज्ञान या अशिक्षा के कारण भी हो जाते हैं। विदेशी शब्द सामान्य जनता मे अज्ञान या अशिक्षा के कारण ही क्या से क्या हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, रैविट का 'रिवीट' या 'रिविट', डाक्टर का 'डगडर', ज़माना का 'जमाना, एंजिन का 'इजन' या 'अजन', मोहताज का 'मुस्ताज', लाइब्रेरी का 'रायबरेली' या 'लायरेली', रिपोर्ट का 'रपट', गार्ड का 'गारद', ड्रिल का 'दलेल', इन्सपेक्टर का 'इसपट्टर', 'हू कम्स देयर' का 'हुकुमसदर', लाट का 'लाट', टाइम का 'टेम', सिगनल का 'सिगल', दर्ख्वास्त का 'दरखास', मास्टर का 'महटर' या 'महट्टर', कानूनगो का 'कनुनगोह', प्लाटून का 'पलटन', ज्वाइन का 'जैन', तथा काजी हाउस का 'काजीहौद', आदि देखे जा सकते हैं।

(६) जानबूझकर परिवर्तन—भाषा मे, कभी-कभी जानबूझकर भी उस भाषा के प्रबुद्ध बोलने वाले या लेखक आदि परिवर्तन कर देते हैं। प्रसाद ने 'अलेक्जेंडर' का अलक्षेन्द्र कर दिया है। यह परिवर्तन स्वाभाविक नही है। इसी प्रकार अनेक देशज तथा विदेशी शब्दो का सस्कृत के साहित्यकारो ने सस्कृतीकरण किया है। जैसे अरबी 'अफियून' का 'अहिफेन' या तुर्की 'तुर्क' का 'तुरुष्क'। कभी-कभी उपयुक्त शब्द न मिलने पर लोग जान-बूझकर किसी मिलते-जुलते शब्द का नये अर्थ मे प्रयोग कर देते हैं और शब्द यदि बहुत प्रचलित न रहा तो उस नये अर्थ मे चल पडता है। जैसे 'ट्रैजेडी' से 'त्रासदी' या 'कमडी', से 'कामदी'। अभिव्यक्ति मे चमत्कार या नवीनता आदि लाने के लिए कलाकारो द्वारा निरकुश प्रयोग भी भाषा मे इस प्रकार के परिवर्तन ला देता है।

(७) जातीय मनोवृत्ति—हर जाति की अपनी मनोवृत्ति होती है, और भाषा उसके अनुसार परिवर्तित होती है। यही कारण है कि एक ही भाषा दो या अधिक जातियो मे प्रचलित होकर दो या अधिक प्रकार से विकसित या परिवर्तित होती है। एक जातीय मिश्रण ग्रिम नियम के प्रथम वर्ण-परिवर्तन का कारण बना, दूसरा दूसरे का।

(त) बाह्य वर्ग

(१) **भौतिक वातावरण**—भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलतः इसी कारण से बन जाती हैं। भौतिक वातावरण का प्रभाव कई प्रकार से पड़ सकता है—

(क) गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी पर आधारित है।

(ख) मैदान आदि में दूर तक लोग सम्पर्क रख पाते है, अतः भाषा में एकरूपता बनी रहती है। पर, पहाड़ी भागों में या अन्य ऐसे भागों में, जहाँ आने-जाने की सुविधा कम है, या है ही नहीं, लोग अलग-अलग रहने के आदी हो जाते हैं। फल यह होता है कि उनकी भाषा का अलग-अलग विकास होता है और कई भाषाओं या अनेक बोलियों का विकास हो जाता है। इसी कारण पहाडों पर बोली थोडी-थोडी दूरी पर थोड़ी-बहुत अवश्य बदल जाती है। बड़ी नदियों के किनारों की बोली मे भी इसी कारण कुछ अन्तर दिखाई देता है। ग्रीस में ऐसे ही कारणों से नगर-जनपद की प्रथा चल पड़ी। फल यह हुआ कि वहाँ बोलियों की भरमार हो गई।

(ग) भूमि उपजाऊ है तो खाद्य-सामग्री की कमी न रहेगी और फल यह होगा कि लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा, अतः उन लोगों की भाषा में अनुपजाऊ भूमि में रहने वालों की अपेक्षा संस्कार अधिक होगा। वे लोग गूढ़ विषयों पर सोचेंगे, अतः उसकी अभिव्यंजना के लिए उनकी भाषा गम्भीर होती जायगी, जैसा कि भारत या यूनान आदि में हुआ है। इसके विरुद्ध पहाड़ी या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। इस तरह उपजाऊ भूमि के कारण भाषा के परिवर्तन एवं विकास को बल मिलता है।

(२) **सांस्कृतिक प्रभाव**—संस्कृति समाज का प्राण है, अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। इसके अन्तर्गत भी प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है।

(क) सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती है, साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती है, जिससे अभिव्यक्ति की शैली आदि प्रभावित होती है। १९वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आदि की भाषा पर आर्य समाज आदि के कारण संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में इतने अधिक घुस आये हैं कि कहने की आवश्यकता नहीं।

(ख) **व्यक्ति**—महान् व्यक्तियों का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरी भारत की भाषा, उसके समाज तथा धर्म सभी को यथेष्ट प्रभावित किया है। कितने शब्दों को उन्होंने मूल रूप में या कविता में तुक आदि के लिए कुछ तोड़कर रखा और वे चल पड़े। उनके बाद की कविता की शैली भी उनसे प्रभावित हुई थी। इसी प्रकार गाँधी जी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफी बल मिला।

(ग) **संस्कृतियों का सम्मिलन**—व्यापार, राजनीति तथा धर्म-प्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो संस्कृतियों का सम्मिलन होता है। इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत ही को लें। यहाँ इस प्रकार के कई सम्मिलन हुए जिनमें कम से कम पाँच अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(१) आस्ट्रिकों और द्रविड़ों का।
(२) द्रविड़ों और आर्यों का।
(३) आर्यों और यवनों का।

और रूप प्रक्रिया-परिवर्तन का भी स्वरूप एक नहीं है, अत सभी को अलग-अलग शीर्षकों में लिया जा रहा है।

ध्वनि-परिवर्तन—ध्वनि-परिवर्तन से आशय है किसी ध्वनि का बदलकर कुछ से कुछ हो जाना जैसे 'घोटक' से 'घोटा' बनने में 'ट' परिवर्तित होकर 'ड' हो गया है या 'दधि' से 'दही' बनने मे 'ध' परिवर्तित होकर 'ह' हो गया है। ध्वनि-परिवर्तन को स्वरूप के आधार पर मुख्यत निम्नांकित नौ वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) लोप

लोप से आशय है जो ध्वनि शब्द मे पहले से हो, उसका लुप्त हो जाना। जैसे 'सप्त' से 'सात' बनने में 'प' का लोप हो गया है। लोप कई प्रकार के होते हैं १ स्वर-लोप आदि स्वर-लोप—अभ्यतर-भीतर, एकादश-ग्यारह। मध्य स्वर-लोप— उच्चारण मे 'लगभग' का 'लग्भग', 'कपड़ा' का 'कप्ड़ा' तथा 'गमला' का 'गम्ला' हो गया है। इन सभी में मध्य स्वर लोप है। अत्य स्वर-लोप—आप, तुम, हम, सब आदि उच्चारण मे आप्, तुम्, हम् सब् हो गये हैं, अर्थात् अन्तिम 'अ' इनमें से निकल गया है।

२ व्यजन-लोप आदि व्यजन-लोप—स्थाली-थाली, हास्पिटल-अस्पताल, स्कध-कन्धा। मध्य व्यजन लोप—सप्त-सात, कोकिल-कोयल। अत्य व्यजन लोप—Bomb, बम, Command-कमान।

(ख) आगम

'आगम' से आशय है किसी ऐसी ध्वनि का आ जाना जो पहले से शब्द मे न हो। उदाहरण के लिए 'सूय' से 'सूरज मे 'र' के बाद 'अ' आ गया है तो 'दजन' से 'दर्जन' मे 'र' आ गया है। आगम कई प्रकार का होता है। १ स्वरागम आदि स्वरागम—यूनानी लातोन-अफलातून, स्नान-अवधी-अस्नान। स्कूल, स्टेशन, स्टूल, स्प्रिंग को काफी लोग इस्कूल, इस्टेशन, इस्टूल, इस्प्रिग बोलते हैं। मध्य स्वरागम—सूर्य-सूरज, पूर्व-पूरब। अत्य स्वरागम—दवा-दवाई।

२ व्यजनागम आदि व्यजनागम—ओष्ठ-होठ, अस्थी-हड्डी, असलि-हसली (गले के पास की हड्डी)। मध्य व्यजनागम—शाप—श्राप, पण—प्रण, समुद्र—समुन्दर।

(ग) विपर्यय

विपर्यय से आशय है किसी शब्द मे दो ध्वनियों का एक-दूसरे के स्थान पर चले जाना। उदाहरण के लिए 'चिह्न' का 'चिन्ह' मे 'ह' और 'न' मे विपयय हो गया। विपर्यय कई प्रकार का होता है १ पाश्ववर्ती विपर्यय—पास-पास की ध्वनियो मे विपर्यय, जैसे चिह्न-चिन्ह, ब्रह्म-ब्रम्ह, ब्राह्मण-बाम्हन। २ दूरवर्ती विपर्यय - वाराणसी-बनारस, लखनऊ-नखलऊ। ३ आद्यशब्दांश विपयय—कभी-कभी दो शब्दो के आरम्भ के अशो मे विपर्यय हो जाता है, जैसे घोडागाडी का गोडा-घाडी। बोलने मे कुछ लोगो की ऐसी आदत-सी पड जाती है। ऑक्सफोर्ड के डॉ० डब्ल्यू ए० स्पूनर (१८४४-१९३०) से यह विपर्यय अधिकतर हो जाता था, अत उन्हीं के नाम पर इसे स्पूनरिज्म कहते हैं। स्पूनर साहब का एक उदाहरण लिया जा सकता है। एक बार उन्होने बिगडकर एक विद्यार्थी से कहा—you have tasted a whole worm। वे कहना चाहते थे—you have wasted a whole term हिन्दी मे उदाहरण के लिए 'कडी बिताब' (बडी किताब), 'चाल दावल' (दाल चावल) आदि लिये जा सकते हैं। किसी ने पूछा आपकी बडी (घडी) में क्या जबा (बजा) है? उत्तर था—चौ (नौ) बजकर ना (चा) लिस मिनट।

(घ) समीकरण

कभी-कभी किसी शब्द में दो पास-पास की असमान ध्वनियाँ समान हो जाती हैं। यह प्रवृत्ति भाषा परिवर्तन मे समीकरण कहलाती है। समीकरण दो प्रकार का होता है : १. पुरोगामी समीकरण—इसमें कोई ध्वनि आगे बढकर असमान व्यंजन को अपने समान बना लेती है। जैसे चक्र-चक्की, पत्र-पन्ना। २. पश्चगामी समीकरण—इसमें कोई ध्वनि पीछे जाकर असमान व्यंजन को अपने समान बना लेती है। जैसे धर्म-धम्म (पालि में), शर्करा-शक्कर।

(ङ) स्वत: अनुनासिकता

कभी-कभी किसी शब्द में किसी नासिक्य व्यंजन से अनुनासिकता का विकास होता है। जिसे सकारण अनुनासिकता की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे कम्पन काँपना ('म' से अनुनासिकता का विकास) या चन्द्र-चाँद ('न' से अनुनासिकता का विकास)। इसके विपरीत कभी-कभी बिना किसी नासिका व्यंजन के भी अनुनासिकता का विकास हो जाता है, जिसे स्वत: अनुनासिकता कहते हैं। उदाहरणार्थ : सर्प-साँप, श्वास-साँस, भ्रू-भौं।

(च) ह्रस्वीकरण

दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाना। जैसे आसाढ़-असाढ़, आभीर-अहीर, आगस्ट-अगस्त।

(छ) दीर्घीकरण

ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना। जैसे सप्त-सात, दुग्ध-दूध, अष्ट-आठ।

(ज) घोषीकरण

अघोष व्यंजन का घोष हो जाना। जैसे—शाक-साग, कंकण-कंगन, घोटक-घोड़ा।

(झ) महाप्राणीकरण

अल्प प्राण व्यंजन का महाप्राण हो जाना। जैसे शुष्क-सूखा, हस्त-हाथ, परशु-फरसा।

कारण : ध्वनि-परिवर्तन मुख्यत: निम्नांकित कारणों से होता है : १. **ध्वनियों का परिवेश**—कभी-कभी आस-पास की ध्वनियों के कारण कोई ध्वनि परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए नासिका व्यंजन के पास होने पर मौखिक स्वर अनुनासिक हो जाते है। इसीलिए 'हनुमान' का उच्चारण 'हनुमांन' तथा 'कान' का कान होता है। ऐसे ही यदि किसी अघोष व्यंजन के दोनों ओर घोष ध्वनि हो तो ऐसा कई बार देखा जाता है कि अघोष व्यंजन घोष हो जाता है। जैसे 'शाक' का 'साग' (क् के पहले 'आ' तथा बाद मे 'अ' के कारण या 'घोटक' का घोड़ा। २. **मुख-सुख या प्रयत्न-लाघव**—यदि कोई संयुक्त व्यंजन उच्चारण मे कठिन हो तो उच्चारण मे मुख के सुख के लिए या बोलने के प्रयत्न मे आसानी के लिए या तो उसका एक व्यंजन लुप्त कर देते है (know-नो, talk, टाक, psychology-साइकालजी, write-राइट) या क्रम बदल देते है (चिह्न-चिन्ह, ब्राह्मण-ब्राम्हण)। ३. **भ्रामक व्युत्पत्ति**—कभी-कभी जनता किसी अपरिचित शब्द को अपना परिचित शब्द मानकर बैठती है और उस नये शब्द का उच्चारण अपने परिचित शब्द के रूप मे करने लगती है। इसे अंग्रेजी मे Popular Etymology नाम दिया गया, उसी का अनुवाद भ्रामक या लौकिक व्युत्पत्ति है। आशय यह है कि लोग दोनो शब्दों को एक या व्युत्पत्तित: एक मानने की गलती कर बैठते है। उदाहरण के लिए 'क्रिसमस डे' का 'किसमिस डे', 'बाहलूगज' (शिमले की एक कालोनी जो बाहलू नामक अंग्रेज के नाम पर बनी थी) का 'बालूगंज' (अब यही नाम हो गया है), 'हीराकुद' का 'हीराकुड' (उड़ीसा का प्रसिद्ध बाँध), Sunset

point का सैंसठ-पैंसठ (माउंट आबू), 'प्लीट' (pleat) का 'प्लेट' (सिलाई में) आदि। ४ सादृश्य— कुछ शब्द किसी दूसरे के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। "पैंतिस" के सादृश्य पर 'सैंतिस' में अनुनासिकता आ गयी है। संस्कृत में 'द्वादश' के सादृश्य पर 'एकदश' भी एकादश' हो गया। मुझ (< मह्य) का उकार तुझ (< तुभ्य) के सादृश्य से है। ऐसे ही देहात से 'देहाती' के सादृश्य पर 'शहर' से 'शहराती' हो गया है। ५ लेखन—लेखन के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में गुप्त, मिश्र आदि लिखने में अन्त में a लिखने का प्रभाव यह पड़ा है कि लोग न केवल गुप्ता, मिश्रा, मिश्रा आदि कहने लगे है, अपितु हिन्दी में भी वही लिखने लगे है। आश्चर्य तो यह है कि इसी से प्रभावित होकर लोग 'बुद्ध' और 'अशोक' के स्थान पर बुद्धा (बुद्धा गार्डन) और 'अशोका' (अशोका होटल) का भी प्रयोग करते सुने जाते है।

स्वनप्रक्रिया परिवर्तन

जैसा कि हमने देखा, ध्वनि-परिवर्तन मे किसी ध्वनि मे परिवर्तन हो जाता है किन्तु स्वनप्रक्रियात्मक परिवर्तन मे भाषा की स्वनिम व्यवस्था परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत मे स, श, ष तीन अलग अलग स्वनिम थे। प्राकृतो मे आकर परिवर्तन हुआ। कुछ प्राकृतो (जैसे नीय) म तो ये तीनो रहे किन्तु एक तरफ मागधी मे केवल एक 'श' रहा ('विष' के लिए विश, 'दश' के लिए 'दश' तथा 'सार' के लिए 'शार'), तो दूसरी ओर शौरसेनी प्राकृत मे केवल 'स' रहा ('विष' के लिए 'विस', 'दश' के लिए 'दस' तथा 'सार' के लिए 'सार')। इस तरह मागधी मे भी कुल स्वनिमो मे दो की कमी हो गई तथा शौरसेनी मे भी। अर्थात् इन दोनो की स्वन-व्यवस्था म बदलाव आया। इसी तरह १९२० के आस-पास हिन्दी में बहुत सारे शब्द अपने लगभग मूलरूप म फारसी तथा अंग्रेजी से आये तो सुशिक्षित हिन्दी-भाषियो की हिन्दी की स्वनिम-व्यवस्था बदली क्योंकि छ नये स्वनिम क़ ख़ ग़ ज़ फ़ ऑ) उस मे आ गए। कहना न होगा इन छहो मे न्यूनतम विरोधी युग्म हिन्दी मे उपलब्ध है

ताक (देख) = ताक़ (दीवाल का आला)
खाना (भोजन) = ख़ाना (अलमारी या मेज का)
बाग (घोड़े की) = बाग़ (फलों की)
राज (राज्य) = राज़ (रहस्य)
फन (साँप का) = फ़न (हुनर)
काफी (पर्याप्त) = काफ़ी (एक पद)

इधर स्वतन्त्रता के बाद जब से हिन्दी वालो के लिए उर्दू अनिवार्य विषय नही रही, क़ का प्रयोग समाप्त सा हो गया तथा अब इन छ मे केवल ख़, ग़, ज़, फ़ ही स्वनिमिक हैं तथा इनमे भी लगता है कि आगे चलकर केवल ज़ तथा फ़ ही रह जाएँगे, क्योंकि ये फारसी तथा अंग्रेजी दोनो शब्दो मे भी है।

इस तरह स्वनप्रक्रियात्मक परिवर्तन मुख्यत दो रूपो म होता है (क) पुराने स्वनिम का लोप (जैसे ष, तथा स, श का) (ख) नये स्वनिम का आगम (जैसे क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ऑ का) यो यदि गहराई से देखें तो कुछ और प्रकार के परिवर्तन भी मिलते है। उदाहरण के लिए संस्कृत के स्वरमध्यग 'ड' हिन्दी मे आकर 'ड़' हो गये। घोटक = घोड़ा, घोटिका = घोड़ी, घटिका = घड़ी। इस तरह संस्कृत मे जहाँ 'ड' का मुख्य उपस्वन 'ड' ही था, वहाँ हिन्दी 'ड़' भी हो गया—

[ड़] स्वरो के मध्य मे तथा शब्दांत मे (घोड़ा, पहाड़)
[ड्] अन्यत्र (डाल, गड्डी, बुड्ढा)

अब यदि अंग्रेज़ी के सोडा, रोड, रेडियो जैसे शब्दों को हिन्दी का अग मान ले तो घोड़ा-सोडा, मोड़-रोड जैसे शब्द उपन्यूनतम विरोधी युग्म है, इस तरह 'ड' को हिन्दी का अलग स्वनिम मानने की स्थिति आ गई है।

शब्दसमूह-परिवर्तन

कोई बोली, भाषा या व्यक्ति जिन शब्दों का प्रयोग करते है, उन शब्दों के समूह को शब्दसमूह', 'शब्द-भंडार' कहते है। किसी भी भाषा को ले, उसका शब्दसमूह (vocabulary) सर्वदा एक नही रहता, इसमें परिवर्तन होते रहते है। उदाहरण के लिए हिन्दी के आदि काल का शब्द-भंडार ठीक वह नहीं था जो मध्यकाल मे था। ऐसे ही आज की हिन्दी का शब्द-भडार मध्यकालीन हिन्दी से काफी भिन्न है।

शब्दसमूह-परिवर्तन का स्वरूप

शब्द समूह-परिवर्तन के स्वरूप के सबध मे दो बाते उल्लेख्य है। कभी तो पुराने शब्दों के लोप के कारण परिवर्तन होता है, और कभी नये शब्दों के आगमन के कारण। आगे इन दोनों को अलग-अलग लिया जा रहा है।

प्राचीन शब्दों का लोप

भाषा समाज के साथ-साथ चलती है, इसलिए समाज में परिवर्तन के साथ-साथ भाषा मे भी परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए जब भी कोई रीति-रिवाज समाज से निकल जाता है तो स्वभावतः उससे सबद्ध शब्द भी भाषा से निकल जाते है। उदाहरण के लिए हमारे समाज में पहले यज्ञ होते थे तो यज्ञों से संबद्ध न्यूङ्ख, यज्वा, यायजूक, अहीन, सुत्या आदि, अनेक शब्द भाषा में चलते थे। अब जब यज्ञों की परम्परा समाप्त हो गई तो ये शब्द भी भाषाओं से निकल गये। ऐसे ही कुछ हिन्दी क्षेत्रों में विवाह के पहले मेट मंगए, मानरपूजा, नहछू-नहावन, इमलीघोटावन, गुरहत्थी लापरमरिछावन, गुरहत्थी आदि होते थे, तो ये शब्द भी चलते थे, अब ये रिवाज समाप्त हो गये तो इसके लिए प्रयुक्त ये शब्द भी भाषा से निकल गये है। इसी प्रकार जिन जेवरों, खानों, कपड़ों तथा अन्य वस्तुओं का प्रयोग समाज बंद कर देता है, उनके लिए शब्द भी भाषा मे निकल जाते है। यदि जायसी के पद्मावत को देखे तो उसमें ऐसे काफ़ी जेवरों तथा खानों के नाम है जो उस समय चलते थे, किंतु अब भाषा से निकल गये है। ऐसे ही कोई शब्द समाज द्वारा अश्लील मान लिया जाता है तो वह भी भाषा से निकल जाता है। इस तरह अनेकानेक कारणो से भाषा से पुराने शब्द निकल जाते है।

नये शब्दों का आगमन

जब भी समाज नई वस्तुओ का प्रयोग शुरू करता है तो उनके नाम या उनसे संबद्ध शब्द भाषा के आवर्श्यक अंग बन जाते है। आज की हिन्दी में गोबरगैस, ट्यूब वेल, पेट्रौल, डीजल, किरोसिन, फ्रिज, टेलिविजन, ट्राज़िस्टर, ब्रीफ़केस, आदि नए शब्द इसी कारण आए है। हमने पुराने पैमाने (सेर, तोला, इंच) छोड नए पैमाने (क्यूजेक, मीटर, लीटर, ग्राम) लिए तो नए शब्द आए। जब समाज का नई संकल्पनाओं से परिचय होता है तो भी नए शब्द भाषा मे प्रचलित हो जाते है। घुसपैठिया, दलबदलू, भाई-भतीजावाद जैसे शब्द इसी कारण आए है। कभी-कभी ऐसा होता है कि समाज को नए शब्द की आवश्यकता नहीं होती, उसकी भाषा में उस विशिष्ट अर्थ के द्योतक शब्द होते है किंतु अन्य भाषाओ के प्रभाव-स्वरूप नए शब्द आ जाते है। हिन्दी में फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी से ऐसे काफ़ी नए शब्द आए है। उदाहरण के लिए 'ज्वर' के रहते 'बुख़ार', 'नाड़ी' के रहते 'नब्ज', 'लेखनी के रहते 'कलम' और 'पेन', 'सहस्र' के रहते 'हजार', 'भवन' के रहते 'बिल्डिंग' आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि कोई शब्द ठीक न लगे तो उसे छोड़कर नया शब्द

अपना या बना लेते हैं। उदाहरण के लिए पहले हिन्दी में 'वाइसचासलर' के लिए 'उपकुलपति' तथा 'चासलर' के लिए 'कुलपति' शब्द बने तथा चल पड़े। बाद में लगा कि ये शब्द ठीक नहीं ह, अत इन्हें छोडकर नए शब्द 'कुलपति' तथा 'कुलाधिपति' चला लिए गए हैं तथा 'उपकुलपति' शब्द अब प्रयोग से निकल गया है। पारिभाषिक शब्दो मे ऐसा खूब हुआ है। उदाहरण के लिए भाषाविज्ञान मे फोनीम के लिए पहले 'ध्वनिग्राम' चलता था, अब स्वनिम' शब्द चल पडा है तथा 'ध्वनिग्राम' छूट गया है। ऐसे ही Intonation के लिए पहले 'सुरलहर' चलता था, अब यह भी गतप्रयोग है और उसका स्थान 'अनुतान' ने ले लिया है। ऐसे ही Aggression के लिए १९६० के आस-पास 'अग्रघर्षण' शब्द बना और चला भी, बाद मे लोगो को लगा कि यह शब्द कठिन है तथा बहुत प्रचलित होने की क्षमता इसमे नही है, इसीलिए अब इसे छोडकर इसके स्थान पर 'आक्रमण' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रसग मे यह भी विचारणीय है कि नए शब्द कहाँ से आते हैं। उल्लेख्य है कि कभी तो नए शब्द कही से भी ले लिए जाते हैं—जैसे हिन्दी ने कुछ शब्द सस्कृत से लिए हैं, कुछ अपनी बोलियो से, कुछ अन्य भारतीय भाषाओ से (जैसे भागडा, डोसा) तथा काफी सारे विदेशी भाषाओ से—और कभी बना लिए जाते है, यह बनाना उपसर्गों (जैसे हिन्दी प्रभाग, अनुभाग), प्रत्ययो (स्वनिम, रूपिम), दो या अधिक शब्दो (जैसे कलेक्टर के लिए ज़िलाधीश) आदि—सक्षेप (आसुका—आतरिक सुरक्षा कानून, सविद—सयुक्त विधायक दल), तथा आद्यत—सक्षेप (मोटल—मोटरहोटेल) आदि से होता है। इस तरह विभिन्न कारणो से किसी भाषा से एक ओर तो पुराने शब्द लुप्त होते रहते हैं और दूसरी ओर नए शब्द आ जाते या बनते रहते हैं, और इस तरह का शब्द-समूह बदलता रहता है।

रूप-परिवर्तन

भाषाओ मे रूपरचना मे भी परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि ध्वनि-परिवर्तन तथा शब्द समूह-परिवर्तन की तुलना मे यह कम होता है। उदाहरण के लिए १९५० तक 'मुझे', तथा 'मुझको', 'तुझे' तथा 'तुझको' जैसे रूप ही चलते थे, अब 'मेरे को', 'तेरे को' जैसे रूप भी काफी चलने लगे हैं, यद्यपि अभी ऐसे रूपो को मानक का दर्जा नही दिया गया है। ऐसे ही पहले 'गाय' के बहुवचन गायें' की तरह 'इन्द्रिय' से इन्द्रियें' रूप चलता था, अब इन्द्रियाँ चलने लगा है तथा 'इन्द्रियें' का प्रयोग समाप्त हो गया है।

स्वरूप की दृष्टि से रूप परिवर्तन मुख्यत निम्नाकित प्रकारो का होता है (१) रूप बनाने वाले पुराने रूपिम (सबधतत्व) के स्थान पर नए रूपिम का प्रयोग। जैसे सस्कृत—'म्' के स्थान पर हिन्दी मे 'को' (रामम्—राम को) या 'स्य' के स्थान पर 'का' (रामस्य—राम का) का प्रयोग। (२) पुराने मूल के स्थान पर नए मूल का प्रयोग। उदाहरण के लिए पहले 'मुझको' चलता था, अब नई पीढी मे 'मेरे को' सुनने म आता है। यहाँ 'मुझ' के स्थान पर 'मेरे' आ गया है। सबधद्योतक 'को' ज्यो का त्यो है। ऐसे ही पहले केवल 'कीजिए' चलता था अब 'करिए' भी चलता है। इसमे 'इए' प्रत्यय तो ज्यो का त्यो है, 'कीज्' के स्थान पर कर्' आ गया है। (३) मूल तथा प्रत्यय दोनो मे परिवर्तन। उदाहरण के लिए अग्रेजी मे go का भूतकाल का रूप पहले goed तथा wend (जाना) का went। अब go का goed के स्थान पर भूतकाल went मान लिया गया है, इस तरह रूपपरिवर्तन हो गया है। (४) अतिरिक्त रूपिम का प्रयोग। उदाहरण के लिए 'दर अमल' का अर्थ है 'असल मे', अर्थात् 'दर' मे अथ का वाचक है। जो लोग इस बात से परिचित नही हैं वे 'दर असल मे' का प्रयोग करते हैं। इस तरह 'दर' के ही अर्थ मे 'मे' एक अतिरिक्त रूपिम आ गया है।

कारण (१) ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण जब विभक्ति घिसकर लुप्त हो जाती है

तो अर्थ की स्पष्टता के लिए नई विभक्ति या परसर्ग जोड़े जाते हैं। इस तरह रूपिम में परिवर्तन हो जाता है। 'रामस्य' के स्थान पर 'राम का' ऐसे ही आया है। (२) भाषा में रूपावली में जितनी कमी हो, भाषा उतनी ही सरलता की ओर जाती थी। पहले 'मैं', 'मुझ', मेर्' ये तीन रूप उत्तम पुरुष एकवचन में थे। अब 'मुझ' का लोप करके केवल दो से काम चलाया जाने लगा है: मैं मेर् (जैसे मेरे को 'से' पर में) इस तरह सरलता की प्रवृत्ति ऐसे परिवर्तनों के पीछे काम करती है। (३) अपवादत. कभी-कभी जब किसी एक रूप के मूल का लोप हो जाता है तथा दूसरे समानार्थी मूल के किसी रूप का लोप हो जाता है और भाषा इन दोनों असंबद्ध को संबद्ध मान लेती है तो भी रूप-परिवर्तन दृष्टिगत होती है। wend तथा goed के अंग्रेजी से लुप्त होने पर ही go का भूतकालिक रूप went मान लिया गया जबकि मूलतः इसका भूतकालिक रूप goed था। (४) कभी-कभी जब जनता किसी रूपिम का अर्थ नहीं जानती तथा उस अर्थ में नया रूपिम् जोड़कर प्रयोग करना शुरू कर देती है तो भी रूपपरिवर्तन हो जाता है। 'दर असल' के स्थान पर 'दर असल में' या 'दर हकीकत' के स्थान पर 'दर हकीकत में' ऐसे ही उदाहरण हैं।

रूपप्रक्रिया-परिवर्तन

हिंदी में 'स्वनप्रक्रिया' का प्रयोग किसी भाषा की स्वनिमों तथा उपस्वनों की व्यवस्था के लिए अंग्रेजी 'फोनालजी' के अर्थ मे चलता है। उसी आधार पर यहाँ रूपिमों तथा उपरूपों की व्यवस्था के लिए 'रूप प्रक्रिया' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। संस्कृत से हिंदी के विकास पर दृष्टि डालें तो रूपप्रक्रिया-परिवर्तन का एक रोचक उदाहरण मिलता है। संस्कृत में जाना' अर्थ में 'या' और 'गम्' दो धातुएँ थीं। हिंदी के गया, गई, गए रूप संस्कृत 'गम्' के रूप से ही विकसित हैं तथा जाता आदि 'या' के रूप से। अब हिंदी में एक ही धातु 'जा' से ये सभी रूप (गया, जाया, जाओ, आदि बने माने जाते हैं। इस तरह मूल व्यवस्था बदल गई है। ऐसे ही अंग्रेजी में go का भूतकाल का रूप went माना जाता है, जब कि वास्तविकता यह है कि यह अंग्रेजी की एक पुरानी धातु wend का भूतकाल है। यह wend धातु अब प्रयोग में ही है। ऐसे ही पहले हिंदी उत्तम पुरुष एकवचन के रूप में, मुझ, मेर् (मैं, मैंने, मुझको, मुझसे, मेरा आदि) इन तीन पर आधारित थे, अब नई पीढ़ी में मेर् (मेरे को, मेरे से) से ही सभी रूप बनाने लगी है तथा मुझ' तथा उसके रूप हिंदी सर्वनाम की रूप व्यवस्था से निकलते जा रहे है।

स्पष्ट ही ऐसे परिवर्तनों का कारण कुछ (शब्द या धातु) का लोप है। एक मे कल्पित धातु 'ग' जिससे मूलत: 'गया' बना है) का लोप हो गया है तो दूसरे मे wend का तथा तीसरे मे 'मुझ' का। ऐसे ही 'तुझ' के लोप से तेरे को, तेरे से जैसे रूपिमों का विकास हो गया है।

वाक्यरचना-परिवर्तन

जैसे भाषा मे ध्वनि शब्दसमूह तथा रूपरचना आदि में परिवर्तन होता है, उसी तरह उसकी वाक्य-रचना भी परिवर्तित होती रहती है। उदाहरण के लिए हम जानते है कि हिंदी भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश संस्कृत से विकसित हुई है, किंतु, हिंदी वाक्य-रचना से कई बातों मे भिन्न है, इस तरह धीरे-धीरे भाषा की वाक्य-रचना परिवर्तित हुई है। जैसे हिंदी मे 'और' का प्रयोग दो संज्ञाओं आदि के बीच में (राम और लक्ष्मण) होता है, परन्तु संस्कृत में ऐसा नहीं है। उसमें या तो 'च' दूसरे के अंत मे (रामः लक्ष्मणश्च) आता है या दोनों के बीच मे भी और अंत में भी (रामश्च)। इस तरह 'और' युक्त वाक्यो की रचना मे बदलाव आया है। स्वरूप की दृष्टि से किसी भाषा की वाक्य-रचना मे परिवर्तन कई प्रकार

का होता है, जिनमें से कुछ मुख्य निम्नांकित है —'(१) *अन्वय में परिवर्तन*—कभी-कभी ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ भाषा की अन्वय-व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी का विकास प्राकृतो के माध्यम से सस्कृत से हुआ है किंतु सस्कृत भाषा की अन्वय-व्यवस्था मे हिंदी की अन्वय-व्यवस्था बहुत भिन्न है। जैसे सस्कृत मे सभी विशेषणो और उनके विशेष्यो में व्याकरणिक एकरूपता होती है। (सुन्दर बालक, सुदरी बालिका, सुदर पुष्प), किन्तु हिंदी मे ऐसा नही (सुदर लडका, सुदर लडकी, सुदर फूल) होता। ऐसे ही कर्ता और क्रिया में हिंदी मे लिंग की दृष्टि से भी व्याकरणिक एकरूपता होती है (राम जाता है, सीता जाती है) किन्तु सस्कृत मे दोनो के लिए एक ही क्रिया और (रामो गच्छति, सीता गच्छति) आती है। हिंदी मे इस सदी के मध्य तक स्त्रियाँ और लडकियाँ कहती रही हैं 'हम लोग जा रही हैं', अब कहने लगी हैं 'हम लोग जा रहे हैं। मध्यकाल से हिंदी मे एकवचन के स्थान पर आदर औपचारिकता के लिए बहुवचन का प्रयोग भी अन्वय-परिवर्तन का अच्छा उदाहरण हैं। यह परिवर्तन सज्ञा, सर्वनाम, विशेष क्रिया और क्रियाविशेषण सभी को प्रभावित करता है –

१ (क) किसान का छोटा बेटा दौडता आया।
(ख) मुख्यमत्री के छोटे बेटे दौडते आये।
२ (क) उसे बुलाओ।
(ख) उन्हे बुलाओ।

(२) **पदक्रम मे परिवर्तन**—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समय के अतराल से वाक्य मे पदो का क्रम बदल जाता है। हिन्दी मे कर्ता पहले आता है, कर्म उसके बाद तथा क्रिया अन्त मे, किन्तु सस्कृत मे ऐसा कुछ निश्चित नही था। इस प्रकार सस्कृत भाषा की पदक्रम-व्यवस्था हिन्दी तक आते-आते बदल गई है। वस्तुत सामान्यत सयोगात्मक भाषाओ मे पदक्रम मे काफी छूट रहती है किन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे भाषा वियोगात्मक होती जाती है, उसके वाक्यो मे पदक्रम निश्चित-सा होता जाता है। अग्रेजी मे भी यही स्थिति है यद्यपि जर्मनिक जिससे अग्रेजी का विकास हुआ है, बहुत निश्चित पदक्रम वाली भाषा नही थी।

(३) **पुरुष मे परिवर्तन**—वाक्य-रचना मे कभी-कभी पुरुष की दृष्टि से भी परिवर्तन होना देखा गया है। उदाहरण के लिए हिन्दी मे प्रयोग चलता रहा है—

राम ने कहा, मैं जाऊँगा। अग्रेजी के प्रभाव से अब कुछ लोग प्रयोग करने लगे हैं— राम ने कहा कि वह जाएगा। यह 'मैं' का 'वह' तथा 'जाऊँगा' का 'जाएगा' में पुरुष-परिवर्तन स्पष्ट है।

लोप—सुविधा के लिए धीरे-धीरे प्राय सभी भाषाओ के वाक्यो से ऐसे घटक लुप्त हो जाते हैं जिनके बिना अर्थ की दृष्टि से वाक्य मे अस्पष्टता आने का भय नही रहता। नीचे 'क' पुरानी हिन्दी के वाक्य हैं तथा 'ख' आधुनिक हिन्दी के—

१ (क) राम नही जाता **है**।
(ख) राम नहीं जाता।
२ (क) राम नही जा रहा **है**।
(ख) राम नही जा रहा।
३ (क) आँखो **से** देखी घटना।
(ख) आँखों देखी घटना।
४ (क) कानो **से** सुनी बात।
(ख) कानो सुनी बात।

कहना न होगा कि मोटे टाइप के 'है' तथा से अब लुप्त हो गये हैं।

आगम—कभी-कभी वाक्य में कुछ ऐसे शब्दों का आगम हो जाता है जो पहले न अपेक्षित थे न प्रयुक्त होते थे। उदाहरण के लिए पहले प्रयोग चलता था—राम ने कहा—मैं जाऊँगा।

फ़ारसी में ऐसी रचना मे 'कि' का प्रयोग होता है, उसके प्रभाव से अब कहते है—राम ने कहा कि मै जाऊँगा, राम ने कहा कि वह जाएगा।

यहाँ 'कि' का आगम हो गया है।

ऐसे ही आइए, आइएगा जैसे रूपों में आदर सूचकता है, किंतु अब अंग्रेजी Please के प्रभाव से 'कृपया', 'कृपा करके', 'मेहरबानी करके' जैसे पद या पदबंध जोड़े जाने लगे है—'कृपया आइए', 'मेहरबानी करके आइएगा'।

कारण

वाक्य-रचना में परिबर्तन के मुख्य कारण निम्नांकित तीन है—(१) **ध्वनि-परिवर्तन**—ध्वनि-परिबर्तन के कारण रूपों से संबध तत्त्वों का प्राय: लोप होता रहता है; जिसके कारण रूपों मे अस्पष्टता आ जाती है तथा उसे बचाने के लिए भाषा-भाषी तरह-तरह के तरीके अपनाते हैं जिसके कारण रूप-रचना तथा वाक्य-रचना दोनों में परिवर्तन होता है। हिंदी या अंग्रेजी आदि बियोगात्मक भाषाओं मे वाक्य मे पदों के क्रम की निश्चितता इसी का परिणाम है।

(२) **अन्य भाषाओ का प्रभाव**—इसके कारण भी किसी भाषा की वाक्य-रचना मे परिबर्तन आता है। पीछे हम देख चुके है कि हिंदी पर मध्यकाल मे फारसी तथा आधुनिक काल में अंग्रेजी का प्रभाव पडा है तथा "कि" और अप्रत्यक्ष कथन के प्रयोग की दृष्टि से हिंदी की वाक्य-रचना प्रभावित हुई है।

(३) **उच्चारण-सुविधा**—उच्चारण की सुविधा परिवर्तन की जननी तो होती ही है, यह वाक्य-रचना में भी परिवर्तन की जननी होती है। वस्तुत: कम-से-कम प्रयास से बोलना हमारे लिए स्वाभाविक ही है। यदि इसके कारण एक ओर 'चिन्ह' का उच्चारण 'चिह्न' हो गया तो दूसरी ओर 'संयुक्त विधायक दल' मे 'संविद' या 'आंतरिक सुरक्षा कानून' का 'आसुका' भी इसी कारण हुआ है। शब्द जितना छोटा होता है, उसके उच्चारण में उतनी ही सुविधा होती है। लिखने मे 'कृपया पृष्ठ उलटिए' का कृ० पृ० उ० भी इसीलिए लिखा जाता है। इसी प्रकार वाक्य जितना छोटा होता है, उसका उच्चारण उतना ही सुविधाजनक होता है। इसीलिए हम भरसक छोटे-से-छोटा वाक्य प्रयुक्त करना चाहते है। बातचीत मे प्राय: इसी उद्देश्य से छोटे वाक्यो का प्रयोग चला होगा। यदि पुराना रूप रहा होगा—

राम—तुम्हरा क्या नाम है ?

मोहन—मेरा नाम मोहन है। तुम्हारा क्या नाम है ?
राम—मेरा नाम राम है। तुम कहां के रहने वाले हो ?
मोहन—मैं हरियाणा का रहने वाला हूँ। और तुम कहाँ के रहने वाले हो ?
राम—मै उत्तर प्रदेश का हूँ।

तो नया रूप है—

राम—तुम्हारा नाम ?
मोहन—मोहन, और तुम्हारा ?
राम—राम। तुम कहाँ के हो ?

मोहन—हरियाणा का। और तुम?
राम—उत्तर प्रदेश का।

कहना न होगा कि ऊपर के रूप मे रेखाकित अश नए रूप मे छोड दिए गए हैं। ऊपर स्वरूप के प्रसग मे लोप के अन्य उदाहरण भी इसी प्रकार के हैं।

अर्थ परिवर्तन

अर्थ भाषा का प्रयोग अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। अर्थ ध्वनि, स्वनिम तथा अक्षर मे ऊपर की सभी भाषिक इकाइयो (जैसे शब्द, रूप, पदबध तथा वाक्य) का होता है। अर्थ की परिभाषा देना काफी कठिन है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड ने अर्थ के बारे मे कहा है—We have defined the meaning of a linguistic form as the situation in which the speakers utter it and the response which it calls forth in the hearer (Languıge, पृ० १३९) वस्तुत अर्थ की कामचलाऊ परिभाषा कुछ इस प्रकार की जा सकती है—'किसी भी भाषिक इकाई को सुन या पढकर उस भाषा के जानकार को जो मानसिक प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है।'

किसी भी भाषिक इकाई का अर्थ हमेशा एक नहीं रहता। उदाहरण के लिए 'प्रवीण' का मूल अर्थ था 'वीणा बजाने मे चतुर' किंतु अब इसका अर्थ मात्र 'चतुर' है, तथा वीणा से इसका कोई भी सम्बन्ध नही रह गया है। ऐसे ही 'आकाशवाणी' का मूल अर्थ 'देववाणी' या 'आकाश से होने वाली वाणी' है, किन्तु अब इसका प्रयोग आल इण्डिया रेडियो के लिए होता है।

अर्थ परिवर्तन का स्वरूप—स्वरूप की दृष्टि से अर्थ-परिवर्तन तीन प्रकार का होता है (१) **अर्थ-सकोच**—जब किसी भाषिक इकाई का अर्थ पहले की तुलना मे सकुचित हो जाए तो उसे अर्थ-सकोच कहते हैं। उदाहरण के लिए 'मृग' का मूल अर्थ 'पशु' है। इसीलिए 'पशुओ के राजा' को 'मृगराज' तथा 'पशुओ के शिकार' को 'मृगया' कहते हैं। अब 'मृग' का अर्थ सकुचित होकर मात्र 'हिरन' रह गया है, इस तरह इस शब्द के अर्थ मे 'सकोचन' हो गया है। ऐसे ही जलज मूलत जल मे जन्मने वाली किसी भी चीज का वाचक रहा होगा, जैसे पकज पक मे जन्मने वाली हर चीज थी, किन्तु बाद मे अर्थ-सकोच हुआ और ये दोनो शब्द केवल 'कमल' के वाचक रह गये। विद्यार्थी मूलत वे सभी लोग हैं जो 'विद्या' के 'अर्थी' हैं चाहे वे स्कूल मे पढते हो या न पढते हो, या सत्तर वर्ष के बुड्ढे हो। अब यह शब्द अर्थ-सकोच के कारण छात्र का समानार्थी रह गया है। धान्य और यव मूलत अन्न मात्र के लिए प्रयुक्त होते थे। 'धन-धान्य' से पूर्ण जैसे प्रयोगो मे 'धान्य' का वही अर्थ है। आगे चलकर ये दोनो शब्द अर्थ-सकोच के कारण 'धान' तथा 'जौ' के वाचक हो गये। रदन (मूल अर्थ 'कोई भी जो फाडे', बाद मे दाँत), मदिर, (मूलत कोई भी भवन, बाद मे देव-भवन), सब्जी (मूलत 'हरियाली' अथवा कोई भी हरी चीज, अब तरकारी), सध्या (मूलत कोई भी सधिकाल, सध्या-गायत्री मे वह अर्थ सुरक्षित है, अब केवल शाम), मीट (यह अग्रेजी शब्द मूलत 'खाद्य' का द्योतक था, 'मिठाई' को 'स्वीटमीट' इसीलिए कहते हैं, अब यह केवल एक खाद्य 'गोश्त' का वाचक है), भार्या (मूलत जो भरण-पोषण करने योग्य हो, बाद मे केवल स्त्री), वेदना (मूलत 'सुखद वेदना' तथा 'दुखद वेदना', अब केवल दुखद वेदना), मुर्ग (फारसी में मूलत पक्षी, शुतुरमुर्ग, शाहमुर्ग मे यही अर्थ है, बाद मे केवल एक पक्षी), पिल्ला (मूलत द्रविड भाषाओ मे 'बच्चा'। तेलुगु मे आज किसी भी बच्चे—मनुष्य, जानवर, पक्षी को पिल्ला कहते हैं, जैसे कुक्क पिल्ल—'कुत्ते का पिल्ला', हिन्दी मे पिल्ला—कुत्ते का बच्चा) आदि अन्य उदाहरण हो सकते हैं। (२) **अर्थ-विस्तार**—अर्थ-विस्तार अर्थ-सकोच का उलटा है। जब किसी भाषिक इकाई का अर्थ पहले की तुलना मे विस्तृत हो जाय तो उसे अर्थ-विस्तार

कहते है। उदाहरण के लिए, संस्कृत का एक शब्द है तेल जिसका मूल अर्थ है 'तिल का रस'। अर्थात् संस्कृत में मूलतः 'तिल के तेल' को ही 'तेल' कहते थे। यही इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ था। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं का तेल शब्द इसी तेल से विकसित है, किन्तु इसका अर्थ विस्तृत हो गया है। तेल का मूल अर्थ था 'तिल का तेल', किन्तु तेल का प्रयोग अब सभी चीजों के तेल के लिए होता है : तिल, सरसों, अलसी, गरी अथवा गोला, मूँगफली, बिनोला आदि और यही क्यो ? मछली का तेल, साँप का तेल, मिट्टी का तेल। और तो और, यदि किसी को दोपहर की चिलचिलाती धूप मे कही किसी काम से भेज दे तो यह लौट कर पसीने से लथपथ शिकायत करेगा—साहब, आपने तो मेरा तेल निकाल लिया। तो हमने देखा कि तेल के अर्थ का विस्तार हो गया है। कहाँ तो वह केवल तिल के तेल का अर्थ देता था, और कहाँ सभी चीजो के तेल का अर्थ देने लगा। विशेष से सामान्य हो गया। ऐसे ही 'सब्ज' का अर्थ है 'हरा'। पहले पालक, चौलाई, भिंडी जैसी हरी तरकारियों को उनके रंग के आधार पर 'सब्जी' कहते थे। अब 'सब्जी' शब्द के अर्थ में विस्तार हो गया है और सभी रंगो की सब्जियाँ, 'सब्जी' कहलाने लगी है . टमाटर (लाल), गाजर (लाल, पीली काली), प्याज (लाल, सफेद), बैंगन (नीला), सीताफल (पीला), शलजम (सफेद, लाल), मूली (सफेद, लाल)। महाराज (पहले केवल महाराज अब खाना बनाने वाला ब्राह्मण), पंडित (पहले विद्वान, इसीलिए पाडित्य-विद्वता, अब विद्वान् के साथ-साथ ब्राह्मण मात्र), अभ्यास (सं० मे 'अभ्यास' का मूल अर्थ है 'बार-बार बाण फेकना' हिन्दी में अब केवल बाण फेकने का नहीं, बल्कि सभी कार्यों का अभ्यास किया जाता है, और जा सकता है), गवेषणा (मूल अर्थ 'गो' की 'एषणा' अर्थात् 'गाय' की 'इच्छा' अथवा 'गाय की खोज' है, अब किसी भी प्रकार की खोज 'गवेषणा' है), प्रवीण (मूलतः वीणा बजाने में पटु; अब किसी भी कार्य मे पटु), कुशल (मूल अर्थ लाने या उखाड़ने मे चतुर—कुशान् लाति, अब किसी भी काम मे चतुर अथवा पटु) आदि शब्द भी अर्थ-विस्तार के अच्छे उदाहरण है। (३) **अर्थादेश**—जब किसी शब्द का अर्थ कुछ-से-कुछ हो जाय तो उसे अर्थादेश कहते है। जैसे 'आकाशवाणी' का अर्थ 'देववाणी' से 'आल इण्डिया रेडियो' हो गया है। यह अर्थादेश है। ऐसे ही जंघा (मूलत. घुटने के नीचे का भाग, अब घुटने के ऊपर का भाग), दुहिता (मूल अर्थ 'दूध दुहने वाली' बाद मे पुत्री—चाहे वह दूध दुहे अथवा नही), तटस्थ ('तट पर स्थित', अब किसी का भी पक्ष न लेने वाला), तिलांजलि देना (मूलतः मृत्यु के बाद हाथ मे 'तिल और पानी' लेकर मृतक के नाम पर देना, अब 'छोड़ देना') आदि भी अर्थादेश के उदाहरण है।

कारण

अर्थ-परिवर्तन के मुख्य कारण है : (१) **बल का अपसरण**—किसी शब्द के अर्थ के किसी एक पक्ष पर यदि बल पड़े तो धीरे-धीरे उस अर्थ की दिशा मे ही अर्थ विकसित होता चला जाता है और अर्थ का शेषांश छूट जाता है। उदाहरण के लिए 'गोस्वामी' का मूल अर्थ है 'गायों का स्वामी'। जिसके पास बहुत सी गाये होंगी वह धनी होगा, अतः माननीय होगा तथा गायों के साथ धर्म-भावना भी जुड़ी है, अतः वह धार्मिक भी माना जायगा। आगे चल कर 'गोस्वामी तुलसीदास' जैसे प्रयोगों मे 'गोस्वामी' का यही अर्थ—माननीय और धर्मात्मा—हो गया। 'गुस्सा' का घृणा अर्थ भी इसी प्रकार विकसित हुआ है। इसका सम्बन्ध मूलतः 'गुप्' धातु से है जिसका अर्थ है 'रक्षा करना'। रक्षा करने के लिए कभी-कभी छिपाना भी पड सकता है तथा घृणित कार्य को प्रायः अवश्य छिपाया जाता है, इस तरह आगे चलकर यह 'घृणा' हो गया। ऐसे ही 'गुप्त' का मूल अर्थ है, 'सुरक्षित'। रक्षित करने के लिए छिपाना भी पडता है, अतः 'गुप्त' का अर्थ हो गया 'छिपा'। (२) **वातावरण में परिवर्तन**—भौगोलिक, सामाजिक या धार्मिक वातावरण में परिवर्तन से भी अर्थ परिवर्तन हो जाता है।

ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में 'उष्ट्र' का अर्थ है जंगली भैंसा। बाद में आर्य ऐसे भौगोलिक प्रदेश में आ गये जहाँ वह जानवर नहीं था रेगिस्तान था, अतः 'ऊँट' थे। आर्यों के पास 'ऊँट' के लिए कोई शब्द नहीं था, अतः वे 'उष्ट्र' का प्रयोग उसी के लिए करने लगे। ऐसे ही 'कार्न' का मूल अर्थ गल्ला है। जब अंग्रेज अमेरिका गये तो वहाँ का मुख्य गल्ला 'मक्का' था, अतः वहाँ इसका अर्थ संकुचित होकर 'मक्का' हो गया। ऐसे ही स्काटलैंड में 'बाजरा' हो गया। 'यजमान' मूलतः यज्ञ करवानेवाले को कहते थे जो ब्राह्मणों की सहायता से यज्ञ करवाते थे। बाद में यज्ञ समाप्त हो गये तो उस व्यक्ति को यजमान कहने लगे जो ब्राह्मण से कोई भी पूजा-पाठ आदि कराये और उसे पैसे दे। (३) नम्रता—नम्रता के कारण भी शब्दों का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। लोग अपने आलीशान भवनों का नाम 'कुटी', 'कुटीर' आदि जब रखते हैं तो वहाँ 'कुटी' या 'कुटीर' का अर्थ झोपड़ी न होकर 'निवास' होता है। लोग विनम्रतावश अपने भवन को 'कुटी' या 'कुटीर' या अंग्रेजी में 'कॉटेज' कहते हैं। 'आपका दौलतखाना कहाँ है?' में दौलतखाना तथा 'मेरा गरीबखाना वहाँ है' जैसे प्रयोगों में 'गरीबखाना' का अर्थ इसी प्रकार बदल गया है। ऐसे ही 'कैसे कष्ट किया?' या 'कैसे कृपा की?' = कैसे आये? या 'कैसे याद किया' या कैसे 'स्मरण किया = किसलिए बुलाया। (४) आधारसामग्री का उससे बनी वस्तु के लिए प्रयोग—शीशे से दर्पण बनने लगे तो 'शीशा' का अर्थ दर्पण हो गया तथा पहले-पहले गिलास 'ग्लास' (शीशे) के बनाए गये, अतः 'गिलास' का अर्थ बर्तन विशेष हो गया। ऐसे ही पहले कलम पंख से बनते थे जिसे लैटिन में penna कहते थे, अतः पैना का अर्थ कलम हो गया, बाद में यही 'पैना' 'पेन' हो गया। तो 'पेन' का मूल अर्थ है 'पंख' तथा परिवर्तित अर्थ है 'कलम'। (५) सुश्राव्यता—जो बात सुनने में बुरी या अश्लील या अशुभ हो उसके लिए अच्छे शब्द का प्रयोग करते हैं या उसे घुमा-फिराकर कहते हैं, अतः उस शब्द का अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है। जैसे 'मरना' कहना अच्छा नहीं लगता, अतः 'स्वर्गवास होना'। अंग्रेजी में मरने के लिए to give up the ghost भी इसी रूप में प्रयुक्त होने लगा है। बाथरूम का अर्थ पाखानाघर या पेशाबघर भी इसी प्रकार हुआ है। ऐसे ही 'नाक सूँघना', 'पाँव भारी होना', to be in family way आदि के अर्थ कुछ से कुछ हो गये हैं। 'लाश' को 'मिट्टी', 'अंधा' को 'सूरदास' या 'प्रज्ञाचक्षु', 'दुकान बन्द करना' को 'दुकान बढ़ाना' या 'चिराग बुझाना' को 'चिराग बढ़ाना' भी इसीलिए कहते हैं, तथा इसी प्रकार इनके अर्थ कुछ-से-कुछ हो गए हैं। (६) संक्षेपण—प्रायः सुविधा के लिए दो शब्दों में एक को निकाल कर संक्षेप कर लेते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि दोनों शब्दों का अर्थ हो जाता है। जैसे 'रलवे स्टेशन' के लिए 'स्टेशन', 'नेकटाई' के लिए 'टाई', 'प्रिंसिपल टीचर' के लिए 'प्रिंसिपल' तथा 'बाइसाइकिल' का 'साइकिल' आदि। (७) पुनरावृत्ति—इससे भी अर्थ परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए 'फूलों का गुलदस्ता' में 'फूल' और 'गुल' में एक ही अर्थ की आवृत्ति है, इसीलिए 'गुलदस्ता' का अर्थ इस प्रयोग में 'फूलों का दस्ता' न होकर मात्र 'दस्ता' या समूह है। यों मूलतः इसका सम्बन्ध हाथवाची 'दस्त' से है, अर्थात् जिसे हाथ में पकड़ सकें। 'सज्जन व्यक्ति', 'मलयगिरि' (मूलतः 'मलय' का अर्थ पहाड़ है), 'विन्ध्याचल पर्वत' भी ऐसे ही प्रयोग हैं। (८) एक वस्तु के नाम का वर्ग के लिए प्रयोग—इसमें भी अर्थ बदल जाता है। उदाहरण के लिए 'सब्जी' का मूल अर्थ है 'जो हरा हो'। प्रारम्भ में इसका प्रयोग 'पालक' आदि हरी सब्जियों के लिए होता था। बाद में 'सब्जी' भूरी (आलू) सफेद (मूली, सफेद बैंगन), बैंगनी (बैंगन), पीली (काशीफल), तथा लाल (टमाटर) आदि सभी को कहने लगे, इस तरह 'सब्जी' शब्द एक पूरे वर्ग का अर्थ देने लगा तथा उसका 'हरियाली' अर्थ लुप्तप्राय हो गया। 'स्याही' भी ऐसा ही शब्द है। मूलतः यह शब्द 'स्याह' (काला) से बना है। पहले स्याही काली स्याही होती थी, अतः 'स्याही' कहते थे। अब तो हरी, लाल, नीली

आदि कई रंगों की स्याहियाँ होती हैं। (९) **लाक्षणिक प्रयोग**—लाक्षणिक प्रयोग मे शब्द के मूल से अतिरिक्त अर्थों का विकास हो जाता है। जैसे 'मोहन गधा है' में 'गधा' का अर्थ 'मूर्ख' ऐसा ही है। 'गीदड़' का 'कायर', 'शेर' का 'वीर' तथा 'सूअर' का 'गदा' जैसे अर्थ भी इसी श्रेणी के है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ऐसे प्रयोग लक्षणलक्षणा (अहत्स्वार्थी) माने जा सकते है। (१०) **विचलित प्रयोग**—शैली विज्ञान मे सामान्य से हटकर प्रयोग 'विचलन' कहलाते है। इनसे भी प्रायः शब्द के अर्थ में विस्तार हो जाता है। उदाहरण के लिए छोटा दिल, छोटी बात, छोटा आदमी, बडा दिल, बडी बात, बड़ा आदमी, मोटी-मोटी बात, मोटी अक्ल, पतली हालत, सीधा आदमी, सीधी बात, टेढ़ी खोपड़ी, टेढ़ा आदमी आदि के विशेषण ऐसे ही है। यह उल्लेख्य है कि ऐसे प्रयोग परम्परागत लक्षणा के किसी भेद में नहीं आते।

प्रवृत्तियाँ

भाषा-परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ यो तो प्रत्येक भाषा में अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए मध्यकाल मे फारसी से काफी शब्द हिन्दी में आये तथा आधुनिक काल में अंग्रेजी से भी आये और इन सबका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के स्वनिमों में छः की वृद्धि हो गई: क, ख़, ग, ज, फ, ऑ। किन्तु इस प्रकार शब्द भारत की अन्य भाषाओं में भी आये है यद्यपि किसी मे भी यह छः नये स्वनिम नही बढे है। यो प्रत्येक भाषा के इस तरह के परिवर्तन की विशिष्ट प्रवृत्तियों के बावजूद कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी होती है, जिन्हे भाषा-परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्तियाँ कहा जा सकता है। यहाँ उनमे कुछ प्रमुख को लिया जा रहा है:—

१. **सरलीकरण**—प्रायः भाषा परिवर्तन के प्रवाह मे पड़कर कई दृष्टियों से सरल होती जाती है। उदाहरण के लिए उच्चारण की दृष्टि से 'चन्द्र' का चान्द, कम्पन का काँपना, दुग्ध का दूध, क्नो (know) का नो (उच्चारण मे), प्साइकालजी (psychology) का साइकालजी (उच्चारण) इसी कहानी को दुहरा रहे है। इन सभी मे परिवर्तन के कारण संयुक्त व्यजन के स्थान पर मूल व्यंजन शेष रह गये है जिनसे उच्चारण मे आसानी हो गई। ऐसे ही कभी-कभी विपर्यय मे भी उच्चारण सरल हो जाता है: चिन्ह का चिह्न, ब्राह्मण का 'ब्राम्हण'। बड़े शब्द का छोटा रह जाना (नेकटाई-टाई, बाइसाइकिल-साइकिल) या बड़े वाक्य की तुलना में छोटे के प्रयोग (राम नहीं जाता है—राम नहीं जाता) में भी सरलता की ही प्रवृत्ति दीखती हे।

२. **वियोगात्मकता**—संयोगात्मक भाषाएँ धीरे-धीरे परिवर्तन के कारण वियोगात्मक होती जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत 'रामस्य' के स्थान पर हिन्दी 'राम का', 'पर्वते' के स्थान पर 'पर्वत पर', या 'रामः गच्छति' के स्थान पर 'राम जाता है', के प्रयोग में यही प्रवृत्ति दीखती है।

पुरानी अनेक भाषाओं जैसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन मे द्विवचन भी थे, किन्तु उनके स्थान पर उन्ही से विकसित हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में द्विवचन के संयोगात्मक रूप अब नहीं रहे तथा उनके स्थान पर वियोगात्मक रूपों का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए संस्कृत 'बालकौ' के स्थान पर हिन्दी मे दो 'बालक या 'घोटकौ' के स्थान पर 'दो घोड़े'। इस तरह वियोगात्मकता भी उल्लेख्य प्रवृत्ति है।

३. **पृथकीकरण**—परिवर्तन से भाषा के पृथक्-पृथक् रूप विकसित होते जाते है। उदाहरण के लिए परिवर्तन से ही संस्कृत मे धीरे-धीरे पाँच-छ प्राकृते विकसित हुई तथा उनसे फिर धीरे-धीरे सात-आठ आधुनिक आर्य भाषाएँ: हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती,

मराठी, उड़िया, बगला, असमी। इस तरह किसी भी भाषा मे परिवर्तन होते-होते उसकी कई बोलियाँ विकसित हो जाती हैं तथा फिर धीरे-धीरे बोलियाँ अलग-अलग भाषाएँ बन जाती है। इस रूप मे विश्व मे भाषाओ के परिवार वस्तुत परिवर्तन के ही परिणाम हैं। आज मूलत लगभग तेरह-चौदह मूल भाषाओ से विश्व मे कुल लगभग तीन हजार भाषाएँ भाषा परिवर्तन के कारण ही विकसित हुई हैं।

४ विशदीकरण—प्राय शब्द-समूह के क्षेत्र मे परिवर्तन मे एक तरफ तो पुराने शब्द लुप्त होते हैं, दूसरी ओर नये शब्द आते है। इनमे लुप्त होने वाले शब्द तो थोड़े होते हैं तथा आने वाले शब्द ज्यादा। हिन्दी का शब्द-भडार १९३०-४० के आस-पास साठ-सत्तर हजार था। अब यदि सभी विषयो को मिला कर देखें तो हिन्दी दो लाख से ऊपर शब्दो का प्रयोग कर रही है। इस तरह भाषा के शब्द-भडार मे विशदता आती जाती है। वस्तुत चूकि प्राय सभी भाषा-भाषियो की अभिव्यक्ति की आवश्यकताएँ धीरे-धीरे बढ़ती हैं अत उनके अनुरूप भाषा मे नये शब्दो के आगमन, तथा नई-नई प्रयुक्तियो के विकास से विशदता आती जाती है।

भाषा के विकास मे व्याघात और उसके कारण

प्राय ऐसा देखा जाता है कि कुछ भाषाएँ बहुत कम समय मे आश्चर्यजनक विकास कर लेती हैं और दूसरी ओर ऐसी भी भाषाएँ मिलती हैं जो अधिक समय मे भी बहुत कम विकास कर पाती हैं। ऐसे ही कुछ बोलियाँ उन्नति कर भाषा हो जाती हैं और उनमे उत्तम साहित्य की रचना होने लगती है, किंतु दूसरी ओर कुछ ज्यो की त्यों बोली ही बनी रहती हैं। उपर्युक्त दोनो कथनों मे से पहले पर तो आगामी प्रकरण 'भाषा के विभिन्न रूप' मे विचार किया जायगा, किंतु दूसरे पर यहीं विचार करना उचित होगा।

भाषा के विकास पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। वस्तुत उन कारणो के उलट कारण जब उपस्थित होते है तो भाषा के विकास मे व्याघात उपस्थित होता है।

प्रधान कारण निम्नाकित हैं—

(१) भौगोलिक परिस्थिति—यदि कोई देश अपनी भौगोलिक परिस्थितियो के कारण इस प्रकार घिरा हुआ हो कि सरलता से लोग वहाँ न पहुँच सकें तो वहाँ की भाषा मे विकास बहुत धीमा होता है। इसका कारण यह होता है कि बाहरी लोगों से सम्पर्क नही हो पाता, अत बाह्य प्रभाव बिल्कुल नही पड़ता। भारोपीय परिवार की 'आइसलैण्डिक' भाषा इसी कारण अन्यो की अपेक्षा बहुत ही कम विकसित हुई है।

(२) खाद्यान्न की कमी—देश मे यदि खाद्याभाव है तो स्वभावत लोगो का अधिक समय भोजन के पीछे चला जाता है, अत अन्य सूक्ष्म समस्याओ पर विचार करने का उन्हे समय नही रहता और न कला और साहित्य की ही उन्नति होती है। ऐसी अवस्था मे भी भाषा का विकास नहीं होता, या बहुत कम होता है। रेगिस्तानी और जगली भाषाएँ इसी कारण प्राय कम या बहुत धीरे-धीरे विकसित होती है।

(३) अभिव्यक्ति के लिए यथासाध्य प्रचलित भाषा से न हटना—अपने विचारो को व्यक्त करने के लिए ही लोग भाषा का प्रयोग करते है, अत यह आवश्यक होता है कि यथा-साध्य प्रचलित भाषा से तनिक भी न हटें। हटने पर अस्पष्टता आने का भय रहता है। यह भावना सभी भाषाओं के विकास मे बाधक सिद्ध होती है।

(४) समाज के हँसने का भय—समाज मे भाषा का प्रयोग होता है। यदि लोग अशुद्ध बोलें तो समाज उन पर हँसता है। छोटे बच्चे जब 'रुपया' का 'लुपया' या 'तुपया' या 'घड़ी' को 'घली' कहते है, और सुनने वाले हँस देते हैं, तो वे शीघ्रातिशीघ्र 'रुपया' या 'घड़ी' कहने

का प्रयास करते हैं और सफल भी हो जाते है। इस प्रकार समाज के हँसने के भय से भी लोग यथासाध्य भाषा के प्रचलित रूप पर ही चलने का प्रयास करते है और इससे भी भाषा का विकास रुकता है।

(५) **व्याकरण**—व्याकरण की शिक्षा भी लोगों को आदर्श प्रयोग पर चलने को प्रेरित करती है। जिन लोगों को व्याकरण का ज्ञान नही रहता, वे अशुद्धियाँ अधिक करते हैं। इसी कारण भाषा में विकास लाने का श्रेय ग्रामीणों और अशिक्षितों को नागरिकों एवं शिक्षितों की अपेक्षा अधिक है। सत्य तो यह है कि भाषा का मूल विकास उन्हीं लोगों में होता है। इस प्रकार शिक्षा और प्रमुखतः व्याकरण की शिक्षा भी भाषा के विकास में बाधक या व्याघात सिद्ध होती है।

(६) **शिक्षा, समाचार पत्र तथा रेडियो आदि**—आजकल इन सबके कारण भाषा के परिनिष्ठित रूप का प्रचार अधिक है, अतः स्वभावतः लोग उस रूप के प्रभाव से या तो गलतियाँ (जिनसे भाषा का विकास होता है) नहीं करते हैं, या करके भी उन्हें सुधार लेते है, और इस प्रकार विकास नही हो पाता।

भाषा के विविध रूप

ऊपर भाषा की परिभाषा पर विचार किया जा चुका है। वह सामान्य भाषा थी। मुख्यतः **इतिहास**, **भूगोल** (क्षेत्र), **प्रयोग**, **निर्माण**, **मानकता** और **मिश्रण** इन छः आधारों पर भाषा के बहुत रूप होते हैं। (क) उदाहरण के लिए **इतिहास** के आधार पर **मूलभाषा** (जिससे अन्य बहुत सी निकली हों तथा जिसके किसी अन्य भाषा से निकलने का पता न हो, जैसे भारोपीय), **प्राचीन भाषा** (जैसे संस्कृत, ग्रीक आदि), **मध्यकालीन भाषा** (जैसे पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि), तथा **आधुनिक भाषा** (हिंदी मराठी, अंग्रेजी आदि) का उल्लेख किया जाता है। (ख) **भूगोल** या क्षेत्र के आधार पर भाषा का सबसे छोटा रूप **व्यक्ति बोली** (idiolect) का होता है, जो एक व्यक्ति द्वारा बोली जाती है। एक क्षेत्र के बहुत से लोगों की भाषा **स्थानीय बोली** (local dialect) होती है। यह क्षेत्र की दृष्टि से व्यक्ति बोली से बड़ी होती है। बहुत सी व्यक्ति-बोलियाँ मिलकर एक स्थानीय बोली बनाती है। एकाधिक स्थानीय बोलियाँ मिलकर एक **उपबोली** (sub-dialect) बनाती है, तो एकाधिक उपबोलियाँ मिलकर एक बोली (Dialect), एकाधिक बोलियाँ मिलकर एक उपभाषा (sub-language), या **बोली-वर्ग** तथा एकाधिक उपभाषाएँ मिलकर एक भाषा। दूसरे शब्दों में एक भाषा के अंतर्गत एकाधिक उपभाषाएँ हो सकती हैं जैसे हिंदी भाषा के अतर्गत पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी आदि पाँच उपभाषाएँ या बोली वर्ग है), एक उपभाषा मे एकाधिक बोलियाँ (जैसे पूर्वी हिंदी मे अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी बोलियाँ), एक बोली में एकाधिक उपबोलियाँ (जैसे अवधी में पश्चिमी जौनपुर की 'बनौधी' तथा रायबरेली बछरावाँ आदि मे प्रयुक्त बैसवाड़ी आदि), तथा एक उपबोली में कई स्थानीय बोलियाँ (जैसे 'कुमायूँनी' बोली की 'रौ-चौभैंसी' उपबोली के 'रामगढ़िया' तथा 'छखातिया' आदि स्थानीय रूप)। (ग) **प्रयोग** के आधार पर बोलचाल की भाषा', 'साहित्यिक भाषा', 'जातीय भाषा'' 'व्यावसायिक भाषा', 'दफ़्तरी भाषा', 'राजभाषा', 'राष्ट्रभाषा', 'गुप्त भाषा', 'जीवित भाषा', 'मृत भाषा' आदि रूप होते है। सहायक, संपूरक, परिपूरक, संपर्क तथा समतूल्य भाषा नाम के भाषा-रूप भी प्रयोग पर ही आधारित है। (घ) निर्माण के आधार पर **सहज भाषा** (सामान्य बोलचाल की जैसे हिन्दी, अंग्रेजी, जर्मन आदि भाषाएँ) तथा **कृत्रिम भाषा** (जिसे एक या कुछ लोगों ने मिलकर कृत्रिम रूप से बनाया हो। जैसे 'एस्पेरैंतो' तथा 'इडो' आदि। इनके लिए देखिए 'परिशिष्ट') दो भेद होते है। कृत्रिम भाषा के दो उपभेद **सामान्य** (जैसे एस्पेरैंतो) और **गुप्त** (जैसे सेना, दलालों, डाकुओं आदि की भाषा) है। (ङ) **मानकता** या **शुद्धता** के आधार पर या **मानक** या

परिनिष्ठित भाषा (जो बहुत शुद्ध और व्याकरण सम्मत हो, अमानक भाषा (जिसमे शुद्ध प्रयोग न हो। जैसे 'मैंने जाना है, मेरे को कान ही पूर जाऊँगा, जाऊँ तो गा लेकिन आज नहीं आदि)। अमानकता ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ सभी की हो सकती है), तथा अपभाषा (slang), यह प्राय अशिक्षित या अधशिक्षित वर्ग के लोगो मे चलती है, इसमें अमानक तत्वों के साथ-साथ स्थानीय, बोलचाल के ठेठ और अश्लील शब्दो का भी धडल्ले से प्रयोग होता है) आदि भेद होते हैं (च) मिश्रण के आधार पर पिजिन तथा क्रियोल दो भेद होते हैं। इनमें से कुछ मुख्य भाषा-रूपो को नीचे अलग से लिया जा रहा है।

(१) मूल भाषा—भाषा का यह भेद इतिहास पर आधारित है। भाषा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल मे उन स्थानो मे हुई होगी जहाँ बहुत से लोग एक साथ रहते रहे होंगे। ऐसे स्थानो मे किसी एक स्थान की भाषा, जो आरम्भ मे उत्पन्न हुई होगी, तथा आगे चलकर जिससे ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि कारणो से अनेक भाषाएँ, बोलियाँ तथा उपबोलियाँ आदि बनी होगी, मूल भाषा कही जायगी। भाषाओ के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार यही मान्यता है। ससार मे उतने ही भाषा-परिवार माने जायेंगे, जितनी कि मूल भाषाएँ मानी जायेंगी। उदाहरण के लिए, हम अपने भारोपीय परिवार की भाषाओ को ही लें तो इसकी मूल भाषा भारोपीय[१] (Indo European) भाषा थी, जिसका प्रादुर्भाव एकसाथ रहने वाले कुछ लोगो मे हुआ। भौगोलिक परिस्थितियों ने भाषा के विकास एव शाखाओं मे बाँटने का कार्य वही से आरम्भ कर दिया था। मूल स्थान पर कुछ दिनो तक रहने के पश्चात् जब वहाँ की जनसख्या अधिक हो गई और भोजन आदि की कमी पडने लगी तो कुछ लोग तो सभवत वही रह गये और कुछ लोग कई शाखाओ मे बँटकर अलग-अलग दिशाओ म चल पडे। चलने के समय उन भिन्न-भिन्न शाखाओ की भाषा कुछ स्थानीय अतरो को छोडकर प्राय लगभग एक-सी रही होगी। थोडी दूर चलकर उन शाखाओ ने अपने-अपने अड्डे बनाये होग। उन नवीन अड्डो पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियो के कारण उनके जीवन मे परिवर्तन आया होगा और तदनुसार उनकी भाषा मे भी विकास हुआ होगा। दो-एक सदी या दस-बीस पीढी के उपरान्त अलग-अलग बसने वाली उन शाखाओ की भाषा मे आपस मे काफी भिन्नता आ गई होगी। कुछ दिनो के बाद ये नवीन स्थान भी जनसख्या आदि के बढने मे अपर्याप्त सिद्ध हुए होंगे और प्रत्येक शाखा म कई प्रशाखाएँ फूटकर इधर-उधर चलकर नवीन स्थानो पर बसी होगी। फिर वहाँ उनका विकास हुआ होगा और तदनुकूल उनकी भाषाएँ भी अलग रूपो म विकसित या परिवर्तित हुई होगी।[२] इस वश-वृक्ष मे या रखा जा सकता है—

---

१ एक मतानुसार यह मूल भाषा भारोपीय न होकर भारत-हित्ती (Indo Hittite) थी जिसकी दो शाखाएँ थी—भारोपीय और हित्ती। (देखिए पारिवारिक वर्गीकरण मे 'भारत-हित्ती' परिवार)

२ इस भाषा-चित्र मे हम देखते हैं कि 'क' मे ही विकसित होकर दूसरी तीसरी और चौथी अवस्था की भाषाएँ और बोलियाँ निकली हैं। ये ठीक उसी प्रकार हैं, जैसे एक आदमी मे दो-तीन पुश्त मे बहुत-से आदमी हो जाते है। ये सभी आदमी उस आदि पुरुष के, जिस प्रकार परिवार कहे जायँगे, ये भिन्न-भिन्न भाषा और बोलियाँ भी उसी प्रकार उस मूल या आदि भाषा (उपर्युक्त चित्र मे 'क') के परिवार की कही जाती है। हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, व्रज, अवधी या मगही आदि इसी अर्थ मे भारोपीय या भारत-हित्ती परिवार की कही जाती हैं।
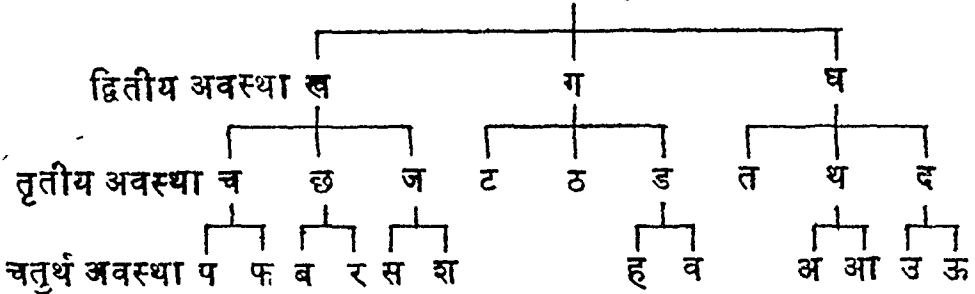
(२) **व्यक्ति-बोली** (Idiolect)—एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्ति-बोली कहते है। एक दृष्टि से भाषा का यह सकीर्णतम या लघुतम रूप है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से गहराई मे जाकर यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य हर क्षण बदलता रहता है। 'राम' या 'मोहन' दो बजकर एक मिनट या एक सेकेंड पर वही 'राम' या 'मोहन' नहीं रहते, जो ठीक दो बजे रहते है। ऐसी स्थिति में उनकी 'व्यक्ति-बोली' भी सर्वदा एक नही रहती, अर्थात् दो बजे राम की जो व्यक्ति-बोली होगी, दो बजकर एक या दो मिनट पर उससे भिन्न कोई दूसरी व्यक्ति-बोली होगी, चाहे यह अन्तर कितना ही कम और सूक्ष्म क्यों न हो। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि किसी एक व्यक्ति की किसी एक समय की भाषा ही सच्चे अर्थों मे व्यक्ति-बोली है। किन्तु, साथ ही किसी व्यक्ति की जन्म से मृत्यु तक की बोली को भी 'व्यक्ति-बोली' कहा जा सकता है, और कहा जाता है। पर सच्चे अर्थों में, व्यक्ति-बोली, इस दूसरे अर्थ में पहले अर्थ का पूरा ऐतिहासिक विकास है, क्योंकि जन्म से मृत्यु तक भाषा का एक रूप नही हो सकता। आदि से अन्त तक उसमें कुछ न कुछ विकास होता ही रहता है।

(३) **उपबोली या स्थानीय बोली** (Sub-Dialect or Local Dialect)—भाषा का यह रूप भूगोल पर आधारित है। एक छोटे से क्षेत्र में इसका प्रयोग होता है। यह बहुत-सी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप है। हम कह सकते है कि 'किसी छोटे क्षेत्र की ऐसी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप, जिनमें आपस में कोई स्पष्ट अन्तर न हो, स्थानीय बोली या उपबोली कहलाता है।' एक बोली के अन्तर्गत कई उपबोलियाँ होती है। किसी बोली के वर्णन मे जब हम उसके दक्षिणी, पश्चिमी, मध्यवर्ती आदि उपरूपों की बात करते हैं तो हमारा आशय उपबोली या स्थानीय बोली से ही होता है। भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि बोलियों में इस प्रकार की कई उपबोलियाँ है।

हिन्दी में कुछ लोगों ने भाषा के इस रूप के लिए 'बोली' नाम का प्रयोग किया है, किन्तु 'बोली' का प्रयोग अंग्रेजी डाइलेक्ट (dialect) के लिए प्रायः चल पडा है,[1] अतः इसके लिए उसका प्रयोग न करना ही उचित है। भाषा के इस रूप के लिए अंग्रेजी मे 'सब-डाइलेक्ट' (sub-dialect) शब्द चलता है, उस आधार पर 'उपबोली' शब्द ठीक है। अँग्रेजी में इसके बहुत निकट के अर्थ मे एक फ्रांसीसी शब्द 'पैटवा' (patois) भी चलता है। 'पैटवा'[2] डाइ-

१. इसी अर्थ में ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि को भाषाविज्ञानविद् तथा सामान्य लोग हिन्दी की बोलियाँ कहते है।

२ 'पैटवा' शब्द फ्रांसीसी भाषा से अंग्रेजी में १७वी सदी पूर्वार्द्ध में आया। इसका मूल अर्थ 'सभ्यतापूर्ण ढंग' था। आज भी इसके अर्थ से असभ्यता की बू पूर्णतः नहीं जा सकी है।

लेक्ट या बोली का एक उपरूप तो है, किन्तु उसकी कुछ और विशेषताएँ भी हैं, और इसी कारण उसे ठीक अर्थों में 'उपबोली' या 'सब-डाइलेक्ट' का समानार्थी नहीं माना जा सकता, जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दरदास आदि हिन्दी के कुछ भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने माना है। यूरोप और अमेरिका के भाषाविज्ञानविदों ने 'पैटवा' का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसमें प्राय: ४ बातें सम्मिलित हैं—(१) यह बोली से अपेक्षाकृत छोटा, स्थानीय रूप है। (२) यह असाहित्यिक होती है। (३) यह असाधु होती है। (४) यह अपेक्षतया निम्न सामाजिक स्तर के अशिक्षितों द्वारा प्रयुक्त की जाती है। कहना न होगा कि इनमें केवल पहली बात ही उपबोली में होती है। और बातें हो भी सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, राजस्थानी के अन्तर्गत ऐसी उपबोलियाँ हैं, जिनमें साहित्यिक रचनाएँ हुई हैं। ऐसी स्थिति में वे उपबोली तो हैं, किन्तु 'पैटवा' नहीं। अतएव 'उपबोली' को 'पैटवा' नहीं कहा जा सकता।

बोली और भाषा—जैसे बहुत-सी व्यक्ति बोलियों—जो आपस में प्राय पर्याप्त साम्य रखती हों—का सामूहिक रूप उपबोली है, उसी प्रकार बहुत-सी मिलती-जुलती उपबोलियों का सामूहिक रूप बोली है, और मिलती-जुलती बोलियों का सामूहिक रूप भाषा है। दूसरे शब्दों में, यह भी कह सकते हैं कि एक भाषाक्षेत्र में कई बोलियाँ होती हैं (जैसे हिन्दी क्षेत्र में खड़ीबोली, ब्रज, अवधी आदि बोलियाँ हैं) और एक बोली में कई उपबोलियाँ (जैसे बुन्देली बोली के अन्तर्गत लोधान्ती, राठौरी तथा पँवारी आदि उपबोलियाँ)।

बोली[1] शब्द यहाँ अंग्रेजी डाइलेक्ट (dialect) का प्रतिशब्द है। कुछ हिन्दी के भाषाविज्ञानविद् बोली के लिए 'विभाषा', 'उपभाषा' या 'प्रांतीय भाषा' का भी प्रयोग करते हैं।

ऊपर जिन चार—व्यक्ति-बोली, उपबोली, बोली और भाषा—के नाम लिये गये हैं, उनमें भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्व केवल अन्तिम दो—बोली और भाषा—का है।

एक भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ होती हैं, या बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है और भाषा का बड़ा। इस रूप में बोली का स्वरूप स्पष्ट है, किन्तु प्रकृति की दृष्टि से भाषा और बोली में अन्तर[2] करना बड़ा कठिन है, फिर भी काम चलाने के लिए बोली की परिभाषा, बल्कि व्याख्या (भाषा से अलग) कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—

'बोली' किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से, उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किन्तु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों के बोलने वाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र में कहीं भी बोलने वालों के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरों आदि में कोई बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती।[3]

एक भाषा के अन्तर्गत जब कई अलग-अलग रूप विकसित हो जाते हैं तो उन्हें 'बोली' कहते हैं। सामान्यत कोई 'बोली' तभी तक 'बोली' कही जाती है जब तक उसे (१) साहित्य,

---

१ डॉ० श्यामसुन्दर दास ने बोली का प्रयोग सब-डाइलेक्ट और पैटवा के लिए किया है, पर अन्य प्राय सभी लोगों ने इसे dialect का पर्याय माना है।

२ भाषा और बोली के अन्तर के लिए देखिये इस अध्याय का अन्तिम भाग।

३ भाषा की तुलना में जैसे यहाँ 'बोली' की परिभाषा दी गई है, उसी प्रकार 'बोली' की तुलना में 'उपबोली' की परिभाषा भी इन्हीं शब्दों में ('बोली' के स्थान पर 'उपबोली' और 'भाषा' के स्थान पर 'बोली' रखकर) की जा सकती है।

धर्म, व्यापार या राजनीति के कारण महत्व न प्राप्त हो, या (२) जब तक पड़ोसी बोलियों से उसे भिन्न करने वाली उसकी विशेषताएँ इतनी न विकसित हो जायँ कि पड़ोसी बोलियों के बोलने वाले उसे समझ न सके। इन दोनों में किसी एक (या दोनों) की प्राप्ति करते ही बोली 'भाषा' बन जाती है। अँग्रेजी, हिन्दी, रूसी संस्कृत, ग्रीक तथा अरबी आदि विश्व की सभी भाषाएँ अपने आरम्भिक रूप में बोली रही होंगी, और बाद में महत्व प्राप्त होने पर या विकास के कारण पूर्णतः भिन्न हो जाने पर वे भाषा बन गईं। इसी प्रकार आज बोली कहलाने वाली भोजपुरी, अवधी तथा मैथिली आदि उपर्युक्त कारणों से भाषाएँ बन सकती है।

बोलियों के बनने का कारण—बोलियों के बनने का कारण प्रमुखतः भौगोलिक है। मूल भाषा के चित्र में प्रथम अवस्था में 'क' एक भाषा थी। उससे 'ख', 'ग' और 'घ' शाखाएँ फूट कर अलग-अलग चली गईं और एक-दूसरे से इतनी दूर जा बसीं कि आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध सभव न था। एक शाखा के लोग दूसरी शाखा के लोगों से मिलकर बात-चीत नहीं कर सकते थे। फल यह हुआ कि तीनों शाखाओं में कुछ विशेषताएँ विकसित हो गईं और इस प्रकार तीनों अलग-अलग बोलियाँ हो गईं। किसी भाषा की एक शाखा का अन्य से सम्बन्ध-विच्छेद या अलग होना ही बोली के बनने का प्रधान कारण है। ऐसा भी होता है कि यदि कोई भाषा बहुत दिन से एक बड़े क्षेत्र में बोली जा रही है और उस क्षेत्र में एक उपक्षेत्र के लोग दूरी के कारण दूसरे उपक्षेत्र के लोगों से नही मिल पाते, तो उन दोनों या अधिक उपक्षेत्रों मे भी बोलियाँ विकसित हो जाती है। हिन्दी में अवधी, ब्रज आदि इसी प्रकार विकसित हो गई है। भूकम्प या जल-प्लावन से भी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती है। एक क्षेत्र के बीच में व्यवधान आ जाता है, अतः लोग मिल नही पाते और बोलियाँ विकसित हो जाती है। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी बडी नदी के दोनों ओर की बस्तियाँ भाषा की दृष्टि से कुछ अन्तर रखती है। यह भी उसी का द्योतक है।[1]

कभी-कभी राजनैतिक या आर्थिक कारणों से कुछ लोग अपनी भाषा के क्षेत्र से बहुत दूर जाकर बस जाते हैं और वहाँ भी उनकी नयी बोली विकसित हो जाती है। मध्य यूरोप में जर्मन भाषा का क्षेत्र था। वहाँ से लोग इंगलैंड मे बस गये और अँग्रेजी उसकी एक अलग बोली बन गई। कभी आसपास की भाषाओं या दूर की भाषाओं के प्रभाव के कारण भी एक भाषा में एक क्षेत्रीय रूप विकसित हो जाता है और वह बोली का रूप धारण कर लेता है।

बोलियों के महत्व पाने का कारण—जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ बोलियाँ किसी प्रकार महत्व की प्राप्ति कर धीरे-धीरे बोली से भाषा बन जाती है। बोलियों के महत्व पाकर 'भाषा' की संज्ञा पाने के प्रधान कारण निम्नांकित है—

(क) कुछ बोलियाँ जब अपनी अन्य बहनों से बिल्कुल अलग हो जाती है, या अपनी अन्य बहनो के मर जाने के कारण अकेली बच जाती हैं तो उन्हें महत्वपूर्ण समझा जाने लगता है और वे 'भाषा' की सज्ञा से विभूषित हो जाती है। 'ब्राहुई' प्रथम कारण से ही भाषा कहलाती है।

(ख) साहित्य की श्रेष्ठता के कारण भी कुछ बोलियाँ महत्वपूर्ण हो जाती है। प्राचीन काल में मध्यदेशीय बोली साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी, अत. उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था।

---

१. 'भाषा-भूगोल' का प्रसग भी देखिये।

(ग) धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली का महत्व बढा देती है। राम-सम्बन्धी प्रधान तीर्थ अयोध्या है, तथा कृष्ण-सम्बन्धी मथुरा। फल यह हुआ कि दोनो स्थानो की बोलियो (अवधी और ब्रज) को औरो की अपेक्षा अधिक महत्व मिला और कई सदियो तक वे साहित्य की भाषा बनी रही। 'ब्रज' का तो नाम ही 'ब्रजभाषा' हो गया था। इसी प्रकार 'खडीबोली' को महत्व प्रदान करने मे आर्य समाज का भी हाथ रहा है।

(घ) बोलने वालो का महत्वपूर्ण होना भी बोली को महत्वपूर्ण बना देता है। अँग्रेजी जो मूलत एक बोली है, अँग्रेजो के आधुनिक युग मे विश्व भर मे अपना व्यापार फैला देने मे तथा उनके महत्वपूर्ण होने से आज विश्व की व्यापारिक भाषा एव अतर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है। चाहे जर्मनी हो, चाहे जापान, और चाहे चीन हो या फ्रास, सभी लोग अपनी बनाई पुस्तको पर प्राय अग्रेजी मे ही 'मेड-इन' (Made in) आदि लिखते हैं। इसी प्रकार विदेश जाने के लिए भी अँग्रेजी जानना आवश्यक माना जाता है, क्योकि इसका प्रचार प्राय सर्वत्र है, यद्यपि अब यह स्थिति कुछ समाप्त होती ही दीख रही है।

(ङ) बोली के प्रमुख एव महत्वपूर्ण होने का सबसे बडा कारण है राजनीति। जहाँ राजनीति का केन्द्र होगा, वहाँ की बोली अवश्य ही महत्वपूर्ण होकर भाषा बन जायेगी। दिल्ली के समीप की खडीबोली आज हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तो की प्रमुख भाषा है, और उसने मैथिली, अवधी और ब्रज जैसी प्राचीन एव महत्वपूर्ण बोलियो को भी दबाकर भाषा ही नही, राज एव राष्ट्र भाषा के स्थान को अपना लिया है। इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लदन की अग्रेजी बोलियाँ, अपनी अन्य बहनो से बहुत आगे निकल गई हैं और अपने देश की राष्ट्रभाषा बन बैठी हैं। मराठी की कोकणी, मारवाडी और बरार आदि बोलियाँ ही रह गईं, पर, पूना की बोली आज वहाँ की साहित्यिक भाषा है। चीन की मन्दारिन बोली की भी यही दशा है। इस प्रकार के उदाहरण सभी देशो मे मिल सकते हैं।

इन सबके अतिरिक्त शिक्षा का माध्यम बन जाने के कारण, सेना मे स्वीकृत होने के कारण, व्यापार मे प्रयुक्त होने के कारण, तथा विज्ञान आदि मे व्यवहृत होने के कारण भी बोली महत्व प्राप्त कर लेती है।

इस प्रसग मे एक बात की ओर सकेत कर देना आवश्यक है कि यह आवश्यक नहीं है कि महत्व प्राप्त करके बोली भाषा बन ही जाय। यह भी होता है कि महत्व प्राप्त करके भी बोली, बोली ही रह जाती है, या कभी कभी थोडे दिन के लिए महत्व मिलता है और फिर छिन जाता है। 'ब्रज', 'अवधी' के सम्बन्ध मे ऐसा ही हुआ है। (भाषा और बोली के अन्तर के लिए देखिए इस अध्याय का अन्तिम अश।)

(४) मानक या परिनिष्ठित[1] भाषा—सभ्यता के विकसित होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि एक भाषाक्षेत्र (जिसमे कई बोलियाँ हो) की कोई एक बोली मानक मान ली जाय और पूरे क्षेत्र मे सम्बन्धित कार्यो के लिए उसका प्रयोग हो। उसे मानक या परिनिष्ठित भाषा कहा जाता है, और वह पूरे क्षेत्र के प्रमुखत शिक्षित वर्ग के लोगो की शिक्षा, पत्र-व्यवहार या समाचार-पत्रादि की भाषा हो जाती है। साहित्य आदि मे भी प्राय उसी का प्रयोग होता है।

एक बोली जब मानक भाषा बनती है और प्रतिनिधि हो जाती है तो आसपास की

१ इसे टकसाली भाषा भी कहते है। अग्रेजी मे इसे Standard language या Koine कहते है। Koine शब्द यूनानी का है। Koine, यूनानी भाषा के विशेष रूप को कहते थे, जो क्षेत्र-विशेष की टकसाली भाषा थी। नये टस्टामेंट की भाषा यही है।

बोलियों पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आज की खड़ी बोली ने ब्रज, अवधी, भोजपुरी सभी को प्रभावित किया है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि मानक भाषा आस-पास की बोलियों को बिल्कुल समाप्त कर देती है। रोम की लैटिन जब इटली की मानक भाषा बनी तो आसपास की बोलियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गई। पर ऐसा बहुत ही कम होता है।

मानक भाषा के तत्कालीन रूप को लेकर उसका उच्चारण और व्याकरण आदि निश्चित कर दिया जाता है और फल यह होता है कि मानक भाषा स्थिर हो जाती है और कुछ दिन मे उसका रूप प्राचीन पड़ जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज की खड़ी-बोली का लिखित रूप जीवित बोली से उच्चारण तथा शब्द-समूह आदि सभी दृष्टियों से कम-से-कम चालीस वर्ष पीछे हैं। व्याकरण मे भी कुछ परिवर्तन आ गया है।

मानक भाषा का रूप पूरे क्षेत्र मे एक ही नहीं होता। प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव भी उस पर कुछ पड़ता है।[1] यह प्रभाव व्याकरण और शब्द-समूह तथा उच्चारण तीनों में ही देखा गया है। भोजपुरी लोग 'दिखाई दे रहा है' के स्थान पर 'लौक रहा हैं' तथा 'हमने काम किया' के स्थान पर 'हम काम किये' का प्रयोग करते है। पंजाबी लोगों ने भी आदर्श हिन्दी पर अपनी पॉलिश कर दी है और खड़ीबोली हिन्दी का 'हमको जाना है' वाक्य उनके बीच 'हमने जाना है' हो गया है।

मानक भाषा के मौखिक और लिखित रूप—मानक भाषा के प्रादेशिक रूपों के अतिरिक्त लिखित और मौखिक भी दो रूप होते है। सभी मौखिक भाषाएँ अपने लिखित रूपों से प्राय: भिन्न होती है। बोलने मे सर्वदा ही वाक्य छोटे-छोटे रहते है। पर, लिखित रूप के वाक्य अधिकतर बड़े हो जाते हैं। कादम्बरी के वाक्य कहीं-कही पृष्ठ पार कर जाते है, पर बोलचाल की संस्कृत कभी भी ऐसी न रही होगी। इस प्रकार मौखिक रूप स्वाभाविक है और लिखित रूप कृत्रिम। ये बाते मानक भाषा में भी पायी जाती है।

मानक भाषा के लिखित रूप पर मौखिक रूप की अपेक्षा प्रादेशिकता की छाप कम रहती है, क्योंकि लिखने में लोग अपेक्षाकृत अधिक सतर्क रहते है।

लिखित रूप मौखिक की अपेक्षा अधिक संस्कृत रहता है।[2]

(५) **अपभाषा** (Slang)—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, 'अपभाषा' भाषा का वह रूप है, जिसे परिनिष्ठित एवं शिष्ट भाषा की तुलना में विकृत या अपभ्रष्ट समझा जाता है। यह विशेष तबके के लोगों में प्रयुक्त होती है। भाषा के आदर्श रूप की तुलना मे इसमे

१ परिशिष्ट में आधार-सिद्धान्त (सब्स्ट्रेटम थ्यूरी) शीर्षक के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में कुछ और भी बातें मिल सकती है। आज साहित्यिक और परिनिष्ठित खड़ीबोली का आगरा, पटना, बनारस, लखनऊ और दिल्ली मे रूप एक नही है। इन पर क्रम से ब्रज, भोजपुरी, अवधी और पंजाबी आदि का प्रभाव है।

२. खड़ीबोली के सम्बन्ध मे एक और विशेष बात है। मौखिक भाषा में, उर्दू और हिन्दी मे कोई विशेष अन्तर प्राय: दृष्टिगत नही होता, किन्तु लिखित भाषा मे यदि जानबूझ कर हिन्दुस्तानी न लिखी जाय तो यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार मानक भाषा में हिन्दी खड़ीबोली के तीन-चार रूप प्रचलित है—(१) मौखिक रूप—जो साहित्यिक हिन्दी और उर्दू के बीच मे है और जिसमे विभिन्न स्थानो पर कुछ प्रादेशिकता की छाप रहती है। (२) लिखित उर्दू रूप—जिसमे व्याकरण खड़ीबोली का मात्र रहता है, किन्तु शब्द-समूह में अरबी, फारसी और/तुर्की के शब्द पर्याप्त होते है। तथा (३) लिखित हिन्दी रूप—जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक रहते है। यों एक चौथा अँग्रेजी मिश्रित रूप भी है।

अधोलिखित विशेषताएँ मिलती हैं (क) अपरिनिष्ठित रूपों का प्रयोग, जैसे हिन्दी मे करा (किया), मेरे को (मुझे या मुझको), गया (गया), आदि। (ख) अपरिनिष्ठित वाक्य-रचना, जैसे हिन्दी मे 'मैंने जाना है' या 'मुझ पर रुपये नही है' आदि। (ग) अश्लीलता, जैसे परिनिष्ठित हिन्दी मे अश्लील समझे जाने वाले शब्दो का प्रयोग। (घ) परिनिष्ठित भाषा द्वारा अगृहीत मुहावरो आदि का प्रयोग।

(६) राष्ट्रभाषा (National Language)—आदर्श भाषा तो केवल उसी क्षेत्र मे रहती है, जिसकी वह एक बोली होती है, जैसे हिन्दी खडीबोली राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा बिहार आदि की परिनिष्ठित या आदर्श भाषा है। किन्तु जब कोई बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी उन्नत होकर और भी महत्वपूर्ण बन जाती है तथा पूरे राष्ट्र या देश में अन्य भाषा-क्षेत्र तथा अन्य भाषा-परिवार-क्षेत्र मे भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामो आदि मे होने लगता है तो वह राष्ट्रभाषा का पद पा जाती है। हिन्दी को धीरे-धीरे भारतवर्ष मे लगभग यही स्थान प्राप्त हो रहा है। वह अपने परिवार के अहिन्दी प्रान्तो (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बगाल आदि) तथा अन्य परिवार के प्रान्तों (मद्रास, आदि) मे भी धीरे-धीरे व्यवहार मे आती जा रही है। पूरे यूरोप मे कुछ दिन तक फ्रेंच को भी यही स्थान प्राप्त था। व्यापार आदि के क्षेत्र मे अँग्रेजी आज विश्वभाषा या विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। किसी बोली की चरम सीमा उसका किसी रूप मे विश्वभाषा होना ही है।

(७) विशिष्ट भाषा—व्यवसाय या कार्य आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों की अलग-अलग भाषाएँ हो जाती हैं। ये भाषाएँ आदर्श भाषा के ही विभिन्न रूप होती हैं, जो अधिकतर शब्द-समूह, मुहावरे तथा प्रयोग आदि मे एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। कभी-कभी उच्चारण-सम्बन्धी अन्तर भी दिखाई देता है। विद्यार्थियो की भाषा या छात्रावास की भाषा, व्यापारियो की भाषा, सोने चाँदी के दलालो की भाषा, कहारो की भाषा,[1] धार्मिक सघो की भाषा, राजनयिक भाषा, राजनैतिक सस्थाओ की भाषा तथा साहित्यिक गोष्ठियो की भाषा इसी अर्थ मे विशिष्ट हैं। किसी पर अँग्रेजी का प्रभाव अधिक रहता है तो किसी पर सस्कृत का और किसी पर गाँव की बोलियो का तो किसी पर गूढ या पारिभाषिक शब्दो का।

(८) कृत्रिम भाषा—भाषा के ऊपर दिये गये रूप स्वाभाविक रूप से विकसित होकर बनते हैं, किन्तु इनके विरुद्ध, कृत्रिम भाषा बनायी जाती है। इसके दो रूप किये जा सकते हैं—(क) गुप्त भाषा और (ख) सामान्य भाषा। यहाँ इन दोनो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जा सकता है।

(क) गुप्त भाषा—गुप्त भाषा का प्रयोग प्राय सेना, गुप्तचर विभाग, चोरो, डाकुओ, क्रातिकारियो तथा लडको आदि मे होता है। इसका प्रमुख उद्देश्य अपनी बात को अनपेक्षित लोगो को न मालूम होने देना है। विनोद मे भी इसका प्रयोग करते हैं। एक अँग्रेज ने उत्तर प्रदेश के जरायम पेशावालो की गुप्त भाषा का अध्ययन किया था। ये लोग कुछ शब्दो को तोड-मरोड कर तथा कुछ सामान्य शब्दो को नये अर्थो मे प्रयुक्त कर, अपनी गुप्त भाषा इस प्रकार की बनाते हैं, जिनको दूसरे समझ न सकें। इस प्रकार के कुछ उदाहरण बडे मनोरजक हैं—

शब्द या प्रयोग	अर्थ
दामोदर	उदर या फेटे मे दाम या धन है
नारायण	नाले मे ले चलो या नाले मे है
बासदेव	डडे से मारो, बाँस दो

१ देखिये 'हिन्दी अनुशीलन' मे लेखक का 'कहारो की शब्दावली' शीर्षक लेख।

परसाद दो — जहर दो
अमर करो — मार डालो

भारत के आजाद होने के पूर्व यहाँ के आतंकवादियों एवं क्रान्तिकारियों में भी इस प्रकार की कुछ गुप्त भाषाएँ तथा लिपियाँ प्रचलित थीं। इन पंक्तियों के लेखक को भी इस जीवन का कुछ अनुभव है। मुझे याद है कि एक नेता को एक बार बुलाने के लिए उन्हें तार में केवल 'ऐबसेंट' (absent=अनुपस्थित) लिखा गया था, और वे पूर्वनिर्णय के अनुसार आ गये थे।

लड़कों के गुप्त भाषा की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। मेरी बाल्यावस्था में मेरे ही साथियों में ऐसी तीन-चार गुप्त बोलियाँ प्रचलित थी। उनमें कम-से-कम तीन तो ऐसी थीं कि उसमें दो लड़के एक-एक घंटे तक बात कर सकते थे, और अन्य बोली वाले उसमें कुछ भी नहीं समझ पाते थे। वह है-—

राकस्तूरी पजा बोरे मकस्तूरी मासा = राम
गकस्तूरी पजा बोरे याकस्तूरी मासा=गया

इनमें इन दोनों स्थानों पर एक-एक अक्षर रखकर, शब्द और वाक्य बनाये जाते थे।

कुछ लोग र् और म् लगाकर बोलते थे, पर यह भाषा सुरक्षित नही समझी जाती थी। जैसे—

मरमैं खरमाना खरमा करमर जरगाऊँ गरमा—मैं खोना खाकर जाऊँगा।

सबसे आसान रास्ता 'फ़ुल' लगा कर था—

फ़ुलभो फ़ुलला फ़ुलना फ़ुलथ—भोलानाथ

इलाहाबाद के समीप के कुछ गाँवों में 'अर्फ' लगाकर गुप्त रूप से बोलने का प्रचार है। जैसे—

'हम जात अही' के लिये—हर्फम जर्फात अर्फही

या

'तू आज आया' के लिये 'तुर्फ अर्फाज अर्फाया'

शब्दों में अक्षर उलट कर या हर अक्षर के बाद 'स' या अन्य अक्षर रखकर भी गुप्त भाषाओं का निर्माण लोग करते हैं।

कभी-कभी गुप्त भाषाओं की अलग लिपि भी होती है। एक लिपि मेरे देखने में भी आई थी जो बंगला, अँग्रेजी, उर्दू और नागरी के आधार पर थी—

चले आना =चALEAनA

गुप्त भाषा प्रतीकात्मक शब्द, नये शब्द, अंक, शब्दों या रूपों के आरम्भ, मध्य या अन्त में ध्वनि-योग तथा विपर्यय आदि की सहायता से प्रायः बनाई जाती है।

(ख) सामान्य भाषा

कृत्रिम भाषा के प्रथम रूप 'गुप्त भाषा' में हमने देखा कि भाषाएँ स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बनाई रहती है। 'सामान्य कृत्रिम भाषा' और 'गुप्त कृत्रिम भाषा' में अन्तर यह है कि गुप्त भाषा बातचीत के लिए बनती है, अतः प्रचलित भाषा से अधिकाधिक दूर रखी जाती है, ताकि कोई समझ न सके। किन्तु सामान्य भाषा में यह बात नही रहती। वह प्रचलित भाषा से मिलती-जुलती है और ऐसी बनाई जाती है कि यथाशीघ्र लोग उसे समझ कर उसका प्रयोग कर सकें।

डॉ० जमेनहाफ की बनाई एसपरैंतो भाषा ऐसी भाषाओं मे सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ससार भर के लिए बनाई गई है। इसका बहुत से देशो मे प्रचार है और विज्ञापन-सम्बन्धी, तथा कुछ अन्य विषयो की भी, अनेक पत्रिकाएँ इस कृत्रिम भाषा मे निकलती हैं। कुछ रेडियो-स्टेशनो से कभी कभी इस कृत्रिम भाषा मे प्रोग्राम भी सुनने मे आते हैं। ससार के अनेक शहरो की भाँति दिल्ली मे भी इसके पढाने की व्यवस्था है। इसके लिए एक अतर्राष्ट्रीय सस्था है जो सारे ससार मे इसके पूर्ण प्रचार के लिए प्रयत्नशील है।[1] इस प्रकार की एक दर्जन से ऊपर भाषाएँ बनाई जा चुकी हैं, जिनमे 'इडो', 'नोवियल', 'इटरलिगुवा', 'ऑक्सि-डेंटल' आदि प्रमुख हैं।

भाषा के कुछ अन्य रूप

ऊपर मूल भाषा, व्यक्ति-बोली, अपभाषा, उपबोली, बोली, भाषा, परिनिष्ठित भाषा, राष्ट्रभाषा, विशिष्ट भाषा तथा कृत्रिम भाषा पर सक्षेप मे प्रकाश डाला गया है। भाषा के कुछ अन्य (भाषाविज्ञान मे अपेक्षाकृत कम प्रचलित) रूप इस प्रकार हैं।

(१) साहित्यिक भाषा—जिसका प्रयोग साहित्य मे होता है। बोलचाल की भाषा की तुलना मे प्राय यह कुछ कम विकसित, कुछ अलकृत, कुछ कठिन तथा कुछ परम्परानुगामिनी होती है। इसे काव्य भाषा भी कहते हैं।

(२) जीवित भाषा—जो आज भी प्रयोग मे हो, जैसे 'हिन्दी'।

(३) मृत भाषा—जो आज प्रयोग मे नही, जैसे 'हिट्टाइट'।

(४) राजभाषा—जिसका प्रयोग राज्य के कामो मे होता है। सविधान के अनुसार हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा न होकर राजभाषा (Official Language) है, और वैधानिक दृष्टि से उसे राज्यभाषा ही कहना चाहिए, न कि राष्ट्रभाषा।

(५) जातिभाषा—जिसका प्रयोग केवल जाति-विशेष मे होता है। पीछे विशिष्ट भाषा में कहारो की भाषा की ओर सकेत किया जा चुका है। भील, मुसहर, बनिया, कायस्थ, ब्राह्मण आदि की बोलियाँ जातिभाषाएँ ही हैं। भाषा या बोली से इन जातीय रूपो मे ध्वनि, सुर, शब्द-समूह या मुहावरे सम्बन्धी विशेषताएँ होती हैं। यह प्राय देखा जाता है कि एक ही गाँव में ब्राह्मण की बोली कुछ और होती है, कायस्थ की कुछ और, तथा मुसहर आदि तथाकथित छोटी जातियो की कुछ और।

(६) स्त्री-भाषा—जिसका प्रयोग केवल स्त्रियाँ करें। उर्दू की 'रेख्ती' इसी श्रेणी मे आती है। 'क[illegible]' नाम की एक जगली जाति मे इस प्रकार का भेद और भी स्पष्ट है। वहाँ पुरुष 'करीब' बो[illegible]का प्रयोग करते हैं, किन्तु स्त्रियाँ 'अरोवक' नाम की बोली का प्रयोग करती है, जो उसी का उससे पर्याप्त भिन्न एक रूप है। कैलिफोर्निया के उत्तरी भाग मे 'यन' नामक आदिवासियो मे भी स्त्री और पुरुष की भाषा में पर्याप्त भेद है। वैसे सामान्यत भी गालियो की दृष्टि से दोनो मे अन्तर होता है।

(७) पुरुष भाषा—जिसका प्रयोग केवल पुरुष करें। ऊपर स्त्री-भाषा मे इसके उदाहरण दिये गये हैं।

(८) बच्चों की भाषा—बच्चो की भाषा भी थोडी अलग होती है। हिन्दी मे बच्चों की भाषा मे मम (पानी), सूसू (पिशाब), छीछी (पाखाना) पुच्ची (प्यार), मिट्ठी (चुबन), पॉटी (टट्टी), हप्पा, अप्पा (खाना), निन्नी (नीद) आदि शब्द चलते हैं।

---

१ विस्तार के लिए देखिये 'कृत्रिम भाषा' शीर्षक परिशिष्ट।

ग्राम्य, शिष्ट, अशिष्ट, साधु, असाधु, विकृत आदि भी भाषा के और बहुत से रूप हो सकते है।

(९) **मिश्रित भाषा** (Pidgin)—जिसमें एक से अधिक भाषाओं का मिश्रण हो। बन्दरगाहों आदि पर ऐसी भाषा प्रायः सुनाई पड़ती है। चीन के कुछ नगरों मे प्रयुक्त 'पिजिन इंगलिश' इसका अच्छा उदाहरण है। कलकतिया हिन्दी, बबइया हिन्दी भी एक सीमा तक वही है। लेबिदोफ ने अपने 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' में ऐसी ही कलकतिया भाषा को लिया है। भूमध्यसागर के बन्दरगाहो मे प्रयुक्त 'सबीर' भाषा (ग्रीक, अरबी, फ्रेंच, स्पैनिश तथा इतालवी आदि के मिश्रण से बनी) या 'मारिशस' की 'क्रियोल' भी इसी श्रेणी की है।

(१०) **सहायक** (Auxiliary) **भाषा**—वह भाषा जो सामाजिक संप्रेक्षण के लिए प्रयुक्त न होकर ज्ञानवर्धन के लिए प्रयुक्त होती है। जैसे सस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि क्लासिकी भाषाएँ। इसे 'पुस्तकालीय भाषा' भी कहते है।

(११) **सपूरक** (Supplementary) **भाषा**—पर्यटको तथा राजनयिको आदि के द्वारा सीमित प्रयोग के लिए सीखी जाने वाली भाषा।

(१२) **परिपूरक** (Complementary) **भाषा**—मातृ भाषा के साथ-साथ सामाजिक स्तर पर पूरक के रूप मे प्रयुक्त होने वाली भाषा। जैसे भारत मे अंग्रेजी।

(१३) **सम्पर्क** (Contact) **भाषा**—जो अन्य लोगो से सम्पर्क के काम आये। हिन्दी धीरे-धीरे भारत की सम्पर्क भाषा बनती जा रही है। एक ही भाषा परिपूरक और सम्पर्क दोनों भी हो सकती है।

(१४) **समतुल्य** (Equative) **भाषा**—जब कोई व्यक्ति धीरे-धीरे किसी भाषा का उन सभी सामाजिक संदर्भो मे प्रयोग करने लगे, जिसमे वह मातृभाषा का प्रयोग करता रहा है तो उसे समतुल्य भाषा कहते है। उदाहरण के लिए विभिन्न देशो से बहुत लोग अमेरिका मे जाकर अपनी मातृभाषा को छोड़कर प्रायः मातृभाषा के रूप मे अंग्रेजी ही बोलने लगे है, अतः अंग्रेजी उनके लिए समतुल्य भाषा हो गई है।

(१५) **पिजिन** और (१६) **क्रियोल** के लिए देखिए 'समाज भाषा विज्ञान' शीर्षक अध्याय।

(१७) **प्रयुक्ति**—प्रत्येक भाषा की कई प्रयुक्तियाँ (देखिये परिशिष्ट) होती है, जो भाषा-विशेष के विभिन्न रूप है।

भाषा और बोली में अन्तर

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, भाषा और बोली मे शुद्ध भाषावैज्ञानिक स्तर पर भेद बतलाना कठिन है। इनमे अन्तर तात्विक न होकर व्याहारिक है। इसे अनेक विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है।[1] यों सामान्यतः कुछ बाते कही जा सकती है:

---

१. "In the course of the survey, it has sometimes been difficult to decide whether a given form of speech is to be looked upon as an independent language or as a dialect of some other definite form of speech. In practice it has been found that it is sometimes impossible to decide the question in a manner which will gain universal acceptance. The two words 'language' and 'dialect' are in this respect like 'mountain' and 'hill'. One has no hesitation in saying that, say Everest is a mountain and Holborn Hill, a hill, but between two the dividing line cannot be accurately drawn." —ग्रियर्सन

"To the linguist there is no real difference between dialect and a languae..."—सपीर

"There is no intrinsic difference between language and dialect."—पेई।

(क) जैसा कि ऊपर कहा गया है, भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा बोली का छोटा। (ख) एक भाषा की (या के अन्तर्गत) एक या अधिक बोलियाँ हो सकती हैं। इसके विपरीत भाषा बोली के अन्तर्गत नहीं आती, अर्थात्, किसी बोली में एक या अधिक भाषाएँ नहीं हो सकतीं। (ग) बोली किसी भाषा से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार भाषा बोली में माँ-बेटी का सम्बन्ध है। (घ) बोधगम्यता—बोधगम्यता के आधार पर भी इस सम्बन्ध में कुछ उपादेय बातें कही जा सकती हैं। यदि दो व्यक्ति जिनका बोलना ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि से एक नहीं है, किन्तु वे एक-दूसरे की बातें काफी समझ लेते हैं तो उनकी बोलियाँ किसी एक भाषा की बोलियाँ हैं, अर्थात् पारस्परिक बोधगम्यता किसी एक भाषा की कसौटी है। इसके विपरीत, विभिन्न भाषाओं के बीच या तो यह बोधगम्यता बिल्कुल नहीं (अँग्रेजी-हिन्दी) होती या कम (पंजाबी-हिन्दी) होती है। यों यह बोधगम्यता का आधार भी बहुत तात्त्विक नहीं है। उदाहरण के लिए, हरियानी-भाषी पंजाबी-भाषी को काफी समझ लेता है, किन्तु अवधी-भाषी उस सीमा तक नहीं समझ पाता, यद्यपि हरियानी एवं अवधी हिन्दी भाषा की बोलियाँ हैं, और पंजाबी एक स्वतन्त्र भाषा है। (ङ) भाषा प्रायः साहित्य, शिक्षा तथा शासन के कार्यों में भी व्यवहृत होती है, किन्तु बोली लोक-साहित्य और बोलचाल में ही। यद्यपि इसके अपवाद भी कम नहीं मिलते, विशेषतः साहित्य में। उदाहरण के लिए, आधुनिक काल से पूर्व के हिन्दी का सारा साहित्य ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि तथाकथित बोलियों में ही लिखा गया है। (च) भाषा का मानक रूप होता है, किन्तु बोली का नहीं। (छ) भाषा बोली की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित होती है, अतः औपचारिक परिस्थितियों में प्रायः इसी का प्रयोग होता है। (ज) बोली बोलने वाले भी अपने क्षेत्र के लोगों से तो बोली का प्रयोग करते हैं किन्तु अपने क्षेत्र के बाहर के लोगों से भाषा का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार भाषा और बोली का अन्तर भाषावैज्ञानिक न होकर समाजभाषावैज्ञानिक है।

---

३ | संसार की भाषाएँ और उनका वर्गीकरण

संसार में अनेकानेक भाषाएँ तथा बोलियाँ है। लोकोक्ति है :

चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी।

अर्थात्, पानी का स्वाद हर चौथे कोस पर कुछ-न-कुछ बदल जाता है और भाषा आठवें कोष पर कुछ-न-कुछ परिवर्तित हो जाती है। सोचने की बात है कि जब हर आठ कोस पर भाषा मे कुछ-न-कुछ परिवर्तन दृष्टिगत होने लगता है तो इतने लंबे-चौड़े संसार में कितनी अधिक भाषाएँ और बोलियाँ होंगी। गणना करने वालों ने बतलाया है कि इनकी संख्या २७९६ है।

संसार की इन २७९६ भाषाओं और बोलियों में कुछ अत्यन्त प्रधान भाषाओं और बोलियों के विषय मे हम आगे विचार करेंगे। यहाँ पहले उनको वर्गीकृत करने की समस्या पर विचार करना है।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है, जिनमें प्रधान निम्नांकित है

(१) **महाद्वीप के आधार पर**—जैसे एशियाई भाषाएँ, यूरोपीय भाषाएँ तथा अफ्रीकी भाषाएँ आदि।

(२) **देश के आधार पर**—जैसे चीनी भाषाएँ तथा भारतीय भाषाएँ आदि।

(३) **धर्म के आधार पर**—जैसे मुसलमानी भाषाएँ, हिन्दू भाषाएँ तथा ईसाई भाषाएँ आदि।

(४) **काल के आधार पर**—जैसे प्रागैतिहासिक भाषाएँ, प्राचीन भाषाएँ, मध्ययुगीन भाषाएँ तथा आधुनिक भाषाएँ आदि।

(५) **भाषाओं की आकृति के आधार पर**—जैसे अयोगात्मक तथा योगात्मक भाषाएँ।

(६) **परिवार के आधार पर**—जैसे भारोपीय परिवार की भाषाएँ, एकाक्षर परिवार की भाषाएँ, द्रविड परिवार की भाषाएँ आदि।

(७) **प्रभाव के आधार पर**—जैसे संस्कृत-प्रभावित भाषाएँ, तथा फारसी-प्रभावित भाषाएँ आदि।

वर्गीकरण[1] के उपर्युक्त सात आधारो मे भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्व केवल अंतिम तीन आधारों पर किये गये वर्गीकरणों का ही है।

इन वर्गीकरणो मे तीसरा अभी तक अपनी शैशवावस्था मे है। जर्मन भाषा मे इसे sprachbund नाम दिया गया है। इस प्रकार के अध्ययन से भी भाषा-विषयक बहुत सुन्दर निष्कर्ष प्रकाश मे लाये जा सकते हैं। दो ऐसी भाषाओं में जो पारिवारिक या आकृतिमूलक दृष्टि से एक दूसरे के समीप नहीं हैं, इस दृष्टि से एक-दूसरे के समीप आ जाती हैं, और उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, हिंदी और तमिल मे पारिवारिक या आकृतिमूलक दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु संस्कृत के प्रभाव के कारण दोनो मे शब्द-समूह तथा ध्वनि आदि की दृष्टि से समानता है। अफ्रीका में भी इस प्रकार के अध्ययन की पर्याप्त गुंजाइश है।

शेष दो वर्गीकरण आकृतिमूलक (आकृति या रचना के आधार पर) और पारिवारिक (परिवार के आधार पर) नाम से अभिहित किये जाते हैं। आगे इन दोनो पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

जैसा कि आगे चलकर हम लोग देखेंगे, किसी वाक्य का अर्थ हम दो चीजो के कारण समझते हैं। एक है 'अर्थतत्त्व' और दूसरा 'सम्बन्धतत्त्व'। 'राम ने रावण को मारा' इस वाक्य मे 'राम', 'रावण' तथा 'मारना' ये तीन अर्थतत्त्व है और 'ने', 'को' तथा मारा का 'आ' ये तीन 'सम्बन्धतत्त्व' या पद-रचना के तत्त्व है। अर्थात्, इन्ही तीनो के कारण उन 'अर्थतत्त्वों' का आपस मे सम्बन्ध स्पष्ट होता है कि राम ने मारा, रावण ने नही, और रावण मारा गया, राम नही, तथा वर्तमान काल मे नही मारा गया, बल्कि भूतकाल मे। कुछ और उदाहरणो से इन दोनों के भेद और स्पष्ट हो जायेंगे। करना, खोना, रोना, सोना, या उससे, तुमसे, राम से, या आया, गया, खाया, धोया, आदि मे अर्थतत्त्व, अर्थात् अर्थ या भाव तो भिन्न-भिन्न हैं किन्तु प्रथम चार मे संबंध-तत्त्व या पद-रचना की समानता है, अर्थात् सभी मे 'ना' है। इसी प्रकार दूसरे तीन मे भी सब के अन्त मे 'से' है तथा तीसरे चार मे सब के अन्त मे 'आ' है, अतएव इन दूसरे तीन' तथा तीसरे 'चार' मे भी सम्बन्धतत्त्व या पद-रचना की समानता है। दूसरी ओर खाकर खाया, खाता, खा, खायेगा, तथा खाए से सम्बन्धतत्त्व या पद-रचना की भिन्नता है किन्तु अर्थतत्त्व की समानता है, अर्थात् खाने का भाव सभी मे है।

सम्बन्धतत्त्व या पद-रचना का सम्बन्ध व्याकरण या भाषा की 'रूप-रचना' से है, इसीलिए संबंधतत्त्व, पद-रचना या व्याकरणिक समानता पर आधारित वर्गीकरण आकृति-

---

1 इस प्रसंग में 'लिंग्विस्टिक टाइपॉलोजी' (Linguistic Typology)—भाषायी प्रकार) का नाम भी लिया जा सकता है। 'लिंग्विस्टिक टाइपॉलोजी' का प्रयोग विद्वानो ने एक से अधिक अर्थों मे किया है। कुछ लोग इसे 'आकृतिमूलक वर्गीकरण' का पर्याय-सा मानते हैं। इसी अर्थ मे कैरोल आदि विद्वानो ने इसका नाम लेते हुए भाषा के ३ वर्गों (isolating, agglutinative, inflective) का उल्लेख किया है। बिल्कुल आधुनिक काल मे अमेरिका मे हॉकेट तथा जोसेफ आदि कुछ अन्य विद्वानों ने सांख्यिकीय (statistical) दृष्टिकोण से इस पर विचार किया है। अब कुछ लोग इसमे ध्वनियों की तुलना के आधार पर भाषा-वर्गीकरण के पक्ष मे हैं। मेरी व्यक्तिगत राय तो यह है कि लिंग्विस्टिक टाइपॉलोजी' के phonemic, phonetic, syntactic और morphemic आदि उतने ही भेद किये जाने चाहिए, जितने भाषाविज्ञान के प्रमुख विभाग हैं, और उन सभी के आधार पर भाषा-प्रकार (linguistic type) हो सकते हैं। इनमे आकृति या रूप पर आधारित अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, किंतु शेष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

मूलक या रूपात्मक कहलाता है। मूल शब्द से रूप बनाने की प्रक्रिया या पद्धति के आधार पर जो भाषाएँ समानता रखती है, इसके अनुसार एक वर्ग में रक्खी जाती हैं। इसे **'व्याकरणिक वर्गीकरण'** या **'रचनात्मक वर्गीकरण'** भी कहा जा सकता है। वाक्य इन रूपों के ही आधार पर बनते है, अतः इस वर्गीकरण का सम्बन्ध 'वाक्य' से भी है, इसीलिए इसे **वाक्यात्मक'** या **'वाक्यमूलक'** वर्गीकरण भी कहते है।[१] हिन्दी मे इसके लिए **रूपाश्रित, पदात्मक** तथा **पदाश्रित** आदि कुछ अन्य नामों का भी कभी-कभी प्रयोग होता है।

दूसरे वर्गीकरण—**पारिवारिक**—में अर्थतत्त्व की समानता पर भी ध्यान देते हैं। **'पारिवारिक वर्गीकरण'** को **वंशात्मक', 'वंशानुक्रमिक', 'कुलात्मक'** या **'ऐतिहासिक'** वर्गीकरण भी कहते हैं।[२]

आकृतिमूलक (typological) वर्गीकरण

इन वर्गीकरण का आधार सम्बन्धतत्त्व है। इसमे दो बातों पर ध्यान देना आवश्वक है—

(१) प्रथमतः, वाक्य में शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार प्रकट किया गया है? उदाहरण के लिए यदि हम "मैंने भोजन किया" वाक्य लें तो 'मैं', 'भोजन' और 'करना' अर्थतत्त्वों का सबंध एक-दूसरे से किस प्रकार प्रकट किया गया है, या वे एक दूसरे से किस प्रकार बाँधे गये है।

(२) दूसरे, 'मैंने', 'भोजन' और 'किया' ये तीनों शब्द किस प्रकार धातु प्रत्यय या उपसर्ग लगा कर बनाये गये है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि वाक्यविज्ञान और रूपविज्ञान, या वाक्य-रचना एवं (रूप या) पद-रचना पर ही यह वर्गीकरण आधारित है।
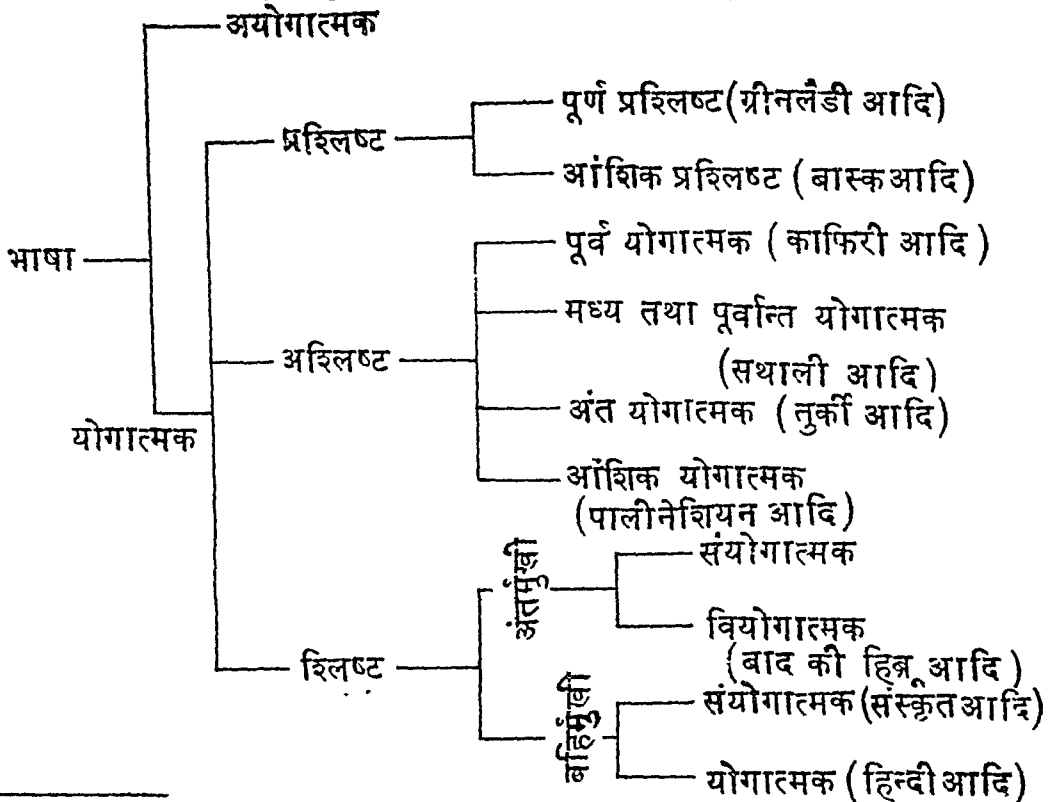
१ अँग्रेज़ी मे इसे morphological, typical, typological, या syntactical classification आदि कई नामों से पुकारा जाता है। यों सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन सभी मे कुछ-न-कुछ अन्तर है।

२. अँग्रेज़ी मे इसे geneological या historical classification कहते है।

भाषाओ के आकृतिमूलक वर्गीकरण की परम्परा पुरानी है, किन्तु महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो मे इस दृष्टि से प्रथम नाम श्लेगल का लिया जा सकता है। उन्होने भाषाओ को दो वर्गों मे रक्खा था। आगे चलकर बॉप ने श्लेगल के मत को काट दिया और तीन वर्ग बनाये। प्रिम और श्लाइखर भी कुछ दूसरे रूप मे तीन वर्गों के ही पक्ष मे थे। पॉट ने चार वर्ग बनाये। अधिक प्रचलित मत २, ३, ४ वर्गों के ही रहे हैं। यो कुछ लोगो ने इसे और बढाने का भी प्रयास किया है सामान्य दृष्टि से इसके एक दजन से अधिक वर्ग बनाये जा सकते हैं, किन्तु तत्त्वत अधिक वैज्ञानिक वर्ग केवल दो ही बनते है। शेष सारे वर्ग किसी न किसी रूप मे इन्ही दो के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिए यहाँ दो वर्ग वाले मत को ही पहले लिया जा रहा है। शेष मतो पर आगे सक्षेप मे प्रकाश डाला जायगा।

आकृति या रूप की दृष्टि से ससार की भाषाओ को प्रमुखत दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) अयोगात्मक भाषाएँ[1]

(ख) योगात्मक भाषाएँ[2]

आगे इनके अन्य भी बहुत से वर्ग-उपवर्ग बनाये जा सकते है, जिन्हे वृक्षरूप मे पिछले पृष्ठ पर दिये गये ढग मे दिखाया जा सकता है।

अब इन पर कुछ विस्तार से विचार किया जा सकता है।

(१) **अयोगात्मक भाषाएँ**—जैसा कि 'अयोग' शब्द से स्पष्ट है, इस वर्ग की भाषाओ मे 'योग' नही रहता, अर्थात् शब्दो मे उपसर्ग या प्रत्यय आदि जोडकर अन्य शब्द, या वाक्य मे प्रयुक्त होने योग्य रूप नही बनाये जाते। उदाहरणार्थ, सस्कृत मे 'राम' मे 'एण' प्रत्यय जोडकर 'रामेण' बनाया जाता है, या हिन्दी मे 'मुझे दो' वाक्य मे प्रयोग करने के लिए 'मैं' मे कुछ जोड-घटाकर 'मुझे' बनाना पडता है। पर अयोगात्मक भाषाओ मे इस प्रकार के योग की आवश्यकता नही पडती। उनमे किसी भी शब्द म कोई परिवतन नही होता। वाक्य मे स्थान के अनुसार शब्दो का अर्थ लगा लिया जाता है। इसीलिए इन भाषाओ को 'स्थान-प्रधान' भी कहते है।

हिन्दी मे भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमे शब्दो मे विकार नही होता और स्थान बदलने से अर्थ बदल जाता है (यद्यपि ऐसे उदाहरण अपवाद-से है।) (जैसे 'राधा सीता कहती है' तथा 'सीता राधा कहती है'। इन भाषाओ के वाक्यो मे शब्द, स्थान और प्रयोग के अनुसार सज्ञा, विशेषण, क्रिया और क्रियाविशेषण आदि हो सकता है। उसमे में किसी प्रकार का विकार या परिवतन नहीं होता। कुछ उदाहरण दिये जा सकते है—

(१)	'ता लेन' = बडा आदमी
	'लेन ता' = आदमी बडा (है)
(२)	'ग्गो त नि' = मैं मारता हूँ तुमको।
	'नि त ग्गो' = तुम मारते हो मुझको।

१ इस वर्ग की भाषाओ के लिए isolating positional inorganic व्यास-प्रधान निपात-प्रधान, वियोगात्मक, स्थान-प्रधान, अलगात्मक विकीर्ण, एकाक्षर, एकाच्, धातु प्रधान, निरिन्द्रिय, निरवयव, निर्योग तथा निर्योगी आदि बहुत-से नामो का अंग्रेजी और हिन्दी की पुस्तको में प्रयोग मिलता है।

२ इस वर्ग की भाषाओ के लिए agglutinating organic, agglomerating abounding in affixes, प्रकृति-प्रत्यय-प्रधान, उपचयात्मक, सचयात्मक, प्रत्यय-प्रधान, सयोगात्मक, सयोगी, सयोग-प्रधान, व्यक्तयोग, उपचयोन्मुख, सचयोन्मुख तथा सावयव आदि भी प्रयोग मिलता है।

यहाँ तक कि विभिन्न काल की क्रियाओं के रूप बनाने में भी शब्दों में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ, हिन्दी के 'चलना' का भूतकाल 'चला' बनेगा, जो देखने में 'चलना' से भिन्न है। पर पुरानी चीनी में —

त्सेन (Tsen) = चलना' का भूतकाल बनाने के लिए इसके आगे लिओन (Lion) जिसका अर्थ 'समाप्त' है, रख देंगे।

त्सेन लिओन = चला (शाब्दिक अर्थ 'चलना समाप्त')

कहना न होगा कि दोनों में 'त्सेन' का रूप एक है। आगे दूसरा शब्द मात्र आने से काल-परिवर्तन हो गया। मूल शब्द में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न कोई जोड़ना-घटाना अपेक्षित हुआ।

इसी प्रकार

त लइ (Ta Lai) = वह आता है।

त लइ लिआव (Ta Lai Liao) = वह आया।

यहाँ यह भी स्पष्ट है कि इन भाषाओं मे प्रत्येक शब्द की अलग-अलग सम्बन्ध-तत्त्व तथा अर्थतत्त्व व्यक्त करने की शक्ति होती है, और वाक्य में स्थान के अनुसार ही उनके ये तत्त्व जाने जाते है। ऊपर हम देख चुके हैं कि लिओन (Lion) का अर्थ-तत्त्व है 'ख़त्म करना' या 'समाप्त', किन्तु 'त्सेन लिओन' में वह सम्बन्धतत्त्व हो गया है, और भूतकाल का भाव व्यक्त करता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में लिआव (Liao) का अर्थतत्त्व है 'पूर्ण' या 'पूर्णता', पर यहाँ वह सम्बन्धतत्त्व होगया है और भूतकाल का भाव व्यक्त कर रहा है। इस प्रकार वहाँ शब्दों के सम्बन्धतत्त्व तथा अर्थतत्त्व रूप मे दो अर्थ होते है। उदाहरण के लिए, एक, शब्द 'य्' लें। इसका अर्थतत्त्व रूप में अर्थ है 'प्रयोग' पर सम्बन्धतत्त्व रूप में 'से'। इसी प्रकार 'त्सि' के अर्थतत्त्व का अर्थ है 'स्थान', पर सम्बन्धतत्त्व का अर्थ है 'का'।

अन्य प्रकार की भाषाओं की तरह इस वर्ग की भाषाओं में शब्दों के व्याकरणिक रूप स्पष्टतः अलग-अलग नहीं होते। ऊपर के वाक्यों में 'न्गो' का अर्थ 'मैं' और 'मुझको' दोनों है, इसी प्रकार 'नि' का अर्थ 'तुम' भी है और 'तुमको' भी। केवल स्थान से ही इस अन्तर का पता चल सकता है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि अयोगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व का बोध शब्दों में कुछ जोड़कर (जैसे हिन्दी में 'मैं' से 'मैंने') या कुछ भीतरी विकार या परिवर्तन लाकर (जैसे 'मैं' से 'मुझे') नहीं कराया जाता, अपितु सम्बन्धतत्वबोधक ('लिओन' या या 'लिआव' आदि) शब्दों को जोड़कर या मात्र स्थान-विशेष पर मूल शब्दों को रख कर ही कराते है।

अयोगात्मक भाषाओं में 'शब्द-क्रम' का महत्त्व तो है, किन्तु इसके साथ यहाँ तान (tone, सुर, स्वर या लहजा) का भी महत्त्व है। उससे भी सम्बन्ध दिखाये जाते हैं। इसी प्रकार निपात (particle) या सम्बन्धसूचक या अपूर्ण शब्दों का भी आधार लिया जाता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

चीनी के अतिरिक्त अफ्रीका की सूडानी (स्थान-प्रधान), एशिया की मलय (यह एकाक्षर नहीं है), अनामी (स्वर-प्रधान), बर्मी (निपात-प्रधान), स्यामी तथा तिब्बती (निपात-प्रधान) आदि भाषाएँ भी लगभग इसी प्रकार की हैं।

(२) **योगात्मक भाषाएँ**—अयोगात्मक भाषाओं में अर्थतत्त्व तथा सम्बन्ध-तत्त्व में योग नहीं होता। या तो सम्बन्धतत्त्व की आवश्यकता ही नहीं होती; केवल स्थान-क्रम से

सम्बन्ध का पता चल जाता है, या सम्बन्धतत्त्व रहता भी है तो वह अर्थतत्त्व से मिलता नहीं। इसके विपरीत योगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्व और अर्थतत्त्व दोनों में योग हो जाता है, अर्थात् वे मिले-जुले रहते हैं। 'मेरे घर आना' हिन्दी का एक वाक्य लें। इसमें, 'मेरे' में अर्थ-तत्त्व (मैं) तथा सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्ध-वाचकता प्रकट करने वाला प्रत्यय जिसके कारण 'मेरे' शब्द बना है और जिसके कारण इसका अर्थ 'मैं का' हुआ है) दोनों मिले-जुले हैं। संस्कृत का एक वाक्य 'रामः हस्तेन धनं ददाति' (राम हाथ से धन देता है) लें। इसमें राम् (अर्थतत्त्व)+अ (सम्बन्धतत्त्व), हस्त् (अर्थतत्त्व)+एन (सम्बन्धतत्त्व), धन (अर्थतत्त्व)+अम् (सम्बन्धतत्त्व), तथा दा (=देना, अर्थतत्त्व)+ति (सम्बन्धतत्त्व) मिले हैं, या इन अर्थतत्त्वों और सम्बन्धतत्त्वों में 'योग' है। इस योग के कारण ही ये भाषाएँ योगात्मक कही जाती हैं। संसार की अधिकांश भाषाएँ योगात्मक हैं।

योगात्मक भाषाओं को योग की प्रकृति के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा जाता है—

(क्ष) प्रश्लिष्ट-योगात्मक (Incorporating)[1]

(त्र) अश्लिष्ट-योगात्मक (Simple agglutinative)

(ज्ञ) श्लिष्ट-योगात्मक (Inflecting)[2]

स्पष्टता के लिए इन तीनों वर्गों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

(क्ष) प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ[3]—प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व तथा अर्थ तत्त्व का योग इतना मिला-जुला होता है कि उन्हें अलग-अलग न तो पहचाना जा सकता है और न एक को दूसरे से अलग ही किया जा सकता है, जैसे संस्कृत 'ऋतु' से 'आर्तव' या 'शिशु' से 'शैशव'। प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओं के भी दो भेद किये गये हैं। एक में योग पूर्ण रहता है और दूसरे में आंशिक या अपूर्ण। ये दोनों भेद इस प्रकार हैं—

(क) पूर्ण प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ[4] (Completely Incorporative)—इन भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व का योग इतना पूर्ण रहता है कि पूरा वाक्य लगभग एक ही शब्द बन जाता है। इस प्रकार की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वाक्य में पूरे शब्द नहीं आते, बल्कि उनका कुछ अंश छूट जाता है और इस प्रकार आधे-आधे शब्दों के संयोग से बना हुआ लम्बा सा शब्द ही वाक्य हो जाता है। ग्रीनलैंड तथा अमेरिका के मूल निवासियों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

(१) दक्षिणी अमरीका की चेरोकी भाषा में—

नातेन=लाओ

अमोखोल=नाव

निन =हम

---

१ बहुसंश्लेषात्मक (polysynthetic) अव्यक्त-योगात्मक (holophrastic) 'समास-प्रधान', 'संघाती' 'संघात-प्रधान' भी इसी के नाम हैं।

२ Inflexional, विभक्ति-प्रधान, संस्कार-प्रधान, विकृति-प्रधान भी इसी के नाम हैं।

३, इसे समास-प्रधान या बहुसंहित भी कहा गया है।

४ इन्हें 'पूर्ण समास-प्रधान' भी कहते हैं।

इन शब्दों से वाक्य बनाने में शब्द अपना थोड़ा-थोड़ा अंश छोड़ कर इस प्रकार मिलते हैं कि एक बड़ा-सा शब्द बन जाता है—'नाधोलिनिन' (हमारे पास नाव लाओ)

(२) इसी प्रकार ग्रीनलैंड की भाषा मे भी—

अउलिसर मछली मारना

पेअर्तोर=किसी काम में लगना

पिन्नेसुअर्पोक्=वह शीघ्रता करता है

इन तीनों से मिलकर एकशब्दीय वाक्य बनता है—

'अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोक्' = वह मछली मारने के लिए जल्दी जाता है।

(ख) **आंशिक प्रश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ**[1] (Partly Incorporative)—इन भाषाओं मे सर्वनाम तथा क्रियाओ का ऐसा सम्मिश्रण हो जाता है कि क्रिया अस्तित्वहीन होकर सर्वनाम की पूरक हो जाती है। पेरीनीज़ पर्वत के पश्चिमी भाग में बोली जाने वाली बास्क भाषा कुछ अंशो मे आशिक प्रश्लिष्ट-योगात्मक है। इसके दो उदाहरण दिये जा रहे है—

दकारकिओत=मै इसे उसके पास ले जाता हूँ।

नकारसु =तू मुझे ले जाता है।

हकारत =मै तुझे ले जाता हूँ।

इन वाक्यों मे केवल सर्वनाम और क्रियाएँ है। पूर्ण प्रश्लिष्ट की भाँति आशिक प्रश्लिष्ट में संज्ञा, विशेषण, क्रिया और अव्यय आदि सभी का योग संभव नही होता।

भारोपीय परिवार की भाषाओ मे भी इसके कुछ उदाहरण मिल जाते हैं—गुजराती मे—'में कह्यु जे' का 'मकुंजे' (=मैने वह कहा)। मुल्तानी तथा हरियानी मे मखाँ (मैने कहा)। मेरठ की बोली मे—'उसने कहा' का 'उन्नेका'।

अँग्रेजी, बँगला फ्रेंच तथा भोजपुरी आदि अन्य बहुत-सी भाषाओं तथा बोलियों के मौखिक रूप मे भी इसके उदाहरण मिल जाते है, पर ये अपवाद ही है। इसका आशय यह नही कि ये भाषाएँ आंशिक प्रश्लिस्ट है। बाटू भाषा मे भी इसके उदाहरण मिलते है।

इस संदर्भ मे यह एक बात स्मरणीय है कि कोई भी भाषा विशुद्ध रूप से आशिक प्रश्लिष्ट-योगात्मक नही है।

(ब) **अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ**[2]—अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओ मे सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) अर्थतत्त्व से इस प्रकार जुड़ा होता है कि 'तिल-तडुलवत्' दोनो ही स्पष्ट रूप से दीखते है। हिन्दी इस प्रकार की भाषा नहीं है, पर उसमे से समझने के लिए कुछ उदाहरण खोजे जा सकते है—

सुन्दरता (सुन्दर +ता)

मैने (मैं+ने)

करेगा (कर्+ए+गा)

---

१. इसे 'अंशतः समास-प्रधान' भी कहते है।

२. इसे प्रत्यय-प्रधान भी कहते है।

इन सभी मे दोनो तत्त्व (अर्थ तथा सम्बन्ध) स्पष्ट हैं। इस स्पष्टता के कारण इस प्रकार की भाषाओ की रूप-रचना बहुत ही आसान होती है। भाषावैज्ञानिको को आदर्श और कृत्रिम भाषा 'एसपरैंतो' का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।

अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाओ को भी कई वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

(क) पूर्वयोगात्मक या पुर प्रत्यय-प्रधान (Prefix Agglutinative)—इन भाषाओ में प्रत्यय के स्थान पर उपसर्ग का प्रयोग होता है। शब्द वाक्य के अन्तगत बिल्कुल अलग-अलग रहते हैं। शब्दों को रूप-रचना में सम्बन्धतत्त्व केवल आरम्भ में लगता है, इसी कारण ये 'पूर्वयोगात्मक' कही जाती है। अफ्रीका मे बाटू भाषाओं में यह विशेषता स्पष्ट रूप से पायी जाती है।

उदाहरण लीजिए—

जुलू भाषा में।

उमु = एकवचन का चिह्न
अब = बहुवचन का चिह्न
न्तु = आदमी
न्ग = से

इनके योग मे शब्द बनते है—

उमुन्तु एक आदमी
अबन्तु = कई आदमी
न्गउमुन्तु = आदमी से
न्गअबन्तु = आदमियो मे

कहने की आवश्यकता नही कि इन सभी उदाहरणो में योग ('उमु' या 'अब' आदि सम्बन्धतत्त्व का) आरम्भ में हैं। इसी प्रकार काफिर भाषा में भी—

कु = सम्प्रदान कारक का चिह्न
ति = हम

इनके योग मे

कति = हमको
कनि = उनको

यहाँ जुलू का एक वाक्य भी देखा जा सकता है। ऊपर 'उमु' 'अब' तथा 'न्तु' का अर्थ हम दे चुके हैं। इनके अतिरिक्त

तु = हमारा
चिल सुन्दर
यबोनकल = दिखाई पडना

इनके मिलाने से एकवचन मे—

उमुन्तु वेतु ओमुच्ले उयबोनकल = हमारा आदमी देखने मे सुन्दर है।

इसका बहुवचन आरम्भिक अश मे परिवर्तन-करने से हो जाता है—

अबन्तु वेतु अबचल वयनोकल = हमारे आदमी देखने में सुन्दर हैं।

(ख) मध्य योगात्मक या अत प्रत्यय प्रधान (Infix Agglutinative)—इस के उदाहरण भारत की, तथा हिन्द महासागर के द्वीपो से लेकर अफीका के समीप से

मैडागास्कर आदि द्वीपों तक फैली भाषाओं में मिलते है। इनमें प्रायः शब्द दो अक्षरों के होते है और जैसा कि नाम (मध्य-योगात्मक) से स्पष्ट है, सम्बन्धतत्त्व दोनों के बीच में रक्खे या जोड़े जाते है।

मुंडा कुल की संथाली भाषा मे 'मंझि' (=मुखिया) और 'प' (बहुवचन का चिह्न) के योग से—

मपंझि=मुखिया लोग

यहाँ 'प' बीच में जोड़ा गया।

इसी प्रकार दल् (=मारना) से दपल (=परस्पर मारना)

अपवादस्वरूप बांटूभाषा में भी मध्य-योगात्मकता के कुछ उदाहरण मिलते है—

सि-तन्दा=हम प्यार करते है।
सि–म–तन्दा=हम उसे प्यार करते है।
सि–ब–तन्दा=हम उन्हें प्यार करते है।

इसी प्रकार तुर्की में भी कुछ मध्य योग के उदाहरण है—

सेव्मेक्=प्यार करना
सेव्इनमेक्=अपने को प्यार करना
सेव्इलमेक्=प्यार किया जाना

कहना न होगा कि बांटू तथा तुर्की के इन उदाहरणों मे शब्द दो अक्षरों से अधिक के है, इसीलिए ये मध्य-योगात्मक अश्लिष्ट भाषा के शुद्ध उदाहरण नहीं है।

(ग) पूर्वान्त-योगात्मक—इस श्रेणी की भाषाओं मे सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व के आगे और पीछे या पूर्व और अन्त मे लगाया जाता है, इसीलिए इन्हें 'पूर्वान्त-योगात्मक' कहते हैं।

न्यूगिनी की मकोर भाषा मे
'म्नफ़' =सुनना
ज—म्नफ़—उ = मैं तेरी बात सुनता हूँ।
(यहाँ पूर्व मे 'ज' और अन्त मे 'उ' जोड़ा गया है)

मध्य-योगात्मकता तथा पूर्वान्त-योगात्मकता के उदाहरण कई भाषाओं मे साथ-साथ ही मिलते है। पूर्व-योगात्मकता के बारे मे भी यह सत्य है।

(घ) अन्त्य-योगात्मक या पर-प्रत्यय प्रधान (Suffix Agglutinative)—इस वर्ग की भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व केवल अन्त मे जोड़ा जाता है। यूराल-अल्टाइक तथा द्रविड़ परिवार की भाषाएँ ऐसी ही हैं। कुछ उदाहरण लिये जा सकते है—

तुर्की

एव =घर
एवलेर =कोई घर
एवलेरइम=मेरे घर

कन्नड़

'सेवक' शब्द का बहुवचन में विभिन्न कारकों में रूप

कर्ता कारक में— सेवक-रु
कर्म " "— सेवक-रनु
करण " "— सेवक-रिद
सम्प्रदान" "— सेवक-रिग आदि

इसी प्रकार, हगरी की भाषा मे—

जार =बन्द करना
जारत्त बन्द करवाता है।
जारत्तुगत् अधिकतर बन्द करवाता है।

(ट) आंशिक-योगात्मक या ईषत् प्रत्यय-प्रधान (Partially Agglutinative)—योगात्मक शाखा के अश्लिष्ट वर्ग की अन्तिम उपशाखा आंशिक-योगात्मक भाषाओं की है। इस वर्ग की भाषाएँ यथायत योगात्मक और अयोगात्मक वर्ग के बीच मे पडती हैं। इन भाषाओ म योग और अयोग दोनो के ही चिह्न मिलते है। पर, ये भाषाएँ योगात्मक भाषाओ और उनमे भी अश्लिष्ट भाषाओ से भी कुछ समानता रखती है, अत इनको आंशिक (अश्लिष्ट) योगात्मक नाम दिया गया है। बास्क, हौसा, जापानी एव न्यूजीलैंड तथा हवाई द्वीप की भाषाएँ आंशिक योगात्मक ह।

कुछ भाषाएँ सर्वयोगात्मक या सर्वप्रत्यय-प्रधान भी है, जिनमे आदि, मध्य, अन्त तीनो प्रकार के योग होत ह। मलायन भाषाएँ इसी वर्ग की है।

(ज) श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ[1]—श्लिष्ट योगात्मक भाषाओ मे सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) को जोडने के कारण अर्थतत्त्व वाले भाग म भी कुछ विकार पैदा हो जाते हैं, परन्तु सम्बन्धतत्त्व की झलक अलग ही मालूम पडती है। रूप विकृत हो जाने पर भी सम्बन्धतत्त्व छिपा नही रहता। जैसे, अरबी मे क्-त्-ल् (=मारना) धातु से कत्ल (=खून), कातिल (मारने वाला), किल्ल (=शत्रु) तथा यक्तुलु (=वह मारता है), आदि। इसी प्रकार, सस्कृत मे वेद, नीति, इतिहास तथा भूगोल से वैदिक, नैतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि। सस्कृत के उदाहरणो मे, स्पष्ट है कि, अन्त मे 'इक' लगा है, पर साथ ही आरम्भ के 'व', 'नी', 'इ' तथा 'भू' मे विकार आ गया है और वे 'वै', 'नै', 'ऐ' तथा 'भौ' हो गये हैं।

इस वर्ग की भाषाएँ ससार मे सब से अधिक उन्नत हैं। सामी, हामी और भारोपीय परिवार इसी वर्ग के अन्तर्गत आते है।

श्लिष्ट-योगात्मक भाषाओ के भी दो उपवर्ग किये जाते हैं—(क) अन्तर्मुखी और (ख) बहिर्मुखी। यह विभाजन बहुत समीचीन नही है और न पूर्णतया लागू ही होता है, किन्तु आंशिक रूप से इसकी सत्यता अस्वीकार नही की जा सकती।

यहा दोनो पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(क) अन्तर्मुखी श्लिष्ट (Internal Inflectional)

इस वर्ग की भाषाओ मे, जोडे हुए भाग, मूल (अर्थतत्त्व) के बीच मे बिलकुल घुलमिल जाते हैं। सेमेटिक और हैमेटिक कुल की भाषाएँ इसी वर्ग की ह। अरबी भाषा इसके लिए उदाहरणस्वरूप ली जा सकती है। अरबी म धातु प्राय तीन व्यजनो (गुलासी) की होती है। सम्बन्धतत्त्व प्रधानतया स्वर होता है, जो व्यजनो के साथ घुलमिल जाता है। आशय

1 इन्हे विकारी या विभक्ति प्रधान भी कहा गया है।

स्पष्ट करने के लिए हम क्-त्-ब् धातु को लेते है, जिसका अर्थ 'लिखना' है
निम्न शब्द बने है—

कातिब = लिखने वाला।

किताब = जो लिखा (या लिखी) गया (या गयी) है।

कुतुब = बहुत-सी किताबें।

यहाँ क्-त्-ब् व्यंजन तीनों मे है, पर बीच-बीच मे विभिन्न स्वरों के आने से अर्थ बदलता गया है।

इस अन्तर्मुखी के भी दो भेद है—

(१) **संयोगात्मक** (Synthetic)—अरबी आदि सेमेटिक भाषाओं का पुराना रूप संयोगात्मक था। शब्दों मे अलग से सहायक सम्बन्धतत्त्व लगाने की आवश्यकता न थी।

(२) **वियोगात्मक** (Analytic)—आज इन भाषाओं मे शब्द साधारणतया बनते तो उसी प्रकार है, पर वाक्य की दृष्टि से वियोगात्मकता आ गई है, क्योंकि सहायक शब्दो की आवश्यकता पड़ती है। परवर्ती हिब्रू भाषा में यह बात विशेष रूप से दिखाई पडती है।

(ख) बहिर्मुखी-श्लिष्ट (External Inflectional)

इस वर्ग की भाषाओं मे जोड़े हुए भाग प्रधानतः मूल भाग (अर्थतत्त्व) के बाद आते हैं। जैसे, संस्कृत मे 'गम्' धातु से गच्छ्+अ+न्ति = गच्छन्ति (= जाते है)।भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसी विभाग मे आती है।

इसके भी भेद किये जा सकते है—

(१) **संयोगात्मक**—भारोपीय परिवार की पुरानी भाषाएँ (ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अवेस्ता आदि) संयोगात्मक थीं।इसमे सहायक क्रिया तथा परसर्ग आदि की आवश्यकता नहीं थी। शब्द मे ही सम्बन्धतत्त्व लगा रहता था, जैसे संस्कृत मे—सः पठति = वह पढ़ता है।

इस परिवार की लिथुआनियन भाषा तो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अधिक परिवर्तित न होने से आज भी संयोगात्मक ही है।

(२) **वियोगात्मक**—भारोपीय परिवार की अधिक भाषाएँ आधुनिक काल मे वियोगात्मक हो गई है। बहुत पहले उसकी विभक्तियाँ धीरे-धीरे घिस कर लुप्तप्राय हो गई, अतः अलग से शब्द लगाने की आवश्यकता पड़ने लगी और इस आवश्यकता के कारण परसर्ग तथा सहायक क्रिया के रूप में शब्द रखे जाने लगे। ऊपर हम लोग संस्कृत भाषा का 'सः पठति' संयोगात्मक उदाहरण देख चुके है। शब्द 'है' वहाँ 'पठति' मे ही था, किन्तु अब उसे अलग से ('पढ़ता है') लगाने की आवश्यकता पड़ गई है। परसर्ग या कारक-चिह्नों के विषय में भी यही बात है।

अंग्रेजी, हिन्दी, बँगला आदि वियोगात्मक भाषाएँ है। कुछ लोगो का कहना है कि आधुनिक भारोपीय वियोगात्मक भाषाएँ पुनः संयोगावस्था की ओर जा रही है और सम्भव है कि अपना वृत्त पूरा कर ये पुनः पूर्ण संयोगात्मक हो जायँ।

ऊपर भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण को वर्गों, उपवर्गों तथा उसके भेदोपभेदो के साथ समझाया गया है। स्थान-स्थान पर विभिन्न भाषाओ के उदाहरण भी दिये गये है। उदाहरणों का यह आशय नही समझना चाहिए कि जिस भाषा से ये लिये गये है, वह भाषा पूर्णरूपेण उस विशेष वर्ग, उपवर्ग या उसके भेद-विभेद से सम्बद्ध है। कोई भी भाषा पूर्णरूपेण अश्लिष्ट, श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट, अयोगात्मक या योगात्मक, आदि नही कही जा सकती। किसी

वर्ग या उपवर्ग के लक्षण किसी भाषा मे अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे मिलने पर प्राय वह भाषा उस वर्ग या उपवर्ग आदि की मान ली जाती है। कहीं-कहीं अपवादस्वरूप भी किसी वर्ग या उपवर्ग आदि के उदाहरण भाषा मे मिल गये हैं, और उन्हे समझने के लिए दे दिया गया है। ऐसे स्थलो मे स्पष्टता के लिए 'अपवादस्वरूप' या इसी भाव के अन्य शब्दो का प्रयोग कर दिया गया है।

कुछ विद्वानो[1] ने आकृति की दृष्टि से भाषाओं को तीन वर्गो मे रखा है—(क) योगात्मक, (ख) अयोगात्मक तथा (ग) विभक्तियुक्त। कहना न होगा कि तत्वत 'विभक्तियुक्त' वर्ग 'योगात्मक' मे ही समाहित हो जाता है। योगात्मक मे 'प्रकृति' (अर्थतत्त्व) और 'प्रत्यय' (सम्बन्धतत्त्व) का योग होता है और दोनो स्पष्ट रहते है। किन्तु, 'विभक्ति-प्रधान' मे वे इतने मिल जाते है कि उन्हे पहचानना असम्भव-सा हो जाता है। इस प्रकार, 'योग' दोनो मे ही है, एक म 'तिल-तडुल' के समान और दूसरे मे 'पानी-दूध' के समान। अत दोनो योगात्मक है। यहां यह भी जोड देना अन्यथा न होगा कि ऊपर जिस वर्गीकरण को विस्तार से देखा गया है, उसम योगात्मक के तीसरे भेद 'श्लिष्ट' के अन्तर्गत इस 'विभक्तियुक्त' वर्ग को रखा जा सकता है।

कुछ अन्य विद्वान्[2] भाषा की आकृति के आधार पर चार वर्ग बनाने के पक्ष मे हैं—(१) व्यास-प्रधान, (२) समास-प्रधान, (३) प्रत्यय-प्रधान, तथा (४) विभक्ति-प्रधान। इनमे 'व्यास-प्रधान' वर्ग प्रस्तुत पुस्तक मे अपनाये गये वर्गीकरण मे 'अयोगात्मक' का ही दूसरा नाम है। शेष तीन दूसरे वर्ग 'योगात्मक' मे समाहित हो जाते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भी इस ओर सकेत-सा किया है, जहाँ वे अपने प्रथम वर्ग को 'निरवयव' तथा शेष तीन को 'सावयव' की सज्ञा देते है,या तात्त्विक रूप से भाषा को आकृति की दृष्टि से 'निरवयव' और 'सावयव' इन दो वर्गो मे बाँटते है। फिर, 'सावयव' के 'समास-प्रधान', 'प्रत्यय-प्रधान और 'विभक्ति- प्रधान' ये तीन भेद करते है।

इस प्रकार, तात्त्विक दृष्टि से भाषा के केवल दो ही आकृतिमूलक वर्ग बन सकते हैं। अन्य सारे किसी-न-किसी रूप म उन्ही के अन्तर्गत आ जायेंगे। हाँ, व्यावहारिक दृष्टि से एक दजन से भी ऊपर भेद किये जा सकते है।

आकृति की दृष्टि से हिन्दी

पश्चिमी विचारको ने आकृति की दृष्टि से 'हिन्दी' पर तो नही विचार किया है, किन्तु 'अंग्रेजी' पर अवश्य विचार किया है। सौभाग्य से आकृति की दृष्टि से 'हिन्दी' और 'अंग्रेजी' म बहुत समानता है। स्वीट अंग्रेजी को अयोगी-श्लिष्ट योगात्मक (analytic inflectional) कहते हैं। हिन्दी को भी इसी वर्ग मे रख सकते है। इसका आशय यह है कि हिन्दी मे 'अयोग' के भी लक्षण है, जैसे स्थान के कारण अर्थ का निर्धारण, या परसर्गो या सहायक क्रिया का अलग रहना, पर साथ ही सस्कृत के बहुत से शब्दो को गृहण करने या उसी की तरह अपने रूपो (विशेषत प्रत्यय, उपसर्ग लगाकर शब्द या विभक्ति लगाकर रूप) का निर्माण करने के कारण 'योग' के भी लक्षण हैं। इस प्रकार, दोनो प्रकार के लक्षणो के मिलने के कारण यह दोनो के बीच मे है, यद्यपि 'अयोगात्मकता' की ओर अधिक झुकी है। फिर भी, यह उतनी अयोगात्मक नही है, जितनी कि चीनी आदि है। कुछ लोग सस्कृत, ग्रीक आदि की तुलना मे हिन्दी या अंग्रेजी को 'वियोगात्मक' भाषा (analytic

---

१ डॉ० मगलदेव शास्त्री, आदि।

२ डॉ० श्यामसुन्दर दास, आदि।

language) कहते है,क्योंकि इनमें अलग से सहायक क्रिया या कारक-चिह्न आदि आते है, और दूसरी ओर संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि को 'संयोगात्मक' भाषा (synthetic language) कहते है। कहना न होगा कि इस प्रसंग में ये दोनों क्रम से 'अयोगात्मक' और 'योगात्मक' के ही नाम है।

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, भाषाओं के इतिहास के आधार पर कुछ लोगों ने ऐसा अनुमान लगाया है कि भाषाएँ प्रश्लिष्ट-योगात्मक से श्लिष्ट-योगात्मक, श्लिष्ट-योगात्मक से अश्लिष्ट-योगात्मक और अश्लिष्ट-योगात्मक से अयोगात्मक या वियोगात्मक हो जाती है। यह स्थिति भी स्थायी नहीं रहती और फिर उल्टे इस क्रम में विकास करती हुई भाषाएँ प्रश्लिष्ट हो जाती है। विद्वानों के इस विचार से सहमत होना कुछ कठिन ज्ञात होता है। प्रश्लिष्ट-योगात्मक से अयोगात्मक की ओर तो सभी भाषाएं जाती है, इसी प्रकार संस्कृत से हिन्दी बनी है, किन्तु इसके विरुद्ध अयोगात्मक से प्रश्लिष्ट-योगात्मक की ओर जाने के प्रमाण देखने में नहीं आते। किसी एक-दो भाषा मे इस प्रकार के दो-चार रूपों की बात सर्वथा भिन्न है। मेरे विचार में उनके आधार पर इतना बड़ा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

उपयोगिता—आकृतिमूलक वर्गीकरण की तात्त्विक या व्यावहारिक कोई भी उपयोगिता नही है, इसीलिये भाषा के अध्ययन में अब इस पर ध्यान नही दिया जाता। कुछ लोगों का कहना है कि आकृतिमूलक वर्गीकरण से भाषाओं की आकृति के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है, किन्तु यह भी मान्यता प्राय: व्यर्थ-सी है। सूक्ष्मता से देखा जाय तो हर भाषा की आकृति-सम्बन्धी अपनी विशेषताएँ अलग होती है। दो, तीन या चार वर्गो या दस-बीस उपवर्गो मे बाँटने से संसार की भाषाओं की वास्तविक आकृति का पता नहीं लग सकता।

पारिवारिक वर्गीकरण

१७वीं सदी में जब यूरोपीय विद्वानों को संस्कृत का पता चला और उन्होंने ग्रीक और लैटिन आदि के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन किया तो इस बात का निश्चय हुआ कि इतनी समानता आकस्मिक नही है। निश्चय ही, ये सभी भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से निकली है। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आरम्भ यही से होता है। इसके पहले, प्राय. पुराने धार्मिक लोग संसार की सारी भाषाओ को एक परिवार की मानते थे। किसी के अनुसार आदि और मूल भाषा संस्कृत थी और ससार की सभी भाषाएँ इसी से निकली थी, तो किसी के अनुसार हिब्रू की यही स्थिति थी और किसी की अनुसार फीजियन या अरबी आदि की।

'भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण' का अर्थ है 'विश्व की भाषाओं को परिवारों में बाँटना'। जैसे एक माता-पिता के उत्पन्न व्यक्ति एक परिवार के कहे जाते है, उसी प्रकार एक भाषा से निकली भाषाएँ और बोलियाँ भी एक परिवार की कहलाती हैं। यह ज्ञात करने के लिए कि कौन-कौन-सी भाषाएँ और बोलियाँ एक परिवार की है, दो बातों पर ध्यान देते हैं: (क) भाषिक समानता; (ख) स्थानिक समीपता। यहाँ दोनों को अलग-अलग लिया जा रहा है—

(क) **भाषिक समानता**—यह पाँच प्रकार की हो सकती है: (१) **ध्वनि की समानता,** (२) **शब्द की समानता,** (३) **रूप-रचना की समानता,** (४) **वाक्य-रचना की समानता,** (५) **अर्थ की समानता।**

इनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रूप-रचना की समानता है। उसके बाद महत्त्व है आधारभूत शब्दो की समानता का। शेष का महत्त्व अपेक्षाकृत गौण है, किंतु वे विचारणीय अवश्य हैं।

ध्वनि की समानता पर विचार करते समय यह देखना पडता है कि दो या अधिक भाषाओ और बोलियो मे कौन-कौन-सी ध्वनियाँ समान हैं। समान ध्वनियाँ उन्हें एक परिवार की होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है। किंतु साथ ही यह भी देखना पडता है कि असमानता क्यो है। एक परिवार की भाषाओ मे ध्वनि की असमानता तीन कारणो से हो सकती है—

(१) लोप के कारण जैसे—संस्कृत की 'ऌ' हिंदी मे लुप्त हो गई है। मूल भारोपीय भाषा के अनेक व्यजन यूरोपीय भाषाओं मे नही है। (२) परिवर्तन के कारण—संस्कृत मे ड, ढ ध्वनियाँ नही थी, किंतु ध्वनि-परिवर्तन के कारण संस्कृत की 'ट' (शाटिका साडी), 'र्द' (कपर्दिका<कौडी), 'थ' (क्वाथ>काढा) 'र्ध' (सार्ध>साडे) आदि ड,ढ हो गई। (३) प्रभाव के कारण—एक भाषा के प्रभाव के कारण दूसरी भाषा मे कुछ ऐसी ध्वनियो वाले शब्द आ जाते हैं, जो मूलत उस भाषा म नही होती। हिंदी मे ज़, ख़, ग़, ज, फ़, ऑ ध्वनियाँ इसी प्रकार फारसी तथा अग्रेजी आदि के प्रभाव के कारण आई हैं। यदि असमानताओ के मूल मे इस प्रकार के कारण खोजे जा सके तो उन भाषाओ के एक परिवार की होने की सभावना होती है। यो ध्वनि की समानता आकस्मिक भी हो सकती है। अत केवल ध्वनि की समानता ऐसे निर्णय के लिए पर्याप्त नही होती, जब तक कि रूप-रचना तथा शब्द आदि अन्यो की भी समानता न हो।

शब्द-समूह की समानता मे यह ध्यान रखना चाहिए कि उन शब्दो मे समानता हो जो इन भाषाओ के अपने हो। अन्य भाषाओ मे प्रभाव-स्वरूप आये शब्दो की समानता के आधार पर भाषाओ को एक परिवार का नही माना जा सकता। उदाहरण के लिए रूसी chai तथा तुर्की chay शब्द समान है, किंतु इस समानता के आधार पर इन्हे एक परिवार का नही माना जा सकता। वस्तुत शब्द की समानता कई कारणो से होती है, (१) एक परिवार की भाषा होने के कारण—जैसे संस्कृत पितृ, ग्रीक pater, लैटिन pater, फ्रेंच pere, स्पैनिश padre, जर्मन vater, अग्रेजी father, फारसी पिदर, आदि। (२) ध्वनि परिवर्तन के समान हो जाने के कारण—जैसे भोजपुरी 'नियर' (स० निकट) तथा अग्रेजी near (nigh का तुलनात्मक रूप) अथवा हिंदी 'आम' (स० आम्र) तथा अरबी 'आम' आदि। (३) किसी अन्य भाषा से उन भाषाओ मे आने के कारण, जैसे हिंदी तथा तमिल दोनो मे 'पेट' शब्द आ गया है। या अरबी शब्द 'इलाक़ा' हिंदी मे 'इलाका' तथा तमिल मे 'इलाका' है। ऐसे ही अरबी शब्द 'शैतान' हिंदी मे 'शैतान', कन्नड मे 'सैतान' तथा तुर्की मलयालम मे 'चैतान' है। (४) एक भाषा से दूसरी मे जाने के कारण—जैसे तुर्की 'चाक़ू' तथा से हिंदी मे आया शब्द 'चाकू' या कुछ द्रविड भाषाओं मे 'पिल्ला' तथा हिंदी 'पिल्ला' आदि। (५) सयोगवशात—जैसे मिस्री 'म्याऊँ', हिंदी 'म्याऊँ', चीनी 'म्याऊँ'=बिल्ली। यह ध्यान देने की बात है कि केवल पहले कारण से प्राप्त समानता ही पारिवारिक एकता प्रमाणित करती है। इसके लिए सर्वोत्तम यह होता है कि भाषाओ की आधारभूत शब्दावली को ही लिया जाए। किसी भाषा का शब्द-समूह मोटे रूप मे तीन प्रकार का होता है, (अ) आधारभूत—जो भाषा की रीढ की हड्डी होता है, और जिनमे परिवर्तन अथवा प्रभाव की गुजाइश कम होती है। ये शब्द अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते है। सबधियो के लिए प्रयुक्त नाम (जैसे माता, पिता, भाई आदि), अगो के नाम (जैसे हाथ, पैर आदि), सर्वनाम (मैं, तुम, वह, आदि), सख्यावाचक शब्द (जैसे एक, दो,तीन आदि), दैनिक जीवन की क्रियाएँ

(खाना, पीना सोना, देखना आदि) आदि इसमें आती है। (आ) उच्च—जो अपेक्षाकृत कम आधारभूत होते हैं। इनमें परिवर्तन और प्रभाव की गुंजाइश कुछ अधिक होती है। (इ) उच्चतम—कपड़े-लत्ते, खान-पान, दवा-दारू, शिक्षा-न्याय, कला-शिल्प आदि के शब्द इसके अंतर्गत आते है। इनमे परिवर्तन तथा प्रभाव की गुंजाइश सबसे अधिक होती है। हिंदी में पायजामा, कमीज, पैंट, जलेबी, इंजेक्शन, बी०ए०, अदालत आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं। इस तरह प्रायः आधारभूत शब्द ही पारिवारिक वर्गीकरण की दृष्टि से विचारणीय होते है। कभी-कभी शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन बहुत अधिक हो जाता है, जैसे संस्कृत शतम्, लैटिन केंतुम, हिंदी सौ, भोजपुरी सै अथवा संस्कृत 'विहार', तुर्की 'बुख़ारा'। अतः तुलना में इसका ध्यान भी रखना चाहिए, नहीं तो समानता को पहचानना कठिन हो जाता है।

रूप-रचना की समानता—पारिवारिक वर्गीकरण के लिए बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें प्रभाव की गुंजाइश कम होती है। उदाहरण के लिए, तुलना का प्रत्यय 'तर' (सं० उच्चतर, फ़ा० बेहतर, अं० better, जर्मन besser) एक पारिवारिकता का स्पष्ट संकेत कर रहा है। यों तुर्की-फ़ारसी-अरबी अथवा अरबी-हिंदी में इस तरह की समानता काफी (अर० इन्सानियत, हिंदी अँगरेज़ियत, बोरियत) है, किंतु ये भाषाएँ एक परिवार की नही है, और समानता एक मूल के कारण न होकर प्रभाव के कारण है। अतः यह ध्यान में रखना चाहिए कि समानता प्रभाव के कारण न हो। रुप-रचना मे क्रिया-रूप, तथा सर्वनाम-रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। यो इसके अंतर्गत मुख्यतः उपसर्ग तथा प्रत्यय आते हैं।

वाक्य-रचना—इसमें परिवर्तन बहुत होता है, तथा इस पर दूसरी भाषाओं का प्रभाव भी काफी पड़ता है, फिर भी मूलभूत समानताएँ एक सीमा तक सुरक्षित रह जाती हैं। इसीलिए रूप-रचना तथा मूलभूत शब्दावली से तो कम, किंतु अन्यों की तुलना मे यह भी पारिवारिक वर्गीकरण का काफ़ी प्रामाणिक आधार प्रस्तुत करता है।

एक परिवार की भाषाओं में अर्थ की समानता भी अनेक स्तरो पर मिलती है, अतः यह भी पारिवारिक वर्गीकरण का अच्छा आधार है। हाँ, यह समानता खोजते समय अर्थ-परिवर्तन का ध्यान भी रखना चाहिए। संस्कृत 'मृग' तथा फारसी 'मुर्ग़' मे अर्थ की समानता ऊपर से नही है, किंतु इन शब्दो का पूरा इतिहास देखें तो अर्थ की समानता है। ऐसे ही सं० पशु, अंग्रेजी fees; रूसी मूस (पति), स० मनुष्य; स० वदन (मुँह), फ़ा० बदन (शरीर) में भी समानता है।

इस प्रकार सभी प्रकार के परिवर्तनों तथा प्रभावों का विचार करते हुए भाषाओं के बीच मूलभूत समानता की खोज होनी चाहिए। साथ ही केवल एक आधार (जैसे ध्वनि अथवा रूप अथवा अर्थ) के मिलने पर कभी भी भाषाओं को एक परिवार का नही मानना चाहिए। प्रयास ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ सभी स्तरो पर न्यूनाधिक रूप मे समानता पाने का होना चाहिए।

(ख) स्थानिक समीपता—एक परिवार की भाषाएँ एक भाषा से निकली होती है, अतः अपवादों की बात छोड दे तो प्राय. उनमें स्थानिक समीपता मिलती है। इसी आधार पर भारोपीय परिवार का मूल स्थान यूरोप मे या एशिया-यूरोप की सीमा पर माना जाता है, क्योंकि उसके आसपास इस परिवार की काफी भाषाएँ बोली जाती है। भारत के आस-पास ऐसा नहीं है, अतः भारत को मूल स्थान नही माना जा सकता। किन्तु स्थानिक समीपता को एक मात्र आधार नही माना जा सकता। कभी-कभी एकाधिक परिवार की भाषाओ में भी स्थानिक समीपता मिलती है। जैसे भारोपीय परिवार की ताजिक और यूराल-अल्टाइक परिवार की उज़बेक अथवा भारोपीय की बँगला और चीनी परिवार की बर्मी आदि।

निष्कर्षत उपर्युक्त सभी से पारिवारिक सबध जोडने मे सावधानी से आवश्यकता-अनुसार सहायता ली जानी चाहिए, किन्तु साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि रूप-रचना की समानता इस दृष्टि से सबसे अधिक विश्वसनीय होती है, उसके बाद आधारभूत शब्दावली की तथा फिर अन्यो की। सबध स्थापित करते समय परिवर्तन, प्रभाव तथा सयोग-जनित समानताओ से बचने मे अधिकाधिक सतर्क रहना चाहिए।

ऊपर पारिवारिक वर्गीकरण के आधारों पर प्रकाश डाला गया है। उससे स्पष्ट है कि अच्छी तरह तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन के उपरान्त ही इस सम्बन्ध मे निश्चित निर्णय दिया जा सकता है। इतना गहरा और विस्तृत अध्ययन केवल भारोपीय, सेमिटिक या द्रविड आदि कुछ ही परिवारो का हुआ है। ऐसी स्थिति मे इन दो-तीन के बारे मे तो निश्चय के साथ कहा जा सकता है, किन्तु शेष भाषाओ के परिवार के बारे मे कहना कठिन है। १८२२ मे जर्मन विद्वान् विल्हेल्म फान हम्बोल्ट ने इस बात पर विस्तार से विचार करके ससार मे कुल १३ परिवार माने थ। पार्टिरिज के अनुसार १० ही परिवार हैं। आधुनिक विद्वान् राइस (Reiss) एक परिवार मानने के पक्ष मे हैं। ग्रे २६ मानते हैं। भारतीय विद्वानों ने यह सख्या १० और १८ के बीच मे दी है। फ्रेडरिक मूलर आदि विद्वानो के अनुसार ससार मे इस समय लगभग १०० परिवार हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार केवल अमेरिका मे ही १०० परिवार है। इस प्रकार, एक से कई सौ के बीच विद्वान् घूम रहे हैं, किन्तु सत्य यह है कि अभी तक ससार भर की भाषाओ का ठीक से अध्ययन (तुलनात्मक और ऐतिहासिक) नहीं हुआ है, अत उपर्युक्त सारे मत प्राय अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नही हैं।

भाषा खड

विश्व के भाषा-खड चार हैं—

(१) **अफ्रीका-खड**—इसमे मुख्यत चार भाषा-परिवार हैं (i) बुशमैन, (ii) बाटू, (iii) सूडान, (iv) हैमेटिक-सेमेटिक। कुछ विद्वान् सेमेटिक और हैमेटिक को अलग-अलग परिवार मानते हैं।

(२) **यूरेशिया खड**—इसमे मुख्यत नौ भाषा परिवार हैं (i) हैमेटिक-सेमेटिक, (ii) काकेशियन, (iii) यूराल-अल्टाइक, (iv) चीनी, (v) द्रविड, (vi) आस्ट्रो एशियाटिक, (vii) जापानी-कोरियाई, (viii) मलय-पालिनेशियन, (ix) भारोपीय। कुछ भाषाएँ अनिश्चित परिवार की भी हैं।

(३) **प्रशांतमहासागरीय खड**—इसमे मुख्यत मलय-पालिनेशियन परिवार है। कुछ लोग इसे कई परिवारो का समूह मानते है।

(४) **अमरीका-खड**—अमरीकी परिवार। कुछ लोग इसमे लगभग सौ परिवार मानते हैं।

इनमे कुछ परिवार तो एकाधिक भाषा-खडो मे हैं तथा कुछ को काफी विद्वान् एक परिवार मे रखने के पक्ष मे हैं। इस प्रकार विश्व मे मुख्यत निम्नाकित भाषा परिवार हैं (१) भारोपीय, (२) द्रविड, (३) चीनी, (४) सेमेटिक-हैमेटिक, (५) यूराल-अल्टाइक, (६) काकेशियन, (७) जापानी-कोरियाई, (८) मलय-पालिनेशियन, (९) आस्ट्रो एशियाटिक, (१०) बुशमैन, (११) बाटू, (१२) सूडान, (१३) अमरीकी। कुछ अनिश्चित भाषाएँ भी हैं जिनके बारे मे सनिश्चय कुछ कहना कठिन है। सभव है, वे अपने आप मे एक-एक परिवार हो। यहाँ परिवारो को क्रमश लिया जा रहा है।

भारोपीय परिवार पर कुछ विस्तार से विचार अपेक्षित है, अतः उसे अन्त में लिया जायगा।

(१) द्रविड़ परिवार

इस परिवार का क्षेत्र दक्षिणी भारत, उत्तरी लंका, लक्ष द्वीप, बलूचिस्तान, मध्य प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा है। **मुख्य भाषाएँ तथा क्षेत्र**—तमिल (तमिलनाडु), मलयालम (यह प्राचीन तमिल की ही एक शाखा है, केरल), तेलुगु (आंध्र प्रदेश), कन्नड़ (कर्नाटक), गोंड (बुंदेलखंड तथा आसपास), ओरांव, (बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश), ब्राहुई (बलूचिस्तान)। **कुछ गौण भाषाएँ**—कुई (उड़ीसा), माल्टो (बंगाल), तुलु (कुर्ग-बंबई की सीमा), तथा कोलामी (पश्चिमी बरार) आदि। इस परिवार से भारत के अन्य परिवारों को जोड़ने का बहुत से विद्वानों ने निष्फल प्रयास किया है। यह परिवार वाक्य तथा स्वर-अनुरूपता की दृष्टि से यूराल-अल्टाई से मिलता-जुलता है। इस आधार पर इसे कुछ लोग उससे जोडना चाहते थे। ओ० श्रेडर ने इस परिवार को फ़िनो-उग्रिक वर्ग से मिलती-जुलती दिखाने का यत्न किया था। घी० डब्लू० शिमट ने इसका सम्बन्ध आस्ट्रेलिया की भाषाओं से जोडना चाहा था। उनका यह विचार था कि पहले मैडागास्कर, आस्ट्रेलिया और भारत, छोटे-छोटे द्वीपों के सहारे सम्बन्धित थे। इधर मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद उसकी संस्कृति से इसका सम्बन्ध जोडने के सफल प्रयत्न हुए हैं। **विशेषताएँ**—(१) प्रधानतः इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट-अन्तःयोगात्मक (तुर्की आदि की भाँति) हैं। मूल शब्द या धातु में प्रत्यय एक के बाद दूसरे जुड़ते चले जाते है: पालन-गल्, पालन्-गल्-एई, पालन्-गल्-उदीय, इत्यादि। कभी-कभी अपवाद-स्वरूप उपसर्ग भी लगता है: अथू=वह वस्तु, इथू=यह वस्तु, एथू कौन वस्तु। (२) जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, इस परिवार में संयोग 'तिल-तंडुल-वत्' पारदर्शक या स्पष्ट होता है। साथ ही मूल मे किसी प्रकार का विकार नहीं आता। (३) उपर्युक्त संयोग की भाँति ही बड़ा से बडा समास भी बड़ी ही सरलता से इस परिवार की भाषाओं में बना लिया जाता है। (४) शब्द के अन्तिम व्यंजन के उच्चारण मे अनेक शब्दों में एक प्रकार की ध्वनि जोड ली जाती है। कुछ भाषाओं में यह प्रवृत्ति केवल लिखने में ही होती है, पर कुछ में लिखने और बोलने दोनों ही में। संभव है इसी का प्रभाव अपभ्रंश पर भी पड़ा, जिसे बाद में हिन्दी मे भक्ति तथा रीतिकाल के कवियों ने कोमल बनाने की दृष्टि से अपना लिया। जैसे 'आप' का 'आपु' या 'राम' का 'रामु'। यों इसे प्रथमा विभक्ति के विसर्ग का विकास मानते हैं। (५) यूराल-अल्टाई परिवार की भाँति ही इस परिवार में भी स्वर-अनुरूपता मिलती है। मूल शब्द के स्वर के वज़न पर अधिकतर प्रत्ययों का रूप संयोग के समय परिवर्तित कर लिया जाता है। (६) शब्दारम्भ मे घोष व्यंजन प्रायः नहीं मिलते, परंतु बीच मे आने वाले अनुनासिक व्यंजन या अकेले व्यंजन के पश्चात् घोष व्यंजन अवश्य रहते है। तमिल में यह प्रवृत्ति प्रायः अनिवार्यतः मिलती है, और अन्यों में कम। (७) मूर्द्धन्य ध्वनियों (टवर्ग) का यहाँ प्राधान्य है। कुछ लोगों का विश्वास है कि संस्कृत में मूर्धन्य ध्वनियाँ इसी परिवार के प्रभाव से आई। मूल भारोपीय भाषाओं में वे नहीं थी। (८) इस परिवार की भाषाओं में दो वचन होते है। नपुंसक शब्द प्रायः एकवचन ही होते है। उत्तम पुरुष सर्वनाम में बहुवचन के दो रूप होते है जिनमे से एक में श्रोता भी अन्तर्भूत रहता है। (९) लिंग तीन होते हैं। संज्ञा एवं विशेषण को स्त्रीलिंग और पुल्लिंग बनाने के लिए अन्य पुरुष सर्वनाम के स्त्रीलिंग और पुल्लिंग रूप जोड़ दिये जाते है। (१०) संज्ञा के दो वर्ग होते है। पहला है उच्च या सज्ञानी और दूसरा निम्न या अज्ञानी। कुछ संज्ञाएँ क्रिया का भी कार्य करती है। **द्रविड़ परिवार का भारत की आर्यभाषाओं पर प्रभाव**—संस्कृत से इस परिवार की भाषाएँ बहुत

प्रभावित हैं। इन सबकी लिपि ब्राह्मी से निकली है, किंतु इन्होंने भी आर्यभाषाओं को काफ़ी प्रभावित किया है और आज तक प्रभावित करती जा रही हैं। कुछ प्रमुख प्रभाव (१) आर्य परिवार की मूर्धन्य ध्वनियो को मूलत द्रविड परिवार के प्रभाव-स्वरूप विकसित माना जाता है, यद्यपि कुछ विद्वान् इस मत के विरोधी भी हैं। (२) ध्वनि-परिवर्तन मे र का ल के स्थान पर (गला=गर) और 'र' का 'ल' (हरिद्रा=हल्दी) होना भी इस परिवार का प्रभाव कहा जाता है। यो मूल भारोपीय परिवार मे भी यह था। (३) मराठी आदि मे अब तक तीन लिगोका सुरक्षित रहना भी इन्ही का प्रभाव है, क्योंकि इनमे भी तीन लिंग हैं। (४) आर्य-भाषाओ मे सोलह पर आधारित (सेर-छटाँक, रुपया-आना) माप भी इसी परिवार की देन है। (५) कुछ लोगो के अनुसार 'परसर्गो' का प्रयोग इन्ही का प्रभाव है। (६) भारतीय आर्य-भाषाओ मे तिङन्त की अपेक्षा कृदती रूपो का प्रयोग भी इनका प्रभाव कहा जाता है। (७) सहायक क्रिया तथा सयुक्त क्रिया का आयभाषाओ मे प्रयोग भी कुछ लोग द्रविड प्रभाव के फलस्वरूप ही मानते हैं। (८) आदान-प्रदान मे अटवी, आलि, नीर, मीन, उलूखल, कठिन, कोण आदि कई सौ शब्द भी इस परिवार ने सस्कृत तथा अन्य भारतीय आयभाषाओ को दिये हैं।

द्रविड परिवार पर सस्कृत का प्रभाव—शब्द-समूह के क्षेत्र मे सस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव द्रविड पर पडा है। तमिल भाषा का एक रूप 'शेन' (=पूर्ण) कहलाता है, जिसमे सस्कृत शब्दो का बाहुल्य है। ब्राह्मणो के प्रभाव से मलयालम भी सस्कृत-बहुल हो गई है। मलयालम की सस्कृत-बहुल साहित्यिक शैली को मणि-प्रवाल कहते हैं। कन्नड और तेलुगु ने भी सस्कृत शब्द उदारतापूर्वक लिये हैं।

(२) चीनी अथवा एकाक्षरी परिवार

इस परिवार की मुख्य भाषा चीनी है। उसी के आधार पर इसे 'चीनी परिवार' कहा जाता है। साथ ही इस परिवार के अधिकाश शब्द एकाक्षरी होते हैं, अत इसे 'एकाक्षर' अथवा 'एकाक्षरी परिवार' भी कहते हैं। मुख्य भाषाएँ तथा क्षेत्र—चीनी (चीन, चीनी की मदारिन, कैंटनी, फुकिनी आदि मुख्यत ६ बोलियाँ है। मदारिन ही आज की राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक भाषा है), तिब्बती अथवा भोट (तिब्बत), बर्मी (बर्मा), स्यामी (इसे 'थाई' भी कहते है, स्याम), मैते (इसे मेईथेई भी कहते हैं, मणिपुर)। इस परिवार की गारो, बोडो, नागा, नेवारी आदि भाषाएँ भारतीय सीमा के आस-पास बोली जाती हे। विशेषताएं—(१) इस परिवार की भाषाएँ स्थान-प्रधान या अयोगात्मक है। दो शब्द एक मे नही मिलते। सम्बन्ध का पता बहुधा शब्द के स्थान से ही चल जाता है। 'हुआ पओ मीन' = राजा प्रजा की रक्षा करता है। पर, यदि उल्टा कहना होगा तो वाक्य मे और किसी भी प्रकार का परिवर्तन न करके केवल स्थान-परिवर्तन कर देंगे। 'मीन पओ हुआ'=प्रजा राजा की रक्षा करती है। (२) प्रत्येक शब्द एक अक्षर (syllable) का होता है। वह एक प्रकार से *अव्यय* है जो न बढता है, न घटता है और न विकृत ही होता है। वाक्य मे चाहे जहाँ भी रखें, उसके रूप मे कोई परिवर्तन नही मिलेगा। (३) यहाँ यह समस्या है कि इतने कम शब्द कैसे इतने अधिक अर्थ प्रकट करते है। इसके लिए ये लोग सुर या तान (tone) का प्रयोग करते हैं (ध्वनि-प्रकरण में इस पर और सामग्री मिलेगी)। एक शब्द विभिन्न सुरो मे विभिन्न अर्थ देता है। यो तो प्रधान चार ही सुर हैं, किन्तु कुछ उपभाषाओ या बोलियो मे इससे कम या अधिक सुर भी अपवादस्वरूप मिलते हैं। 'मदारिन' म पाँच सुर हैं। दूसरी बोली 'फुकिनी' मे आठ है। (४) केवल सुरो मे पूरी स्पष्टता नही आ पायी, अत इसके लिए वे लोग एक और युक्ति से काम निकालते हैं। इनके यहाँ द्वित्व प्रयोग चलता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि एक शब्द के कई

अर्थ होते है। जैसे 'ताओ' =सड़क, झंडा, गल्ला, ढक्कन इत्यादि, या 'लू' = ओस, जवाहर, घुमाव, सड़क, इत्यादि। यहाँ हम देखते हैं कि 'ताओ' और 'लू' दोनों के अर्थ 'सडक' है। अब यदि सड़क के लिए दोनों शब्दों (ताओ और लू) का एक साथ प्रयोग करें तो किसी भी प्रकार की गड़बडी का भय नहीं रह जाता। अतः सड़क के लिए 'ताओ लू' शब्द प्रयुक्त होता है। ऐसे प्रयोगों को द्वित्वप्रयोग कहते हैं। चीनी भाषा में इसका बहुत प्रयोग होता है। इसमें सर्वदा पर्याय शब्द ही नहीं रखे जाते। कभी-कभी आवश्यकतानुसार अन्य भी ऐसे (दूसरे अर्थ वाले) शब्द रख दिये जाते है, जिनसे अर्थ स्पष्ट हो जाए। जैसे, नमक के साथ बारीक या रोड़ा, पानी के साथ गर्म या ठंडा इत्यादि। (५) भारोपीय परिवार की भाँति वहाँ भाषा का व्याकरण नहीं है। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है। 'त' शब्द का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका अर्थ 'बड़ा' 'बडाई' तथा 'बडा होना' आदि सभी होता है। (६) ऊपर हम इसे स्थान-प्रधान भाषा कह चुके हैं। पर कभी-कभी केवल शब्दों के स्थान में स्पष्ट नहीं हो पाता तो सहायक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। इसे ही कुछ लोगों ने चीनी का 'निपात-प्रधान' होना कहा है। इस दृष्टि से चीनी शब्दों के दो वर्ग होते है—पूर्ण शब्द और रिक्त शब्द। पूर्ण शब्द वे है जो कुछ अर्थतत्त्व रखें, पर रिक्त शब्द वे हैं जो केवल सम्बन्ध प्रकट करें। किन्तु इसका आशय यह नहीं कि वहाँ का पूरा शब्द-समूह इन दो भागों में बँटा है। बहुत से पूर्ण शब्द आवश्यकता पड़ने पर रिक्त बना लिए जाते हैं। इस प्रकार, प्रयोग होने पर ही कहा जा सकता है कि कौन शब्द रिक्त है और कौन पूर्ण। उदाहरण के लिए, 'छिह' शब्द को ले सकते हैं। इसका अर्थ 'जाना', 'वह', 'सम्बन्ध', 'रखना' आदि होता है, पर कभी-कभी यह सम्बन्ध कारक की विभक्ति का काम भी करता है। जैसे—मु=माता, त्जु=पुत्र, मु छिह त्जु=माता का पुत्र। (७) चीनी भाषा में पूर्ण शब्द भी प्रायः दो प्रकार के माने जाते है। एक तो वे है जो जीवित है और क्रिया जिनका प्रधान गुण है। दूसरे, वे हैं जो मृत या जड हैं और स्वयं कुछ कर नहीं सकते। जीवित शब्द अपनी क्रिया इन्हीं मृत शब्दों पर करते है। यह विभाजन भी बहुत निश्चित नहीं है। (८) अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग का यहाँ बाहुल्य है। इस परिवार की तिब्बती, बर्मी आदि भाषाओं की लिपियाँ ब्राह्मी लिपि की ही पुत्री है।

(३) सेमेटिक-हैमेटिक (सामी-हामी) परिवार

कुछ लोग सेमेटिक तथा हैमेटिक को दो परिवार तथा कुछ लोग इन्हे एक ही परिवार की दो शाखाएं मानते रहे है। वस्तुतः जैसा कि हम आगे देखेंगे, दोनों मे कुछ समानताएँ होती है, जिनके आधार पर यह अनुमान लगता है कि प्राचीन काल में कभी-न-कभी ये दोनों एक परिवार की दो शाखाएँ रही होंगी।

यह परिवार उत्तरी अफ्रीका तथा पास के पश्चिमी एशिया में फैला है। इंजील की पौराणिक कथा के अनुसार हजरत नूह के पुत्र सेम और हेम इन क्षेत्रों की भाषाओं के आदि पुरुष कहे जाते हैं। अतः उन्हीं के नाम पर इन दोनों शाखाओं के नाम पडे है। क्षेत्र—सेमेटिक—मिस्र, ईराक, अरब, सीरिया, फ़िलस्तीन, इथियोपिया, मोरक्को, अलजीरिया। हैमेटिक—लीबिया, सोमालीलैंड, इथियोपिया। भाषाएँ: सेमेटिक—हिब्रू, अरबी, अकादियन (इसे असीरियन या बेबिलोनियन भी कहते है), सुमेरियन। हैमेटिक—प्राचीन मिस्री, कॉप्टिक, सोमाली, गल्ला, बेजा, नामा, फुला। इन सभी भाषाओं में अरबी भाषा सभी दृष्टियों से बहुत सम्पन्न रही है तथा उसने शब्दों के क्षेत्र मे यूरोप और एशिया की भाषाओं (अंग्रेज़ी, स्पैनिश, फ्रेंच, हिंदी, मराठी, गुजराती आदि) को प्रभावित किया है। फारसी, तुर्की आदि को तो व्याकरणिक दृष्टि से भी प्रभावित किया है।

सेमेटिक और हैमेटिक के मिलते-जुलते लक्षण—(१) दोनो ही श्लिष्ट-योगात्मक और अन्तर्मुखी है। इनमे पूर्व, मध्य और पर विभक्तियाँ लगती हैं, किंतु अधिकतर सम्बन्ध तत्त्व भीतर होने वाले स्वर-परिवर्तन मे ही सूचित हो जाता है। जैसे सेमेटिक की अरबी भाषा मे क् त् ल्, से कितल, क्तिल, क्तिल, यक्तुलु, क़ातिल, तथा क़त्ल आदि अनेक शब्द बनते हैं, जिनमे साधारण स्वर-परिवर्तन से ही अर्थ-परिवर्तन हो गया है। (२) दोनो ही परिवारो मे अफ्रीका की कुछ भाषाओ की भाँति क्रिया मे काल का गौण स्थान है, और पूर्णता और अपूर्णता का प्रमुख। (३) बहुवचन बनाने के लिए दोनों ही कुलो मे प्रत्यय लगते हैं, और दोनो के प्रत्ययो का मूल भी लगभग एक ही है। (४) 'त' ध्वनि दोनो कुलो में स्त्रीलिंग का चिह्न है। दोनों ही मे लिंगभेद नर-मादा पर अर्थात् प्राकृतिक लिंग पर न आधारित होकर कुछ अन्य बातो पर आधारित है। (५) दोनो परिवारो के सर्वनामों का मूल भी प्राय एक ही है।

सेमेटिक परिवार की प्रमुख विशेषताए—कुछ बाते ऊपर आ चुकी हैं। शेष ये हैं (१) 'माद्दा' (धातु, रूट) प्राय तीन व्यजनो[1] का होता है, जैसे क् त् ब् (लिखना), द् ब् र् (बोलना), व् द् ग् (पाना) इत्यादि। हैमेटिक भाषाओ मे यह बात पाई जाती है। (२) 'माद्दा' के इन व्यजनो मे स्वर जोडकर पद (वाक्य मे रखे जाने योग्य शब्द जिनमे अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व दोनो हो) बनते है। इस प्रकार भारोपीय परिवार मे जो कार्य आतरिक परिवर्तन तथा प्रत्ययो से लिया जाता है, वह यहाँ स्वरो की सहायता से ही प्राय हो जाता है, जैसे अरबी मे क् त् ब् 'माद्दा' से कातिब, किताब तथा कुतुब, इत्यादि। (३) कभी-कभी इस उपर्युक्त स्वर-परिवर्तन से काम नही चलता तो उपसर्ग तथा प्रत्यय की भी आवश्यकता पडती है। जैसे प्रेरणार्थक आदि के लिए क् त् ल् से 'ह्क्तिल' मे 'हि' उपसर्ग जोडकर बनाना पडता है। यहाँ एक बात उल्लेख्य यह है कि भारतीय भाषाओ की भाँति सेमेटिक परिवार की भाषाओ मे एक मूल मे कई प्रत्यय या उपसर्ग (जैसे 'अनुकरणात्मकता' शब्द मे अनु+करण+आत्मक+ता है, एक साथ नही जुडते)। (४) इस परिवार मे समास केवल व्यक्तिवाचक सज्ञाओ मे ही मिलता है और वह भी केवल दो शब्दो का, जैसे, मलक्ह्-इसरायल। स्थान-काल की दृष्टि से भारोपीय समासो से यहाँ की पद्धति उलटी है। सस्कृत मे 'दधि-सुत' होगा तो यहाँ 'सुत+दधि'। इसी का प्रभाव फारसी-उर्दू पर है जो शाहे-फ़ारस (फारस का शाह), शाहे-वक्त आदि मे स्पष्ट है। ऊपर हम लोग कह चुके हैं कि हैमेटिक और सेमेटिक दोनो ही मे 'त' स्त्रीलिंग का चिह्न है, पर सेमेटिक परिवार मे एक बात यह विशेष है कि यह 'त' ध्वनि कुछ भाषाओ मे विकसित हो 'थ' या ह् हो गई है। जैसे अरबी में मलक् (राजा) का स्त्रीलिंग मलकह् (रानी) होता है, न कि मल्कत्।

हैमेटिक परिवार की प्रमुख विशेषताएँ—(१) इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट-योगात्मक हैं। (२) पद बनाने के लिए इन भाषाओ मे प्रत्यय और उपसर्ग दोनो ही लगाये जाते हैं, किन्तु ऐसा केवल क्रिया के ही सम्बन्ध मे होता है। सज्ञा मे प्रत्यय ही लगाये जाते हैं। (३) इन भाषाओ मे स्वर-परिवर्तन मात्र मे अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। जैसे 'गल' का अर्थ होता है 'भीतर जाना' पर 'गेलि' का अर्थ होता है 'भीतर रखना'। (४) जोर देने के लिए इनमे पुनरुक्ति का प्रयोग किया जाता है। 'लब' का अर्थ 'मोडना' होता है, पर बार-बार मोडने के लिए 'लब-लब' का प्रयोग होता है। इसी प्रकार गोइ (काटना) और गोगोइ (बार-बार काटना) भी है। (५) इन भाषाओं मे, क्रियारूपों से ठीक-ठीक काल का बोध नही होता, बल्कि पूर्णता और अपूर्णता का बोध होता है। समय का ठीक बोध कराने के लिए अन्य

---

[1] कुछ माद्दे चार या पाँच व्यजनो के भी होते हैं और 'रुबाई' तथा 'खुमासी' कहलाते हैं। यो कुछ विद्वानो का कहना है कि मूलत सभी धातुएँ तीन व्यजनो की थीं।

सहायक शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। (६) इस परिवार में लिंगभेद 'नर' और 'मादा' पर आधारित नहीं है, और साथ ही वह भारोपीय भाषाओं की भाँति बहुत अव्यवस्थित भी नहीं है। सामान्यतः बड़ी और बली वस्तुएँ पुल्लिग समझी जाती हैं, और इसके उलटे निर्बल और छोटी स्त्रीलिंग। प्यार करने योग्य तथा कोमल वस्तुएँ भी स्त्रीलिंग मानी जाती है। तलवार, कड़ी और मोटी घास, चट्टान तथा हाथी आदि पुल्लिग हैं, पर चाकू नरम और पतली घास, पत्थर के टुकड़े तथा छोटे-छोटे जानवर स्त्रीलिंग है। (७) बहुवचन बनाने के यहाँ कई तरीक़े है, साथ ही बहुवचन के समूहात्मक और असमूहात्मक आदि कई भेद भी है। लिसा (=आँसू, एकवचन), लिस् (आँसू का असमूहात्मक बहुवचन) और लिस्मे (=आँसू का समूहात्मक बहुवचन)। छोटे पदार्थ या कीड़े आदि बहुवचन समझे जाते है। उनको एकवचन में लाने के लिए प्रत्यय जोड़ने पड़ते थे। ऊपर हम लोग लिस् और लिसा देख चुके है। बिल् (पतिंगे) और बिला (पतिंगा) भी उदाहरण-स्वरूप लिए जा सकते है। इस परिवार की केवल 'नामा' भाषा में द्विवचन है। (८) यहाँ की सबसे विचित्र और अभूतपूर्व विशेषता यह है कि संज्ञा वचन में परिवर्तित होने पर लिंग में भी परिवर्तित हुई समझी जाती है, अर्थात् किसी एकवचन, पुल्लिग संज्ञा को बहुवचन बनाते है तो लिंग के विचार से वह स्त्रीलिंग हो जाती है। इस नियम को भाषा-वैज्ञानिकों ने ध्रुवाभिमुख नियम (दे० परिशिष्ट) कहा है। इसके अनुसार 'होयो-दि' (माता) स्त्रीलिंग है 'किन्तु 'होयिन-कि' (माताएँ) पुल्लिग। इसी प्रकार लिबह-हि' (शेर) पुल्लिग है, किन्तु 'लिबहयो-दि' (कई शेर) स्त्रीलिंग।

(४) यूराल-अल्टाइक परिवार

इसका क्षेत्र यूराल और अल्टाई पर्वत के बीच तुर्की, सोवियत संघ, हंगरी, फ़िनलैंड आदि में फैला है। क्षेत्रफल में यह भारोपीय के बाद सबसे बड़ा परिवार है। कुछ लोग 'यूराल' और 'अल्टाई' को अलग-अलग परिवार मानते हैं। भाषाएँ: यूराली (फ़िनो-उग्रिक)—फ़िनिश (फ़िनलैंड)। इस्तोनियन (इस्तोनिया), हंगेरियन (हंगरी)। अल्टाई—तुर्की (तुर्की), ऐज़रबैजानी (ऐज़रबैजान), उजबेक (उजबेकिस्तान), मंगोलियन (मंगोलिया), किरगिज़ (किरगिज़िया), कज़ाक (कज़ाकिस्तान)। विशेषताएँ—(१) भाषाएँ अश्लिष्ट अंतः-योगात्मक हैं। (२) व्याकरणिक लिंग इस परिवार की भाषाओं मे नहीं होता। (३) इसकी कुछ भाषाओं मे २३ कारक है। (४) इस्तोनियन आदि कुछ भाषाओं में स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत रूपों का प्रयोग बहुत सामान्य है। (५) स्वर-अनुरूपता (vowel harmony) इनमें मिलती है। ऐसा होता है कि जब मूल-धातु में अनेक प्रत्ययों को जोड़ा जाता है तो उन प्रत्ययों के स्वर धातु के स्वर के 'वजन' पर कर लिए जाते हैं। यहाँ के स्वरों के, गुरु स्वर और लघु स्वर, दो वर्ग है। जब धातु में गुरु स्वर रहता है तो सभी प्रत्ययों के स्वर गुरु कर लिये जाते है और नहीं तो लघु। यह उच्चारण सौकर्य के लिए होता है। तुर्की से उदाहरण ले सकते है—

'यज' से 'मक्' लगाकर 'यज़मक' (=लिखना) बनता है किन्तु 'सेव' से 'मक् लगाकर 'सेव्मक्' न बनकर 'सेव्मेक्' (=प्यार करना) बनता है। इसी प्रकार, 'लर्' बहुवचन की विभक्ति है। 'अत्' के साथ मिलकर यह 'अतलर्' (घोड़े) पद बनाती है, किन्तु 'एव' के साथ 'एव्लेर्' (अनेक घर)।

(५) काकेशियन परिवार

इस परिवार का क्षेत्र कैस्पियन सागर और कृष्ण सागर के बीच मे काकेशस पर्वत का पहाड़ी क्षेत्र और आसपास का भूभाग है। प्रमुख भाषाएँ: उत्तरी—चेचेन, कबार्दियन, अवर, अबरवासियन। दक्षिणी—जार्जियन, मिग्रेलियन। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण इस

परिवार मे अनेकानेक भाषाएँ और बोलियाँ विकसित हो गई है। विशेषताएँ—(१) ऊपर से देखने मे भाषाएँ श्लिष्ट लगती है, किन्तु वस्तुत है अश्लिष्ट-योगात्मक। इनमे प्रत्यय और उपसर्ग दोनो लगाए जाते है। (२) इसकी उत्तरी भाषाओ मे स्वरो की कमी है। (३) कारको की सख्या काफी है। अवर म तीस कारक है। (४) कुछ (जैसे चेचेन) मे छ लिंग हैं। (५) सर्वनाम और क्रियारूप एक म जुड जाते है। (६) इनम क्रियारूप बडे जटिल होते हैं। मूल-धातु का उनमे प्राय बिल्कुल नहीं पता चलता।

(६) जापानी-कोरियाई परिवार

यह परिवार जापान, कोरिया तथा आसपास के कुछ द्वीपो आदि मे फैला है। इसकी मुख्य भाषाएँ जापानी तथा कोरियाई है। पहले ये दोनो अनिश्चित परिवार की भाषाएँ मानी जाती थी तथा इनका आपस म भी कोई सम्बन्ध नही माना जाता था। अब प्राय यह माना जाने लगा है कि ये दोनो एक ही परिवार की है। कोरियाई लिपि ब्राह्मी से विकसित है। चीनी के आधार पर जापानी की अक्षर-माला बनाने मे भारतीयो का हाथ रहा है और उसे 'अइउएओ' कहते भी है। विशेषताएँ—(१) यह परिवार अश्लिष्ट-योगात्मक है। (२) शब्द अनेकाक्षर होते है। (३) सयुक्त व्यजनो का प्रयोग प्राय बहुत कम होता है। (४) जापानी में 'र' के स्थान पर 'ल' तथा 'ल' के स्थान पर 'र' अनेक शब्दो में आ सकता है। (५) शब्दो में प्राय सभी अक्षरो पर समान बल पडता है। (६) ह्रस्व और दीर्घ के अतिरिक्त कुछ स्वर अति ह्रस्व भी है, जो प्राय उच्चरित नहीं होते, जैसे 'अरिमासु' (है, हैं) का उच्चारण 'अरिमास' होता है। (७) व्याकरणिक लिंग, वचन तथा पुरुष की धारणा बहुत स्पष्ट नहीं है। उदाहरण के लिए 'को दोमो'—'एक बच्चा' अथवा 'कई बच्चे'। ऐसे ही 'दोको ए इकिमासु का' (=कहाँ जाना हो रहा है) का प्रयोग 'वह कहाँ जा रहा है', 'वे कहाँ जा रहे हैं', 'वह कहाँ जा रही है', 'व कहाँ जा रही है', 'मै कहाँ जा रहा हूँ', 'मै कहाँ जा रही हूँ' आदि सभी के लिए होता है।

(७) मलय-पॉलिनेशियन परिवार

यह परिवार पश्चिम मे मैडागास्कर स लेकर पूरब मे ईस्टर द्वीप तक तथा उत्तर में फारमोसा से लेकर दक्षिण मे न्यूजीलैंड तक जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली, फिलीपीन, न्यूजीलैंड, हवाई, मलाया, फारमोसा आदि मे फैला हुआ है। मुख्य भाषाएँ पश्चिमी—मलय, इडोनेशियन, जावानीज, बालीनीज। पूर्वी—हवाइयन, समोअन, माओरी, फीजियन, न्यूजीलैंडी। विशेषताएँ—(१) भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक है। (२) मूल शब्द तथा धातुएँ दो अक्षरो की है। (३) बलाघात प्रथम अक्षर पर होता है। (४) आदि, मध्य तथा अत्य प्रत्यय का प्रयोग पद-रचना के लिए होता है। (५) बहुवचन बनाने के लिए प्राय पुनरुक्ति का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए, मलय भाषा म रज=राजा, रजरज=राजे। (६) क्रिया के कुछ विशेष रूप ऐसे भी होते है जो सामान्यत अन्य परिवारो म नही मिलते। जैसे पारस्परिक, प्रायिक आदि। (७) बार बार अच्छी तरह, ऊपर-नीचे आदि के लिए पुनरुक्ति का प्रयोग होता है। जैसे फिजियन म तला=भेजना, तलातला=बार बार भेजना, हवाइयन म हुलि=खोजना, हुलिहुलि=अच्छी तरह खोजना। ऐसे ही हेरे=चलना, हेरेहेरे=ऊपर-नीचे चलना। इस परिवार की जावा, सुमात्रा, बाली आदि की भाषाओ म सस्कृत के शब्द बहुत ज्यादा है। अनेक स्थानो और व्यक्तियो के नाम भी मूलत सस्कृत के है। जावा की साहित्यिक भाषा को 'कवि' कहते हैं। कुछ स्थान है सुराद्रिपुर (सुगधिपुर), जावा (यवद्वीप), दोनोसोबो (वनाभा)। कुछ नाम है गुनानों (गुणन), जसविदग्ध (यशोविदग्ध), सोयर्जोग्नत (सूर्योण्णत) द्रुदिदम (तुद्धिम), क्तत्रिनव (कृतविभद)।

(८) आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार

इसे आस्ट्रिक अथवा आग्नेय परिवार भी कहा गया है। पहले इस परिवार का क्षेत्र विस्तृत था, किन्तु अब स्याम, ब्रह्मा, नीकोबार, कम्बोडिया, बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, आदि मे ही यह सीमित हो गया है। इसके मुख्य वर्ग है : (क) पश्चिमी—इन भाषाओं को **मुंडा या कोल** कहते है। इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषाएँ **संथाली** (पूर्वी बिहार तथा पश्चिमी बंगाल), मुंडारी (पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु), तथा भूमिज आदि है। बीस अथवा बीसी के आधार पर गिनती, कोड़ी शब्द का प्रयोग, कुछ बिहारी बोलियो मे क्रियारूपों की जटिलता, पूर्वी भारत की भाषाओं में व्याकरणिक लिंग की अपेक्षाकृत कमी आदि बातें मुंडा वर्ग की भाषाओं का प्रभाव मानी जाती है। (ख) पूर्वी—ब्रह्मा और स्याम की **मॉन** और ख्मेर तथा अन्नाम की अन्नामी आदि। विशेषताएँ—(१) भाषाएँ प्रायः अश्लिष्ट-योगात्मक है। (२) इनकी महाप्राण ध्वनियाँ हमारी महाप्राण-ध्वनियों से अधिक प्राणयुक्त है। (३) क्लिक ध्वनियों की तरह इनके यहाँ एक विशेष प्रकार की ध्वनियाँ होती है। जिन्हे अर्ध-व्यंजन की संज्ञा दी जा सकती है। (४) मध्य प्रत्यय का प्रयोग होता है : मंझी = मुखिया, मपंझी=मुखिया लोग। (५) इनमे द्विवचन भी है। (६) लिंग दो है, जिनकी अभिव्यक्ति प्रायः लिग-द्योतक शब्दो को जोड कर होती है : अंडिया कूल = बाघ, एंगा कूल = बाघिन। (७) एक ही शब्द प्रसंगानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण का कार्य कर लेता है। अर्थात्, शब्द भेद का निर्णय प्रकरण से होता है।

(९) बुशमैन परिवार

इसका क्षेत्र दक्षिणी अफ्रीका मे ऑरेंज नदी से नगामी झील तक है। यहाँ मुख्यतः बुशमैन जाति के लोग रहते है, उन्ही के आधार पर यह नाम पड़ा है। इस परिवार को कुछ लोग परिवार न कहकर परिवार-वर्ग कहते है। इसकी मुख्य भाषाएँ ऐकवे, औकवे, होतेंतोत, आदि है। इस परिवार पर बांटू, सूडान तथा हैमेटिक भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। विशेषताएँ—(१) इसमे अतःस्फोटात्मक अथवा क्लिक ध्वनियों का प्रयोग होता है। ये क्लिक ध्वनियाँ ओष्ठ्य, दत्य, मूर्धन्य, तालव्य तथा वर्त्स्य, पाँच प्रकार की है। (२) इन भाषाओं मे लिंग पुरुषत्व-स्त्रीत्व पर आधारित न होकर सजीव-निर्जीव पर आधारित है। (३) बहुवचन बनाने के लिए इन भाषाओं मे अनेक प्रकार के नियमों (प्राय पचास से ऊपर) का प्रयोग होता है जिनमें एक पुनरुक्ति भी है।

(१०) बांटू परिवार

लगभग १५० भाषाओं के इस परिवार की प्रायः सभी भाषाओं में 'आदमी' के लिए एक ही शब्द 'बांटू' कुछ उच्चारण-भेदों के साथ प्रचलित है। इसी आधार पर इस परिवार को यह नाम दिया गया है। यह परिवार मध्य और दक्षिणी अफ्रीका तथा जंजीबार द्वीप आदि में फैला है। इसकी मुख्य भाषाएँ काफिर, स्वाहिली, जुलु, कागो, सेसुतो, रुआन्दा, उम्बुन्दु आदि है। विशेषताएँ—(१) इनकी भाषाएँ प्रायः अश्लिष्ट-पूर्ण योगात्मक है। (२) इसमें संयुक्त व्यंजन नही होते तथा शब्द प्रायः स्वरांत होते है, अत भाषाएँ बडी श्रुति-मधुर हैं। (३) इसकी दक्षिणी-पूर्वी भाषाओं मे क्लिक ध्वनियाँ है। (४) 'होफ़िनेल्ला' बाँधना; होफ़िनोल्ला =खोलना। (५) इस परिवार की भाषाओं में ध्वनि-अनुरूपता मिलती है। वाक्य के एक शब्द से उपसर्ग लगा कर उसी के वजन पर सभी शब्दों मे ध्वन्यात्मक परिवर्तन कर लेते है। (६) व्याकरणिक लिंग-विचार प्राय. नही के बराबर है।

(११) सूडान परिवार

लगभग सवा चार सौ भाषाओं के इस परिवार को कुछ लोग सात परिवारों का वर्ग मानते हैं। यह परिवार अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर हैमटिक भाषा क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व से पश्चिम तक एक पतले भाग में फैला हुआ है। इसकी मुख्य भाषाएँ हौसा, सोहगइ, इवे, बादू, न्युबियन, मसबा, अशानी आदि हैं। अनेक बातों में यह परिवार चीनी तथा बातू परिवार से मिलता जुलता है। विशेषताएँ—(१) इसकी भाषाएँ मुख्यतः अयोगात्मक हैं। (२) धातुएँ प्रायः एकाक्षर हैं। (३) विभक्तियों का प्रयोग प्रायः नहीं होता। (४) अर्थ को व्यक्त करने के लिए चीनी भाषा की तरह 'सुरों' का प्रयोग होता है। (५) इस परिवार में बहुवचन का प्रयोग कम ही होता है। कभी-कभी बहुवचन बनाते हैं तो स्वर को दीर्घ करके (जैसे रॉर=जंगल, रोर=बहुत से जंगल) अथवा अन्य पुरुष बहुवचन या लोग का समानार्थी शब्द जोड़कर। (६) व्याकरणिक लिंग भी प्रायः नहीं है। यदि बहुत आवश्यक हुआ तो कुछ खास लिंग-बोधक शब्दों को जोड़कर शब्दों को विशिष्ट लिंगत्व प्रदान करते हैं। (७) प्रायः वाक्य छोटे और सरल होते हैं, संयुक्त या मिश्रित नहीं। यदि कहना होगा—'वह जहाज पर से समुद्र में कूदा' तो कहेंगे—'वह कूदा। जहाज के भीतरी भाग को छोड़ा। समुद्र में गिरा।' (८) इन भाषाओं में कुछ ऐसे व्यंजक शब्द होते हैं जो अपनी ध्वनि से गति, रूप, स्वाद, गंध आदि की काफी सटीक व्यंजना करने में समर्थ होते हैं। ऐसे शब्द विशेषण अथवा क्रिया-विशेषण होते हैं। जैसे क-क=सीधे, त्यो-त्यो=जल्दी, सि सि=छोटे-छोटे कदम रखकर, त्य-त्ये=दृढ़ गति से।

(१२) अमरीकी परिवार

अमरीका में यों तो मुख्यतः अँग्रेजी, स्पेनिश, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, जर्मन तथा इटैलियन आदि भाषाएँ बोली जाती हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त वहाँ के आदिवासियों द्वारा व्यवहृत लगभग एक हजार भाषाएँ ऐसी हैं, जो मूलतः वहीं की हैं और जिन्हें अमरीकी भाषाएँ कहते हैं। यहाँ इन्हें शिथिल रूप में एक परिवार कहा जा रहा है। वास्तविकता यह है कि इनका अभी ठीक ढंग से तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो पाया है, और इसीलिए इनका ठीक पारिवारिक वर्गीकरण सम्भव नहीं हो सका है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यहाँ लगभग एक हजार परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें 'अमरीकी वर्ग' कहा जा सकता है। ये भाषाएँ उत्तरी अमरीका, मध्य अमरीका दक्षिणी अमरीका, ग्रीनलैंड तथा आस पास के द्वीपों में बोली जाती हैं। इनकी मुख्य भाषाएँ एस्किमो (ग्रीनलैंड), अथबस्कन (कनाडा तथा संयुक्त राज्य), नहुअत्ल (मैक्सिको), करीब, चेरोकी (पनामा के पूरब), गुअर्नी, क्वेचुआ, अरवक, चेरोकी, नूत्का आदि हैं। विश्लेषण के अभाव में इनकी सामान्य विशेषताएँ देना सम्भव नहीं है। प्रायः ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं, अर्थात् शब्दों के अंश मिल कर वाक्य बन जाते हैं। उदाहरण के लिए चेरोकी भाषा का वाक्य 'नाधोलिनिन' लिया जा सकता है, जिसका उल्लेख पीछे पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में किया जा चुका है। कुछ स्थानों पर ऐसा है कि स्त्रियाँ एक भाषा बोलती हैं और पुरुष दूसरी। इसका ऐतिहासिक कारण है। एक बार ऐसा हुआ था कि 'अवरक' भाषाभाषी लोगों पर 'करीब' भाषाभाषी लोगों की विजय हुई। उन लोगों ने पुरुषों को तो मार डाला और स्त्रियों से विवाह कर लिये। फल यह हुआ कि स्त्रियों की पीढ़ी अब तक 'अवरक' भाषा बोलती है और पुरुष 'करीब' भाषा का प्रयोग करते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही एक-दूसरे को समझ लेते हैं पर प्रयोग एक का करते हैं। दोनों भाषाओं का एक-दूसरे पर काफी प्रभाव पड़ा है, जो स्वाभाविक ही है।

(१३) भारोपीय परिवार

भारत से लेकर प्रायः पूरे यूरोप तक बोले जाने के कारण इस परिवार को 'भारोपीय परिवार' कहते है। **क्षेत्र**—यह परिवार एशिया में भारत, बाँगलादेश, श्रीलङ्का, पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान, ईरान, यूरोप में रूस, रूमानिया, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, इंगलैंड, जर्मनी आदि, तथा अमेरिका, कनाडा, अफ्रीका, और आस्ट्रेलिया के अनेक भागों में बोला जाता है। **मुख्य भाषाएँ : प्राचीन**—संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन फ्रांसीसी, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि। **आधुनिक**--अंग्रेज़ी, रूसी, जर्मन, स्पेनी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, इतालवी, फ़ारसी, हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि। **महत्व**—इस परिवार का महत्व कई कारणों से है : (१) यह विश्व के बहुत बड़े भाग में बोला जाता है। अर्थात् भौगोलिक क्षेत्रफल की दृष्टि से यह सबसे बडा परिवार है। (२) इसमें अन्य परिवारों की तुलना में भाषाओं और बोलियों की संख्या बहुत अधिक है। इस परिवार की भाषाओं को बोलने वालों की संख्या विश्व मे अन्य परिवारों की तुलना में बहुत अधिक है। (४) साहित्य-रचना के क्षेत्र में भी इस परिवार की भाषाएँ अग्रणी है। (५) इस परिवार की भाषाओं और बोलियों का ही अध्ययन-विश्लेषण विश्व में सर्वाधिक हुआ है। (६) भाषा-विज्ञान के विकास में इस परिवार की भाषाओं के विद्वानों (पाणिनी, भर्तृहरि, ससूर, ब्लूमफ़ील्ड, चॉम्स्की आदि) ने ही सर्वाधिक कार्य किया है। **परिवार का विभाजन**—यह परिवार मुख्यतः दो शाखाओं में विभक्त है : केंतुम (यह शब्द लैटिन का है और इसका अर्थ है 'सौ'), सतम् (यह शब्द अवेस्ता का है और इसका अर्थ है 'सौ')। आगे इन दोनों के अंतर्गत निम्नांकित भाषाएँ है : **केंतुम्**—केल्टिक (आयरिश, स्काच), जर्मनिक (जर्मन, अंग्रेजी, स्वेडिश), लैटिन (इतालवी, स्पेनी, फ्रांसीसी, पुर्तगाली आदि), ग्रीक। **सतम्**—स्लाव (रूसी, बल्गेरियन, पोलिश), ईरान (फ़ारसी, ताजिक), भारतीय (संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिंदी, मराठी, बँगला, गुजराती, असमी आदि)। **विशेषताएँ**—(१) अपने मूल रूप की दृष्टि से यह परिवार श्लिष्ट-योगात्मक कहा जा सकता है। (२) इसमें योग प्रत्यय का प्रकृति से या सम्बन्धतत्त्व का अर्थतत्त्व से प्रायः सेमेटिक या हैमेटिक परिवार-सा अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है। (३) प्रत्यय जोड़े जाते हैं, उनके स्वतन्त्र अर्थ का पता नहीं है। एक-दो के विषय में (जैसा अंग्रेज़ी का ly—manly) विद्वानों ने कुछ अनुमान लगाया है, पर शेष संदिग्ध है। यों, अनुमान ऐसा है कि अन्य भाषाओं के प्रत्ययों की भाँति भारोपीय परिवार के प्रत्यय भी कभी स्वतंत्र शब्द थे, उनका अर्थ था; कालान्तर में धीरे-धीरे ध्वनि-परिवर्तन के चक्र मे पड़ने से उनका आधुनिक रूप मात्र शेष रह गया। (४) इस परिवार की भाषाएँ आरम्भ मे योगात्मक थी, पर धीरे-धीरे दो-एक को छोड़कर सभी वियोगात्मक हो गईं, जिसके फलस्वरूप, परसर्ग तथा सहायक क्रिया आदि की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही कुछ भाषाएँ स्थान-प्रधान (positional) भी हो गई है। जैसे 'राम मोहन कहता है' में 'राम' को 'मोहन' के स्थान पर और 'मोहन' को 'राम' के स्थान पर कर देने से अर्थ-परिवर्तन हो जायेगा, पर संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में यह बात नही थी। (५) धातुएँ अधिकतर एकाक्षर होती है। इनमे प्रत्यय धातु मे जोड़े जाते है, उन्हें कृत् (primary) कहते है और जो कृत् लगाने के बाद जोड़े जाते हैं, उन्हें तद्धित (secondary)। तद्धित के भी तीन भेद है जो क्रम से शब्द, कारक के उपयुक्त पद और कालानुसार क्रिया बनाते है। इन्हे क्रम से word-building suffixes, case-indicating suffixes और verbal suffixes कह सकते है। (७) इस परिवार मे पूर्वसर्ग या पूर्व-विभक्तियाँ सम्बन्ध-सूचना देने के लिए या वाक्य बनाने के लिए बांटू आदि कुलों की भाँति नहीं प्रयुक्त होतीं। उनका प्रयोग होता है और पर्याप्त मात्रा मे होता है, पर उनसे शब्दों या धातुओं के अर्थ को परिवर्तित करने का काम लिया जाता है। जैसे विहार, आहार, परिहार

आदि मे 'वि', 'आ', और 'परि' आदि लगाकर किया गया है। (८) समास-रचना की विशेष शक्ति इस परिवार मे है। इसकी रचना के समय विभक्तियो का लोप हो जाता है और समास द्वारा बने शब्द का अर्थ ठीक वही नही रहता जो उसके अलग-अलग शब्दो को एक स्थान पर रखने से होता है। उसमे एक नया अर्थ आ जाता है। जैसे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा, अर्थात् काशी की वह सभा जो नागरी का प्रचार करती है। वेल्श भाषा मे समासो से बहुत बडे-बडे शब्द बनते हैं। किसी टापू मे बसे एक वेल्श ग्राम का नाम, जो समास पर आधारित है, ५८ वर्णो का है। (९) इस परिवार की एक प्रधान विशेषता यह भी है कि स्वर-परिवर्तन सम्बन्धतत्त्व-सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। आरम्भ मे स्वराघात के कारण ऐसा हुआ होगा। स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन हो गया और जब धीरे-धीरे प्रत्ययो का लोप हो गया तो वे स्वर-परिवर्तन ही सम्बन्ध-परिवर्तन को भी स्पष्ट करने लगे। अग्रेजी की कुछ बली क्रियाओ मे यह बात स्पष्टत देखी जा सकती है—drink, drank, drunk, यहाँ आई (i) का ए (a) और यू (u) मे परिवर्तन हुआ है, और इसी से उसमे काल-सम्बन्धी परिवर्तन आ गया है। (१०) एक स्थान से चल कर अलग होने पर इस परिवार की भाषाओ का अलग-अलग बहुत-सी भाषाओ मे विकास हुआ और सभी मे प्रत्ययो की आवश्यकता पडी। अत यहाँ प्रत्ययो की सख्या बहुत अधिक हो गई है। अन्य किसी भी परिवार मे इनकी सख्या इतनी अधिक नही है। इस परिवार के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी नीचे दी जा रही है—

नाम—इस परिवार का क्षेत्र उत्तरी भारत से लेकर ईरान और आर्मेनिया होता हुआ बीच के (यूराल-अल्टाइक तथा बास्क) कुछ भागो को छोड कर ब्रिटेन और ब्रिटिश द्वीपो के पश्चिमी भाग तक है। इस परिवार का उचित नामकरण आरम्भ से ही विवादास्पद रहा है और आज भी कोई सतोषजनक नाम नही है। भारोपीय परिवार को पहले (१) 'इडो जर्मनिक' कहा गया था, क्योकि इसके पूर्वी छोर पर भारतीय और पश्चिमी छोर पर जर्मनिक भाषाएँ हैं। किन्तु, उनके भी पश्चिम इस परिवार की केल्टिक शाखा है, अत यह नाम उचित नही जान पडा और इसी कारण छोड भी दिया गया—यद्यपि जर्मनी मे अब भी यही नाम (Indo Germanisch) प्रचलित है। उनका कहना यह है कि यह नाम विद्वानो ने जर्मनी को महत्व न देने की दृष्टि से छोड दिया, उसके अनुपयुक्त होने के कारण नही। भौगोलिक दृष्टि से (२) 'इडो केल्टिक' नाम ठीक था और कुछ प्रयोग मे भी आया, किन्तु चल नही सका, क्योकि इसमे केवल दोनो छोर ही थे। नाम से परिवार के सम्बन्ध मे निश्चित चित्र नही खडा होता था। इसे (३) 'आर्य-परिवार' भी कुछ लोगो ने कहा, क्योकि लोगो का अनुमान था कि प्रारम्भ मे इसके बोलने वाले आर्य (विशेष नस्ल) थे। बाद मे, यह धारणा भ्रामक सिद्ध हो गई। साथ ही, लोगों का यह कहना ठीक है कि 'आर्य' शब्द का प्रयोग भारत और ईरान (आर्याणाम् अइरयान, ईरान) मे ही विशेष प्रचलित रहा है, इसलिए भारोपीय परिवार के लिए नही, बल्कि उसकी एक शाखा भारत-ईरानी के लिए इस नाम का प्रयोग अधिक समीचीन है। आज इसी-लिए 'आर्य' का प्रयोग अधिकाश विद्वान् भारत-ईरानी के लिए ही करते हैं। यो अपवाद-स्वरूप मैक्समूलर, सेम्पसन आदि कुछ विद्वान् इसे पूरे परिवार के लिए पर्याप्त उपयुक्त मानते रहे हैं। इस परिवार मे सस्कृत भाषा का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक रहा है। पहले तो लोगो का यह भी विचार था कि सस्कृत ही मूल भाषा थी, और इसी से इस परिवार की सारी भाषाएँ निकली। इन्ही सब कारणो से कुछ लोगो ने इसे (४) 'सस्कृत परिवार' या 'सास्कृतिक परिवार' कहना उचित समझा था, यद्यपि इसे भी मान्यता नही मिली। कुछ लोगो ने इसे (५) 'काकेशियन परिवार' भी कहा था, यद्यपि यह भी नही चल सका। कुछ लोग सेमेटिक और हैमेटिक की वजन पर इसे (६) 'जफ़ेटिक परिवार' कहना चाहते थे। बाइबिल मे इन आधारो पर मनुष्य जाति का वर्गीकरण किया गया है। किन्तु, यह वर्गीकरण पूर्णत अवैज्ञानिक और अमान्य था, इसलिए नही चल सका। इसमे सबसे बडी दिक्कत तो यह थी कि कितने

ही जफ़ेटिक कहलाने वाले लोग ऐसी भाषाएँ बोलते हैं, जिनका भारोपीय परिवार से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अन्तिम नाम जो आजकल भी प्रचलित है (७) **'भारोपीय परिवार'** (भारत-यूरोपीय, Indo-European) है। यह नाम भी पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। इसका आधार भौगोलिक है क्योंकि इस परिवार की शाखाएँ भारत से लेकर यूरोप तक फैली हैं। पर, यदि यही आधार माना जाय तो अमेरिका, आस्ट्रेलिया, और अफ्रीका के बहुत से भागों में भी अब इस परिवार की भाषाओं (अंग्रेज़ी, स्पैनिश, फ्रेंच, डच आदि) का प्रचार है, और इस नाम में ये क्षेत्र सम्मिलित है। फिर भी, किसी अन्य अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में 'भारोपीय' नाम काम दे सकता है और दे रहा है।

ऊपर हमने देखा कि भौगोलिक, जातीय या प्रमुख भाषा आदि कई आधारों पर नामकरण का प्रयास किया गया है; यद्यपि कोई संतोषजनक नहीं है। इस विषय में मेरा एक विनम्र सुझाव है। भाषाविज्ञानविदों ने तुलनात्मक अध्ययन (संस्कृत वीर, लैटिन uir, vir, प्राचीन आइरी Fer, जर्मनिक wer आदि) के आधार पर मूल भारोपीय या भारत-हित्ती भाषा के एक शब्द wiros का पुनर्निर्माण किया था, और उन मूल लोगों को भी इसी 'विरोस्' शब्द से पुकारा था। यदि हम उन मूल लोगों को 'विरोस्' कह रहे है, तो उसी आधार पर उस मूल भाषा के परिवार के लिए (८) **'विरोस् परिवार'** (Wiros family) का प्रयोग कर सकते हैं। सभी दृष्टियों से, यह नाम, औरों की अपेक्षा उपयुक्त है। हाँ, यह बात दूसरी है कि भारोपीय या Indo-European के पूर्णतया प्रचलित हो जाने के बाद अब किसी अच्छे नाम के भी प्रलचन की सम्भावना कम ही है।

ऊपर इस परिवार के नामकरण के सम्बन्ध में सात पुराने और एक अपने नये सुझाव का उल्लेख किया गया है। यथार्थतः प्रथम सात की स्थिति तब की है, जब हित्ती (Hittite) भाषा को इस परिवार की एक शाखा माना गया था। कुछ विद्वान् 'हित्ती' को 'भारोपीय' की पुत्री न मानकर बहन मानने के पक्ष में रहे हैं, वैसी स्थिति में भारत-हित्ती (Indo-Hittite) नाम उपयुक्त होगा। यों 'विरोस् परिवार' नाम शायद 'भारत-हित्ती' या 'इंडो-हिट्टाइट' से कहीं अच्छा है। हाँ यदि मूल दो शाखाओं के आधार पर ही नामकरण करना हो तो **'भारोपीय-एनाटोलियान'** का सुझाव भी मैं देना चाहूँगा। आगे दिये गये वंशवृक्ष से यह नाम स्पष्ट हो जायगा।

हित्ती या हिट्टाइट (Hittite)

ह्यूगो विकलर को एशिया माइनर से 'बोगाज़कोई' नामक स्थान की खुदाई में कुछ कीलाक्षार लेख १८९३ ई० में मिले, जिनसे 'हित्ती' भाषा का पता चला। इसे हिट्टाइट, खत्ती, हिटाइट, कप्पदोसी, हत्ती, कनेसिअन, नेसीय, नेसियन तथा नासिली आदि भी कहते हैं। १९०५ से १९०७ तक यह खुदाई और हुई और पर्याप्त सामग्री (कीलाक्षर के अतिरिक्त चित्रलिपि में) भी मिली। यह भाषा २००० ई० पू० की मानी जाती है। इसे कुछ लोगों ने काकेशियन से जोड़ने का प्रयास किया, कुछ लोगों ने लीसियन से, और कुछ लोगों ने लीडियन से। इस भाषा पर समीपवर्ती होने के कारण सामी परिवार का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है, इसीलिए सईस तथा कुछ अन्य लोगों ने यह भी विचार प्रकट किया था कि यह सामी परिवार की भाषा है। कुछ विद्वानों का तो यह भी कहना था कि इस भाषा में भारोपीय या सामी परिवार के शब्द तो गृहीत (उधार) मात्र हैं, यथार्थतः इसका सम्बन्ध किसी भी परिवार से नहीं है। इसीलिए बहुत दिनों तक इसे अनिश्चित परिवार की भाषा भी कहा जाता रहा। १९१७ में चेक विद्वान् बी० ह्राज़्नी (Hrozny) ने विस्तृत अध्ययन के बाद अपनी पुस्तक 'Die Sprache der Hethiter' में इसे निश्चित रूप से भारोपीय परिवार की सिद्ध किया। मेरिगी, स्टुर्टवेण्ट, कूव्रर तथा पीडर्सन आदि लगभग एक दर्जन विद्वानों ने इस भाषा के अध्ययन को अपनी पूर्णता पर पहुँचाया है।

अब हित्ती भाषा को निश्चित रूप से भारोपीय से सम्बद्ध और सामी प्रभाव के कारण उससे भी कुछ साम्य रखने वाली माना जाता है। किन्तु, हित्ती के विवाद की समाप्ति केवल इसके परिवार-निर्धारण में ही नहीं हो गई। आरम्भ में लोगों ने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन की भाँति इसे भारोपीय परिवार की पुत्री माना और भारोपीय के दो वर्ग केन्तुम् और सतम् में इसे 'कैंतुम्' के अन्तर्गत स्थान दिया, किन्तु बाद में स्टुर्टवेंट ने यह मान्यता (इसकी ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय एमिल फ़ॉरर को है) सामने रखी कि 'हित्ती' 'भारोपीय' की पुत्री न होकर उसकी बहन थी। अर्थात् दो स्थितियाँ सम्भव हैं—
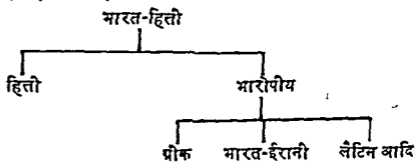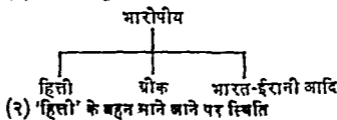
भारत-हित्ती परिवार (Indo-Hittite)

भारत-हित्ती परिवार में यूरोप, अमेरिका, एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की हज़ारों बोलियाँ और भाषाएँ (जीवित या मृत) सम्मिलित हैं। इस वृहत् परिवार का वंशवृक्ष विस्तार को छोड़ते हुए संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

भारत-हित्ती (या भारोपीय-हित्ती)
- एनाटोलियन
  - हित्ती या हिट्टाइट
  - लूवियन
  - पलेइक
  - हीरोग्लाइफ़िक हिट्टाइट
  - लीसियन
  - लीडियन
- भारोपीय
  - कैंतुम्
  - सतम्
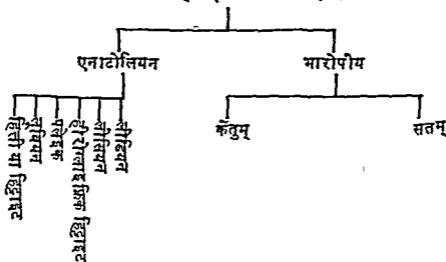
भारत-हित्ती या मूल भारत-हित्ती भाषा का काल मोटे रूप से २४०० ई० पू० के पूर्व माना जाता है। कुछ लोग इसे ५०० वर्षों का मानते हैं और इसका काल २९०० ई० पू० और २४०० ई० पू० के बीच में रखते हैं। २४०० ई० पू० के लगभग इससे दो शाखाएँ विकसित

हुई, एक तो 'एनाटोलियन' और दूसरी 'भारोपीय'। इसके विकसित होने के पाँच सौ वर्ष बाद २००० ई० पू० के लगभग 'एनाटोलियन' से जो भाषाएँ विकसित हुई, उनमें छह का नाम प्रमुखतः उल्लेख्य है। इन छहों का स्थान एशिया माइनर है। कुछ लोग प्रायः इन सभी का सम्बन्ध काकेशियन से मानते रहे हैं। विद्वानों ने सिलियन, पिसिडिअन, बिथिअन, आदि लगभग एक दर्जन मृत भाषाओं को इनसे मिलाकर संयुक्त रूप से इन्हें **एशियानिक** नाम भी दिया है। लीडियन एक मृत भाषा है जो १५०० ई० पू० के पूर्व पश्चिमी एशिया माइनर में बोली जाती थी। इसके केवल ५३ छोटे-मोटे अभिलेख मिले हैं। अधिकतर विद्वान् **लीडियन** का सम्बन्ध किसी भी भाषा से नहीं मानते थे। कुछ इसे यूट्रस्कन का प्राचीन रूप मानते थे। स्टुर्टवेट इसे प्रस्तुत परिवार में रखते हैं। एच० पी० मेरिगी ने इस पर विशेष रूप से काम किया है। **लीसियन** भाषा एशिया माइनर के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में लीडियन के काल के बाद तक बोली जाती थी। सन् ईसवी के पूर्व ही यह मृत हो गई। इसके १५० अभिलेख तथा कुछ सिक्के मिले हैं। इसका सम्बन्ध कई भाषाओं से जोड़ा जाता रहा है। बहुत से लोग इसे अनिश्चित परिवार की भाषा भी मानते रहे हैं। अब प्रायः निश्चित रूप से इसे इस परिवार का माना जाने लगा है। एच० पेडर्सन ने इस पर विशेष रूप से कार्य किया है। **हीरोग्लाइफ़िक हिट्टाइट** या चित्राक्षर हित्ती का क्षेत्र भी उसी के आसपास है। गेल्ब तथा कुछ अन्य लोगों ने इसका अध्ययन किया है।

'पलेइक' भाषा का क्षेत्र वही 'पला' नामक स्थान में है। हित्ती के साथ इसकी भी कुछ सामग्री मिली है। बोसर्ट आदि विद्वानों ने इस पर कार्य किया है। लूवियन (इसे लुइअन भी कहते है) का क्षेत्र भी इन्हीं के पास है। इस पर भी बोसर्ट तथा कुछ और लोगों ने कार्य किया है। इन तीनों भाषाओं के सम्बन्ध के विषय में भी मतभेद रहा है, किन्तु अब ये सभी प्रस्तुत परिवार की मानी जाती है। हिट्टाइट की भाँति ही इन सभी भाषाओं पर सामी आदि कई परिवारों का प्रभाव पड़ा है। एनाटोलियन वर्ग में और भी कई अत्यन्त अल्पज्ञात भाषाएँ है। इन सभी में सबसे अधिक सामग्री हित्ती की मिली है, इसीलिए उनका अध्ययन सबसे अधिक हुआ है और वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

हित्ती (पुनः)

ऊपर भारोपीय परिवार के नाम पर विचार करते समय हित्ती पर कुछ प्रकाश डाला गया है। यहाँ थोड़ा और विचार किया जा सकता है।

हित्ती और भारोपीय भाषाओं की एकता—हित्ती शब्द-समूह की दृष्टि से ही सामी से विशेष प्रभावित है, अन्य सभी बातों और बहुत से शब्दों में भी भारोपीय भाषाओं से उसका पर्याप्त साम्य है। (१) बहुत से वैदिक देवताओं के नाम हित्ती में थोड़े परिवर्त्तन के साथ वर्त्तमान है। हित्ती शुरियश, संस्कृत सूर्य, हि० मरुत्तश, सं० मरुतः; हि० ईन्दर, सं० इन्द्रः, हि० उरुवन, सं० वरुणः, (२) सर्वनामों में भी साम्य है। 'मैं' के लिए हि० उग्स, लैटिन ego, जर्मन ich; 'वह' के लिए हि० तत्, सं० तत्; 'कौन' के लिए हि० कुइस्, लैटिन क्विस, सं० कः; 'क्या' के लिए हि० कुइद्, लैटिन क्विद्, वैदिक कद्; (३) कुछ क्रियारूप भी समान है। हि० एकुजि, लैटिन aqua; हि० इइआमि, सं० यामि; हि० इइआसि, सं० यासि; हि० नेयन्तिस, सं० नयन्ति; (४) संज्ञा शब्दों में भी समानता है। हि० वेदर, अंग्रेजी water, सं० उद्; हि० केमन्ज, सं० हेमन्त, ग्रीक cheima; हि० लमन्, सं० नामन्, लैटिन nomen। (५) सुबन्त की विभक्तियों में भी समानताएँ हैं।

हित्ती भाषा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ—(१) हित्ती, ध्वनि तथा अन्य बहुत-सी दृष्टियों से लैटिन के समीप है, इसी कारण इसे 'केंतुम्' वर्ग की भाषा माना जाता है।

(२) इसके ध्वनि-समूह की सबसे बड़ी विशेषता है एक (कुछ लोगो के अनुसार दो) प्रकार की 'ह' ध्वनि जो अन्य भारोपीय भाषाओ में नहीं मिलती। म्, न् का वितरण भी इसका अपना है जो अन्य भारोपीय भाषाओं से भिन्न है। (३) इसमे कारक केवल छह हैं, अन्य भाषाओ की तरह सात नही। (४) हित्ती मे केवल दो लिंग हैं—पुल्लिंग और नपुंसकलिंग। यह इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमे स्त्रीलिंग नहीं है। (५) वचन तीन थे, किन्तु द्विवचन का प्रयोग कम होता था। सभी शब्दो के स्पष्ट बहुवचन नही हैं। (६) काल केवल दो थे—वर्तमान और भूत (preterite) (मूल क्रिया द्वारा)। अन्य सहायक क्रिया द्वारा बनते थे। (७) क्रियार्थ भेद (mood) दो थे —निश्चयार्थ और आज्ञार्थ। (८) क्रिया और संज्ञा दोनो मे द्विरुक्ति (reduplication) का प्रयोग पर्याप्त होता था। ऑक्-आकस (मेढक), काल-कालटुरे (एक बाजा), काट-काट एनु (नहाना) तथा लाह्-लाह् इनु (लडाना) आदि। (९) अन्य ज्ञात प्राचीन भारोपीय भाषाओ की तुलना मे यह कुछ दृष्टियो से अधिक विकसित थी, इसी कारण इसमे योगात्मकता के साथ अयोगात्मकता (निपात तथा सहायक क्रिया का प्रयोग) के लक्षण भी मिलते हैं।

प्राप्त हित्ती साहित्य मे सबसे प्रमुख एक ग्रन्थ है, जो अश्वविद्या से सम्बद्ध है।

अब स्टुर्टेवेंट का यह मत अमान्य हो गया है तथा हित्ती पुन भारोपीय परिवार के भीतर संस्कृत, ग्रीक आदि की बहन मानी जाने लगी है।

भारोपीय भाषा के मूल प्रयोक्ता विरोस् लोगो का मूल स्थान

इनके मूल स्थान के विषय में विद्वानो में बडा मतभेद रहा है, अब भी किसी एक मत के पक्ष मे सारे विद्वान् नही हैं। इस प्रश्न के निर्णय के लिए प्राचीन साहित्य, प्राचीन भूगोल, जलवायुविज्ञान, ज्योतिष्, पुरातत्त्व, मानवविज्ञान, भाषाविज्ञान तथा जातीय मानवविज्ञान आदि अनेक शाखाओं का सहारा लिया गया है। स्थान की दृष्टि से इस विषय के सारे मत ४ भागो मे रखे जा सकते हैं—(अ) मूल स्थान भारत मे था, (आ) मूल स्थान भारत के बाहर एशिया मे कही था, (इ) मूल स्थान यूरोप मे कही था, (ई) मूल स्थान एशिया और यूरोप के संधि-स्थल पर या उसके आसपास था।

यहाँ, इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करना आवश्यक होगा। यो केवल कुछ मतो का संक्षेप मे उल्लेख करके अपेक्षाकृत अधिक मान्य मत ही सामने रखे जा सकेंगे।

(क) मूल स्थान मे भारत में मानने के पक्ष मे प्रमुख विद्वान् भारतीय ही हैं। यो इन विद्वानो मे भी मतैक्य नहीं है

(१) एल० डी० कल्ला के अनुसार यह स्थान कश्मीर में या हिमालय म था। (२) महामहोपाध्याय डॉ० गङ्गानाथ झा मूल स्थान ब्रह्मर्षि देश मानते हैं। (३) डी० एस० त्रिवेदी मुल्तान मे देविका नदी के किनारे या उसकी घाटी मे मानने के पक्ष मे हैं। (४) कुछ लोग मुल्तान को ही 'मूल स्थान' मानते हैं और इसी आधार पर इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं। (५) अविनाशचन्द्र दास अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इंडिया' में सरस्वती नदी के किनारे या उसके उद्गम के निकट हिमालय में मूल स्थान मानते है। डॉ० सम्पूर्णानन्द तथा अन्य भी कई विद्वानो के मत इन्ही मतो से मिलते-जुलते हैं, और भारत मे ही किसी भाग को आदि स्थान मानते हैं। इन विद्वानो का प्रमुख आधार वेद और पुराण आदि भारतीय साहित्य हैं। इनका कहना है कि भारतीय साहित्य में कही भी आर्यो के कही बाहर से आने का उल्लेख नहीं है। ये लोग भाषाविज्ञान के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष से प्राय असहमत हैं।

तत्त्वतः भारत में आदि भूमि होने की सम्भावना बिल्कुल नहीं है। इसके लिए मोटे ढंग से चार-पाँच बातें कही जा सकती हैं—(क) इस परिवार (भारोपीय) की अधिकांश भाषाएँ यूरोप और एशिया के संधि-स्थल पर या यूरोप में हैं, भारत के आस-पास कम हैं। ऐसी स्थिति मे भारत से बाहर जाकर उनके इस रूप में बसने की संभावना कम है। यह संभावना अधिक है कि उधर से एक शाखा आई और उसी के लोग भारत के उत्तरी भाग में बस गये। शेष लोग मूल स्थान के आस-पास रह गये। (ख) यदि भारत मूल स्थान रहता तो पूरे भारत में (दक्षिण में भी) यह परिवार मिलता। उत्तर में ब्राहुई तथा दक्षिण में तमिल, तेलुगु आदि का होना इसके विरोध में जाता है। (ग) मोहनजोदड़ो का काल ऋग्वेद-पूर्व का है। यदि उसकी भाषा संस्कृत या उससे मिलती जुलती होती तो भारत में मूल स्थान होने को बल मिलता, किन्तु वहाँ की भाषा द्रविड़ परिवार की मानी जाती है, अतः यह सम्भावना है कि यहाँ पहले द्रविड़ ही रहा करते थे और आर्य पश्चिम या पश्चिमोत्तर से यहाँ आये। (घ) इस परिवार की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह भी सिद्ध हो चुका है कि मूल भाषा के निकट संस्कृत नहीं, अपितु लिथुआनियन या हित्ती आदि है। इससे भी सम्भवना यही है कि मूल स्थान इन भाषाओं के क्षेत्रों के ही पास कहीं रहा होगा। (ङ) तुलनात्मक भाषाविज्ञान, जातीय मानवशास्त्र, जलवायुविज्ञान, प्राचीन भूगोल आदि आधारों पर न केवल यूरोपीय, अपितु तिलक और सर देसाई जैसे भारतीय विद्वानों ने भी मूल स्थान भारत के बाहर ही माना है।

(ख) ऊपर भारत में मूल स्थान मानने वालों के प्रमुख मत संक्षेप में दिये गये हैं। अब भारत के बाहर एशिया, यूरोप या दोनों के संधि-स्थान पर मानने वालों के मत संक्षेप में गिनाये जा रहे हैं:—

(१) यों इस प्रश्न पर थोड़े विस्तार से विचार करने का प्रथम प्रयास एडल्फ़ पिक्टेट ने किया था, किन्तु गहराई और वैज्ञानिकता की दृष्टि से इस प्रसंग में प्रथम नाम प्रायः मैक्समूलर का लिया जाता है। मैक्समूलर के निष्कर्ष के अनुसार मूल स्थान पामीर का प्लेटो तथा उसके पास मध्य एशिया में था। कुछ अन्य विद्वान् भी मध्य एशिया के पक्ष में रहे है।

(२) स्कैण्डेनेवियन भाषाओं के विद्वान डॉ॰ लैथम (Latham) ने स्कैण्डेनेवियन भाषाओं को प्रमुख आधार मानकर १८६० के लगभग इस प्रश्न पर विचार किया और मध्य एशिया वाले मत का विरोध करते हुए मूल स्थान यूरोप में माना। इनके अनुसार यूरोप में भी मूल स्थान के स्कैण्डेनेविया में होने की सम्भावना अधिक है। पेंका (Penka) जातिविज्ञान के आधार पर भी लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे।

(३) इटैलियन मानव-शास्त्रवेत्ता सर्जी (Sergi) ने एशिया माइनर के पठार मे मूल स्थान का अनुमान लगाया है। हित्ती भाषा के अभिलेखों से इनके मत की पुष्टि होती है।

(५) लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने प्रमुखतः ज्योतिष् तथा क्रौल के हिमयुग सिद्धान्त आदि के आधार पर ऋग्वेद की ऋचाओं के सहारे 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' में उत्तरी ध्रुव के पास मूल स्थान माना है।

(५) भारतीय विद्वान् सर देसाई ने रूस में बालकन झील के पास मूल स्थान माना था। उनके अनुसार, वहाँ आज भी 'सात नदियों का देश' (सप्तसिन्धु) नामक प्रदेश है।

(६) डॉ॰ गाइल्ज़ ने 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' में इस बात पर विचार किया है और वे हंगरी में कारपेथियन पर्वत के आसपास मूल स्थान मानते है।

(७) हर्ट के अनुसार पोलैंड में विश्चुला नदी के किनारे आदि स्थान था। उसके पश्चिमी तट पर कैंतुम् भाषाओं के बोलने वाले रहते थे और पूर्वी तट पर सतम् भाषाओ के बोलने वाले। पूर्वी तुर्किस्तान में 'तोखारी' नामक कैंतुम् भाषा के मिलने के कारण अब यह मत प्राय निराधार हो गया है।

(८) जातीय मानवविज्ञान के आधार पर यूनानी पौराणिक कथाओ का अध्ययन करके कुछ विद्वानों ने जर्मनी को मूल स्थान माना था। मिट्टी के बर्तनो की डिजाइनों के आधार पर भी कुछ लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे।

(९) नेहरिंग (Nehring) ने मिट्टी के बर्तनो के अवशेषो के आधार पर दक्षिण रूस को मूल स्थान माना था।

(१०) इतिहासपूर्व पुरातत्त्व के आधार पर मच (Much) तथा कुछ अन्य विद्वानो ने पश्चिमी बाल्टिक किनारे को मूल स्थान माना।

(११) तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के आधार पर विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लियुवानियन भाषा ही मूल भारोपीय के सबसे निकट है। इस आधार पर कुछ लोग 'लियुवानिया' को भी मूल स्थान मानने के पक्ष मे हैं। किंतु, अब इस बात के प्रमाण भी पाये गये हैं कि पहले लियुवानिया और पूरब मे था।

(१२) प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार तिब्बत (त्रिविष्टप) मे सृष्टि का आरम्भ हुआ, अत वहीं आर्यो का मूल स्थान था।

(१३) स्लाव भाषाओं के विद्वान् प्रो० श्रेडर ने प्रमुखत स्लाव भाषाओ का आधार लेते हुए दक्षिणी रूस में वोल्गा नदी के मुहाने और कैस्पियन सागर के उत्तरी किनारे के पास के क्षेत्र को मूल स्थान माना है। यह मत काफी दिनो तक मान्य रहा है।

इनके अतिरिक्त, बाल्टिक सागर के दक्षिणी-पूर्वी तट, मेसोपटामिया या दजला-फरात के किनारे, दक्षिण-पश्चिमी या उत्तरी रूस, एशिया, डैन्यूब नदी के किनारे तथा रूसी तुर्किस्तान आदि कई अन्य प्रदेशों के मूल स्थान होने के पक्ष मे भी मत प्रकट किये गये हैं। उपर्युक्त मतों में गाइल्ज, श्रेडर तथा ब्रान्देश्ताइन के मत अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध रहे हैं। आगे प्रथम और अन्तिम पर थोडा और विचार किया जा रहा है।

भाषाश्रयी या भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज के अध्याय मे हम देखेंगे कि एक परिवार की भाषाओं के शब्द-भडारो के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि मूल भाषा (जिससे वे सभी भाषाएँ निकली है) के शब्द-भडार मे कौन-कौन से शब्द थे। शब्दों का निर्णय होने पर इस बात का पता चल जायेगा कि वे लोग किन-किन पेडों, अन्नों और जानवरो आदि से परिचित थे। फिर पेडों, अन्नो और जानवरो आदि के आधार पर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका स्थान कहाँ था। इसी पद्धति पर उपर्युक्त तीनो विद्वानो ने अपने निष्कर्ष निकाले हैं।

गाइल्ज (Giles)—भारोपीय परिवार की भाषाओ के शब्द-समूह के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गाइल्ज ने आदि भाषा के शब्द-समूह के सम्बन्ध मे जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे पता चलता है कि वे लोग बैल, गाय, भेड, घोडा, कुत्ता, सूअर, भेडिया, भालू, चूहा तथा हिरन से परिचित थे, किन्तु हाथी, गदहा, शेर, चीते, तथा ऊँट आदि नहीं जानते थे। पक्षियो में हंस तथा बत्तख से परिचित थे। पेडो मे विलो (willow) या वेतस्, बच (birch) या भूर्ज तथा बीच (beech) से परिचित होने की सभावना है।

इनका स्थान बड़े जंगलों का नहीं था। ये खानाबदोश नहीं थे और एक जगह रह कर खेती आदि करते थे। गाइल्स के अनुसार, ये सभी बातें उस पुराकाल में हंगरी में कारपेथियन्ज, बलकान्ज, आस्ट्रिया, तथा आल्प्स आदि के बीच के समशीतोष्ण क्षेत्र में संभव है और इसीलिये वही मूल स्थान है।

श्रेडर (Schrader)—श्रेडर लगभग इसी पद्धति से अपने निष्कर्ष पर पहुँचे थे। ब्रान्देन्स्ताइन के मत के बावजूद कुछ लोग अब भी इसे अधिक प्रामाणिक मानते है।

ब्रान्देस्ताइन (Brandenstein)—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा अन्य भी कई विद्वान् अब ब्रान्देन्स्ताइन के पक्ष में है। यों बटकृष्ण घोष तथा नेहरिंग आदि लोग इनकी बहुत-सी बातें नही मानते। नेहरिंग ने तो अपनी किसी आगामी पुस्तक में ब्रान्देन्स्ताइन की मान्यताओं का व्यवस्थित रूप से खण्डन करने का वादा भी किया था, यद्यपि अभी तक इस प्रकार की कोई चीज दिखाई नहीं पड़ी। ब्रान्देन्स्ताइन ने उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भाषाविज्ञान की एक शाखा अर्थविज्ञान की विशेष रूप से सहायता ली थी। इनके अनुसार शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ऐसा पता चलता है कि पहले ये लोग किसी एक स्थान में अविभक्त रूप से रहते थे। बाद में, भारत-ईरानी लोग इनसे निकल कर अलग चले गएओर इस प्रकार ये दो भागों में विभक्त हो गये। इस विभाजन के बाद मूल शाखा (भारत-ईरानियों के अतिरिक्त) भी अपने पुराने स्थान पर न रुककर किसी नये स्थान पर चली गई। अविभक्त भारोपीय, 'पूर्वभारोपीय' और भारत-ईरानियों के जाने के बाद शेष बचे लोग 'परभारोपीय' कहे जा सकते हैं। ब्रान्देन्स्ताइन के अनुसार मूल शब्द-समूह की दृष्टि से भारत-ईरानी में अर्थ-विकास का अपेक्षाकृत पुराना स्तर मिलता है और शेष या 'परभारोपीय' में बाद का। इसी आधार पर इन दो वर्गो की कल्पना की गई। उदाहरणार्थ पूर्वभारोपीय में पत्थर के लिए *gwer या *gweran शब्द था। संस्कृत में यही ग्रावन् (सोमरस निचोड़ने का पत्थर) है, किन्तु 'परभारोपीय' से निकली भाषाओं मे 'चक्की का पत्थर' या 'हाथ चक्की' आदि अर्थो मे विकसित मिलता है (प्राचीन अंग्रेजी Cweorn, अंग्रेज़ी queen, डच Kweern तथा डैनिश Kvaern आदि)। 'परभारोपीय' के नये स्थान पर जाने का अनुमान इस आधार पर लगाया गया है कि 'पूर्वभारोपीय' की तुलना मे शब्द समूह और उसके अर्थ में थोड़ी भिन्नता है, जिससे यह पता चलता है कि 'पर' के शब्द-समूह का विकास 'पूर्व' के स्थान पर न होकर किसी नवीन क्षेत्र में हुआ है। निष्कर्ष यह है कि 'पूर्वभारोपीय' किसी अपेक्षतया सूखे क्षेत्र में पहाड की तराई में रहते थे। हरे-भरे जंगलों से दूर थे। वेतस्, भूर्ज, बजराँठ तथा कुछ अन्य फलविहीन वृक्षों का उन्हें पता था। गाय, भेड़, बकरी, कुत्ता, भेड़िया, लोमडी, सूअर, हिरन, खरगोश, चूहा, ऊदबिलाव आदि से भी ये परिचित थे। ब्रान्देन्स्ताइन के अनुसार, यह स्थान यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व मे स्थित किरगीज़ का मैदान था। बाद में, भारत-ईरानियों के अलग (पूरब की ओर) चले जाने के बाद शेष लोग (परभारोपीय) पश्चिम की ओर किसी नीचे दलदली क्षेत्र मे गये। यहाँ पुल आदि के भाव से इनका परिचय हुआ। कुछ नये पेड़ आदि भी इन्हे मिले। ब्रान्देन्स्ताइन के अनुसार, यह दूसरा स्थान कार्पेथियन पर्वत-माला के पूरब में था।

इस प्रश्न का बहुत निश्चय के साथ दो टूक उत्तर देना कठिन है। 'अपने' के प्रति मोह के कारण भी यह समस्या उलझी रही है, और रहेगी। भारतीय विद्वानों ने भारतीय साहित्य को आधार माना और निष्कर्षतः भारत को आदि स्थान कहा। प्रो० श्रेडर स्लाव भाषाओ

के विद्वान् थे उन्होंने अपने अध्ययन मे स्लाव उदाहरणो को प्रधानता दी। अत वे स्लाव क्षेत्र को ही मूल स्थान सिद्ध कर सके। स्कैण्डेनेवियन भाषाओ के विद्वान् लैथम ने स्कैण्डेनेविया को सिद्ध किया। जब तक इस मोह से ऊपर उठकर सभी विद्वान् निष्पक्ष रूप मे कार्य करते हुए एक या लगभग एक मत पर नही पहुँचते, तब तक अन्तिम सत्य पर पहुँचना कठिन है। तब तक के लिए ब्रान्देन्स्ताइन को स्वीकार किया जा सकता है। यो इसे मान लेने पर परिवार के भारत-हित्ती वाले रूप को स्वीकार करने मे सभवत कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित होगा।

मूल भारोपीय भाषा ध्वनियाँ[1]

मूल भारोपीय ध्वनियो के निर्धारण का प्रयास पिछली सदी के दूसरे चरण से ही आरम्भ हो गया था। अब तक इस पर थोडा-बहुत काम होता जा रहा है, किन्तु पूर्णत अन्तिम रूप तक, अभी तक विद्वान् नही पहुँच सके है। स्वरो का निर्धारण तो कठिन है ही, कई व्यजनो के बारे मे भी विवाद है। भारतीय विद्वानो मे किसी ने भी इस समस्या पर अनुसधान के स्तर पर कार्य नही किया है, किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डॉ० सुकुमार सेन, आदि ने अग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि की पुस्तकों के आधार पर अपनी पुस्तको मे इन ध्वनियो को सक्षेप मे दिया है। विषय की विवादास्पदता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उपर्युक्त विद्वानो ने जो सामग्री दी है, वह पूर्णतया एक नही है। यहाँ मूल प्रश्न को उठाकर तुलना के आधार पर ध्वनियो का निर्धारण न करके सक्षेप मे, केवल सूची दी जा रही है। यह चयन अपने निर्णय के आधार पर किया गया है, और हिन्दी या अन्य भाषाओ की एक या अधिक पुस्तको से पाठक इन्हें भिन्न पा सकते हैं।

(१) स्वर

मूल स्वर

(क) अति ह्रस्व अॅ[2]
(ख) ह्रस्व अॅ एँ ओँ
(ग) दीर्घ आ ए ओ

सयुक्त स्वर

सयुक्त स्वरो की सख्या लगभग छतीस थी, जो उपर्युक्त ह्रस्व और दीघ स्वरो के साथ इ, ऋ, लृ, उ, न, म्, के मिलने से बनते थे, जैसे अइ, अऋ, आलृ, तथा ओउ आदि।

---

१ इन्हे ही भारत-हित्ती (हित्ती को भारोपीय की बहन मानने पर) भाषा की ध्वनि भी माना जा सकता है, क्योकि इन ध्वनियो के निर्धारण मे हित्ती ध्वनियो का भी पूरा विचार किया गया है। किन्तु, कुछ विद्वानो के अनुसार, भारत-हित्ती ध्वनियाँ इनसे कुछ भिन्न थी। ऐसे लोगो के अनुसार एँ, ए, ओँ, ओ, अ ५ स्वर, य, व, र, ल, न, म ६ अतस्थ, ग, ख, आदि ४ कठनालीय ध्वनियाँ, अघोष और घोष दो 'ह', क, त, प, ग, द, ब, घ, ध, भ, नौ स्पर्श और 'स' ऊष्म आदि कुल लगभग २७ ध्वनियाँ थी।

२ यह उदासीन स्वर है जो ह्रस्व का भी आधा (मात्रा की दृष्टि से) होता है। इसका उच्चारण अस्पष्ट होता है। इसे ह्रस्वार्द्ध स्वर भी कहते हैं। यूरोपीय भाषाओ मे इसे श्वा (schwa) कहते है और e को उलट कर (ə) लिखते हैं।

(२) अन्तःस्थ[1]

य् (इ), व् (उ), ल् (लृ)
र् (ऋ), न् (न्॒), म् (म्॒)

(३) व्यंजन

(क) स्पर्श (१) कवर्ग[2] (i) क्, ख्, ग्, घ्,
(ii) क़्, ख़्, ग़्, घ़्,
(iii) क्व्, ख्व्, ग्व्, घ्व्
(२) तवर्ग[3] त्, थ्, द्, ध्,
(३) पवर्ग प्, फ्, ब्, भ्
(ख) ऊष्म[4] स् (ज़्)

'ह्' ध्वनि के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोगों के अनुसार यह ध्वनि नहीं थी। कुछ लोगों का हित्ती के आधार पर यह कहना है कि इसका एक रूप था। कुछ अन्य लोग उसके 'घोष' और 'अघोष' दोनों रूपों की स्थिति मानते है। ऊष्म या संघर्षी व्यंजनों में कुछ लोग केवल एक 'स' को मानते है, जैसा कि ऊपर दिया गया है, किन्तु कुछ अन्य विद्वान् ख़्, ग़्, घ़्, त़्, थ़्, द़्, ध़्, झ़्, आदि अन्य संघर्षी व्यंजनों का भी अनुमान लगाते है।

ध्वनि-सम्बन्धी कुछ अन्य विशेषताएँ—(१) स्वरों के अनुनासिक रूपों (जैसे अँ, इँ)

---

१. अन्तःस्थ का यहाँ अर्थ है स्वर और व्यंजन के बीच का। इसीलिए इन्हें अर्द्धस्वर, अर्द्धव्यजन, अन्तःस्थ स्वर, अन्तःस्थ व्यंजन, स्वनंत (sonant), आक्षरिक (syllable) आदि भी कहते है। ऐसी ध्वनियाँ कभी तो स्वर-रूप में काम करती हैं, कभी व्यंजन-रूप में। इन ध्वनियो का व्यंजन-रूप कोष्ठक के बाहर दिया गया है, और स्वर-रूप भीतर। बहुतों ने इन छः ध्वनियो को अलग-अलग करके १२ दिया है, किन्तु वैसा मानना भ्रामक है। मूलतः ये ध्वनियाँ ६ ही हैं। प्रयोग के आधार पर १२ रूप मात्र हैं जैसे 'ल्' या 'क्' के ३-४ रूपों का प्रयोग होता है। कोष्ठक के बाहर के रूप को व्यंजन, अर्द्धव्यंजन या अन्तःस्थ व्यजन और भीतर के रूप को आक्षरिक, स्वनंत या अर्द्धस्वर आदि कह सकते है। स्वर या आक्षरिक रूप मे इनके दीर्घ रूपों का भी प्रयोग होता था, अर्थात् ई, ऊ, ॠ, ॡ आदि।

२. कवर्ग ३ प्रकार के थे। (i) को कुछ लोग सामान्य कवर्ग मानते है, किन्तु कुछ लोग इसे तालु की गौण सहायता से उच्चरित किया जाने वाला, अर्थात् क्य, ख्य, ग्य, घ्य, मानते है। डॉ० चटर्जी इन्हें तालव्य न मानकर पुरःकंठ्य (advanced velar) मानते है। (ii) को अरबी 'क़्' ख़ आदि के समान कह सकते है। यूरोपीय विद्वान् इन्हें कंठ्य (velar) कहते है, किन्तु डॉ० चटर्जी इन्हे पश्चकंठ्य (back velar) या अलिजिह्वीय (uvular) मानते है। (iii) के उच्चारण मे होठों की भी सहायता ली जाती थी। डॉ० चटर्जी तथा कुछ अन्य विद्वान् इन तीनों प्रकार के कवर्गो के साथ तीन 'ङ' की भी कल्पना करते है, किन्तु अन्य लोगों के अनुसार 'न्' ध्वनि ही इनके साथ, इनके अनुरूप रूप धारण कर लेती थी।

३. इसे कुछ लोग दंत्य, कुछ दंतमूलीय तथा कुछ वर्त्स्य मानते हैं।

४ ऊष्म या अनवरुद्ध ध्वनि 'स्' ही विशेष स्थान पर सघोषों के साथ या दो स्वरों के बीच में 'ज़्' रूप मे भी उच्चरित होती थी।

का प्रयोग नहीं होता था। (२) दो या अधिक मूल स्वर एक साथ नहीं आ सकते थे। (३) सधि के नियम लागू होते थे। (४) दो या अधिक व्यजन एक साथ आ सकते थे।

भारोपीय मूल भाषा का व्याकरण—(१) रूप अधिक थे। व्याकरण बडा जटिल था। (२) धातु में प्रत्यय जोड कर शब्द (पद) बनते थे। (३) आरम्भ मे उपसर्गों का बिलकुल प्रचलन न था। (४) मध्य-विन्यस्त प्रत्यय या मध्यसर्ग (infix) का प्रयोग नही होता था। (५) सज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग-अलग होते थे। विशेषण और सर्वनाम आदि सज्ञा के अन्तर्गत ही समझे जाते थे। अव्यय भी अविकारी न होकर विकारी होते थे। (६) सर्वनाम के रूपो मे विविधता थी। पुरुष तीन थे। (७) एक, द्वि और बहु, इन तीनों वचनो का प्रयोग होता था। (८) स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुसकलिंग थे। उनका विचार केवल सज्ञा मे होता था। पहले प्राकृतिक लिंग थे, किन्तु बाद मे प्रत्यय के साथ लिंग के सयोग के कारण व्याकरणिक लिंग की उत्पत्ति का प्रारम्भ हो गया था। (९) क्रिया मे उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष के अनुसार भी प्रत्येक के तीन रूप होते थे, अर्थात् तीन पुरुष थे। (१०) क्रिया मे उसके किये जाने और फल का विचार प्रधान था और काल का गौण। यो काल चार थे, यद्यपि काल-विचार बहुत विकसित नही कहा जा सकता। (१२) पद दो थे—आत्मनेपद और परस्मैपद। (१२) सज्ञा की आठ विभक्तियाँ थी। (१३) समास का प्रयोग होता था, जिसकी रचना में प्रत्ययो को छोड दिया जाता था। (१४) पद-रचना मे स्वर-क्रम का महत्त्वपूर्ण हाथ था। ग्रीक आदि मे बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनमें यदि 'ए' स्वर है तो अर्थ वर्तमानसूचक है, पर यदि उसके स्थान पर 'ओ' हो गया तो अर्थ भूतकाल का हो जाता है। (१५) सुर का भी प्रयोग होता था। भाषा सगीतात्मक थी। (१६) सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व दूध और पानी की भाँति इतने मिले रहते थे कि दोनों को अलग कर पाना कठिन था। (१७) मूल भाषा अन्तर्मुखी श्लिष्ट-योगात्मक थी। (१८) अपश्रुति (ablaut) प्रणाली थी।

भारोपीय भाषाभाषी धीरे-धीरे अलग हुए और उनकी भाषाओं का अलग-अलग विकास हुआ, जिससे निकली आज सैकडो भाषाएँ और कई हजार बोलियाँ हैं।

'भारोपीय परिवार' का विभाजन—भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर 'सतम्' और 'केंतुम्' दो वर्गों मे रक्खा गया है। कुछ लोगो का विचार है कि मूल भारोपीय की आरभ में ये दो बोलियाँ या विभाषाएँ थीं। किन्तु, यह मान्यता सदिग्ध है। पहले पहल अस्कोली ने १८७० ई० मे विद्वानों के समक्ष यह विचार रखा कि भारोपीय मूल भाषा की कठस्थानीय ध्वनियाँ (ऊपर दी गई ध्वनियो मे प्रथम तालव्य कवर्ग) कुछ शाखाओं मे ज्यों की त्यो रह गई, पर कुछ मे वे सघर्षी (स, श, ज आदि) या स्पर्श-सघर्षी (च, ज आदि) हो गई। इसी आधार पर वान ब्रैडले ने इस परिवार के 'सतम्' और 'केंतुम्' दो वर्ग बनाये। इन दोनों शब्दो का अर्थ १०० है। यह नाम इसलिए रखे गये कि 'सौ' के लिए पाये जाने वाले शब्दों मे यह भेद स्पष्ट है। 'सतम्' अवेस्ता का शब्द है और 'केंतुम्' लैटिन का। स्पष्टता के लिए दोनों वर्गों की भाषाओ मे 'सौ' के लिए पाये जाने वाले शब्दो यहाँ को देख लेना ठीक होगा—

सतम् वर्ग	केन्तुम् वर्ग
अवेस्ता—सतम्	लैटिन—केन्तुम्
फ़ारसी—सद	ग्रीक—हेकृतोन
सस्कृत—शतम्	इटैलियन—केन्तो

हिन्दी—सौ 	फ्रेंच—केन्त
रूसी—स्तो 	ब्रीटन—कैन्ट
बलगेरियन—सुतो 	जर्मनिक—हुंद
बाल्तिक—जिम्तस 	गेलिक—क्युड
लिथुआनियम—स्जिम्तास 	तोखारी—कन्ध

इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक वर्ग (सतम्) में 'स' ध्वनि सर्वत्र है और दूसरे वर्ग (केन्तुम्) में वह सर्वत्र 'क' ध्वनि हो गई है। केन्तुम् में कुछ और भी अन्तर है। जैसे मूल भारोपीय का तीसरा कवर्ग (क्व, ग्व आदि) केन्तुम् में तो प्रायः सुरक्षित है, किन्तु सतम् में वह लुप्त हो गया।

आरम्भ में लोगों का यह विचार था कि पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं को 'केन्तुम्' वर्ग की तथा पूरब में पाई जाने वाली भाषाओं को 'सतम्' वर्ग की कहा जा सकता है; किन्तु बाद में पूरब में हिट्टाइट और तोखारी दो भाषाएँ ऐसी मिलीं, जिनमें 'स' के स्थान पर 'क' ध्वनि है, अतः पूरब और पश्चिम के आधार पर इन वर्गों को अलग-अलग करना ठीक नहीं माना गया।[1]

आगे दोनों वर्गों (केन्तुम् और सतम्) की भाषाओं पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(क) केंतुम् वर्ग

इसकी शाखाएँ है : केल्टिक, जर्मनिक, लैटिन, ग्रीक, तोखारी।

(१) **केल्टिक**—पहले इसका क्षेत्र मध्य यूरोप, उत्तरी इटली, फ्रांस, एशिया माइनर आदि में काफ़ी बड़े भाग में था। अब यह आयरलैंड, वेल्स, स्काटलैंड, मानद्वीप आदि में सीमित हो गया है। मुख्य भाषाएँ : गॉलिक (मृत), वेल्श (वेल्स), आयरिश (आयरलैंड), स्कॉच (स्कॉटलैंड का उत्तरी-पश्चिमी तथा उत्तरी भाग; अब समाप्तप्राय), मैंक्स (मानद्वीप; अब समाप्तप्राय)।

(२) **जर्मनिक (ट्यूटॉनिक)**—भारोपीय परिवार की अत्यन्त यह महत्वपूर्ण शाखा है जो अपने ध्वनि-परिवर्तनों (ग्रिम-नियम, वर्नर-नियम, ग्रासमान नियम) के लिए प्रसिद्ध है। **मुख्य भाषाएँ और क्षेत्र—उत्तरी** : आइसलैंडिक (आइसलैंड), डैनिस (डेनमार्क), नार्वेजियन (नार्वे), स्वीडिश (स्वीडेन); **दक्षिणी** : अंग्रेज़ी (इंग्लैंड, अमेरिका, तथा कनाडा, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में अनेक क्षेत्र); जर्मन (जर्मनी), डच (हॉलैंड), फ्लेमिश (बेल्जियम)। इनमें अंग्रेज़ी, डच, फ्लेमिश 'निम्न जर्मन' कहलाती है तथा जर्मन (जिसमें स्वाबियन, बवेरियन, अलमानिक है) उच्च जर्मन।

(३) **लैटिन (रोमांस, इतालिक)**—यह वर्ग लैटिन के बोलचाल के रूप से विकसित है। **भाषाएँ तथा क्षेत्र** : इतालवी (इटली, सिसिली), रूमानियन (रूमानिया), फ्रांसीसी (फ्रांस), स्पेनिश (स्पेन), पुर्तगाली (पुर्तगाल)।

(४) **ग्रीक (हेलेनिक)**—इसके क्षेत्र यूनान (ग्रीस), इजियन द्वीप-समूह, अल्बानिया बुल्गारिया तथा तुर्की का कुछ भाग; साइप्रस और क्रीट द्वीप है। इस शाखा की मुख्य भाषा

---

१. हर्ट का विचार था कि विस्चुला नदी के पश्चिम केन्तुम् वर्ग था और पूरब में सतम् वर्ग था।

ग्रीक है जिसमे अत्यत समृद्ध प्राचीन साहित्य मिलता है। मूल भारोपीय के व्यजन सस्कृत भाषा मे अधिक सुरक्षित हैं तो उसके स्वर ग्रीक मे। ग्रीक मे चार ही कारकीय रूप हैं कर्त्ता, कर्म, सप्रदान, सबध। ग्रीक सस्कृत के बहुत समान है। इसमे भी ३ लिंग, समास की व्यवस्था, आत्मने पद, परस्मैपद तथा सगीतात्मक स्वराघात है।

(५) तोखारी—इसका क्षेत्र मध्य एशिया का तुरफान प्रदेश रहा है। महाभारत मे 'तुषार' रूप मे इसी के बोलने वाले लोगो का उल्लेख है। ७वी सदी मे यह भाषा लुप्त हो गई। सधि नियमो, विभक्तियो तथा शब्द-भडार आदि मे यह सस्कृत के काफी निकट है।

(ख) सतम् वर्ग

इसकी शाखाएँ हैं इलीरियन, बाल्टिक, स्लाव, आर्मीनियन, भारत-ईरानी।

(१) इलीरियन (अल्बेनियन)—इसकी मुख्य भाषा अल्बेनियन है जो अल्बनिया तथा यूनान के कुछ भागो मे बोली जाती है। इस शाखा की अन्य भाषाएँ समाप्त हो गई हैं।

(२) बाल्टिक—बाल्टिक सागर के किनारे इसका क्षेत्र है। मुख्य भाषाएँ लियुआनियन (लियुआनिया), लेट्टिश (लटाविया) है। इस शाखा का विकास कम हुआ है। अब भी यह मूलभाषा के निकट है। सगीतात्मक स्वराघात, द्विवचन, 'एस्ति' (स० अस्ति) जैसे रूप इसमे आज भी सुरक्षित हैं।

(३) स्लाव—विभाजन, भाषाएँ और क्षेत्र पूर्वी—रूसी (इसे महारूसी भी कहते हैं, रूस), श्वेत रूसी (रूस के दक्षिणी भाग मे), लघु रूसी (उक्रेन मे)। पश्चिमी—पोलिश (पोलैंड), चेक (चेकोस्लोवाकिया)। दक्षिणी—बुल्गारियन (बुल्गारिया), सर्बो-क्रोशियन (युगोस्लाविया), स्लोवनियम (युगोस्लाविया के दक्षिण)।

(४) आर्मीनियन—यूरोप और एशिया की सीमा पर कुस्तुन्तुनिया तथा कृष्ण सागर के पास इसका क्षेत्र है। इसकी स्तबुल बोली यूरोप मे बोली जाती है तथा अराराट एशिया मे।

(५) भारत-ईरानी

इस शाखा के अन्य नाम 'हिंद-ईरानी' या आय भी हैं। भारोपीय परिवार की यह शाखा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य अपने शुद्ध अर्थों मे इसी शाखा मे मिलता है। इतना ही नही, ऋग्वेद के बराबर पुराना शुद्ध साहित्य ससार की किसी भी भाषा मे कदाचित् नही मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ दो हजार ई० पू० तक लिखी जा चुकी थीं, ऐसी कुछ विद्वानो की धारणा है, और, १५०० ई० पू० तक तो इसका बहुत अश लिखा जा चुका था, ऐसा अधिकाश लोग मानते हैं। पारसियो का धमग्रन्थ 'जेन्द अवेस्ता' भी लगभग ७वी सदी ई० पू० का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओ की गठन तथा उनका साहित्य भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। सबसे बडी बात तो यह है कि भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए इस शाखा ने सामग्री दी है, और पश्चिम मे भाषाविज्ञान का अध्ययन तभी से यथाथत शुरू भी हुआ है, जब से उन लोगो को इस भारत-ईरानी शाखा के अध्ययन-मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस बात को भाषाविज्ञान मे इतिहास पर विचार करते समय कुछ अधिक विस्तार मे देखा जा सकेगा।

आज कल केंतुम और सतम् वालावर्गीकरण नही माना जाता। भारोपीय परिवार की सीधे मुख्यत दस (केल्टिक, इटैलियन, जर्मनिक, हेलेनिक, हित्ती, तोखारी, इलीरियन, बाल्टिक, स्लाव तथा भारत-ईरानी) शाखाएँ मानी जाती हैं जिन्हे वश-वृक्ष रूप मे यो दिखाया जा सकता है—

- भारोपीय
  - केल्टिक (आयरिश, वेल्श आदि)
  - इटैलिक या लैटिन (स्पेनी, पुर्त०, इतालवी फ्रेंच आदि)
  - जर्मनिक
    - पश्चिमी (जर्मन, अंग्रेज़ी, डच आदि)
    - उत्तरी (स्वेडिश, नार्वेजियन, आइसलैंडिक आदि)
  - ग्रीक या हेलेनिक
  - हित्ती
  - तोखारी
  - इलीरियन
  - बाल्टिक (लिथुआ०, लेट्टिश)
  - स्लाव (रूसी चेक, बुल्गे०, पोलिश आदि)
  - भारत-ईरानी
    - ईरानी (अवेस्ता, फ़ारसी, पश्तो आदि)
    - दरद
    - भारतीय
      - संस्कृत
        - प्राकृत
          - हिंदी आदि
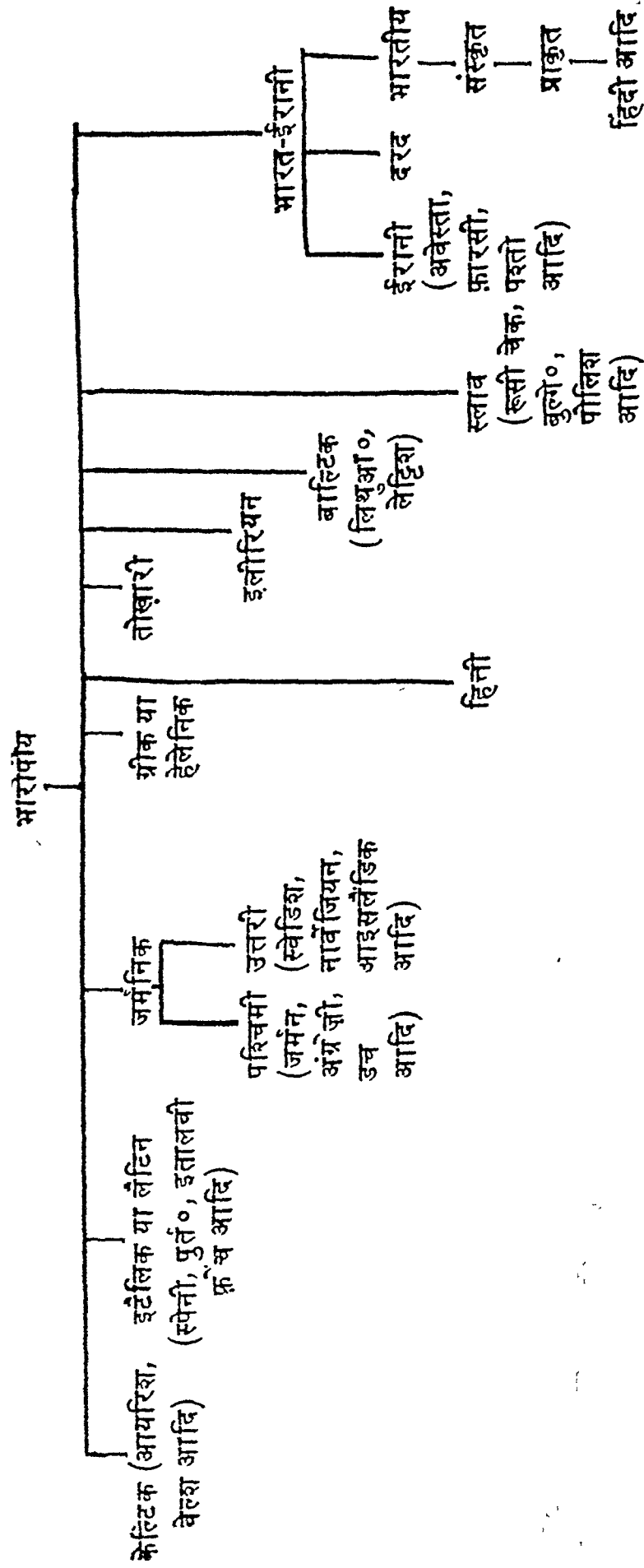
इनमें हित्ती के विषय में प्रारम्भ में ही विचार किया गया था। शेष पर पीछे विचार किया गया।

भारत-ईरानी के मूलभाषी अन्यो का साथ छोडने के बाद जब आगे बढे, तो कुछ लोग ईरान मे रुक गये और कुछ लोग और बढकर भारतवर्ष मे आ बसे। इस प्रकार इस शाखा की भारतीय और ईरानी दो प्रमुख भाषाएँ हुई। बहुत लोगो ने इन दोनो को भारोपीय की अलग-अलग शाखा माना है, किन्तु ऐसा मानना वैज्ञानिक नही है, क्योंकि ये दोनो बहुत सी बातो मे साम्य रखती हैं, जिससे स्पष्ट है कि ये दोनो पहले से अलग न होकर एक शाखा के रूप मे थीं और बाद मे अलग हुई। ब्रान्देन्श्टाइन की खोजो ने भी यही सिद्ध किया है, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहाँ भारतीय तथा ईरानी दोनो के समान लक्षणों का सिंहावलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

भारत और ईरानी में समानता—(१) भारोपीय मूल भाषा के तीन ह्रस्व मूल स्वर (अ॑, ए॑, ओ॑) तथा तीन दीर्घ मूल स्वर ('अ', 'ए' और 'ओ') के स्थान पर भारतीय तथा ईरानी दोनो ही मे एक ह्रस्व मूल स्वर 'अ॑' और एक दीर्घ मूल स्वर 'आ' ये दो ही मिलते हैं।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*नेभास	नभस्	नबह्
*ओस्थ	अस्थि	अस्ति
*याग	यज	यज
*एपो	आप	अप

(२) दोनों में भारोपीय के अतिह्रस्व या उदासीन स्वर 'अ' के स्थान पर 'इ' स्वर मिलता है।

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*पअते	पिता	पिता

(३) दोनो मे ही मूल भारोपीय 'र' (ऋ) का 'ल' (ल॒) और 'ल' (ल॒) का र (ऋ) हुआ है। संभवत 'र' (ऋ) और 'ल' (ल॒) ध्वनि में उस समय विशेष भेद नही था। केन्तुम् वर्ग को भारोपीय का प्रतिनिधि मानकर कुछ उदाहरण यहाँ लिये जा सकते हैं—

ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	अवेस्ता
	रुन्करे	लचामि	
लुके	लुपुस्	वृक	बह्र्को
	लिंगो	रेहि्म	

(४) इस शाखा मे इ, उ, क तथा र के पश्चात् आने वाला 'स' व्यजन ईरानी मे 'श' हो गया और बाद मे संस्कृत मे वह 'ष' हो गया। कुछ उदाहरण हैं—

भारोपीय	संस्कृत	अवेस्ता
*स्थिस्थामि	तिष्ठामि	हिश्तौति
*जिउस्तर	जोष्ट्र	जओशो

(५) मूल भारोपीय के प्रथम श्रेणी के कठ्य या पुर कठ्य क् (क्य), ख् (ख्य), ग् (ग्य), घ् (घ्य) भारत-ईरानी शाखा मे क्रम से श्, श्ह, ज् और ज्ह हो गये। कालान्तर में

भारत में ये श्, ज् और ह् हो गये और ईरान में स्, ज़्, ज़्ह। (६) मूल भारोपीय के तृतीय श्रेणी के कंठ्य या कंठोष्ठ्य क् (क्व), ख् (ख्व), ग् (ग्व), घ् (घ्व) इस शाखा में शुद्ध कंठ्य क् ख् ग् घ् हो गये। और यदि इनके बाद इ, ए स्वर थे तो क्रम से च्, छ्, ज्, झ् हो गये। (७) ईरानी तथा भारतीय दोनों में स्वरांत संज्ञाओं के बहुवचन बनाने के लिए षष्ठी में 'नाम्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। (८) दोनों में आज्ञा के लिए अन्य पुरुष '-तु' और '-न्तु' प्रत्यय पाये जाते है (९) बहुत से शब्द दोनों ही में लगभग एक-से हैं और दोनों में उनका अर्थ भी प्रायः एक ही है—

संस्कृत	अवेस्ता
ओजस्	ओजः
अनु	अनु
अन्य	अन्य
विश्व	विस्प
ददामि	ददामि
असुर	अहुर
पुत्र	पुथ्र
सप्त	हप्त
वसिष्ठ	वहिश्त
असि	अहि

(१०) वैदिक संस्कृत और अवेस्ता इतनी समान हैं कि एक भाषा के बहुत से वाक्य केवल साधारण परिवर्तन से दूसरी भाषा के बनाये जा सकते हैं—

संस्कृत	अवेस्ता

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः = यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् हओमम् बन्दएँता मश्यो।

शूरं धामसु शविष्ठम् = सूरं दामोहू शविस्तम्।

सावने आ ऋतौ आ = हावनीम् आ रतुम् आ।

भारतीय और ईरानी में अन्तर—ऊपर की समानताओं के रहते हुए भी दोनों में अन्तर भी हैं। यदि ऐसा न होता तो दोनों अलग-अलग ही क्यों होतीं। यहाँ कुछ अन्तरों की ओर संकेत किया जा सकता है : (१) चवर्ग के केवल दो व्यंजन च् और ज् ईरानी में हैं, जबकि भारतीय में पाँच (च् छ् ज् झ् ञ्) हैं। (२) ईरानी में टवर्ग का एकान्त अभाव है, जबकि भारतीय में यह है। (३) पाँचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण वर्ग ईरानी में नहीं हैं। (४) पुरानी ईरानी में 'ल्' का भी अभाव है। इसके स्थान पर 'र्' है। जैसे श्रीलः—स्रीरो (श्री-संपन्न)। (५) ईरानी में स्वरों का बाहुल्य है। वहाँ ८ स्वर ऐसे है, जिनके स्थान पर भारतीय में 'अ' या 'आ' का ही प्रयोग होता है। (६) आदि स्वरागम और अपिनिहित भी ईरानी में भारतीय की अपेक्षा अधिक है। यथा—भरति = बरइति तथा भवति = बवइति आदि। (७) ईरानी शब्दों के आरम्भ में, कभी-कभी अन्यत्र भी, भारतीय शब्दों में पाया जाने वाला 'स', 'ह' है। जैसे—सप्त = हप्त, सप्ताह = हफ्ता तथा सिंधु = हिंदु आदि। (८) संस्कृत के घोष महाप्राण घ्, ध्, भ्, ईरानी में अल्पप्राण ग्, द्, ब् रूप में हैं। जैसे—भूमि = बूमि, दीर्घम् = दरंगम् तथा भ्राता = ब्राता आदि। (९) संस्कृत के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् ईरानी में संघर्षी ख्, थ्, फ़् हैं। जैसे—क्रतुः = ख्रतुश्, सत्यः = हइश्यो तथा स्वप्नः = हवप्नम् आदि। (१०) संस्कृत का ऋ ईरानी में अर, र, या अ है। जैसे—वृक्षम् = वरेशेम्।

ध्वनि-सम्बन्धी इन अन्तरों के अतिरिक्त, व्याकरण-सम्बन्धी अन्तर भी बहुत से हैं, किन्तु उनकी गहराई मे उतरना प्रस्तुत पुस्तक का विषय नहीं है।

विभाजन

आर्य —— ईरानी
—— दरद
—— भारतीय
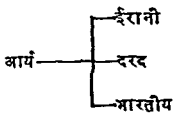
(१) ईरानी

ईरानी में साहित्य-रचना बहुत पहले आरम्भ हो गई थी, किन्तु आज उन प्राचीन निधियो का कुछ भी पता नहीं है, अत वहाँ की भाषा का शृङ्खलाबद्ध इतिहास नही बतलाया जा सकता। इसके पता न चलने का कारण यह भी है कि सिकन्दर ने ३२३ ई० पू० और अरब के विजेताओं ने ६५१ ई० मे ईरानी का पुराना साहित्य बुरी तरह जला डाला। अब वहाँ का प्राचीनतम साहित्य पारसी धर्मग्रंथ 'अवेस्ता' ही है, जिसकी भाषा ऋग्वेद से बहुत मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त हक्मानी बादशाहो के छठी सदी ई० पू० के कुछ पुराने शिलालेख भी मिले हैं।

विभाजन
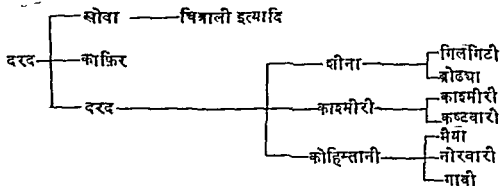
(इसकी आधुनिक भाषाओ एव बोलियो के विकास-का स्पष्ट पता नही है, अत अनिश्चित अश बिन्दु से दिखाया गया है।)

अवेस्ता बैक्ट्रिया की राजभाषा होने के कारण प्राचीन बैक्ट्रियम भी कही जाती है। कुछ लोग भूल से इसे ज़िन्द भी कहते हैं। इसका यह नाम इसकी प्राचीनतम पुस्तक अवेस्ता (७वीं सदी ई० पू०) के कारण पडा है। 'अवेस्ता' का अर्थ 'शास्त्र' है, जिसमे 'गाथा' या प्रार्थनाएँ ऋग्वेद की भाँति हैं। इसमे यज्न (यज्ञ), विस्पेरद (बलि-सम्बन्धी कर्मकाड) तथा वेंददाद (प्रेतादि के विरोधी नियम) आदि भी हैं। कुछ दिन बाद जब अवेस्ता वहाँ की जनभाषा नहीं रह गई, और मध्यकालीन या पह्लवी का प्रचार हुआ तो अवेस्ता की टीका पहलवी मे की गई। इस टीका को 'ज़ेन्द' कहते हैं। 'ज़ेन्द' का अर्थ ही 'टीका' होता है। अब दोनो ('ज़ेन्द' और 'अवेस्ता') को मिलाकर लोग उस पुस्तक को तथा कभी-कभी भाषा को 'ज़ेन्दावेस्ता' या 'जिन्दावेस्ता' कहते हैं।

प्राचीन ईरान के पश्चिमी भाग को 'फ़ारस' कहते थे। वहाँ की भाषा प्राचीन '**फ़ारसी**' थी। कुछ लोग इसे '**अवेस्ता**' से निकली हुई समझते हैं, किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि ईरानी की दो शाखाएँ प्राचीन काल से ही मिलती हैं—(१) प्राचीन फ़ारसी, (२) अवेस्ता। प्राचीनता में प्राचीन फ़ारसी अवेस्ता के यदि बिल्कुल नहीं तो कुछ ही बाद की है। डेरियस-प्रथम (ई० पू० ५२१-४८५) आदि एकेमेनियन राजाओं के खुदवाये कीलाक्षर-अभिलेखों में इसका स्वरूप सुरक्षित है। इसका अलग साहित्य नहीं मिलता, पर अभिलेखों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर अध्ययन अवश्य हुआ है। यह बहुत-सी बातों में अवेस्ता से मिलती-जुलती है।

प्राचीन फ़ारसी की वर्णमाला अवेस्ता की अपेक्षा अधिक सरल है। इस दृष्टि से यह संस्कृत के निकट है—

अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	संस्कृत
येजी	यदी	यदि

अवेस्ता के ज् के स्थान पर प्राचीन फ़ारसी में द् हो जाता है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत में प्रायः ह् मिलता है।

अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	संस्कृत
अजेम	अदम	अहम्

प्राचीन फ़ारसी का ही विकसित रूप मध्यकालीन 'फ़ारसी' या 'पहलवी' कहलाता है। इसका प्राचीनतम रूप तीसरी सदी ई० पू० के कुछ सिक्कों में मिलता है। प्राचीन फ़ारसी और मध्यकालीन के बीच का कोई लेख नहीं मिलता। पहलवी का नियमित साहित्य तीसरी सदी से मिलने लगता है। पहलवी के दो रूप थे। एक का नाम **हुज़्वारेश** था, जिसमें सेमेटिक परिवार के शब्दों का आधिक्य है। इसकी लिपि भी सेमेटिक है। सस्सानिद-राजवंश (२२६ ई० से ६५२ ई०) की भाषा यही थी। अवेस्ता का कुछ अनुवाद भी इस भाषा में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त पारसियों का कुछ और भी धार्मिक साहित्य इसमें है। इसके व्याकरण पर भी सेमेटिक प्रभाव यथेष्ट है। पहलवी का दूसरा रूप **पारसी या पाज़ंद** है। इस पर सेमेटिक प्रभाव नहीं है। इसका प्रचार पूर्वीय प्रदेशों में था। भारत में बसने वाले पारसियो की भाषा यही है। यही कारण है कि गुजराती को पाज़ंद ने बहुत प्रभावित किया है। जिस प्रकार अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी संस्कृत से मिलती-जुलती हैं, उसी प्रकार मध्यकालीन फ़ारसी प्राकृत अपभ्रंश से।

आधुनिक फ़ारसी हिन्दी की भाँति वियोगात्मक हो गई है। इसका आरंभिक ग्रन्थ महाकवि फिरदौसी (९४०से१०२०ई०) का 'शाहनामा' नामक राष्ट्रीय महाकाव्य है। इसकी भाषा में अरबी के शब्द अधिक नहीं है, किन्तु इसके बाद आधुनिक फ़ारसी अरबी से लदने लगी। यह मध्यकालीन की अपेक्षा अधिक सरल और मधुर है। ध्वनि-परिवर्तन भी इधर विशेष हुआ है। अब कुछ दिनों से राष्ट्रीयता की लहर यहाँ भी चली है, और अरबी शब्दों को तुर्की की भाँति लोग बहिष्कृत कर रहे है। उन हटाये गये शब्दो के स्थान पर आर्य परिवार के ईरानी शब्दों का प्रयोग बढ़ा है। इधर फ्रांसीसी शब्द भी इसमें (तेल कम्पनियों के कारण) आ गये है।

आधुनिक फ़ारसी की बहुत-सी प्रादेशिक बोलियाँ भी है। विद्वान् इस सम्बन्ध में बहुत निश्चित नहीं है कि कौन बोलियाँ सीधे अवेस्ता से निकली है और कौन फ़ारसी से। टकर महोदय तो आधुनिक फ़ारसी और पहलवी के विषय में भी शंका करते हैं। उनका

कहना है कि अवेस्ता और प्राचीन फ़ारसी के बाद सभी ईरानी भाषाएँ एव बोलियाँ उस समय की बोलियों से विकसित हुई हैं। आज उनकी माँ के विषय मे निश्चय के साथ कुछ भी नही कहा जा सकता। कुछ प्रधान बोलियो पर यहाँ विचार किया जा सकता है। ये बोलियाँ भारत से लेकर कैस्पियन सागर तक फैली हैं। कुर्दी या कुर्दिश बोली आधुनिक फ़ारसी के समीप है। इसमें एक बडी विशेषता यह है कि शब्दो के रूप छोटे हो गये हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक फ़ारसी का 'बिरादर' शब्द उसमे 'बेरा' हो गया है। इसी प्रकार 'सिपेद' (सफ़ेद) का इसमे 'स्पी' रूप मिलता है। बलूचिस्तान की बलूची भाषा भी आधुनिक फ़ारसी के निकट है। अभी तक यह भाषा कुछ संयोगात्मक है। साहित्य के नाम पर इसमे कुछ ग्राम-कथाएँ हैं। इसमें संघर्षी वर्ण अधिकतर स्पर्श हो गये हैं। पश्तो का नाम अफ़ग़ानिस्तानी या अफ़गानी भी है। यह अफ़गानिस्तान की भाषा है। इस पर भारतीय ध्वनि, वाक्य-रचना, तथा बलाघात आदि का प्रभाव पड़ा है। अब यह भारतीय ईरानी की एक मध्यवर्ती भाषा-सी हो गई है। कुछ लोग पश्तो को सीधे अवेस्ता की सतान मानते हैं, किन्तु यह निश्चित मत नहीं हो सका है। पश्तो के हीएकरूपकोपख्तो कहते हैं, जो पश्चिमोत्तर अफगानिस्तान में बोली जाती है। दोनों मे उच्चारण-भेद ही प्रधान है।

हिन्दूकुश पर्वत पर तथा पामीर की तराई मे बहुत-सी ईरानी बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनके समूह को 'पामीरी' कहते हैं। ये बोलियाँ गठन की दृष्टि से कैस्पियन सागर के तट पर प्रचलित ईरानी बोलियों से बहुत-सी बातो मे मिलती-जुलती हैं।

(२) दरद

'दरद' सस्कृत शब्द है जिसका अर्थ 'पर्वत' होता है। सस्कृत साहित्य में कश्मीर के पास के देश के लिए भी 'दरद' का प्रयोग मिलता है। 'दरद' भाषाओं का क्षेत्र पामीर और पश्चिमोत्तर पजाब के बीच में है। कभी इनके बोलने वाले भारत के अन्य भागों मे अवश्य थे, क्योंकि मराठी, सिंधी, पजाबी आदि पर इनका प्रभाव स्पष्ट है। गठन की दृष्टि से पश्तो की भाँति ही दरद भाषाएँ भी ईरानी और भारतीय के बीच मे हैं, किन्तु यदि पश्तो ईरानी की ओर झुकी है तो दरद भारतीय की ओर। प्राचीन काल मे अपने यहाँ दरद भाषाओं को भारतीय परिवार का समझा गया था और उन्हें पैशाची प्राकृत की संज्ञा दी गई थी। दरद वर्ग की खोवार भाषा का क्षेत्र दर्दिस्तान एव ईरानी के मध्य मे है। इसके अन्तर्गत कई बोलियाँ हैं, जिनमे चित्राली प्रमुख है। चित्राली के पश्चिम मे काफिर वर्ग की बोलियाँ हैं। गिलगिट की घाटी मे शीना बोली जाती है। यह दरद की प्रतिनिधि भाषा है। इसके अन्तर्गत कई बोलियाँ है, जिनमे गिलगिटी मुख्य है।

विभाजन
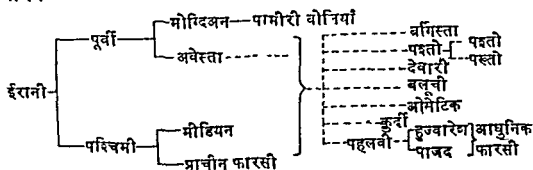
कश्मीर की भाषा कश्मीरी है। इसे यहाँ 'दरद' के अन्तर्गत रक्खा गया है। गुणे आदि कुछ प्राचीन विद्वान् इसे भारतीय के अन्तर्गत मानते रहे हैं और पैशाची अपभ्रंश से इसका विकास मानते रहे हैं। वस्तुतः इस भाषा पर संस्कृत का प्रभाव काफ़ी पड़ा है, इसी कारण इसकी मान्यता बहुत रही है। पर यह बात अब नहीं हैं। कश्मीरी की कई बोलियाँ हैं। इस शाखा की अन्तिम भाषा कोहिस्तानी है। कोहिस्तानी बोलने वाले बहुत कम हैं। मैया, तोरवारी आदि इसकी प्रधान बोलियाँ हैं।

भारतीय आर्य भाषा

भारत में आर्यों के आने के बाद से उनकी भारतीय आर्य भाषा का इतिहास शुरू होता है। इस प्रसंग में सबसे पहले उन लोगों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी अपेक्षित है, जो आर्यों के आने के पूर्व भारत में आ चुके थे। इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि आर्यों के आगमन के सम्बन्ध में क्या कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। उल्लेख्य है कि यहाँ 'भारतीय' में 'भारत' के अतिरिक्त 'पाकिस्तान,' 'बांगला देश' तथा 'श्रीलंका' भी है।

आर्यों के पूर्ववर्ती भारतीय—आर्यों के आने के पूर्व, भारत में कौन-कौन सी जातियाँ रहती थीं यह प्रश्न भी प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय है, क्योंकि उनकी भाषाओं ने हमारी भाषिक धारा को विभिन्न स्तरों पर अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। विभिन्न क्षेत्रों में अधुनातम शोधों से यह बात प्रायः सिद्ध हो चुकी है, कि किसी भी ऐसी जाति का पता अब तक नहीं चला है, जिसे मूलतः भारत-भूमि का निवासी माना जा सके। यहाँ की छोटी बड़ी सभी जातियाँ, समय-समय पर बाहर से ही आईं। आर्यों के पूर्व आनेवाली जातियों में प्रमुख निम्नांकित चार हैं:—

नेग्रिटो (Negrito)—यह प्राचीनतम जाति है, जिसका भारत भूमि पर पता चलता है। नेग्रिटो मूलतः अफ़्रीका के निवासी थे और ये दक्षिणी अरब, ईरान होते भारत आये थे। प्रारम्भ में ये लोग प्रायः पूरे भारत में फैल गये थे, फिर इनमें कुछ असम, बर्मा होते इंडोनेशिया तथा मलय आदि चले गये कुछ बर्मा के निग्राइस अंतरीप के रास्ते अंदमान जा पहुँचे। इस समय फ़िलीपीन के नेग्रिटो, दक्षिणी बलूचिस्तान के कुछ लोगों, दक्षिण भारत की तमिलभाषी पनियर, कदिर, कुरुम्बा, इरुला आदि छोटी-मोटी जातियों, असम के मंगोली किरातों, तथा अंदमान के पाँच-छः सौ व्यक्तियों (जो अब तक अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं) के रूप में ही इनके अवशेष हैं। ये लोग काले, घने बालोंवाले तथा चौड़ी नाकवाले थे। ये बिल्कुल ही असभ्य थे। पत्थरों के हथियारों का प्रयोग करते थे एवं खाद्य-संग्रह (Food gathering) अवस्था में थे। पशुपालन या खेती का ज्ञान इन्हें नहीं था। पीपल की पूजा तथा धनुषबाण का प्रयोग ही भारतीय संस्कृति को इनकी देन है। इनकी भाषा का कोई विशेष अवशेष प्रभाव रूप में भारतीय भाषाओं में नही रह गया है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'बाद' या 'बादुड़' ही एक ऐसा शब्द है, जो इनका माना जाता है। यह बंगला में 'बादुड़' तथा पुरानी बंगला में 'बादुड़ी' है। बिहारी चमदड़िया, गादुर, हि० चमगादड़, पंज० चमगिद्दड़ भी अंशतः उसी से सम्बद्ध है। पंज० चामचिड़िक उससे सम्बद्ध न होकर सं० 'चर्मचिटक' से निकला है। अंदमानी आदि में यह शब्द 'बाद' रूप में मिलता है।

आस्ट्रिक—नेग्रिटो लोगों के बाद आस्ट्रिक आये। पहले लोगों का यह विचार था, कि ये लोग दक्षिणी चीन तथा उत्तरी हिन्दचीन के निवासी थे तथा असम के रास्ते भारत में आये थे, किन्तु अब इनका मूल स्थान भूमध्यसागर माना जाता है। ये इराक़, इरान, होते भारत आये। आस्ट्रिक काले, चौड़ी नाकवाले, मझोले क़द के तथा लम्बे कपाल के थे। ये बहुत पहले भारत से इंडोनेशिया होते आस्ट्रेलिया पहुँच गए थे। वहाँ अब भी ये लोग हैं। भारत की कोल, मुण्डा, खासी, मोनख्मेर, निकोबारी आदि भाषाएँ इन्ही की हैं। प्राचीन

भारत मे आस्ट्रिको को निषाद, सौद्युम्न, कोल्ल, भिल्ल, पुलिंद, शबर आदि नामों से पुकारा गया है। शिकार, मछली पकडना, खेती का आरम्भिक रूप, पान, सुपारी, धान, लौकी, बैंगन, हल्दी, केला, अदरक, हाथी को पालतू बनाना, कुत्ता, सुअर, मुर्गी पालना, नारियल, कपास तथा उससे कपडे बनाना, सिंदूर, २० पर आधारित गिनती (कोडी शब्द इन्ही का है) एव पुनर्जन्मवाद, भारतीय सस्कृति को इनकी देन है। आस्ट्रिक भाषाओ ने भारतीय आर्य भाषाओ, विशेषत पूर्वी भारत की भाषाओ को कई रूपो मे प्रभावित किया है। कार्पास, कदली, बाण, ताबूल, पिनाक, गगा, लिंग, कम्बल आदि अनेक शब्द मूलत आस्ट्रिको से ही मिले हैं। अनुकरणात्मक शब्द बनाने की परम्परा भी कदाचित् इन्हीं से भारतीय भाषाओ मे आई है।

किरात (Mongoloid)—आस्ट्रिक लोगो के बाद किरात भारत मे आये। ये लोग मूलत याङ्-त्सी-क्याग नदी के मुहाने के पास के रहने वाले आदिमगोल थे। इन्हीं की एक शाखा चीनी सभ्यता एव सस्कृति का निर्माता बनी। इनकी एक शाखा ब्रह्मपुत्र के रास्ते भारत आई और उत्तरी पहाडी भागो—सिंध, पजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य भारत, बिहार, असम, बगाल एव उडीसा मे फैल गई। यजुर्वेद तक मे इनका उल्लेख मिलता है, जिससे पता चलता है कि ये लोग काफी पहले आ चुके थे। अब ये लोग केवल हिमाचल प्रदेश, नेपाल, भूटान, असम, मणीपुर तथा उत्तरी बगाल मे हैं। इनकी प्रमुख भाषाएँ मेइथेइ, कचिन, नगा, गारो, बोडो, लोलो, कुकीचिन, लेप्चा, तथा नेवारी आदि हैं। ये चीनी परिवार की तिब्बती-बर्मी शाखा से सम्बद्ध है। भारत मे आने पर ये लोग भाषा तथा सस्कृति मे आस्ट्रिको से प्रभावित हुए, तथा बाद मे इन लोगो ने द्रविडो तथा आर्यों को प्रभावित किया। यों दक्षिण भारत से इनका कदाचित् कभी भी प्रत्यक्ष सम्पर्क नही था। भारतीय तन्त्रशास्त्र इनसे प्रभावित माना जाता है। इसी प्रकार कुछ लोगो के अनुसार 'शूलगव्य' जैसी वैदिक क्रियाए भी इन्ही की देन हैं। भाषिक क्षेत्र मे नेपाली पश्चिमी तथा मध्य पहाडी, असमी एव बगाली पर इनका कुछ प्रभाव पडा है। जहाँ तक ध्वनियो का प्रश्न है, इन्होंने केवल नेपाली, असमिया तथा कुछ-कुछ पूर्वी-उत्तरी बगला को ही प्रभावित किया है। इन भाषाओ मे चवर्ग का दत्य स्पर्श-सघर्षी उच्चारण वस्तुत किरातो का ही प्रभाव है। अन्य आर्य भाषाओ मे ये ध्वनियाँ तालव्य स्पर्श-सघर्षी हैं। इसी प्रकार असमी एव नेपाली मे मूर्धन्य टवर्ग एव दत्य तवर्ग दोनो के स्थान पर दत्यमूलीय उच्चारण भी कदाचित् इनका ही प्रभाव है। व्याकरण के क्षेत्र मे भी इनका प्रभाव पडा है। श्री एण्डरसन के अनुसार असमिया, बगला आदि आधुनिक आर्य भाषाओ मे पूर्वकालिक कृदत का अत्यधिक प्रयोग, किरातो (बोडो भाषा) की देन है, यद्यपि डॉ० चटर्जी इसमे द्रविड प्रभाव की भी पूरी सम्भावना पाते हैं। मेरे अपने विचार मे यह प्रभाव मूलत किरातो का ही है। द्रविड मे भी इसके प्रयोग का आधिक्य मैं उन्ही की देन समझता हूँ। यह प्रभाव तब का है जब उत्तरी भारत, द्रविडो का केन्द्र था। सिंध, पजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि मे द्रविड सस्कृति के अनेक केन्द्र उनके उत्तर भारतीय निवास के अकाट्य प्रमाण हैं। असमी मे कई सयुक्त क्रियाएँ तथा–म और–स दो प्रत्यय किरात भाषा बोडो से ही आये हैं। हिंदी प्रदेश तथा पजाब आदि मे प्रचलित 'बल्लम' (भाला) शब्द मे 'बल्ल' तो स० 'भल्ल' का विकसित रूप है और–म बोडो का है। स० 'भल्ल' तथा बोडो–म के योग से यह शब्द भी कदाचित पहले किरातो मे ही प्रयुक्त हुआ, इसी कारण 'भ' का 'ब' हो गया है। शब्दावली के क्षेत्र मे पहाडी एव असमी भाषाएँ किरातो की भाषाओ मे पर्याप्त प्रभावित हैं। हिंदी, पजाबी आदि भषाओ मे भी कुछ शब्द इनसे है। अकेले असमी मे ही अनेक क्रियाएँ, सज्ञाएँ, विशेषण तथा स्थानवाचक नाम उनसे आये हैं। कुछ उदाहरण हैं चेया (बेचैन होना), बोदा (बिल्ला), खोला (मछली का जाल,

हिन्दी, पंजाबी का खोखा भी यही है, लकड़ी का छोटा घर या बक्स), फेटा (झुकाव; हिन्दी फेंटा (धोती का) भी यही है।), स्थान-नाम—**डिगबोई**, **डिब्रूगढ़**, बिहामपुर आदि। असम में बोड़ो लोग कभी बड़े शक्तिशाली थे, अतः वहाँ तथा उत्तरी-पूर्वी बंगाल में उनके माध्यम से ही किरात प्रभाव पड़ा है। नेपाली में किरात भाषा नेवारी से कई शब्द आए हैं, जैसे **गुमाजू**, **ग्यासल**, **खँमल** आदि। कुछ तिब्बती-बर्मी, एवं चीनी शब्द भी उन्हीं के माध्यम से नेपाली में आये हैं, जैसे तुनि, तोक्मा तथा ह्रों आदि।

द्रविड़—भारत में आने वाली तीसरी जाति द्रविड़ों की थी। इनके मूल स्थान के सम्बन्ध में विवाद है। एक ओर जाँ प्रिज़्युस्की (Jean Pryzuski) तथा कई द्रविड़ विद्वानों के अनुसार ये लोग मूलतः भारत के ही निवासी थे, तो दूसरी ओर आस्ट्रेलिया की भाषाओं या यूराल-अल्ताई परिवार से इसकी समानता दिखाकर कुछ विद्वान् कई अन्य निष्कर्षों पर पहुँचते है। डॉ० लाओवरी इस परिवार को बास्क से जोड़ते हैं और उससे कुछ और ही परिणाम निकलते है। क्रूक (Crooke) आदि अनेक लोग इन्हें अफ्रीका से जोड़ते हैं। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक मत प्रकट किए गए है, किन्तु कोई भी मत अभी तक सर्वमान्य नहीं हो सका है। यों इस बात को अधिकांश लोग मानते हैं कि ये बाहर से आए थे। सभी बातों पर ध्यान देते हुए मेरे विचार में इनका मूल स्थान अफ्रीका मानना ही अधिक उचित होगा। वहाँ से ये लोग भूमध्यसागर आए और फिर ईरान, अफ़गानिस्तान से लेकर पूर्वी भारत (असम, बंगाल) तक फैल गये। कभी लोगों का विचार था कि केवल हड़प्पा-मोहनजोदाड़ो, अर्थात् उत्तरी पश्चिमी भारत में ही इनका केन्द्र था, किन्तु इधर लोथल (गुजरात), उरिव्लना (मेरठ) तथा कालिबाँगन आदि में इनके अवशेष, पूर्वी भारत में भी अनेक स्थानों के नामों में इनके भाषिक तत्व, तथा इनकी भाषाओं का अनेक क्षेत्रों में मिलना, इनके प्रायः पूरे उत्तर भारत में फैले होने का प्रमाण है। भारत में ये लोग ४००० ई० पू० के बाद आए। आज तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम के अतिरिक्त तुलु, कोडगु, कोलमी, टोडा, गोंड (मध्य भारत), खन्द (उड़ीसा), औरावँ (बिहार आदि), ब्राहुई (बलूचिस्तान) तथा माल्तो (राजमहल की पहाड़ियाँ) आदि इनके बृहत् भाषा-क्षेत्र के अवशेष हैं। संस्कृत साहित्य में द्रविड़ों को 'दास', 'दस्यु' तथा 'शूद्र' नामों से पुकारा गया है। आरम्भ में ये नाम जातिवाची थे, किन्तु बाद में इनमें अर्थापकर्ष हो गया और ये गुलाम, डाकू तथा अछूत के वाचक हो गए। ईरानी साहित्य में 'दास' शब्द 'दाह' रूप में मिलता है (सं० स=ईरानी ह), और उसका प्रयोग भी वहाँ जाति विशेष के लिए ही हुआ है। 'दस्यु' ईरानी में 'दह्यु' है।

मध्ययुगीन तथा आधुनिक फ़ारसी का 'देह्' (=गाँव) इसी का विकास है। उल्लेख्य है कि देह् का ही बहुवचन हिन्दी में 'देहात' रूप में प्रयुक्त होता है। यह शब्द ईरानी में ही 'जाति' से 'जाति के प्रदेश' का बोधक और फिर गाँव का बोधक हो गया था। द्रविड़ों ने पूर्ववर्ती जातियों की तुलना मे बहुत उन्नति की और उच्च नागरिक संस्कृति की नींव डाली। वर्तमान भारतीय संस्कृति के आधे से अधिक उपादान इनके ही है। पूर्ववर्ती लोगों से सभी दृष्टियों से इन्होंने प्रभाव ग्रहण किया था, किन्तु परवर्ती भारत को उससे भी अधिक प्रभावित किया। हिन्दूधर्म के शिव-पार्वती, देवी, हनुमान, कार्तिकेय, गरुण, मृत्यु के बाद का पिंडदान-संस्कार आदि मूलतः द्रविड ही हैं। भाषा के क्षेत्र में आर्य भाषाओं पर द्रविड़-प्रभाव पर्याप्त है। इस प्रभाव को तीन वर्गों में रखा जा सकता है: ध्वनि, व्याकरण, शब्द। ध्वनियों के क्षेत्र में इनकी सबसे बड़ी देन भारत में आने के बाद आर्य भाषा में टवर्ग का विकास है। पश्तो एवं दरद भाषाओं में भी टवर्ग इन्हीं के प्रभाव से है। कभी द्रविड वहाँ भी थे। इसके अतिरिक्त, श, स, ष, ह के अतिरिक्त अन्य भारत-ईरानी संघर्षी व्यंजनों का लोप, द्रविड़ जैसे संयुक्त व्यंजनों का विकास, तथा स्वरभक्ति का बाहुल्य भी द्रविड़ प्रभाव है। व्याकरणिक प्रभावों—विशेषतः जो अत्यन्त प्राचीन

काल से काम कर रहे हैं—का ठीक आकलन सरल कार्य नहीं है। फिर भी सभी दृष्टियों से विचार करने पर यह अनुमान लगता है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रियाओं (ये प्रयोग संस्कृत से पालि में पालि से प्राकृत में तथा प्राकृत से अपभ्रंश मे और अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओ मे अधिक मिलते हैं) के अत्यधिक प्रयोग, परसर्गों का प्रयोग, तुलनात्मक विशेषण मे अपादान परसर्ग का प्रयोग आदि द्रविड़ भाषाओं के ही प्रभाव हैं। पूर्वकालिक क्रियाओं का आधिक्य मूलतः आस्ट्रिको की देन है किन्तु यह प्रभाव आधुनिक आर्य भाषाओं में प्रमुखत द्रविड माध्यम से ही आया जान पडता है। द्रविड़ से भारतीय आर्य भाषाओं में अनेक शब्द आए हैं। यो तो इस दिशा मे कॅल्डवेल, गुडर्ट, किटेल, बरो आदि ने काम किया है, किन्तु अभी तक इस कार्य को पूरा नही समझना चाहिए। मेरे विचार में ऐसे शब्दों की सख्या कई हज़ार होगी। इनमें कुछ शब्द तो ऐसे हैं जो पुराने द्रविड शब्द मे ध्वनिसाम्य रखते हैं, और इन्हे पहचानना सरल है, किन्तु ऐसे भी शब्द काफी होंगे, जिनका आर्यों ने जाने-अनजाने सस्कृतीकरण कर दिया था। और अब उन सारों को खोज पाना प्राय असम्भव-सा है। अणु, कला, गण, नाना (अनेक), पुष्प, बीज, रात्रि, सायं, तंडुल, मर्कट, शव, श्रेष्ठिन् (सेठ), झडी (वर्षा की), भगाडा, सीप, खूंटा, आदि शब्द द्रविणों की देन हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि ध्वन्यात्मक शब्दो की परम्परा आस्ट्रिको से प्रभावित है, उसी प्रकार प्रतिध्वन्यात्मक शब्द (घोडा-वोडा, किताव-सिताव, चाय-शाय आदि) द्रविडों की देन हैं।

भारत मे आर्यो का आगमन—भारतीय आर्य, ईरानियों एव दरद लोगों से अलग होकर १५०० ई० पू० के आस-पास पश्चिमी एव पश्चिमोत्तरी सीमा से भारत मे प्रविष्ट हुए। इस प्रसग मे एक प्रश्न उठाया गया है कि वे एक बार ही में आ गए या कई बार में। हार्नले (Comparative Grammar of the Gaudian Languages पृ० XXXI; history of India—Hoernle तथा Stark, कलकत्ता, १९०४, पृ० १२-१३) का कहना था कि वे दो बार आए। पूर्ववर्ती आर्य मध्यदेश मे आ बसे थे। बाद मे आने वाले आर्यों ने आकर उनका स्थान ले लिया, और पूर्वागतो को उत्तर, दक्षिण, पश्चिम, पूरब ढकेल दिया। इसे आर्यों के आगमन का पच्चर सिद्धान्त (Wedge theory) कहते हैं। इसके अनुसार पूर्ववर्ती आर्य भौगोलिक दृष्टि से 'बाहरी' हो गए तथा परवर्ती आर्य 'भीतरी'। हार्नले का यह भी विचार था कि ये परवर्ती आर्य ही वैदिक सस्कृति के निर्माता थे। प्राय हार्नले के इस सिद्धात के साथ गलती से ग्रियर्सन का नाम जोड दिया गया है, और दोनों को मिलाकर इसे हार्नले-ग्रियर्सन का दो आक्रमणों वाला सिद्धात (Two invasion theory) कहा गया है ग्रियर्सन ने इसका स्पष्ट शब्दो मे विरोध (Linguistic Survey of India खण्ड १, भाग १, पृ० ११६) करते हुए कहा है कि दो अलग-अलग आक्रमणों की कल्पना मैं अनावश्यक मानता हूँ। ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर (दे० ० ३ २ ३ १) यह निष्कर्ष निकाला था कि (Bulletin of the School of Oriental Studies London Institute, भाग १, खण्ड ३, १९३०, पृ० ३२) इनके 'भीतरी' और 'बाहरी' दो वर्ग बनते हैं। उनका कहना था कि बाहरी शाखा की भाषाएं अनेक भाषिक बातों में भीतरी शाखा से अलग हैं। इस प्रसग मे उन्होंने यह भी सकेत किया है कि बाहरी शाखा, जिन बातों मे भीतरी से अलग है, उन्हीं मे वह दरद भाषाओं के समीप है। इसका आशय यह है कि बाहर तथा दरद लोगों के मूलत एक वर्ग के होने की सम्भावना है।

नृवैज्ञानिक तथ्यो के आधार पर रमाप्रसाद चंद (Indo-Aryan Races, खण्ड १, राजशाही, १९१६) भी लगभग इसी प्रकार के बाहरी-भीतरी शाखा के निष्कर्ष पर पहुंचे थे। उनके अनुसार भीतरी शाखा के लोग लम्बकपाली (dolichocephalic) प्रजाति के हैं, तो बाहरी शाखा के लोग लघुकपाली (brachycephalic) प्रजाति के। प्रथम वैदिक संस्कृति के अधिष्ठाता थे, तो दूसरे वैष्णव एव शाक्त धर्म के।

ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि विस्तार में कुछ अलग होते हुए भी ये तीनों मत पर्याप्त समीप हैं, अतः इनमें सत्य का अंश अवश्य है। किन्तु गहराई से देखने पर कई विरोधी बातें सामने आती हैं। उत्तरी भारत के निवासियों में अनादि काल से जातीय मिश्रण होता आ रहा है, और यह मिश्रण उत्तर के पहाड़ी इलाकों, पूरब एवं दक्षिण में विशेष हुआ है। ऐसी स्थिति बाहरी शाखा में भीतरी से इतर कुछ नृशास्त्रीय विशेषताओं का विकसित हो जाना असम्भव नहीं है। किन्तु इसके आधार पर आर्यों के दो बार आने की बात नही साबित होती। यों तो ग्रियर्सन ने स्वयं ही दो आक्रमणों वाला सिद्धांत नहीं माना। साथ ही भीतरी एवं बाहरी वर्गों में उनके द्वारा कथित अन्तर (दे० ०.३.२.३.१.) भी बहुत साधार नहीं है। किन्तु यदि थोड़ी देर के लिए उनके अन्तर को मान भी लें तो, भाषाओं की आज प्राप्त होने वाली कुछ थोड़ी समानताओं-असमानताओं के आधार पर ही साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व के सम्बन्ध में उक्त प्रकार का दो आक्रमण वाला सिद्धांत नही माना जा सकता। हार्नले के पास अपने मत को सिद्ध करने के लिए कोई ठोस आधार नही था। यों यदि उन्हीं की दिशा में सोचें तो यह भी तो सम्भव है कि परवती आर्य आये हों और पूर्ववर्ती आर्यो के चारों ओर बस गये हों। यह आवश्यक नहीं कि पच्चर की तरह प्रवेश करके पूर्वागत आर्यों को चारों ओर खदेड़ा ही हो। इस प्रसंग में एक और बात भी उल्लेख्य है। बाहरी एवं भीतरी लोगों के क्षेत्र एवं उनकी संख्या को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि बाहरी लोगों के भीतरी से अधिक होने की सम्भावना है, ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यकों द्वारा बहुसंख्यकों का खदेड़ा जाना बहुत सम्भव नहीं है। वस्तुतः इस प्रकार के प्रश्नों का बहुत निश्चित उत्तर देना बहुत कठिन है। यों यह अनुमान लगता है कि आर्य एकाधिक बार में आये होंगे, किन्तु कितनी बार में आये इसका उत्तर किसी ठोस आधार के अभाव में नही दिया जा सकता।

आर्य पहले सप्तसिन्धु (आधुनिक पंजाब) में आये फिर धीरे-धीरे मध्यदेश कोसल होते अवन्ती और बगाल तक फैल गये। इनका यह आगमन एवं फैलना संघर्षों से खाली नहीं था। पहले इनको दास, दस्यु या शुद्र (अर्थात् 'द्रविड़', दे० ०.३.१ १.४) लोगों से युद्ध करना पड़ा। पूर्व में कदाचित् निषादों एवं किरातों से भी इनका संघर्ष हुआ, किन्तु सर्वत्र इनकी विजय हुई और अन्त में उत्तरी भारत प्रायः पूर्णतः इनका हो गया।

भारतीय आर्य भाषा—भारत में आर्य भाषा के प्रारम्भ का बहुत निश्चित काल देना तो सम्भव नहीं है, किन्तु मोटे ढंग से यह माना जा सकता है कि १५०० ई० पू० के आसपास से इसका प्रारम्भ होता है। तब से, आज तक भारतीय आर्य भाषा की आयु लगभग साढ़े तीन हज़ार वर्षो की हो चुकी है। भाषिक विशेषताओं के आधार पर भारतीय आर्य भाषा की इस लम्बी आयु को ३ कालों में बाँटा गया है, और तीनों कालों में आर्य भाषा को तीन नामों से अभिहित किया गया है। (१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (प्रा० भा० आ०) १५०० ई० पू०—५०० ई० पू०, (२) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा (म० भा० आ०) ५०० ई० पू०—१००० ई०, (३) आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (आ० भा० आ०) १००० ई०— अब तक।

प्राचीन आर्य भाषा—आर्य जब भारत में आये, उस समय उनकी भाषा तत्कालीन ईरानी भाषा से कदाचित् बहुत अलग नहीं थी। किन्तु जैसे-जैसे यहाँ के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव, विशेषतः आर्येतर लोगों से मिश्रण के कारण पड़ने लगे, भाषा परिवर्तित होने लगी। इस प्रकार वह अपनी भगिनी-भाषा ईरानी से कई बातों में अलग हो गई। भारतीय आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक संहिताओं में मिलता है। इसमें रूपाधिक्य है, नियमितता की अपेक्षाकृत कमी है और अनेक प्राचीन शब्द हैं जो बाद में नहीं मिलते। वैदिक

संहिताओं का काल मोटे रूप में १२०० ई० पू० से ९०० ई० पूर्व के लगभग है। यों वैदिक संहिताओं की भाषा में भी एकरूपता नहीं है। कुछ की भाषा बहुत पूर्ववर्ती है, तो कुछ की परवर्ती। उदाहरणार्थ अकले ऋग्वेद में ही प्रथम और दसवें मण्डलों की भाषा तो बाद की है, और शेष की पुरानी। यही पुरानी भाषा अपेक्षाकृत अवेस्ता के निकट है। अन्य संहिताएँ (यजु, साम, अथर्व) और बाद की हैं। वैदिक संहिताओं की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न है क्योंकि यह काव्य-भाषा है। उस समय तक आर्यों का केन्द्र सप्तसिन्धु या आधुनिक पंजाब था, यद्यपि पूर्व में वे बहुत आगे तक पहुँच गये थे। ब्राह्मणों-उपनिषदों की भाषा कुछ अपवादों को छोड़कर संहिताओं के बाद की है। इसमें उतनी जटिलता एवं रूपाधिक्य नहीं है। इनके गद्य भाग की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा के बहुत निकट है। इस समय तक आर्यों का केन्द्र मध्यदेश हो चुका था, यद्यपि इधर की भाषा उत्तर जितनी शुद्ध नहीं थी। इस भाषा का काल ९०० से बाद का है। भाषा का और विकसित रूप सूत्रों में मिलता है। इसका काल ७०० ई० पू० से बाद का है। यह संस्कृत पाणिनीय संस्कृत के काफी पास पहुँच गई है, यद्यपि उसमें पाणिनीय संस्कृत की एकरूपता नहीं है। इसी काल के अन्त में लगभग ५वीं सदी में पाणिनि ने अपने व्याकरण में संस्कृत के उदीच्य में प्रयुक्त रूप के अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित एवं पण्डितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया, जो सदा-सर्वदा के लिए लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत का सर्वमान्य आदर्श बन गया। पाणिनि की रचना के बाद बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भाषाओं के रूप में विकास करती आज तक आई है, किन्तु संस्कृत में साहित्य-रचना भी इसके समानान्तर ही होती चली आ रही है, जो मूलतः पाणिनीय संस्कृत होने पर भी हर युग की बोलचाल की भाषा का अनेक दृष्टियों से कुछ प्रभाव लिये हुए है और यही कारण है कि बोलचाल की भाषा न होने पर भी, उस साहित्यिक संस्कृत में भी विकास होता आया है। भाषा के जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि रामायण-महाभारत की भाषा पाणिनि के बाद की है। पुराने पुराणों की भाषा और भी परवर्ती है। फिर कालिदास से होते क्लैसिकल संस्कृत हितोपदेश तक तथा और आगे तक आई है।

इस प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के वैदिक और लौकिक संस्कृत दो रूप मिलते हैं।

वैदिक—(१५०० ई पू० से ८०० ई० पू० तक) इसे 'प्राचीन संस्कृत', 'वैदिकी', 'वैदिक संस्कृत' या 'छन्दस्' आदि अन्य नामों से भी पुकारा गया है। संस्कृत का यह रूप, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि में मिलता है। यों इन सभी में भाषा का कोई एक सुनिश्चित रूप नहीं है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वैदिक साहित्य में इस भाषा का विकास होता दिखाई पड़ता है, फिर भी कुछ ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणिक बातें ऐसी हैं जिनको वैदिक की सामान्य विशेषताएँ माना जा सकता है। तत्कालीन बोलचाल की भाषा इसके समीप रही होगी, किन्तु इसका यह आशय नहीं कि बोलचाल की भाषा के सभी रूप इसमें सुरक्षित हैं।

ध्वनियाँ—मूल भारोपीय एवं भारत-ईरानी से संस्कृत की (वैदिक तथा लौकिक) कुछ प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण ध्वनियों का विकास किस रूप में हुआ, यहाँ देखा जा सकता है। कुछ स्थानों पर तो भारोपीय के पुनर्निर्मित तारांकित रूप दिये गये हैं और कुछ में मात्र ग्रीक या लैटिन आदि के ही रूप दिये गये हैं। उक्त प्रकार के स्थानों में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत ग्रीक या लैटिन आदि के शब्दों या रूपों में प्रयुक्त सम्बद्ध ध्वनि मूल भारोपीय का प्रतिनिधित्व करती है। उदाहरण के अभाव में कहीं-कहीं अवेस्ता आदि से ही तुलना करके संतोष करना पड़ा है।

सं० अ (१) भारो० *अ से (भारो० *agei ग्री० agei अवे० azaiti, सं० अजति, ग्री० agros लै० ager अ० acre सं० अज्र)। (२) भारो० *ह्रस्व ए से (भारो० *esti,

ग्री० esti, लै० est, अवे० astiya अस्तिय, सं० अस्ति; लै० equus, अवे अस्प, सं० अश्व)। (३) भारो० *ह्रस्व ओ से (भारो० *potis, ग्री० posis, लै० potis, अवे० पइतिश्, सं० पति:; ग्री० domos, लै० domus, रूसी dom, सं० दम)। (४) भारो० *n̥ से (भारो० *tn̥tos, ग्री० tatos, सं० तत:)। (५) भारो० *m̥ से (भारो० dekm̥, ग्री० deka, लै० decem, गोथिक taihum, सं० दश)।

सं० आ : (१) भारो० *आ (दीर्घ) से (भारो० *mater, ग्री० mater, लै० mater, अवे० मातर्, सं० मातृ)। (२) भारो० *ए (दीर्घ) से (ग्री० men, लै० mensis,) सं० मास्)। (३) भारो० *ओ (दीर्घ) से (लै० vox, अवे० वाख्श, सं० वाक्)। (४) भारो० *n̥ (दीर्घ) से (भारो० *gn̥tos, ग्री० gnotos, अवे० जातो, सं० जात:)। (५) भारो० *m̥ (दीर्घ) से (भारो० *ghsm̥, ग्री० Khthon, अवे० ज, सं० क्षा:)।

सं० इ : (१) भारो० *ə से (भारो० *peter, ग्री० pater, अवे० पितर्, सं० पितृ)। (२) भारो० *इ से (भारो० *idh, ग्री० इथ, अवे० इद, सं० इह, पा० इध)। (३) भारो० *ऋ से (भारो० *gr̥rə, अवे० गइरि, सं० गिरि)।

सं० ई : (१) भारो० *ई से (ग्री० pion, सं० पीवन्)।

सं० उ : (१) भारो० *उ से (भारो० *dughəter, ग्री० thugater, फा० दुख़्तर, सं० दुहितृ)। (२) भारो० *ऋ से (भारो० *gr̥us, अवे० गोउरु, सं० गुरु)।

सं० ऊ : भारो० *ऊ से (प्राचीन स्लाव दूमु (dymu), रूसी दइ्उम, सं० धूम, लै० fumus)।

सं० ऋ : (१) भारो० *ऋ से (भारो० *pr̥skhati, सं० पृच्छति, प्राचीन उच्च जर्मन forscon)। (२) भारो० *ऌ से (भारो० * pl̥hu, ग्री० plaus, अवे० परथु, सं० पृथु)।

सं० ॠ : मूलत: भारो० से नहीं आया है। ह्रस्व इ एवं ह्रस्व उ से अन्त होने वाले शब्दों मे षष्ठी बहुवचन मे दीर्घ करने (सखि-सखीनाम्, गुरु-गुरूणाम्) की प्रवृत्ति थी। इसी के सादृश्य पर ह्रस्व ऋ से अन्त होने वाले प्रातिपादकों के रूपों में दीर्घ ॠ (धातृ—धातॄणाम्, धातन्, पितृ-पितॄणाम् आदि) की प्रवृत्ति चल पड़ी; और इस प्रकार ॠ का विकास सादृश्य के कारण हुआ।

सं० ऌ : भारो० *ऌ से (अवे० kərəp, सं० क्लृप्)।

सं० ए : (१) भारो० *अइ से (ग्री० daipher, रूसी देविर्, सं० देवर)। (२) भारो० *एइ से (लिथुवानियन eiti, सं० एति)। (३) भारो० *ओ (ह्रस्व) से (ग्री० oida, रूसी वेद, स० वेद, अवे० वएद)।

स० ओ : (१) भारो० *अउ से (ग्री० auos, लियु० sausas, रूसी सुख—सं० शोष-) (२) भारो० *एँउ से (ग्री० euo, सं० ओषति)। (३) भारो० *ओँउ से (*louk—, लिथु० laukas, सं० लोक)।

सं० ऐ : भारो० के *आइ, *एइ, *ओइ इन तीन संयुक्त स्वरों से। अर्थात् इ-अंत्य उन संयुक्त स्वरों से जिनके प्रारम्भ में दीर्घ स्वर (आ, ए, ओ) थे (ग्री० eleipsa, सं० अरैक्षम्)।

सं० औ : भारो० के *आउ, *एउ, *ओउ, इन तीन संयुक्त स्वरों से। इनमें प्रथम स्वर दीर्घ है, तथा दूसरा ह्रस्व उ (ग्री० bous, सं० गौ:; ग्री० naus, सं० नौ)।

स० क्, ख्, ग्, घ् मा० यू० मे कवर्गीय ध्वनियाँ तीन थीं—कठ्य, कठोष्ठ्य, कठतालव्य। प्रथम दो वर्गों का विकास प्राय सं० कवग मे (परवर्ती स्वर के अग्र होने की स्थिति अपवाद है) हुआ है। (लै० coxa, स० कक्ष; भारो० *kwos, स० क, भारो० *makhos स० मख; ग्रीo zugon स० युगम; भारो० *ghwono स० घन)। यों यदि विस्तार मे जाएँ तो ख् और घ् के विकास मे कुछ विवाद तथा अनियमितताएँ भी हैं।

स० च्, छ्, ज्, झ् च्, ज् का विकास उन कठ्य या कठोष्ठ्य क्, ग् से माना जाता है, जिनके बाद अग्रस्वर हो भारो०*kwe, लै०que,स०च,भारो० *gwiwos,स० जीव। छ प्राय अग्रस्वर के पूर्व आने वाले *स्ख (ग्रीक skia, स० छाया) से आया है। 'झ' ध्वनि भारोपीय से विकसित शब्दो मे नहीं मिलती। यह अनुकार, झकार, झझा, झरण आदि या मुडा (झुट) एव द्रविड आदि से आगत शब्दो मे ही मिलती है। कुछ भारत-ईरानी शब्द भी कदाचित् भारत मे झ-युक्त (अवे० ग्ज़रडति, स० *झरति) हो गये। क् ग् से च्, ज् के विकास के कारण ही अनेक शब्दों में एक ध्वनि दूसरे के स्थान पर (वाच्-वाक्, युज्-युग) आ जाती है।

स० ट्, ठ्, ड्, ढ्, मं० मे ये ध्वनियाँ या तो उन शब्दो मे मिलती हैं, जो द्रविड आदि आर्येतर भाषाओं स आये हैं। (इस प्रकार द्रविड प्रभाव या देन हैं) जैसे कुटि, कठिन आदि, या फिर भारोपीय शब्दों की *त्, *थ, *ड्द (*nis (उच्चरित रूप z) da>नीड) *ज्ध् (*astos (उच्चरित रूप z) dhwam>अस्नोढ्वम) ध्वनियो से विकसित हुई हैं। त् ध्वनि *र् *नय (इसका सस्कृत रूप दा मिलता है), तथा अग्रस्वर के पूर्ववर्ती *ग्, *घ् (कठ्य या कठोष्ठ्य) (स० मे इसका विकास ज्, ह् रूप मे हुआ है) के सम्पर्क से ही प्राय ट् हुई है *कतुस्>स० कटु। भारो० *थ ध्वनि भी इसी प्रकार र आदि के प्रभाव से ठ् मे विकसित हुई है *gwrtho>जठर। ऋग्वेद मे स्वर मध्यग ड् ढ् ही ळ्, ळ्ह् हो गये हैं।

स० त् थ् द् घ् ये भारो० *त्, *थ्, *द्, *घ् मे ही प्राय विकसित हुए हैं ग्री० तनु, स० तनु, भारो० *rothos, अवे० रथ, स० रथ, भारो० *dekm, स० दश; भारो० *dhedhore, स० दधार।

स० प् फ् ब्, भ् ये भारो० *प्, *फ्, *ब, *भ् मे ही प्राय निकले हैं भारो० *पेन्क्वे स० पच, भारो० *phallo सं० फल, भारो० *barghis, स० बर्हि, भारो० *obhrus, स० भ्रू।

स० ङ्, ञ्, ण्, न्, म् भारो० *न, *म से ही न्, म् विकसित हैं भारो० *nizda >नीड, भारो० *gwegwome>स० जगाम। ञ् उस ङ् से आया है जो क्, ज् आदि होने वाले क्, ग् आदि के पूर्व था - भारो० *पेङक्वे>स० पच्। ङ्, भारो० *ङ् है। ण् या तो द्रविड शब्दों मे है या र आदि से प्रभावित न् है।

स० य्, र्, ल्, व् भारो० के अपने अनुरूप अतस्थों से विकसित हुए हैं। यों र्, ल्, का आपसी परिवर्तन भी मिलता है। सम्भवत रलयोरभेद अत्यन्त प्राचीन काल से है। व् ध्वनि कठोष्ठ्य कवर्ग से भी विकसित हुई है। भारो० *yugom स० युगम, भारो० *klu स० श्रु; भारो० *ugra, स० उग्र, भारो० *phallo, स० फल, भारो० *ekwos, स० अश्व।

स० स्, ष्, श् भारो० *स से सं० स् भारो० *menos, स० मनस्। भारो० *स् ध्वनि अ या आ को छोड अन्य स्वरों के पूर्व होने पर प्राय, ष् हो गई है। —*स+उ =षु (मानुषु) दत्य ध्वनियों के 'ट' होने पर उनके प्रभाव से तथा कुछ अन्य परिस्थितियो

में भी समीपवर्ती 'स्' 'ष्' हो गया है। भारो० कंठ्य - तालव्य *क् सं० में श हो गया है: भारो० *dedorke, सं० ददर्श ।

सं० व्-यह भारो० *व का ही विकसित रूप है।

सं० ह् अघोष ह् (विसर्ग)-भारो० के पदांत *स तथा *र् से निकला है: भारो० *potis, सं० पतिः। घोष ह, तीनों घ, *घ, तथा *भ् से विकसित हुआ है: *ghwṇti, सं० हन्ति, *idh, सं० इह, अवे० इद्, *gṛbh—सं० ग्रह् ।

ऊपर संस्कृत ध्वनियों का विकास, मूल भारोपीय भाषा को आधार मानकर दिखाया गया है। मूल भारत-ईरानी के आधार पर भी ध्वन्यात्मक विकास की कुछ प्रमुख बातें यहाँ देखी जा सकती है। इसमें इस बात का पता चल जायगा कि भारतीय आर्य भाषा में, ईरानियों से अलग होने के बाद क्या-क्या प्रमुख परिवर्तन हुए तथा प्राचीन ईरानी में हुए परिवर्तनों से वे कितने भिन्न थे। प्रमुख बाते ये है: (१) मूल भारत ईरानी जो *ज तथा *ज ध्वनियाँ थीं, प्राचीन ईरानी से क्रमशः ज् तथा ज़् हो गईं, किंतु संस्कृत में ज् का तो ज् रहा ही, साथ ही *ज़् का भी ज (अवे० ज़ानु, सं०, जानु, प्राचीन फ़ा० जीव,सं० जीव) हो गया। इस प्रकार इन दोनों ध्वनियो के स्थान पर एक ध्वनि हो गई, (२) भारत ईरानी का *ज़ ईरानी मे तो बना रहा किन्तु संस्कृत में उसका लोप हो गया: भारत-ईरानी का *मेज़्धा, सं० मेधा, अवे० मज़्दा। (३) *ज्ह् (झ) तथा *ज़्ह् ईरानी मे ज् तथा ज़् हो गये, किन्तु संस्कृत में ह हो गये: सं० हिम, अवे० जिम। (४) *ग्ज़्ह्, *ब्ज़्ह जैसे घोष, संस्कृत में आकर अघोष हो गये, किन्तु ईरानी में यह अघोषत्व नही आया: स० दिप्स्, अवे० दिब्ज। (५) महाप्राण ध्वनियाँ संस्कृत में तो न्यूनाधिक रूप से आई किन्तु ईरानी मे प्रायः उनका अल्प-प्राण रूप हो गया या संघर्षी: सं० रथ, अवे० रथ़; स० शफ, अवे० सफ़; सं० भरति, अवे० बरइति। (६) भारत-ईरानी *अइ, का प्राचीन फ़ा०. में 'अइ' ही रहा, किन्तु अवेस्ता में यह अए हो गया एवं सं० मे ए: मूल भा० यू० *eitiya = वह जाता है, प्राचीन फ़ा० aitiy, सं० एति। (७) भारत-ईरानी *अउ का प्राचीन फ़ा० में 'अउ' ही रहा किन्तु अवे० में अओ या ष्उ हो गया और संस्कृत मे ओ: प्राचीन फ़ा० रउच, सं० रोचस्, अवे० रओचो।

स्वराघात—मूल भारोपीय भाषा में स्वराघात बहुत महत्त्वपूर्ण था। आरम्भ में वह बलात्मक था, जिसके कारण मात्रिक अपश्रुति विकसित हुई, किन्तु बाद मे वह संगीतात्मक हो गया, जिसने गुणिक अपश्रुति को जन्म दिया। इस भाषा-परिवार के विघटन के समय स्वराघात केवल उदात्त तथा स्वरित था। भारत-ईरानी स्थिति में अनुदात्त भी विकसित हो गया। इस प्रकार वैदिक संस्कृति को परम्परागत रूप से अनुदात्त, उदात्त एवं स्वरित तीन प्रकार के स्वराघात (संगीतात्मक) प्राप्त हुए थे। स्वराघात का इतना अधिक महत्त्व था कि सभी संहिताओं, कुछ ब्राह्मणों एवं आरण्यकों तथा वृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की पांडुलिपियाँ स्वराघात-चिह्नित मिलती है और बिना स्वराघात के वैदिक छन्दों को पढना अशुद्ध माना जाता है। स्वराघात के कारण शब्द का अर्थ भी बदल जाता था। 'इन्द्रशत्रुः' वाला प्रसिद्ध उदाहरण सर्वविदित है: इन्द्र, शत्रुः = जिसका शत्रु इन्द्र है (बहुब्रीहि), इन्द्रशत्रु = इन्द्र का शत्रु (तत्पुरुष)। शब्द आदि के अर्थ जानने में स्वराघात का कितना महत्त्व था, यह वेंकट माधव के 'अंधकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इव' (अर्थात् जैसे अन्धकार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नही खाता, उसी प्रकार स्वरों (स्वराघात) की सहायता से किये गये अर्थ स्फुट और संदेहशून्य होते है) कथन से स्पष्ट है। स्वराघात में परिवर्तन से कभी-कभी लिंग में भी परिवर्तन हो जाता था।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है वैदिक स्वराघात तीन प्रकार के थे: उदात्त

अर्थात् उच्च, अनुदात्त अर्थात् निम्न, तथा स्वरित अर्थात् मध्य। उदात्त, अनुदात्त तो स्पष्ट हैं, किन्तु स्वरित विवादास्पद है (दे० लेखक के ग्रन्थ 'भाषा-विज्ञान कोश मे 'स्वरित')। यो मोटे रूप से 'समाहार स्वरित' के आधार पर स्वरित को उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार कहा जा सकता है।

वैदिक साहित्य मे स्वराघात के अंकित करने की कई पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद, अथववेद आदि मे प्राय उदात्त अचिह्नित मिलता है, अनुदात्त के नीचे पडी रेखा खीचते हैं तथा स्वरित के ऊपर खडी रेखा, जैसे अग्निना[1]। सामवेद मे उदात्त के लिए १, स्वरित के लिए २, तथा अनुदात्त के लिए ३, लिखने की परम्परा रही है[1] व[3] हिपि[2]। शतपथ ब्राह्मण आदि मे केवल उदात्त को चिह्नित करते रहे हैं पुरुष।

ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक म मूल स्वराघात प्राय उसी अक्षर पर है, जिस पर मूल भारोपीय मे था ग्रीक Tatos, स० नत,स्, किन्तु विस्तार मे बहुत अन्तर है। पहले लोग सस्कृत स्वराघात को मूल भारोपीयसा मानते थे, किन्तु अब इस दृष्टि से ग्रीक अधिक समीप मानी जाती है।

वैदिक भाषा मे प्राय सभी शब्दो या पदो पर स्वराघात होता है। कुछ च, वा, इव जैसे शब्द स्वराघातशून्य होते है। यो बहुत से ऐसे भी रूप होते हैं जो कुछ स्थितियो मे तो स्वराघातयुक्त होते हैं, और कुछ मे स्वराघातशून्य। उदाहरणार्थ सम्बोधन का रूप यदि वह वाक्यारम्भ मे न हो तो प्राय स्वराघातशून्य होता है। वैदिक सस्कृत मे प्रातिपदिक, समास, सधि, कारकरूप, क्रिया तथा नामधातु आदि के स्वराघात के नियम अलग-अलग हैं।

टर्नर के अनुसार वैदिक सस्कृत मे सगीतात्मक एव बलात्मक दोनो ही स्वराघात था।

रूप रचना—वैदिक भाषा मे लिंग तीन थे पुलिंग, स्त्रीलिंग, नपुसकलिंग। वचन भी तीन थे एक०, द्वि०, बहु०। कारक आठ थे कर्ता, सम्बोधन, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण।

सामान्य कारक विभक्तियाँ ये थी

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन,	
	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०
कर्ता—	-स्	-म्	-औ	-ई	-अस्	-नि, -इ
सम्बो०—	,,	—	,,	,,	,,	,,
कर्म—	-अम्	—	,,	,,	,,	,,
करण—	आ, -एन	-आ, -एन	-भ्याम	-भ्याम्	-भिस्	-भिस्
सम्प्र०—	-ए	-ए	,,	,,	-भ्यस्	-भ्यस्
अपा०—	-अस्	-अस्	,,	,,	,,	,,
सम्बन्ध—	,	,,	-ओस्	-ओस्	आम्	आम्
अधि०—	-इ	-इ	,,	,,	सु	सु

विशेष (१) अकारान्त शब्दो को छोडकर अन्य अपने मूल रूप मे ही कर्ता एक० नपु० मे आते हैं। अकारान्त मे -म् लगता है। (२) सम्बोधन के रूप केवल स्वरांत स्त्री० पु० एकवचन छोडकर प्राय कर्ता के रूपो के समान होते हैं। -मन्, -अन्, -मत्, -वत, आदि कई स्वरान्त प्रातिपादिक (पु० एक०) भी अपवाद हैं।

उपर्युक्त रूपों में अधिकांश मूल भारोपीय-विभक्ति से सीधे आये हैं, और प्रयोग एवं रूप की दृष्टि से उनके समीप हैं। जैसे *स से स (अवे० श, ग्री० स आदि), *म् से द्वितीया -अम् (ग्री० -न्, -अ; अवे० -अम् आदि), चतुर्थी *अइ, एँइ से ए (ग्री० ओइ), *एँस, *ओस् से अस्, द्विवचन *ओ से ओ, बहु० -अस *ओस् से, *भास से भ्यस्, तथा *स् से सु आदि। करण बहु० -एभिः (देवेभिः) मे 'ए' सर्वनामों से आया है।

विशेषणों के रूप भी संज्ञा की तरह चलते थे।

तुलना के लिए -तर (ग्री० तेॅरोॅ, लैटिन तेॅर, अवे० तर) एवं तम (लैटिन—तिमो, अवे० तम) क्रमशः मूल भारोपीय भाषा के *तोॅ प्रत्यय से सम्बन्धित हैं। -र तथा -म मूलतः स्वतन्त्र प्रत्यय थे, बाद में *तोॅ में जुड़कर -तर, -तम आदि हो गये। इसी प्रकार इयांस् (ग्री० ईओॅस, योॅस्, लैटिन ior, अवे० -यह्-) तथा इष्ठ (ग्री० इस्तोॅ, अवे० इश्त) क्रमशः मूल भारोपीय *योॅस् एवं *इस्थ् से विकसित हैं।

मूल भारोपीय में सर्वनाम के मूल या प्रातिपदिक बहुत अधिक थे। विभिन्न बोलियों में कदाचित् विभिन्न मूलों के रूप चलते थे। पहले सभी मूलो से सभी रूप बनते थे, किन्तु बाद मे मिश्रण हुआ और अनेक मूलों के अनेक रूप लुप्त हो गये। परिणाम यह हुआ कि मूलतः विभिन्न मूलों से बने रूप एक ही मूल के रूप माने जाने लगे। वैदिक भाषा में उत्तम पुरुष में ही, यद्यपि प्राचीन पंडितों ने 'अस्मद्' को सभी रूपों का मूल माना है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो **अह-** (अहम्), **म-** (माम्, मया, मम, मयि), **आव** (आवम्, आवाम्, वाम्, आवयोः), **वय** (वय), **अस्म** (अस्माभिः, अस्मभ्यम्, अस्मे आदि), इन पाँच मूलों पर आधारित रूप है। मध्यम आदि अन्य सर्वनामों में भी एकाधिक मूल है। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वनामों के पीछे अनेक मूल रूपों की परम्परा है। अधिकांश सर्वनामों की परम्परा मूल भारोपीय भाषा तक खोजी गई है। जैसे भारो० *eghom से अहम् (अवे० अज़ेम, लैटिन ego, पुरानी चर्च स्लाव अज़ु आदि), *uei से वयम् (अवे० वएम्) या *tu से त्व् (लै० तू, प्राचीन उच्च जर्मन दू, प्राचीन आइरिश तू, अवे० तू) आदि। सर्वनामों की कारकीय विभक्तियाँ प्रायः संज्ञाओं जैसी ही हैं।

वैदिक भाषा में धातुओं के रूप आत्मने (middle), परस्मै (Active) दो पदों मे चलते थे। कुछ धातुएँ आत्मनेपदी, कुछ परस्मैपदी एवं कुछ उभयपदी थी। आत्मनेपदी रूपों का प्रयोग केवल अपने लिए होता था तथा परस्मै का दूसरों के लिए। क्रियारूप तीनों वचनों (एक, द्वि, बहु) एवं तीनों पुरुषो (उत्तम, मध्यम, अन्य) में होते थे। काल तथा क्रियार्थ मिलाकर क्रिया के कुछ १० प्रकार के रूपों का प्रयोग मिलता है: लट् (Present), लङ् (imperfect), लिट् (perfect), लुङ् (aorist), लुट्, निश्चयार्थ (indicative), सम्भावनार्थ (Subjunctive लेट), विध्यर्थ (injunctive), आदरार्थ आज्ञार्थ (oypative), तथा अज्ञार्थ (impertive, लोट्) ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में लेट् का प्रयोग बहुत मिलता है, किन्तु धीरे-धीरे इसका प्रयोग कम होता गया और अन्त में लौकिक संस्कृत में पूर्णतः समाप्त हो गया। वैदिक में भविष्य के रूप बहुत कम है। उसके स्थान पर प्रायः सम्भावनार्थ या निश्चयार्थ का प्रयोग मिलता है। क्रिया-रूपों में तीन विशेषताएँ उल्लेखनीय है—(१) कुछ रूपो मे धातु के पूर्व भूतकरण आगम अ- या -आ आता था (लङ्, लुङ्, लृङ् मे)। (२) धातु तथा तिङ् प्रत्ययों के बीच, कुछ धातुओं में विकरण जोड़े जाते थे। विकरण के आधार पर धातुओं के दस गण या वर्ग थे। जुहोत्यादि एवं अदादिगण विकरण रहित थे; शेष में निम्नांकित विकरण थे: भ्वादि मे -उ-, दिवादि में-य-, स्वादि में-नु-, तुदादि मे स्वराघातयुक्त-अ-, रुधादि मे-न-, तनादि में-न-, क्र्यादि मे -ना-, तथा चुरादि मे -अय-। (३) इच्छार्थक (desiderative), अतिशयार्थक (intensive), लट् (कुछ धातुओं मे), लिट्, लुङ् (एक रूप मे) में द्वित्व का प्रयोग होता है। इसमे महाप्राण के द्वित्व में महाप्राण का अल्पप्राण हो जाता है ('भी' से 'बिभी

—), कठ्य का वर्ग के क्रमानुसार तालव्य ('गुह' के 'जुगुह') हो जाता है, तथा अन्य स्थानों पर प्राय द्वित्व ('बुध्' से बु-बुध्) होता है। यदि ऊष्म से धातु का आरम्भ हो तथा बाद मे अघोष ध्वनि हो तो वही ध्वनि फिर आ जाती है, यदि वह महाप्राण हो तो उसका अल्पप्राण हो जाता है, तथा कठ्य हो तो तालव्य स्था—तस्था, स्कन्द—चस्कन्द, स्वज्-सस्वज्।

समास—समास-रचना की प्रवृत्ति मूल भारोपीय एव भारत-ईरानी मे भी थी। वहीं से यह परम्परा वैदिक सस्कृत मे आई। वैदिक में समस्त पद प्राय दो शब्दों के ही मिलते हैं। इससे अधिक शब्दों के समास अत्यन्त विरल हैं। जहाँ तक समास के रूपो का प्रश्न है, वैदिक मे केवल तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि एव द्वन्द्व, ये चार ही समास मिलते हैं। लौकिक सस्कृत के शेष दो बाद में विकसित हुए हैं।

शब्द—वैदिक भाषा मे शब्दो की दृष्टि से दो बातें उल्लेख्य हैं। एक तो यह कि अनेक तथाकथित मूल शब्द से विकसित या तद्भव शब्द प्रयुक्त होने लगे। वेदों में 'इह' (यहाँ) इसी प्रकार का है। इसका मूल शब्द *इध है। पालि 'इध' और अवेस्ता 'इद' इस बात के प्रमाण हैं कि महाप्राण व्यजन के स्थान पर 'ह' के विकास से 'इध' से ही 'इह' बना है।

कट (मूल शब्द कृत), एकादश (मूल एकादश) भी इसी प्रकार के शब्द हैं। 'विंशति' भी मूलत 'द्विशति' रहा होगा, यद्यपि यह विकार भारत मे आने के पहले ही आ चुका था। शब्दो की दृष्टि से दूसरी विशेषता यह है कि उस काल मे ही भाषा मे अनेक आर्येतर शब्दों का आगमन होने लगा था। उदाहरण के लिए वैदिक भाषा मे अणु, अरणि, कपि, काल, गण, नाना, पुष्कर, पुष्प, मयूर, अटवी, तडुल, मर्कट आदि शब्द एक ओर यदि द्रविड से आये हैं, तो वार, कवल, वाण, कोमल (स्थानवाचीनाम), अग (स्थानवाचीनाम) आदि आस्ट्रिक भाषा से।

बोलियाँ—ऊपर सकेत किया जा चुका है कि आर्य कदाचित एकाधिक टोलियों में भारत मे आये और इन टोलियो मे भी आपस मे कुछ भाषिक विभिन्नता थी। इसका आशय यह है कि 'आर्य भाषा' के भारत में आने के पहले ही उसमें सच्चे अर्थों मे भाषिक एकरूपता नहीं थी। उदाहरण के लिए विद्वानो का विचार है कि मूल भारोपीय के र, ल भारत-ईरानी में प्राय 'र' ही हो चुके थे, और भारतीय आर्य भाषा मे फिर नये सिरे से 'र' ध्वनि अनेक शब्दो मे 'ल' मे विकसित हो गइ। यही कारण है ऋग्वेद मे 'ल्' ध्वनि 'र्' की तुलना मे बहुत कम मिलती है तथा परवर्ती साहित्य मे धीरे-धीरे उसमे वृद्धि हुई है। यो मेरा विचार है कि प्रमुख भारत-ईरानी मे तो मूल भारोपीय के र् ल् का विकास 'र्' मे हो चुका था, किन्तु उस समय भी कुछ टोलियाँ या बोलियाँ ऐसी थी, जिनमे 'ल्' ध्वनि पूर्णत लुप्त नहीं हुई थी। इस प्रकार कुछ दृष्टियो से अनेकरूपताओ से युक्त भारतीय आर्य भाषा भारत मे आई, और यह ज्यो-ज्यो पूर्व की ओर फैलती गई, इसका स्वरूप स्थानीय भाषाओ के प्रभाव के कारण बदलता गया। ब्राह्मण ग्र थो मे इस बात का पता चलता है कि वैदिक काल में प्राचीन आर्य भाषा के कम-से-कम तीन रूप—या तीन बोलियाँ—अवश्य थे पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी। प्रथम अफगानिस्तान से लेकर पजाब तक था दूसरा पजाब से मध्य उत्तर प्रदेश तक तथा तीसरा उसके पूर्व। यदि र्-ल् ध्वनियो को ही आधार मानें तो कह सकते हैं कि पश्चिमोत्तरी बोली र्-प्रधान थी, मध्यवर्ती मे र् ल् दोनो थे, और पूर्वी ल्-प्रधान थी। ऋग्वेद मे पश्चिमोत्तरी बोली का ही प्रतिनिधित्व हुआ है। पश्चिमोत्तरी बोली में स्थानीय प्रभाव प्राय बहुत कम पड़ा था, क्योंकि स्थानीय आर्येतर जातियाँ कुछ अपवादो को छोडकर, वहाँ से भागकर दक्षिण तथा पूर्व चली गई थी। इसी कारण पश्चिमोत्तरी बोली को आदर्श माना गया। उसे उस समय 'उदीच्य' या 'उत्तरी' कहते थे। कौशीतकि ब्राह्मण (७-६) मे आता है तस्मादुदीच्यां प्रज्ञातरा वागुद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाच शिक्षितुम्। यो वा तत आगच्छति, तस्य या शुश्रू-

षन्त इति। अर्थात्.....उत्तर में अधिक विज्ञता से, या प्रामाणिक भाषा बोली जाती है। उत्तर दिशा में ही बोलना सीखने जाते है। जो वहाँ से आता है, उससे सुनना चाहते है। मध्यदेशीय विशेषतः पूर्वी लोग संयुक्त व्यंजन, स्वराघात, सन्धि में तो गड़बड़ी करते ही थे, साथ ही 'र्' का 'ल्' भी कर देते थे। शतपथ ब्राह्मण (३-२-१-२३) में कहा गया है : तेऽसुरा आत्तवसचो हेऽलव हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः। पतंजलि ने अपने महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में भी इसी को दोहराया है : तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वनः पराबभूवुः। अर्थात् वे असुर 'हे, अरयः' के स्थान पर 'हेलय. हेलयः' उच्चारण करते हुए पराभव को प्राप्त हुए। यहाँ भी र् ल् की ओर संकेत है। इसी प्रकार उधर य् के स्थान पर व् उच्चरित करने की प्रवृत्ति भी थी।

किन्तु भाषा के ये तीन रूप सामान्य लोगों में थे। पण्डितों की भाषा एक सीमा तक परिनिष्ठित थी, और उपलब्ध वैदिक साहित्य में कुछ अपवादों को छोड़कर, प्रायः उसी का साहित्यिक रूप मिलता है।

पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वैदिक भाषा—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के प्रथम रूप वैदिक के भी दो रूप मिलते है। पहला रूप ऋग्वेद के प्रथम एवं दसवें मंडल को छोड़कर अन्य मण्डलों तथा अन्य प्राचीन ऋचाओं आदि की भाषा मे है तथा दूसरा उक्त दो मण्डलों में, अन्य वेदों में के परवर्ती भागों में, तथा आरण्यकों, उपनिषदों आदि में। वैदिकी के इन दोनों रूपों में प्रमुख अन्तर निम्नांकित है :—

ध्वनि—(१) टवर्गीय ध्वनियाँ पूर्ववर्ती में बहुत कम हैं पर परवर्ती में उनका अनुपात बढ़ गया है। (२) पूर्ववर्ती में र् का प्रयोग अधिक है, किन्तु परवर्ती मे ल् का प्रयोग भी पर्याप्त है। ऐसे शब्द भी हैं, जिनमे पूर्ववर्ती वैदिकी में र् ध्वनि है तो परवर्ती मे ल् ध्वनि—रोमन्—लोमन्, म्रुच्—म्लुच। (३) यह संकेत किया जा चुका है कि वैदिकी में प्राचीन घ्, ध्, भ् आदि महाप्राणों का 'ह्' हो रहा था। यह प्रवृत्ति इस काल मे भी काम कर रही थी। इसीलिए महाप्राणों के स्थान पर 'ह' पूर्ववर्ती भाषा में कम मिलता है, किन्तु परवर्ती में अपेक्षाकृत अधिक है। उदाहरणार्थ प्राचीन वैदिक गृभाण, परवर्ती वैदिक संस्कृत गृहाण। इसी प्रकार पूर्ववर्ती आज्ञार्थ -धि (तिङ् प्रत्यय) के स्थान पर परवर्ती मे -हि मिलता है। **व्याकरण**—व्याकरणिक दृष्टि से भी कई अन्तर हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नाम एवं धातु के रूपाधिक्य एवं अपवाद परवर्ती में बहुत कम हो गए हैं, और परवर्ती की भाषा वैदिकी को छोड़कर लौकिक संस्कृत की ओर बढ़ती चली आ रही है। पूर्व वैदिकी में देवाः देवैः के अतिरिक्त देवासः, देवेभिः रूप भी है, किन्तु परवर्ती में देवासः, देवेभिः जैसे रूप अत्यन्त विरल हो गये है। 'अश्विना' जैसे द्विवचन रूप भी परवर्ती मे प्रायः नहीं मिलते। पुराने कृणुमः जैसे रूपों के स्थान पर परवर्ती में कुर्मः जैसे रूप मिलते हैं। यह वस्तुतः ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण हुआ है। 'नु' विकरण मे न् के लोप के कारण 'उ' रह गया है। अन्य भी इस प्रकार के अनेक रूपीय अन्तर है। **शब्द**—शब्दों के क्षेत्र में सबसे प्रमुख बात यह हुई कि अनेक पूर्ववर्ती शब्द समाप्त हो गए, और वे परवर्ती वैदिकी में नही मिलते। ईम, वीति, विचर्षणि ऐसे ही शब्द हैं। इसके विरुद्ध परवर्ती वैदिकी मे अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त होने लगे जो पूर्ववर्ती मे नही मिलते। इसके अतिरिक्त यों तो पूर्ववर्ती वैदिकी में भी आस्ट्रिक, द्रविड़ आदि शब्द आ गए थे, किन्तु उसकी संख्या अत्यल्प थी, पर परवर्ती वैदिकी में उनकी संख्या अपेक्षाकृत बढ़ गई।

ऊपर जो बाते पूर्ववर्ती वैदिकी की तुलना में परवर्ती वैदिकी में कही गई हैं, परवर्ती वैदिकी या वैदिकी की तुलना में लौकिक संस्कृत या संस्कृत में भी प्रायः उन्ही का आधिक्य मिलता है।

संस्कृत—इसे 'लौकिक संस्कृत' तथा 'क्लैसिकल संस्कृत' भी कहते है। भाषा के अर्थ मे 'संस्कृत' (संस्कार की गई, शिष्ट या अप्राकृत) शब्द का प्रथम प्रयोग बालमीकि रामायण में

ब्, म्, म्, य्, य्, र्, ल्, व्, व्, श्, ष् स्, ह्, ह् (विसर्ग), ळ्, ळ्ह, व्। (१०) जनभाषा के अधिक निकट होने के कारण वैदिक में स्वर-भक्ति युक्त रूप—जैसे स्वग —सुवर्ग, स्व — सुव, तव —तनुव —भी मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे अर्थों में सस्कार की हुई भाषा होने के कारण प्राप्त सस्कृत साहित्य में स्वर्ग, स्व, तन्व ही प्राय मिलते हैं, स्वर-भक्ति वाले रूप नही।

स्वराघात—वैदिक में सगीतात्मक स्वराघात था। उसके कारण अर्थ में भी परिवतव होता था। इन्द्रशत्रु—इन्दशत्रु (दे० ० ३ २ १ १ २)। इसी प्रकार 'ऋतु' का एक प्रकार से स्वराघात में 'बुद्धिमानी' अर्थ था तो दूसरे प्रकार का होने पर वलिदान। स्वराघात के कारण शब्दो के लिंग में भी कभी-कभी अन्तर (अर्थ के साथ-साथ) पड जाता था। जैसे उदात्त स्वर आदि में हो तो ब्रह्मन् का अर्थ है 'प्रार्थना' और यह नपुसकलिंग है, किन्तु यदि उदात्त स्वर अन्त में हो तो यह पुलिंग होगा, और इसका अर्थ होगा 'स्तोता'। लौकिक में, स्वराघात और उसका अर्थ एव लिंग आदि की दृष्टि से महत्व, पूर्णत समाप्त हो गया। इसके विरुद्ध लौकिक में सगीतात्मक स्वराघात के स्थान पर बलात्मक स्वराघात विकसित हो गया। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ के बलात्मक स्वराघात के बीज यही मिलने लगते हैं।

सधि—सधियो की दृष्टि से भी वैदिक और लौकिक सस्कृत में कुछ अन्तर है। यहाँ केवल दो का उल्लेख किया जा रहा है (क) कई स्थानो में, लौकिक सस्कृत में जहाँ प्रकृति-भाव का नियम लगता है, वैदिक में ऐसा नही भी होता। जैसे 'रोदसी+इमे' का लौकिक में होगा 'रोदसी इमे' (ये दोनो द्यावा पृथिवी) किन्तु वैदिक में 'रोदसीइमे' भी मिलता है। (२) इसी प्रकार शिव +अर्च्य =शिवो अर्च्य (वैदिक), शिवोऽर्च्य (लौकिक), या, स + अर्य =सो अय (वैदिक), सोऽर्य (लौकिक)।

कारक विभक्ति—इस दृष्टि से भी दोनो में कुछ अन्तर है। (क) अकारात पुल्लिग के प्रथमा द्विवचन एव बहुवचन में वैदिक मे क्रमश —औ,—आ तथा—आ, आस आते हैं, किन्तु लौकिक में केवल—औ तथा—आ। उदाहरणार्थ बहुवचन में वैदिक में देवा, देवास दोनों हैं, किंतु लौकिक मे केवल देवा। (ख) तृतीया बहुवचन मे इसी प्रकार वैदिक मे—ऐ तथा —एभि दो प्रत्यय प्रयुक्त होते है, किन्तु लौकिक म केवल—ऐ। जैसे वैदिक मे रामै, रामेभि या देवै, देवेभि, किन्तु लौकिक मे केवल रामै, देवै। (ग) षष्ठी बहुवचन मे भी वैदिक मे -आम् एव -आनाम् दो का प्रयोग होता है, किन्तु लौकिक मे प्राय केवल -आनाम् का। (घ) इकारात पुल्लिग मे प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन में -ई (द्यावापृथिवी) भी होता है, जब कि लौकिक मे केवल -यौ (यण्+औ)—द्यावापृथिव्यौ। (ङ) तृतीया एकवचन मे वैदिक मे -ई और -या दोनो का प्रयोग मिलता है (सुष्टुती, सुष्टुत्या), किन्तु लौकिक म केवल दूसरे का। (च) नपुसक प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचन मे वैदिक मे -आ, -आनि (ता, तानि) दोनो आता है, किन्तु लौकिक मे केवल -आनि (तानि)। (छ) इसी प्रकार उत्तम तथा मध्यम पुरुष सर्वनाम मे अस्मे, त्वे, युष्मे, त्वा आदि कई रूप ऐसे हैं, जो केवल वैदिक मे हैं, लौकिक मे नही। अन्य सर्वनामो मे भी ऐसे रूप हैं। (ज) वैदिक मे सप्तमी एकवचन मे विभक्ति-युक्त शब्दो के अतिरिक्त शून्य विभक्ति वाले रूप भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे व्योम्नि, व्योमन्, किन्तु लौकिक मे शून्य वाले रूप भी नही हैं। (झ) दस्यु, मन्यु जैसे कुछ रूपो को छोडकर लौकिक मे देवायु जैसे वैदिक रूप नही मिलते।

क्रिया रूप—क्रिया-रूपो मे कुछ प्रमुख अन्तर ये हैं—(क) वैदिक मे लकारो मे विशेष प्रतिबन्ध नही है। लुङ्, लङ्, लिट् में परोक्षादि का भेद नही है। यहाँ तक कि कभी-कभी इनका कालेतर प्रयोग भी मिलता है। (ख) वैदिक में लुट् के प्रयोग के बारे में सन्देह है।

सम्भव है -तृ प्रत्ययांत हो। (ग) वैदिक का लेट् लौकिक में नहीं है, यद्यपि उसके उत्तम पुरुष के तीन रूप लौकिक के लोट् में आ गए है। (घ) लोट् मध्यम पुरुष बहुवचन में लौकिक में केवल 'त' है, किन्तु वैदिक मे 'त' के अतिरिक्त -तन, -थन, -तात् भी है। (ङ) लोट् मध्यम-पुरुष एकवचन में, वैदिक मे -धि का प्रयोग भी (कृधि=कर; गधि=जा) मिलता है। लौकिक मे इनके रूप मात्र कुरु, गच्छ है। यों वैदिक -धि का विकसित रूप -हि भी कभी-कभी लौकिक मे प्रयुक्त होता है (जहि=मार डाल; जहाहि=छोड़ दे), यद्यपि इसके प्रयोग विरल हैं। (च) लट् उत्तम-पुरुष बहु० मे लौकिक में केवल -मः मिलता है, किन्तु वैदिक में -मः के अतिरिक्त -मसि भी मिलता है। (छ) वैदिक मे लङ्, लुङ्, लृङ् में भूतकरण (Augment) अ- नहीं भी मिलता, यद्यपि लौकिक में यह आवश्यक है। उदाहरण के लिए वैदिक मे 'अगमत्' और 'गमत्' दोनों मिलते है, किन्तु लौकिक केवल 'अगमत्'। (ज) लौकिक में निषेधार्थी 'मा' के साथ धातु मे भूतकरण नही जुड़ता, किन्तु वैदिक मे कभी-कभी जुड़ भी जाता है। (झ) आत्मनेपद में, लट् मे लौकिक मे केवल -ते है, किन्तु वैदिक में -ते, और -ए दोनों (शेते, शये=सोता है) मिलते है। (ञ) वैदिक में लिट् वर्तमान के अर्थ में था, किन्तु लौकिक में वह परोक्षभूत के लिए आता है।

कृत् प्रत्यय—इस दृष्टि से भी कई अन्तर हैं। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे : (क) वैदिक में पूर्णकालिक कृदन्त के कई प्रत्यय है, जैसे त्वा, त्वाय, त्वीन, त्वी, य, किन्तु लौकिक में त्वा और य केवल दो है। (ख) तुमुन् अर्थ में भी वैदिक में तुम्, से, असे, अध्यै, तवे आदि कई प्रत्यय है, किन्तु लौकिक में मात्र तुम् ही है।

समास—(१) समासों मे सबसे बड़ा अन्तर तो यह आया कि वैदिक मे बहुत बड़े-बड़े समास बनाने की प्रवृत्ति नहीं थी, क्योंकि उस भाषा में कृत्रिमता नहीं है, किन्तु संस्कृत में कृत्रिमता के विकास के कारण बड़े-बड़े समस्त पद भी बनने लगे। इसका कारण यह था कि, वह, उस रूप मे बोलचाल की भाषा नही थी, अपितु साहित्य की भाषा थी, जिसमें दैनिक भाषा की तुलना में प्रायः कृत्रिमता आ ही जाती है। साथ ही गद्यलेखन के विकास के कारण भी समास-प्रयोग की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। कविता में बहुत बड़े-बड़े समास प्रायः नही आ सकते।

(२) समास के नियमों में भी कुछ बाते ऐसी मिलती है, जिनका लौकिक संस्कृत में प्रायः कठोरता से पालन होता है, किन्तु वैदिक में नहीं। (क) उदाहरणार्थ लौकिक संस्कृत में पूर्वपद तथा उत्तरपद इकट्ठे आते है, किन्तु वैदिक में वे व्यवहित भी हो जाते हैं। जैसे वैदिक मे आता है : **द्यावा चिदस्मै पृथिवी** नमेते (इसके आगे द्यु और पृथ्वी दोनों झुकते है)। (ख) इसी प्रकार लौकिक में पूर्वपद के इण् प्रत्याहार से परवर्ती 'स्' का 'ष्' नही होता, किन्तु वैदिक मे हो जाता हैं। इसीलिए 'दुस्+तर' का लौकिक मे केवल 'दुस्तर' बनेगा, परन्तु वैदिक में 'दुस्तर' और 'दुष्टर' दोनों होंगे।

(३) वैदिक में केवल चार समासों—तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुब्रीहि, द्वन्द्व—का ही प्रयोग प्रायः मिलता है, किन्तु लौकिक में द्विगु और अव्ययीभाव भी प्रयुक्त होते है। **उपसर्ग**—मूल भारोपीय भाषा में उपसर्ग वाक्य मे कही भी आ सकता था, क्रिया के साथ आना उसके लिए आवश्यक नही था। वैदिक मे भी यह स्वच्छन्दता पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। जैसे 'यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् मिनीमसि द्यविद्यवि'। यहाँ 'प्र' उपसर्ग 'मिनीमसि' से सम्बन्धित है किन्तु इन दोनों के बीच तीन शब्द आए है। लौकिक संस्कृत मे उपसर्ग की यह स्वच्छन्दता नही मिलती।

शब्द—(१) अनेक वैदिक शब्द लौकिक मे आकर अप्रयुक्त हो गए जैसे चक्षस्, अत्क, ऊष, पेच। (२) अनेक नए शब्द बने [illegible] क्त होने लगे जो वैदिकी मे नहीं मिलते

मा य रूप वैदिक है, एव परवर्ती काल मे जिसका सुसस्कृत साहित्यिक रूप 'सस्कृत' है। अर्थात् वह वैदिक की भी जननी है, और उसी का कुछ परवर्ती रूप सस्कृत की जननी है। वाक्पतिराज ने गउडवहो' मे कहा है—

सयलाओ इम वाया विसति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्ध चिह णेंति सायराओ च्चिय जलाइ।

(जैसे जल सागर में प्रवेश करता है और सागर मे ही निकलता है, उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत मे ही प्रवेश करती हैं, और प्राकृत मे ही निकली हैं।)

(२) दूसरे लोग प्राकृत की उत्पत्ति और ढग मे करते हैं। कुछ मत यहाँ देखे जा सकते हैं (१) प्रकृति सस्कृत तत्र भव प्राकृतमुच्यते (प्रकृति या मूल सस्कृत है, उससे जन्मी भाषा को प्राकृत कहते है)—माकण्डेय। (२) प्रकृते, सस्कृतायास्तु विकृति प्राकृती मता (प्रकृत सस्कृत की विकृति प्राकृत है)—लक्ष्मीधर। (३) प्रकृति सस्कृतम्। तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम (प्रकृति या मूल सस्कृत है, और सस्कृत से जो आई है, प्राकृत है)—हेमचन्द्र। (४) प्रकृते सस्कृतात् आगत प्राकृतम् (प्रकृत सस्कृत से निकली प्राकृत है)—सिंहदेवमणि। (५) सस्कृत रूपाया प्रकृते उत्पन्नत्वात् प्राकृतम् (प्रकृत सस्कृत से उत्पन्न प्राकृत)—प्रेमचन्द्र तर्कवागीश। (६) प्राकृतस्य सवमेव सस्कृत योनि (प्राकृत की जननी सस्कृत है)—वासुदेव।

इनका आशय यह है कि प्राकृत सस्कृत से ही उत्पन्न है। यहाँ हम देखते हैं कि दोनो मत एक-दूसरे के विरोधी हैं। एक प्राकृत से सस्कृत का जन्म मानता है, तो दूसरा सस्कृत से प्राकृत का जन्म। वस्तुत, अपने-अपने स्थान पर ये दोनो ही मत ठीक हैं। यदि हम उस जनभाषा को प्राकृत कहते हैं, जिसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप सस्कृत है, दूसरे शब्दो जिससे सस्कृत उत्पन्न है, तो पहला मत ठीक है, अर्थात् प्राकृत सस्कृत की जननी है, किन्तु यदि हम सस्कृत-कालीन जनभाषा को भी सस्कृत ही कहे—जो मूलत वही था, केवल सस्कृत साहित्यिक भाषा थी और वह जनभाषा—तो दूसरा मत सही है, क्योंकि ५०० ई० पू० से १००० ई० तक बोली जाने वाली प्राकृत भाषा उसी का विकसित रूप है, अर्थात् उसी से निकली है। अब प्राय इसी भाषा को प्राकृत कहते हैं, अत इसे अर्थात् प्राकृत को हम सस्कृत से उत्पन्न मान सकते हैं। हाँ, यह बात ध्यान मे रखने की है, यह प्राकृत भाषा वैदिक या लौकिक सस्कृत से उद्भूत नही है, अपितु तत्कालीन जनभाषा से उद्भूत है या उसका विकसित रूप है।

इन १५०० वर्षों की प्राकृत भाषा को तीन कालो मे विभाजित किया गया है (१) प्रथम प्राकृत (५०० ई० पू० से १ ई० तक) (२) द्वितीय प्राकृत (१ ई० ५०० ई० तक) (३) तृतीय प्राकृत (५०० ई० से १००० ई० तक)

प्रथम प्राकृत—इसमे पालि तथा अभिलेखी प्राकृत आती हैं।

पालि—पालि बौद्ध धम (विशेषत दक्षिणी बौद्धो) की भाषा है। इसे 'मागधी' या 'देश भाषा' भी कहा गया है। मोटे रूप मे इसका काल ५वी सदी ई० पू० से पहली सदी तक है। यो कुछ लोगो ने इसका काल छठी सदी ई० पू० से दूसरी सदी ई० पू० तक भी माना है। कुछ इसका आरम्भ ३री सदी ई० पू० से भी मानते हैं। 'पालि नाम—'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानो मे बहुत मतभेद है। पालि शब्द के पुराने प्रयोग 'भाषा' के अथ म नही मिलते। इसका प्राचीनतम प्रयोग ४थी सदी में लका मे लिखित ग्रन्थ 'दीपवस मे हुआ है। वहाँ इसका अर्थ 'बुद्धवचन' है। बाद में प्रसिद्ध आचार्य बुद्धघोष ने भी इसका प्रयोग लगभग इसी अथ मे किया है। तब से काफी बाद तक 'पालि शब्द का प्रयोग पालि साहित्य म हुआ है, किन्तु कभी भी भाषा के अर्थ में नही। भाषा के अथ मे वहा मगध भाषा, मागधी,

मागधिक भाषा आदि का प्रयोग हुआ है। सिंहल के लोग इसे अब भी मागधी कहते है। भाषा के अर्थ में 'पालि' का प्रयोग अत्याधुनिक है और यूरोप के लोगों द्वारा हुआ है। शुरू में अशोक की शिलालेखी प्राकृतों के लिए भी इसका प्रयोग हुआ था, पर बाद में भ्रामक समझकर छोड़ दिया गया। पालि की व्युत्पत्ति प्रमुखतः दो प्रकार की है। एक तो वे है, जिनमें 'पालि' के प्राचीनतम प्राप्त अर्थ का ध्यान रखा गया है, और दूसरी वे है, जिनमें अन्य आधार लिए गये है। यहाँ सक्षेप में कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है। (१) श्री विधु शेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध सस्कृत 'पक्ति (>पन्ति>पन्नि> पट्ठि>पल्लि>पालि) से है। शुरू में बुद्ध की पंक्तियों के लिए इसका प्रयोग हुआ और बाद में उसी से विकसित होकर भाषा के अर्थ में। किन्तु 'पंक्ति' से 'पालि' हो जाना तत्कालीन ध्वनि-परिवर्तन के नियमों के अनुकूल नहीं है। (२) एक मत के अनुसार वैदिक और संस्कृत आदि की तुलना में यह 'पल्लि' या 'गाँव' की भाषा थी। 'पालि' शब्द 'पल्लि का ही विकास है, अर्थात् इसका अर्थ है 'गाँव की भाषा'। 'पल्लि' की 'पालि' बन तो सकता है, किन्तु यह प्रवृत्ति पालि काल के बहुत बाद मे मिलती है। (३) एक मत के अनुसार यह सबसे पुरानी प्राकृत है (भण्डारकार तथा वाकरनागल मानते है) इसीलिए शायद इसे 'प्राकृत' नाम दिया गया और 'पालि' शब्द 'प्राकृत' (>पाकट>पाअड>पाअल>पालि) का ही विकसित रूप है। यह विकास भी बहुत तर्क-सम्मत नही है। (४) कोसाम्बी नामक बौद्ध विद्वान् के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पाल्' अर्थात् 'रक्षा करना' से है, इसने बुद्ध के उपदेशो को सुरक्षित रक्खा है इसीलिए यह नाम पडा है। (५) 'पा पालेति रक्खतीति' रूप में भी कुछ लोगों ने 'पा' मे 'लि' (णिच्) प्रत्यय लगाकर इसकी व्युत्पत्ति दी है। 'अत्थान पाति रक्खतीति तस्मात् पालि' अर्थात् यह अर्थों की रक्षा करती है, अतः पालि है इस प्रकार की व्युत्पत्ति कुछ प्राचीनों ने भी दी है किन्तु यह भी कल्पना की दौड मात्र है। (६) एक अन्य मत से 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) से पालि का सम्बन्ध है। (७) भिक्षु सिद्धार्थ सं० 'पाठ' से (बुद्ध पाठ या बुद्ध-वचन) इसे (पाठ> पालि>पाळि, पालि मे सस्कृत 'ठ' का 'ळ' हो जाता है) निकला मानते है। (८) कुछ लोग 'पालि' को पंक्ति अर्थ का बोधक एक संस्कृत शब्द मानते है। इनके अनुसार यही शब्द पहले बुद्ध की पक्तियों के लिए फिर उनके उपदेशों के लिए और फिर पुस्तक के लिए और फिर उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। (९) राजवाड़े के अनुसार कुछ लोग पालि का सम्बन्ध संस्कृत प्रकट (पाअड>पाअल>पालि) से भी जोडने के पक्ष मे है। (१०) डॉ० मैक्सवेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि' (पाटलीपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है। किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, पालि वहाँ की भाषा नही थी। (११) सबसे प्रामाणिक व्युत्पत्ति भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा दी गई है। प्राय बहुत से भारतीय विद्वान इससे सहमत है। इनके अनुसार 'पालि' का सम्बन्ध 'परियाय' (स० पर्याय) से है। 'धम्म-परियाय' या 'परियाय' का प्रयोग प्राचीन बौद्ध साहित्य मे बुद्ध के उपदेश के लिए मिलता है। इसकी विकास-परम्परा परियाय>पलियाय>पालियाय>पालि है।

'पालि' भाषा का प्रदेश—यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है कि पालि मूलतः किस प्रदेश की भाषा थी। इस प्रश्न पर प्रायः दो दर्जन विद्वानो ने विचार किया है, जिनमें कुछ प्रमुख मत निम्नाकित है—(१) श्रीलङ्का के बौद्धों की यह धारणा है कि यह मगध की बोली थी। इसीलिए वे लोग 'पालि' को मागधी भी कहते है। पालि ग्रन्थों मे मूल 'भाषा' के लिए 'मागधी' शब्द का प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है : सा मागधी मूल भासा नरा मायादिकप्पिका। इसीलिए डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा चाइल्डर्स आदि कई अन्य विद्वान् इसे मगध की भाषा मानते है। किन्तु भाषा की विवेचना करने पर यह बात अशुद्ध ठहरती है। उदाहरणार्थ यदि ध्वनियों का विचार किया जाय तो मागधी में प्राचीन श, ष, स् तीनों के स्थानों पर 'श्'

ध्वनि मिलती है, जब कि पालि में 'स्'। इसी प्रकार मागधी मे 'र' के लिए भी 'ल' ही ध्वनि आती है, जबकि पालि मे र और ल् दोनो हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी इसका मागधी से साम्य नहीं है। उदाहरणार्थ पालि मे अकारात शब्दों (पुल्लिग, नपुसक) का कर्ता एकवचन मे ओकारात (धम्मो) होता है, किन्तु मागधी मे एकारात (धम्मे)। पालि मे -ए वाले रूप हैं, किन्तु बहुत कम। ऐसी स्थिति मे पालि को मगध की भाषा नही मान सकते। गाइगर, विंडिश इसे मागधी का ही एक रूप मानते हैं, यद्यपि इसे पूरे देश की भाषा होने के कारण इसमें अन्य बोलियों के तत्व भी स्वीकार करते हैं। (२) वेस्टरगार्ड, ई० कुहन, फ्रैंक तथा स्टैन कोनो पालि को उज्जयिनी या विंध्यप्रदेश की बोली पर आधारित मानते हैं। (३) ग्रियर्सन ने इसे मागधी माना था, यद्यपि इस पर पैशाची का भी प्रभाव स्वीकार किया था। (४) ओल्डनबर्ग ने खारवेल के खडगिरि (कलिग) शिलालेख से पाली की समानता देख, पालि को कलिंग की भाषा कहा था। (५) रीज़ डेविड्ज़ ने इसे कोसल की बोली कहा है। (६) ल्यूडर्ज, पालि को पुरानी अर्धमागधी से सबद्ध मानते थे। (७) उपर्युक्त मतों से एक बात स्पष्ट है कि पालि मे विभिन्न प्रदेशो की बोलियो के तत्व हैं, इसी कारण विभिन्न लोगो ने इसे विभिन्न स्थानो से सबद्ध किया है। वस्तुत अपने मूल मे पालि मध्यप्रदेश की भाषा है। ऊपर कथित स्, र्, ल्, -ओ का उसमे मिलना भी इसी का प्रमाण है। यो उस समय वह पूरे भारत मे एक अतर्प्रातीय भाषा जैसी थी, इसी कारण उसमे अनेक प्रादेशिक बोलियो विशेषत बुद्ध की अपनी भाषा होने से मागधी के भी कुछ तत्व मिल गए थे। इसप्रकार अपने मूल रूप में पालि को शौरसेनी प्राकृत का पूर्व रूप मान सकते हैं। पालि कदाचित दक्षिण-पश्चिम मे पनपी। अशोकी प्राकृत की दक्षिणी बोली से इसका कुछ साम्य है। इस प्रसग मे यह भी उल्लेख्य है कि पालि सस्कृत मे काफ़ी प्रभावित होती रही है।

पालि साहित्य का सम्बन्ध प्रमुखत भगवान् बुद्ध से है। इसमे उन्ही से सबद्ध काव्य, कथाओ या अन्य साहित्य विधाओ की रचना प्रमुखत हुई। यो कुछ उस विशेष सस्कृत या दर्शन से सबद्ध पुस्तकें भी लिखी गई हैं। इसी प्रकार कोश, छन्द-शास्त्र या व्याकरण की भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं। परम्परागत रूप से पालि साहित्य को पिटक और अनुपिटक दो वर्गों मे बाँटते हैं, जिनमे जातक (जिसे ग्रन्थ न कहकर ग्रन्थ-सग्रह कहना उचित है), धम्मपद मिलिन्दपञ्हो, बुद्धघोष की अट्ठकथा तथा महावश आदि प्रमुख है। पालि साहित्य का रचना काल ४८३ ई० पू० से लेकर आधुनिक काल तक लगभग ढाई हज़ार वर्षों मे फैला हुआ है, और इसने एशिया के एक अरब से ऊपर लोगो को प्रत्यक्षत या अप्रत्यक्षत कई दृष्टियो से प्रभावित किया है। पालि भाषा का प्रभाव भारत की भाषाओं के अतिरिक्त श्रीलङ्का, बरमा और स्याम की भाषा पर विशेष, तथा तिब्बत, चीन और जापान आदि की भाषाओ पर कुछ-कुछ पडा है।

ध्वनियाँ—पालि के प्रसिद्ध वैयाकरण कच्चायन के अनुसार पालि मे ४१ ध्वनियाँ थी—'अक्खरापादयो एकचत्तालीस'। दूसरे प्रसिद्ध वैयाकरण मोग्गलान के अनुसार ४३ ध्वनियाँ थी—'अआदयो तितालिस वण्णा'। किंतु वस्तुत पालि में कुल ४७ ध्वनियाँ हैं अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ऑ, ए, ओ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य्, य, र्, ळ्, ळ्ह्, व, व्, व,स्, ह्, निग्गहीत। (१) अर्थात् स्वरो मे ह्रस्व ऍ, ऑ इन दो का विकास हो गया था। ऐसा बलाघात के कारण हुआ। शब्द मे सयुक्त या द्वित्त व्यजन होने पर बलाघात उस पर चला जाता था, अत पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व हो जाता था स मैत्री>पा० मेत्ती, स० ओष्ठ>पा० ओट्ठ। (२) ऋ, ॠ, लृ पूर्णत समाप्त हो गई। ऋ का पालि मे प्राय अ (हृदय—हदय, कृषि—कसि), इ (ऋण—इण), अथवा उ (पृथिवी—पुथवी) हो गया। कभी-कभी इ (वृक्ष—रुक्ख) या र आदि अन्य ध्वनियाँ भी हो गई। लृ का उ (क्लृप्त-कुत्त) हो गया। (३) ऐ, औ

भी नहीं रहे। ऐ कहीं तो ए (ऐरावण-एरावण) हो गयी और कहीं एँ (मैत्री—मेँत्ती)। इसी प्रकार औ का ओ (गौतम-गोतम) अथवा ओँ हो गया है। इस तरह कुल स्वर १० थे। (४) व्यंजनों में, वैदिक की तरह ही, पालि में भी ळ, ळ्ह ध्वनियाँ थीं। यह उल्लेख्य है कि लौकिक संस्कृत के लिखित रूप में ये दोनों नहीं थीं। (५) विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय भी नहीं रहे। (६) वैदिक तथा संस्कृत में श्, ष्, स् तीन थे। पालि में तीनों के स्थान में स् हो गया। वैदिक शवशान (श्मशान)--पा० सुसान, शय्या—सेय्या, निषण्ण—निसिन्न, तृष्णा — तसिण, साधु—साहु। (७) अनुस्वार पालि में स्वतंत्र ध्वनि है, जिसे पालि वैयाकरणों ने **निग्गहीत** नाम से अभिहित किया है। तुलनात्मक दृष्टि से यह उल्लेख्य है कि वैदिक में कुल ध्वनियाँ ५५, लौकिक संस्कृत मे ५२, किन्तु पालि में ४७ थीं।

ध्वनि-प्रक्रिया की दृष्टि से पालि में निम्नांकित परिवर्तन उल्लेख्य हैं: (१) **घोषीकरण**—स्वर-मध्यग अघोष व्यंजन के घोष होने की कुछ प्रवृत्ति है: माकन्दिय>मागन्दिय, उताहो>उदाहु। प् ब् होकर नहीं रुकता अपितु व हो जाता है: कपित्थ>कवित्थ। ट्, ड् होकर ळ् हो जाता है: स्फटिक>फळिक। (२) **अघोषीकरण**--यह प्रवृत्ति अधिक नहीं है। इसका कारण सम्भवतः पैशाची प्रभाव है। मृदग>मुतिंग, परिघ>परिख, अगुरु>अकलु, कुसीद >कुसीत, छगल>छकल (३)। **महाप्राणीकरण**—सुकुमार>सुखुमाल, परशु>फरसु, कील>खील, पल>फल। (४) **अल्प-प्राणीकरण**—भगिनी>बहिणी। (५) **समीकरण**—यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है: चत्वर>चच्चर, निम्न>निन्न, सर्व>सब्ब, मार्ग>मग्ग, धर्म>धम्म, कर्म>कम्म, जीर्ण>जिण्ण। (५) स्वर मध्यग संस्कृत ड्, ढ् का ळ्, ळ्ह्: आपीड>आवेळ, मीढ>मीळ्ह। (६) र् ल् का आपसी परिवर्तन र>ल, परि>पलि, तरुण>तलुण, ल>र, किल>किर। र् का ल् पूर्वी प्रभाव है तो ल् का र् पश्चिमी। (७) महाप्राण के ह हो जाने की भी कुछ प्रवृत्ति है: भवति>होति, लघु>लहु, रुधिर>रुहिर। यह प्रवृत्ति घोष महाप्राणों में ही है।

मात्रा—पालि में विशेष **मात्रा-नियम** (law of Mora) मिलता है। कुछ थोड़े अपवादों को छोड़कर इस भाषा में अक्षर (syllable) एक या दो मात्राओं से अधिक का नहीं होता। इस बात को कुछ विस्तार से यों कह सकते हैं कि अक्षर या तो एक मात्रा का (ह्रस्व स्वरांत) होगा, या दो मात्रा का (दीर्घ स्वरांत, अथवा ह्रस्व स्वर-युक्त व्यंजनांत)। इस मात्रा-नियम ने पालि-ध्वनि-प्रक्रिया में एक विशेषता ला दी है। जहाँ भी संस्कृत शब्दों में संयुक्त व्यंजन या द्वित्त व्यंजन के पूर्व दीर्घ स्वर है, पालि में या तो (१) संयुक्त या द्वित्त (प्रायः द्वित्त) व्यंजन रहता (या हो जाता) है तथा उसके पूर्व का स्वर ह्रस्व (कार्य>कय्य, जीर्ण>जिण्ण, मार्ग>मग्ग) हो जाता है, या फिर (२) व्यंजन संयुक्त या द्वित्त न होकर एक या सामान्य हो जाता है और स्वर दीर्घ: दीर्घ>दीघ, लाक्षा>लाखा। ए, ऐ, ओ, औ के ह्रस्व रूप प्रायः एँ, ओँ मिलते हैं: श्लेष्मन्>सेँम्ह, मैत्री>मेँत्ती, ओष्ठ>ओँट्ठ।

स्वराघात--पालि मे स्वराघात की स्थिति विवादास्पद है। टर्नर के अनुसार पालि में वैदिकी की भाँति ही संगीतात्मक एवं बलात्मक दोनों स्वराघात था। ग्रियर्सन पालि में केवल बलात्मक स्वराघात मानते है। जूल ब्लाक को पालि मे किसी भी स्वराघात के होने के बारे मे संदेह है। कुछ लोग पालि में केवल संगीतात्मक स्वराघात मानते है। मेरे विचार में पालि में मुख्यत. बलात्मक स्वराघात ही था, यद्यपि संगीतात्मकता के भी कुछ अवशेष रहने की सम्भावना है।

व्याकरण—पालि भाषा, व्याकरणिक दृष्टि से वैदिक संस्कृत की भाँति ही स्वच्छंद एवं विविध रूपोंवाली.. है। किन्तु साथ ही वैदिक या संस्कृत की तुलना में उसमें पर्याप्त सरलीकरण भी हुआ है। यह सरलीकरण, उच्चारण में, समीकरण आदि के रूप में तो हुआ

ही है, साथ ही, सादृश्य के आधार पर विकास के कारण व्याकरण के क्षेत्र मे भी हुआ है। (१) व्यजनात प्रातिपदिक प्राय नही हैं। अत्य व्यजन-लोप के सामान्य नियम के कारण या तो अत्य व्यजन लुप्त हो गए हैं, (विद्युत् > विज्जु) या अत्य स्वरागम के कारण शब्द स्वरात (शरत्—शरद) हो गए हैं। (२) सादृश्य के कारण अनेक भिन्न-भिन्न स्वरात शब्दों के बहुत से रूप भी समान हो गए हैं। इस दिशा मे अकारात शब्दों ने अपने प्रयोग-बाहुल्य के कारण अयो को प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ इकारात (अग्गि), उकारात (भिक्खु) के सम्प्रदान एव सम्बन्ध के रूप अकारात के समान (अग्गिस्स, भिक्खुस्स) मिलते हैं। (३) लिंग तीन हैं। यो अपने बहुप्रयोग के कारण पुल्लिग ने नपुसकलिंग को प्रभावित किया है जैसे 'सुख' के लिए 'सुखो'। (४) द्वे, उभो जैसे दो-एक को छोडकर पालि मे द्विवचन नही है। (५) वैदिक की तरह रूपाधिक्य भी पालि में है। उदाहरणार्थ धर्म का स० मे सप्तमी मे एक० मे केवल 'धर्मे' होगा किन्तु पालि मे धम्मे के अतिरिक्त धम्मस्मि तथा धम्मम्हि भी। (६) पालि सर्वनाम प्राय पूर्ववर्ती सर्वनाम रूपों के ही ध्वनि नियमो के अनुकूल विकास हैं। इनमे एक ही अन्तर है, और वह मामूली नहो है कि वैदिक तथा लौकिक सस्कृत मे, सारे के सारे मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप य- से शुरू होते हैं, किन्तु पालि मे सारे के सारे त- से शुरू होते हैं। जैसे युष्मे—तुम्हे, युष्माकम्—तुम्हाक आदि। इस परिवर्तन पर मूल पुस्तक मे सर्वनाम के प्रसग मे विचार किया गया है। (७) क्रिया रूपो मे ३ पुरुष तथा २ वचन (द्वि नही है) है। पद केवल परस्मै है। आत्मने कुछ अपवादो को छोडकर नहीं है। धातुओ के दसो गण हैं, यद्यपि सस्कृत की तुलना मे कुछ मिश्रण हो गया है। एक ही धातु के कुछ रूप एक गण के समान हैं तो कुछ दूसरे के। इससे पता चलता है कि जन-मस्तिष्क मे गणो की सत्ता धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी। क्रिया रूपो के प्रत्यय प्राय पूर्ववर्ती ही हैं केवल उनमे ध्वन्यात्मक परिवर्तन आ गए हैं जैसे— -धि का -हि। क्रियार्थ चार (निश्चयार्थ (indicative) आज्ञार्थ (imperative), आदरार्थ आज्ञा (optative), तथा (subjunctive) सम्भावनार्थ) एव काल चार (लट्, लुङ्, लृट्, लङ्) हैं। पालि में लिट् (Perfect) नहीं है।

शब्द—इस दृष्टि से कोई विशेष उल्लेख्य बात नही हैं। तद्भव शब्द अधिक हैं। तत्सम उससे बहुत कम। पीछे सस्कृत मे जिन द्रविण, आस्ट्रिक आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है, उनमे अनेक इसमें भी हैं। परवर्ती साहित्य मे कुछ विदेशी शब्द भी हैं।

पालि मे विभिन्न तत्त्व—पालि मे अनेक व्याकरणिक एव ध्वन्यात्मक तत्व मिलते हैं। (१) इसमे ळ, ळ्ह, कुछ सगीतात्मक स्वराघात, नाम तथा क्रिया रूपो की विविधता (उदाहरणार्थ वैदिक मे प्रथमा बहु० के देवा', देवास दो रूप थे। स० मे केवल 'देवा' है किन्तु पालि मे देवा, देवासे दोनो हैं, भवामि और विकसित रूप 'होमि, पालि मे दोनो हैं), अनेक वैदिक रूपो के समान रूप (नपु० प्रथमा बहु० रूपा (रूपानि भी है, जो नियमित है) जो वैदिक युग से प्रभावित है), एव लेट् (subjunctive सम्भावनार्थ) आदि का होना इसे वैदिक के समीप सिद्ध करता है। (२) अनेक शब्दों मे र् के स्थान पर ल् का हो जाना मागधी जैसा है एरड>एलद। (३) कुछ मे र—ल दोनो है (तरुण>तरुण, तलुण, त्रयोदश>तेरस, तेलस), श एव ष का स्-हो गया है (शिशु>सिसु, घोष>घोस), तथा अकारात पु० एव नपु० लिंग के शब्दो का प्रथमा एक० ओकारात (धम्मो) है। ये बातें पालि को मध्यदेशीय प्राकृत या शौरसेनी के निकट ले जाती हैं। (४) परिघ>पलिख, कुसीद> कुसीत, अगुरु>अकलु जैसे उदाहरणो मे अघोषीकरण की प्रवृत्ति इसमे पैशाची प्राकृत की प्रवृत्तियो को स्पष्ट करती है। इस तरह पालि मे अनेक प्रवृत्तियो एव तत्वो का मिश्रण है।

बोलियाँ एव भाषा रूप—पालि काल में आर्य-भाषी भारत मे वे ही चार बोलियाँ

थीं, जिनका उल्लेख लौकिक संस्कृत के प्रसंग में किया जा चुका है: पश्चिमोत्तरी, दक्षिणी, मध्यवर्ती तथा पूर्वी। हाँ संस्कृत काल की तुलना में उनके अन्तर कुछ और उभर आये थे।

इसी प्रसंग में पालि भाषा में विकास का भी उल्लेख किया जा सकता है। पालि साहित्य देखने से पता चलता है कि आद्यंत पालि का एक रूप नही रहा है। उसकी कम से कम चार सीढ़ियों का अनुमान लगता है। भाषा की पहली सीढ़ी त्रिपिटक (सुत्त, विनय, अभिधम्म) की गाथाओ मे मिलती है। यह पालि का प्राचीनतम रूप है। इसमें रूपों का बाहुल्य है। यह भाषा वैदिक सस्कृत के बहुत निकट है। भाषा का इससे कुछ विकसित रूप त्रिपिटक के गद्य भाग मे मिलता है। यहाँ रूप कम हैं और भाषा में अपेक्षाकृत एकरूपता है। इसमे कुछ ऐसे नये रूप भी मिलते है, जो प्रथम मे नही है, साथ ही प्रथम के कई पुराने रूपों को इसमें स्थान नही मिला है। पालि के विकास की तीसरी सीढ़ी और बाद के गद्य जैसे 'मिलिन्दपञ्ह' या बुद्धघोष की 'अट्ठकथा' आदि मे मिलती है। चौथी सीढ़ी उत्तरकालीन काव्य-ग्रन्थों—जैसे दीपवंस, महावंस आदि—की भाषा मे मिलती है। इस रूप पर सस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है, साथ ही इस भाषा में जीवन के लक्षण नही है। एक कृत्रिमता-सी है, जो यह स्पष्ट कर देती है कि पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर इसका भवन खड़ा है।

अभिलेखी (Inscriptional) प्राकृत

प्रथम प्राकृत के अन्तर्गत पालि के अतिरिक्त **अभिलेखी प्राकृत** भी आती है। इसके अधिकांश लेख शिला पर है, अतः इसकी एक संज्ञा **शिलालेख प्राकृत** भी है। इसकी सामग्री है—(१) अशोकी अभिलेख, (२) अशोकेतर अभिलेख।

अशोकी अभिलेख

प्रसिद्ध भारतीय सम्राट् अशोक ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे, जनता के लिए, तत्कालीन बोलचाल की भाषा मे, अपनी धार्मिक एवं शासनिक आज्ञाएँ एवं सूचनाएँ आदि अंकित कराई थीं। इन्ही अभिलेखों की भाषा को **अशोकी प्राकृत** या **शिलालेखी प्राकृत** कहते है। इनमे कुछ अभिलेख **लाटो** पर है, इसी कारण इसे **लाटबोली** या **लाट प्राकृत** भी कहा गया है। कुछ अभिलेख गुफाओं मे है, इसी आधार पर पिशेल ने इसे **लेण प्राकृत** (सं० लयन (=गुफा)>लेण) या **लेण बोली** कहा है।

ये अभिलेख तीन प्रकार के है। कुछ तो चट्टानों पर है, कुछ लाटों या स्तम्भों पर, और कुछ गुफा-दीवारों पर। शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के लेख खरोष्ठी लिपि में है और शेष ब्राह्मी में। इन्हें निम्नांकित ८ वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है: (१) **लघु शिलालेख**—२५८-२५२ ई० पू० के माने जाते है। ये मैसूर राज्य के सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि; जबलपुर जिले के रूपनाथ, शाहाबाद जिले के सहसराम तथा निज़ाम-राज्य के मास्की, ईडागुडी मे पाये गए है। इनका सम्बन्ध अशोक के वैयक्तिक जीवन एवं धर्मनिष्ठा से है। (२) **भब्रू शिलालेख**—यह २५७ ई० पू० का है और जयपुर राज्य में वैराट पर्वत की एक चोटी पर है। यह बौद्ध धर्म-विषयक है। (३) **चतुर्दश वृहद् शिलालेख**—इनका काल २५६ ई० पू० के आस-पास है। ये शाहबाज़गढ़ी (पेशावर के पास), मनसेहरा (ऐबटाबाद के पास), सोपारा (थाना), कालसी (देहरादून), धौली (पुरी), जौगढ़ (गंजाम), गिरनार (जूनागढ़ के पास), तथा इडागुडी (निज़ाम राज्य) आदि में मिले है। इनका विषय प्रमुखतः नैतिक नियम है। (४) **कलिंग शिलालेख**—समय २५६ ई० पू०। ये भी धौली और जौगढ़ में हैं इनका विषय कलिंग का शासन है। (५) **बराबर गुफा अभिलेख**—समय २५७-२५० ई० पू० के बीच। गया के समीप बराबर नामक पहाड़ी में ये गुफालेख हैं। इनमें धर्म-विषयक

बातें हैं। (६) नेपाल तराई के स्तम्भ-लेख—ये निगलीवा तथा रुम्मिनदेई मे मिले हैं। अशोक की तीर्थयात्रा इनका विषय है। काल है २४९ ई० पू०। (७) सप्त स्तम्भ लेख—ये २४३ ई० पू० के लगभग के हैं। इनका विषय है अहिंसा आदि धर्मनीति। ये टोपरा (दिल्ली), मेरठ, कौशाबी (इलाहाबाद), बलोरिया (नन्दनगढ) आदि में मिले हैं। (८) लघु-स्तम्भ-लेख—ये साँची, सारनाथ, प्रयाग मे मिले हैं। इनमे अधार्मिक प्रवृत्तियो का विरोध है।

इन शिलालेखो का इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्व है ही, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी कम महत्त्व नही है। इनसे इस बात का पता चल जाता है कि ३ री सदी मे ई० पू० के मध्य के आसपास प्राकृत भाषा का विभिन्न क्षेत्रो मे क्या रूप था। एक ही लेख के विभिन्न स्थानो मे प्राप्त रूपान्तरो से तत्कालीन प्राकृत के स्थानीय रूपो का तुलनात्मक अध्ययन करने मे बडी सहायता मिलती है।

इन लेखो का तुलनात्मक अध्ययन कई विद्वानो ने किया है, किन्तु परिणाम के सबध मे फ्रैंक, सेनार्ट, गुणे आदि विद्वानो मे मतभेद है। कुछ के अनुसार इनसे तत्कालीन प्राकृत की दो, कुछ के अनुसार तीन, कुछ के अनुसार चार, और कुछ के अनुसार पाँच बोलियो का पता चलता है। पीछे सस्कृत काल मे ४ बोलियो का सकेत किया जा चुका है, ऐसी स्थिति मे इस काल मे ५ बोलियो का अपने प्रारम्भिक रूप मे विकसित हो जाना असम्भव नही है। यो इनमे कम-से-कम ४ बोलियो के रूप तो हैं ही पश्चिमोत्तरी, दक्षिणी-पश्चिमी, मध्यपूर्वी, पूर्वी।

अशोकेतर अभिलेख

ये ई० पू० की अन्तिम तीन सदियो के छोटे और खडित अभिलेख हैं। इनमें कुछ शिला पर हैं, कुछ स्तम्भ पर तथा कुछ ताम्रपत्र आदि पर। इनमे पश्चिमोत्तरी भारत का शिकोट अभिलेख, ग्वालियर का बसनगर स्तम्भ-लेख, मध्य भारत का जोगीमारा गुफालेख, बिहार का सोहगौरा ताम्रलेख तथा उडीसा के हाथीगुम्फा गुफालेख आदि है। प्रथम की लिपि खरोष्ठी है, शेष की ब्राह्मी। इनम भी कुछ अपवादो को छोडकर भाषा के प्राय वे ही रूप मिलते हैं, जो कि अशोकी अभिलेखो मे। उपर्युक्त अभिलेखो मे बेसनगर का अभिलेख हिलिओदोरस नामक यूनानी दूत का है, तथा हाथीगुम्फा वाला जैनधर्मावलम्बी कलिंगराज खारवेल का। इन दोनो की भाषा कुछ कुछ पालि के समीप है, तथा सस्कृत से प्रभावित है। इनका काल दूसरी सदी ई० पू० है। इन दोनो मे इस बात का सकेत मिलता है कि बौद्ध-जैन धर्म ने लोकभाषा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था, किन्तु इस समय तक आते-आते फिर सस्कृत का महत्त्व बढने लगा था।

इस प्रसग मे श्रीलका में प्राप्त कुछ अभिलेखो (समय पहली सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० तक)का उल्लेख भी किया जा सकता है। इनमे प्राय आगे वर्णित मध्यपूर्वी बोली की ही विशेषताएँ मिलती हैं। आगे तत्कालीन प्राकृत के चारो रूपो का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

पश्चिमोत्तरी—इसमे प्रमुखत शाहबाजगढी और मनसेहरा के अभिलेख आते हैं। यह उल्लेख्य है कि ये लेख खरोष्ठी लिपि मे है। स्वरदीर्घता और व्यजन-द्वित्त इनमें अकित नही है। अन्य सभी बोलियो के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि शाहबाजगढी वाला अभिलेख पश्चिमोत्तरी बोली का ठीक प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु मनसेहरा वाले पर मध्यपूर्वी एव पूर्वी बोली का प्रभाव है। उदाहरणार्थ प्रथमा एकवचन मे शाहबाजगढी मे—ओ है किन्तु मनसेहरा मे—ए। प्राकृतो मे होने वाले सामान्य सभी परिवर्तन इसमे प्राय मिलते है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं (१) ऋ>रु (मृग>म्रुग) या रि (मृग>म्रिग) या र

(वृद्धि>वधि)। (२) र का ल इसमें नहीं हुआ है : स्वर्ग>स्पग्र, भ्रातृ>भ्रत, व्रज>व्रच, सर्व>सव्र। (३) श्, ष्, स्, तीनो ही ध्वनियाँ है : प्रियदर्शी>प्रियद्रशि; वृद्धेषु>वुध्रेषु, औषध>ओषुढ; स्वर्ग>स्पग्र। यों श् का स् (द्वादश>दुवडस) या ष् का स् (हापयिष्यति>ह्रापेसदि) भी मिलता है : (४) ण् ध्वनि है : प्रायुण, आणप। (५) ञ् ध्वनि भी है : मञिषु, मञतु, राञा, वञन। (६) अघोषीकरण की पैशाची प्रवृत्ति शाहबाजगढी में कुछ है : प्रथम् >पढम्, व्रज>व्रच।

व्यंजनात प्रातिपदिक प्रायः नही है। अकरांत पुल्लिग एकवचन मे- ओ (जनो) है। मनसेहरा में -ए है, जो पूर्वी प्रभाव है। सप्तमी विभक्ति -स्प- है, जब कि दक्षिणी पश्चिमी में -म्ह- है। ये दोनों -स्म- के विकास है। द्विवचन नहो है। सरलीकरण की प्रवृत्ति है। आत्मनेपद लुप्तप्राय हो गया है। प्रायः रूप ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के साथ सुरक्षित है। सस्कृत के १० गण प्रायः-अ या-अय गण तक सीमित हो गए है।

दक्षिणा-पश्चिमी

शिलालेखी प्राकृत की इस वोली का स्वरूप प्रमुखतः गिरनार (गुजरात) के अभिलेख में है। यह भाषा अपेक्षाकृत अधिक पुरानी है। इसके सम्बन्ध में निम्नाकित बाते उल्लेख्य हैं : (१) ऋ का प्रायः अ होता है . वृद्धि>वढि, मृत>मत। किन्तु यदि ऋ के पूर्व व् हो तो ऋ का उ हो जाता है। वृत्त>वुत। (२) 'र्' इसमे ल् नही होता। राजा>राञा, हिरण्य >हिरनिय। (३) ऊष्मो मे केवल स् है। श्, ष् भी स् हो गए है : दश>दस, यशः>यसोः, औषध>ओसुढ, शुश्रूषा>सुसुंसा। (४) ण ध्वनि है : ब्राह्मण>ब्राम्हण, कल्याण>कलाण। (५) ञ् ध्वनि है : राजा>राञा, अन्य>अञ। (६) अनादि घोष महाप्राण प्रायः ह हो जाता है : लघु>लहु, -भिः (करण बहु०)> -हि।

व्यंजनात प्रातिपदिक प्रायः नही है। प्रथमा एकवचन -ओ (जनो) अंत्य है। सप्तमी में -स्म- का -म्ह- हो गया है। कारक-रूपों मे सरलीकरण की प्रवृत्ति है, किन्तु क्रिया-रूप मे यह बात नहीं है, सरलीकरण कम है। आत्मनेपद है।

मध्यपूर्वी

इस बोली मे देहरादून के पास का कालसी शिलालेख, टोपरा (दिल्ली) का स्तम्भ-लेख तथा कुछ अपवादो को छोड़कर जोगीमारा एवं नागार्जुनी गुफा-लेख आदि आते है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नाकित है : (१) ऋ का इ हो जाता है : कृत्य>गिच्य। (२) र् का या तो लोप हो गया है या ल् : राजा>लाजा, चत्वारि>चतालि, करोति>कलेति। (३) ऊष्मों में प्रायः स् ही है। जोगीमारा मे अवश्य श् तथा नागार्जुनी मे ष् है। कौशिक> कोसिक्य, प्रियदर्शी>पियदसि। (४) ण् नही है : प्रियेण>पियेना (५) ञ् भी नही है। (६) अंत्य -अ का -आ हो जाने की प्रवृत्ति है जो अत्य बलाघात के कारण है : प्रियेण>पियेना, आह>आहा। (७) मध्य -ओ- के -ए- हो जाने की प्रवृत्ति है, जिससे पता चलता है कि उधर बलाघात के साथ-साथ स्वराघात भी था।

स्वार्थे प्रत्यय -का का प्रयोग बहुत हुआ है, और यह प्रायः तालव्यकृत होकर -क्य हो गया है। प्रथमा एकवचन -अः का -ए हो गया है : प्रियः>पिये। शाहबाजगढी आदि मे यह ओ (प्रियो) है।

पूर्वी

इसमे उड़ीसा के धौली, जौगढ़ शिलालेख, सोहगौरा ताम्रलेख हाथीगुंफा के लेख आदि आते है। यह मध्यपूर्वी के काफ़ी समान है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ है : (१) ऋ

का इ हो गया है मृग > मिग। (२) र् का सर्वत्र ल् हो गया है राजा > लाजा, मयूर > मजुला। (३) ऊष्मों मे केवल स् है। श्, ष् भी स् हो गए है प्रियदर्शी > पियदसि, शुश्रूषा > सुसूसा। (४) ण् नही है। उसके स्थान पर न् है प्रियण > पियेन। (५) ञ् भी नहीं है।

प्रथमा एक० मे -अ का -ए हो गया है जने। उत्तम पुरुष सर्वनाम के रूप, औरो की तुलना मे अधिक है। आत्मनेपद है।

अभिलेखी प्राकृत (१ ई० तक की), वस्तुत कुछ अपवादो को छोडकर, पालि एव परवर्ती प्राकृत के बीच मे आती है। परवर्ती प्राकृत मे आनेवाले विकारो के बीज यहा है। पूर्ववर्ती भाषा की तुलना मे सरलीकरण प्राय सभी क्षेत्रो म दिखाई देता है। प्रातिपदिक प्राय स्वरात है। द्विवचन नही है। लिंग तीन है। आत्मनेपद कुछ क्षेत्रीय अपवादो को छोडकर समाप्तप्राय है। जहाँ तक म समझता हूँ सगीतात्मक एव बलात्मक दोनो ही स्वराघात हैं। कुछ यूनानी एव ईरानी शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ शाहबाजगढी शिलालेख मे निपिस्त, निपसिन, निपेसपिता (लिखित, लेखिता, लिखापिता के स्थान पर) आते है, जो पुरानी फारसी धातु निपिश् (= लिखना) मे बने है। अशोक के कई शिलालेखो मे 'लिपि' शब्द 'जो लिखा गया हो' या 'अभिलेख' आदि के अर्थ म आया है। भारतीय वैयाकरणो ने इस शब्द को 'लिप्' धातु (= लीपना) से सबद्ध माना है। इस सम्बन्ध मे तर्क यह दिया जाता है कि पहले, भारत मे, ताडपत्र या भोजपत्र पर लोहे आदि की नोकीली कलम से लिखते थे, फिर उस पर काला रग या स्याही लीप या पोत देते थे और रग अक्षर के गड्ढो मे भर जाता था। इस प्रकार लिखा जाता था। किन्तु मेरे विचार मे यह 'लिपि' शब्द लिप् धातु से सबद्ध न होकर उपर्युक्त 'निपिश' से ही सबद्ध है।

अश्वघोष के नाटको की प्राकृत

अश्वघोष का रचना-काल १०० ई० के आस पास माना जाता है। उनके दो सस्कृत नाटको की खडित प्रतियाँ मध्य एशिया मे मिली है, जिन्हे जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने सपादित किया है[1]। इन नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत मे स्पष्टत तीन प्राकृत बोलिया है

(१) प्राचीन मागधी या पूर्वी प्राकृत—'दुष्ट' द्वारा इस बोली का प्रयोग हुआ है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ है (क) मध्यग-ओ-के स्थान पर-ए- का (करोमि > कलेमि) प्रयोग। (ख) प्राचीन र् का ल् (करोमि > कलेमि) हो जाना। (ग) ऊष्मा मे केवल श् का प्रयोग। स् और ष् भी श हो गए है कस्य > किश्श। (घ) ण् का न् (कारणात् > कालना)। (ङ) व्याकरण मे प्रथमा एक० मे -अ का -ए (वृत्त > वत्ते) हो गया है। (च) क युक्त उत्तम पुरुष सर्वनाम अह > अहक। (छ) षष्ठी एक० मे स्य का -हो (मर्कटस्य > मक्कटहो)।

(२) प्राचीन शौरसेनी या पश्चिमी प्राकृत—विदूषक एव गणिका न इसका प्रयोग किया है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ ये ह (क) ऋ का इ अकृतज्ञ > अकितञ्ञ, हृदय > हिदय, (ख) म् का व् (स० त्वम > तुवव, तुलनीय पुरानी फारसी तुवम्) तथा न् का म् (भवान > भवाम्) आदि कुछ विकास असामान्य है। (ग) सयुक्त व्यजनो म ज्ञ् एव न्य् का ञ्ञ (अकृतज्ञ > अकितञ्ञ, हन्यन्तु > हञ्ञन्तु), क्ष् का क्ख् (साक्षी > सक्खी) तथा व्य् का व्व (धारयितव्य > धारयितव्वो) उल्लेख्य है। (घ) अकारात प्रथमा एकवचन का -अ -ओ (आदर्श > आदसो, दुष्कर > दुक्करो) हो गया है। कुछ बाते पालि के समान है।

---

[1] Bruchstuecke Buddhistischer Dramen, बर्लिन, १९११।

(३) **प्राचीन अर्धमागधी मध्यपूर्वी**—गोभम् द्वारा प्रयुक्त बोली। (क) इसमें श् नहीं है। (ख) र् का ल् हो गया है : करोति>कलेति, भर्तृदारिके>भट्टिदालके। (ग) -ओ-का -ए- हो गया है : करोति>कलेति। (घ) अकारांत प्रथमा एक० में -अः का -ओ हो गया है। (ङ) स्वार्थे प्रत्यय-क,-अक,-आक,-इक(पाण्डर->पाण्डलाक) बहुत प्रयुक्त हुए हैं।

अश्वघोष की ये प्राकृतें अभिलेखी प्राकृत या अशोकी प्राकृत से भिन्न है। साहित्यिक प्रकृति होने के कारण संस्कृत का प्रभाव इन पर स्वाभाविक है।

धम्मपद की प्राकृत

१८९२ में फ्रांसीसी पर्यटक दुत्रुइलदराँ को खोतान मे खरोष्ठी लिपि में कुछ लेख मिले। ओल्डेनवर्ग, सेनार्ट तथा कुछ भारतीय एवं अन्य अभारतीय विद्वानों के प्रयास के वाद में इन लेखों का उद्धार हुआ और यह प्राकृत में लिखा गया 'धम्मपद' निकला। खरोष्ठी लिपि में होने के कारण इसे 'खरोष्ठी धम्मपद' भी कहते है। इसकी रचना २०० ई० के लगभग की मानी गई है। इसकी भाषा भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की है। यह निय प्राकृत की तुलना में पुरानी है, साथ ही सस्कृत से प्रभावित भी है। 'धम्मपद की प्राकृत' तथा 'निय प्राकृत' खरोष्ठी लिपि में हैं, अतः इन दोनों में दीर्घ स्वर एवं द्वित्त व्यंजन लिखे नहीं गए है। ऐसी स्थिति मे यह कहना कठिन है कि ये हैं या नहीं। धम्मपद की प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ ये है : (१) ऋ का अ, उ, रू रि : स्मृति>स्वति, मृतः>मुतु, वृद्ध>व्रिध। (२) अंत्य-ए का-इ : सर्वे>सर्वि। (३) ह्, प्र, ब्र् के वाद का उ प्रायः ओ : बहु>वहो। (४) अंत्य-य,-इय् का इ : समादाय>समदि। (५) कभी-कभी अघोषीकरण : योगक्षेमः>योकक्षेमस्, विराग>विराकु, समागतः>समकत। (६) स्, श्, ष् तीनो हैं : (क्षेमः>क्षेमस्, समादाय>समदि, शोचति<शोयति। (७) स्वरमध्यग ज्, च् का य : शोचति>शोयति। (८) अकारांत प्रथमा एक० के अः का ओ या उ : पंडितः>पनितो, पनितु।

निय प्राकृत

ऑरेल स्टेन को १९०० से १९१४ के बीच चीनी तुर्किस्तान के 'निय' नामक प्रदेश में तथा आसपास कई लेख मिले, जो खरोष्ठी लिपि में थे। १९३७ में टी-बरो ने इनकी भाषा का अध्ययन करके इन्हें प्राकृत में लिखा बताया। इसकी सामग्री प्रमुखतः 'निय' प्रदेश में मिलने के कारण इन लेखों की भाषा का नाम 'निय प्राकृत' पड़ा है। यह शान-शान साम्राज्य की राजभाषा थी। प्राकृत धम्मपद की भाँति ही निय प्राकृत का आधार भी भारत के पश्चिमोत्तरी प्रदेश की प्राकृत है। यह तीसरी सदी की भाषा है। अशोक परवर्ती पश्चिमोत्तरी खरोष्ठी शिलालेखों की भाषा से इससे बहुत समानताएँ हैं। प्राकृत धम्मपद से भी समानताएँ है. किन्तु अपेक्षाकृत कम। आधुनिक दरद भाषाओं (विशेषतः तोरवारी) के भी यह पर्याप्त निकट है। निय प्राकृत पर शब्दों एव अन्य क्षेत्रों में ईरानी, मंगोलियन तथा क्रोरैनी प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक ईरानी शब्दों का सम्बन्ध है लगभग ५० है। कुछ शब्द हैं : अनद (=सावधानी से), गंज (खजाना), दिविर (क्लर्क), स्तोर (शुतुर), नमतए (नमदा) आदि। इनमें अनेक शब्द ऐसे भी है, जो इस भाषा के वाहर जाने के पहले पश्चिमोत्तरी प्राकृतों मे आ चुके थे। क्रोरैनी (Krorainic) वहाँ की स्थानीय भाषा थी। यह कदाचित तोखारी से संबद्ध थी। इससे निय प्राकृत में एक हज़ार से ऊपर नाम तथा 'ओगन' (एक प्रकार की नाप) आदि लगभग १०० शब्द आए हैं। प्रमुख विशेषताएँ ये है : (१) कुछ शब्दों में

ए का इ (तेपु>तिपु, क्षेत्र > छित्र) हो जाता है, यद्यपि प्राय. ए सुरक्षित है। (२) ऋ का नियमत रि हो जाता है अतृप्त>अत्रिप्त, कृत>त्रित। यो अ, इ.उ, रु भी मिलते हैं। कृत>किड, मृति>हुडि आदि। (३) ह्, म्, श्, के बाद का उ प्राय ओ हो जाता है (बहु> बहो) ऐसा विशेपज्ञो ने कहा है। किन्तु, वस्तुत जहाँ ऐसा हुआ है ओ और उ के चिह्नो के बीच इतना कम अन्तर है कि सनिश्चय कहना कठिन है। यही बात धम्मपद की प्राकृत के बारे मे भी है। (४) अत्य -य,-इय का -इ हो जाता है मूल्य>मुलि, ऐश्वर्य>एश्वरि। (५) शान-शान प्रदेश की स्थानीय बोली शोरैनी में घोप स्पश नही थे। इसी कारण कुछ जगह घोप का अघोप मिलता है। लिपि मे भी इस दृष्टि से कुछ दोप है, अत यह कहना कठिन है कि जहाँ ऐसा हुआ है, सचमुच हुआ है या लिपि-दोप के कारण वर्तनी मे गडबडी है योगक्षेम <यकछेम, वलि <पलिप। श्, ष, स्, तीनों हैं तेपु>तिपु, ऐश्वर्य>एश्वरि, शर्करा>शकर, दत्तोसि>दितेसि। यद्यपि स् की प्रवृत्ति अधिक है। स् का ज़्, तथा श् का ज भी हो गया है दिवस>दिवज, अवकाश>अवगज। (७) अघोप स्पश, एव सघर्षी व्यजनो के स्वरमध्यग होने पर घोप होने की प्रवृत्ति भी है अवकाश>अवगज, यथा>यध। (८) व् का कभी-कभी म् भी हो जाता है एवम्>एम, भावना>भमन। (९) अकारात प्रथम एकवचन मे -अ का -ओ अथवा -उ अथवा -अ अथवा -ए हो जाता है, मनुष्य > मनुष। सर्वनाम में भी यह प्रवृत्ति है तत >तदो, स>से। (१०) सज्ञारूप साहित्यिक प्राकृतो की तुलना मे कम हो गए हैं। कर्ता, कर्म प्राय समान हो गए हैं। करण मे भी कभी-कभी कर्ता प्रयुक्त हुआ है। (११) नपुसर्कलिग नही है। (१२) द्विवचन के रूप दो (पदेम्यम् पदेयो) ही हैं, जो प्राचीन भाषा के प्रभाव हैं। (१३) क्रिया प्रत्यय प्राकृत जैसे ही हैं। मध्यम पुरुष एक० मे -सि के साथ-साथ -तु भी है, जो तीनो कालो मे आता है अरोगेतु तुम आरोग्य हो, उकस्तेतु=चला गया, लभिशतु=पाओगे।

मिश्रित बौद्ध सस्कृत

ऊपर पालि के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है कि यह दक्षिणी एव दक्षिणी-पश्चिमी हीनयानी बौद्धो के ग्रन्थो मे अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त हुई। उसी प्रकार उत्तरी भारत के महायानी बौद्धों के धम-ग्रन्थों मे प्राय या तो शुद्ध सस्कृत प्रयुक्त हुई या एक विशेष प्रकार की संस्कृत भाषा, जिसमे सस्कृत एव प्राकृत दोनो का मिश्रण है। यहाँ तक कि प्रातिपदिक तो सस्कृत का है और विभक्ति प्राकृत की पुष्पेहि। इसे बौद्ध सस्कृत या मिश्र सस्कृत भी कहा गया है। प्रसिद्ध विद्वान् एजर्टन ने इस भाषा पर विशेष रूप से कार्य किया है, तथा इसका कोश भी बनाया है।

मिश्रित बौद्ध सस्कृत मे मिश्रण ऐसा है कि भाषा की एकरूपता इसके साहित्य मे प्राय नही है। हर ग्रन्थ की भाषा का स्वरूप अपने मे अलग है। यही नही, ललित-विस्तर या महावस्तु जैसे कई ग्रंथो मे गद्य की मिश्रित सस्कृत, उसी में प्रयुक्त पद्य की मिश्रित सस्कृत से प्राय भिन्न है। इस भाषा मे लिखे गए ग्रन्थो के पद्य भाग को गाथा कहते ह, इसी आधार पर मैक्समूलर वेबर तथा बर्नफ़ आदि ने इसे गाथा सस्कृत कहा है। इस भाषा को लेकर थोडा विवाद भी रहा है। वर्नफ इसे स्वाभाविक भाषा मानते हुए, सस्कृत एव पालि के बीच की कड़ी मानते हैं, किन्तु आधेशास्त्र की कसौटी पर उनका यह मत खरा नही उतरता। यह पालि के बाद की पहली सदी के आसपास की है, और कृत्रिम भाषा है। कीथ, कीलहार्न आदि का कहना है कि जिन ग्रन्थो की यह भाषा है, वे मूलत किसी प्राकृत मे थे। ये ग्रन्थ इनके सस्कृत अनुवाद है। मिश्रण का कारण यह है कि अनुवाद करने मे मूल के कुछ रूपादि अननूदित रह गए हैं किन्तु ऐसे मत के लिए कोई ठोस आधार नही है।

पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि यह भाषा मूलतः प्राकृत है, और उस पर संस्कृत का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। इस भाषा को कई प्राकृतों, अर्धमागधी, पालि आदि से जोड़ने का असफल प्रयास किया गया है। इसकी कुछ बातें एक प्राकृत से मिलती हैं, तो कुछ दूसरी से, और कुछ अन्य किसी से भी नहीं। उदाहरणार्थ पश्चिमोत्तरी प्राकृत की अत्य -अस्, -अम् की -अ या -उ हो जाने की प्रवृत्ति एक ओर इसमें है, तो दूसरी ओर सम्बोधन का -अहो मागधी जैसा है, और तीसरी ओर लोकेस्मिं जैसे रूप हैं, जो कहीं नहीं है, और कदाचित् 'लोके' एवं 'लोकस्मिं' जैसे रूपों के मिश्रण है। यदि संस्कृत को मूल मानकर इसकी प्रमुख विशेषताओं पर विचार करें तो हम देखते है कि अनेक विरोधी बातें मिलती है, जैसे अ का आ (चरण>चारण) तथा आ का अ (तथा>तथ)। अ का उ (वर्तति>वुट्टति) भी हो जाता है। ऐ का ए (ऐति>एति), ए का ऐ (वेणु>वैणु) या दोनों के स्थान पर इ (एन>इना आदि) भी उल्लेख्य है। ओ-औ-उ के सम्बन्ध में भी प्रायः यही प्रवृत्ति है: औरस>ओरस, अहो>अहु आदि। व्यंजनों मे घोषीकरण (शठ>शढ), अघोषीकरण (पद>पत), स्वरभक्ति (रत्न>रतन), श-ष-स का आपसी परिवर्तन (स्थिति>श्तिथि, अनुसक्त>अनुषक्त, अनुशक्त आदि) तथा समीकरण (पुद्गल>पुग्गल) आदि उल्लेख्य हैं। वचन एवं लिंग में काफी अव्यवस्था मिलती है। एक लिंग के स्थान पर दूसरे का प्रयोग या एकवचन का बहुवचन के स्थान पर आना बहुत असामान्य नहीं है। संज्ञा एवं सर्वनामों की विभक्तियों पर अन्य प्राकृतों की तरह एक-दूसरे का प्रभाव पड़ा है। सस्कृत एवं प्राकृतों के क्रियारूपों मे एक बड़ा अन्तर यह था कि संस्कृत में वर्तमान का रूप अन्य रूपों से मूलतः अलग था, किन्तु प्राकृतों में आते-आते अधिकांश रूप वर्तमान के मूल पर आधारित होने लगे थे। इस भाषा में भी यह बात है। उदाहरणार्थ सं० मे वर्तमान में इच्छति और भविष्य में एषिष्यति है, किन्तु इसमें इच्छति और इच्छिष्यति। इसी प्रकार संस्कृत में तिष्ठति और स्थास्यति, किन्तु इसमें तिष्ठति, तिष्ठास्यति अथवा स० में पिबति-पास्यति किन्तु इसमें पिबति-पिबिष्यति आदि। 'मा' जोड़कर नकारार्थक प्रयोग भी इसकी एक बड़ी विशेषता है।

मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थ जातकमाला, लंकावतार, दिव्यावदान, अवदान-शतक, ललितविस्तर तथा महावस्तु आदि हैं।

प्राकृत (१–५०० ई०)

मध्यकालीन आर्यभाषा के प्रारम्भ मे 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। ऐसा अनुमान लगता है कि जन-भाषा का संस्कार करके जब उसे 'संस्कृत' संज्ञा से विभूषित किया गया तो, तो वह जन-भाषा, जो उसकी तुलना में असंस्कृत थी, और पंडितों में प्रचलित इस भाषा के विरुद्ध, जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों मे बोली जाती थी, सहज ही, 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

प्राकृत शब्द के दो अर्थ है। पहले अर्थ में यह ५वी सदी ई० पू० से १००० ई० तक की भाषा है, जिसमें **प्रथम प्राकृत** में 'पालि' और 'अभिलेखी प्राकृत' है, **द्वितीय प्राकृत** में भारत एवं भारत के बाहर प्रयुक्त विभिन्न धार्मिक, साहित्यिक और अन्य प्राकृतें है, तथा **तृतीय प्राकृत** में अपभ्रंश एवं तथाकथित अवहट्ठ आती है।

द्वितीय प्राकृत के लिए भी 'प्राकृत' नाम का प्रयोग होता है। यहाँ, उपर्युक्त शीर्षक में 'प्राकृत' शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। **द्वितीय प्राकृत** मे ऊपर की अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत (पहली सदी), निय प्राकृत (३ री सदी), मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्राकृतांश (पहली सदी) एवं प्राकृत धम्मपद (दूसरी सदी) की प्राकृत, इन चार को बहुत से लोगों ने

प्रथम एव द्वितीय प्राकृत के बीच मे या सधिकालीन प्राकृत कहा है। किन्तु मेरे विचार मे इन्हें भी द्वितीय प्राकृत मे ही स्थान देना उचित है। हाँ यह अवश्य है कि आगे हम जिन प्राकृतो पर विचार करेंगे, उनकी तुलना मे ये तथाकथित सधिकालीन प्राकृते कुछ पुरानी हैं। इसीलिए यहाँ इनको पहले रखा गया है।

प्राकृतों के भेद—धर्म, साहित्य, भूगोल (पश्चिमोत्तरी, पूर्वी आदि), लिखने का आधार (शिलालेखो, धातुलेखो आदि) आदि कई आधारो पर प्राकृतो के भेद किए जा सकते हैं, और कुछ आधारो पर किए भी गए हैं।

धार्मिक दृष्टि से लोगो ने प्राकृत के पालि (इस पर ऊपर विचार हो चुका है), अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, और जैन शौरसेनी प्राय ये चार भेद माने हैं। साहित्य की दृष्टि से महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, और पैशाची के नाम लिये गये हैं। नाटक मे प्रयोग की दृष्टि से इनमें प्रथम तीन की गणना की गई है। प्राकृत के प्राचीन वैयाकरणो मे वररुचि उल्लेख्य हैं। इन्होंने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी, इन चार का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने तीन और नाम दिये है आर्ष, चूलिका पैशाची और अपभ्रश। इनमे 'आर्ष' को ही अन्य लोगो ने 'अर्ध मागधी' कहा है। कुछ अन्य व्याकरणो तथा अन्य स्रोतों से कुछ और प्राकृतो के भी नाम मिलते हैं, जैसे बाह्लीकी, शाकारी, ढक्की, शाबरी, चाण्डाली, आभीरिका, अवन्ती, दाक्षिणात्य, भूत भाषा तथा गौडी आदि। इनमे प्रथम पाँच मागधी के ही भौगोलिक या जातीय उपभेद थे। आभीरिका शौरसेनी की जातीय (आभीरो की) रूप थी और अवन्ती या अवन्तिका उज्जैन के पास की कदाचित् महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी थी। दाक्षिणात्य भी शौरसेनी का एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को ही दण्डी ने 'भूत भाषा' कहा है (गलती से 'पैशाची' का अर्थ 'पिशाच' का या 'भूत का समझकर)। कुछ लोगो ने लिखा है कि हेमचन्द्र न 'पैशाची' को ही 'चूलिका पैशाची' कहा है किन्तु वस्तुत बात ऐसी नही है। हेमचन्द्र ने ये दोनों नाम अलग-अलग दिये हैं। दूसरी पहली की ही एक उपबोली है। गौडी का अर्थ है 'गौड' देश का। इसका आशय यह है कि यह मागधी का ही एक नाम है।

इस प्रसग मे कुछ और नामो पर भी विचार आवश्यक है। प्राकृतो के साथ 'गाथा' का नाम भी लिया जाता है। गाथा की भाषा, प्राकृतो का सस्कृत से प्रभावित रूप है। ऊपर मिश्रित बौद्ध सस्कृत रूप मे इसका उल्लेख हो चुका है। इस भाषा का आगे विकास नही हो सका। कुछ लोग एक पश्चिमी प्राकृत की भी कल्पना करते हैं, जो सिन्ध मे बोली जाती रही होगी, तथा जिससे व्राचड अपभ्रश का विकास हुआ होगा। यह व्राचड वर्तमान सिंधी की जननी है। पजाबी और लहँदा क्षेत्र मे भी उस काल मे कोई प्राकृत रही होगी, जिसे कुछ विद्वानों ने केकय प्राकृत कहा है। टक्क या टाक्की और मद्र या माद्री प्राकृत इसी की शाखाएँ थी। राजस्थानी और गुजराती, शौरसेनी से प्रभावित तो हैं, किन्तु उनका आधार नागर अपभ्रश है। वहाँ उस काल मे नागर प्राकृत की भी कल्पना कुछ लोगो ने की है। इसी प्रकार पहाडी भाषाओ के लिए 'खस' अपभ्रश की कल्पना की गई है। उसका आधार खस प्राकृत हो सकती है। चम्बल और हिमालय के बीच गगा के किनारे एक पाचाली प्राकृत का भी उल्लेख किया जाता है।

इस प्रकार प्राकृतो के प्रसग मे लगभग दो दर्जन नामो का उल्लेख मिलता है, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक स्तर पर केवल पाँच ही प्रमुख भेद स्वीकार किये जा सकते हैं—(१) शौरसेनी, (२) पैशाची, (३) महाराष्ट्री, (४) अर्द्धमागधी, (५) मागधी। आगे इन पाँच तथा कुछ अन्यो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) **शौरसेनी**—यह प्राकृत मूलतः मथुरा या शूरसेन के आस-पास की बोली थी। इसका विकास वहाँ की पालिकालीन स्थानीय बोली से हुआ था। मध्य देश की भाषा होने के कारण इसे कुछ लोग संस्कृत की भाँति उस काल की परिनिष्ठित भाषा मानते है। मध्य देश संस्कृत का केन्द्र था, इसी कारण शौरसेनी उससे बहुत प्रभावित है। इस प्रभाव के कारण शौरसेनी में अपेक्षाकृत प्राचीनता है तथा यह कुछ कृत्रिम है। संस्कृत नाटकों की गद्य की भाषा शौरसेनी ही है। कर्पूरमंजरी का गद्य इसी में है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटको मे मिलता है। जैनों (दिगम्बर सम्प्रदाय) ने अपने साम्प्रदायिक ग्रन्थो के लेखन मे भी इसका प्रयोग किया है। ऐसे ग्रन्थों की भाषा '**जैन शौरसेनी**' या '**दिगम्बर शौरसेनी**' कही गई है। यह मूल शौरसेनी से थोड़ी भिन्न है। पिशेल के अनुसार इसका विकास दक्षिण में हुआ है। शौरसेनी के अन्य स्थानीय रूप **अवन्ती, आभीरी** आदि है। शौरसेनी अपने समय की सर्वाधिक आभिजात्य भाषा थी। नाट्यशास्त्र में इसके नाटकों की प्रधान भाषा होने का संकेत मिलता है: 'शौरसैनम् समाश्रित्य भाषा कार्य तु नाटके।' वररुचि ने **शौरसेनी प्राकृत** का आधार संस्कृत माना है: 'प्रकृतिः संस्कृतम्'। राम शर्मन् के 'प्राकृतकल्पतरु' मे 'विरच्यते सम्प्रति शौरसेनी पूर्वैव भाषा प्रकृतिः किलास्याः' रूप में महाराष्ट्री को शौरसेनी का आधार माना गया है। पुरुषोत्तम ने 'प्राकृतानुशासनम्' में दोनों बातो को मिला दिया है: संस्कृतानुगमनाद् बहुलम्' तथा 'शेषं महाराष्ट्री।' शौरसेनी की प्रमुख विशेषताएँ ये है: (१) असंयुक्त तथा दो स्वरों के बीच में आनेवाला सं० **त्** इसमें **द्** हो गया है और **थ्** ध् (गच्छति >गच्छदि, कथय>कधेहि)। यद्यपि इसके अपवाद भी मिलते है। जैसे 'तावत्' से 'ताव' और 'दाव' दो रूप बनते है। यहाँ आदि **त्** का भी **द्** है। (२) दो स्वरों के बीच की **द्** **ध्** ध्वनियाँ प्रायः सुरक्षित है (जलदः>जलदो)। (३) **क्ष्** का विकास सामान्यतः **क्ख्** मे हुआ। (इक्षु>इक्खु, कुक्षि>कुक्खि)। यह उल्लेख्य है कि महाराष्ट्री में यह **च्छ्** (इक्षु>उच्छु) हो जाता है। (४) ऋ का विकास इ होता है: गृध्र>गिद्ध। (५) संयुक्त व्यंजनो के सरलीकरण की प्रवृत्ति है, किन्तु अर्धमागधी या महाराष्ट्री आदि से कम (कर्तुम>कादु, उत्सव> उस्सव>ऊसव)। यह भी उल्लेख्य है कि ऐसी स्थिति मे क्षतिपूरक दीर्घीकरण (अ>आ, उ>ऊ) की प्रवृत्ति है। (६) आदरार्थ आज्ञा के रूप महाराष्ट्री एवं अर्द्धमागधी की भाँति -एज्ज लगाकर (वट्टेज्ज) नही बनते। वे संस्कृत के अनुसार हैं: सं०* वर्तेत>वट्टे। (७) कर्मवाच्य के – य – का – इज्ज – (महाराष्ट्री) नहीं होता अपितु – इअ – (गम्यते>गमीआदि, क्रियते>करीअदि) हो जाता है। (८) केवल परस्मैपद का प्रयोग मिलता है, आत्मनेपद का प्रायः नही। (९) रूपों की दृष्टि से यह कुछ बातों में सस्कृत की ओर झुकी है, जो मध्य देश मे रहने का प्रभाव है, किन्तु साथ ही, महाराष्ट्री से भी इससे काफ़ी साम्य है।

डॉ० घोष के अनुसार **प्राचीन शौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री** की जननी है। प्राकृतानुशासन के अनुसार **टक्क प्राकृत** संस्कृत एवं शौरसेनी का मिश्रित रूप हैं। मध्यदेश की भाषा होने के कारण शौरसेनी का बड़ा आदर रहा है। राजशेखर ने कहा है—यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्व भाषा निषण्णा.।

२. **पैशाची**—इसके अन्य नाम **पैशाचिकी, पैशाचिका, ग्राम्य भाषा, भूतभाषा भूतवचन, भूत भाषित** आदि भी मिलते हैं। अन्तिम तीन नाम 'पिशाच' को 'भूत' का पर्याय समझ लेने के आधार पर रखे हैं। महाभारत में 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। ये उत्तर-पश्चिम में कश्मीर के पास थे। ग्रियर्सन इसे वहीं की 'दरद' से प्रभावित भाषा मानते है। हार्नले इसे द्रविडो द्वारा प्रयुक्त प्राकृत मानते हैं। पुरुषोत्तम देव ने अपने प्राकृतानुशासन मे संस्कृत और शौरसेनी का इसे विकृत रूप माना है। वररुचि इसका आधार संस्कृत मानते है। पैशाची में साहित्य नहीं के बराबर है। यों ऐसा अनुमान लगाने के आधार हैं, कि कभी इसमे काफ़ी

साहित्य था। गुणाढ्य का बृहत्कथा सग्रह 'बृहत्कथा' मूलत इसी मे था। इसके अब केवल दो सस्कृत रूपातर ही—बृहत्कथामजरी, कथासरित्सागर—शेष हैं। हम्मीरमर्दन तथा कुछ अन्य नाटको म कुछ पात्रो ने इसका प्रयोग किया है। व्याकरणो आदि मे भी इसके कुछ रूप सुरक्षित रह गए है, यद्यपि उनमें बहुतो के लेखको को इसका प्रत्यक्ष ज्ञान शायद नहीं था। इसीलिए उनकी बातें प्राय एक-दूसरे का विरोध करती हैं। पैशाची का जो कुछ रूप प्राप्त है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि पश्चिमोत्तरी प्राकृत से यह बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। यो इस आधार पर इसे पश्चिमोत्तरी प्राकृत की सज्ञा नहीं दी जा सकती। अपभ्र श मे भी इसका सम्बन्ध सिद्ध होता है। पैशाची के कई भेदो के उल्लेख मिलते हैं। हेमचन्द्र तथा कुछ अन्यो ने इसका एक रूप चूलिका पैशाची दिया है। मार्कण्डेय आदि ने इसके कैकेय, पाचाल और शौरसेन तीन भेद दिये है। प्राकृत सर्वस्व मे देश तथा जाति के आधार पर इसके ग्यारह भेद दिये गए हैं। लेसेन मागध, ब्राचड, पैशाचिक तीन भेद मानते हैं। इन बहुत से भेदो के आधार पर कुछ लोगो का विचार है कि पैशाची केवल अपने स्थान पर ही प्रचलित न होकर चारो ओर निम्न-स्तर के लोगो मे प्रचलित थी। मध्यदेश मे भी इसके प्रचलित होने की पूरी सम्भावना है। इसी कारण यह अपनी ध्वनि-प्रक्रिया मे एक सीमा तक सस्कृत से प्रभावित ज्ञात होती है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नाकित हैं (१) दो स्वरो के बीच मे आने वाले स्पर्श वर्गों के तीसरे और चौथे घोष व्यजन इसमे क्रमश पहले और दूसरे अर्थात् अघोष हो गए हैं गगन>गकन, मेघ>मेखो, दामोदर>तामोतर, राजा>राचा। किसी भी भाषा मे अघोषीकरण के कुछ उदाहरण तो मिलते हैं, किन्तु ऐसी सामान्य प्रवृत्ति नही मिलती। ऐसी स्थिति मे इसका कोई विशेष कारण रहा होगा। मेरे विचार मे मूलत पैशाची किसी ऐसी जाति के लोगो मे प्रचलित थी, जिनकी अपनी मूल आर्येतर भाषा मे घोष ध्वनियाँ नहीं थीं। इसी कारण अघोष की यह प्रवृत्ति आई। (२) इसके कुछ रूपों में 'ल्' के स्थान पर 'र्' और कुछ मे 'र्' के स्थान पर 'ल्' हो जाता है। दोनो का वैकल्पिक-सा प्रयोग है। (रुद्र>लुद्द, कुमार>कुमाल, फल>फर। (३) 'ष्' के स्थान पर कही तो 'श्' और कहीं 'स' मिलता है। विषम>विसमो, तिष्ठति>चिश्तदि। (४) अन्य प्राकृतो की तरह स्वरो के बीच मे आने वाले स्पर्श इसमे लुप्त नही होते। (नगर>नकर)। (५) ल् ध्वनि का ळ् मे भी विकास मिलता है जल>जळ, कुल>कुळ, सलिल>सळिळ। (६) ण् के स्थान पर न् की भी प्रवृत्ति है गुण>गुन, गण>गन। किन्तु दूसरी ओर न् से ण् होने का उल्लेख भी मिलता है अधुना>अहुणा। वस्तुत जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, वैयाकरणो द्वारा दी गई, ये एक दूसरे की विरोधी बातें बहुत विश्वसनीय नही हैं।

(३) माहाराष्ट्री या महाराष्ट्री—इस प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है। जूल ब्लाख ने मराठी का विकास इसी के बोलचाल के रूप म माना है। कुछ लोग इसे केवल महाराष्ट्र तक सीमित न मानकर महाराष्ट्र अर्थात् पूरे भारत की भाषा मानने के पक्ष मे हैं। इसी रूप मे डॉ० मनमोहन घोष ने इसे शौरसेनी के बाद की माना है। डॉ० सुकुमार सेन का भी लगभग यही मत है। कुछ लोग इसे काव्य की कृत्रिम भाषा मानते रहे हैं किन्तु अब यह मत निर्मूल सिद्ध हो चुका है। गाहा सत्तसई (हाल), रावणवहो (प्रवरसेन) तथा वज्जालग्ग (जयवल्लभ) इसकी अमर कृतियाँ है। काव्य-भाषा रूप मे इसका प्रचार पूरे उत्तरी भारत मे था और इसमे 'गीति', 'खड और महा', सभी प्रकार के काव्य लिखे गए। कालिदास, हर्ष आदि के नाटको के गीतो की भाषा यही है। कुछ लोग समझते हैं कि महाराष्ट्री मे केवल कविता की रचना हुई, गद्य की नही। किन्तु यथार्थत बात यह नही है। श्वेताम्बर जैनियो ने इसमे अपने कुछ धार्मिक गद्य-ग्रन्थ भी लिखे हैं, जिनकी भाषा को याकोबी ने 'जैन महाराष्ट्री' कहा है। इस भाषा पर अर्धमागधी का भी प्रभाव पडा है। कुछ बौद्ध ग्रन्थ भी महाराष्ट्री में

मिलते हैं। महाराष्ट्री, प्राकृतों में परिनिष्ठित भाषा मानी गई है। इसीलिए वैयाकरणों ने पहले इसी का का सविस्तार वर्णन किया है, और अन्य प्राकृतों के, केवल इससे अन्तरों का उल्लेख कर दिया है। इसी आधार पर कुछ लोग इसे 'मराठा देश' से सम्बद्ध न मानकर पूरे भारत (महाराष्ट्र) की कहते है। एक मत यह है कि 'शक' अपने राज्य को 'महाराष्ट्र' कहते थे। उनके इस महाराष्ट्र के आधार पर ही, इसे पूरे राष्ट्र मे बोली जाने के कारण, महाराष्ट्री कहा गया।

प्राकृतकालीन लेखकों ने प्राकृतों की कोमलता की बड़ी प्रशंसा की है। वस्तुतः यह प्रशंसा महाराष्ट्री की ही है। प्रसिद्ध महाराष्ट्री ग्रन्थ वज्जालग्ग मे जयवल्लभ कहते है:

ललित महुरक्खरए जुवई यण वल्लहे स सिंगारे।
संते पाउव कव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं।

(ललित, मधुर, युवतीगण के प्रिय श्रृङ्गाररसपूर्ण प्राकृत काव्य के होते संस्कृत कौन पढ़ सकता है?) इस भाषा की कोमलता का रहस्य, इसमे हुए व्यंजन-लोप है। महाराष्ट्री की कुछ प्रमुख विशेषताएँ ये है: (१) इसमें दो स्वरों के बीच आने वाले अल्पप्राण स्पर्श (क्, त्, प्, द्, ग् आदि) प्रायः लुप्त हो गए है। प्राकृत>पाउअ, गच्छति>गच्छइ. (२) उसी स्थिति में महाप्राण स्पर्श (ख्, थ्, फ्, ध्, घ्) का केवल 'ह' रह गया है। (क्रोधः>कोहो, कथयति>कहेइ, मुख>मुह)। (२) ऊष्म ध्वनियों स, श का प्रायः 'ह' हो गया है (तस्य>ताह, पाषाण>पाहाण।)(४) कर्म वाच्य -य- (गम्यते) का -इज्ज- (गमिज्जइ) बनता है। शौरसेनी में -ईअ- था। (५) पूर्वकालिक क्रिया बनाने में 'ऊण' प्रत्यय का प्रयोग होता है। (सं० ...ना>पुच्छिऊण)

(४) **अर्धमागधी**—अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के बीच में है अर्थात् यह प्राचीन कोसल के आसपास की भाषा है। इसमें मागधी की प्रवृत्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं, इसीलिए इसका नाम अर्धमागधी है। जैनियों ने इसके लिए 'आर्ष', 'आर्षी' और 'आदि भाषा' का भी प्रयोग किया है। इसका प्रयोग प्रमुखतः जैन साहित्य में हुआ है। गद्य और पद्य दोनों ही इसमें लिखे गए है। यों साहित्यिक नाटकों मे भी इसका प्रयोग हुआ है। इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष मे मिलता है। साहित्य-दर्पणकार ने इसे चरों, सेठों और राजपुत्रों की भाषा कहा हैं। मुद्राराक्षस और प्रबोध-चंद्रोदय में भी इसका प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानों के अनुसार अशोक के अभिलेखों की मूल भाषा यही थी, जिनको स्थानीय रूपों में रूपांतरित किया गया था। जैनों द्वारा प्रयुक्त महाराष्ट्री तथा शौरसेनी पर इसका प्रभाव पड़ा है।

प्रमुख विशेषताएँ—(१) ष्, श् के स्थान पर प्रायः स् मिलता है। (श्रावक>सावग, वर्ष>वास)। (२) अनेक स्थलों पर दंत्य ध्वनियाँ मूर्धन्य हो गई है। (स्थित—ठिय, कृत्वा—कट्टु) यह प्रवृत्ति अन्य प्राकृतों की तुलना में इसमें अधिक है। (३) चवर्ग के स्थान पर कहीं-कहीं तवर्ग मिलता है। (चिकित्सा—तेइच्छा), (४) इसमे र् और ल् दोनों है। (५) क् के ग् होने की प्रवृत्ति भी कुछ है: एक>एग। (६) जहाँ कुछ अन्य प्राकृतों मे स्वरों के बीच स्पर्श का लोप मिलता है, वहाँ इसमें 'य' श्रुति मिलती है (सागर>सायर, स्थित>ठिय)। (७) गद्य और पद्य की भाषा के रूप में अन्तर है। सं० -अः (प्रथमा एकवचन) के स्थान पर प्रायः गद्य में मागधी की तरह -'ए' का प्रयोग हुआ है, और प्रायः पद्य में शौरसेनी के समान -'ओ' का।

(५) **मागधी**—मागधी का मूल आधार मगध के आसपास की भाषा है। लास्सन महाराष्ट्री एवं मागधी को एक मानते थे। कुछ लोग इसका सम्बन्ध महाराष्ट्री से मानते है। वररुचि इसे शौरसेनी से निकली मानते है। लंका में 'पालि' को ही 'मागधी' कहते है। मागधी में कोई

स्वतन्त्र रचना नही मिलती। सस्कृत नाटको मे निम्न श्रेणी के पात्र इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष मे मिलता है। इसे 'गौडी' भी कहते है। वाह्लीकी, ढक्की, शाबरी तथा चाडाली इसके जातीय रूप थे। शाकारी इसकी उपबोली थी। इसमे अन्य सभी प्राकृतो से अधिक विकास हुआ है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है—(१) इसमे स, ष, के स्थान पर 'श' मिलता है। (सप्त > शत्त, पुरुष>पुलिश)। (२) इसमे 'र का' सर्वत्र 'ल' हो जाता है। (राजा > लाजा) (३) 'स्थ' और 'र्थ' के स्थान पर 'स्त' मिलता है। (उपस्थित—उवस्तिद, अर्थवती > अस्तवदी)। (४) कहीं-कहीं ज का य हो जाता है। (जानाति >याणादि,जायते >यायदे)। इसका कारण सघर्ष का आधिक्य है। (५) ऐसे सयुक्त व्यजनों मे, जिनमे प्रथम ध्वनि ऊष्म हो ,समीकरण आदि परिवर्तन अन्य प्राकृतो की तरह प्राय नहीं होते। (हस्त >हस्त)। (६) प्रथम एकवचन मे सस्कृत -अ के स्थान पर यहाँ -ए मिलता है। (देव>देव, स>से)

(६) प्राच्या—पुरुषोत्तम ने 'प्राकृतानुशासन' (१०वाँ अध्याय) में इसका उल्लेख किया है। यह शौरसेनी से मिलती-जुलती है, इसीलिए उन्होने इसकी कुछ बाते बतलाकर 'शेषं शौरसेनी' कह दिया है। उसमें 'भवति' का 'भोदी' बनता है, तथा निम्नवर्ग के लोगो को सम्बोधित करने में -आ (हीन सबुद्धाव भात्) विभक्ति लगती है। 'वक्र' का 'वकुड' (वक्र वकुडश्च) उसकी एक अन्य विशेषता है।

(७) शाकारी—इसे मागधी की एक उपबोली माना गया है शाकारी विभाषाविशेषो मागध्या। उसमें स्पर्शसघर्षण बहुत अधिक था, इसीलिए त् के स्थान पर रच बोलते थे। य्चभिश् शकार भाषायाम।स्वार्थे प्रत्यय-क का प्रयोग इसमें बहुत अधिक होता था। लोप, आगम, विकार सभी का बाहुल्य था।

(८) चाडाली—यह मागधी का विकृत रूप थी—चाडाली मागधी-विकृति। इसमें ग्राम्य प्रयोगो का बाहुल्य था—ग्राम्योक्तयो बहुलम्। -अ का -ओ या -ए तथा -स्मिन का स्मि हो जाता था।

(९) शाबरी—यह भी मागधी का एक रूप थी। घृणा आदि अर्थ मे सबोधन में इसमे -क विभक्ति लगाई जाती थी का सम्बुद्धो नित्यम् अगौरवे।-अ का-ओ,-ए या-इ हो जाता था।

(१०) आवन्ती—इसमे महाराष्ट्री एव शौरसेनी की प्रकृतियो का मिश्रण था द का द् या द्र (द्रे रेफलोपो वा) 'भवति' का 'हो , होइ', 'तव' का,तुहु, 'मम' का 'महु' आदि इसकी कुछ विशेषताएँ हैं।

(११) टक्की या टक्कदेशी—यह सस्कृत और शौरसेनी का मिश्रित रूप थी। इसे हरिश्चन्द्र ने अपभ्रश का एक रूप माना है। इसमे उ का आधिक्य था = उद् बहुलम्। त्वम् का तुहु तथा अह का हम मिलता है। 'यथा तथोर् जिध तिधौ' अर्थात् इसमें 'यथा'का 'जिध'और'तथा'का तिध'हो गया था।

(१२) कैकय पैशाचिका—इसे सस्कृत मिश्रित शौरसेनी का भ्रष्ट रूप कहा गया है। इसमे अघोषीकरण की प्रवृत्ति विशेष रूप मे थी। स्पष्ट ही इसकी सम्बन्ध पैशाची मे है। ण् का न, स्वर-भक्ति, लोप, ऋ>इ आदि इसकी अन्य विशेषताएँ हैं। इसके कुछ उदाहरण हैं गृह>किहक, हृदय>हितय, शिव>इव, वयम्>वप्फे। य>प इसमे विचित्र परिवर्तन है।

(१३) शौरसेन पैशाचिका—इस पैशाची बोली मे र् का ल्, स्, ष्, का स्, क्ष् तथा

च्छ् का श्क् तथा श्च् (क्षस्य श्कः, च्छस्य श्चः); स्थ् का श्त्; तथा -अः का -ओ अथवा -अ हो जाता था।

(१४) **पांचाल पैशाचिका**—यह **कैकेय** तथा **शौरसेन** से विशेष अलग नहीं थी। इसमें ल् का र् हो जाता था।

(१५) **चूलिका पैशाचिका**—र् का ल् तथा अघोषीकरण ही इसकी उल्लेख्य बातें है।

प्राकृत भाषाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ—(१) ध्वनि की दृष्टि से प्राकृत भाषाएँ पालि के पर्याप्त निकट है। इनमें भी पालि की तरह ह्रस्व ए और ओ और ळ्, ळ्ह का प्रयोग चलता रहा। ऐ, औ, ऋ, लृ का प्रयोग नहीं हुआ। ऋ का प्रयोग लिखने में तो हुआ, किन्तु भाषा मे यह ध्वनि थी नहीं। वे ध्वनि-विशेषताएँ जो पालि से प्राकृत को अलग करती है, इस प्रकार है: प्राकृत ध्वनियाँ है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ,ए, ओॅ, ओ, क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द् ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, व़्, श्, ष्, स्, ह्, ळ्, ळ्ह, ड़्, ढ़्। देश के बाहर मिलने वाले प्राकृतों मे ज़्, ज़् ध्वनियाँ भी थीं। कुछ समय के लिए अन्य व्यंजनों के संघर्षी रूप भी थे। (क) ऊष्मों मे पालि 'स्' का प्रयोग था। प्राकृत में पश्चिमोत्तरी क्षेत्र मे श्, ष्, स् तीनों ही कुछ काल तक थे। बाद में 'ष्' ध्वनि 'श्' में परिवर्तित हो गई। नीय प्राकृत में भी तीनों ऊष्म मिलते हैं। मागधी मे केवल 'श्' है। अन्य-बहुतो में पालि की तरह प्रायः केवल 'स्' (जैसे अर्धमागधी में) मिलता है और कुछ मे श्, ष् दोनो ही (पैशाची)। (ख) य्, र्, ल् के प्रयोग के सम्बन्ध में भी कुछ विशेषताएँ है। मागधी में 'र्' ध्वनि नही है। उसके स्थान पर 'ल्' मिलता है। कुछ अन्य मे कभी-कभी 'र्' के स्थान पर 'ल्' और कभी 'ल्' के स्थान पर 'र्' मिलता है। आद्य 'य्' सामान्यतः 'ज्' होता देखा जाता है, किन्तु मागधी मे 'ज्' का 'य्' होना भी पाया जाता है। (ग़) सबसे विचित्र बात है कुछ ऐसे संघर्षी व्यंजनों का प्रयोग जो प्रायः भारतीय भाषाओ में केवल आधुनिक काल मे प्रयुक्त माने जाते हैं, जैसे 'ज़', 'ग़' आदि। नीय प्राकृत में 'ज़' एवं 'ज़' ध्वनियाँ है। यद्यपि यह बाहरी प्रभावो के कारण है, किन्तु ऐसा मानने के लिए आधार है कि दूसरी-तीसरी सदी के लगभग प्राकृतो मे सामान्य रूप से बहुत से स्पर्शो का स्वरूप कुछ दिन के लिए परिवर्तन के संक्रान्ति-काल मे संघर्षी हो गया था, यद्यपि इन संघर्षी ध्वनियों के लिए उस काल मे अलग लिपिचिह्नों का प्रयोग नही किया गया। ये स्पर्श घोष (ग़्, घ़्, द़् आदि) थे। देखिए नीचे '४'। (२) प्राकृतों मे 'न' का विकास प्रायः 'ण' रूप मे हुआ है। (३) पालि-काल में जिन ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियों (समीकरण, लोप, स्वरभक्ति आदि) का प्रारम्भ हुआ था, इस काल मे वे और सक्रिय हो गईं। ध्वनि-परिवर्तन सबसे अधिक महाराष्ट्री तथा मागधी में हुए। (४) ध्वनियों के विकास के कुछ विशेष रूप भी इस काल मे दिखाई पड़ते है, यद्यपि वे सार्वभौम न होकर प्रायः क्षेत्रीय अधिक है: (क) स्वरमध्यग अघोष अल्पप्राण स्पर्श का घोष : मूकः>मूगो, लेष्टु>लेड्डु। इसका कारण है व्यंजन के दोनों ओर के घोष स्वरो का प्रभाव। (ख) स्वरमध्यग घोष और अघोष अल्पप्राण स्पर्श का लोप: इन दोनो का लोप हुआ एक ही तरह, किन्तु उनकी लोप की सीढियों मे कुछ अन्तर है। घोष व्यंजनों के उच्चारण मे उच्चारण-सौकर्य के कारण शिथिलता आई और शिथिलता के कारण पूर्ण स्पर्श अपूर्ण स्पर्श हुआ और फिर स्पर्श पूर्णतः समाप्त हो गया और अपूर्ण स्पर्श संघर्षी हो गए और अन्त मे व्यंजनत्व समाप्त हो गया, केवल उनका स्वर रह गया। जैसे सागर>*साग़र>साअर (बाद मे उच्चारण-सुविधा के लिए इसमें य-श्रुति आ गई और यह अर्धमागधी आदि मे 'सायर' हो गया। गज>*गज़>गअ, मदन>

*मदन > मअण । अघोष ध्वनियाँ पहले घोष हुई और फिर उपर्युक्त ढग से उनका भी लोप हुआ । जैसे काक > *काग > *काग > काअ, वचन > *वजन > *वजन > वअण । २री सदी ई० पू० के आसपास घोषीकरण की प्रवृत्ति आई । फिर प्राय ३०० वर्षों बाद सघर्षी होते लोप की प्रवृत्ति आई । सक्षेप मे अघोष > घोष > अपूर्ण स्पर्श > सघर्षी > लोप । (ग) महाप्राण > ह इसमे भी पहले सघर्षी ध्वनि (शिथिलता के कारण) आई, फिर और शिथिलता के कारण स्पर्श-अग और हट गए तथा ध्वनि का स्थान ह् ने ले लिया भवति > *भौति > होति । अघोष अल्पप्राण ध्वनियाँ पहले घोष हुई, फिर सघर्षी और फिर ह् मुख > *मुघ > *मुघ > मुह, कथा > *कधा > *कधा > कहा । यह उल्लेख्य है कि जब ये ध्वनियाँ सघर्षी बोली जा रही थीं, तो लिपि मे चिह्न न होने के कारण लिखने मे असघर्षी ही थी । म् का व्, य का अ, तथा व् का अ भी शिथिलता के कारण ही हुआ है । म्-व् के बीच भी सघर्षी की स्थिति है । कुछ उदाहरण हैं श्याम > साँव, जीव > जीअ, नयन > णअण, यमुना > जउँणा । (५) प्राकृतो मे व्यजनान्त शब्द प्राय नही है । (६) द्विवचन के रूपों का प्रयोग (सज्ञा, क्रिया आदि मे) प्राकृतो मे नही मिलता । 'नीय' प्राकृत अपवाद है जिसमे कुछ द्विवचन के रूप है । (७) आत्मपद ने पालि की तरह ही प्राकृतो मे भी प्राय नही के बराबर है । (८) पालि मे वैदिकी की भाँति रूप बहुत थे, किन्तु कम हो रहे थे । प्राकृत-काल तक आते-आते सादृश्य के कारण नाम और धातु, दोनो ही रूपो मे और भी कमी हुई । इस प्रकार भाषा अधिक सरल हो गई । (९) वैदिकी और सस्कृत सयोगात्मक भाषाएँ थीं । पालि मे भी यह विशेषता सुरक्षित है, किन्तु प्राकृत-काल मे भाषा अयोगात्मकता या वियोगात्मकता की ओर तेजी से बढने लगी । भाषा में वियोगात्मकता प्रमुखत दो कारणो से आती है—(क) कारक-चिह्नो या परसर्गों के प्रयोग मे, (ख) क्रिया मे कृदन्ती रूपो एव सहायक क्रिया के प्रयोग से । प्राकृतो में कृदन्ती रूपो का प्रयोग आरम्भ हो गया । कारक-रचना मे स्वतत्र शब्द जोड़ें जाने लगे जो आधुनिक काल मे आकार परसर्ग बने (जैसे सस्कृत 'रामस्य गृहम्' के स्थान पर 'रामस्स केरक घरम्' आदि) । (१०) कर्तृ और कर्म वाच्य का अन्तर मूलरूप (stem) तक सीमित रह गया । (११) कालो मे लिट् (Perfect), एक दो उदाहरणो को छोडकर, प्राय समाप्त हो गया । लङ् (Imperfect) और लुङ् (Aorist) एक मे मिल गए, किन्तु मिलकर भी बहुत दिन तक टिक न सके और अपभ्रश तक आते-आते समाप्त हो गए । (१२) सस्कृत की तुलना मे, शब्दो मे, अर्थ की दृष्टि से भी परिवर्तन हुए । धातु के अय शब्दो मे पूणत सुरक्षित न रह सके । (१३) सगीतात्मक स्वराघात समाप्त सा हो गया और बलात्मक स्वराघात कुछ उभर आया । (१४) प्राकृतो मे अधिकाश शब्द तद्भव हैं । इनमे उन शब्दो के भी तद्भव हैं जो आस्ट्रिक या द्रविड आदि से सस्कृत मे लिये गए थे । साथ ही इस काल तक आते-आते आर्य-भाषा मे अनुकरण या अय आधारो पर बने बहुत से देशज शब्दो का भी विकास हो गया था । सस्कृत के माध्यम से या सीधे, कुछ ग्रीक, ईरानी, तुर्की एवं अरबी शब्द भी प्रयुक्त होने लगे थे । जैसे ग्रीक खलीन, सुरग तथा ईरानी शाह, लिपि, दिपि, नमदक आदि । तुक और कतम शब्द कदाचित् तुर्की के है । 'ताजक' अरबी है । नीय प्राकृत मे विदेशी शब्दो की सख्या डेढ सौ के लगभग है । ये शब्द ईरानी और ग्रीरेनी के हैं ।

तृतीय प्राकृत

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तृतीय प्राकृत में अपभ्रश भाषा आती है । तथाकथित **अवहट्ट**, जो अपभ्रश एव आधुनिक आर्यभाषाओ के बीच की कड़ी है, एक

सन्धिकालीन भाषा है, अतः तृतीय प्राकृत की अन्तिम सीमा पर उसे भी रख सकते हैं।

अपभ्रंश

द्वितीय प्राकृत-काल की जनभाषाओं पर तत्कालीन साहित्यिक प्राकृतें आधारित थीं, किन्तु साहित्य में आ जाने के कारण उनका जन-स्तर पर विकास नहीं हुआ। जन-स्तर पर जनभाषा ही विकसित होती रही। प्राकृत-कालीन जनभाषा का यही विकसित रूप मोटे रूप से ५०० ई० से १००० ई० के बीच **अपभ्रंश** कहा जाता है। **अपभ्रंश** को **अवहंस** आदि कई अन्य नामों से भी अभिहित किया जाता है, जैसा कि आगे दिया गया है। इनके अतिरिक्त **ग्रामीण भाषा, देसी, देसी भाषा, आभीरोक्ति,** आभीरी आदि नामों से भी अपभ्रंश पुकारी जाती रही है।

नाम—**अपभ्रंश** शब्द का प्राचीनतम प्रामाणिक प्रयोग पतंजलि (१५० ई० पू० के लगभग) के 'महाभाष्य'[1] में मिलता है। यों भर्तृहरि (५वीं सदी) के 'वाक्यपदीय' (काण्ड १, कारिका १४८ का वार्तिक) से पता चलता है कि 'व्याडि' नाम के संग्रहकार ने भी **अपभ्रंश** शब्द का प्रयोग किया था। एक 'व्याडि' का उल्लेख महाभाष्यकार (कीलहार्न संस्करण, भाग १, पृष्ठ ६) ने भी किया है। इसका आशय है कि ये 'व्याडि' महाभाष्यकार पतंजलि से पहले हुए थे। ऐसी स्थिति में यदि 'वाक्यपदीय' और 'महाभाष्य' के व्याडि एक हों तो **अपभ्रंश** शब्द के प्रथम प्रयोग का श्रेय 'व्याडि' को दिया जा सकता है। व्याडि और पतंजलि (एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः) में इस शब्द के प्रयोग तो है, किन्तु उनमें इसका अर्थ, 'भाषा विशेष' न होकर, तत्सम शब्द का 'तद्भव' या 'विकृत' रूप है। आगे भरत (३री सदी) ने अपने नाट्यशास्त्र में इसी अर्थ में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया। भरत (१७-४९, ५०) ने मागधी, अवन्ती, प्राच्या आदि सात भाषाओं एवं उनकी कई जातीय या स्थानीय बोलियों का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें **अपभ्रंश** का नाम नहीं है। संकेत यह है कि ३री सदी के लगभग तक विकृत शब्दों को 'अपभ्रंश' या 'विभ्रष्ट' आदि कहा तो जाता था, किन्तु किसी भाषा के अर्थ में इस प्रकार का कोई शब्द प्रयोग में नहीं था। लगता है कि आगे चलकर इस प्रकार के 'अपभ्रंश' शब्दों (ऐसे शब्द जो संस्कृत, प्राकृत की तुलना में भी अपभ्रंश थे) के अधिक प्रयोग के कारण ही वह भाषा भी **अपभ्रंश** या अपभ्रष्ट कही जाने लगी और स्वयं ये नाम भी अपभ्रंशित होकर **अवब्भंस, अवहंस** या **अवहत्थ, अवहट्ट, अवहट्ठ, अवहठ, अवहट** एवं **ओहट** आदि[2] रूपों में उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगे।

समय—ऊपर यह कहा जा चुका है कि अपभ्रंश का काल मोटे रूप से ५०० ई० से १००० ई० तक है। यों कुछ लोगों ने ६०० से ११०० तक या कभी-कभी १२०० तक भी इसका समय माना है। कुछ दूसरों ने और आगे बढ़कर ७वीं सदी से १३वीं तक भी इसे माना है। मेरे मन में काफी पहले से यह प्रश्न उठता रहा है कि अनेक प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्यों ने अन्य प्राकृतों के साथ ही अपभ्रंश को भी गिनाया है, तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि अपभ्रंश भी अन्य प्राकृतों की समकालिक रही हो। इधर डॉ० सुकुमार सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ

---

१. पतंजलि कहते हैं: 'भूयांसऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। अर्थात्, शब्द थोड़े हैं और अपशब्द बहुत। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश है, जैसे 'गो' शब्द के गावी, गोवी, गोता, गोपोतलिका आदि। (पस्पशाह्निक)

२. सक्कय पायउ अवहंसउ—पुष्पदन्त; कुवलयमाला कहा; अवहत्थे विरवल यणु—स्वयंभू आदि।

'A Comparative Grammar of Middle Indo-Aryan' के नए संस्करण में अपभ्रंश का काल १ ई० से ६०० ई० माना है। ऐसी स्थिति मे इसके काल-निर्धारण की समस्या भी विचारणीय है। भाषा के अर्थ मे 'अपभ्रंश' शब्द का प्रथम प्रयोग 'चण्ड' का (प्राकृत लक्षणम् ३,३७) माना जाता है। इनका काल लगभग छठी सदी है। जिस रूप मे चण्ड ने इसका प्रयोग किया है (न लोपोऽभ्रंशेऽधो रेफस्य), उससे यह अनुमान लगता है कि उस काल तक भाषा के रूप मे 'अपभ्रंश' नाम पर्याप्त प्रचलन पा चुका था। भामह ने इसी सदी मे 'अपभ्रंश' को सस्कृत और प्राकृत के साथ एक काव्योपयोगी भाषा कहा (सस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा—काव्यालकार १, १६, २८)। वलभी के राजा द्वितीय धरसेन के इसी सदी के एक ताम्रलेख मे 'सस्कृतप्राकृतापभ्रंश भाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचना निपुणान्तकरण' मे भी इसका नाम आता है। इससे भी उसी बात का सकेत मिलता है। इसका आशय यह हुआ कि मोटे रूप से ५०० ई० के बहुत बाद अपभ्रंश का जन्म नही माना जा सकता, क्योंकि छठी सदी मे यह स्वीकृत काव्यभाषा बन चुकी थी। और भाषा जन्मते ही काव्यभाषा नही बन जाती। जन्म के बाद काव्यभाषा स्वीकृत होने मे सौ-पचास साल लग ही जाते हैं। ऐसी स्थिति में डॉ० उदयनारायण तिवारी (हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, २रा म०, पृ० ६०) द्वारा दिया गया (६०० ई०) या डॉ० नामवर सिंह द्वारा (हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, १९६१, पृ० २८१) उल्लिखित (सातवी सदी) समय स्वीकार नही किये जा सकते। इन लोगो की मान्यताएँ उपर्युक्त उद्धरणो के साथ मेल नही खाती। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या ५०० ई० से बहुत पहले अपभ्रंश का जन्म माना जा सकता है, जैसा कि डॉ० सेन ने किया है। इस सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि ऊपर के वलभी-नरेश या भामह के उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि सस्कृत और प्राकृत के बाद ही अपभ्रंश का क्रम आता है। साहित्यिक प्राकृतो का जन्म पहली सदी के आसपास हुआ तथा उनका साहित्य में प्रयोग दूसरी सदी के लगभग से माना जा सकता है। भाषा में इतना अधिक परिवर्तन आने में, कि वह दूसरे नाम की अधिकारिणी बन सके, कम-से-कम चार-पाँच सौ साल तो लगेंगे ही। इसके अतिरिक्त साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश-अशो का प्रथम दर्शन कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में होता है। इसे याकोबी तथा स० प० पण्डित अप्रामाणिक मानते हैं, किन्तु डॉ० उपाध्ये एव डॉ० तगारे आदि प्रामाणिक मानते हैं। यदि अप्रामाणिक मानें तो इन अपभ्रंश-अशो का काल और इधर खिसक आता है और प्रामाणिक मानने पर भी पहली सदी के पास इसका रचनाकाल नही पहुँचता। इस प्रकार पहली-दूसरी सदी के निकट की कोई अपभ्रंश-रचना हमें नही मिली है। ये दोनो बातें पहली सदी या उसके आस-पास अपभ्रंश का जन्म मानने में बाधक सिद्ध होती है। अत सभी बातो का ध्यान रखते हुए अपभ्रंश का जन्म ५०० ई० के आसपास मानना ही अधिक समीचीन ज्ञात होता है। जहाँ अपभ्रंश की उत्तर सीमा का प्रश्न है उसे मोटे रूप से १००० ई० के पास ही मानना होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भाषा जन्मते ही साहित्य में प्रयुक्त नही होती। उसे मान्यता मिलने में समय लग जाता है और पुरानी हिन्दी की अब तक प्राप्त प्राचीनतम प्रामाणिक रचना ११वीं सदी की राउलवेल (रोडा कृत) है। ऐसी स्थिति में हिन्दी का जन्म १००० के आसपास ही माना जा सकता है, उसके बहुत बाद नही। लगभग सभी आधुनिक आर्यभाषाओ की यही स्थिति है। यह बात दूसरी है कि उसके बहुत बाद तक अपभ्रंश या तथाकथित अवहट्ट में ग्रन्थ लिखे जाते रहे, इसी प्रकार जैसे इस सदी मे भी सस्कृत मे नाटक एव काव्य-ग्रन्थ लिखे गए हैं। निष्कर्षत अपभ्रंश का काल लगभग ५०० से १००० तक ही मानना उचित है।

अपभ्रंश की बोलियाँ—इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व अपभ्रंश का क्षेत्र विचारणीय है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे उकारबहुला भाषा का सम्बन्ध उत्तर-पश्चिमी भारत से

जोड़ा है। इसका आशय यह है कि अपभ्रंश की उकार की प्रवृत्ति उस समय सामने आने लगी थी (यह प्रवृत्ति कुछ प्राकृतों में भी है) और वह सिन्धु-सौवीर, हिमालय के पास थी। लगभग १२०० वर्ष बाद राजशेखर ने अपने काव्य-मीमांसा में टक्क, भादानक, मरुभूमि (अर्थात् टक्क=विपाशा-सिन्धु के बीच; भादानक=न० ल० दे के अनुसार भागलपुर के पास भदरिया;मेरे अपने विचार में यह नंगल (पंजाब) के पास का सतलुजी तट पर स्थित 'भदरी' है जहाँ बैसाखी का प्रसिद्ध मेला लगता है; मरुभूमि=राजस्थान),राजस्थान, पंजाब आदि को अपभ्रंश का क्षेत्र माना है। सम्भवतः उनका आशय पश्चिमोत्तरी अपभ्रंश से है। अधिकांश लोग यह मानते है कि अपभ्रंश की प्रारम्भिक विशेषताएँ पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही विकसित हुईं। कीथ आदि कई विद्वानों ने अपभ्रंश का सम्बन्ध मूलतः आभीरों, गूजरों आदि से माना है। यों जो रचनाएँ मिली है, उनको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः पूरे आर्यभाषा-भाषी भारत [मुल्तान (अब्दुर्रहमान), बिहार-बंगाल (सरहपा, शबरपा), अवध (स्वयंभू), गुजरात(हेमचन्द्र)] में इसका क्षेत्र था (यद्यपि साहित्य में प्रयुक्त परिनिष्ठित अपभ्रंश (शौरसेनी अपभ्रंश) का सम्बन्ध मुख्यतः मध्यप्रदेश से था) तथा इस रूप में अपभ्रंश प्राकृतों एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के बीच की कड़ी थी। इस पृष्ठभूमि में अपभ्रंश की बोलियों पर विचार किया जा सकता है। अपभ्रंश के भेदों के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों तथा अर्वाचीन विद्वानों में बडा मतभेद है। विष्णुधर्मोत्तरकार के अनुसार तो स्थान-भेद के आधार पर अपभ्रंश के भेदों का अन्त ही नहीं है, अर्थात् अपभ्रंश के अनन्त भेद है।[1] रुद्रट के 'काव्यालंकार' (२. १२) के टीकाकार नमिसाधु (१०वी सदी) ने अपभ्रंश के **उपनागर, आभीर और ग्राम्य** तीन[2] भेद माने है। मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' में अपभ्रंश के नागर, **उपनागर** और **व्राचड** तीन भेद किये है।[3] 'प्राकृत-सर्वस्व' से यह भी पता चलता है कि उस समय कुछ लोग अपभ्रंश के २७ भेद[4] भी मानते थे। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश के व्याकरण पर प्रकाश डालने वाले आचार्यों ने भी ध्वनि या रूप विषयक विशेषताओं का उल्लेख करते समय कई अपभ्रंशों के नाम लिए है। उदाहरणार्थ, पुरुषोत्तम ने अपने 'प्राकृतानुशासन' मे **नागर, व्राचड, उपनागर, पंचाल, वैदर्भी, लाटी, ओड्री, कैकेयी, गौड़ी, टक्क, बर्बर, कुन्तल, पांड्य** तथा **सिंहल** आदि का उल्लेख किया है। आधुनिक विद्वानों में इस दृष्टि से प्रथम नाम डॉ० याकोबी का लिया जा सकता है। इन्होंने 'सनत्कुमार चरिउ' (भूमिका, पृ० XXIII, Munchen, १९२१) में अपभ्रंश के **पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी** और **उत्तरी** चार भेद किये है। दूसरा उल्लेख्य नाम डॉ० तगारे (Historical Grammer of Apbhransha, पृ० १५-२०, १९५८) का है। इन्होने इस प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार किया है और याकोबी के उत्तरी अपभ्रंश का खंडन करते हुए केवल तीन अपभ्रंशों (**पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी**) की ही

---

१. अपभ्रष्टं तृतीय च तदनन्तं नराधिप।
देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते।। (३.३) अपभ्रंश काव्यत्रयी (गायकवाड़ सिरीज सं० ३७, बडौदा, १९२७), पृ० ९६ पर उद्धृत।

२. स चान्यैरूपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्त भूरि भेद इति।

३. नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः।
अपभ्रंशः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मता।।७।।

४. व्राचडो लाटवैदर्भावुपनागरनागरौ बार्बरावन्त्यपांचालटाक्कमालवकेकयाः। गौडोड्रवैवपाश्चात्यपांड्यकौन्तल सैंहला। कलिंग्यप्राच्यकार्णाटिकांचद्राविडगौर्जराः। आभीरो मध्मदेशीय· सूक्ष्म भेदव्यवास्थिताः सप्तविंशत्यपभ्रंशाः वैतालादि प्रभेदताः। (प्राकृत-सर्वस्व, २)

सत्ता स्वीकार की है। डॉ० नामवर सिंह ने 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक पुस्तक (पृ० ५०-५७) में इस प्रश्न को उठाया है और डॉ० तगारे के दक्षिणी भेद को व्यर्थ सिद्ध करते हुए अपभ्रंश के केवल दो क्षेत्रीय भेदों—पूर्वी और पश्चिमी—को मान्यता दी है।

पूरी समस्या पर विचार करने पर लगता है कि दो प्रश्नों को एक में मिला दिया गया है। एक प्रश्न तो यह है कि प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषा-काल के बीच में अपभ्रंश के कितने भेद देश में प्रचलित थे, और दूसरा प्रश्न यह है कि साहित्य में कितने अपभ्रंशों का प्रयोग हुआ है। जहाँ तक साहित्य में अपभ्रंश के प्रयोग का प्रश्न है, प्रायः विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि कुछ स्थानीय प्रभावों के साथ एक परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही प्रयोग हुआ है। यह परिनिष्ठित अपभ्रंश पश्चिमी मालवा, गुजरात और राजस्थान की अपभ्रंश है। अर्थात्, साहित्य में अपभ्रंश के सभी भेदों का प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में मात्र अपभ्रंश साहित्य के विश्लेषण के आधार पर निश्चय ही अपभ्रंश के सभी क्षेत्रीय भेदों का पता नहीं चल सकता। यही कारण है कि मात्र साहित्य को अपनी दृष्टि में रखने पर अपभ्रंश के दो-तीन भेद ही दिखाई पड़ते हैं, किन्तु भारत में आर्यभाषा के विकास को यदि हम अपने सामने रखें तो इस प्रकार की मान्यताएँ सत्य से बहुत दूर दिखाई पड़ती हैं।

प्रो० आन्त्वाँ मिय्ये तथा अन्य विद्वानों के अध्ययन के आधार पर यह अब एक प्रायः सर्वस्वीकृत मान्यता है कि वैदिकी में ही आर्येतर प्रभाव तथा विकास के कारण भाषा के तीन क्षेत्रीय भेदों (पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी) के बीज पड़ चुके थे। यह स्थिति ८वीं सदी ई० पू० के लगभग की है। आगे चलकर संस्कृत में ये तीनों भेद और स्पष्ट हो चुके थे और बोलचाल में कदाचित् एक दक्षिणी भेद की भी नींव पड़ चुकी थी। और आगे चलने पर पालि-काल में भी ये स्थानीय रूप लोकभाषा में पनपते रहे, यद्यपि पालि साहित्य के आधार पर उसके केवल ऐतिहासिक भेद का ही अनुमान लगता है, भौगोलिक का नहीं। ३री सदी ई० पू० के लगभग शिलालेखी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। इसका अध्ययन-विश्लेषण फ्रैंक, सेनार्ट, गुणे, महेन्दाले आदि अनेक विद्वानों ने किया है और उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस प्राकृत के उत्तर-पश्चिमी, दक्षिण-पश्चिमी और पूर्वी, ये तीन रूप तो स्पष्ट थे। यों दक्षिण और मध्यवर्ती दो अन्य भेदों की भी सम्भावनाएँ हैं। प्राकृत-काल में आकर प्राकृत के शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, इन चार का तो हम सर्वस्वीकृत भेद पाते हैं, किन्तु साथ ही पंजाब-सिंध आदि की भाषा के लिए पैशाची या कैकय की कल्पना भी पूर्णतः निराधार नहीं कही जा सकती। इसका आशय यह हुआ कि वैदिक संस्कृत से भेदों का प्रारम्भ हुआ और विकास होते-होते अपभ्रंश के जन्म के पूर्व उसके ४-५ क्षेत्रीय रूप अवश्य थे। अब थोड़ी देर के लिए अपभ्रंश को छोड़कर यदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को ले लिया जाए तो इनके कम से कम सात-आठ—'बँगला असमिया-उड़िया-बिहारी', 'पूर्वी हिन्दी', 'पश्चिमी हिन्दी', 'पहाड़ी', 'राजस्थानी-गुजराती', 'सिंधी', 'पंजाबी-लहँदी', 'महाराष्ट्री'—स्पष्ट और पूर्णतः भिन्न रूप हैं जिन्हें सरलतापूर्वक और अधिक क्षेत्रीय भेदों में विभाजित किया जा सकता है, जैसा कि इन नामों से स्पष्ट है। अब प्रश्न उठाया जा सकता है कि चार प्राकृतों और आठ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच में, क्या कड़ी के रूप में काम करने वाले, केवल दो या तीन ही अपभ्रंश-रूप हो सकते हैं? प्राकृत के चार या पाँच भेदों के अपभ्रंश-काल में एक हो जाने का न तो कोई कारण है और न इसकी सम्भावना ही है। ऐसी स्थिति में अपभ्रंश के भेदों की संख्या निश्चय ही चार (प्राकृत) से अधिक होगी। डॉ० ग्रियर्सन ने भाषा-सर्वेक्षण के भूमिका भाग में हर आधुनिक भाषा के लिए एक अपभ्रंश का संकेत किया था। यदि उस सीमा तक न भी जाया जाए तो कम से कम हर स्पष्टतः भिन्न भाषा या भाषा-वर्ग के लिए तो एक अपभ्रंश-रूप मानना ही होगा। यह किसी भी स्थिति में नहीं माना

जा सकता कि १००० ई० के आसपास अपभ्रंश का केवल एक पश्चिमी रूप था और २-३ सौ वर्षों में ही १२-१३ सौ ई० के लगभग उस एक रूप से ही सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, खड़ी-बोली और मराठी जैसे अधिकांशतः भिन्न रूप विकसित हो गए। भाषा के इतिहास में ऐसा होना इन सामान्य स्थितियों मे सर्वथा असम्भव है। यही बात पूर्वी अपभ्रंश के बारे में भी कही जा सकती है। इन सारी बातों को देखते हुए शौरसेनी (पश्चिमी हिन्दी, पहाड़ी, राजस्थानी, गुजराती), महाराष्ट्री (मराठी), अर्द्धमागधी (पूर्वी हिन्दी,) मागधी (बिहारी, बंगला, उड़िया, असमिया), टक्क-केकय (पंजाबी, लहँदा) और व्राचड या पैशाची (सिन्धी) इन छह अपभ्रंशों (या अपभ्रंशों के क्षेत्रीय भेदों) का अस्तित्व तो हमे मानना ही पड़ेगा। केवल अपभ्रंश के साहित्य को देखकर उपर्युक्त भेदों को झुठलाना उसी प्रकार है, जैसे आज मिथिला से राजस्थान तक खड़ीबोली मे साहित्य रचा जा रहा है और दो-चार सदियों के बाद इस क्षेत्र के साहित्य को देखकर कोई यह कह दे कि २०वीं सदी मे मिथिला से राजस्थान तक भाषा का केवल एक रूप ही थोड़े अन्तरों के साथ प्रचलित था।

यहाँ तक अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों पर विचार किया जा रहा था। डॉ० चटर्जी, डॉ० सेन आदि सभी आधुनिक विद्वानों ने अपभ्रंश के ऐतिहासिक भेदों का भी उल्लेख किया है और प्राचीन या पूर्व अपभ्रंश को **अपभ्रंश** तथा अग्रसरीभूत या उत्तर अपभ्रंश को '**अवहट्ट**' कहा है। इस बात का विचार करने के पूर्व इस भाषा के विभिन्न नामों पर विचार आवश्यक है। 'अपभ्रंश' भाषा का अधिक प्रचलित नाम 'अपभ्रंश' ही रहा है, लेकिन बाद के लेखकों ने 'अपभ्रंश' शब्द के विकसित या अपभ्रष्ट रूप **अवब्भंस** या **अवहंस** का भी इस भाषा के नाम के रूप मे प्रयोग किया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप ३,३) तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में इस भाषा का नाम 'अपभ्रष्ट' भी मिलता है। 'अपभ्रंश' शब्द के विकसित रूपों की तरह ही 'अपभ्रष्ट' के विकसित या विकृत या अपभ्रष्ट रूप **अवहत्थ**, **अवहट्ट**, **अवहट्‌ठ**, **अवहठ**, **अवहट**, **औहट** आदि का भी अपभ्रंश भाषा के नाम के रूप में प्रयोग हुआ है। इसका आशय है कि ये सारे शब्द एक प्रकार से समानार्थी रहे हैं। किसी ने भी 'अशभ्रंश' या 'अपभ्रष्ट' का प्रयोग अपभ्रंश के प्राचीन रूप के लिए तथा 'अवहट्‌ठ' या 'अवहट्ट' आदि अन्य नामों का प्रयोग अशभ्रंश के अन्तिम रूप के लिए नहीं किया है। अद्दहमाण, ज्योतिरीश्वर ठाकुर, विद्यापति या वंशीधर आदि सभी परवर्ती लेखकों के इस प्रसंग में उद्धृत किए जाने वाले प्रयोगों से भी यह स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में नामों के प्रयोग के आधार पर उत्तर अपभ्रंश को 'अवहट्ट' या इस प्रकार का कोई और अलग नाम बहुत उचित नही लगता। इस प्रसंग मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि परवर्ती लेखकों ने 'अवहट्ट' शब्द का ही प्रयोग किया है, अतः परवर्ती भाषा के लिए यह संज्ञा उचित है। वस्तुतः बात ऐसी नही है। १२वी सदी के उक्ति-व्यक्ति-प्रकरणकार दामोदर पंडित ने तत्कालीन बोलचाल की भाषा को 'अपभ्रंश' ही (उक्तावभ्रंश भाषिते) कहा है, अवहट्ट या अवहट्ठ आदि नही। इसके अतिरिक्त इस प्रसंग मे जिन लेखकों का नाम 'अवहट्ठ' नाम के प्रयोक्ता के रूप में प्रायः लिया जाता है, उनमें भी इस दृष्टि मे मतैक्य नहीं है। अद्दहमाण्ण (१२वी सदी) इसे 'अवहट्ट' (अवहट्टय सक्य पाइयंमि) कहते हैं, तो ज्योतिरीश्वर ठाकुर (१४वी सदी) 'वर्णरत्नाकर' मे इसे 'अवहठ' (पराकृत अवहठ, पृ० ४४, कलकत्ता, १९४०) की संज्ञा देते है। 'प्राकृतपैंगलम्' के एक टीकाकार वंशीधर (१६वीं सदी) इसे 'अवहट्ट' कहते है, तो दूसरे टीकाकार रविकर (उपनाम श्रीपति) इसके लिए 'अपभ्रंश' और 'अपभ्रष्ट' का प्रयोग करते है। विद्यापति (१४वी सदी) ने इसे 'अवहट्ठ' कहा है (तँसन जंपओ अवहट्ठा—कीर्तिलता)। इसका आशय मात्र यह है कि परवर्ती काल में 'अपभ्रष्ट' के कई अपभ्रष्ट रूपों (अवहट्ठ, अवहठ, अवहट्ट) तथा 'अपभ्रंश' का तत्कालीन भाषा के नाम

के रूप मे प्रयोग हुआ है। इससे यह निष्कर्ष किसी प्रकार भी नहीं निकाला जा सकता कि उस काल की अपभ्रंश के लिए मात्र 'अवहट्ट' नाम का ही प्रचलन था।

एक बात और। उपर्युक्त प्रयोग साहित्यिक थे, अत उन्हें बहुत सतर्क प्रयोग नहीं माना जा सकता। वैयाकरणो की बात लें। पुरुषोत्तम या हेमचन्द्र ने जब अपने व्याकरण लिखे तो तथाकथित'अवहट्ट'थी, किन्तु उन लोगो ने अनेकानेक अन्य नाम लिए, किन्तु'अवहट्ट' या'अवहट्ट'का उल्लेख करने की आवश्यकता नही समझी। सन्धि-कालीन या परवर्ती अपभ्रंश का वर्णन केवल एक ही वैयाकरण ने किया है, और वे हैं सक्षिप्तसारकार। डॉ० सेन आदि विद्वानो ने इसे स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि उनका वर्णन परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट का है, किन्तु उन्होनें भी इस भाषा को अवहट्ट आदि न कहकर अपभ्रंश ही कहा है। इसका अर्थ यह है कि पहले कभी भी अपभ्रंश के परवर्ती भाग के लिए कोई विशेष नाम नही प्रचलित था। यो अपभ्रंश को सामान्यत अपभ्रंश ही कहते थे, किन्तु साथ ही अवहट्ट आदि भी उसके समानार्थी के रूप मे प्रयुक्त होते थे (१४वीं सदी मे ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने वर्णरत्नाकर मे एक भाट को सस्कृत, पराकृत, अवहठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी इन छह भाषाओ का तत्त्वज्ञ कहा है। स्पष्ट ही यहाँ 'अवहठ' शब्द अपभ्रंश के लिए आया है)। ऐसी स्थिति मे 'अपभ्रंश' को 'पुरानी अपभ्रंश' का वाचक तथा उसी के पर्यायवत् प्रयुक्त शब्द 'अवहट्ट' या 'अवहट्ट' को परवर्ती अपभ्रंश का वाचक मानने का मेरे विचार मे कोई औचित्य नही है।

इन सारी बातो के अतिरिक्त क्या परवर्ती अपभ्रंश के लिए सचमुच किसी अलग नाम की आवश्यकता है? एक भाषा से निकलने वाली हर दूसरी भाषा किसी एक क्षण मे नही उत्पन्न होती। दो भाषाओ के बीच मे सक्रांति-काल होता ही है। वैदिकी और सस्कृत, सस्कृत और पालि, पालि और प्राकृत, प्राकृत और अपभ्रंश के बीच का सक्रांति काल किसी भी रूप में अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच के सक्रांति-काल से भिन्न नही है। ऐसी स्थिति मे कोई कारण नही है कि उन सक्रांति-कालीन भाषाओ को छोडकर इस सक्रांति-कालीन भाषा को एक अलग नाम दिया जाय। इस प्रकार की सक्रांति-कालीन भाषाओं को नाम देना प्रारम्भ किया जाय तो इनकी कोई सीमा न होगी। अपभ्रंश और अवहट्ट के बीच भी एक सक्रांति-काल होगा और इसी प्रकार अवहट्ट और आधुनिक भाषाओ के बीच में भी। और फिर उनके बीच भी। इसके अतिरिक्त सक्रांति-कालीन भाषा-रूप को एक अलग नाम देना कहाँ तक वैज्ञानिक है? ऐसा करने से उसके एक अलग भाषा होने का भ्रम होता है, जब कि वह स्वतन्त्र भाषा न होकर सक्रांति-कालीन भाषा, अर्थात् दो भाषाओं का मिलन-क्षेत्र है। और यो तो हर क्षण भाषा परिवर्तित होती रही है।

उपर्युक्त कथन के द्वारा प्रस्तुत पक्तियो का लेखक यह नही कहना चाहता कि 'अवहट्ट' शब्द या नाम का 'परवर्ती अपभ्रंश' के लिए प्रयोग बन्द कर दिया जाय। एक बार चल पडी परम्परा लाख गलत होने पर भी चलती ही रहती है। मैं केवल यह सकेत करना चाहता था कि बिना विशेष वैज्ञानिक आधार, औचित्य या आवश्यकता के यह नाम चल पडा है और चलती का नाम गाडी है।

अपभ्रंश की बोलियाँ और आधुनिक भाषाओ से उनका सम्बन्ध

ऊपर अपभ्रंश के भौगोलिक रूपो, भेदो या बोलियो का उल्लेख किया गया है। आज की आर्यभाषाओ की जननी के रूप में निम्नाकित अपभ्रंश-बोलियाँ उल्लेख्य हैं—

अपभ्रंश-बोलियाँ	उनसे निकलनेवाली आधुनिक भाषाएँ
१ शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी
	(ख) इस अपभ्रंश के नागर रूप से—

	(अ) राजस्थानी
	(ब) गुजराती
	(ग) इस अपभ्रंश के पहाड़ी भागों में स्थित रूप से—पहाड़ी
२. पैशाची या केकय टक्क	(क) लहँदा
	(ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है)
३. व्राचड	सिन्धी
४. महाराष्ट्री	मराठी
५ अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी
६. मागधी	(क) बिहारी
	(ख) बंगाली
	(ग) उड़िया
	(घ) असमिया

पहाड़ी भाषाओ (नेपाली, कुमायूँनी, गढवाली आदि) के लिए डॉ० चटर्जी ने **खस अपभ्रंश** की कल्पना की थी। किन्तु मेरे विचार में ये भी शौरसेनी से ही (शौरसेनी के उस रूप से जो पहाड़ी भागो मे प्रचलित था, यदि चाहें तो उसे अपभ्रंश बोली शौरसेनी की **खस उपबोली** कह सकते हैं) निकली है। 'पूर्वी हिन्दी' का सम्बन्ध डॉ० सक्सेना अर्धमागधी से नही मानते। उनके विचार में यह अपेक्षाकृत पाली के अधिक निकट है, किन्तु मेरे विचार मे उस अपभ्रंश को, जिससे पूर्वी हिन्दी निकली है, अर्धमागधी कहना ही उचित है। पीछे महाराष्ट्री प्राकृत पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि महाराष्ट्री केवल महाराष्ट्र की प्राकृत न होकर पूरे आर्य क्षेत्र मे काव्य मे प्रचलित थी। यहाँ, जिस महाराष्ट्री अपभ्रंश का उल्लेख है, वह वह अपभ्रंश है जो अपभ्रंश-काल मे महाराष्ट्र में प्रयुक्त होती थी। इस अपभ्रंश का सम्बन्ध उस प्राकृत से है जो प्राकृत-काल में महाराष्ट्र की जनभाषा थी। यह आवश्यक नही कि वह प्राकृत, काव्यभाषा महाराष्ट्री प्राकृत से सभी बातों में समान रही हो, यद्यपि दोनो का नाम एक है। ऊपर शौरसेनी अपभ्रंश के उपरूप **नागर अपभ्रंश** से राजस्थानी एवं गुजराती का सम्बन्ध माना गया है। यह शौरसेनी अपभ्रंश का दक्षिणी-पश्चिमी रूप था। अपभ्रंश की इस उपबोली को कभी-कभी **सौराष्ट्री अपभ्रंश** भी कहते है। **पैशाची** के स्थान पर कुछ लोग **केकय** का प्रयोग करते है। **खस** को **दरद** नाम से भी पुकारा गया है। कुछ लोगो ने **पैशाची** या **केकय** से ही सिंधी, पंजाबी एवं लहँदा तीनों को सम्बद्ध किया है किन्तु कुछ 'व्राचड़' से सिन्धी का विकास मानते हैं।

पालि-काल में गुजरात मे जो रूप बोला जाता था, दूसरी सदी ई० पू० में वहाँ से जाने वालो के साथ श्रीलंका पहुँचा। प्राकृत-काल मे वह **सिंहली प्राकृत** या **एलू प्राकृत** (सिंहली के आदि रूप को एलू कहते है) था। अपभ्रंश-काल में उसे **सिंहली अपभ्रंश** या **एलू अपभ्रंश** कह सकते है।

अपभ्रंश के कुछ प्रमुख रूप

शौरसेनी अपभ्रंश शौरसेनी प्राकृत से विकसित यह अपभ्रंश उत्तर में पहाड़ी बोलियों के क्षेत्र, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, कुछ पूर्वी पंजाब, मध्यप्रदेश के पश्चिमी भाग, राजस्थान एवं गुजरात में बोली जाती थी। इसी का परिनिष्ठित रूप तत्कालीन आर्यभाषी पूरे भारत की भाषा थी। अपभ्रंश साहित्य में इसी भाषा का प्रयोग हुआ है। इसे **पश्चिमी**

अपभ्रंश, नागरक अपभ्रंश, नागरिका या नागर अपभ्रंश भी कहते हैं। कभी-कभी नागरक अपभ्रंश का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश के गुजरात मे प्रयुक्त रूप के लिए भी हुआ है। परमात्मप्रकाश, योगसार, पाहुड दोहा, सावयधम्म दोहा, भविस्सयत्तकहा, उपदेश-तरंगिणी, सनत्कुमारचरिउ तथा कुमारपाल-प्रतिबोध आदि इसकी प्रमुख साहित्यिक कृतियाँ हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(१) प्राकृत-कल्पतरु के अनुसार इसका आधार महाराष्ट्री एव शौरसेनी प्राकृत है। (२) उसी के अनुसार इसमे असयुक्त, अनादि क्, ख, त्, थ्, क्रमश: ग्, घ्, द्, ध् हो जाते थे नाक>णाग, सुख>सुघु, पतितु>पदिदु, शोथ>सोधु। किन्तु 'सकल' जैसे कुछ शब्द माहाराष्ट्री प्राकृत की तरह सअल आदि हो जाते हैं (३) प्राकृतानुशासन के अनुसार श्, ष् का स् हो जाता था शोष>गोवु। (४) अत्य स्वर ह्रस्व हो गया था—सध्या>माझ। (५) स्वर-सयोग के बीच य्, व्, ह् का आगम हो जाता था। (६) स्वरमध्यग -म्- कभी-कभी -व- हो जाता था तथा परवर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता था कमल>कवँल। (७) अत्य -अ, -इ -उ कभी-कभी अनुनासिक हो जाते थे। (८) आदि अल्प प्राण स्पर्शों का अनेक शब्दो मे महाप्राणीकरण हो गया था। (९) -ई का स्त्री प्रत्यय तथा -आ का पुल्लिग प्रत्यय के रूप मे विकास हो चुका था। (१०) -डा, -डी, -उल, -उलि, -अ आदि कई स्वार्थ प्रत्यय प्रयुक्त होते थे। (११) अकारात पु० प्रथमा एक० -अह का -ओ (कभी-कभी -ए) तो मिलता ही है, साथ ही -उ एव -अ भी मिलता है। देव >देवो>देवु>देव। नपु० -अ तो था ही, पुँलिंग के प्रभाव मे नपु० मे -उ, -अ भी मिलता है। (१२) कुछ सर्वनामो मे रूपो का आधिक्य है। समवेत रूप से रूप कम हो गए। (१३) वर्तमानकालिक कृदत का प्रयोग तीनो कालो के लिए हो सकता था। कृदत का प्रयोग बढ गया था। (१४) क्रिया-रूप कम हो गए थे।

(ख) व्राचड अपभ्रंश—पुरुषोत्तम के प्राकृतानुशासन के अनुसार इसमे ष्, स् का श्, त, ध का अस्पष्ट उच्चारण, तथा चवर्ग का तालव्यीकरण हो गया था। इसका स्थान सिंध के आसपास था।

(ग) उपनागरक अपभ्रंश—इसके अन्तर्गत पुरुषोत्तम ने वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौडी, बर्बरी कौंतल, पाड्य तथा सिंहली का उल्लेख किया है। इनमे कैकेयी मे प्रतिध्वन्यात्मक शब्द, औड्री मे इ, ओ के अधिक प्रयोग, लाटी मे सम्बोधन के रूपो का आधिक्य, तथा वैदर्भी मे -उल्ल प्रत्यययुक्त शब्दो के आधिक्य का उल्लेख है। टक्की को हरिश्चन्द्र ने अपभ्रंश के अन्तर्गत रखा है, यद्यपि पुरुषोत्तम इसे प्राकृत मानते हैं।

(घ) दक्षिणी अपभ्रंश—इसका सम्बध महाराष्ट्री क्षेत्र से था। इसकी साहित्यिक कृतियाँ पुष्पदन्त का महापुराण तथा कनकामर करकडचरिउ आदि है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं (१) अन्य अपभ्रंशो मे क्ष् का ख् या क्ख् हो जाता है, किन्तु इसमे छ्। (२) अकारात पुल्लिग का एकवचन तृतीया पश्चिमी मे -एँ होता है, किन्तु इसमे एण। अर्थात इसमे इस दृष्टि मे विकास कम हुआ है। (३) वर्तमान (उत्तमपुरुष एकवचन) मे भी वही प्राचीनता दृष्टिगत होती है पश्चिमी मे -उँ, जबकि इसमे -मि। अन्यपुरुष बहुवचन मे -न्ति (पश्चिमी मे -हिं)।

बहुत से लोग दक्षिणी अपभ्रंश का साहित्य मे अस्तित्व नही मानते।

(ङ) पूर्वी अपभ्रंश—बगाल, बिहार, आसाम, उडीसा इसका क्षेत्र था। सरहपा और कण्हपा के दोहे इसी मे हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं (१) क्ष्>ख, क्ख् (क्षण=खण, अक्षर=अक्खर)। (२) व्>ब् (वेन>बअ)। (३) श् सुरक्षित है तथा स, ष दोनो ही श् हो गए हैं। (४) प्रारम्भ मे महाप्राण प्राय नही है। (५) अनेक सज्ञाएँ बिना विभक्ति के प्रयुक्त

हुई हैं। (६) लिंग का बन्धन कम हो गया है। (७) क्रियार्थक संज्ञा -इब से बनती थी, न कि पश्चिमी की तरह -अण से।

अपभ्रंश की सामान्य विशेषताएँ—(१) इसमें निम्नांकित ध्वनियाँ थीं : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऍ, ए, ऑ, ओ, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य, र, ल, व़, व, स, ह, ळ, ळ्ह, म्ह, न्ह, ण्ह, ल्ह, र्ह, ड़ ढ़। ऍ, ऑ के लिए स्वतंत्र चिह्न न होने से, इनके लिए प्रायः इ, उ का व्यवहार होता था। 'अ' का पूर्वी तथा पश्चिमी अपभ्रंशों में सवृत-विवृत का भेद था। ऋ का लिखने में प्रयोग था, किन्तु उसका उच्चारण रि होता था। श का प्रचार केवल मागधी (सम्भवतः पूर्वी मागधी) मे था। ळ महाराष्ट्री में तो था ही, साथ ही उड़ीसा में बोली जाने वाली मागधी अपभ्रंश एवं गुजरात, राजस्थान, बांगड़, पहाडी में बोली जाने वाली शौरसेनी में भी था। इन क्षेत्रों में अब भी यह ध्वनि है। ळ्ह भी कहीं-कहीं था। म्ह आदि महाप्राण थे। (२) स्वरों का अनुनासिक रूप (ऋ का नहीं) प्रयुक्त होने लगा था। (३) संगीतात्मक स्वराघात समाप्त हो चुका था। बलात्मक स्वराघात विकसित हो चुका था। (४) अपभ्रंश एक उकार-बहुला भाषा थी। यों तो 'ललितविस्तर' तथा 'प्राकृत धम्मपद' आदि ग्रन्थों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु वहाँ यह प्रवृत्ति अपने बीज रूप में है। अपभ्रंश में यह बहुत अधिक है जहाँ से यह ब्रजभाषा या अवधी आदि को मिली है (जैसे एक्कु, कारणु, पियासु, अंगु, मूलु और जगु आदि)। (५) ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से जो प्रवृत्तियाँ (लोप, आगम, विपर्यय आदि) पालि में शुरू होकर प्राकृत में विकसित हुई थीं, उन्हीं का यहाँ आकर और विकास हो गया। (६) शब्द के अन्तिम स्वर के ह्रस्व होने की प्रवृत्ति प्राकृत में भी थी, किन्तु अपभ्रंश में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, बढ़ गई। अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक विशेषताओं में प्रमुख होने के कारण यह उल्लेख्य है। अन्त्य स्वर का यह ह्रस्वीकरण या कभी-कभी लोप स्वराघात के कारण हुआ है। जिस अन्तिम स्वर पर स्वराघात होगा, उसका लोप या ह्रस्व रूप नहीं होता, किन्तु जिस पर स्वराघात नहीं होता, उस पर बल कम होता जाता है। इस प्रकार उसका रूप ह्रस्व हो जाता है, या और आगे बढ़कर वह समाप्त भी हो जाता है सं० गर्भिणी, प्रा० गब्भिणी, अप० गब्भिणि; सं० कीटक, प्रा० कीडअ, अप० कीड)। इन शब्दो में प्राकृत की तुलना में ह्रस्व या लोप दिखाई पडता है। संस्कृत की तुलना में तो यह प्रवृत्ति अपभ्रंश मे और भी मिलती है, जैसे हरीडइ (हरीतकी), संझ (सन्ध्या), वरआत्त (वरयात्रा) आदि। (७) अपभ्रंश में स्वराघात प्रायः आद्यक्षर पर था, इसीलिए आद्यक्षर तथा उसका स्वर यहाँ प्रायः सुरक्षित मिलता है। जैसे माणिक्य-माणिक्क; घोटक-घोडअ, या घोडा आदि (संस्कृत की तुलना में)। प्राकृत की तुलना में छाहा (सं० छाया) से छाआ, आमलअ (सं० आमलक) से आवँलअ आदि है। (८) म का वँ (प्रा० आमलअ, अप० आवँलअ, कमल-कवँल); व का ब (वचन-बअण); ष्ण का न्ह (कृष्ण-कान्ह); क्ष का क्ख या च्छ (पक्षी—पक्खी, पच्छी); स्म का म्ह (अस्मै—अम्ह); य का ज (युगल—जुगल); ड, द, न, र के स्थान पर 'ल' (प्रदीप्त—पलित्त आदि) आदि रूप मे ध्वनि-विकास की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। (९) (विशेषतः परवर्ती अपभ्रंश मे) समीकरण के कारण उत्पन्न द्वित्वता में एक व्यंजन बच गया है और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक-दीर्घीकरण हो गया है (सं० तस्य, प्रा० तस्स, अप० तासु; कस्य, कस्स, कासु; कर्म, कम्म, कामु)। (१०) पालि, प्राकृत में विकास तो हुआ था, किन्तु सब कुछ ले-देकर वे संस्कृत की प्रवृति से अलग नहीं थी। अपभ्रंश पूर्णतः अलग हो गई और वह प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर अधिक झुकी है। (११) भाषा में धातु और नाम दोनोंकेरूप कम हो गए।इस प्रकार भाषा अधिक सरल हो गई। (१२) वैदिकी, संस्कृत, पालि तथा प्राकृत संयोगात्मक भाषाएँ थीं। प्राकृत में वियोगात्मकता या अयोगात्मकता के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे, किन्तु अपभ्रंश में आकर ये लक्षण प्रमुख हो गए, इतने प्रमुख कि

सयोगात्मक और वियोगात्मक भाषाओ के सन्धिस्थल पर खडी अपभ्र श भाषा वियोगात्मकता की ओर ही अधिक झुकी है। यह बात आगे की दोनो बातो से स्पष्ट हो जायगी। (१३) सज्ञा, सर्वनाम मे कारक के रूप के लिए सयोगात्मक भाषाओ मे केवल विभक्तियाँ लगती हैं जो जुडी होती हैं, किन्तु वियोगात्मक मे अलग मे शब्द लगाने पडते हैं जो अलग रहते हैं। हिन्दी मे ने, को, मे, से आदि ऐसे ही अलग शब्द हैं। प्राकृत मे इस तरह के दो-तीन शब्द मिलते है, किन्तु अपभ्र श मे बहुत से कारको के लिए अलग शब्द मिलते हैं। जैसे करण के लिए सहुँ, तण, सम्प्रदान के लिए केहि, रेसि, अपादान के लिए थिउ, होन्त, सम्बन्ध के लिए केरअ, कर, का, और अधिकरण के लिए महे, मज्झ आदि। (१४) ऊपर नाम-रूप थे। काल-रूपो के बारे मे भी यही स्थिति है। सयोगात्मक भाषाओ मे तिङ् प्रत्यय के योग से काल और क्रियार्थ की रचना होती है। वियोगात्मक मे सहायक क्रिया के सहारे कृदन्ती रूपो से ये बातें प्रकट की जाती हैं। इस प्रकार की वियोगात्मक प्रवृत्तियाँ प्राकृत मे अपनी झलक दिखाने लगी थी, किन्तु अब ये बातें बहुत स्पष्ट हो गई। सयुक्त क्रिया का प्रयोग होने लगा। तिङन्त रूप कम रह गए। (१५) नपुसकलिंग समाप्तप्राय हो गया (महाराष्ट्रीय एव दक्षिणी शौरसेनी अपवाद थीं)। (१६) अकारान्त पुल्लिग प्रातिपदिको की प्रमुखता हो गई। अन्य प्रकार के थोडे-बहुत प्रातिपदिक थे भी तो उन पर इसी के नियम प्राय लागू होते थे। इस प्रकार इस क्षेत्र मे एकरूपता आ गई। (१७) कारको के रूप बहुत कम हो गए। सस्कृत मे एक शब्द के लगभग २४ रूप होते थे, प्राकृत मे उनकी सख्या लगभग १२ रह गई थी, अपभ्र श मे लगभग ६ रूप रह गए दो वचनो और ३ कारको (१ कर्ता, कर्म, सम्बोधन, २ करण, अधिकरण, ३ सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध) के। (१८) स्वार्थिक प्रत्यय -ड का प्रयोग अधिक होने लगा। राजस्थानी आदि मे यही -ड, -डी, -डिया आदि रूपो मे मिलता है। (१९) वाक्य मे शब्दो के स्थान निश्चित हो गए। (२०) अपभ्र श के शब्द-भण्डार की प्रमुख विशेषताएँ हैं—(क) तद्भव शब्दो का अनुपात अपभ्र श मे सर्वाधिक है। (ख) दूसरा नम्बर देशज शब्दो का है। क्रियाओ म भी ये शब्द पर्याप्त हैं। ध्वनि और दृश्य के आधार पर बने नये शब्द भी अपभ्र श मे काफी हैं। (ग) तत्सम शब्द अपभ्र श के पूर्वार्द्ध-काल मे तो बहुत ही कम हैं, किन्तु उत्तरार्द्ध मे उनकी सख्या काफी बढ़ गई है। (घ) इस समय तक बाहर से भारत का पर्याप्त सम्पर्क हो गया था, इसी कारण उत्तरकालीन अपभ्र श मे कुछ विदेशी शब्द भी आ गए हैं, जैसे *ठट्ठा (फा० तख्त), ठक्कुर (तुर्की तेगिन), नीक, तुर्क*, तहसील, नौबति, हुद्दादार (फा० ओहदादार) आदि। (ङ) आस्ट्रिक एव द्रविड के अनेक शब्द तो आत्मसात् ही कर लिए गए थे।

अवहट्ठ या अवहट्ट— जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अवहट्ट अपभ्र श, और आधुनिक भाषाओं के बीच की कडी है। बल्कि यो कहना अधिक उचित होगा कि *यह अपभ्र श और आधुनिक भाषाओ की सधिकालीन भाषा है*। अपभ्र श मोटे रूप से १००० ई० के लगभग समाप्त हुई और आधुनिक भाषाओ का आरम्भ हुआ। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक है कि लगभग ९०० से ११०० ई० या कुछ बाद तक की भाषा मे अपभ्र श एव आधुनिक भाषाओ का बहुत अधिक मिश्रण रहा होगा। ९०० से प्राय १००० ई० तक अपभ्र श के अश अधिक रहे होंगे और आधुनिक भाषाओ के अश कम, किन्तु १००० ई० से ११०० या कुछ बाद तक अपभ्र श के अश धीरे-धीरे कम होते गए और आधुनिक भाषाओ के अश बढते गए। यो तो उसके बाद भी लगभग १३ १४वी सदी तक कुछ-न-कुछ अपभ्र श-अश मिलते हैं, किन्तु वे बहुत कम हो गए हैं। तो इस प्रकार सधिकालीन अपभ्र श या अवहट्ट भाषा मोटे रूप से ९०० ई० से ११०० ई० या कुछ बाद तक है। यो साहित्य मे इसका प्रयोग १४वी सदी तक होता रहा है। साहित्यिक अवहट्ट का मूल रूप कदाचित् परिनिष्ठित पश्चिमी अपभ्र श था, किन्तु जो ग्रन्थ जहाँ रचा गया, वहाँ की भाषा का भी कुछ प्रभाव उस

पर पड़ा था। यों साहित्यिक दृष्टि से इसके **पूर्वी** और **पश्चिमी** दो ही रूप हैं, किन्तु बोलचाल में सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के मूल में अवहट्ठ के एक-एक भौगोलिक रूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ साहित्य में प्रमुखतः संनेहरासक, उक्ति-व्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर तथा कीर्तिलता आदि है। कुछ लोग ज्ञानेश्वरी, राउलवेलि आदि को भी इसके अन्तर्गत रखते हैं। वस्तुतः इनमें कई रचनाओं में कुछ अंश अपभ्रंश के नज़दीक हैं, तो कुछ आधुनिक भारतीय भाषाओं के। इस प्रसंग में **देसिल बअना** या **देशी** को लेकर कुछ विवाद है। डॉ० हीरालाल जैन तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना अवहट्ठ तथा देशी को एक मानते हैं, किन्तु ब्लॉख, पिशेल आदि दोनों को अलग-अलग मानते हैं। वस्तुतः **देशी** या **देसी** शब्द का प्रयोग समय-समय पर प्राकृत एवं अपभ्रंश के लिए होता रहा है और अवहट्ठ जब बोली जा रही थी तो उसके लिए भी इसका प्रयोग हुआ। इस प्रकार अवहट्ठ-काल मे देशी का प्रयोग उसी के लिए हुआ है, किसी अन्य के लिए नहीं। अवहट्ठ की प्रमुख विशेषताएँ ये है : (१) अवहट्ठ में वे सभी ध्वनियाँ थीं जो अपभ्रंश में थीं। साथ ही उनके अतिरिक्त **ऐ, औ** दो नई ध्वनियों का विकास हो गया। पुराने **अइ** का विकास ऐ (भुजपति >भुववइ >भुववै) में, तथा **अउ** का विकास **औ** (चतुःहाटक>चउहट्ट>चौहट्ट) में हुआ। ह्रस्व एं, ओं का प्रयोग कम हो गया। **ऋ** का प्रयोग लेखन में है, किन्तु उच्चारण में यह **रि** थी। व्यंजन वे ही थे जो अपभ्रंश में थे। अन्तर केवल कुछ दृष्टियों से आया। संस्कृत के तत्सम शब्दों के आने पर **श्** ध्वनि का प्रसार और क्षेत्रों में भी कुछ हुआ। **ष्** केवल लेखन तक ही प्रायः सीमित था। उच्चारण में यह **श्** ही था। **ल्ह** (मिल्हे—संदेशरासक), **म्ह** (बाम्हण—उक्तिव्यक्ति), **न्ह** (ऊन्ह—उक्तिव्यक्ति), **र्ह** ध्वनियाँ भी थीं। (२) स्वर-संयोगों के मिलकर एक हो जाने की सामान्य प्रवृत्ति मिलती है। इसे **स्वर-संकोचन** (Vowel contraction) कहा गया है : मयूर>मऊर>मोर; अन्धकार>अन्धआर>अन्धार; चतुर्विंशति> चउबिस>चौबिस । (३) अकारण अनुनासिकता (Spontaneous nasalization) भी मिलती है :—अश्रु>अस्सु>अँसू, आँसू । (४) क्षतिपूरक दीर्घीकरण (Compensatory lengthening)—इसमें व्यंजन-द्वित्व के स्थल पर एक व्यंजन हो जाता है,अतः उस व्यंजन की अनुपस्थिति के कारण हुई मात्रिक क्षति की पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। उदाहरणार्थ तुर्की तेगिन>ठक्कुर>ठाकुर; कार्य>कज्ज>काज; कर्म>कम्म >काम; मित्र>मित्त>मीत; उच्छ्वास>उस्सास>ऊसास । इसके अपवाद भी मिलते हैं : अप्पण> अपन। (५)अंत्य -ए, -ओ ह्रस्व होकर -इ, -उ हो गए : परः>परो>परु;,क्षणे>खणे>खणि। (६) स्वरमध्यग -म- प्रायः -व- मिलता है : सम->सँव । पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है। (७) अकारांत प्रथमा एकवचन (पुंल्लिग) का -अः तथा नपुंसकलिंग -अम्, इन दोनों ही के स्थान पर -उ या -अ मिलता है। वस्तुतः हुआ यह कि पुंल्लिग -अः का -ओ ,और -ओ का -उ हो गया। इस पुंल्लिग का ही प्रभाव नपुंसकलिंग पर पड़ा और वह भी -उ हो गया। अन्त मे -उ निर्बल होकर -अ रह गया। (८) पुंल्लिग एवं स्त्रीलिंग में भी काफ़ी रूप समान हो गए। (९) एह, जेह, केह जैसे नए सर्वनाम प्रयोग में आने लगे। (१०) संयुक्त क्रिया का प्रयोग होने लगा। (११) परम्परा रूप से तद्भव शब्द अधिक प्रयोग में आते रहे। हिन्दू धर्म के प्रति पुनर्जागरण के कारण तत्सम शब्द भी काफ़ी प्रयुक्त होने लगे। मुसलमानों के आने के कारण अरबी, फारसी, तुर्की के शब्द भी काफी आ गए। अवहट्ठ साहित्य में प्रयुक्त कुछ विदेशी शब्द कुरुवक (कोरवेग), देमान (दीवान), तकतान (तख़्त), तथ्य (तश्त), षोजा (ख़्वाजा), आदि है। देशी शब्दों की संख्या भी पर्याप्त थी, जैसे गुंडा (=गोली), हचड़ (=कीचड़), घोंगड़ (=जंगली), धाड़ा (=धावा) आदि ।

आधुनिक आर्यभाषा

अपभ्रंश के विभिन्न स्थानीय रूप १००० ई० के आसपास अवहट्ठ रूपो से होते आधुनिक भाषाओं के रूप मे विकसित हो गए। आधुनिक भारतीय भाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—(१) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रमुखत वही ध्वनियाँ हैं जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि मे थी। किन्तु कुछ विशेषताएँ भी हैं—(क) पंजाबी आदि मे उदासीन स्वर 'अ' भी प्रयुक्त होने लगा है। अवधी आदि में जपित या अघोष स्वरो का प्रयोग होता है। गुजराती मे मर्मर स्वर का विकास हो गया है। प्राकृत-अपभ्रंश मे केवल मूल स्वर थे, किन्तु अवहट्ठ मे ऐ, औ विकसित हो गए थे। कई आधुनिक भाषाओं मे इनका प्रयोग होता है, यद्यपि कुछ बोलियों मे केवल मूल स्वरों का प्रयोग हो रहा है, सयुक्त स्वरो का नही। (ख) 'ऋ' का प्रयोग तत्सम शब्दों में लिखने मे चल रहा है, किन्तु बोलने मे यह स्वर न रहकर 'र' के साथ इ या उ स्वर का योग रह गया है। उत्तरी भारत मे इसका उच्चारण 'रि' है और गुजराती आदि में 'रु'। (ग) व्यजनों में, जहाँ तक ऊष्मों का प्रश्न है, लिखने मे तो प्रयोग स, ष, श तीनों का हो रहा है, किन्तु उच्चारण में स, श दो ही हैं। 'ष' भी 'श' रूप में उच्चरित होता है। चवर्ग के उच्चारण में आधुनिक काल मे एकरूपता नही है। हिन्दी मे ये ध्वनियाँ स्पर्श-संघर्षी हैं, किन्तु मराठी में इनका एक उच्चारण त्स (च), द्ज (ज) जैसा भी है। सच पूछा जाय तो मराठी में दो चवर्ग हो गये हैं। सयुक्त व्यजन 'ज्ञ' के शुद्ध उच्चारण (ज्ञ्ञ) का लोप हो चुका है, उसके स्थान परज्यँ,ग्यँ औरद्यँ,ग्नँ आदि कई उच्चारण चल रहे हैं। (घ) विदेशी भाषाओं के प्रभाव-स्वरूप आधुनिक भाषाओं मे कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, जैसे क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ऑ आदि। इन ध्वनियों का लोकभाषाओं मे तो क, ख, ग, ज, फ, आ के रूप में उच्चारण हो रहा है, किन्तु पढ़े-लिखे लोग इन्हें प्राय मूल रूप मे बोलने का प्रयास करते हैं। सगम (Juncture) तथा अनुनासिकता प्राय सभी मे स्वनिमिक है। (२) जिन शब्दों के उपधा (Penultimate) स्वर या अन्तिम को छोड़कर किसी और पर बलात्मक स्वराघात था, (क) उनके अन्तिम दीर्घ स्वर प्राय ह्रस्व हो गए हैं तथा (ख) अंतिम 'अ' स्वर कुछ अपवादों (सयुक्त व्यंजनादि) को छोड़कर प्राय लुप्त हो गया है (राम्, अब् आदि)। (३) प्राकृत आदि मे जहाँ समीकरण के कारण व्यजन-द्वित्व या दीर्घ व्यजन (कर्म—कम्म) हो गए थे, आधुनिक काल में 'द्वित्व' मे केवल एक रह गया और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घता आ गई (कम्म—काम, अट्ठ—आठ)। पंजाबी, सिन्धी अपवाद हैं, उनमे प्राय प्राकृत से मिलते-जुलते रूप ही चलते हैं (अट्ठ, कम्म)। (४) बलात्मक स्वराघात है। वाक्य के स्तर पर सगीतात्मक भी है। (५) अपभ्रंश के प्रसग में कहा जा चुका है कि संस्कृत, पालि आदि की तुलना में रूप कम हो गए थे। आधुनिक भाषाओं मे अपभ्रंश की तुलना मे भी रूप कम हो गए हैं, इस प्रकार भाषा सरल हो गई है। संस्कृत आदि मे कारक के तीनों वचनों में लगभग २४ रूप बनते थे। प्राकृत मे लगभग १२ हो गए थे, अपभ्रंश मे ६ और आधुनिक भाषाओं मे केवल दो, तीन या चार रूप हैं। क्रिया के रूपों में भी पर्याप्त कमी हो गई है। क्रियार्थ या काल आदि तो सभी, बल्कि संस्कृत आदि से अधिक व्यक्त कर लिये जाते हैं, किन्तु सबके रूप अलग नहीं हैं। सहायक शब्दों से काम चल जाता है। मूल रूप थोड़े हैं। (६) रचना की दृष्टि से संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि की भाषा योगात्मक थी। अयोगात्मकता अपभ्रंशों मे आरम्भ हुई और अब, आधुनिक भाषाएँ (नाम और धातु दोनों दृष्टियों से) पूर्णत अयोगात्मक या वियोगात्मक हो गई हैं। कुछ रूप योगात्मक हैं भी तो अपवाद-स्वरूप। नाम-रूपो के लिए परसर्गों का प्रयोग होता है और धातु-रूपों के लिए कृदत और सहायक क्रिया के आधार पर सयुक्त क्रिया का। (७) संस्कृत मे वचन ३ थे। मध्यकालीन आर्यभाषाओं मे ही द्विवचन

समाप्त हो गया था और आधुनिक काल में भी केवल दो वचन हैं। अब प्रवृत्ति एकवचन की है। लगता है कि आगे चलकर रूप केवल एकवचन के रह जायँगे और दो, तीन या अधिक का भाव सहायक शब्दों से प्रकट किया जाएगा। उदाहरणार्थ, हिन्दी में 'मैं' के प्रयोग की प्रवृत्ति कम हो रही है। उसके स्थान पर 'हम' चल रहा है,जिसके बहुवचन का कोई अलग रूप नहीं होता, केवल 'लोग' या 'सब' जोड़कर काम चला लेते हैं। (८) संस्कृत में लिंग ३ थे। मध्ययुगीन भाषाओं में भी स्थिति यही थी। आधुनिककाल मे सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी तथा हिंदी में २ लिंग हैं (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग) सम्भवतः तिब्बत-बर्मी मुंडा आदि भाषाओं के प्रभाव के कारण बंगाली, उड़िया, असमी में लिंगभेद कम-सा है। बिहारी, नेपाली में भी समाप्त होता-सा दिखाई दे रहा है। तीन लिंग केवल गुजराती, मराठी और (कुछ) सिंहली में है। (९) आधुनिक भाषाओं में प्राचीन तथा मध्ययुगीन से शब्द-भण्डार की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पश्तो, तुर्की, अरबी, फ़ारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेज़ी आदि से लगभग ८-९ हज़ार नये विदेशी शब्द आ गए हैं। इनके पूर्व भाषाओं का प्रमुख शब्द-भण्डार तत्सम, तद्भव और देशज का ही था। मध्ययुगीन भाषाओं की तुलना मे आज तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हो रहा है और तद्भव का अपेक्षाकृत कम। इधर पारिभाषिक शब्दावली की कमी दूर करने के लिए नए शब्द बनाए और अपनाए जा रहे हैं। अनुकरणात्मक एवं प्रतिध्वन्यात्मक शब्द बहुत प्रयुक्त होने लगे हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में **सिन्धी, गुजराती, लहँदा, पंजाबी, मराठी, उड़िया, बंगाली, असमिया, हिन्दी** (पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी) प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त **कश्मीरी** भी भारत की एक महत्त्वपूर्ण भाषा है, किन्तु मूलतः वह भारत-ईरानी की दरद शाखा में आती है, इसलिए उसका विवरण पीछे यथास्थान दिया गया है। उर्दू, वस्तुतः भाषावैज्ञानिक स्तर पर हिन्दी की ही अरबी-फ़ारसी से प्रभावित एक शैली है। इसीलिए प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी के अन्तर्गत ही उसका विवरण दिया गया है। **राजस्थानी, पहाड़ी** तथा **बिहारी** को लोगों ने अलग रखा है, किन्तु ये हिन्दी प्रदेश में आती हैं, अतः इन पर भी हिन्दी प्रदेश के अन्तर्गत ही प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः अब भाषा के आकृतिमूलक या पारिवारिक वर्गीकरण से सांस्कृतिक वर्गीकरण को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता और इस दृष्टि से ये सभी—राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी—हिन्दी के सांस्कृतिक वर्ग में आती हैं।

भारत के बाहर बोली जाने वाली आधुनिक आर्यभाषाओं में **नेपाली, सिंहली** तथा **जिप्सी** भी उल्लेख्य हैं। आगे इन सभी का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। हमारा प्रमुख संबंध हिन्दी से है, अतः उस पर विस्तार से विचार किया गया है।

वर्गीकरण— आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण पर विभिन्न विद्वानों (हार्नले, वेबर, ग्रियर्सन, चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा आदि) द्वारा विभिन्न रूपों में विचार किया गया है। यहाँ कुछ प्रमुख का उल्लेख किया जा रहा है।

(अ) इस प्रसंग में प्रथम नाम **हार्नले** का लिया जा सकता है। उन्होंने (Comparative Grammar of the Gaudian Lgs. में) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को ४ वर्गों मे रक्खा : (क) **पूर्वी गौडियन**—पूर्वी हिन्दी (इसी में बिहारी भी है), बंगला, असमी, उड़िया। (ख) **पश्चिमी गौडियन**—पश्चिमी हिन्दी (राजस्थानी भी), गुजराती, सिन्धी, पंजाबी। (ग) **उत्तरी गौडियन**—गढ़वाली, नेपाली आदि (पहाड़ी)। (घ) **दक्षिणी गौडियन**—मराठी।

(ब) हार्नले ने (उपर्युक्त पुस्तक में) भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के आधार पर पिछली सदी में यह सिद्धान्त रक्खा था कि भारत में आर्य कम-से-कम दो बार आये।

आर्य आधुनिक पंजाब में आकर बसे थे। कुछ दिन बाद दूसरे आर्यों का हमला हुआ। जैसे कहीं कील ठोकने पर कील छेद बनाकर बैठ जाती है और उस बने छेद के स्थान पर जो चीज रहती है, चारो ओर चली जाती है, उसी प्रकार नवागत आर्य उत्तर से आकर प्राचीन आर्यों के स्थान पर जम गए और पूर्वागत पूरब, दक्षिण, पश्चिम मे फैल गये। इस प्रकार नवागत आर्य भीतरी कहे जा सकते हैं और पूर्वागत बाहरी। इस भीतरी और बाहरी को लेकर—यद्यपि दो बार आक्रमण न मानते हुए—ग्रियसन ने (Linguistic Survey of India, भाग १, तथा Bulletin of the School of Oriental Studies, London Institution, Vol I, Pt III 1920 मे) अपना पहला वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इसमे ३ वर्ग हैं----

(१) बाहरी उपशाखा—(क) पश्चिमोत्तरी समुदाय (लहँदा, सिन्धी), (ख) दक्षिणी समुदाय (मराठी), (ग) पूर्वी समुदाय (उडिया, बगाली, असमी, बिहारी)।

(२) मध्यवर्गी उपशाखा—(क) मध्यवर्ती समुदाय (पूर्वी हिन्दी)।

(३) भीतरी उपशाखा—(क) केन्द्रीय समुदाय (पश्चिमी हिन्दी, पजाबी, गुजराती, भीली[1], खानदेशी[2]), (ख) पहाडी समुदाय (पूर्वी, मध्यवर्ती, पश्चिमी)।

बाद मे ग्रियसन ने (Indian Antiquary, Supplement of Feb 1931) एक नया वर्गीकरण सामने रखा जो इस प्रकार है (क) मध्यदेशी—पश्चिमी हिन्दी। (ख) अन्तर्वर्ती—(I) पश्चिमी हिन्दी से विशेष घनिष्ठता वाली (पजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाडी (पूर्वी, पश्चिमी, मध्य), (II) बहिरग से सम्बद्ध (पूर्वी हिन्दी)। (ग) बहिरग भाषाएँ—(I) पश्चिमोत्तरी (लहँदा, सिन्धी), (II) दक्षिणी (मराठी), (III) पूर्वी (बिहारी, उडिया, बगाली, असमी)।

ग्रियर्सन का वर्गीकरण ध्वनि, व्याकरण या रूप तथा शब्द-समूह, इन तीन बातो पर आधारित है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इन तीनो की ही आलोचना की है। उन्ही के आधार पर ग्रियर्सन के कुछ प्रमुख आधार सक्षिप्त आलोचना के साथ दिये जा रहे हैं।

(१) ध्वनि—ग्रियर्सन के वर्गीकरण के ध्वन्यात्मक आधार लगभग पन्द्रह हैं जिनमे केवल प्रमुख चार-पांच लिये जा रहे हैं। (क) ग्रियर्सन के अनुसार 'र्' का 'ल्' या 'ड्' के लिए प्रयोग केवल बाहरी भाषाओं में मिलता है, किन्तु यथार्थत ऐसी बात नही है। अवधी, ब्रज, खडीबोली आदि मे भी यह प्रवृत्ति मिलती हैं। जैसे बर (बल), गर (गला), जर (जल), बीरा (बीडा), किवार (किवाड), भीर (भीड आदि)। (ख) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओ मे 'द्' का परिवर्तन 'ड्' में हो जाता है। किन्तु यह बात भीतरी मे भी मिलती है। हिन्दी मे डीठि (दृष्टि), ड्योढी (देहली), डेढ (द्व्यर्द्ध), डाभ (दर्भ), डाढा (दग्ध), डडा (दड), डोली (दोलिका), डोरा (दोरक), डँसना (दश) आदि उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं। (ग) ग्रियसन का कहना है कि 'म्ब' ध्वनि का विकास बाहरी भाषाओ मे 'म' रूप मे हुआ है तथा भीतरी मे 'ब्' रूप में। किन्तु इसके विरोधी उदाहरण भी मिलते हैं। पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र मे 'जम्बुक' का 'जामुन' या 'निम्ब' का 'नीम' मिलता है। दूसरी ओर बँगला मे 'निम्बुक' का 'लेबू' या 'नेबू' मिलता है। (घ) ऊष्म ध्वनियो को लेकर ग्रियसन का कहना है कि भीतरी मे इनका उच्चारण अधिक दबाकर किया जाता है और वह 'स' रूप मे होता है, किन्तु बाहरी मे यह श, ख या ह रूप मे मिलता है। बगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भागो मे निबल होकर यह 'श' हो गया है। पूर्वी बगाल और असम मे और भी निर्बल होकर 'ख' हो गया है और बगला तथा पश्चिमोत्तरी मे 'ह' हो गया है। जहाँ तक स्वरों के बीच मे के 'स' के 'ह' हो जाने का सम्बन्ध है, वह बाहरी के साथ भीतरी भाषाओ मे पाया जाता है। स० एकसप्तति, प० हिन्दी एकहत्तर, स द्वादश, प० हि०

१-२ ये दोनों राजस्थानी-गुजराती के रूप हैं।

बारह, सं० करिष्यति, प० हि० करिहइ। साथ ही बाहरी में 'स' भी कहीं-कहीं है, जैसे लहँदा करेसी (करेगी)। 'स' वाला विकास बड़ा सीमित और पूर्वक्षेत्रीय है। उसके आधार पर धुर पूर्व और पश्चिम की भाषाएँ एक वर्ग में नहीं रखी जा सकतीं। 'श' वाली विशेषता बंगला आदि में मागधी प्राकृत से चली आ रही है और वह प्रायः निर्बन्ध (unconditional) है। मराठी में वह बाद का विकास है और सबन्ध (conditional) है (इ, ई, ए, य आदि तालव्य ध्वनियों के प्रभाव से)। इस रूप मे तो भीतरी की गुजराती में भी यह विकास है, जैसे करशे (करिष्यति)। इस प्रकार यह भी भेदक तत्त्व नही है। (ङ) महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राण हो जाना भी ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में है, भीतरी में नहीं। किन्तु हिन्दी में भगिनी का बहिन, प्राकृत कल्पित रूप *इंठा (सं०इष्टक) का ईंट, प्राकृत कल्पित रूप *ऊँठ(सं० उष्ट्र) का ऊँट इसके विरोध में जाते हैं।

व्याकरण या रूप—ग्रियर्सन ने इस प्रसंग में पाँच-छह रूप-विषयक आधारों का उल्लेख किया है जिनमें से तीन यहाँ लिये जा रहे है। (क) ग्रियर्सन -ई स्त्री प्रत्यय के आधार पर बाहरी वर्ग की पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं को एक वर्ग की सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु वस्तुतः यह तर्क तब ठीक माना जाता जब भीतरी वर्ग में यह बात न मिलती। हिन्दी में इस प्रत्यय का प्रयोग क्रिया (गाती,दौड़ी),परसर्ग (की),संज्ञा (लड़की,बेटी),विशेषण (बड़ी,छोटी) आदि कई वर्ग के शब्दों में खूब होता है, अतः इसे इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार नहीं मान सकते। (ख) भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक होती है और कुछ लोगों के अनुसार वियोगात्मक से फिर संयोगात्मक। ग्रियर्सन का कहना है कि संयोगात्मक भाषा संस्कृत से चलकर आधुनिक भाषाएँ (कारक रूप में) वियोगात्मक हो गई है, किन्तु आधुनिक में भी बाहरी भाषाएँ विकास में एक कदम और आगे बढ़कर संयोगात्मक हो रही है। जैसे हिन्दी 'राम की किताब', बंगाली 'रामेर बोई'। ग्रियर्सन का यह भी कहना है कि भीतरी में यदि कुछ संयोगात्मक रूप मिलते भी हैं तो वे प्राचीन के अवशेष मात्र है, अर्थात् प्रवृत्ति नहीं है, अपवाद हैं। इस प्रकार बाहरी-भीतरी भाषाओं में यह एक काफ़ी बड़ा अन्तर है। किन्तु ग्रियर्सन का यह अन्तर भी सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जैसा कि डॉ० चटर्जी ने दिखाया है, तुलनात्मक ढंग से जब हम बाहरी और भीतरी के कारक-रूपों का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि संयोगात्मक रूपों का प्रयोग भीतरी में बाहरी से कम नहीं है, अतः इस बात को भी भेदक तत्त्व नहीं माना जा सकता। [ब्रज पूतहि (कर्म), मनहिं, भौनहिं (अधिकरण)]। (ग) ग्रियर्सन विशेषणात्मक प्रत्यय 'ल' को केवल बाहरी भाषाओं की विशेषता मानते हैं, यद्यपि भीतरी में भी यह पर्याप्त है, जैसे रँगीला, हठीला, भड़कीला, चमकीला, कटीला, गठीला, खर्चीला आदि।

(३) शब्द-समूह—इसके आधार पर भी ग्रियर्सन बाहरी भाषाओं में साम्य मानते हैं। किन्तु विस्तार से देखने पर यह बात भी ठीक नहीं उतरती। मराठी-बंगाली, या बंगाली-सिन्धी में बंगाली-हिन्दी से अधिक साम्य नहीं है।

इस प्रकार ग्रियर्सन जिन बातों के आधार पर बाहरी-भीतरी वर्गीकरण को स्थापित करना चाहते थे, वे बहुत सम्पुष्ट नहीं है। (स) डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का वर्गीकरण(O. D. B. L. में) इस प्रकार है : (क) उदीच्य (सिन्धी, लहँदा, पंजाबी)। (ख) प्रतीच्य (गुजराती, राजस्थानी)। (ग) मध्यदेशीय (पश्चिमी हिन्दी)। (घ) प्राच्य (पूर्वी हिन्दी, बिहारी, उड़िया, असमिया, बंगाली)। (ङ) दाक्षिणात्य (मराठी)।

डॉ० चटर्जी पहाडी को राजस्थानी का प्रायः रूपान्तर-सा मानते है। इसीलिए उसे यहाँ अलग स्थान नहीं दिया है। (द) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने डॉ० चटर्जी के वर्गीकरण के आधार पर ही अपना वर्गीकरण दिया है : उदीच्य (सिन्धी, लहँदा, पंजाबी)। (ख) प्रतीच्य

(गुजराती)। (ग) मध्यदेशीय (राजस्थानी, प० हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी)। (घ) प्राच्य (उडिया, असमी, बगाली)। (ङ) दाक्षिणात्य (मराठी)।

इस वर्गीकरण मे हिन्दी के प्रमुख चारो रूपो को मध्यदेशीय माना गया है।

(ई) श्री सीताराम चतुर्वेदी ने सम्बन्धसूचक परसर्ग के आधार पर का (हिन्दी, पहाडी, जयपुरी), दा (पजाबी, लहँदा), जो (सिन्धी, कच्छी), नो (गुजराती), एर (बगाली, उडिया, असमी) वर्ग बनाये हैं। यथार्थत यह कोई वर्गीकरण नहीं है। ऐसे तो 'ळ' या 'स' से 'श' ध्वनियो के आधार पर भी वर्ग बनाये ज सकते हैं।

(फ) व्यक्तिगत रूप मे इन पक्तियों का लेखक कुछ इस प्रकार का वर्गीकरण (जो प्रमुखत क्षेत्रीय है) पसन्द करता रहा है मध्यवर्ती (पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी), पूर्वी (बिहारी, उडिया, बगाली, असमी), दक्षिणी (मराठी), पश्चिमी (सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी), उत्तरी (लहँदा, पजाबी, पहाडी)। किन्तु वस्तुत वर्गीकरण का आशय यह है कि उसके आधार पर भाषाओ की मूलभूत विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँ। उपर्युक्त किसी भी वर्गीकरण मे यह बात नही है, ऐसी स्थिति मे ये सारे व्यर्थ हैं। इनके आधार पर कोई भाषावैज्ञानिक निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। इससे अच्छा यह है कि इनकी अलग अलग प्रवृत्तियो का ही अध्ययन किया जाय। या यदि वर्गीकरण जरूरी ही समझा जाय तो दो बातें कही जा सकती हैं (१) प्रवृत्तियो के आधार पर इन भाषाओ मे इतना वैभिन्य या साम्य है कि सभी बातो का ठीक तरह से विचार करते हुए वर्गीकरण हो ही नही सकता। (२) अतएव, उत्पत्ति या सम्बद्ध अपभ्रशो के आधार पर इनके वर्ग बनाये जा सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के वर्गों में ध्वनि या गठन सम्बन्धी साम्य, बहुत कम दृष्टियो से मिल सकता है। यों उत्पत्ति भी अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है, अत इसे बिलकुल निरर्थक नही कहा जा सकता। इस वर्गीकरण का रूप यह है (क) शौरसेनी (पश्चिमी हिन्दी, पहाडी, राजस्थानी, गुजराती)। (ख) मागधी (बिहारी, बगाली, असमी, उडिया)। (ग) अर्द्धमागधी (पूर्वी हिन्दी)। (घ) महाराष्ट्री (मराठी)। व्राचड-पैशाची (सिन्धी, लहँदा, पजाबी)। इन्हे क्रम से मध्य, पूर्वीय, मध्यपूर्वीय, दक्षिणी और पश्चिमोत्तरी भी कहा जा सकता है।

प्रमुख आधुनिक आर्यभाषाओ का परिचय

सिन्धी—'सिन्ध' शब्द का सम्बन्ध सस्कृत शब्द 'सिन्धु' से विद्वानो ने जोडा है। मैं इस बात से सहमत नही हूँ। मूल शब्द सम्भवत सस्कृत न होकर द्रविड 'सिद' या 'सित' (=नहना) था और 'सिन्धु' उसी का सस्कृतीकृत रूप है। आगे चलकर 'सिन्धु' का विकास 'सिन्ध' रूप में हुआ और यह उक्त नदी की तटवर्ती भूमि के लिए प्रयुक्त होने लगा। मूलत सिन्धी, सिन्ध प्रदेश की ही भाषा है। अब सिन्ध मे, 'सिन्धी' बोलने वाले प्राय मुसलमान ही रह गए है। सिन्धी हिन्दू प्राय कच्छ, बम्बई, अजमेर तथा दिल्ली आदि मे हैं। सिन्धी भाषा का प्राचीनतम सकेत भरत के नाट्यशास्त्र (२री सदी) मे मिलता है। ७वी सदी में चीनी यात्री युआन च्वाग ने भी अपने यात्रा-विवरण में इसका उल्लेख किया है। ८वी सदी मे कुवलयमाला मे भी इसका उल्लेख है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिन्धी की अपनी विशेषताओ का विकास अत्यन्त प्राचीन काल मे ही हो चुका था। सिन्धी की प्राचीनतम पुस्तक 'महाभारत' कही जाती है जिसकी रचना सस्कृत महाभारत के आधार पर १००० ई० मे कुछ पूर्व हुई थी। १४वीं सदी मे इसमे नियमित रूप से साहित्य मिलने लगता है। सिन्धी साहित्य का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शाहजो रिसालो' है। इसके प्रमुख कवि अब्दुल करीम, शाह लतीफ, सचल और सामी आदि हैं। सिन्ध मे मुसलमानों की सख्या अधिक रही है, किंतु सिन्धी भाषा इस अनुपात म अरबी-फारसी से प्रभावित नही कही जा सकती। सिन्धी भाषा की प्रमुख

बोलियाँ पाँच-छह हैं। **विचोली** मध्यसिन्ध में बोली जाती है। यही वहाँ की परिनिष्ठित तथा साहित्यिक भाषा है। 'विचोली' के एक रूप को **'सिराइकी'** या **'सिराइकी सिन्धी'** कहते हैं। यह उपबोली होती हुई भी अब स्वतन्त्र बोली जैसी हो गई है। अन्य बोलियाँ **थरेली, लासी, लाड़ी** तथा **कच्छी** है। कच्छी की **कायस्थी, भाटिया** आदि कुछ उपबोलियाँ भी हैं। कच्छी पर गुजराती का प्रभाव पड़ा है। सिन्धी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी अन्तःस्फोटात्मक (Implosive) ध्वनियाँ ज, ब, आदि। सिन्धी के लिए फ़ारसी लिपि का प्रयोग होता है। अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियों के लिए पुराने अक्षरों के आधार पर कुछ नए अक्षर भी बना लिये गए है। भारत में सिन्धी, अब नागरी लिपि में भी लिखी जाने लगी है। सिन्धी की अपनी प्राचीन लिपि **लंडा** है। पूरे सिन्ध में इसके कई रूप प्रचलित रहे हैं। कुछ सिन्धीभाषी गुरु-मुखी लिपि का भी प्रयोग करते रहे हैं। सिन्धी बोलने वालों की संख्या १९३१ की जनगणना के अनुसार लगभग ४० लाख थी। भारत में सिन्धियों की संख्या २० लाख से ऊपर है। सिन्धी का सम्बन्ध वाचड अपभ्रंश से है। व्राचड की बहुत-सी विशेषताएँ इसमें अब भी मिलती है।

लहँदा—लहँदा पश्चिमी पंजाब (कुछ भाग छोड़कर) की भाषा है। यह क्षेत्र अब पाकिस्तान में है। 'लहँदा' शब्द का शाब्दिक अर्थ है **'पश्चिम'**, 'सूर्यास्त' या 'उतरता'। इसी आधार पर इसका एक नाम 'पश्चिमी' भी है। पूरे पंजाब के पश्चिमी भाग की यह भाषा है, इसीलिए पंजाबी में इसे पहले **लहन्दे दि बोली** (=पश्चिमी की बोली) कहते थे। **लहँदी, लहन्दा** या **लहँदा** नाम उसी का संक्षिप्त रूप है। **लहँदा, लहँन्दा या लंडा** का प्रयोग अंग्रेजों ने आरम्भ किया। इसे **पश्चिमी पंजाबी** और **डिलाही** भी कहते हैं। हिन्दुओं के कारण इसका नाम **हिन्दको** या **हिन्दकी**, जाटो के कारण **जटकी** तथा 'ऊच' कस्बे के कारण **उच्ची**[1] भी है। ये नाम इसकी बोलियों के भी है। प्राचीन काल में इसका एक नाम **मुलतानी** भी था। अबुल फजल ने अपनी आईने-अकबरी में इस भाषा को **मुल्तान** कहा है। अब **मुल्तानी** का प्रयोग मुल्तान के आसपास प्रयुक्त लहँदा के लिए होता है। लहँदा बोलने वालों की संख्या ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार ७० ९२,७८१ थी। परिनिष्ठित लहँदा शाहपुर जिले की है। इसके विभिन्न रूपो के नाम **जटकी, पंजाबी, जांगली, चिनवाड़ी, निस्वानी, काछड़ी, बार्डी बोली** तथा **जटतार्दी बोली** आदि है। लहँदा की बोलियों में प्रमुख **मुल्तानी** (इसमें **डेरा गाजी खाँ की जटकी** या **हिन्दकी** तथा **सिन्धी सिराइकी हिन्दकी** दो उपबोलियाँ है), **खेत्रानी, जाफिरी, थळी** या **जटकी, हिन्दको** (इसमे **तिनाउली** उपबोली भी है) तथा **उत्तरी-पूर्वी बोली** (इसमें **पोठवारी, ढूंडी, अवांकी घेबी, पुंछी, चिभाली** आदि उपबोलियाँ है) आदि है। लहँदा पर सिन्धी तथा कश्मीरी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सिक्ख धर्म की जनमसाखी के अतिरिक्त लहँदा मे केवल लोक-साहित्य ही है। लहँदा बोलने वाले मुसलमान ही अधिक हैं, इसी कारण इसके लिए फ़ारसी लिपि का ही प्रयोग अधिक होता है। हिन्दू लोग 'लंडा' नामक लिपि का भी प्रयोग करते रहे है। अब लहँदा क्षेत्र में प्रायः उर्दू का बोलबाला है। लहँदा का सम्बन्ध केकय या पैशाची अपभ्रंश से है।

पंजाबी—'पंजाबी' शब्द फारसी का है। इसका अर्थ है पाँच नदियों का देश (पंज+आब)। पाँच नदियाँ है सतलुज, रावी, व्यास, चेनाब और झेलम। पंजाब प्रदेश की भाषा होने के कारण ही इसका नाम **पंजाबी** है। वर्तमान काल में इसका क्षेत्र पूर्वी पंजाब (दिल्ली की ओर का हिन्दी तथा उत्तर मे पहाड़ी क्षेत्र छोड़कर) तथा पाकिस्तान-स्थित पंजाब (कुछ भाग छोड़कर) है। यह भाषा पश्चिमी पहाड़ी, बाँगरू, बागड़ी, बीकानेरी तथा लहँदा से

---

१. १८१९ में कैरी ने 'उच्ची' नाम का प्रयोग सर्वप्रथम किया।

घिरी है। वोलनेवालों में सिक्खों के प्राधान्य के कारण इसे सिक्खी, खालसी आदि अन्य नामों से भी पुकारा गया है। कभी-कभी लहँदा और पजाबी दोनो को ही पजाबी कहते हैं। उस स्थिति मे लहँदा को पश्चिमी पजाबी तथा पजावी को पूर्वी पजाबी कहते हैं। लिपि के आधार पर इसे कभी-कभी गुरमुखी भी कहते रहे हैं। इसका एक प्राचीन नाम, लाहौरी भी मिलता है। वस्तुत यह नाम लाहौर की पजावी का है। १४वीं सदी मे अमीर खुसरो ने नूह-ए-सिपर मे लाहौरी का उल्लेख किया है। १९२१ की जनगणना के अनुसार पजाबी बोलने वालो की सख्या १६,२३३,५९६ थी। १९३२ मे पजाव यूनिवर्सिटी ने पजावी की जाँच के लिए एक समिति बनाई थी। उसके अनुसार आधुनिक भारतीय भाषाओं मे पजावी सबसे पुरानी भाषा है। इसमे बहुत से प्राकृत शब्दों का अब भी प्रयोग होता है । उदाहरणार्थ सत्त, अट्ठ, कम्म, गड्डी, अद्दा आदि। हिन्दी आदि में विकसित रूप सात, आठ, काम, गाडी, आधा आदि प्रयुक्त होते हैं। ग्रियर्सन के अनुसार, मध्यदेश से सम्बन्ध रखने वाली समस्त भाषाओं मे पजाबी ही ऐसी है जो सस्कृत तथा फ़ारसी से आगत शब्दों से सबसे अधिक मुक्त है। इसमे सहज ग्रामीण आकर्षण है जो इसके बोलने वाले कृषकों की सरलता को द्योतित करता है। पजाबी के प्रमुख दो रूप हैं। एक तो आदर्श या परिनिष्ठित पजाबी है जो केन्द्रीय पजाब के मैदानों में प्रयुक्त होती है। इसका शुद्धतम रूप अमृतसर के आसपास माझ मे है। इसे माझी भी कहते हैं। माझी के अतिरिक्त, परिनिष्ठित पजाबी के जालधरी दोआबी (जिसमे दोआबी खास, फल्लूरी या बिलासपुरी तथा होशियारपुरी पहाडी आती हैं), पोवाधी, राठी, मालबाई, भट्टियानी (जिसमे बीकानेरी राठी, फाजिलकाई बागडी, फिरोजपुरी राठौरी हैं) आदि प्रमुख रूप हैं। पजाबी का दूसरा प्रमुख रूप 'डोगरा' या 'डोगरी' है। यह जम्मू तथा पजाव के कुछ भागो मे वोली जाती है। इस पर 'कश्मीरी' तथा 'लहँदा' का पर्याप्त प्रभाव पडा है। डोगरी के स्थानीय रूपातर कडिआली, कागडा वोली तथा भटेआली हैं। डोगरी टाकरी लिपि में लिखी जाती है। पजाबी प्रदेश मे टाकरी, लडा, महाजनी, गुरुमुखी, शारदा, फारसी, नागरी आदि लिपियों का प्रयोग होता रहता है। अब भारतीय क्षेत्र मे पजावी प्रमुखत गुरुमुखी मे तथा पाकिस्तानी क्षेत्र मे उर्दू लिपि मे लिखी जाती है। पजाबी साहित्य का आरम्भ १२वीं सदी के अन्तिम चरण से होता है। इसके प्रथम कवि बाबा फरीद शकरगज हैं। तब से इसका साहित्य फलता-फूलता आ रहा है। इसके प्रसिद्ध प्राचीन साहित्यिक नानक, गुरु अर्जुनदेव, गुरुदास, तथा हीर-राँझा के लेखक वारिसशाह आदि हैं। आधुनिक लेखको मे मोहनसिंह, अमृता प्रीतम आदि प्रमुख हैं। लोकसाहित्य की दृष्टि से भी पजाबी पर्याप्त सम्पन्न है। कुछ लोगो ने पजाबी का विकास पैशाची या केकय अपभ्रंश से माना है। कुछ अन्य लोगों ने टक्क अपभ्रंश से भी इसकी उत्पत्ति मानी है। इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव पडा है।

गुजराती—यह गुजरात की भाषा है। 'गुजरात' शब्द का सम्बन्ध 'गुर्जर' जाति के लोगो से है। ये लोग मूलत शक थे और पाँचवीं सदी के लगभग भारत मे आए थे। पहले इनका क्षेत्र पजाब एव राजस्थान था, बाद मे मुसलमानो के आक्रमण के कारण, ये गुजरात की ओर चले गए। इस प्रदेश में इनको 'त्राण' मिला, इसी कारण वह गुजरात कहलाया। 'गुजरात' शब्द 'गुर्जर+त्रा' से बना माना गया है गुर्जर+त्रा > गुज्जरत्ता > गुजरत्ता > गुजरात। इस प्रकार का विकास मानने का कारण यह है कि आठवी, नवी तथा दसवी सदी के कुछ अभिलेखों में 'गुर्जरत्रा-भूमि' तथा 'गुज्जरत्ता' आदि शब्द मिले हैं। गुजरात या गुर्जर देश[1]

---

१ इसका यह आशय नहीं कि गुजराती जनता मे केवल गुर्जर हैं। यहाँ के लोग विभिन्न कालों में आए निग्रोइट, आस्ट्रिक, द्रविड, आर्य, यूनानी, बैक्ट्रियन, हूण, सोदियन, गुर्जर, जादेज, काठी, पारसी तथा अरब आदि एक दर्जन से अधिक जातियों के मिश्रण हैं।

केवल माउंट आबू के उत्तर का प्रदेश था, किन्तु बाद में धीरे-धीरे उसके दक्षिण का भाग भी गुजरात के अन्तर्गत आ गया। अब कृच्छ आदि भी इसमें सम्मिलित हैं। 'गुजरात' शब्द का प्रयोग यों तो १००० ई० के लगभग से प्रारम्भ हो गया था, किन्तु भाषा के अर्थ में 'गूजराती' शब्द का प्रयोग अभी तक १७वीं सदी से पूर्व नहीं मिला है। इसका प्रथम प्रयोग प्रेमानन्द (१६४९-१७१४ ई०) के 'दशम स्कन्ध' में हुआ है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि गुजराती भाषा उस समय तक विकसित नहीं हुई थी। अन्य देशी भाषाओं से अलग, इसे लोग आठवी सदी में ही पहचानने लगे थे। उद्योतन सूरि के 'कुवलयमाला' में आता है— 'अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे'। ११वी सदी तक आते-आते भाषा कुछ और विकसित हो गई, यद्यपि मारवाड़ी आदि राजस्थानी भाषाओं से इतनी भिन्न नहीं थी कि इसे स्वतन्त्र भाषा माना जा सके। जैसा कि प्रसिद्ध इटैलियन विद्वान् तेसितोरी ने कहा है कि १६०० ई० तक या उसके कुछ बाद तक पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात की भाषा 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' थी। वर्तमान गुजराती का सुस्पष्ट रूप १७वीं सदी के मध्य से दिखाई पड़ने लगता है। गुजराती का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश के दक्षिणी-पश्चिमी रूप से है, जैसा कि भौगोलिक स्थिति से स्पष्ट है। इसे नागर अपभ्रंश भी कहा गया है। गुजराती विद्वान उमाशंकर जोशी इसे 'मारू गुर्जर' तथा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी 'गुर्जर' अपभ्रंश कहते हैं। गुजराती साहित्य का प्रारम्भ कुछ लोग १२वी सदी से ही मानते है। हेमचन्द्र के व्याकरण में कुछ छन्द ऐसे हैं जिनको प्राचीन गुजराती का कहा जा सकता है। १३वीं सदी से इसके प्राचीन रूप का समारम्भ हो गया था। तबसे अब तक इसमें साहित्य-रचना हो रही है। प्राचीन गुजराती के प्रमुख साहित्यकार विनयचन्द्र सूरि (१३वी सदी), राजशेखर (१४वीं सदी,) नरसी मेहता (१५वी सदी) आदि है। १४वीं सदी तक की भाषा अपभ्रंश से बहुत अधिक आक्रान्त है। गुजराती का मध्यकाल 'प्रेमानन्द-युग' भी कहलाता है। इस युग में प्रेमानन्द तथा अखा प्रसिद्ध है। गुजराती की लिपि अपनी है। जो नागरी से बहुत मिलती-जुलती है। यह शिरोरेखाविहीन होती है। गुजराती भाषा लगभग ७ लाख १० हजार वर्ग-मील में फैली हुई है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलने वालों की सख्या दो करोड़ तीन लाख से ऊपर थी। गुजराती की प्रमुख बोलियाँ **नागरी, बंबइया, गामडिया, सुरती, अनावला, पूर्वी-भड़ोंची, चरोतरी पाटीदारी, वडोदरी, पट्टनी, काठियावाड़ी** (इसमें **झालवाड़ी, सोरठी, हालाडी, गोहिलवाडी**, आदि उपबोलियाँ आती है), **घीरासाई, खारवा, पटलूणी, काकरी, तारीमुकी** आदि है।

मराठी—मराठी महाराष्ट्र की भाषा है। यह लगभग १ लाख वर्गमील मे उत्तर में सतपुड़ा पहाड़ियों से लेकर, दक्षिण में कृष्णा नदी तक तथा पूर्व में नागपुर से लेकर पश्चिम में गोवा तक बोली जाती है। 'मराठी' नाम 'माहाराष्ट्री' या 'महाराष्ट्री' से सम्बद्ध है। डॉ० गुणे, जूल ब्लाक आदि अनेक विद्वान् मराठी का सम्बन्ध माहाराष्ट्री प्राकृत और माहाराष्ट्री अपभ्रंश से मानते है। किन्तु अब मान्यता यह है कि माहाराष्ट्री प्राकृत, केवल महाराष्ट्र या मराठी क्षेत्र की प्राकृत न होकर पूरे राष्ट्र (महाराष्ट्र) की भाषा, या तत्कालीन राष्ट्रभाषा थी। इसी रूप मे डॉ० घोष आदि ने उसे शौरसेनी के बाद की माना है। कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि 'मराठी' नाम 'महाराष्ट्री' का विकसित रूप है। और मराठी भाषा का चाहे प्रसिद्ध माहाराष्ट्री प्राकृत से सम्बन्ध न हो, किन्तु उस प्राकृत से, वह अवश्य सम्बन्धित है जो प्राकृत-काल मे मराठी क्षेत्र मे प्रयुक्त होती थी। फ्रंक फुर्तरक ने मराठी भाषा को पालि से निकला माना है, यद्यपि इस मत को कभी मान्यता नही मिली। मराठी भाषा के प्राचीनतम रूप ४८८ ई० के मंगलनेट्ठे ग्राम के ताम्रलेख मिलते है। ७३६ ई० के चिकुर्डे-ताम्रलेख में भी इसके कुछ रूप है। मराठी का प्राचीनतम वाक्य ९८३ ई० के गोमतेश्वर के शिलालेख में मिला है। इसका आशय यह है कि १००० ई० से पूर्व ही इस भाषा बीज पड़ चुके थे। क्षेत्रीय [illegible] या भाषा के रूप में इसका प्राचीनतम उल्लेख ८वीं सदी

के ग्रन्थ 'कुवलयमाला' मे आता है—'दिण्णल्ले गहिल्ले उल्लविरे तत्थ मरहट्ठे'। मराठी भाषा के रूपो एव वाक्यो की परम्परा प्राचीन होने पर भी मराठी साहित्य का प्रारम्भ १२वीं सदी के पूर्व नही माना जा सकता। मराठी के आदि कवि मुकुन्दराय (११२८-११९८) है जिनका प्रधान ग्रन्थ 'विवेकसिंधु' है। मराठी साहित्य को प्रमुखत महानुभाव काल, ज्ञानेश्वर नामदेव काल, एकनाथ काल तुकाराम-रामदास काल, मोरोपत काल, प्रभाकरराम जोशी काल तथा आधुनिक काल, प्रमुखत इन कालो मे बाँटा गया है। इन कालो के नामो से ही मराठी के प्रमुख कवियो के नामो का पता चल जाता है। सत ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी मराठी के प्राचीन साहित्य का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मराठी मे सस्कृत के तत्सम शब्दो की सख्या पर्याप्त है। साथ ही इस पर द्रविड परिवार (विशेषत कन्नड) का भी भौगोलिक स्थिति के कारण प्रभाव पडा है। मराठी की ध्वनि की दृष्टि से सबसे बडी विशेषता यह है कि इसम कुछ चवर्गीय ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं। उदाहरणार्थ 'च' एक तो सामान्य है और एक 'त्स' जैसा। मराठी का बलात्मक स्वराघात भी उसकी अपनी विशेषता है। इस रूप मे अन्य किसी भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा मे यह नही है। परिनिष्ठित मराठी को देशी भी कहते हैं। ग्रियर्सन ने मराठी की लगभग ३९ बोलियो का उल्लेख किया है। कहना न होगा कि तथ्यत इनमे सभी बोलियाँ न होकर बहुत-सी उपबोलियाँ तथा स्थानीय रूप भी हैं। मराठी की सबसे प्रसिद्ध बोली कोंकण या कोंकणी है जिसे अब डॉ० कत्रे आदि विद्वान् बोली न मानकर अलग भाषा मानते हैं। इसकी बोलियाँ या उपबोलियाँ कुडाली, दालदी तथा चितपावनी आदि हैं। कोंकणी के अतिरिक्त इसकी एक बोली कोकन या परिनिष्ठित कोकन है जिसकी उपबोलियाँ परभी, कोळी, किरिस्ताँव, कर्हाडी, कुणबी, अगरी, धगरी, भांडरी, ठाकरी, सगमेश्वरी, वांकोटी, घाटी, माआली, कायोडी, वारली, याड्वळ, फुडगी तथा सामवेदी आदि है। कोकन या परिनिष्ठित कोकन, व्याकरणिक दृष्टि से, परिनिष्ठित मराठी तथा कोकणी के बीच की बोली है। बरार, मध्यप्रदेश तथा हैदराबाद आदि मे मराठी की कई बोलियाँ या उपबोलियाँ बोली जाती है जिनमे वहाडी, नागपुरी, धगरी, झार्पी, गोवारी, कोष्टी, कुम्हारी, कुनबाऊ, माहारी, मरहठो, नतकानी, नतिया आदि प्रमुख है। मराठी की कुछ मिश्रित बोलियाँ हलबी, भुंजिआ, नाहरी तथा कमारी की कही गई हैं। इनमे हलबी वस्तुत हिन्दी की उपबोली है। मराठी भाषा के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग होता है। पत्र-व्यवहार म कभी-कभी मोडी भी प्रयुक्त होती है। १९६१ की जनगणना के अनुसार मराठी बोलने वालों की सख्या ३३,२८६,७७१ थी। अब कोकणी अलग भाषा मानी जाने लगी है।

उडिया—उडीसा प्रान्त, बगाल मे दक्षिणी-पश्चिमी मेदनीपुर, आन्ध्र मे टेक्कालि, उद्यानखण्ड, तरला, इच्छापुर आदि, बिहार मे सिंहभूम, सराइकेला, खरसुआ आदि, तथा मध्यप्रदेश मे रायगढ, सारगढ, कॉकेर, बस्तर आदि मे ६०१२७ वर्गमील मे १,५७,१९,३९८ (१९६१) लोगो द्वारा बोली जाने वाली एक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा है। इसका सम्बन्ध मागधी अपभ्रंश के दक्षिणी भाग से है। उडिया-भाषी उडिया को ओडिया कहते हैं। इसके अन्य नाम ओरिया, उरिया, उत्कली, ओड्री आदि हैं। उडीसा का प्राचीन नाम 'कलिंग', 'उड्रदेश' या 'उत्कल' मिलता है। 'उड' या 'ओड्' का सम्बन्ध द्रविड धातु 'ओड' से ज्ञात होता है। 'ओड' का अर्थ होता है 'खेती करना'। उसी से द्रविड शब्द 'ओडिसु' बना है जिसका अर्थ है 'किसान'। यह 'ओडिसु' ही उडिया भाषा मे 'ओडिशा' हो गया। आज भी उडिया भाषी अपने देश को 'उडीसा' न कहकर 'ओडिशा' ही कहते हैं। 'स' का 'श' मागधी की प्रवृत्ति के कारण हो गया है। 'ओडिशा' ही अन्य क्षेत्रो मे 'उडीसा' हो गया है। भाषा का नाम 'ओडिया' भी 'ओडिशा' का ही विकसित रूप है। 'श्' के लोप एव य-श्रुति के आगम से यह 'ओडिया' बना है जिसके 'ओ' को कोमल बनाकर उ (उडिया) कर लिया गया है। कुछ विद्वान् 'ओड्र' को सस्कृत शब्द मानकर ओड्रविषय (>ओड्रविष>ओडिष

ओडिषा) से उड़ीसा शब्द को सम्बद्ध करते है, किन्तु यह व्युत्पत्ति युक्तियुक्त नही ज्ञात ती। 'ओड्' शब्द मूलतः संस्कृत का नही ज्ञात होता। इसमे संस्कृतीकरण की गन्ध स्पष्ट । 'उड् विभाषा' के रूप मे उड़िया भाषा का प्राचीनतम उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में शबराभीर चाण्डाल सचल द्राविड़ोड्रनाः। हीना वने चराणा च विभाषा नाटके स्मृता) ाता है। इसका आशय यह हुआ कि उस काल के प्राकृत के एक स्थानीय रूप में इसकी कुछ वशेषताएँ विकसित हो चुकी थीं। बीम्स ने यह ठीक ही कहा है कि बंगाली के एक निश्चित ाषा बनने के पूर्व ही उड़िया एक निश्चित भाषा बन चुकी थी। उड़िया भाषा के प्राचीनतम पष्ट नमूने १०५१ ई० के अनन्त वर्मा के उरजम-शिलालेख में मिलते है। **उड़िया साहित्य** ो आदिकाल (११वीं से १५५० तक), मध्यकाल (१५५०-१८५०), आधुनिक काल (१८५०-), इन तीन कालों मे बाँटा जाता है। हिन्दी साहित्य की भाँति ही मध्यकाल के र्व और उत्तर, दो काल बनते है जिनको साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से क्रमशः भक्तिकाल और रीतिकाल कहा जा सकता है। आदिकाल के कवियों में लुइपा, शवरीपा आदि 'बौद्ध गान ओ दोहा' के कवि एवं सारलादास (सच्चे अर्थो मे उड़ीसा के आदि कवि ये ही है; इनके प्रमुख ग्रन्थ 'महाभारत' तथा 'विलंका रामायण' है) प्रमुख है। मध्ययुगीन कवियों में भक्तों में बलरामदास, जगन्नाथदास आदि पंचसखा तथा सालवाग आदि मुख्य है तथा रीतिकारों में उपेन्द्रभंज प्रमुख है। इन्ही के आधार पर इस युग को भंजयुग कहा जाता है। आधुनिक काल में उड़िया साहित्य पर्याप्त सम्पन्न हो गया है। परिनिष्ठित उड़िया कटक के आसपास की है जिसको **'कटकी'** कहा जा सकता है। आन्ध्र-सीमा पर इसकी एक बोली **'गजामी'** है जो तेलुगु से बहुत अधिक प्रभावित है। मयूरभज तथा बालासोर आदि मे उत्तरी सीमा पर भी इसकी बंगाली-मिश्रित कई बोलियाँ-उपबोलियाँ है, किन्तु उनके लिए अलग नाम नहीं है। संभलपुर में इसकी **'संभलपुरी'** या **लरिया** बोली बोली जाती है। इस पर छत्तीसगढ़ी का प्रभाव पड़ा है। ग्रियर्सन ने केवल **'भत्री'** को उड़िया की विशुद्ध बोली माना है। 'भत्री' वस्तुतः उड़िया का मराठी से प्रभावित रूप है जो बस्तर में प्रयुक्त होता है। उड़िया पर ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक कारणों से बंगाली, मराठी, मुडारी, तेलुगु, कुई आदि का प्रभाव पड़ा है। उड़िया की अपनी लिपि है जो ब्राह्मी की उत्तरी शैली से विकसित है, किन्तु उस पर तेलुगु लिपि का प्रभाव पड़ा है। तामपत्र पर लोहे की कलम से लिखने के कारण यह लिपि कुछ वर्तुलाकार हो गई है।

बगाली—मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से विकसित एक आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा जो प्रमुखतः बंगाल (पूर्वी और पश्चिमी) मे बोली जाती है। 'बंगाली' शब्द का सम्बन्ध बंगाल के प्राचीन नाम 'वंग' से है। 'वंग' शब्द मूलतः कदाचित् आस्ट्रिक का है। 'वंग' मे 'आल' (हिन्दी वाल, वाला) प्रत्यय लगकर बंगाल बना है और उसी आधार पर वहाँ की भाषा को **बगला** या **बगाली** कहा जाता है। इसके अन्य नाम **गौड़ी, प्राकृत, मागधी, गोल्ली** आदि भी मिलते हैं। पूर्वीय क्षेत्रों की भाषा मध्यदेशी तथा पश्चिमोत्तरी भाषा से वैदिक काल मे ही भिन्न हो चुकी थी। प्राकृत तथा अपभ्रंश काल मे उस क्षेत्र की अपनी 'श' आदि विशेषताओं का उल्लेख व्याकरण आदि के ग्रन्थों मे मिलता है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में गौड़ी रीति के रूप में भी इस अचल की शैली की विशेषता की ओर संकेत है। ७७९ ई० मे रचित 'कुवलयमाला' मे सबसे पहले कदाचित इसी भाषा का उल्लेख्य है—'अड्डेत्ति उल्लवंते अह पेच्छइ गोल्लए तत्थ।' बंगाली भाषा की उत्पत्ति अन्य आधुनिक भाषाओं की भाँति १००० ई० के आसपास हुई। यों इसमें लिखित साहित्य प्रायः १४वी सदी के पूर्व नही मिलता। डॉ० चटर्जी ने बंगाली भाषा का प्रारम्भ ९५० ई० से माना है तथा उसके इतिहास या विकास को (क) प्राचीन काल (९५०-१२००), (ख) मध्य काल (१२००-१८००) तथा (ग) आधुनिक काल (१८०० से अब तक), इन तीन कालों में विभाजित किया है। मध्यकाल

को उन्होंने (I) सक्रान्तिकाल (१२००-१३००), (II) पूर्व मध्यकाल (१३००-१५००) तथा (III) उत्तर मध्यकाल (१५००-१८००), इन तीन उपकालो मे बाँटा है। इस विभाजन को कुछ अधिक सरल रूप मे इस प्रकार भी रखा जा सकता है—(क) आदिकाल (१०००-१३००), (ख) मध्य काल (१३०० १८००), (ग) आधुनिक काल (१८००-)। बगाली भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग मराठी की भाँति अधिक होता है। हिन्दी से बगाली ने बहुत से शब्द लिय ह, दूसरी ओर हिन्दी को भी उपन्यास, गल्प, रसगुल्ला, रूपसि आदि शब्द दिए है। बगला साहित्य को आदि (१२वी तक), चैतन्य पूव (१३वी से १५वी तक), चैतन्योत्तर (१६वी से १८वी) तथा आधुनिक, इन चार कालो मे बाँटा गया है। प्राचीन बगाली साहित्य मे 'कृत्तिवासी रामायण', काशीरामदास का 'महाभारत', चडीदास की 'पदावली', केतकादास का 'क्षेमानन्द-काव्य' आदि प्रमुख है। आधुनिक लेखको मे बकिमचन्द्र, माइकेल मधुसूदन दत्त, शरत्‌चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि विशेष रूप से उल्लेख्य है। आधुनिक बगाली साहित्य आधुनिक भारतीय भाषाओं मे सर्वाधिक सम्पन्न कहा जाता है। मध्यकालीन बगाली साहित्य, हिन्दी के कृष्ण-काव्य से प्रभावित है। ब्रजबुलि साहित्य नाम से जो वहाँ साहित्य मिलता है, उसकी भाषा मे भी व्याकरणिक दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी तथा मैथिली के पर्याप्त तत्त्व है। दूसरी ओर आधुनिक काल मे बगाली साहित्य ने भी हिन्दी को काव्य (रवीन्द्रनाथ), उपन्यास (बकिम, शरत्) तथा नाटक (डी० एल० राय) के क्षेत्र मे पर्याप्त प्रभावित किया है। १९३१ की जनगणना के अनुसार बगाली बोलने वालों की सख्या बगाल मे तथा बगाल के बाहर ५ करोड ३८ लाख से कुछ ऊपर थी। बंगाली भाषा की अपनी लिपि है जो प्राचीन नागरी या कुटिल लिपि से विकसित हुई है। ग्रियसन के अनुसार बगाली भाषा को केन्द्रीय या परिनिष्ठित बगाली, पश्चिमी बगाली, दक्षिणी पश्चिमी बगाली, उत्तरी बगाली, राजबगशी, पूर्वी बगाली तथा दक्षिण पूर्वी बगाली, इन सात बोलियो मे बाँटा जा सकता है। इनमे परिनिष्ठित रूपो को छोडकर पश्चिमी के अन्तर्गत सराकी, खडिया ठार, पहाडिया ठार तथा माल पहाडिया, उत्तरी के अन्तर्गत कोच और सिरिपुरिया, राजबगशी के अन्तर्गत बाहे, पूर्वी के अन्तगत हैजोग तथा सिलहटिया, एव दक्षिणी-पूर्वी के अन्तर्गत चाक्मा उपबोलियाँ हैं। हैजोग बगाली और तिब्बती-बर्मी का मिश्रित रूप है। चाक्मा की अपनी लिपि भी है जो ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से निकली बर्मी लिपि से मिलती-जुलती, किन्तु उससे प्राचीन है। चाक्मा के क्षेत्र के पास ही एक बोली इंगेत भी है जिसे बगाली-मिश्रित चीनी भाषा कहा जाता है। भारत के विभाजन के बाद पूर्वी बगाल की बगाली भाषा और उसके साहित्य का विकास पश्चिमी बगाल से कुछ भिन्न रूप मे हो रहा है और उनमे कुछ ऐसे इस्लामी तत्त्व आते जा रहे है जो १९४७ के पूव नही थे। भारत मे बगाली-भाषी ३, ३८, ८८, ९२९ (१९६१) है। अब 'बाँगला देश' एक स्वतन्त्र देश है और वहाँ पूर्वी बँगला का विकास हो रहा है।

असमी —यह आसाम की घाटी तथा उसके आसपास लगभग ८० हजार वर्गमील मे ६,८०३,४६५ (१९६१ की जनगणना के अनुसार) लोगो द्वारा बोली जाती है। असम का प्राचीन नाम 'प्राग्ज्योतिष' था। उसके बाद इसे 'कामरूप' कहने लगे। १३वी सदी मे बर्मा से आकर एक निषाद जाति के ताइ (शान) कबीले ने इसके पूर्वी क्षेत्र म अपना राज्य स्थापित किया। इन्ही लोगो के कारण यहा का नाम आसाम पडा। नाम 'आसाम' कैसे पडा, इस सम्बन्ध मे पर्याप्त विवाद है। कुछ मत इस प्रकार है (१) सर एडवर्ड गेट के अनुसार मूलत यह शब्द सस्कृत का 'असम' (जिसके बराबर कोई न हो) है। कामरूप के लोगो ने इन नवागतुक शान या ताइ लोगो की अभूतपूर्व वीरता के कारण इन्हे 'असम' कहा था। (२) कुछ लोगो के अनुसार तत्कालीन मोन लिपि एव उच्चारण की विशेषता के कारण 'शान' का 'रहवम' हो गया। यही 'रहवम' बदलते-बदलते आहोम>अहोम>असम हो गया। (३) ग्रियर्सन का मत यह है कि मूलत इस कबीले का नाम 'शम' था। 'शन' या 'शान' उसका

बर्मा में विकृत रूप है। इसका आशय यह है कि 'शम' ही 'सम' और 'असम', 'आसाम' आदि हो गया। आरम्भ का आगत 'अ' या 'आ' डॉ० काकती के अनुसार अप्रतिष्ठासूचक प्रत्यय है। आक्रमणकर्ता तो ये लोग थे ही, यदि आसाम के मूल निवासियों के मन में उनके प्रति घृणा या अप्रतिष्ठा का भाव रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। (४) डॉ०पी० सी० बागची मूल शब्द सिएन-स्याम (Sien-Syam) मानते है और आहोम, आसाम आदि को उसी से सम्बद्ध कहते है। इसमें 'सिएन' चीनी शब्द है तथा 'स्याम' ख्मेर-अभिलेखों में प्रयुक्त शब्द है।(५) डॉ० बानीकान्त काकती के अनुसार ताइ भाषा में एक धातु है 'चाम्', जिसका अर्थ है 'हराया जाना'। इसी में 'अ' जुड़ जाने से 'अचाम' और फिर 'आसाम', असम आदि बना है। इस तरह आसाम का अर्थ है 'अविजित' या 'विजयी'। इन लोगों ने जीतकर ही राज्य-स्थापना की थी, अतः यह नाम इनके लिए अप्रयुक्त नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन पाँचों में कोई भी ठोस आधारों पर आधारित नहीं है। इनमें अनुमान और कल्पना का हाथ ही अधिक है। कुछ भी हो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि इन विजेताओं का नाम 'आसाम' या 'असम' पड़ा और इन्ही के आधार पर, पहले इनके द्वारा विजित पूर्वी क्षेत्र और फिर पूरा आसाम इसी नाम से पुकारा जाने लगा। इस समय आसाम के लोग शान या ताइ लोगों को 'आहोम', अपने देश को 'अॅसम' (इसका उच्चारण कुछ 'अखम' जैसा है) तथा अपनी भाषा को 'असमिया' (-इया = विशेषण बनाने वाला प्रत्यय) कहते है। हिन्दी में प्रायः देश को 'आसाम' (कदाचित् अंग्रेजी के आधार पर) तथा भाषा को 'आसामी' कहा जाता है। कुछ लोगों ने ऐसा विचार भी व्यक्त किया है कि पहले 'अहोम' या 'आहोम' शब्द प्रयुक्त हुआ, 'असम' या 'आसाम' उसी का विकृत रूप है, किंतु ऐसी धारणा अशुद्ध है। 'असम' ही 'अहोम' आदि बन गया है। असमी भाषा का संबन्ध पूर्वोत्तरी मागधी अपभ्रंश से है। सातवीं सदी में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने लिखा था कि कामरूप की भाषा मध्यदेश की भाषा से भिन्न है। इसका आशय यह है कि असमी भाषा का बीज बहुत पहले पड़ चुका था, किन्तु इसका लिखित प्राचीनतम रूप हेम सरस्वती द्वारा लिखित 'प्रह्लाद-चरित्र' नामक काव्य-ग्रंथ में मिलता है। ये ही असमी के पहले कवि है और यही है प्राचीनतम ग्रंथ। इसका काल है १३वीं सदी का प्रारम्भ। असमी साहित्य प्राक्वैष्णव काल, वैष्णवकाल, बुरंजी-गद्यकाल, आधुनिक काल, इन चार कालों में विभक्त है। प्राचीन असमी साहित्यकारों में पीताम्बर, शंकरदेव, माधवदेव तथा सूर्यखरी बलदेव आदि प्रमुख है। असमी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें गद्य तथा इतिहास के व्यवस्थित ग्रन्थ बहुत पहले से मिलते हैं। इस दृष्टि से असमी अपनी अन्य बहनों से बहुत आगे है। असमी लिपि मैथिली तथा बंगाली की तरह नागरी के पूर्वी रूप से विकसित है। प्रायः यह माना जाता है कि बंगला लिपि ही असमी में ग्रहण कर ली गई है, किन्तु यह बात गलत है। दोनों का अपना-अपना विकास हुआ है और तत्त्वतः असमी लिपि बंगाली की अपेक्षा मैथिली के अधिक निकट है। असमी लिपि तथा बंगाली लिपि का साम्य आधुनिक है और यह कदाचित् प्रेस की देन है। बंगाली तथा असमी लिपि में प्रमुख अन्तर यह है कि बंगाली में 'व' के लिए कोई स्वतंत्र चिह्न नहीं है, किन्तु असमी में है। इसी प्रकार असमी का 'र', बंगाली के 'र' से थोड़ा भिन्न है। असमी भाषा, तिब्बती-बर्मी तथा आस्ट्रिक भाषाओं से शब्द-समूह, मुहावरों तथा वाक्य-गठन आदि की दृष्टि से कुछ प्रभावित है। बंगाली का भी इस पर प्रभाव पड़ा है। असमी की बोलियाँ बहुत अधिक नहीं है। मनीपुर राज्य, सिलहट और कछार के हिन्दुओं द्वारा इसकी 'मयांग' (इसका अन्य नाम 'विश्नुपुरिया' भी है) बोली बोली जाती है। भौगोलिक कारणों से यह बंगला से बहुत अधिक प्रभावित है। ग्रियर्सन का तो यहाँ तक कहना है कि इसे आसानी से बंगला की बोली माना जा सकता है। गारो पहाड़ियों पर 'गारो' और 'बंगाली' मिश्रित बोली 'झरबा' बोली जाती है। पूर्वी असम की असमी परिनिष्ठित मानी जाती है।

नेपाली—यह 'पहाडी' का पूर्वी रूप है। पहाडी बोलियो के प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा होने के कारण इसे 'पूर्वी पहाडी' भी कहते हैं। 'नेपाली' को नैपाल मे नैपाली कहते हैं। नेपाल मे बोले जाने के कारण ही इसका नाम 'नेपाली' है। 'नेपाल' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कई मत हैं। कुछ लोग नेपाल का सम्बन्ध 'ने' नामक ऋषि से जोडते हैं। बौद्ध मत के अनुसार 'नेपाल', 'ने' +'पाल' दो शब्दो से बना है। 'ने' का अर्थ है 'स्वयभू' और 'पाल' का अर्थ है 'पालन करने वाला'। अर्थात् 'नेपाल' का अर्थ है 'जिसका पालक स्वयभू हो।' अधिक प्रामाणिक मत यह है कि 'नेपाल' का सम्बन्ध 'नेपार' से है। नैपाल के कुछ भागों मे 'नेपार' (अब इसे नेवार' कहते हैं) जाति के लोग रहते हैं, कदाचित् उन्ही के आधार पर देश को पहले 'नेपार' कहा गया। मागधी प्राकृत की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार 'र' का 'ल' हो जाने से 'नेपार' शब्द बाद में 'नेपाल' हो गया। हिन्दी प्रदेश की सामान्य जनता 'नेपाल' को 'नैपाल' कहती है। 'नेपाली' का एक अन्य नाम 'गोरखाली' भी है। यहाँ के शासक, नेपाल के शासक बनने के पूर्व, 'गोरखा' नामक नगर (काठमाडू से ७० मील दूर) मे रहते थे, अत उन्हें 'गोरखे' तथा उसी कारण नैपाल के लोगो को भी 'गोरखे' कहते हैं। इसी आधार पर 'नेपाली' भाषा का एक नाम 'गोरखाली' या 'गुरखाली' है। भाषा के अर्थ मे 'गोरखाली' का प्रयोग 'नेपाली' से पुराना है। शासकीय स्तर पर 'गोरखाली' भाषा के लिए 'नेपाली' नाम का प्रयोग १९३२ के बाद हुआ है। पर्वतीय प्रदेश की भाषा होने के कारण इसे **पर्वतिया या पर्बतिया** भी कहते हैं। इसका एक अन्य नाम 'खसकुरा' भी है। 'खसकुरा' का अर्थ है 'खसो की भाषा'। यहाँ 'खस' लोग भी काफी हैं।

'नेपाल' शब्द का प्राचीन प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे मिलता है, किन्तु भाषा के अर्थ मे 'नेपाली' का प्रयोग अत्याधुनिक है। 'नेपाली' नाम से लगता है कि यह पूरे नेपाल की भाषा है, किन्तु वस्तुत बात ऐसी नहीं है। यहाँ के आर्य शासक तथा अन्य आर्य लोग ही इसका प्रयोग करते हैं। नेपाल के आदिवासियो की भाषा 'नेवारी' है जो चीनी परिवार की तिब्बती-बर्मी शाखा की एक बोली है। नेपाल के शासको की भाषा होने से कारण ही नेपाली पूरे नेपाल की राष्ट्रभाषा है। 'नेपाली' अन्य पर्वतीय भाषाओं की तरह ग्रियर्सन के अनुसार 'आनत्य अपभ्रश' से निकली है तथा डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार यह 'खस अपभ्रश' से निकली है। मेरी निजी राय यह है कि इसका मूल सम्बन्ध 'शौरसेनी अपभ्रश' से है। ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणो से इस पर राजस्थानी, मैथिली, दरद, खस तथा तिब्बती-बर्मी की 'नेवारी' आदि भाषाओं का प्रभाव पडा है। प्रमुखत रूप की दृष्टि से यह 'राजस्थानी' तथा शब्द-समूह एव मुहावरो आदि की दृष्टि से 'नेवारी' से बहुत अधिक प्रभावित है। इधर काफ़ी दिनों से हिन्दी का भी नेपाल मे पर्याप्त प्रचार रहा है और वहाँ हिन्दी के समाचार-पत्र आदि भी निकलते रहे हैं। १९वी सदी तक यहाँ, हिन्दी की बोली अवधी तथा भोजपुरी आदि मे कविताएँ भी होती रही हैं। इस प्रकार हिन्दी से नेपाली का पर्याप्त सम्बन्ध रहा है जिसका परिणाम यह हुआ है कि नेपाली भाषा मे बहुत से हिन्दी शब्द चले गये हैं। प्रमुखत वर्तमान नेपाली मे तो हिन्दी शब्दो की सख्या बहुत ही अधिक है। नेपाली भाषा का प्राचीनतम नमूना १५४३ ई० के एक ताम्रपत्र मे मिलना है। इसके प्राचीनतम प्रसिद्ध साहित्यकार प्रमनिधि पत कहे जाते हैं, किन्तु उनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है। नेपाली के पुराने कवियों मे भानुदत्त (रचना-काल १९वीं सदी का मध्य) सवश्रेष्ठ हैं। इनकी रामायण बहुत सुन्दर रचना है। वर्तमान काल मे नेपाली गद्य-पद्य की सभी विधाओ मे प्रगति कर रही है। पहाडी प्रदेश की भाषाओं में बोलियो-उपबोलियो का प्राय बाहुल्य हो जाता है। यह बात नेपाली में भी है। पूरे नेपाल मे इसके अनेक तिब्बती-बर्मी तथा कुमायूँनी आदि से प्रभावित स्थानीय रूप प्रचलित हैं। इनमे उल्लेख्य केवल चार हैं पाल्पा, बही, डुसवार तथा देनवार। पाल्पा नेपाली का कुमायूँनी से प्रभावित वह रूप है जो काठमाडू के

पश्चिम 'पाल्पा' नगर के आसपास बोला जाता है। **दही** नेपाली का एक विकृत रूप है जो नेपाल की तराई में 'दही' नामक जाति के लोगों में व्यवहृत होता है। इसे **दढी** या **दढ़ी** भी कहते हैं। नेपाली की तराई में **देनवार** नामक जाति के लोगों मे भी नेपाली का एक विकृत रूप प्रयुक्त होता है जिसे **देनवार** या **दोनवार** कहते हैं। इसी प्रकार नेपाल की तराई मे ही नेपाली का 'कुसवार' जाति में प्रयुक्त एक विकृत रूप **कुसवार** या **कसवार** कहलाता है। 'कुसवार' का व्याकरण चीनी परिवार की स्थानीय तिब्बती-बर्मी बोलियों से प्रभावित है। नेपाली लिखने के लिए नागरी लिपि का प्रयोग होता है। नेपाली बोलने वाले पर्याप्त लोग भारत में भी रहते है। १९२१ की जनगणना के अनुसार नेपाली बोलने वालों की संख्या भारत में डेढ़ लाख से कुछ ही कम थी।

सिंहली—इसका क्षेत्र लंका के दक्षिणी भाग में है। लगभग ५वीं सदी ई० पू० में विजय नामक राजा के साथ कुछ भारतीय लंका में जाकर बस गए। इन्हीं लोगों के साथ यहाँ से यह भाषा भी अपने मूल रूप में गई। विजय राजा तथा उसके साथी कहाँ के थे, इस सम्बन्ध में विवाद है। ये लोग जहाँ के रहने वाले होंगे, वहीं की भाषा से सिंहली का सम्बन्ध होगा। कुछ लोगों ने इन्हें पश्चिमी बंगाल का माना है जिसके अनुसार सिंहली का सम्बन्ध उस समय बंगाल में प्रयुक्त भाषा से होगा, किन्तु कुछ लोगों ने सौराष्ट्र, लाट या गुजरात में उनका स्थान माना है। अधिक सम्भावना सौराष्ट्र की ही है। इस प्रकार सिंहली का सम्बन्ध सौराष्ट्र की पालि या पालि पूर्व भाषा से है। बाद मे बौद्ध धर्म के कारण मगध से भी लंका का सम्बन्ध हो गया और इस पर पालि तथा संस्कृत का भी कुछ प्रभाव पड़ा। **सिंहली प्राकृत** भारतीय प्राकृतों की तरह लंका की प्राकृत है। इसका अधिकांश साहित्य नष्ट हो चुका है, केवल कुछ अभिलेख ही शेष है। सिंहली में प्राप्त साहित्य १०वीं सदी के आसपास का है। सिंहली भाषा का प्राचीन रूप एळु कहलाता है। 'एळु' शब्द सिंहल का ही एक विकसित रूप एळु (सिंहल > सीहळु > हिअळु > हेळु > एळु) है। एळु एक प्रकार से अपभ्रंश है, अर्थात् सिंहली प्राकृत और वर्तमान सिंहली के बीच की भाषा है। एळू पर मराठी का कुछ प्रभाव भी पड़ा है। मालद्वीप तथा आसपास के द्वीपों की भाषा भी सिंहली का ही एक रूप है। इसे **महल** (Mahl) कहते हैं। यह १०वी सदी की सिंहली से विकसित हुई है। अपने पूरे इतिहास में भारतीय आर्य-भाषाएँ एक-दूसरे से पर्याप्त प्रभावित होती रही है, किंतु सिंहली का विकास प्रायः स्वतन्त्र रूप से हुआ है। हाँ, द्रविड़ परिवार का कुछ प्रभाव उस पर अवश्य है।

जिप्सी—घुमंतू लोगो द्वारा प्रयुक्त एक भाषा, जिसे **हबूड़ी**, **रोमनी**, **बंजारा** तथा **बंजारी** आदि भी कहते है। जिप्सी भाषाएँ मूलतः भारोपीय परिवार की है। ५वी सदी ई० पू० में बंजारा या जिप्सी भाषियों के पूर्वज जहाँ-तहाँ इधर-उधर फैल गए। इनके कुछ वर्ग तो भारत के बाहर चले गए और कुछ भारत में विभिन्न प्रदेशो मे चले गए। इस प्रकार इनकी भाषा मूलतः ५वी सदी ई० पू० की प्राकृत भाषा से संबद्ध है। इस पर कुछ प्रभाव दरद भाषाओ का भी है। जिप्सी की भारत में प्रमुख भाषाएँ **बेलदारी**, **भाम्टी**, **डोम**, **गारोड़ी**, **गुलगुलिया**, **कंजरी** (इसकी एक बोली '**कुचबंधी**' है), **कोल्हारी**, **लाड़ी**, **मचरिया**, **मलार**, **चूहरा** या **चूहड़ा**, **म्यानवाला** या **ल्हारी**, **नटी**, **ओड्की**, **पेंढारी**, **कशाई**, **सांसी** तथा **सिकलगारी** आदि हैं। भारत में जिप्सी भाषाओ के बोलने वालों की संख्या १९२५ की जनगणना के अनुसार १५,००० से अधिक थी। ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सर्वेक्षण में इनकी सख्या १ लाख से ऊपर दी है। ये लोग ईरान, तुर्की होते १२वीं सदी में मध्य यूरोप पहुँच चुके थे। अब पूरे यूरोप, मध्य एशिया, कुछ अफ्रीकी भाग तथा अमेरिका तक ये पहुँच गए है। इस समय जिप्सी भाषाएँ आर्मेनिया, तुर्की, सीरिया, ईरान, रूस, इटली, फ्रांस, वेल्ज आदि अनेक देशों में बोली जाती हैं। अकेले रूस में इनकी संख्या एक लाख से ऊपर है। अपने वर्तमान रूप मे ये भाषाएँ

स्थानीय भाषाओ से काफी प्रभावित हो गई हैं। सस्कृत मूल के शब्दो मे इनमे घ, ध, भ के स्थान पर प्राय ख, थ, फ मिलता है। टवर्गीय ध्वनियाँ कई स्थानो पर पूर्णत समाप्त हो गई हैं तथा ज़, ज़, ख़, मध्य स्वर इ आदि कई नई ध्वनियाँ विकसित हो गई हैं। प्रारभ मे इनको 'इजिप्ट' आया समझा गया था। 'इजिप्शियन' शब्द ही विकसित होकर 'जिप्सी' बन गया है। प्रारभ मे लोग समझते थे कि जिप्सी भाषाओ का सबध मूलत पश्चिमोत्तरी प्राकृत से है। किंतु डॉ० टर्नर ने अतिम रूप मे ध्वनि एव रूपो के आधार पर (The position of Romani in Indo-Aryan Edinburg, 1927) यह सिद्ध कर दिया कि इनका सबध मध्यदेशीय भाषा से है। वहाँ मे ये पश्चिमोत्तरी क्षेत्र मे गए और वहाँ मे प्रभावित होते भारत के बाहर गए। इनकी भाषाओ मे विभिन्न भाषाओं के शब्दो आदि के आधार पर इनके जाने के पथ का भी न्यूनाधिक रूप मे निर्धारण कर दिया गया है।

हिन्दी—'हिन्दी' शब्द का सम्बन्ध प्राय सस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। प्रस्तुत पक्तियो का लेखक मूलत 'सिंधु' शब्द को सस्कृत का न मानकर द्रविड या और किसी पूववर्ती भाषा को मानता है जहा से यह सस्कृत मे आया है। 'सिंधु' 'सिंध' नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिंधु' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द ईरानी मे जाकर 'हिन्दु' और फिर 'हिन्द' हो गया और इसका अर्थ था 'सिंध प्रदेश'। बाद मे ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागो मे परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ मे विस्तार होता गया तथा यह 'हिन्द' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी मे ईरानी का -ईक प्रत्यय लगने से 'हिन्दीक' बना जिसका अर्थ है 'हिन्द का'। यूनानी 'इंडिका' या अंग्रेजी 'इंडिया' आदि इस 'हिन्दीक' के ही विकसित रूप है। 'हिन्दी' भी 'हिन्दीक' का ही परिवर्तित रूप है और इसका अर्थ है 'हिन्द का'। इस प्रकार यह विशेषण है, किन्तु भाषा के अर्थ मे सज्ञा हो गया है। हिन्दी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी के 'जफरनामा' (१४२४ ई०) मे मिलता है। 'हिन्दी' शब्द का अर्थ और प्रयोग—वस्तुत शब्दो मे अरबी-फारसी तथा सस्कृत के आधिक्य की बात छोड दें तो हिन्दी-उर्दू मे कोई खास अतर नही है। दोनो ही एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। इसलिए प्रारम्भ मे 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्दी और उर्दू दोनो के लिए होता था। तज्किरा मखज़न-उलग रायब मे आया 'दर ज़बाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त'। यहाँ हिन्दी उर्दू का समानार्थी है तो दूसरी तरफ हिन्दी के सूफी कवि नूर मुहम्मद ने कहा है—'हिन्दू मग पर पाँव न राख्यो। का बहुतै जो हिन्दी भाख्यो।' यहाँ इस शब्द का प्रयोग हिन्दी के लिए है। मुल्ला वजही, सौदा, मीर आदि ने अपने शेरो को हिन्दी शेर कहा है। गालिब ने भी अपने पत्रो मे कई स्थानो पर हिन्दी-उर्दू को समानार्थी रूप मे प्रयुक्त किया है। प्रस्तुत पक्तियो के लेखक का अनुमान है कि १९वी सदी के प्रथम चरण मे अंग्रेजी की विशेष भाषा-नीति के कारण ही इन दोनो को अलग-अलग भाषाएँ माना जाने लगा तथा उर्दू को मुसलमानो से जोड दिया गया तो हिन्दी को हिन्दुओ से। यदि अंग्रेज बीच मे न पडे होते तो आज ये दोनो एक भाषाएँ होती। यो भाषाविज्ञानवेत्ता आज भी इन दोनो को एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते हैं।

'हिन्दी' शब्द का प्रयोग आज मुख्य रूप से तीन अर्थों मे हो रहा है (क) 'हिन्दी' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ मे (७वें अध्याय मे दिखाई गई) हिन्दी-प्रदेश मे बोली जाने वाली १७ बोलियो का द्योतक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे होता है जहाँ ब्रज, अवधी, डिंगल, मैथिली, खडीबोली आदि सभी मे लिखित साहित्य का विवेचन किया जाता है। वस्तुत अब हिन्दी साहित्य के इतिहास मे पूरा उर्दू और पूरा दक्खिनी साहित्य भी समाहित कर लिया जाना चाहिए। इस प्रकार उर्दू तथा दक्खिनी को मिलाकर हिन्दी १७ बोलियो, उर्दू तथा दक्खिनी को अपने अन्तर्गत समाहित किए हुए है।

(ख) भाषाविज्ञान में प्रायः 'पश्चिमी हिन्दी' और 'पूर्वी हिन्दी' को ही हिन्दी मानते हैं। ग्रियर्सन ने इसी आधार पर हिन्दी प्रदेश की अन्य उपभाषाओं को राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी कहा था जिनमे 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग नहीं है, किन्तु अन्य दो को हिन्दी मानने के कारण 'पश्चिमी हिन्दी' तथा 'पूर्वी हिन्दी' नाम दिया था। इस प्रकार इस अर्थ में 'हिन्दी' आठ बोलियों (ब्रज, खड़ीबोली, बुन्देली, हरियाणी, कनौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) का सामूहिक नाम है। (ग) 'हिन्दी' शब्द का संकुचिततम अर्थ है खड़ीबोली साहित्यिक हिन्दी जो आज हिन्दी प्रदेशों की सरकारी भाषा है पूरे भारत की राज्यभाषा है, समाचारपत्रों, फिल्मों में जिसका प्रयोग होता है तथा जो हिन्दी-प्रदेश के शिक्षा का माध्यम है और जिसे 'परिनिष्ठित हिन्दी' या 'मानक हिन्दी' आदि नामों से भी अभिहित करते हैं। **हिन्दी का उद्भव**—पीछे ७वें अध्याय में हम देख चुके हैं कि खड़ीबोली हिन्दी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है, किन्तु यदि उसे पश्चिमी हिन्दी-पूर्वी हिन्दी की ८ बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो उसका उद्भव शौरसेनी तथा अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। और विस्तार में जाकर यदि उसे १७ बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो हिन्दी का उद्भव, शौरसेनी, अर्ध-मागधी अपभ्रंश से हुआ है, उद्भव-काल मोटे रूप से १००० ई० के लगभग माना जा सकता है। **हिन्दी का विकास**—यों तो हिन्दी के कुछ रूप पालि में ही मिलने लगते है, प्राकृत-काल में उनकी संख्या और भी बढ़ जाती है तथा अपभ्रंश-काल में ये रूप चालीस प्रतिशत से भी ऊपर हो जाते है, किन्तु हिन्दी भाषा का वास्तविक आरम्भ १००० ई० से माना जाता है। इस तरह हिन्दी के विकास का इतिहास आज तक कुल लगभग पौने दस सौ वर्षों (१००० ई० से १९७२ तक) में फैला है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बाँटा जा सकता है—**आदिकाल** (१००० ई०—१५०० ई०)—हिन्दी भाषा अपने **आदिकाल में** सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट थी, क्योंकि उसी से हिन्दी का उद्भव हुआ था। उसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं: **ध्वनि**—आदिकालीन हिन्दी में मुख्यतः उन्हीं ध्वनियों (स्वरों-व्यंजनों) का प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंशों में प्रयुक्त होती थीं। **मुख्य** अन्तर निम्नांकित है—(१) अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। ये आठों ही स्वर मूल स्वर थे। आदिकालीन हिन्दी में दो नए स्वर ऐ, औ विकसित हो गए जो संयुक्त स्वर थे तथा जिनका उच्चारण क्रमशः अएँ, अओं था। (२) च, छ, ज, झ संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में स्पर्श व्यंजन थे, किन्तु आदिकालीन हिन्दी में आकर वे स्पर्श-संघर्षी हो गए और तब से अब तक ये स्पर्श-संघर्षी ही हैं। (३) न, र, ल, स संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में दंत्य ध्वनि थे। आदिकाल मे ये वर्त्स्य हो गए। (४) अपभ्रंश में ड़, ढ़ व्यंजन नहीं थे। आदिकालीन हिन्दी में इनका विकास हो गया। (५) न्ह, म्ह, ल्ह पहले संयुक्त व्यंजन थे, अब वे क्रमशः न, म, ल के महाप्राण रूप हो गए, अर्थात् संयुक्त व्यंजन न रहकर मूल व्यंजन हो गए। (६) संस्कृत तथा फ़ारसी आदि से कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नए संयुक्त व्यंजन हिन्दी मे आ गए जो अपभ्रंश में नही थे। कुछ अपभ्रंश शब्दों के लोप के कारण कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजनों के लोप की भी संभावना हो सकती है जो अपभ्रंश में थे। **व्याकरण**—आदिकालीन हिन्दी का व्याकरण १००० या ११०० ई० के आसपास तक अप-भ्रंश के बहुत अधिक निकट था। भाषा में काफ़ी रूप ऐसे थे जो अपभ्रंश के थे। किन्तु धीरे-धीरे अपभ्रंश के व्याकरणिक रूप कम होते गए और हिन्दी के अपने रूप विकसित होते गए तथा धीरे-धीरे १५०० ई० तक आते-आते हिन्दी अपने पैरों पर खड़ी हो गई और अपभ्रंश के रूप प्रायः प्रयोग से निकल गए। आदिकालीन हिन्दी का व्याकरण समवेततः अपभ्रंश व्याकरण से निम्नांकित बातों में भिन्न है: (१) अपभ्रंश काफ़ी हद तक संयोगात्मक भाषा थी। क्रिया तथा कारकीय रूप संयोगात्मक होते थे, किन्तु आदिकालीन हिन्दी में वियोगात्मक रूपों का

प्राधान्य हो चला। सहायक क्रियाओं तथा परसर्गों (कारक-चिह्नों) का प्रयोग काफी होने लगा। धीरे-धीरे सयोगात्मक रूप कम होने गए और उनका स्थान वियोगात्मक रूप लेते गए। (२) नपुसकलिंग एक सीमा तक अपभ्रंश मे था। यद्यपि सस्कृत, पालि, प्राकृत की तुलना में उसकी स्थिति अस्पष्ट-सी होती जा रही थी। आदिकालीन हिन्दी मे नपुसकलिंग का प्रयोग प्राय पूर्णत समाप्त हो गया। गोरखनाथ मे कुछ प्रयोगों ने नपुसकलिंग का माना गया है, किन्तु यह मान्यता पूणत असदिग्ध नही कही जा सकती। (३) हिन्दी वाक्य-रचना मे शब्द-क्रम निश्चित होने लगा था। शब्द-समूह—आदिकालीन हिन्दी का शब्द-समूह अपने प्रारम्भिक चरण मे अपभ्रंश का ही था, किन्तु धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आते गए जिनमे उल्लेख्य दो-तीन हैं—(१) भक्ति-आदोलन का प्रारभ हो गया था, अत तत्सम शब्दावली, अपभ्रंश की तुलना मे, कुछ बढने लगी। (२) मुसलमानो के आगमन से पश्तो, फ़ारसी तथा तुर्की भाषाओं का प्रभाव पडा और कुछ शब्द इन तीनों भाषाओं से हिन्दी मे आए। (३) भक्ति-आदोलन तथा मुसलमानी शासन का प्रभाव समाज पर भी पडा और जिसके परिणामस्वरूप इस बात की भी सभावना हो सकती है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द जो अपभ्रंश मे प्रचलित थे, इस काल मे अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो शब्द-समूह से निकल गए या फिर उनका प्रयोग बहुत कम हो गया। साहित्य में प्रयोग—इस काल मे साहित्य में प्रमुखत डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपो का प्रयोग मिलता है। इस काल के प्रमुख हिन्दी साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नाल्ह, चद बरदायी, कबीर, ख्वाजा बदा नेवाज तथा शाह मीराजी आदि हैं।

मध्यकाल (१५०० ई० से १८०० ई० तक)—इस काल मे आकर ध्वनि, व्याकरण तथा शब्द-समूह के क्षेत्र मे मुख्यत निम्नाकित परिवर्तन हुए. ध्वनि—(१) फ़ारसी की शिक्षा की कुछ व्यवस्था तथा दरबार मे फारसी का प्रयोग होने से उच्च वर्ग मे फ़ारसी का प्रचार हुआ जिसके कारण उच्च वर्ग के लोगो में हिन्दी मे क़, ख़, ग़, ज़, फ़ ये पाँच नए व्यजन आ गए। (२) शब्दात का 'अ' कम से कम मूल व्यजन के बाद आने पर लुप्त हो गया। 'राम' का उच्चारण 'राम्' हो गया। किन्तु 'भक्त' जैसे शब्दो मे जहाँ अ के पूर्व सयुक्त व्यजन था, 'अ' बना रहा। कुछ स्थितियो मे अक्षरात 'अ' का भी लोप होने लगा। उदाहरण के लिए आदिकालीन 'जपता' अब उच्चारण में 'जप्ता' हो गया। व्याकरण—(१) इस काल मे हिन्दी व्याकरण के क्षेत्र मे पूरी तरह अपने पैरों पर खड़ी हो गई। अपभ्रंश के रूप प्राय हिन्दी से निकल गए। जो कुछ बचे थे, वे वह थे जिन्हें हिन्दी ने आत्मसात् कर लिया था। (२) भाषा आदिकालीन भाषा की तुलना मे और भी वियोगात्मक हो गई। सयोगात्मक रूप और भी कम हो गए। परसर्गों तथा सहायक क्रियाओं का प्रयोग और भी बढ गया। (३) उच्च वर्ग मे फारसी का प्रचार होने के कारण हिन्दी वाक्य-रचना फ़ारसी से प्रभावित होने लगी। शब्द-समूह—(१) इस काल मे आते-आते काफ़ी शब्द फ़ारसी (लगभग ३५००), अरबी (लगभग २५००), पश्तो (लगभग ५०), तुर्की (लगभग १२५) हिन्दी मे आ गए और उनकी सख्या लगभग ६००० हो गई। (२) भक्ति-आदोलन के चरम बिंदु पर पहुँचने के कारण तत्सम शब्दो का अनुपात भाषा में और भी बढ गया। (३) यूरोप से सपर्क होने के कारण कुछ पुर्तगाली, स्पेनी, फ़ासीसी तथा अग्रेजी शब्द भी हिन्दी मे आ गए। साहित्य में प्रयोग—इस काल मे धर्म की प्रधानता के कारण राम-स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण-स्थान की भाषा ब्रज मे ही विशेष रूप से साहित्य रचा गया। यों दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, मैथिली और खडीबोली मे भी साहित्य-रचना हुई। इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी, सूर, मीराँ, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, देव, बुरहानुद्दीन, नुसरती, कुली-कुतुबशाह वजही तथा वली आदि हैं।

आधुनिक काल (१८०० ई०—अब तक)—ध्वनि—(१) आधुनिक काल में शिक्षा के व्यवस्थित प्रचार के कारण तथा प्रारंभ में हिन्दी प्रदेश में अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क़, ख़, ग़ ज़, फ़, जो मध्यकाल में केवल उच्च वर्गों के फ़ारसी पढ़े-लिखे लोगों तक प्रचलित थे, इस काल में प्रायः १९४७ तक सुशिक्षित लोगों में ख़ूब प्रचलित हो गए, किन्तु स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली है और अंग्रेज़ी मे प्रयुक्त होने के कारण ज़, फ़ तो एक सीमा तक अब भी प्रयुक्त हो रहे हैं, किन्तु क, ख, ग के ठीक प्रयोग में कमी आई है। नई पीढी, कुछ अपवादों को छोड़कर इनके स्थान पर प्रायः क, ख, ज बोलने लगी है। (२) अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार के कारण कुछ क्षेत्रों में ऑ (कॉलिज, डॉक्टर, ऑफ़िस, कॉफ़ी आदि में) ध्वनि भी हिन्दी में प्रयुक्त हो रही है। अन्यत्र इसके स्थान पर आ का प्रयोग होता है। (३) अंग्रेज़ी शब्दों के प्रचार के कारण कुछ नए संयुक्त व्यंजन (ड्र) हिन्दी मे प्रयुक्त हो रहे हैं। (४) स्वरों में ऐ, औ हिन्दी में आदिकाल में आए थे। इनका उच्चारण अएँ, अओँ था, अर्थात् वे संयुक्त स्वर थे। आधुनिक काल में, मुख्यतः १९४० के बाद ऐ, औ की स्थिति कुछ भिन्न हो गई है। इस संबंध में ३ बातें उल्लेख्य है : (क) पश्चिमी हिन्दी क्षेत्र में ये स्वर सामान्यतः मूल स्वर रूप में उच्चरित होते है । (ख) पूर्वी हिन्दी क्षेत्र में अब भी ये अएँ, अओँ रूप में संयुक्त स्वर के रूप मे ही प्रयुक्त हो रहे है। (ग) नैना, भैया, कौआ जैसे शब्दों में पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही हिन्दी क्षेत्रों में ऐ, औ का उच्चारण क्रमशः संयुक्त स्वर अइ, अउ रूप में होता है। (५) मध्यकाल में अ का लोप शब्दांत तथा कुछ परिस्थितियों में अक्षरांत में होना प्रारंभ हुआ था। आधुनिक काल तक आते-आते यह प्रक्रिया पूरी हो गई। अब हिन्दी में उच्चारण में ही कोई भी शब्द अकरांत नही है। (६) व ध्वनि आदि तथा मध्यकाल में कुछ अपवादों को छोड़कर प्राय द्वयो ठ रूप में उच्चरित होती थी, अब वह कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी के काफ़ी शब्दों में दंतोष्ठ्य रूप में उच्चरित होती है। **व्याकरण**—(१) आदिकाल में हिन्दी की विभिन्न बोलियों के व्याकरणिक अस्तित्व का प्रारम्भ हो गया था, किन्तु काफ़ी व्याकरणिक रूप ऐसे थे जो पास-पास के क्षेत्रों में समान थे। मध्यकाल में उनमें इस प्रकार के मिश्रण की काफी कमी हो गई थी। सूर, बिहारी, देव आदि की ब्रजभाषा तथा जायसी, तुलसी आदि की अवधी इस बात का प्रमाण है। आधुनिक काल तक आते-आते ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि कई बोलियों का व्याकरणिक अस्तित्व इतना स्वतंत्र हो गया है कि उन्हें बड़ी सरलता से भाषा की संज्ञा दी जा सकती है। (२) हिन्दी प्रायः पूर्णतः एक वियोगात्मक भाषा हो गई है। (३) प्रेस, रेडियो, शिक्षा तथा व्याकरणिक विश्लेषण आदि के प्रभाव से हिन्दी व्याकरण का रूप काफ़ी स्थिर हो गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी व्याकरण का मानक रूप सुनिश्चित हो चुका है। व्याकरण के इस स्थिरीकरण में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का मुख्य हाथ रहा है। (४) कहा जा चुका है कि मध्यकाल मे हिन्दी वाक्य-रचना एक सीमा तक फारसी से प्रभावित हुई थी। आधुनिक काल में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार फ़ारसी की तुलना में कही अधिक हुआ है। साथ ही समाचारपत्रों, रेडियो तथा सरकारी कामों मे प्रयोग के कारण भी अंग्रेज़ी हमारे अधिक निकट आई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी भाषा वाक्य-रचना, मुहावरा तथा लोकोक्ति के क्षेत्र में अंग्रेज़ी से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। उदाहरण के लिए 'मैं सोने जा रहा हूँ' 'I am going to sleep' का प्रभाव है तो 'वह आदमी जो कल बीमार पड़ा था, आज मर गया' 'The man who fell ill yesterday expired today' का। इसी तरह '....पर प्रकाश डालना' मुहावरा 'To throw light on' का अनुवाद है तो 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' लोकोक्ति 'Necessity is the mother of invention' का। अंग्रेज़ी ने विराम-चिह्नों के माध्यम से भी हिन्दी वाक्य-रचना को प्रभावित किया है। (५) इधर कुछ वर्षों से 'कीजिए' के लिए 'करिए', 'मुझे' के लिए 'मेरे को', 'मुझसे' के लिए 'मेरे से',

'तुझमे' के लिए 'तेरे मे' जैसे नए रूपों का प्रचार कुछ क्षेत्रों मे बढता जा रहा है। **शब्द समूह**—शब्द-समूह की दृष्टि मे १८०० से १९७२ तक के आधुनिक काल को मोटे रूप मे छह-सात उपकालों में विभाजित किया जा सकता है। १८०० मे १८५० तक का हिन्दी शब्द-समूह मोटे रूप से वही था जो मध्यकाल के अन्तिम चरण में था। अन्तर केवल यह था कि धीरे-धीरे अग्रेजी के अधिकाधिक शब्द हिन्दी भाषा मे आते जा रहे थे। १८५० मे १९०० तक अग्रेजी के और शब्दो के आने के अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रचार के कारण तत्सम शब्दो का प्रयोग बढा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिन्दी से निकल गए। १९०० के बाद द्विवेदी काल तथा छायावादी काल मे अनेक कारणों से तत्सम शब्दो का प्रयोग बढना आरभ हो गया। प्रसाद, पत, महादेवी वर्मा का पूरा साहित्य इस दृष्टि मे दर्शनीय है। इसके बाद प्रगतिवादी आन्दोलन के कारण तद्भव शब्दो के प्रयोग में पुन वृद्धि हुई तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग मे काफी कमी हुई। १९४७ तक लगभग यही स्थिति रही। १९४७ से बाद के शब्द-समूह में कई बातें उल्लेख्य हैं (१) अनेक पुराने शब्द नये अर्थों मे प्रचलित हो गए हैं। उदाहरण के लिए 'सदन' राज्यसभा, लोकसभा के लिए (दोनों सदनों मे) प्रयुक्त हो रहा है। (२) सामान्य समूह मे कई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षणिका, फिल्माना, इलील, घुसपैठिया जैसे बहुत से नए शब्द आ गए हैं। (३) साहित्य मे नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता की भाषा बोलचाल के बहुत निकट है, उसमें अरबी-फारसी तथा अग्रेजी के जन-प्रचलित शब्दों का काफी प्रयोग हो रहा है। किन्तु आलोचना की भाषा अब भी एक सीमा तक तत्सम शब्दों से काफी लदी हुई है। (४) इधर हिन्दी को पारिभाषिक शब्दों की बहुत आवश्यकता पडी है, क्योंकि वह अब विज्ञान, वाणिज्य, विधि आदि की भी भाषा है। इसकी पूर्ति के लिए अनेक शब्द अग्रेजी, सस्कृत आदि से लिये गए हैं तथा अनेक नए शब्द बनाए गए हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी मे मुश्किल से ५-६ हजार पारिभाषिक शब्द थे, किन्तु अब उनकी सख्या लगभग एक लाख है और दिनों-दिन उनमें वृद्धि होती जा रही है। हिन्दी शब्द-समूह अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए तथा नए शब्दों से समृद्ध होते हुए दिनों-दिन अधिक समृद्ध होना जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी अपनी अभिव्यजना में अधिक सटीक, निश्चित, गहरी तथा समर्थ होती जा रही है।

अनिश्चित भाषाएँ

यों तो ऊपर वर्णित परिवारों मे भी अभी कई भाषाओं की स्थिति बहुत निश्चित नही है, किन्तु **एनू** (जापान के उत्तर के कुछ टापुओं की भाषा), **हाइपरबोरी** (उत्तरी-पूर्वी साइबेरिया तथा कुछ द्वीपो की भाषा), **अडमनी** (अडमन की भाषा), **करेनो** (रगून के पूरब मे इसका क्षेत्र है), **बुरुशास्की** (कश्मीर के उत्तरी-पूर्वी कोने पर बोली जाती है), **एत्रुस्कन** (इटली की एक मृत भाषा), **मितानी** (दजला-फरात के पास की मृत भाषा), **बास्क** आदि निश्चित रूप से अनिश्चित परिवार की हैं। इनमें कुछ का तो अपना अकेला ही अलग परिवार माना गया है। इनमे बास्क ही अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। अत उस पर कुछ विस्तार से कहने की आवश्यकता है।

बास्क

फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पेरीनीज पर्वत के पश्चिमी भाग मे बास्क भाषा बोली जाती है। यह चारो ओर से आर्यभाषाओं से घिरी है। बोलने वालो की सख्या दो लाख से कुछ ही ऊपर है। पहाडी भाग होने से आने-जाने की सुविधा न होने के कारण इसकी सात-

आठ बोलियाँ विकसित हो गई है। इसे काकेशी सेमेटिक परिवारों से जोड़ने के असफल प्रयत्न हुए है। **विशेषताएँ**—(१) यह अश्लिष्ट-अन्तःयोगात्मक भाषा है। (२) उपपद (article) परसर्ग की भाँति बाद में लगता है—जाल्दी = घोड़ा; जाल्दी y –वह घोड़ा (The horse)। (२) सर्वनाम सेमेटिक परिवार से मिलते-जुलते है। (४) क्रिया के रूप बहुत ही कठिन होते है। बिना पूरा अभ्यास के उन पर अधिकार पाना असभव है। (५) और सर्वनाम का इनमें संयोग होता है: दकारकिओत = मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ। (६) वाक्य की बनावट कठिन होती है। क्रिया अधिकतर हिन्दी की भाँति अन्त में आती है। (७) लिंग-विचार केवल क्रिया में होता है। आश्चर्य यह है कि कहने वाले के अनुसार क्रिया का लिंग परिवर्तित न होकर जिससे बात कही जाये, उसके अनुसार परिवर्तित होता है। उदाहरण-स्वरूप : सामान्य वाक्य—एजातकित् मैं इसे नहीं जानता। जब पुरुष से कहा जाए—एजातकिआत्। जब स्त्री से कहा जाय—एज़ातकिनात्। (८) क्रिया में आदरसूचक और निरादरसूचक दो रूप होते हैं।

---

४ | प्रोक्तिविज्ञान

प्रोक्तिविज्ञान

विश्व-भाषाविज्ञान मे 'प्रोक्ति' की दृष्टि से भाषा का अध्ययन-विश्लेषण अपेक्षाकृत बहुत नई चीज है। भारत में भी और यूरोप मे भी अभी हाल तक भाषा की सहज और वृहत्तम इकाई वाक्य मानी जाती रही है और ध्वनि, अक्षर, शब्द, पद पर विचार करते-करते हमारा अध्ययन-विश्लेषण वाक्य पर आकर समाप्त हो जाता रहा है। इसीलिए ध्वनि-विज्ञान (Phonetics तथा Phonology) रूपविज्ञान (Morphology) तथा वाक्यविज्ञान (Syntax), ये तीन ही भाषाविज्ञान के मुख्य विभाग माने जाते रहे हैं। इधर पश्चिम में कुछ समय से प्रोक्ति रूप मे भाषा का विश्लेषण होने लगा है, किन्तु अभी तक इस अध्ययन को न तो भारत के बाहर और न भारत मे ही कोई नाम देने का प्रयास हुआ है। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक इस अध्ययन को 'प्रोक्तिविज्ञान' कहने का सुझाव देना चाहता है। यदि ध्वनि, रूप और वाक्य के अध्ययन क्रमशः ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान और वाक्यविज्ञान हैं तो प्रोक्ति के अध्ययन के लिए 'प्रोक्तिविज्ञान' नाम को अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी मे भी इसके अध्ययन के लिए कोई स्वतन्त्र नाम नहीं है। मेरे विचार मे यदि 'प्रोक्ति' 'डिस्कोर्स' है तो 'प्रोक्तिविज्ञान' के लिए 'डिस्कोर्सोलॉजी' (Discoursology) नाम 'फोनोलोजी', 'मार्फोलोजी' आदि के ढाँचे पर ठीक ही रहेगा।

अंग्रेजी 'डिस्कोर्स' के लिए 'प्रोक्ति' शब्द का प्रयोग हिन्दी मे १९८० से ही विशेष रूप से चला। १९८० में ही रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, बाल गोविन्द मिश्र तथा भोलानाथ तिवारी द्वारा संपादित पुस्तक 'हिन्दी का शैक्षिक व्याकरण' प्रकाशित हुई थी जिसमे प्रोक्ति पर लगभग पैंतीस पृष्ठों का एक पूरा खण्ड था।

इस विशेष अर्थ मे प्रोक्ति (प्र+उक्ति) शब्द अंग्रेजी 'डिस्कोर्स' के लिए हिन्दी में बनाया गया एक नया शब्द है। 'डिस्कोर्स' अंग्रेजी का सामान्य अर्थ (बातचीत, भाषा, तर्क-शक्ति, लेख, भाषण तथा वार्ता आदि) मे तो काफ़ी पुराना शब्द है, किन्तु इस विशिष्ट अर्थ मे वह इस सदी के प्रथम चरणांत मे ही प्रयोग मे आना शुरू हुआ।

'प्रोक्ति' या 'डिस्कोर्स' के कुछ अन्य नाम या संकेत

'डिस्कोर्स' के लिए कई अन्य शब्दों या शब्दवर्गों का भी प्रयोग मिलता है। जैसे सस्यूर भाषा को वाक्य तक सीमित नहीं रखते। वे उसे मैं-तुम के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। 'कहना' उनके अनुसार भाषा नहीं, 'बातचीत करना' भाषा है (Language is not speaking but talking) और 'डिस्कोर्स' यह बातचीत ही है। ग्लीसन इसे upward extension of sentence कहते हैं। हैरिस ने इसी को 'डिस्कोर्स' कहा है, तो हैलिडे ने टेक्स्ट (पाठ) कहा है। कुछ लोग 'डिस्कोर्स' और 'टेक्स्ट' मे यह अन्तर मानते हैं कि जो 'बातचीत' होती है, वह 'डिस्कोर्स' है तथा उसी का लिखित रूप 'टेक्स्ट' या पाठ है। आस्टिन इसे 'स्पीच ऐक्ट' (भाषिक क्रिया) कहते हैं तो हाइम्स 'स्पीच इवेंट' (भाषिक घटना)। इस प्रकार ये लोग भाषा को वाक्य तक सीमित नहीं मानते, जो ठीक ही है।

भारत में इस संकल्पना की प्राचीनता

भारत के लिए प्रोक्ति की संकल्पना बिल्कुल नई नहीं है। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में 'महावाक्य' प्रायः इसी को कहा है। वे कहते हैं 'वाक्योच्चयो महावाक्यम्', अर्थात् 'वाक्यों के उच्चय को महावाक्य कहते है। 'उच्चय' मूलतः 'उद्+चय' है, अर्थात् एक के ऊपर एक चुना हुआ। इस प्रकार विश्वनाथ के अनुसार 'वाक्यों का मात्र समूह' 'महावाक्य' नहीं है। जैसे दीवाल में चुनी ईंटें एक-दूसरे से पूरी तरह जुड़ी होती हैं, उसी प्रकार कई वाक्य पूरी तरह एक दूसरे से मिलकर महावाक्य की रचना करते हैं। साहित्यदर्पणकार ने आगे महावाक्य की संरचना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

स्वार्थबोधे समाप्तानामंगांगित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।

अर्थात्, महावाक्य के घटक प्रत्येक वाक्य का अपना-अपना अर्थ होता है, किन्तु वे जब एक दूसरे से अंगांगीभाव से मिलते है, तो मिलकर समवेतः एक अर्थ देते हैं तथा उनमें एकवाक्यत्व आ जाता है, अर्थात् वे संरचना और अर्थ के स्तर पर एक इकाई हो जाते हैं।

वस्तुतः प्रोक्ति (डिस्कोर्स) के परिभाषा-स्वरूप इस सदी में पश्चिम में और पूर्व में जो कुछ भी कहा गया है, उसे कई सौ वर्ष पूर्व साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त श्लोकांश तथा एक श्लोक में बहुत ही सफ़ाई और पूर्णता से कह दिया है।

यह एक अजीब-सी बात है कि अपनी परम्परा के इस पुराने शब्द 'महावाक्य' को छोड़कर आज हमने इस अर्थ में एक नया शब्द 'प्रोक्ति' बनाया है, और स्वीकार किया है। निश्चय ही ऐसा करके हमने अपनी परम्परा के प्रति बहुत न्याय नहीं किया है।

यों इसमें सन्देह नहीं कि 'महावाक्य' शब्द में बड़े वाक्य का भाव है, कई वाक्य के उच्चय का नहीं। इसीलिए मैं व्यक्तिगत रूप से 'डिस्कोर्स' के लिए 'महावाक्य' और 'प्रोक्ति' की तुलना में 'वाक्यबंध' नाम के प्रति अधिक आग्रही रहा हूँ। आखिर हमारे यहाँ 'शब्दबंध' और 'पदबंध' का प्रयोग होता ही है, तो उसी परम्परा में 'वाक्यबंध' भी कम सार्थक नाम नहीं कहा जा सकता।

प्रोक्ति

तर्कपूर्ण क्रमयुक्त और आपस में आन्तरिक रूप से सुसंबद्ध, एकाधिक वाक्यों की ऐसी व्यवस्थित इकाई को प्रोक्ति कहते हैं जो सन्दर्भ-विशेष में अर्थद्योतन की दृष्टि से पूर्ण हो। अर्थात्—

(१) प्रोक्ति में एक से अधिक वाक्य होते हैं।
(२) इन वाक्यों का क्रम तर्कपूर्ण होता है।
(३) ये आन्तरिक रूप से आपस में सुसंबद्ध होते हैं।
(४) ये वाक्य, आपस में मिलकर, सन्दर्भ-विशेष में अर्थ की दृष्टि से पूर्ण होते है।

(५) ये वाक्य तर्कपूर्ण क्रमयुक्तता, आपस में सुसंबद्धता तथा अर्थद्योतन की दृष्टि से पूर्णता के कारण एक इकाई के रूप में होते हैं।

यों उपर्युक्त परिभाषा में 'तर्कपूर्ण क्रमयुक्तता', 'आन्तरिक रूप से', 'आपस में', 'एकाधिक', 'व्यवस्थित' तथा 'सन्दर्भ-विशेष' आदि को छोड़ा जा सकता है, क्योंकि 'यदि वाक्य सुसंबद्ध है' तो 'उनका क्रम तर्कपूर्ण ही होगा' तथा वे 'आन्तरिक रूप से जुड़े' भी होंगे, क्योंकि 'सुसंबद्ध वाक्यों' पदबंध में 'एकाधिकता', 'तर्कपूर्ण क्रमयुक्तता' (बिना इसके सुसंबद्धता नहीं आ सकती), 'आपस में संबद्धता' तथा 'आन्तरिक संबद्धता' स्वतः समाहित है और बिना

'व्यवस्थितता' के वाक्यों की लडी की कडी तो हो सकती है, सच्चे अर्थों मे 'इकाई' नही बन सकती। जहाँ तक 'सन्दर्भ-विशेष' का प्रश्न है, किसी लेख, कहानी, उपन्यास या नाटक आदि का एक पैराग्राफ़, गीत, मुक्तक, खडकाव्य तथा महाकाव्य का एक छद, या नाटक का एक दृश्य का पूरा अर्थ सन्दर्भ-विशेष मे ही होता है, किन्तु ऐसी प्रोक्तियाँ भी होती हैं जिनके लिए सन्दर्भ को अनिवार्यत आवश्यक नही माना जा सकता। जैसे,रहिमन पानी राखिए बिन पानी सब सून, पानी गए न ऊबरे मोती मानुस चून, एक प्रोक्ति है, किन्तु निश्चित सदर्भ के बिना भी अर्थद्योतन की दृष्टि से यह अपने आप में पूर्ण है। 'एक-एक ग्यारह होते हैं' की भी यही स्थिति है। सन्दर्भ-विशेष मे इसका विशेष अर्थ (तुम लोग (श्रोता या श्रोताओ को लक्षित)एकमत रहो) हो सकता है, किन्तु बिना सन्दर्भ के भी यह निरर्थक नही है। तब इसका अर्थ होगा—'एकता में बडी शक्ति है'। इस तरह प्रोक्ति के लिए प्रसग-विशेष अनिवार्य नही है। निष्कर्षत —

वाक्यो की सुसबद्ध ऐसी इकाई को प्रोक्ति कहते हैं जो अर्थ की दृष्टि से पूर्ण हो।
इस प्रसग में निम्नांकित बातें भी सकेत्य हैं—

(क) प्रोक्ति में प्राय एकाधिक वाक्य होते हैं, किन्तु कभी-कभी एक वाक्य की भी प्रोक्ति होती है, यद्यपि अपवादत। जापानी मे लिखे गए हाइकू मे प्रत्येक एक प्रोक्ति है तथा कइयो मे मात्र एक ही वाक्य होता है। अज्ञेय की एक प्रसिद्ध कविता को यदि 'साँप, तुम नगर मे तो रहे नही, डसना कहाँ सीखा?' रूप में रखें तो यह भी एकवाक्यीय प्रोक्ति है। यों 'आ' एक ध्वनि भी है, एक अक्षर भी है, एक शब्द भी है, एक वाक्य भी है तथा अपवादत कुछ स्थितियों में एक प्रोक्ति भी। इसी तरह अनेक लोकोक्तियो (जैसे 'एक और एक ग्यारह होते हैं' या 'एक हाथ से ताली नहीं बजती', 'सत्य कडवा होता है', 'लोहे को लोहा काटता है' आदि) भी एकवाक्यीय प्रोक्ति होती हैं। यही स्थिति सार्वभौम सत्य को व्यक्त करने वाले वाक्यो की भी होती है। उदाहरणार्थ 'सूरज पूरब मे निकलता है' या 'दो और दो चार होते हैं' आदि।

(ख) प्रोक्ति के वाक्य ऊपरी तौर पर सुसबद्ध हो या नहो, आन्तरिक रूप मे अवश्य सुसबद्ध होते हैं। यो सामान्यत तो प्रोक्ति के वाक्य बाह्यत भी आपस मे सबद्ध होते हैं, किन्तु कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब वाक्य आपस मे ऊपरी तौर पर बिलकुल भी जुडे नही होते। जैसे 'सूरज डूब रहा है। आसमान लाल है। पशु दिन भर बाहर चर कर घर लौट रहे हैं।' इस प्रोक्ति मे तीनों वाक्य बाहर से अलग-अलग हैं, किन्तु भीतर से जुडे हैं, क्योकि सभी अपने-अपने ढग से एक ही बात 'शाम हो चली है' को ध्वनित कर रहे हैं, तीन बिम्बों के द्वारा।

(ग) प्रोक्ति अपने छोटे रूप मे एक पैराग्राफ़, एक छद या एक दृश्य (नाटक का) भी हो सकती है, एक अध्याय या अक भी हो सकती है तथा अपने वृहत्तम रूप मे एक पूरी कहानी, पूरा उपन्यास, पूरा एकाकी या नाटक, पूरा निबन्ध, पूरी कविता, पूरा खडकाव्य या पूरा महाकाव्य भी।

(घ) प्रोक्ति मूलत बातचीत है, इसीलिए वक्ता, श्रोता, कथ्य (सप्रेष्य या सन्देश), सन्दर्भ और मौखिक सरणि ये पाँच प्रोक्ति के घटक हैं। यदि वह लिखित या पाठ है तो पाँचवाँ घटक 'लिखित सरणि' होगा।

(ङ) प्रोक्ति का निर्णय आकार से नहीं प्रकार्य से होता है। जब तक उसमे पूरी बात को कहने की क्षमता न हो, बडी या छोटी होने के आधार पर उसे प्रोक्ति नही कहा जा सकता।

(च) प्रोक्ति मूलतः संप्रेषण की एक पूर्ण इकाई होती है। यों यह सापेक्ष होती है। उदाहरण के लिए, प्रत्येक 'उपन्यास', उसका 'प्रत्येक अध्याय' तथा प्रत्येक अध्याय के 'अभिव्यक्ति की दृष्टि से पूर्ण पैराग्राफ़'—ये सभी प्रोक्ति है, किन्तु 'उपन्यास की पूर्णता' तथा 'अध्याय की पूर्णता' और 'अध्याय के एक पैराग्राफ़ की पूर्णता' एक प्रकार की नहीं हो सकती।

(छ) कभी-कभी वाक्य अनेकार्थी होता है, किन्तु प्रोक्ति उसे अनेकार्थी से एकार्थी बना देती है। जैसे 'यह राम की तसवीर है' के तीन अर्थ है, किन्तु 'यह राम की तसवीर है, उसने कल ही खरीदा है' में वह एकार्थी है। उस वाक्य की यही स्थिति 'यह राम की तसवीर है, कल ही उसने बनाई है' या 'यह राम की तसवीर है, किन्तु उसके अपने चेहरे से इस तसवीर का चेहरा कही अच्छा है' में भी है।

प्रोक्ति के प्रकार

प्रोक्ति का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है जिनमें से कुछ मुख्य आधार तथा उनके आधार पर हो सकने वाले प्रोक्ति-प्रकार यहाँ अत्यन्त संक्षेप में देखे जा सकते हैं—

(क) **'प्रोक्ति क्या (कौन-सी विधा) है, अथवा किस विधा का अंश है'— इसके आधार पर**—इसके आधार उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, खंडकाव्य, महाकाव्य, मुक्तक, गीत, निबन्ध अथवा उपन्यासांश, नाटकांश, खंडकाव्यांश, महाकाव्यांश, गीतांश तथा निबंधांश आदि भेद हो सकते हैं। कहना न होगा कि इन सबमें संवादिता, एकालापता, वर्णनात्मकता आदि दृष्टियों से अन्तर होगा जो तत्त्वत: प्रोक्ति की प्रकृति से संबद्ध है।

(ख) **'प्रोक्ति के वाक्य आपस में किस साधन के द्वारा जोड़े गए हैं'—इसके आधार पर**—इसके आधार पर समुच्चयी संसक्ति-युक्त, सर्वनामी संसक्ति-युक्त, लोपी संसक्ति-युक्त, विरामी संसक्ति-युक्त तथा संदर्भी ससक्ति-युक्त आदि भेद हो सकते है। इनमें प्रथम में संसक्ति समुच्चयबोधक अव्यय (जैसे तथा, एवं, और, कि, जो, जोकि, तो, इसलिए कि, यद्यपि····तथापि/पर/परन्तु/लेकिन, जो····तो, क्या····क्या, चाहे····परन्तु, पर/लेकिन/किन्तु/मगर, या····या, न····न, आदि) से होती है तो दूसरे में संज्ञा के स्थान पर सर्वनाम का प्रयोग करके। ऐसे ही आगे कर्तालोप, संप्रदान लोप, कर्मलोप, क्रियालोप, विरामचिह्न तथा सन्दर्भ आदि के द्वारा। यों सर्वाधिक प्रयोग 'मिश्र संसक्ति-युक्त' प्रोक्ति का होता है जिसमें उपर्युक्त में एकाधिक (अर्थात् दो, तीन, चार या पाँच) साधनों का एक ही प्रोक्ति में प्रयोग होता है। मिश्र संसक्ति-युक्त प्रोक्ति को भी द्विसंसक्तियुक्त, त्रिसंसक्तियुक्त, चतुस्संक्तियुक्त आदि उपभेदों में संसक्ति-साधनों के प्रकारों की कुल संख्या के आधार पर विभाजित किया जा सकता है। उल्लेख्य है कि 'संसक्ति' का अर्थ होता है 'पूरी तरह आपस में मिल कर एक इकाई बन जाना।

(ग) **सबद्ध व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के आधार पर**—इस आधार पर मुख्यतः **संलाप** (दो व्यक्तियों में बातचीत) तथा **एकालाप** (एक ही व्यक्ति अकेले में बोलता है। वह वक्ता भी होता है और श्रोता भी) दो भेद होते । फिर **संलाप** के **गत्यात्मक** (जिसमें जल्दी-जल्दी वक्ता श्रोता बनता जाए तथा श्रोता वक्ता। अर्थात् वे बातचीत करते चले, वक्ता-श्रोता रूप में अपनी भूमिकाएँ बदलते चले) तथा स्थिर (वक्ता बोलता जाए और श्रोता सुनता जाए) आदि उपभेद होते हैं। फिर स्थिर के **द्वि-अभिमुख** (जैसे मंच से भाषण जिसमें श्रोता सामने होता है) तथा **एकाभिमुख** (रेडियो से समाचार या वार्ता जिसमें श्रोता सामने नहीं होता) उप-उपभेद होते हैं। **एकालाप** के भी **स्थिर** (जहाँ वक्ता के विचारों या भावों में स्थिरता हो), तथा **गत्यात्मक** (जहाँ विचार या भाव स्थिर न होकर बदलते रहें) उपभेद होते है।

का एक ही वस्तु या व्यक्ति के लिए प्रयोग। जैसे कभी मैंने यह सोचने की कोशिश नहीं की कि उसके भी जान है, इसे भी कोई चीज दुःख पहुँचाती है, उसकी भी कुछ अभिलाषाएँ हैं।' (२) ऐसे ही कभी-कभी प्रोक्ति के घटक-स्वरूप प्रयुक्त वाक्य आपस में उस रूप में पूरी तरह जुड़े नहीं होते कि वे सच्चे अर्थों में प्रोक्ति का निर्माण कर सकें। गलत समुच्चयबोधकों या अन्य शब्दों के प्रयोग के कारण ऐसा प्राय: देखने में आता है। उदाहरण के लिए, 'मैं चलता, अभी तो अँधेरा हो गया है इसलिए जाना संभव नहीं होगा।' स्पष्ट ही एक तो 'अभी' के पहले 'किन्तु' या उसका कोई समानार्थी शब्द आना चाहिए था। दूसरे यहाँ 'अब' का प्रयोग होना चाहिए था, 'अभी' का नहीं। ऐसे ही 'जभी चलना चाहो जभी चल सकते हो' जैसे प्रयोगों में दूसरा 'जभी' निरर्थक है। या तो उसके स्थान पर 'तभी' का प्रयोग होना चाहिए या फिर किसी भी शब्द का नहीं—'जभी या जब भी चलना चाहो, चल सकते हो।' (३) ऐसे ही अस्पष्टता या अर्थ की एकाधिकता भी प्रोक्ति के लिए दोष है, यदि वह जान-बूझकर किसी प्रकार के सर्जनात्मक प्रयोगवश न लायी गयी हो। उदाहरण के लिए 'मैंने उससे कहा'+'वह अपना नाम बताए' या 'वह मेरा नाम बताए' ='मैंने उससे अपना नाम बताने को कहा।' इस वाक्य में 'अपना' स्पष्ट नहीं है कि वह किसके लिए आया है, वक्ता के लिए या वक्ता जिससे कह रहा है उसके लिए। (४) कभी कभी प्रोक्ति में वाक्यों का क्रम भी गलत मिलता है। उदाहरण के लिए 'विद्यार्थी तड़के उठता है व्यायाम करता है। हाथ-मुँह धोकर पढ़ने बैठ जाता है। फिर नौ बजे खाना खाता है और स्कूल चला जाता है।' वाक्यों का यह क्रम ठीक है। यदि किसी भी वाक्य को पहले या पीछे कर दें तो क्रमदोष आ जायेगा। (५) ऐसे ही कार्य-कारण-सम्बन्ध भी प्रोक्ति के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए 'मोहन के खाने में किसी ने कुछ मिला दिया था, खाते ही वह बेहोश हो गया और डाक्टर के आने के पहले ही बेचारा चल बसा'—इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध है। किन्तु 'राम की आँखें किसी ने फोड़ दीं। पहले वह अंधा था, किन्तु आँख फोड़ देने से उसका अंधापन दूर हो गया और वह देखने लगा' में कार्य-कारण-सम्बन्ध का अभाव है।

---

५ | वाक्यविज्ञान

'वाक्यविज्ञान' में वाक्य-गठन या 'पद' से वाक्य बनाने की प्रक्रिया का वर्णनात्मक, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन होता है। **वर्णनात्मक** वाक्यविज्ञान में किसी भाषा में किसी एक काल में प्रचलित वाक्य-गठन का अध्ययन किया जाता है। **तुलनात्मक** तथा **व्यतिरेकी** में दो या अधिक भाषाओं का वाक्य-गठन की दृष्टि से किये गये अध्ययन की तुलना करके साम्य और वैषम्य देखा जाता है। **ऐतिहासिक** वाक्यविज्ञान में एक भाषा के विभिन्न कालों का अध्ययन कर वाक्य-गठन की दृष्टि से उसका इतिहास प्रस्तुत किया जाता है।

वाक्य को प्रायः लोग **सार्थक शब्दों का समूह मानते हैं, जो भाव को व्यक्त करने की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण हो।** कोशों तथा व्याकरणों में भी वाक्य की इसी प्रकार की परिभाषा मिलती है। यूरोप में इस दृष्टि से प्रथम प्रयास थ्रैक्स (लगभग पहली सदी ई० पूर्व) का है। भारत मे पंतजलि[1] (१५० ई० पू० के लगभग) का नाम लिया जा सकता है। ये दोनों ही आचार्य '**पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-समूह को वाक्य**' मानते हैं। यों समझने-समझाने के लिये ये परिभाषाएँ ठीक है, किन्तु तत्त्वतः इन्हें ठीक नही कहा जा सकता। थोड़ा ध्यान दें तो यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि भाषा में या बोलने में वाक्य ही प्रधान है। वाक्य भाषा की इकाई है। व्याकरणवेत्ताओं ने कृत्रिम रूप से वाक्य को तोडकर शब्दों को अलग-अलग कर दिया है। हमारा सोचना, समझना, बोलना या किसी भाव को हृदयंगम करना सब कुछ 'वाक्य' में ही होता है। ऐसी स्थिति में 'वाक्य पदों या शब्दों का समूह है' कहने की अपेक्षा 'पद या शब्द वाक्यों के कृत्रिम खंड है' कहना अधिक समीचीन है।

'पद' और 'वाक्य' को लेकर हमारे यहाँ मीमांसकों में विवाद रहा। **अन्विताभिधान-वाद** सिद्धान्त के अनुसार वाक्य की ही सार्थक सत्ता मूल है, और 'पद' उसके तोड़े गए अंश हैं, किन्तु अभिहितान्वयवाद के अनुसार 'पद' की ही सार्थक सत्ता है, और वाक्य पदों का जोड़ा हुआ रूप है। भर्तृहरि ने भी अपने 'वाक्यपदीय' (ब्रह्मकांड. ७३) में वाक्य की सत्ता को ही वास्तविक कहा है। स्पष्ट ही अन्विताभिधानवाद या भर्तृहरि का मत ही आज के भाषा-विज्ञान-जगत् को मान्य है, और वाक्य ही भाषा की न्यूनतम पूर्ण सार्थक सहज इकाई है।

ऊपर वाक्य की जो परिभाषाएँ दी गई है, उनमें मूलतः दो बातें हैं—

१. वाक्य शब्दों का समूह है।

२. वाक्य पूर्ण होता है।

'वाक्य शब्दों का समूह है' पर एक दृष्टि से ऊपर विचार किया जा चुका है, और यह कहा जा चुका है कि वाक्य का शब्द-रूप में विभाजन स्वाभाविक नहीं है। आज भी संसार में ऐसी भाषाये है जिनमें वाक्य का शब्द-रूप में कृत्रिम विभाजन नहीं हुआ है। ऐसी भाषाओं में वाक्य है, शब्द नहीं।

---

१. अन्य भारतीय आचार्यो ने भी वाक्य की परिभाषाएँ दी हैं। विश्वनाथ की प्रसिद्ध परिभाषा है: 'वाक्यं स्यात योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।' मीमांसाकार जैमिनी कहते हैं; 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्।'

'वाक्य शब्दों का समूह है' पर एक और दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। 'वाक्य शब्दो का समूह है' का अर्थ है कि वाक्य एक से अधिक शब्दों का होता है, पर यह बात भी पूर्णत ठीक नही है। एक शब्द के भी वाक्य होते हैं। छोटा बच्चा प्रात जब माँ से 'बिछकुट' (बिस्कुट) कहता है तो इस एक शब्द के वाक्य मे ही वह अपना पूरा भाव व्यक्त कर लेता है। बातचीत मे भी प्राय वाक्य एक शब्द के होते हैं।

उदाहरणस्वरूप—

हीरा—तुम घर कब आओगे?
मोती - कल। और तुम?
हीरा—परसों।
मोती—और मोहन गया क्या?
हीरा—हाँ।

क्या यहाँ 'कल', 'परसों', 'हाँ' वाक्य नही हैं। इसी प्रकार 'खाओ', 'जाओ', 'लिखिए', 'पढ़िए', 'चलिए', आदि भी एक ही शब्द के वाक्य होते हैं। यह बात दूसरी है कि ऐसे वाक्य पूरे वाक्य मे शब्दों का लोप करके बताए जाते है तथा बोलचाल मे प्राय प्रयुक्त होते हैं।

अर्थ की दृष्टि से वाक्य की पूर्णता भी कम विवादास्पद नही है। उसे पूर्णत पूर्ण नही कहा जा सकता। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। प्राय अपने किसी भाव को हम कई वाक्यो द्वारा व्यक्त करते है। यहाँ यह भाव अपने मे पूर्ण है और कई वाक्य मिलकर उसे व्यक्त करते हैं, अतएव निश्चय ही ये वाक्य पूर्ण (पूरे भाव) के खड मात्र हैं, अत अपूर्ण हैं। यह विवाद यही समाप्त नहीं हो जाता। मनोविज्ञानवेत्ता उस भाव या एक पूरी बात (जिसमे बहुत से वाक्य होते हैं) को भी अपूर्ण मानता है, क्योंकि जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके अनुसार भाव की एक ही अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है और बीच मे आने वाले छोटे-मोटे सारे भाव या बातें उस धारा की लहरें मात्र हैं, अतएव वह अविच्छिन्न धारा ही केवल पूर्ण है। कहने की आवश्यकता नही कि उस अविच्छिन्न धारा की पूर्णता की तुलना मे एक भाव या विचार भी बहुत अपूर्ण है तो फिर एक वाक्य की पूर्णता का तो कहना ही क्या, जो पूरे भाव या विचार का एक छोटा खड मात्र है। पर दूसरे धरातल पर बात लें।

मान लीजिए किसी उपन्यास में बीच मे एक वाक्य आता है—

'उसने उससे वह बात कह दी।'

क्या यह वाक्य अर्थ की दृष्टि से पूरा है। यदि किसी से यह वाक्य कहें तो क्या वह इससे पूरी बात समझ जाएगा? शायद नहीं। अर्थात् वाक्य अर्थ की दृष्टि से पूर्ण नही भी हो सकता है। फिर वाक्य की परिभाषा क्या हो? वस्तुत वाक्य की कोई ऐसी परिभाषा दे पाना काफी कठिन है जो दुनिया की सारी भाषाओ पर लागू हो। कामचलाऊ परिभाषा कुछ इस प्रकार की हो सकती है—

वाक्य भाषा की वह सहज इकाई है जिसमें एक या अधिक शब्द (पद) होते हैं तथा जो अर्थ की दृष्टि से पूर्ण हो या अपूर्ण, व्याकरणिक दृष्टि से अपने विशिष्ट सदर्भ में अवश्य पूर्ण होती है, साथ ही उसमे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कम-से कम एक समापिका क्रिया अवश्य होती है।

इस परिभाषा मे निम्नाकित बातें ध्यान देने की हैं—

(क) **वाक्य भाषा की सहज इकाई है।** भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि है, क्योंकि ध्वनियों के योग से प्रायः शब्द बनते है और शब्द अथवा शब्दों के योग से वाक्य। किन्तु भाषा की सहज इकाई वाक्य है। रूप, शब्द अक्षर, ध्वनि आदि इकाइयाँ उसकी तुलना मे कृत्रिम है तथा भाषा-विश्लेषण के बाद इनकी खोज हुई है या मनुष्य इनके प्रति सतर्क हुआ है।

(ख) **वाक्य में एक शब्द (पद) भी हो सकता है और एक से अधिक भी**—प्रायः भाषा मे एक से अधिक शब्द होते है, किन्तु बातचीत मे प्रायः वाक्य एक शब्द के भी होते है। विशिष्ट सदर्भ में 'हाँ' 'जाओ', 'बैठो', 'लिखो', 'नहीं' वाक्य ही है। यों ये 'एक शब्दीय वाक्य' पूरे वाक्य के अन्य शब्दों के लोप से बने होते है।

(ग) **वाक्य में अर्थ की पूर्णता हो सकती है और नही भी**—अर्थ की पूर्णता वाक्य में हो भी सकती है—

(१) दो और दो चार होते है।
(२) सूरज पूरब मे निकलता है।
(३) बिना पानी के पौदा सूख जाता है।

और नहीं भी—

(४) अब तो यह भी उसके घर जाने लगा है।
(५) उसे वह पुस्तक देती है।
(६) उस समय वह भी गायब था।

ये तीनों ही वाक्य है, यद्यपि अर्थ की दृष्टि से ये स्पष्ट और अपूर्ण है। इस तरह वाक्य के लिए आर्थिक पूर्णता आवश्यक नही है।

(घ) **वाक्य व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण होता है**—व्याकरणिक पूर्णता आर्थिक पूर्णता से भिन्न होती है। 'व्याकरणिक पूर्णता' का अर्थ है विशिष्ट सदर्भ में वाक्य के लिए व्याकरणिक दृष्टि से अपेक्षित सभी पदो अथवा शब्दों का होना। ऊपर ४, ५, ६ नंबर के वाक्य आर्थिक दृष्टि से पूरी बात का बोध कराने मे असमर्थ होते हुए भी व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण है, क्योकि उनमे कर्ता, कर्म, क्रिया आदि अपेक्षित सभी वाक्य अवयव हैं। यह नही कहा जा सकता कि इनमे व्याकरणिक दृष्टि से किसी भी शब्द की कमी है। इस प्रकार की व्याकरणिक पूर्णता सभी वाक्यो के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है।

(ङ) **व्याकरणिक पूर्णता कभी-कभी संदर्भ पर भी निर्भर करती है**—कभी तो वाक्य व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण होते हैं, किन्तु कभी-कभी बोलचाल या साहित्यिक रचनाओं मे कथनोपकन आदि मे उनमे व्याकरणिक दृष्टि से अपेक्षित सारे शब्द नही होते। वे लुप्त रहते है। ऐसे वाक्यो की व्याकरणिक पूर्णता संदर्भ विशेष पर निर्भर करती है। श्रोता या पाठक संदर्भ विशेष में उनके लुप्त शब्दो को जोड़कर अर्थ की प्रतीति कर लेता है। उदाहरण—

राजीव—तुमने खाना खा लिया ?
सौरभ—नही। और तुमने ?
राजीव—हाँ।

यहाँ 'नही', 'तुमने ?', 'हाँ' तीनों ही वाक्य है। इस सदर्भ मे 'नही' 'मैंने खाना नही खाया' का संक्षेप है और 'तुमने' 'क्या तुमने खा लिया' का तथा 'हाँ' 'हाँ मैने खा लिया' का।

(च) **वाक्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कम-से-कम एक समापिका क्रिया का भाव अवश्य होता है**—व्याकरणिक दृष्टि से पूर्ण वाक्यों मे प्रत्यक्षतः एक या अधिक क्रियाएँ होती हैं—

एक—(१) राम गया।
(२) मोहन जाता है।
(३) मैं नहीं जाने का।
अधिक—(१) राम ने कहा कि मैं जाऊँगा।
(२) राम ने कहा कि मोहन जा रहा है, अत वह नही जा सकता।
(३) राम ने बताया कि शीला तब खाली होती है, जब उसका पति खा पीकर आफिस चला जाता है।

जिन वाक्यों की व्याकरणिक पूर्णता सदर्भ पर निर्भर करती है, उनमे कभी-कभी 'क्रिया' नहीं भी होती। ऊपर 'ङ' के अतगत दिए गए उदाहरणो मे 'नहीं' और 'तुमने ?', 'हाँ' तीनों ही मे क्रिया प्रत्यक्ष रूप से नहीं है, किन्तु बिना उनकी कल्पना किए या बिना उनको लाए इन वाक्यों को समझा नहीं जा सकता। इस प्रकार क्रिया या तो प्रत्यक्षत होगी या फिर सदर्भ मे उसका अनुमान लगाया जायगा।

वाक्य की आवश्यकताएँ

पीछे वाक्य की परिभाषा के प्रसग (आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा मे इसका सूत्रात्मक उल्लेख है। भारतीय दृष्टि मे वाक्य के लिए ५ बातें आवश्यक हैं सार्थकता, योग्यता, आकाक्षा, सन्निधि और अन्विति। (१) सार्थकता—का आशय यह है कि वाक्य के शब्द सार्थक होने चाहिए। (२) योग्यता –का आशय यह है कि शब्दो की आपस मे सगति बैठे। शब्दो मे प्रसगानुकूल भाव का बोध कराने की योग्यता या क्षमता हो। 'वह पेड को पत्थर मे सीचता है' वाक्य मे शब्द तो सार्थक हैं, किन्तु पत्थर मे सीचना नहीं होता, इसलिए शब्दों की परस्पर योग्यता की कमी है, अत यह सामान्य अर्थ मे वाक्य नहीं है, उलटबाँसी भले हो। (३) आकांक्षा—का अथ है 'इच्छा'। अर्थात् 'जानने की इच्छा', अर्थात् 'अर्थ की अपूर्णता'। वाक्य मे इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह पूरा अथ दे। उसे सुनकर भाव पूरा करने के लिए कुछ जानने की आकाक्षा न रह। (यह शत विवादास्पद है। पीछे वाक्य मे अथ की पूणता पर सविस्तार विचार किया जा चुका है।) (४) सन्निधि या आसत्ति—का अर्थ है समीपता। वाक्य के शब्द समीप होने चाहिए। उपर्युक्त सभी बातों के रहने पर भी, यदि एक शब्द आज कहा जाय, दूसरा कल और तीसरा परसों तो उसे वाक्य नहीं कहा जाएगा। (५) अन्विति– का अथ है व्याकरणिक दृष्टि से एकरूपता। अग्रेजी मे इसे Concordance कहते हैं। विभिन्न भाषाओं मे इसके विभिन्न रूप मिलते हैं। यह समानरूपता प्राय वचन, कारक, लिग और पुरुष आदि की दृष्टि से होती है। हिन्दी मे क्रिया प्राय लिंग, वचन, पुरुष में कर्ता के अनुकूल होती है। 'सीता गये' न तो ठीक वाक्य है और न 'राम जा रही है', क्योंकि यहाँ न तो 'सीता और 'गये' मे अन्विति है और न 'राम और 'जा रही है' मे। अंग्रेजी मे क्रिया पुरुष, वचन की दृष्टि से कर्ता के अनुसार होती है, किन्तु लिंग की दृष्टि से नही Ram goes Sita goes प्राचीन भाषाओं में विशेषण और विशेष्य मे भी अन्विति मिलती है। सस्कृत मे 'सुन्दर फलम्' किन्तु 'सुन्दर बालक'। लैटिन मे *Puella bona* (अच्छी लडकी) *Filius bonus* (अच्छा लडका)। हिन्दी मे आकारात विशेषणो मे ही ऐसा होता है। जैसे अच्छा लडका, अच्छी लडकी। अन्य मे नहीं, जैसे चतुर लडका, चतुर लडकी। अंग्रेजी मे विशेषण-विशेष्य-अन्विति बिल्कुल नहीं है। इस प्रकार इस भाषा मे अन्विति के अपने नियम होते हैं।

मीमासकों के सिद्धात अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य मे आकाक्षा, योग्यता (अन्विति भी इसमे समाहित है) तथा आसत्ति ये तीन अपेक्षित हैं।

वाक्य के अग

वाक्य के दो अग होते हैं (१) उद्देश्य (Subject)—वाक्य का वह अग

अथवा अंश जिसके बारे में वाक्य के शेषांश में कुछ कहा गया हो। जैसे 'लड़का गया' में 'लड़का'। उद्देश्य में 'केन्द्रीय शब्द' तथा 'उसका विस्तार' आ सकता है। 'लड़का गया' में 'लड़का' केन्द्रीय शब्द है, किंतु 'राम का लड़का गया' मे 'राम का' उसका विस्तार है और उद्देश्य है 'राम का लड़का'। (२) **विधेय** (Predicate)–वाक्य का वह अंश है जो उद्देश्य के बारे में सूचना दे। इसमें क्रिया और उसका विस्तार होता है। 'लड़का गया' में 'गया', 'लड़का घर गया' में 'घर गया' तथा 'लड़का अभी घर गया है' में 'अभी घर गया है' विधेय है।

उद्देश्य-विधेय का वर्गीकरण विश्व की काफी भाषाओं पर लागू होता है, किंतु सभी भाषाओं पर नही होता।

इसी प्रकार **अग्र** और **पश्च** रूप में भी वाक्यों को विभक्त किया जा सकता है, मुखयतः बोलचाल के वाक्य मे। उल्लेख है कि बोलचाल के वाक्य अपेक्षाकृत छोटे होते है, जबकि लेखन मे प्रयुक्त वाक्य प्रायः बड़े होते है। संबंध-द्योतन के लिए प्रायः एक वाक्य का पश्च दूसरे का अग्र हो जाता है : मोहन **मेहनत कर** रहा है। मेहनत करने से संभव है **अच्छे अंक आ जायँ**। अच्छे अंक आने से **नौकरी में** सुविधा **रहेगी**। (यहाँ पश्च को काले अक्षरों में किया गया है)। अब प्रायः ऐसे वाक्यों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है, जिनका इस रूप में विभाजन नही किया जा सकता।

वाक्य-रचना

वाक्य की रचना पदो से होती है। इस रचना मे मुख्यत. चार बातें ध्यान देने की होती है—

(१) **पदक्रम या शब्दक्रम**—विश्व मे काफ़ी भाषाएँ ऐसी है, जिनमें पदक्रम का वाक्य-रचना मे महत्वपूर्ण स्थान है। चीनी आदि स्थान-प्रधान भाषाओं में यह बहुत ही महत्वपूर्ण है, किंतु अँग्रेजी, हिंदी आदि वियोगात्मक भाषाओं में भी इसके महत्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। इनमें एक सीमा तक शब्दों का स्थान निश्चित है। जैसे हिंदी मे प्रायः कर्ता पहले, कर्म बाद में और क्रिया वाक्य के अंत में आती है—

राम ने मोहन को मार डाला।

इसके विपरीत अँग्रेजी मे क्रिया बीच में आती है तथा कर्म बाद मे—

Ram killed Mohan.

इसी प्रकार विशेषण-विशेष्य, क्रियाविशेषण-क्रिया, ... विशेषण अथवा क्रियाविशेषण, पदबंधो, तथा उपवाक्यों का ... विशेष क्रम होता है।

वाक्य मे पद-क्रम की दृष्टि से भाषाएँ दो प्रकार की ... जिनमे वाक्य में शब्दों (पदो) का स्थान निश्चित न... मे विभक्ति लगी होती है, अतएव किसी भी शब्द...

परिवर्तन नहीं होता। ग्रीक, लैटिन, अरबी, फारसी तथा सस्कृत आदि इसी प्रकार की हैं।[1] इनके एक ही वाक्य को शब्दो के स्थान मे परिवर्तन करके कई प्रकार से कहा जा सकता है। कुछ उदाहरण हैं—

अरबी

जरब्अ जैदुन अम्रन=जैद ने अमर को मारा।
जरब्अ अम्रन जैदुन=अमर को जैद ने मारा।

फारसी

जैद अमररा जद=जैद ने अमर को मारा।
अमररा जैद जद=अमर को जैद ने मारा।

सस्कृत

जैद अमर अहनत्=जैद ने अमर को मारा।
अमर जैद अहनत्=अमर को जैद ने मारा।

इन भाषाओ मे भी इस प्रकार की छूट के बावजूद क्रम-विषयक कुछ नियम अवश्य होते हैं।

दूसरे प्रकार की भाषाएँ वे होती हैं, जिनमे वाक्य मे शब्द (पद) का क्रम निश्चित रहता है। ऊपर के उदाहरणो मे हम देखते हैं कि शब्दो के स्थान-परिवर्तन से अर्थ मे कोई फर्क नही आया, किन्तु निश्चित स्थान या स्थान-प्रधान भाषाओ मे वाक्य मे शब्द का स्थान बदलने से अर्थ बदल जाता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण चीनी है। यो हिंदी, अग्रेज़ी आदि आधुनिक भारोपीय भाषाओ मे भी यह प्रवृत्ति कुछ है। अग्रेज़ी का एक उदाहरण है

अग्रेज़ी

Zaid killed Amar=जैद ने अमर को मारा।

Amar killed Zaid=अमर ने जैद को मारा (यहाँ शब्द के स्थान-परिवर्तन से वाक्य का अर्थ उलट गया)

चीनी मे तो यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है—

पा ताङ शेन=पा शेन को मारता है।
शेन ताङ् पा=शेन पा को मारता है।

अग्रेज़ी मे सामान्यत कर्त्ता, क्रिया और तब कर्म आता है, पर प्रश्नवाचक वाक्य मे क्रिया का कुछ अश पहले ही आ जाता है। विशेषण सज्ञा के पहले आता

---

१ यह बात कुछ सीमाओं के भीतर ही सत्य है। इस प्रकार शब्दों को मन माने ढग से जहाँ भी चाहे रक्खा तो जा सकता है, किन्तु ऐसा सर्वदा होता नहीं रहा है। इन सयोगात्मक भाषाओं मे भी परम्परागत रूप से कुछ क्रम ही विशेष प्रचलित रहे हैं और इसी कारण उन्हीं का प्रयोग अधिक होता रहा है।

है और क्रियाविशेषण क्रिया के बाद में। हिन्दी में कर्त्ता, कर्म और तब क्रिया रखते हैं। सामान्यतः विशेषण संज्ञा के पूर्व तया क्रिया-विशेषण क्रिया के पूर्व रखते हैं। चीनी मे अंग्रेजी की भाँति कर्ता के बाद क्रिया और तब कर्म रखते हैं। यद्यपि इसकी कुछ बोलियों में कर्म पहले भी आ जाता है। विशेषण और क्रिया-विशेषण हिन्दी की भाँति प्रायः संज्ञा और क्रिया के पूर्व आते हैं। प्रश्नवाचक शब्द (जैसे क्या) अंग्रेजी तथा हिन्दी मे वाक्य के आरम्भ में आते हैं, पर चीनी में वाक्य के अन्त में।

फ़ान त्स ल मा ?

खाना खा लिया क्या ?

किसी भी भाषा के शब्दों के स्थान की निश्चितता के ये नियम निरपवाद नहीं होते। यहाँ तक कि इस प्रकार की प्रधान भाषा चीनी में भी नहीं। ऊपर का चीनी वाक्य इस प्रकार भी कहा जा सकता है—

त्स फ़ान ल मा ?

खा खाना लिया क्या ? =खाना खा लिया क्या ?

बल देने के लिए पदक्रम-प्रधान भाषाओं में भी पदक्रम में प्रायः परिवर्तन ला देते है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में सामान्यतः कहेंगे 'मैं घर जा रहा हूँ' किन्तु बल देने के लिए 'घर जा रहा हूँ मैं' या जा रहा हूँ घर मैं' आदि भी कहते हैं।

(२) **अन्वय**—'अन्वय' का अर्थ है व्याकरणिक अनुरूपता। विभिन्न भाषाओं में विशेषण-विशेष्य, कर्त्ता-क्रिया, कर्म क्रिया तथा कर्त्ता-क्रिया विशेषण आदि विभिन्न व्याकरणिक कोटियों में लिंग, वचन, पुरुष तथा मूल और विकृत रूप आदि की अनुरूपता होती है। यहाँ दो बाते ध्यान देने की है: (क) हर भाषा के अन्वय के नियम अलग-अलग होते है। (ख) अलग-अलग भाषाओं में अलग अलग चीजों का अन्वय होता है। जैसे संस्कृत में कर्त्ता-क्रिया मे लिंग का अन्वय नही है, किन्तु हिन्दी में है—

रामः गच्छति—राम जाता है।

सीता गच्छति—सीता जाती है।

ऐसे ही हिन्दी में विशेषण मे भी वचन तथा लिंग का अन्वय है, किन्तु अंग्रेजी में नहीं है—

अच्छा लड़का—good boy

अच्छी लड़की—good girl

अच्छे लड़के—good boys

हिन्दी में क्रिया कभी तो कर्ता के अनुरूप होती है—

मोहन गया—शीला गई

कभी कर्म के

राम ने रोटी खाई—राम ने आम खाया

सीता ने आम खाया—सीता नें दो आम खाए

राम ने कई पराठे खाए—राम ने एक पराठा खाया

कभी-कभी नहीं—
लड़की ने लड़के को मारा।
लड़के ने लड़की को मारा।
लड़कियों ने लड़कों को मारा।
लड़कों ने लड़कियों को मारा।
ऐसे ही मूल विकृत रूप की भी विशेषण-विशेष्य मे अनुरूपता होती है—
वह काला कपड़ा उठाओ—उस काले कपड़े को उठाओ।

(३) लोप—वाक्य-रचना में सभी अपेक्षित शब्दों का प्रयोग सर्वदा नहीं किया जाता। कभी-कभी कुछ का लोप भी हो जाता है। किन्तु यह लोप कुछ ही का हो सकता है और वे निश्चित होते हैं। 'राम जा रहा है।' वाक्य का नकारात्मक रूप होगा 'राम नहीं जा रहा' यहाँ 'है' का लोप है।

इसी तरह 'राम जाता है।' का नकारात्मक रूप पहले होता था—
'राम नहीं जाता है।' किन्तु अब होता है 'राम नहीं जाता।'

ऐसे ही 'राम घर पर है।' को कह सकते हैं—'राम घर है।' किन्तु 'राम घोड़े पर है।' को नहीं कह सकते—'राम घोड़े है।'

बोलचाल मे केवल मुख्य सूचक शब्द अथवा शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, बाकी का लोप कर देते हैं—

गौतम—तुम कहाँ गए थे?
हरि—घर। ('गया था' का लोप है)
गौतम—अब कहाँ जा रहे हो ('तुम' का लोप)
हरि—आफिस ('अब' तथा 'जा रहा हूँ' का लोप है)

ऐसे 'एक शब्दीय' अथवा 'कुछ शब्दीय वाक्यों' का अर्थ करते समय लुप्त शब्द अथवा शब्दों को लाते हैं, इसे अध्याहार कहते हैं। 'अध्याहार' का अर्थ है वाक्य का अर्थ करते समय लुप्त शब्दों को 'ले आना'। उन्हें लाए बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

लोप कई प्रकार का हो सकता है, और उतने ही प्रकार के अध्याहार भी होते हैं (१) कर्त्ता का—सुना है उसका भाई मर गया, देखते हो कि अपनी ही जान सकट मे है क्या करूँ और क्या न करूँ? (२) कर्म का—मोहन आम लाया है, तुम भी लाओ। करण आदि कुछ अन्यों का भी हो सकता है। (३) क्रिया का—लोकोक्तियों मे ऐसा प्राय होता है घर की मुर्गी दाल बराबर, घर का जोगी जगड़ा आन गाँव का सिद्ध। राम नहीं जा रहा (है), राम अब नहीं गाता (है)। (४) वाक्यांश का—(अ) प्रश्नोत्तर मे प्रश्न—तुम्हारा नाम क्या है? उत्तर—मोहन ('मेरा नाम' तथा 'है' का लोप तथा अध्याहार)। (आ) अन्यत्र वह ऐसा सीधा है जैसे गाय ('सीधी होती है' का)।

लोप के सम्बन्ध मे तीन बातें स्मरणीय हैं (क) हर भाषा मे लोप के नियम अलग-अलग होते हैं। (ख) एक ही भाषा मे कहीं तो लोप होता है कहीं नहीं होता,

राम धर **पर** है, राम घोड़े **पर** है। (ग) कहीं-कहीं लोप-अलोप दोनों संभव है पर अर्थ मे प्राय: अंतर: हाथ से मारा---हाथ मारा, लाठी से मारा---लाठी मारा।

(४) **आगम्**---कभी आवश्यक न होने पर भी कुछ अतिरिक्त 'शब्दों' का आगम कर दिया/लिया जाता है : Ram is returning back **कृपया** यहाँ बैठिए, **ऊपर** सूरज की ओर देखिए। यदि बल देने के लिए अपेक्षित न हो तो ऐसे अतिरिक्त शब्दों से बचना चाहिए। कुछ लोग कहते है--**कृपया** मेरे घर आने की **कृपा करें**; वह **वापस** लौट आया; वह सज्जन **व्यक्ति** है; मैने विंध्याचल **पर्वत** देखा है। इस प्रकार क आगम एक प्रकार की पुनरुक्ति होते है।

पदबंध (Phrase)

जब एक से अधिक पद (रूप), एक में बँधकर एक व्याकरणिक इकाई (जैसे संज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि) का कार्य करें तो उस 'बँधी इकाई' को पदबंध कहते हैं।

उदाहरण के लिए---**वहाँ पेड़** है।

सौरभ के मकान के चारों ओर पेड़ हैं।

पहले वाक्य मे 'वहाँ' एक क्रियाविशेषण पद (स्थानवाचक) है, दूसरे वाक्य में, 'सौरभ के मकान के चारों ओर', कई पदो की ऐसी इकाई है जो स्थान-वाचक क्रियाविशेषण का कार्य कर रही है, अत: यह क्रियाविशेषण पद न होकर क्रियाविशेषण **पदबंध** है। पदबंध **आठ प्रकार** के हो सकते है: (१) **संज्ञा-पदबंध**---**इतनी लगन से कला की** साधना करने वाला कलाकार अवश्य सफल होगा। (२) **सर्वनाम पदबंध---मौत से इतनी बार जूझकर बच जाने वाला मै** भला मर सकता हूँ! (३) **विशेषण-पदबंध---शरत पूनों के चाँद सा सुंदर** मुख किसको नही मोह लेता! (४) **क्रिया-पदबंध**---उसकी बात अब तो **मान ली जा सकती है**। (५) **क्रियाविशेषण-पदबंध---आगामी वर्ष के मध्य तक मेरा** काम पूरा हो जाएगा। (६) **संबंधबोधक पदबंध**---इस मकान से **बाहर की ओर** कोई बोल रहा है। (७) **समुच्चयबोधक पदबंध**---उसे मैं नही चाहता, **क्योंकि** वह झूठ बोलता है। (८) **विस्मयादिबोधक**--- हाय रे किस्मत ! यह प्रयास भी नाकाम रहा।

आजकल 'पद' शब्द के स्थान पर भी 'पदबंध' शब्द का प्रयोग विशेष संदर्भों में हो रहा है।

वाक्यों के प्रकार

(अ) पीछे भाषाओ के आकृतिमूलक वर्गीकरण में हम लोग इसे देख चुके है। संसार की सभी भाषाओ पर विचार करने मे हमें चार प्रकार के वाक्य दिखाई पड़ते है। कुछ समय पहले लोगों का विचार था कि सभी भाषाओ म समय-समय पर ये चारो प्रकार के वाक्य पाये जाते है, अर्थात् विकास-चक्र के ये चार विराम मात्र है। किंतु, अब यह चीज निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। कोई एक भाषा इन चारों प्रकार के वाक्यों मे नही जा सकती। यहाँ सक्षेप मे वाक्य के इन चारो प्रकारों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है---

(१) **अयोगात्मक**---अयोगात्मक वाक्य मे शब्द अलग-अलग रहते है और

उनका स्थान निश्चित रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ सम्बन्धतत्त्व दिखाने के लिए शब्दो मे कोई परिवतन नही किया जाता, अत सम्बन्ध का प्राकट्य शब्दो के स्थान से ही होता है। यह पदक्रम की निश्चितता एकाक्षर परिवार की चीनी आदि भाषाओ मे प्रधान रूप से मिलती है। भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाओ मे भी कुछ ऐसी प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। सस्कृत, ग्रीक आदि प्राचीन भारोपीय भाषाएँ श्लिष्ट-योगात्मक थीं, किंतु उनसे विकसित अग्रेजी, हिंदी आदि आधुनिक भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं। पदक्रम यहाँ भी कुछ-कुछ निश्चित हो गया है—

1 Ram killed Mohan

2 Mohan killed Ram

दोनो मे शब्द एक ही हैं, किन्तु स्थान-परिवतन से अर्थ उलटा हो गया है। हिंदी मे भी लगभग यही बात है। किंतु भारोपीय परिवार की भाषाएँ अभी चीनी जैसी अयोगात्मक नही है, अत पदक्रम उतने निश्चित नही हैं। हिंदी मे कर्त्ता पहले और क्रिया बाद मे आती है, पर इसके अपवाद भी मिलते हैं। इसी प्रकार अग्रेजी मे प्रश्नवाचक आदि वाक्यो मे यह साधारण नियम टूट जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भाषा अयोगात्मकता की ओर जितनी ही जाती है, उसके वाक्यो में पदक्रम का महत्त्व उतना ही बढता जाता है। अयोगात्मक वाक्य का उदाहरण अयोगात्मक भाषाओ के विवेचन मे दिया जा चुका है।

(२) योगात्मक—प्रश्लिष्ट-योगात्मक वाक्यों के सभी शब्द मिलकर एक बडा शब्द बन जाते हैं। ऐसा होने मे उनका थोडा-थोडा अश कट जाता है। मेक्सिकन भाषा मे—

क=खाना
नकत्ल =मांस
नेवत्ल =मैं

तीनो को मिलाकर

नीनकक=मैं मांस खाता हूँ।

इन वाक्यो का विश्लेषण आसानी से नही किया जा सकता, इसी से इनके शब्दो के योग को प्रश्लिष्ट कहा जाता है। इस प्रकार की रचना प्रश्लिष्ट योगात्मक कहलाती है। योगात्मक के प्रश्लिष्ट, अश्लिष्ट और श्लिष्ठ ये तीन प्रकार हो सकते हैं।

(आ) रचना के आधार पर वाक्य के निम्नलिखित भेद होते हैं —

(१) सरल वाक्य— इसमे एक उद्देश्य और एक विधेय होता है। जैसे 'लडका गया'। हिंदी आदि कुछ भाषाओ मे सरल वाक्य पाँच प्रकार के होते हैं (i) अकर्मकीय—सौरभ हँसता है। (ii) एककर्मकीय—राजीव चावल खाता है। (iii) द्विकर्मकीय—मुकुल अलका को पत्र लिखती है। (iv) कर्तृपूरकीय—फूल सुदर है। (v) कर्मपूरकीय—सजय विजय को मूर्ख बनाता है।

(२) **उपवाक्य** (Clause)—जब दो या अधिक सरल वाक्यों को मिलाकर एक वाक्य बना देते है तो उस एक वाक्य में जो वाक्य मिले होते हैं, उन्हें उपवाक्य कहते हैं। **उपवाक्य** दो प्रकार के होते है: (क) **आश्रित उपवाक्य** (Subordinate Clause)—जो प्रधान न होकर गौण अथवा दूसरे के आश्रित हो। जैसे 'वह लड़का चला गया जो सबसे अच्छा था' में 'जो सबसे अच्छा था' आश्रित है। आश्रित उपवाक्य तीन प्रकार के होते है: (i) **संज्ञा उपवाक्य**—जो कर्म या पूरक रूप में संज्ञा का काम करे। जैसे—मै जानता हूँ कि वह **उत्तीर्ण नहीं हो सकता।** (ii) **विशेषण उपवाक्य**—जो किसी संज्ञा की विशेषता बतलाए। जैसे—वह छात्र उत्तीर्ण हो जाएगा **जो परिश्रम करेगा।** (iii) **क्रियाविशेषण उपवाक्य**—जो किसी क्रिया की विशेषता बतलाए। जैसे **जब भी** वह **मेरे सामने आती है,** मेरा हृदय करुणा से भर जाता है। (ख) **प्रधान उपवाक्य** (Principal Clause)—किसी वाक्य मे जो उपवाक्य आश्रित या गौण न होकर प्रधान हो। उपर्युक्त वाक्यों में आश्रित उपवाक्य के अतिरिक्त जो उपवाक्य हैं, प्रधान उपवाक्य है: **वह छात्र उत्तीर्ण हो जाएगा,** जो परिश्रम करेगा।

(३) **मिश्र वाक्य** (Complex Sentence)—जिसमें एक प्रधान उपवाक्य तथा एक या अधिक आश्रित उपवाक्य हों। जैसे—मै चाहता हूँ कि तुम डाक्टर बनो।

(४) **संयुक्त वाक्य** (Combined Sentence)—जिस वाक्य मे कोई भी उपवाक्य प्रधान अथवा आश्रित न हो। जैसे— गिलास हाथ से गिरा और टूट गया।

(इ) भाव या अर्थ की दृष्टि से वाक्य के अनेकानेक भेद हो सकते है, जिनमें प्रधान नीचे दिए जा रहे है—

(१) विधानसूचक—राम जाता है।
(२) निषेधसूचक—राम नही जाता।
(३) आज्ञासूचक—यह काम करो।
(४) प्रश्नसूचक—तुम्हारा क्या नाम है?
(५) विस्मयसूचक—अरे यह क्या किया!
(६) संदेहसूचक—वह आया होगा।
(७) इच्छासूचक—ईश्वर तुम्हे दीर्घायु करे।

(ई) भाषा में क्रिया का स्थान प्रमुख है। वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में वाक्य में अवश्य वर्तमान रहती है। संस्कृत, लैटिन आदि बहुत-सी पुरानी भाषाओं में तथा बँगला, रूसी आदि आधुनिक भाषाओ मे बिना क्रिया के भी वाक्य मिलते है, किन्तु सामान्यतः वाक्य क्रियायुक्त होता है। इस प्रकार क्रिया के होने और न होने के आधार पर वाक्य दो प्रकार के हो सकते है—

(१) **क्रियायुक्त वाक्य**—जिसमें क्रिया हो। कहना न होगा कि अधिकांश भाषाओं के अधिकांश वाक्य इसी प्रकार के होते है।

(२) क्रियाविहीन वाक्य—जिसमे क्रिया न हो। सस्कृत, बँगला, रूसी आदि कुछ भाषाओ में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है, यद्यपि कुछ सीमित कालो मे। यो समाचार-पत्रो के शीर्षको ('देश की आजादी फिर खटाई में' या 'कुतुबमीनार से कूदकर आत्महत्या' आदि), लोकोक्तियों ('जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ', 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और' या 'आँख के अधे नाम नयनसुख' आदि), विज्ञापनो (सुन्दर और मजबूत गाडी केवल रुपये मे आदि) तथा काव्य-भाषा मे क्रियाविहीन वाक्य प्राय दिखाई पडते हैं।

रचना के प्रकार

(१) पूर्ण वाक्यात्मक, (२) अपूर्ण वाक्यात्मक

रचना (construction) के कई प्रकार होते हैं। जो पूर्ण वाक्य के रूप मे हो, उसे '**पूर्ण वाक्यात्मक रचना**' कह सकते हैं। ऐसी रचना या ऐसे वाक्य मे वाक्य के लिए आवश्यक सारे उपकरण होते हैं। दूसरी ओर कुछ रचनाएँ अपूर्ण **वाक्यात्मक** होती हैं। इनमे एक या अधिक वाक्य-उपकरणो या पदो का लोप रहता है। प्रश्नो के उत्तर मे दी गई एक या दो शब्दो की रचनाएँ इसी श्रेणी की होती हैं।

(क) राम—मोहन, क्या तुम आज घर जाओगे ?

(ख) मोहन—हाँ। (या हाँ, जाऊँगा)

यहा पहली रचना पूर्ण वाक्यात्मक है और दूसरी अपूर्ण वाक्यात्मक है। कहना न होगा कि अपूर्ण वाक्यात्मक रचना का अर्थ समझने के लिए उसे 'पूर्ण वाक्यात्मक' रचना का रूप श्रोता या पाठक, वातावरण और सदर्भ के आधार पर दे देता है। बिना इसके अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है।

(३) अत केन्द्रिक (endocentric), (४) **अकेन्द्रिक** (exocentric)।

अत केन्द्रिक रचना (construction) उसे कहते हैं, जिसका केन्द्र उसी मे हो। 'लडका' और 'अच्छा लडका' मे वाक्य के स्तर पर कोई अन्तर नही है। 'लडका जाता है' भी कह सकते हैं और 'अच्छा लडका आता है' भी। यहाँ प्रमुख शब्द लडका है। वाक्य के स्तर पर व्याकरणिक रचना की दृष्टि से 'अच्छा लडका' वही है, जो 'लडका' है। यहाँ 'अच्छा लडका' अन्त केन्द्रिक रचना है। दूसरे शब्दो में यदि **रचना (पदो का समूह) गठन की दृष्टि से अपने एक या अधिक पदों के समान है तो उसे अन्त केन्द्रिक कहेंगे।** इसके कई रूप हो सकते हैं (१) विशेषण+सज्ञा (काला कपडा, बदमाश आदमी), (२) प्रक्रियाविशेषण+विशेषण (बहुत तेज, खूब गदा), (३) क्रियाविशेषण+क्रिया (तेज दौडा, खूब खाया), (४) क्रिया वि०+क्रिया वि० (बहुत अच्छा गाता है) (५) सज्ञा+विशे० उपवाक्य (आदमी जो गया था, फल जो पकेगा), (६) सर्व०+विशे० उपवाक्य (वह जो दौड रहा था), (७) सर्व०+पूर्वसर्गात्मक वाक्याश (Prepositional phrase Those on the plane), (८) क्रिया+क्रिया वि० उप० (आगरा, जहाँ जहाज गिरा था), तथा (९) सज्ञा+सयोजक+सज्ञा (राम और मोहन) आदि प्रमुख हैं। जो रचना ऐसी नही होती, उसे **बहिष्केन्द्रिक** या **अकेन्द्रिक** कहते हैं। इसमे अन्त-

केन्द्रिक की भाँति केवल एक या कुछ शब्द पूरी रचना के स्थान पर नही आ सकते। 'हाथ से' इसी प्रकार की रचना है। इसमें न तो केवल 'हाथ' 'हाथ से' का कार्य कर सकता है, और न 'से'। दोनों ही आवश्यक हैं। किसी के बिना रचना पूर्ण नही हो सकती। यहाँ रचना के दोनों घटकों के काम वाक्य में पूर्णतः दो है। इन दोनो घटकों या अवयवों में किसी का भी केन्द्र इस रचना में नही है (अकेन्द्रिक)। 'देश से', 'दिल्ली की ओर,' 'घोड़े को', 'पानी में' आदि ऐसी ही रचनाएँ है।

अंतःकेन्द्रिक रचना दो प्रकार की होती है : **संवर्गी** (coordinative), जैसे 'राम और मोहन' तथा **आश्रितवर्गी** (subordinative), जैसे 'अच्छा लड़का'। आश्रितवर्गी में एक या कुछ शब्द मुख्य (head) होते हैं तथा शेष आश्रित। 'अच्छा लड़का', 'बहुत तेज', 'खूब चलता है' में अच्छा, बहुत, खूब आश्रित हैं। 'बहुत तेज लड़का' जैसी रचना में 'लड़का' मुख्य है, 'तेज' आश्रित और 'बहुत' 'तेज' का आश्रित।
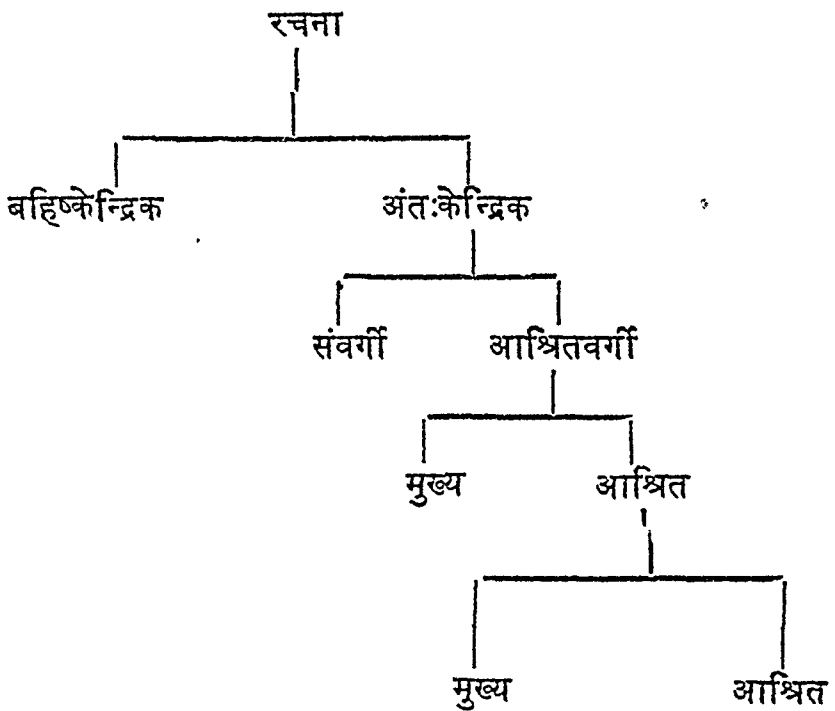
निकटस्थ अवयव (Immediate Constituent)

वाक्य में प्रयुक्त पद अथवा रूप (जिन्हे सामान्यत शब्द कहते है अथवा अलग लिखे जाने वाले रूपांश (जैसे To ने, को आदि) **उस वाक्य के 'अवयव' होते हैं**। जैसे शरीर अवयवो से बना होता है, उसी प्रकार वाक्य भी पदो या शब्दों से बना होता है। उदाहरण के लिए—

लड़का पढ़ रहा है।

वाक्य में चार अवयव है : लड़का, पढ़, रहा, है। इसी प्रकार वाक्य का कोई अंश

मूल वाक्य रूपांतरित वाक्य

मोहन गया। (साधारण वाक्य)
क्या राम गया ? (प्रश्न बोधक वाक्य)

पहला मूल वाक्य है तो दूसरा उसी में रूपातर करके ('क्या' जोडकर) बनाया गया प्रश्न बोधक वाक्य है।

राम जाता है। (साधारण वाक्य)

राम नही जाता। (निषेध बोधक वाक्य)

यहाँ भी पहला मूल वाक्य है तथा दूसरा उसी मे रूपातर करके ('नही' जोडकर तथा 'है' निकाल कर) बनाया गया निषेध बोधक वाक्य है।

बढई लकडी काट रहा है। (कर्तृ वाच्य)

बढई द्वारा लकडी काटी जा रही है। (कर्मवाच्य)

यहाँ भी पहला वाक्य मूल है तथा दूसरा रूपातरित है। यहाँ रूपातरण के लिए 'द्वारा' तथा 'जा' जोडे गए हैं तथा 'काट' को 'काटी' तथा 'रहा' को 'रही' रूप मे परिवर्तित किया गया है।

इस तरह रूपातर करके बनाए गए वाक्य रूपांतरित वाक्य कहलाते हैं। ये रूपातरित वाक्य जिन मूल वाक्यो से बनाए जाते हैं, उन्हे मूल वाक्य कहते हैं।

रूपातरण मे मुख्यत तीन बातें आती हैं जोडना, निकालना तथा परिवर्तन करना।

सक्षेप मे, जो वाक्य, अपने मूल रूप मे, अरूपातरित, होते हैं उन्हे मूल वाक्य कहते हैं। ये वाक्य साधारण, अप्रश्नबोधक, अनिषेध बोधक तथा कर्तृ वाच्यीय होते है। इसके विपरीत जो वाक्य मूल वाक्य के आधार पर रूपातर करके बनाए जाते हैं, उन्हे रूपातरित वाक्य कहते है। ये वाक्य मिश्र, सयुक्त, प्रश्न बोधक, निषेध बोधक कर्म वाच्यीय, भाववाच्यीय आदि होते हैं।

हिन्दी मे मूल वाक्य मुख्यत छह प्रकार के होते हैं

(1) **योजी क्रिया युक्त**—ईश्वर है, कल सर्दी थी, दशरथ राजा थे, घडी अच्छी है। (2) **अकर्मक क्रिया युक्त**—घोडा दौडता है। (3) **सकर्मक क्रिया युक्त**—राम ने फल खरीदे, मोहन ने विनोद को पुस्तक दी। (4) **अप्रत्यक्ष क्रियायुक्त**—मुझे यह पसद है, राम को प्यास लगी है। (5) **बाध्यता बोधक क्रियायुक्त**—राजीव को जाना पडा। (6) **औचित्य बोधक क्रियायुक्त**—शीला को पढना चाहिए।

रूपातरित वाक्य कभी तो एक ही मूल वाक्य से रूपातर करके बनाए जाते हैं, और कभी एकाधिक मूल वाक्यो से जोडकर बनाए जाते है, लडका दौड रहा था। लडका गिर गया = 'दौडने वाला लडका गिर गया, या 'जो लडका दौड रहा था गिर गया'। मोहन गया था + श्याम नही आया = मोहन गया था किन्तु श्याम नही आया।

मूल वाक्य को आधारमूल या बीज **वाक्य** (Kernal sentence) तथा रूपा तरित **वाक्य** को बीजेतर (non kernal) वाक्य भी कहते हैं।

यहाँ सामान्य दृष्टि से मूल और रूपातरित वाक्यो पर विचार किया गया। अब **चॉमस्की** आदि प्रश्न एव निषेध वाक्यो को भी मूल मानते हैं तथा रूपातरण दो प्रकार का मानते हैं। इसके लिए देखिए इस अध्याय का अतिम भाग।

आंतरिक संरचना-बाह्य संरचना

जिस वाक्य या वाक्यांश का प्रयोग हम बोलने या लिखने मे करते है, वह बाह्य संरचना (Surface structure) है। इसके विपरीत यह बाह्य संरचना, मानव मन में स्थित जिस संरचना या जिन सरचनाओं से बनी होती है, वह आंतरिक संरचना (Deep structure) है। अब आधुनिक भाषा विज्ञान मे आंतरिक संरचना को अंतर्निहित स्वरूप (Under lying representation) कहते है. क्योंकि उसी अर्थ में यह संरचना नही है जिस अर्थ मे 'बाह्य संरचना' होती है। बाह्य संरचना तथा आंतरिक संरचना में बहुत स्पष्ट अंतर है: (1) आंतरिक सरचना वक्ता के मन में होती है, जबकि बाह्य संरचना ध्वनियों या लिपि के माध्यम से हमारे सामने होती है। (2) इसी लिए पहली की सत्ता मात्र मानसिक है, किन्तु दूसरी की भौतिक है। को पहली में आर्थिक और व्याकरणिक घटक अपने अमूर्त रूप में होते है जबकि दूसरी में वे मूर्त रूप लेकर एक रचना के रूप में हमारे सामने आ जाते है। उदाहरणार्थ

आंतरिक संरचना . लड़का खाना खा + अपूर्णपक्ष हो + वर्तमान

↓ ↓ ↓ ↓

बाह्य सरचना : लड़का खाना खाता है

यहाँ यह सकल्प है कि आंतरिक संरचना में मजबूरी से शब्दों और व्याकरणिक घटकों का उल्लेख है किन्तु तत्त्वतः इस स्तर पर ये मात्र भाव होते हैं। इसीलिए प्रजनक अर्थ विज्ञानवेत्ता इन्हे मूर्त रूप वाली बाह्य रचना से अलगाने के लिए हमेशा अँग्रेजी के बड़े अक्षरों (Capital letters) से लिखते है। इस तरह बाह्य संरचना मूर्त होती है तो आंतरिक संरचना अमूर्त।

एक और उदाहरण है—

आंतरिक संरचना · (1) माँ बच्चा उठा + पूर्ण — माँ रो सातत्य काल

(2) माँ बच्चा उठा + पूर्ण — बच्चा रो सातत्य काल

बाह्य संरचना . माँ ने रोते हुए बच्चे को उठाया।

यहाँ स्पष्ट है कि इसकी आंतरिक सरचनाएँ दो है। इसीलिए माँ ने रोते हुए बच्चे को उठाया, वाक्य के दो अर्थ भी है।

आंतरिक संरचना तथा बाह्य संरचना में संबंध दिखाने का काम रूपांतरण नियम (Transformation rule) करते हैं।

वाक्य-रचना में परिवर्तन

किसी भाषा की वाक्य-रचना हमेशा एक-सी नही रहती। उसमें परिवर्तन आते रहते है। इसी तरह मूल भाषा की तुलना में उससे निकली भाषा की वाक्य-रचना में भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत वाक्य-रचना में कर्ता या कर्म के लिंग का क्रिया पर प्रभाव नही पड़ता था, किंतु संस्कृत से ही निकली हिंदी में ऐसा प्रभाव पड़ता है: **गच्छति**, सीता **गच्छति**; राम **जाता** है, सीता **जाती** है।

वाक्य-रचना में परिवर्तन के कारण

किसी भाषा की वाक्य-रचना में परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नांकित है —

(१) **अन्य भाषा का प्रभाव**—किसी अन्य भाषा के प्रभाव से भाषा की

वाक्य-रचना प्राय प्रभावित होती है, किंतु ऐसा तभी होता है जब प्रभावित करने वाली भाषा प्रभावित भाषा के बोलने वालो के लिए अत्यावश्यक होकर उनके शिक्षा अथवा व्यवहार का महत्वपूर्ण अग हो । मध्यकाल मे मुगल दरबार की भाषा फारसी थी, अत उसका पठन-पाठन काफी होता था। इसी कारण उसका हिंदी की वाक्य-रचना पर बहुत अधिक प्रभाव पडा। उदाहरण के लिए सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रश मे आदर के लिए बहुवचन के प्रयोग की परम्परा विशेष नहीं थी, किंतु फारसी मे यह परम्परा पूरी तरह से थी। उसी के प्रभावस्वरूप हिंदी मे यह परम्परा आई जिसका परिणाम है—

मेरा चपरासी आ रहा है।
मेरे अध्यापक आ रहे हैं।

'कि' का प्रयोग भी हिंदी पर फारसी प्रभाव है—

मैं चाहता हूँ कि वह चला जाए।

अग्रेजो ने भी हिंदी को इसी तरह प्रभावित किया है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। हिंदी का एक वाक्य है—

वह आदमी जो कल आया था, चोर था।

इस वाक्य मे 'वह' अग्रेजी the की छाया है—

The man who had come yesterday was a thief

हिंदी का प्राकृत वाक्य होगा—

जो आदमी कल आया था चोर था।

इसी प्रकार कई सज्ञाओ या क्रियाओ के एक साथ आने पर अतिम दो के बीच मे 'और' का प्रयोग भी हिंदी पर अग्रेजी का प्रभाव है—

राम, मोहन और श्याम खेल रहे हैं।
मै शेव करूँगा, नहाऊँगा और खाऊँगा।

भविष्य काल के लिए अपूर्ण वर्तमान का हिंदी मे प्रयोग भी अग्रेजी का प्रभाव है। उदाहरण के लिए ऐसे वाक्य खूब चलते हैं—

(क) प्रधान मत्री अगले महीने यूरोप जा रही हैं।
(ख) पिता जी कल आ रहे हैं।
(ग) अगले सप्ताह शहर मे सरकस आ रहा है।

(हिंदी वाक्य-रचना पर फारसी और अग्रेजी के प्रभाव विस्तृत रूप से देखने के लिए प्रस्तुत पक्तियो के लेखक की पुस्तक 'हिंदी भाषा' का 'हिंदी भाषा पर अन्य भाषाओ का प्रभाव' शीर्षक अध्याय देखिए।)

(२) ध्वनि-परिवर्तन से विभक्तियों और प्रत्ययो का घिस जाना— विभक्तियो के घिस जाने से अर्थ को समझने मे कठिनाई होने लगती है, अत वाक्य मे सहायक शब्द (परसर्ग, सहायक क्रिया) जोडे जाने लगते हैं, साथ ही वाक्य मे पदक्रम निश्चित हो जाता है। यही कारण है कि सस्कृत तथा पुरानी जर्मन की तुलना मे हिंदी तथा अग्रेजी मे शब्द-क्रम निश्चित है।

राम मोहन कहता है
मोहन राम कहता है।

इन वाक्यों में स्थान के कारण 'राम' एक स्थान पर कर्ता है तो दूसरे स्थान पर कर्म। संस्कृत में कर्ता 'रामः' होता तथा कर्म 'रामं'। अतः शब्द-क्रम के निश्चित होने की आवश्यक्ता नहीं थी। 'रामः' वाक्य में कहीं भी आता कर्त्ता होता तथा 'रामं' कहीं भी आता कर्म होता।

(३) **स्पष्टता तथा बल के लिए अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग**—इसके कारण वाक्य में ऐसे अतिरिक्त शब्द आ जाते हैं जो आर्थिक या व्याकरणिक दृष्टि से आवश्यक होते हैं—

कृपया कल आइएगा।

'आइएगा' अपने आप आदरसूचक है, अतः 'कृपया' की आवश्यकता नहीं थी। इसी प्रकार **He is returning back.** में 'बैक' अनावश्यक है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में विभक्तियों के लुप्त जाने पर स्पष्टता के लिए ही परसर्गों का प्रयोग (हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं में) होने लगा।

(४) **नवीनता**—नवीनता के लिए कभी-कभी नये प्रयोग चल पड़ते हैं। उनसे भी वाक्य-रचना-पद्धति में परिवर्तन आते हैं। उदाहरण के लिए हिंदी में 'मात्र' का प्रयोग संज्ञा के बाद होता रहा है, अब नवीनता के लिए संज्ञा के पहले इसका प्रयोग होने लगा है—

मुझे दस रुपये मात्र चाहिए : मुझे मात्र दस रुपये चाहिए।

इसी तरह ऐसे विशेषण पदबंध जो संज्ञा शब्दों में पहले आते रहते हैं, अब बाद में रखे जाने लगे हैं—

(क) रात भर की बात : बात रात भर की।

(ख) तीन दिन की बादशाहत : बादशाहत तीन दिन की।

पुस्तकों, रचनाओं तथा फ़िल्मों के शीर्षकों में इस प्रकार परिवर्तन खूब प्रचलित हो गया है, यों अन्यत्र भी इसके प्रयोग कम नहीं मिलते।

(५) **बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन**— युद्धकालीन, शांति-कालीन या प्रसन्न व्यक्ति की, दुखी व्यक्ति की वाक्य-रचना एक नहीं होती। वस्तुतः वाक्य-रचना बक्ता की मानसिक स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर करती है।

(६) **संक्षेप**—नहीं जाता है—नहीं जाता। (७) **बल के लिए क्रम-परिवर्तन**—जाऊँगा तो—जाऊँ तो गा, कानपूर ही—कान ही पूर

वाक्य-रचना में परिवर्तन की दिशाएँ

वाक्य-रचना में परिवर्तन मुख्य रूप से निम्नांकित रूपों या दिशाओं में होता है :—

(१) **वचन-संबंधी परिवर्तन**—भाषाओं के विकास में वाक्य-रचना में वचन-संबंधी परिवर्तन प्रायः हो जाते हैं। संस्कृत में द्विवचन भी था, अतः दो के लिए अलग कारकीय रूप होते थे और उसके साथ क्रिया के द्विवचन के रूप प्रयुक्त होते थे, हिंदी में आते-आते द्विवचन का लोप हो गया तो 'दो' की संख्या 'बहुवचन' कारकीय रूप में लगाकर द्विवचन का भाव व्यक्त किया जाने लगा

संस्कृत	हिंदी
तौ	वे दो
बालकौ	दो बालक

किंतु क्रिया-रूप द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयुक्त होने लगे—

दो बालक आए हैं।

पुरानी हिंदी मे आदर के लिए भी एकवचन की क्रिया, तथा एकवचन के विशेषण का ही प्रयोग होता था, किंतु अब हिंदी मे आदर के लिए बहुवचन का प्रयोग वर्मा (नौकर) अच्छा है, वर्मा (अध्यापक) अच्छे हैं। होता है। अंग्रेजी मे you मूलत बहुवचन है, किंतु अब एकवचन मे आता है। हिंदी 'तुम' की ठीक यही स्थिति है।

(२) लिंग-संबंधी परिवर्तन—संस्कृत मे कर्ता या कर्म के लिंग के अनुसार क्रिया परिवर्तित नहीं होती थी, किंतु हिंदी मे परिवर्तित होती है—

राम गच्छति=राम जाता है।
सीता गच्छति=सीता जाती है।

पहले हिंदी मे स्त्रीलिंग प्रयोग था—

अब हम जा रही हैं।

अब प्राय लडकियाँ और महिलाएँ प्रयोग करने लगी हैं—

हम जा रहे हैं।

पंजाबी लोग हिंदी मे 'माताजी आ रहे हैं' जैसे प्रयोग करते हैं जो अशुद्ध है।

(३) पुरुष-संबंधी परिवर्तन—पहले प्रयोग चलता था—राम ने कहा कि मैं जाऊँगा—अब अंग्रेजी के प्रभाव से सुनने मे आने लगा है राम ने कहा कि वह जाएगा।

(४) लोप—पूर्ववर्ती प्रयोगों मे कुछ लुप्त हो जाने से वाक्य अपेक्षाकृत छोटे हो जाते हैं। जैसे हिंदी में—

प्राचीन प्रयोग—राम नहीं आता है।
नया प्रयोग—राम नहीं आता।
प्राचीन प्रयोग—राम नहीं आ रहा है।
नया प्रयोग—राम नहीं आ रहा।
प्राचीन प्रयोग—आँखो से देखी घटना।
नया प्रयोग—आँखो-देखी घटना।
प्राचीन प्रयोग—वह पढेगा-लिखेगा नहीं।
नया प्रयोग—वह पढे-लिखेगा नहीं।

(५) आगम—अतिरिक्त शब्दो के आ जाने से वाक्य बडे हो जाते हैं। हिंदी में पुराना प्रयोग था—

राम ने कहा मैं जाऊँगा।

फ़ारसी प्रभाव के कारण 'कि' आ गया—

राम ने कहा कि मैं जाऊँगा।

हिंदी का प्रकृत प्रयोग है—

जो लडका आया था, चला गया।

अब अंग्रेजी प्रभाव के कारण एक अतिरिक्त [illegible]

वह लड़का जो आया था, चला गया।

(६) **पदक्रम में परिवर्तन**—वाक्य-रचना इससे भी प्रभावित होती है। विभक्ति-लोप, नये प्रयोग आदि के कारण पदक्रम परिवर्तित होता रहता है। संस्कृत और हिंदी की तुलना करें तो संस्कृत में पदक्रम बहुत निश्चित नही था, किंतु हिंदी मे वह काफी निश्चित हो गया है। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है। इधर हाल में भी हिंदी में, पदक्रम-संबंधी कई परिवर्तन हुए है। दो का उल्लेख ऊपर हो चुका है: (१) मात्र संज्ञा के पूर्व प्रयोग—मात्र दस रुपये। (२) विशेषण पदबंध का संज्ञा के बाद प्रयोग—दूल्हन, एक रात की। बल देने के लिए हिंदी में पदक्रम में काफ़ी परिवर्तन किए जाते है—

घर आज जाऊँगा।

आज घर जाऊँगा।

आज जाऊँगा घर।

'ही' शब्दों के बाद आता रहा है। अब कभी-कभी शब्दों के बीच में भी सुनने मे आता है—

कानपुर जाना है।

कान ही पुर जाना है।

'तो' की भी यही स्थिति है—

जाऊँगा तो, किंतु आज नहीं।

जाऊँ तो गा, किंतु आज नही।

रूपांतरण : अनिवार्य और ऐच्छिक

पीछे कहा जा चुका है कि आधारभूत या बीज वाक्य में रूपांतरण करके रूपांतरित वाक्य बनते हैं। चॉम्स्की के अनुसार बोलने के पहले कुछ मूलभूत चीजें मनुष्य के मस्तिष्क में आती हैं तथा उनमें रूपांतरण करके व्याकरणिक दृष्टि से शुद्ध वाक्य बनाए जाते हैं। यदि ऐसा रूपांतरण न करे तो जो वाक्य बनेगा, अशुद्ध या अव्य करणिक होगा। ऐसे रूपांतरण को अनिवार्य (ऑब्लिगेटरी) कहते है। उसके बाद अपनी इच्छा से जो रूपांतरण किए जाते हैं, वे ऐच्छिक (ऑप्शनल) कहलाते हैं। इन्हें वक्ता चाहे तो करे और न चाहे तो न करे। उदाहरण के लिए, कोई कहना चाहे कि 'राम स्कूल जाता है' तो उसके मस्तिष्क में संज्ञा पदबंध+क्रिया पदबंध पहले आता है। सज्ञा पदबंध में 'राम' तथा क्रिया पदबंध में सहायक (ता है), क्रिया (जा) तथा (दूसरा) संज्ञा पदबध (स्कूल) है। सहायक में 'काल' पहले आएगा, फिर 'वर्तमान'। क्रिया में 'जाना' तथा क्रिया पदबंध मे दूसरा संज्ञा पदबध 'स्कूल'। इसके बाद प्रत्येक भाषा की वाक्य-रचना के नियमों के अनुसार इसमें अनिवार्य रूपातरण होगा और तब अंग्रेज़ी Ram+Aux.→tense→prosent+go+to school से Ram goes to school या हिन्दी में इन्ही के आधार पर 'राम स्कूल जाता है' बनेगा। इस प्रकार के रूपांतरण अनिवार्य होते हैं। इनसे कर्तृवाच्य के सामान्य, निषेधबोधक या प्रश्नबोधक वाक्य बनते हैं। फिर ऐसे वाक्यों से जो रूपांतरण करके कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के मिश्र वाक्य तथा संयुक्त वाक्य आदि बनते हैं, ऐसे रूपांतरण ऐच्छिक कहलाते हैं। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति कह सकता है, 'राम ने पत्र लिखा' या फिर यदि वह चाहे तो इसका कर्म-वाच्य बनाकर वह कह सकता है 'पत्र राम के द्वारा लिखा गया'।

६ | रूपविज्ञान

पीछे कहा गया है कि वाक्यविज्ञान मे वाक्य का विभिन्न दृष्टियो से अध्ययन किया जाता है। उसी प्रकार रूपविज्ञान या पदविज्ञान मे 'रूप' या 'पद' का विभिन्न दृष्टियो से अध्ययन किया जाता है। वर्णनात्मक रूपविज्ञान में किसी भाषा या बोली के किसी एक समय के रूप या पद का अध्ययन होता है, ऐतिहासिक मे उसके विभिन्न कालों के रूपो का अध्ययन कर उसमे रूप-रचना का इतिहास या विकास प्रस्तुत किया जाता है, और तुलनात्मक रूपविज्ञान में दो या अधिक भाषाओं के रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

यहाँ पहला प्रश्न यह उठता है कि 'पद' या 'रूप' क्या है? भाषा की इकाई वाक्य है, अर्थात् भाषा को वाक्यो में तोड़ा जा सकता है। उसी प्रकार वाक्य के खड शब्द होते हैं और शब्द की ध्वनियाँ। एक ध्वनि या एक से अधिक ध्वनियो से शब्द बनता है, और एक शब्द या एक से अधिक शब्दो से वाक्य बनता है। यहाँ 'शब्द' शब्द का सामान्य या शिथिल प्रयोग है। थोड़ी गहराई में उतरकर देखा जाय तो कोश मे दिये गये सामान्य 'शब्द' और वाक्य मे प्रयुक्त 'शब्द' एक नही हैं। वाक्य मे प्रयुक्त शब्द में कुछ ऐसा भी होता है, जिसके आधार पर वह अन्य शब्दों से अपना सम्बन्ध दिखला सके या अपने को बाँध सके। लेकिन 'कोश' में दिये गये 'शब्द' में ऐसा कुछ नहीं होता। यदि वाक्य के शब्द एक-दूसरे से अपना सम्बन्ध न दिखला सके तो वाक्य बन ही नहीं सकता। इसका आशय यह है कि शब्दों के दो रूप हैं। एक तो शुद्ध रूप है या मूल रूप है जो कोश मे मिलता है, और दूसरा वह रूप है जो किसी प्रकार के सम्बन्धतत्त्व से युक्त होता है। यह दूसरा, वाक्य मे प्रयोग के योग्य रूप ही 'पद' या 'रूप' कहलाता है। सस्कृत में 'शब्द' या मूल रूप को 'प्रकृति' या 'प्रातिपदिक' कहा गया है और सम्बन्ध-स्थापन के लिए जोड़े जाने वाले तत्त्व को 'प्रत्यय'। महाभाष्यकार पतजलि कहते हैं नापि केवला प्रकृति प्रयोक्तव्या नापि केवल प्रत्यय। अर्थात्, वाक्य में न तो केवल 'प्रकृति' का प्रयोग हो सकता है, न केवल 'प्रत्यय' का। दोनों मिलकर प्रयुक्त होते हैं। दोनों के मिलने से जो बनता है वही 'पद' या 'रूप' है। पाणिनि के 'सुप्तिङन्त पद' (सुप और तिङ्, जिनके अत में हो, वे पद हैं) मे भी पद की परिभाषा यही है। यहाँ प्रत्यय या विभक्ति को सुप और तिङ् (सुप तिङौ विभक्ति सज्ञो स्त) कहा गया है। उदाहरण के लिए, 'पत्र' शब्द को लें। यह एक शब्द मात्र है। सस्कृत

के किसी वाक्य में इसे प्रयोग करना चाहें तो इसी रूप में हम इसका प्रयोग नहीं कर सकते। वैसा करने के लिए इसमें कोई सम्बन्धसूचक विभक्ति जोड़नी होगी। जैसे—'पत्रं पतति' (पत्ता गिरता है)। अब यहाँ हम स्पष्ट देख रहे हैं कि शुद्ध शब्द तो 'पत्र' है और वाक्य में प्रयोग करने के लिए उसे 'पत्रं' का रूप धारण करना पड़ा है। अर्थात्, 'पत्र' शब्द है और 'पत्रं' पद।

स्थान-प्रधान या अयोगात्मक भाषाओं (जैसे चीनी आदि) में शब्द और पद का यह भेद नही दिखाई पड़ता। इसका कारण यह है कि वहाँ शब्दों में सम्बन्ध दिखाने के लिए किसी सम्बन्धतत्त्व (विभक्ति आदि) के जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। शब्द के स्थान से ही शब्द का सम्बन्ध अन्य शब्द से स्पष्ट हो जाता है, या दूसरे शब्दों में बिना विभक्ति आदि जोड़े, किसी वाक्य में अपने विशिष्ट स्थान पर रक्खे जाने के कारण ही 'शब्द' पद बन जाता है। हिन्दी तथा अंग्रेजी आदि भारोपीय कुल की आधुनिक भाषाएँ भी कुछ अंशों में इस प्रकार की हो गई हैं। उदाहरण के लिए, 'लड्डू' हिन्दी का एक शब्द है। इसे वाक्य में रखना हुआ, तो बिना किसी परिवर्तन के, या विभक्ति आदि लगाकर पद बनाये बिना ही, रख दिया—

'लड्डू गिरता है।'

और 'लड्डू' ने वाक्य में जाते ही अपने स्थान के कारण (यहाँ कर्त्ता का स्थान है) अपने को पद बना लिया और उसका अन्य शब्दों से सम्बन्ध स्पष्ट हो गया। दूसरी ओर 'राम लड्डू खाता है' में भी वही 'लड्डू' है, लेकिन स्थान-विशेष के कारण यहाँ उसके सम्बन्ध और प्रकार के हो गये है। वह कर्त्ता न होकर कर्म है। अंग्रेजी से भी इस प्रकार के अगणित उदाहरण लिए जा सकते हैं। जैसे Ram killed Mohan तथा Mohan killed Ram.

शब्द

'पद' शब्द पर ही आधारित होते हैं, अतः पहले संक्षेप में शब्द-रचना विचारणीय है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। उनमें तो केवल एक ही इकाई होती है, जिसमें विकार कभी नहीं होता और जिसे धातु, शब्द या पद सब कुछ कह सकते हैं। कुछ प्रश्लिष्ट-योगात्मक (पूर्ण) भाषाओं में पूरे वाक्य का ही शब्द बन जाता है, जैसे पीछे हम लोग 'नाधोलिनिन' आदि देख चुके हैं।[1] ऐसे शब्दों पर भी यहाँ विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका रूप मात्र ही शब्द-सा है। वे असल में वाक्य ही हैं। ये वाक्य जिन शब्दों से बनते हैं, वे भी एक प्रकार से बने-बनाये शब्द हैं, अतः उन पर भी विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। शेष अधिकतर भाषाओं में शब्द की रचना धातुओं में पूर्व, मध्य या पर (आरम्भ, बीच या अन्त में) प्रत्यय जोड़कर होती है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में शब्द की रचना बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें प्रत्येक शब्द का विश्लेषण धातुओं तक किया जा सकता

---

१. देखिये पीछे भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण।

है। (सैमेटिक परिवार मे यही बात है।) धातुएँ विचारों की द्योतिका होती हैं। शब्द बनाने के लिए उपसर्ग (पूर्वप्रत्यय) और प्रत्यय दोनो ही आवश्यकतानुसार जोड़े जाते हैं। उपसर्ग जोड़ने से मूल के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, जैसे विहार, सहार, परिहार आदि में प्रत्यय जोड़कर उसी अर्थ के 'शब्द' या 'पद' बनाए जाते हैं, जैसे 'कृ' धातु में तृच् प्रत्यय जोड़ने से 'कर्तृ' शब्द बना। प्रत्यय भी दो प्रकार के होते हैं। एक, जो सीधे धातु में जोड़ दिये जाते हैं, उन्हें 'कृत्' कहते हैं। दूसरे को 'तद्धित' कहते हैं। तद्धित को धातु मे कृत् प्रत्यय जोड़ने के बाद जोड़ा जाता है।

पद

हम ऊपर कह चुके हैं कि 'शब्द' को वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बना लेने पर, उसे 'पद' की सज्ञा दी जाती है। अयोगात्मक भाषाओ मे पद नाम की शब्द से कोई अलग वस्तु नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। यहाँ शब्द स्थान के कारण पद बन जाता है। योगात्मक भाषाओ में पद बनाने के लिए शब्द मे सम्बन्ध तत्व के जोड़ने की आवश्यकता होती है। शब्द पर हम विचार कर चुके हैं। यहाँ सम्बन्धतत्व और उसके जोड़ने की विधि पर विचार किया जायेगा।

सम्बन्धतत्व

वाक्य मे दो तत्व (सम्बन्ध और अर्थ) होते हैं। दोनो मे प्रधान अर्थतत्व (semanteme) है। दूसरे को सम्बन्धतत्व कहते हैं। सम्बन्धतत्व का कार्य है विभिन्न अर्थतत्वो का आपस में सम्बन्ध दिखलाना। उदाहरणार्थ, एक वाक्य लिया जा सकता है—'राम ने रावण को बाण से मारा'। इस वाक्य में चार अर्थतत्व हैं—राम, रावण, बाण और मारना। वाक्य बनाने के लिए चारो अर्थतत्वों में सम्बन्धतत्व की आवश्यकता पड़ेगी, अत यहाँ चार सम्बन्धतत्व भी हैं। 'ने' सम्बन्धतत्व वाक्य में राम का सम्बन्ध दिखलाता है, और इसी प्रकार 'को' और 'से' क्रम से रावण और बाण का सम्बन्ध बतलाते हैं। 'मारना' से 'मारा' पद बनाने मे सम्बन्धतत्व इसी मे मिल गया है।

यहाँ हमे एक ओर ऐसे सम्बन्धतत्व मिले जो शब्द से अलग हैं (राम ने), और दूसरी ओर एक ऐसा मिला जो शब्द मे ऐसा घुलमिल गया है (मारा) कि पता नही चलता। इसी प्रकार कुछ और तरह के भी सम्बन्धतत्व होते हैं। यहाँ सभी प्रकार के सम्बन्धतत्वों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है।

सम्बन्धतत्त्व के प्रकार (समास)

(१) शब्द-स्थान

जैसा कि पीछे कई स्थानो पर कहा जा चुका है, शब्दो का स्थान भी कभी-कभी सम्बन्ध-तत्व का काम करता है। सस्कृत के समासो मे यह बात प्राय देखी जाती है। कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं—

राजसदन = राजा का घर
सदनराज = घरों का राजा, अर्थात् बहुत अच्छा या बड़ा घर
ग्राममल्ल = गाँव का पहलवान
मल्लग्राम = पहलवानों का ग्राम
धनपति = धन का पति, कुबेर
पतिधन = पति (शौहर) का धन

यहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि स्थान-परिवर्तन से सम्बन्धतत्त्व में अन्तर आ गया है, और अर्थ बदल गया है। अंग्रेजी में भी 'स्थान' कभी-कभी सम्बन्धतत्त्व का काम करता है, जैसे 'गोल्डमेडल'। इसमें यदि दोनों का स्थान उलट दें, तो यह भाव नहीं व्यक्त होगा। 'पावरहाउस' तथा 'लाइटहाउस' आदि भी ऐसे ही उदाहरण हैं। संस्कृत तथा अंग्रेजी के ऊपर के उदाहरणों की भाँति हिन्दी में भी अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रक्खी जाती है। 'राजमहल', 'डाकघर' तथा 'मालबाबू' इसी के उदाहरण हैं। यहाँ भी स्थान विशेष पर होने से ही राज, डाक तथा माल शब्द संज्ञा होते हुए भी विशेषण का काम कर रहे हैं, और इस प्रकार उनके साथ शब्दों से विशिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट है। चीनी में भी इसी प्रकार अधिकारी के बाद अधिकृत वस्तु रखी जाती है। वैंग = राजा, तीन = घर। अतः 'वैंग तीन' = राजा का घर। वेल्श में शब्द-स्थान इसके बिल्कुल उलटा है। वहाँ ब्रेनहिन = राजा, और ती = घर। पर यदि 'राजा का घर' कहना होगा तो हिन्दी या चीनी आदि की भाँति 'ब्रेनहिन ती' न कहकर 'ती ब्रेनहिन' कहेंगे।

वाक्यों में भी स्थान से सम्बन्धतत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यह बात चीनी आदि स्थान-प्रधान भाषाओं में विशेष रूप से पाई जाती है। उदाहरणस्वरूप—

न्गो त नि = मैं तुम्हें मारता हूँ।
नि त न्गो = तू मुझे मारता है।
अंग्रेजी तथा हिन्दी में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं—
Mohan killed Ram.
Ram killed Mohan.

कहना न होगा कि पहले वाक्य में मोहन और राम का सम्बन्ध दूसरा है, पर स्थान के परिवर्तन मात्र से ही दूसरे वाक्य में वाक्य पूर्णतः परिवर्तित हो गया है। हिन्दी में—

चावल जल रहा है।
मैं चावल खाता हूँ।

इन दोनों वाक्यों में बिना किसी विभक्ति के केवल 'चावल' शब्द है, पर स्थान की विशिष्टता के कारण वह दो[illegible]ो प्रकार का सम्बन्ध दिखला रहा है : पहले में कर्त्ता है, तो दूसरे में कर्म।

(२) शब्दों को ज्यों का त्यों छोड देना, या शून्य सम्बन्धतत्त्व जोडना

कभी-कभी कोई भी सम्बन्धतत्त्व न लगाकर शब्दों को ज्यो का त्यों छोड देना भी सम्बन्धतत्त्व का बोधक होता है। अंग्रेजी में सामान्य वर्तमान में प्रथम पुरुष एक-वचन (I go) तथा सभी बहुवचनों (We go, You go, They go) में क्रिया को ज्यो का त्यों छोड देते हैं। अंग्रेजी में (Sheep) का बहुवचन शीप ही है। संस्कृत में ऐसी संज्ञाएँ (जैसे वणिक्, भूभृत्, मरुत्, विद्युत्, वारि, दधि, विद्या, नदी तथा स्त्री आदि) कम नहीं हैं, जिनका अविकृत रूप ही प्रथमा एकवचन का बोधक है। आधुनिक भाषाविज्ञानवेत्ताओ ने स्पष्टता के लिए ऐसे रूपो को शून्य सम्बन्धतत्त्वयुक्त रूप कहा है। अर्थात्, मूल शब्द मे शून्य सम्बन्धतत्त्व जोडकर ये बने हैं।

(३) स्वतन्त्र शब्द अथवा शब्दवत प्रयुक्त सम्बन्ध तत्व

संसार की बहुत-सी भाषाओं में स्वतन्त्र शब्द भी सम्बन्धतत्त्व का कार्य करते हैं। हिन्दी के सारे परसर्ग या कारक-चिह्न (ने, को, से, पर, में, का, की, के) इसी वर्ग के हैं, और उनका कार्य दो या अधिक शब्दो का वाक्य या वाक्यांश या शब्द-समूह में सम्बन्ध दिखलाना ही है। अंग्रेजी के टू (to), फ्रॉम (from), ऑन (on) तथा इन (in) आदि भी इसी श्रेणी के शब्द हैं। संस्कृत के इति, आदि, एव तथा च आदि भी ऐसे ही शब्द हैं। चीनी में रिक्त (empty) और पूर्ण (full) दो प्रकार के शब्द होते हैं। रिक्त शब्दो का प्रयोग सम्बन्धतत्त्व दिखलाने के लिए ही होता है। चीनी के त्वि (=का), यु (=को), त्सुग (=से) तथा लि (=पर) रिक्त शब्द हैं, जो ऊपर के हिन्दी तथा अंग्रेजी शब्दो की श्रेणी में आते हैं। ग्रीक, लैटिन, फारसी तथा अरबी मे भी इस प्रकार के सम्बन्धतत्त्वदर्शी स्वतन्त्र शब्द मिलते हैं।

कभी-कभी दो स्वतन्त्र शब्दों का भी प्रयोग सम्बन्धतत्त्व के लिए होता है। हिन्दी का एक वाक्य लें—

अगर पिता जी की नौकरी छूट गई तो मुझे पढ़ाई छोड देनी पडेगी।

इसमें 'अगर' और 'तो' इसी प्रकार के शब्द हैं। हालांकि मगर, न न, ज्यो त्यो, यदि तो, तथा यद्यपि तथापि आदि भी इसी के उदाहरण हैं। अंग्रेजी के इफ (if) देन (then), या नीदर (neither) नॉर (nor) भी इसी श्रेणी के हैं।

(४) ध्वनि-प्रतिस्थापन (Replacing)

इसके अन्तर्गत तीन उपभेद किये जा सकते हैं। स्वर-प्रतिस्थापन, व्यंजन-प्रति-स्थापन, स्वर-व्यंजन-प्रतिस्थापन। (क) केवल स्वरो मे परिवर्तन से भी कभी-कभी संबंधतत्त्व प्रकट किया जाता है। कुछ भाषाविज्ञानवेत्ताओ ने इसी को अपश्रुति (vocalic ablaut) द्वारा सम्बन्धतत्त्व प्रकट होना कहा है। अंग्रेजी मे सिंग' (sing) से 'सैंग' (sang) तथा 'संग' (sung) इसी प्रकार बनते हैं। tooth से teeth, find से found में भी स्वर-प्रतिस्थापन है। जर्मन मे 'विर गेबेन' (wir geben—हम देते हैं) से 'विर गैबन' (wir gaben—हमने दिया) इसी प्रकार बना है। संस्कृत में दशरथ से दाशरथी

तथा पुत्र से पौत्र या हिन्दी में मामा से मामी आदि भी इसी श्रेणी के उदाहरण हैं। (ख) व्यंजन-प्रतिस्थापन में send से sent या advice से advise देखे जा सकते हैं। (ग) 'जा' से 'गया'; be से am या is; go से went; संस्कृत में पच् धातु का लुङ्, परस्मैपद में अपाक्षी या अपाक्त; रम् का लुङ् में अरप्सोताम् या आशी: में रप्सीष्ट आदि स्वर-व्यंजन-प्रतिस्थापन के उदाहरण हैं।

(५) ध्वनि-द्विरावृत्ति (Reduplicating)

कुछ ध्वनियों की द्विरावृत्ति से भी कभी-कभी सम्बन्धतत्त्व का काम लिया जाता है। यह द्विरावृत्ति मूल शब्द के आदि, मध्य और अंत तीनों स्थानों पर पाई जाती है। दक्षिणी मेक्सिको की तोजोलबल भाषा में अंत्य-द्विरावृत्ति मिलती है। संस्कृत, ग्रीक में भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। लंका की एक बोली में manao=चाहना और manao nao=(वे) चाहते हैं। इसी प्रकार अफ्रीका की एक भाषा में irik—चलना और irikrik=वह चलता है।

(६) ध्वनि-वियोजन (Subtracting)

कभी-कभी कुछ ध्वनियों को घटा कर या निकाल कर भी सम्बन्धतत्त्व का काम लिया जाता है। उसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। फ्रांसीसी भाषा के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

स्त्रीलिंग		पुल्लिंग		
उच्चारित रूप	लिखित रूप	उच्चारित रूप	लिखित रूप	अर्थ
Sul	(soule)	Su	(Soul)	(पीया)
ptit	(petite)	pti	(petit)	(छोटा)

नाइडा ने इन्हें इस रूप में माना है। यों, मैं समझता हूँ कि उल्टे रूप में इसे जोड़ने का उदाहरण मानना शायद अधिक ठीक होगा।

(७) आविसर्ग, पूर्वसर्ग या पूर्वप्रत्यय

मूल शब्द या प्रकृति के पूर्व कुछ जोड़ कर शब्द तो बहुत-सी भाषाओं मे बनते हैं, किन्तु सम्बन्धतत्त्व के लिए इसका प्रयोग बहुत अधिक नहीं मिलता। संस्कृत भूत-काल की क्रियाओं में 'अ' आरम्भ में लगाते हैं, जैसे अगच्छत्, अचोरयत्। अफ़्रीका की बंटू कुल की काफिर भाषा में यह प्रवृत्ति विशेष देखी जाती है। उदाहरणार्थ, 'कु' वहाँ सम्प्रदान कारक का चिह्न है। 'ति'=हम, नि=उन। कुति=हमको; कुनि=उनको।

(८) मध्यसर्ग (Infix) मध्य प्रत्यय

कभी-कभी सम्बन्धतत्त्व मूल शब्द के बीच में भी आता है। यह ध्यान देने की बात है कि मूल शब्द और प्रत्यय या उपसर्ग के बीच में यदि सम्बन्धतत्त्व आये तो उसे सच्चे अर्थ में मध्यसर्ग नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, संस्कृत में गम्यते में 'य' गम् धातु के बाद आया है, अतः वह प्रत्यय है, मध्यसर्ग नहीं। मुण्डा में इसके उदाहरण

मिलते हैं। उदाहरणार्थ, दल = मारना, दपल = परस्पर मारना। मफ्रि = मुखिया, मपफ्रि = मुखिया लोग। सस्कृत मे रुधादि गण की धातुओ के रूप मे इसके अच्छे उदाहरण हैं, क्योकि इनमे धातु के बीच मे 'न्' जोडा जाता है। जैसे रुध् मे रुणद्धि (रोकता है), रुन्ध (तुम लोग रोकते हो) या छिद् से छिनधि (मैं काटता हूँ) आदि। यो इनमे अधिकाश मे मध्यसर्ग के साथ-साथ अतसर्ग का भी प्रयोग होता है। अरबी मे भी इसके उदाहरण पर्याप्त हैं, जैसे कतब से किताब या कुतुब आदि। त्जेलटल (दक्षिणी मेक्सिको की एक भाषा) में 'ह' को बीच मे जोड कर धातु को सकर्मक से अकर्मक बनाया जाता है। Kuch (ले जाना) से Kuhch, या Kep (साफ करना) से Kehp आदि।

(९) अतसर्ग, विभक्ति, प्रत्यय या अत्य प्रत्यय (Suffix)

इसका प्रयोग सबसे अधिक होता है। सस्कृत मे सज्ञा, सवनाम, विशेषण और क्रिया के रूपो के बनाने मे प्राय इसी का प्रयोग होता है। राम+ (सु)=राम। फल+ — (सु)=फल। हिन्दी मे भी इसका प्रयोग खूब होता है। 'हो' धातु से होता, उस से उसने। भोजपुरी मे 'दुवार से 'दुवारे' (सप्तमी)। अग्रेजी क्रिया मे –ed,–ing से बनने वाले रूप भी इसी श्रेणी के हैं।

(१०) ध्वनिगुण (बलाघात या सुर)

बलाघात तथा सुर भी सम्बन्धतत्त्व का काम करते हैं। सुर का उदाहरण चीनी तथा अफ्रीकी भाषाओ मे मिलता है। अफ्रीका की 'फुल भाषा से एक उदाहरण लिया जा सकता है। उनमे 'मिवरत' यदि एक सुर मे कहा जाय तो अर्थ होगा 'मैं मार डालूगा', पर यदि 'त' का सुर उच्च हो तो अर्थ होगा 'मैं नही मरूँगा।' बलाघात तथा स्वराघात का सस्कृत, स्लैवोनिक, लियुआनियन तथा ग्रीक मे भी काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ग्रीक का एक उदाहरण लिया जा सकता है। 'प्रेत्रोक्तोद' मे यदि पहले 'ओ' पर स्वराघात होगा तो अर्थ होगा 'पिता द्वारा मारा गया', पर यदि दूसरे 'ओ' पर होगा तो अर्थ होगा 'पिता को मारने वाला।' अग्रेजी मे कनडक्ट (conduct) मे यदि 'क' पर बालघात होगा तो यह शब्द सज्ञा होगा, पर यदि 'ड' पर होगा तो क्रिया। इसी प्रकार प्रेजेंट (present) मे 'र' पर बलाघात होने से सज्ञा और 'जे' पर होने से क्रिया।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के भी सम्बन्धतत्त्व मिलते है, पर अधिक प्रचलित उपर्युक्त ही हैं। उपर्युक्त दस मे दो या दो से अधिक को एकसाथ सम्मिलित कर भी सम्बन्धतत्त्व का काम लिया जाता है, जैसे कतल (मारना) से मक्तूल (जो मारा जाय), तकातुल (एक-दूसरे को मारना), कुत्ताल (कतल करने वाले), मुकातला (आपस मे लडना), मकतल (कतल करने की जगह) और तकलील (बहुत कतल करना) आदि।

सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व का सम्बन्ध

इन दोनो के सम्बन्ध सभी भाषाओ मे एक जैसे नही होते। उसका कु अनुमान हम लोग ऊपर के विवेचन से भी लगा सकते है। यहां स्वतन्त्र रूप से सम्ब के प्रकारो पर विचार किया जायगा।

(१) पूर्ण संयोग

कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व दोनों एक-दूसरे से इतने मिले रहते हैं कि एक ही शब्द एकसाथ दोनों तत्त्वों को प्रकट करता है। भारोपीय एवं सैमेटिक दोनों ही परिवार की भाषाएँ ऐसी ही है। ऊपर 'स्वर-परिवर्तन' शीर्षक में ऐसे ही सम्वन्धतत्त्व की ओर संकेत किया गया है।

अरबी में क़त्ल में केवल स्वर या कुछ व्यंजन जोड़कर कई शब्द ऐसे बनाये जा सकते हैं, जिनमें दोनों तत्त्व एक में मिले हों। जैसे क़ातिल, क़तल, यक्तुलु (वह मारता है) तथा उत्कुल आदि। अंग्रेजी के भी सिंग (sing) से सैंग (sang) आदि शब्द ऐसे ही हैं। शून्य सम्बन्धतत्त्व वाले रूप भी इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

(२) अपूर्ण संयोग

कभी-कभी ऐसा होता है कि अर्थ और सम्बन्ध, ये दोनो ही तत्त्व एक में मिले रहते है, अतः एक ही शब्द द्वारा दोनो प्रकट होते हैं, किन्तु मिलन अपूर्ण रहता है और इस कारण सम्बन्ध और अर्थतत्त्व दोनों स्पष्ट देखे जा सकते हैं। उपर्युक्त पूर्ण संयोग की भाँति इनका प्रयोग नीरक्षीरवत् न होकर तिलतंडुलवत् होता है। अंग्रेजी की निर्बल क्रियाएँ ई डी (ed) लगाकर भूतकाल में परिर्वातित की जाती है। उनमें दोनों तत्त्व मिले रहने पर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैसे asked, talked, killed, तथा thanked इत्यादि। द्रविड़, तुर्की एवं एस्पेरैंतो आदि भाषाओं में भी दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध लगभग ऐसा ही मिलता है। इनमें प्रधानतः उपसर्ग या प्रत्यय के रूप में सम्बन्धतत्त्व रहता है। कभी-कभी मध्य-प्रत्यय का भी प्रयोग करना पड़ता है, पर ये सभी स्पष्टतः अलग रहते हैं, अतः इसे अपूर्ण संयोग कहा गया है। कन्नड़ भाषा में 'सेवक' से 'सेवक-रु' या 'सेवक-रन्नू' आदि तथा तुर्की मे सेव (प्यार करना) से 'सेव-इस-मेक्', 'सेव-दिर-मेक' इसके अच्छे उदाहरण है—

(३) दोनों स्वतन्त्र

कुछ भाषाओं में दोनों तत्त्वों की सत्ता पूर्णतः स्वतन्त्र होती है। इसके अन्तर्गत भी कई भाग किये जा सकते है।

(क) चीनी भाषाओं में दो प्रकार के शब्द होते है—पूर्ण शब्द और रिक्त शब्द। भाषाओ के वर्गीकरण मे हम लोग उनसे परिचित हो चुके हैं। रिक्त शब्दों का प्रयोग सर्वदा तो नहीं होता, क्योंकि यह स्थान-प्रधान भाषा है, पर कभी-कभी अवश्य होता है।

उदाहरणार्थ

पूर्ण शब्द { वो=मै या मुझे
उलत्सु=लड़का }

रिक्त शब्द 'ती'=अंग्रेजी के एपास्ट्रफी (') आदि की भाँति अधिकारी चिह्न

अतः, वो ती उलत्सु=मेरा लड़का।

भारोपीय परिवार के प्राचीन 'इति', 'आउ' आदि तथा नवीन 'ने', 'को', 'से' तथा 'टू' (to) आदि भी एक प्रकार से ऐसे ही रिक्त शब्द हैं।

(ख) 'क' वर्ग मे दोनो तत्त्व स्वतन्त्र होते हुए भी साथ साथ थे। वाक्य मे सम्बन्धतत्त्व का स्थान अर्थतत्त्व के पास ही कही था, पर कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिसमे दोनो तत्त्वो का इस प्रकार का साथ नही रहता है। वाक्य में पहले सम्बन्ध-तत्त्व प्रकट करने वाले शब्द आ जाते हैं, और फिर अन्य शब्द। अमेरिका-चक्र की चिनूक भाषा से एक उदाहरण का हिन्दी अनुवाद यहाँ लिया जा सकता है—

वह—उसने—वह—से मारना—आदमी—औरत—लाठी
=उस आदमी ने औरत को लाठी से मारा।

सम्बन्धतत्त्व का आधिक्य

कुछ भाषाओ में सम्बन्धतत्त्वो की सख्या अपेक्षाकृत अधिक रहती है। इसका फल यह होता है कि वाक्य में प्रति शब्द के साथ एक सम्बन्धतत्त्व रहता है और एक के स्थान पर तीन-तीन, चार-चार सम्बन्धतत्त्व प्रयोग में आते हैं।

फुल भाषा का एक उदाहरण—

बी=बहुवचन बनाने के लिए सम्बन्धतत्त्व

रिवी-बी रैन-बी-बी=ये सफेद औरतें।

बट् परिवार की सोविया भाषा मे—

मु=एक व्यक्ति का चिह्न

मु-न्तु मु-लोट=सुन्दर आदमी

हिन्दी आदि में केवल सज्ञा के साथ बहुवचन की विभक्ति लगाने से काम चल जाता है, किन्तु इन भाषाओ मे सज्ञा के सभी विशेषणो मे भी विभक्ति लगानी पडती है। सस्कृत आदि पुरानी भाषाओ मे यह 'आधिक्य' अधिक है। यह आवश्यक नहीं है कि एक भाषा मे केवल एक ही तरह के सम्बन्धतत्त्व मिलें और दोनो तत्त्वो का सम्बन्ध भी एक ही तरह का हो। अधिकतर भाषाओ मे कई प्रकार के सम्बन्धतत्त्व मिलते हैं।

हिन्दी मे सम्बन्धतत्त्व

हिन्दी मे अनेक प्रकार के सम्बन्धतत्त्व हैं। 'का', 'को', 'से', 'मे', 'ने' आदि चीनी की भाँति रिक्त शब्द हैं। वाक्य मे किसी हद तक कर्त्ता, क्रिया, कर्म का स्थान भी निश्चित-सा है, अत स्थान द्वारा प्रकट होने वाला सम्बन्धतत्त्व भी है। बातचीत करते समय वाक्यो में स्वराघात के कारण भी कभी-कभी परिवर्तन हो जाता है। (काकु वक्रोक्ति) 'मैं जा रहा हूँ' तथा 'मैं जा रहा हूँ' मे अन्तर है। इसी प्रकार धातु तथा उसके आज्ञा रूप (जैसे चल-चल, पी-पी, आदि) मे भी बलाघात का ही अतर है। कही-कही तुर्की आदि की भाँति अपूर्ण सयोग भी मिलता है, जैसे बालको (बालक+ओ) या चावलो (चावल+ओ) आदि। इसी प्रकार स्वर और व्यजन के परिवतन द्वारा तत्त्वों

का पूर्ण संयोग भी मिलता है, जिनमें दोनों को अलग करना असम्भव है, जैसे 'कर' से किया या 'जा' से गया। अपश्रुति के उदाहरण के लिए कुकर्म से कुकर्मी, घोड़ा से घोड़ी या करता से करती आदि कुछ शब्द लिये जा सकते है। इस रूप में अनेक प्रकार के सम्बन्धतत्त्वों के उदाहरण प्राय: सभी भाषाओं में मिल सकते हैं, पर प्राधान्य केवल एक या दो प्रकार के सम्बन्धतत्त्व का ही होता है। हिन्दी मे स्वतन्त्र शब्द तथा स्थान से प्रकट होने वाले सम्बन्धतत्त्वों का प्राधान्य है।

सम्बन्धतत्त्व के कार्य

भाषा में सम्बन्धतत्त्व द्वारा प्रमुखत: काल, लिंग, पुरुष, वचन तथा कारक आदि की अभिव्यक्ति होती है।

काल

काल के वर्तमान, भूत और भविष्य तीन भेद हैं, और फिर इन कालों की क्रियाओं के पूर्णता-अपूर्णता तथा भाव या अर्थ (mood) आदि के आधार पर सामान्य वर्तमान, अपूर्ण वर्तमान आदि बहुत से उपभेद हैं। क्रिया में विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध-तत्त्व जोड़कर ही काल इन भेदों और उपभेदों की सूक्ष्मताओं को प्रकट करते हैं। इसमें अनेक प्रकार के सम्बन्धतत्त्वों से काम लेना पड़ता है। कहीं तो स्वतन्त्र शब्द जोड़कर (I shall go में शैल) काम चलाते हैं तो कहीं इड (ed) जोड़ कर (He walked) भाव व्यक्त करना पड़ता है और कहीं इतना परिवर्तन किया जाता है कि अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का पता ही नहीं चलता। जैसे, हिन्दी में 'जा' से 'गया' या अंग्रेजी में गो (Go) से वेंट (Went)। कुछ अन्य तरह के सम्बन्धतत्त्वों का भी इसके लिए प्रयोग होता है। विद्वानों का विचार है कि कालों का रूप आज के क्रिया के रूपों में जितना दोटूक स्पष्ट है, उतना कभी नहीं था। इसका यही आशय है कि अब इस दृष्टि से हमारी विचारधारा जितना विकसित हो गई है, पहले नही थी।

लिंग

प्राकृतिक लिंग दो है—स्त्रीलिंग और पुल्लिग। बेजान चीजों को नपुंसक की श्रेणी मे रख सकते है। पर, भाषा में यह स्पष्ट नही मिलती। संस्कृत का ही उदाहरण लें। वहाँ दारा (=स्त्री) प्राकृतिक रूप से स्त्रीलिंग होते हुए भी पुल्लिग शब्द है और कलत्र (=स्त्री) प्राकृतिक रूप से स्त्रीलिंग का शब्द होते हुए भी नपुंसकलिंग है। हिन्दी में किताब प्राकृतिक रूप से नपुंसकलिंग का शब्द होते हुए भी स्त्रीलिंग है और दूसरी ओर ग्रन्थ प्राकृतिक रूप से नपुंसकलिंग का शब्द होते हुए भी पुल्लिग है। मक्खी, चींटी, चिड़िया, लोमड़ी तथा छिपकली आदि हिन्दी में सर्वदा स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि इनमें प्राकृतिक रूप से पुल्लिग या पुरुष भी होते हैं। इसी प्रकार बिच्छू तथा गोजर जैसे बहुत से सर्वदा पुल्लिग में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाभाविक लिंग से भाषा के लिंग का सम्बन्ध बहुत कम है। भाषा में हमने प्राय: कल्पित लिंग आरोपित कर लिया है।

लिंग का भाव व्यक्त करने के लिए प्रमुख रूप से दो तरीके भाषा मे अपनाए जाते हैं—

(१) प्रत्यय जोडकर—जैसे हिन्दी मे बाघ से बाघिन, हिरन से हिरनी या कुत्ता से कुतिया। अंग्रेजी मे प्रिंस से प्रिंसेस या लायन से लाइनेस भी इसी प्रकार के उदाहरण हैं सस्कृत मे सुन्दर से सुन्दरी भी इसी श्रेणी का है।

(२) स्वतन्त्र शब्द साथ मे रखकर—जैसे अंग्रेजी मे शी-गोट (बकरी)—ही-गोट (बकरा), या मुडा भाषा मे आँडिया-कूल (बाघ) और एगा-कूल (बाघिन)।

ऐसा भी देखा जाता है कि एक लिंग मे तो कोई दूसरा शब्द है और दूसरे मे बिल्कुल दूसरा, जिससे पहले शब्द का कोई सम्बन्ध नही है, जैसे स्त्री-पुरुष, ब्वॉय-गर्ल हास-मेयर, वर-वधू, माता-पिता, राजा-रानी तथा भाई-बहिन आदि।

लिंग के अनुसार सज्ञा, विश्लेपण सर्वनाम तथा क्रिया के रूप बदलते हैं, पर यह सभी भाषाओ के बारे मे सत्य नहीं है। अंग्रेजी के विशेषणो मे लिंग के कारण प्राय परिवर्तन नही होता, जैसे फैट गर्ल, फैट ब्वॉय। हिन्दी मे आकारांत मे तो हो जाता है, जैसे मोटा लडका, मोटी लडकी, पर अन्यत्र परिवर्तन नही होता, जैसे चतुर पुरुष, चतुर स्त्री या सुन्दर लडका, सुन्दर लडकी। सर्वनाम मे हिन्दी में तो कोई परिवर्तन नही होता, पर अंग्रजी (ही, शी) तथा सस्कृत (स, तत, सा) आदि मे परिवर्तन हो जाता है। इसके उलटे क्रिया मे लिंग के आधार पर हिन्दी मे परिवर्तन होता है लडका जाता है, लडकी जाती है), पर अंग्रेजी (द गर्ल गोज, द ब्वॉय गोज) तथा सस्कृत आदि भाषाओ मे नहीं होता।

काकेशस परिवार की चेचेन बोली मे छ लिंग हैं।

पुरुष

पुरुष तीन होते हैं—उत्तम, मध्यम तथा अन्य। पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपो मे परिवर्तन होता है। पर यह बात ससार की सभी भाषाओ मे नही पाई जाती। एक ओर सस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी आदि मे यह है तो दूसरी ओर चीनी आदि में नही है। पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपो मे परिवर्तन करने के लिए कभी तो कुछ स्वरो, व्यजनो या अक्षरो के बदलने से काम चल जाता है, जैसे हिन्दी मे मैं जाऊँगा, तू जायेगा (जावेगा, जाएगा) और कभी-कभी विभक्ति-परिवर्तन करना पडता है, जैसे सस्कृत मे प्रथम पुरुष भू+ति, मध्यम पुरुष भू+सि, अन्य पुरुष भू+मि। अंग्रेजी मे कभी तो एक ही रूप कई मे काम देता है (जैसे आइ गो, यू गो, दे गो) और कभी नये शब्द रखकर (ही इज गोइङ्, यू आर गोइङ) तथा कभी प्रत्यय जोडकर (आइ गो, ही गोज) काम चलाते हैं। अरबी तथा फारसी आदि मे भी प्राय यही तरीके अपनाये जाते हैं।

वचन

वचन प्रमुख रूप से दो—एकवचन और बहुवचन—मिलते हैं। पर सस्कृत

लिथुआनियन आदि कुछ भाषाओं में द्विवचन तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं में प्रयोग भी मिलता है। वचन का ध्यान प्रायः संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया में रखे है, पर संस्कृत आदि कुछ प्राचीन भाषाओं में तथा हिन्दी आदि में विशेषण में भी ध्यान रक्खा जाता रहा है।

वचन के भावों को व्यक्त करने के लिए प्रायः एकवचन के रूप में प्रत्यय (हिन्दी में ओं या यों आदि, अंग्रेजी में इ-यस (es) या यस (s) आदि तथा संस्कृत में औ, जस् आदि लगाते हैं। कभी-कभी अपवादस्वरूप समूहवाची स्वतन्त्र (गण तथा लोग आदि) शब्द भी जोड़े जाते हैं। क्रिया में और भी कई प्रकार की पद्धतियों से वचन के भाव व्यक्त किये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त संज्ञा तथा सर्वनाम के कारण (कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण, संबोधन) रूप, क्रिया के विभिन्न वाक्यों (कर्तृ, कर्म, भाव) या अर्थों या भावों (Mood) के रूप, संस्कृत धातुओं के परस्मैपद तथा आत्मनेपद के रूप तथा क्रिया के प्रेरणार्थक (पढ़ना से पढ़वाना) आदि रूपों के लिए भी भाषा में सम्बन्धतत्त्व का सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार संज्ञा से क्रिया (हाथ से हथियाना), क्रिया से संज्ञा (मार से मार), संज्ञा से विशेषण (अनुकरण से अनुकरणीय), विशेषण से संज्ञा (सुन्दर से सुन्दरता), संज्ञा या विशेषण से क्रियाविशेषण (तेजी या तेज से 'तेजी से') एवं नकारात्मकता या आधिक्य आदि बोधक रूपों आदि को बनाने के लिए भी सम्बन्धतत्त्व की आवश्यकता पड़ती है।

रूप-परिवर्तन (Morphological Change)

शब्दों या पदों के रूप सर्वदा एक-से नहीं रहते। उनमें परिवर्तन होता रहता है।

रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में अन्तर

सामान्य दृष्टि से देखने पर रूप-परिवर्तन और ध्वनि-परिवर्तन में अन्तर नहीं दिखाई देता, पर यथार्थतः दोनों में अन्तर है। यद्यपि कभी-कभी ये दोनों इतने समान या समीप हो जाते हैं कि इनको अलग कर पाना यदि असंभव नहीं तो कष्ट-संभव अवश्य हो जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन का सम्बन्ध किसी भाषा की विशिष्ट ध्वनि से होता है और उसका परिवर्तन ऐसे सभी शब्दों को प्रायः प्रभावित कर सकता है (और प्रायः करता भी है) जिसमें वह विशिष्ट ध्वनि हो। आगे ध्वनि-नियमों में हम देखेंगे कि ध्वनि-परिवर्तन के नियमों ने कुछ अपवादों को छोड़कर किसी भाषा में आने वाले विशिष्ट ध्वनि-तत्त्वों को प्रायः सर्वत्र प्रभावित किया, पर रूप-परिवर्तन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होता है। वह किसी एक शब्द या पद के रूप को ही प्रभावित करता है। उससे भाषा के पूरे संस्थान से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन अपेक्षाकृत व्यापक है और रूप-परिवर्तन सीमित तथा संकुचित।

रूप-परिवर्तन के कारण

(१) नियमन—भाषा मे कुछ तो नियम होते हैं जो अधिकाश रूपो पर लागू होते हैं । इसके विपरीत कुछ अपवाद होते हैं जो इन बहु-प्रचलित नियमो का उल्लघन करते हैं । स्पष्ट ही नियमित रूपो को स्मरण रखना तथा भाषा बोलते समय उनका प्रयोग करना सरल होता है । इसके विपरीत नियम-विरोधी रूपों का स्मरण रखना तथा यथावसर उनका प्रयोग करना कठिन होता है । इस कठिनाई से बचने के लिए हर भाषाभाषी का अतर्मन जाने-अनजाने अनियमित रूपो के स्थान पर नियमित रूपो का प्रयोग करना चाहता है । उदाहरण के लिए, हिंदी मे पुराने मानक रूप 'हूजिए' तथा 'कीजिए' हैं, किंतु ये अपवाद नियम-विरोधी हैं । सामान्य नियम धातु मे 'इए' जोडकर रूप बनाने का है आइए, चलिए, बैठिए, आदि । इसका परिणाम यह हुआ है कि अब इस दिशा मे नियमन हो गया है और 'हूजिए' के स्थान पर 'होइए' तथा 'कीजिए के स्थान पर 'करिए' रूप प्रयुक्त होने लगे हैं। 'मर्' का 'मरा', 'चल्' का 'चला', 'बैठ्' का 'बैठा' नियमित है, किंतु 'कर' का 'किया' अपवाद है, परिणामत बहुत से लोग इसका नियमन कर 'कर' से 'करा' का प्रयोग करते हैं या कर जाते हैं या कर देते हैं । 'भारी', 'ताजा', 'खारी' मानक हिंदी मे अपरिवर्तनीय विशेषण हैं, किंतु अन्य ईकारात (बडी, अच्छी, मीठी, लबी आदि) अथवा आकारात (बडा, अच्छा, मीठा, लबा) विशेषण परिवर्तनीय हैं, अत उन्हीं के नियम के अनुसार कुछ लोग इनका भी रूप बदल देते हैं खारा पानी (होना चाहिए खारी पानी), ताजी खबर (होना चाहिए ताजा खबर), भारा बदन (होना चाहिए भारी बदन), पजाबी लोग प्राय 'भारा बदन' का प्रयोग करते हैं । प्रेमचद की प्रारभिक रचनाओं मे 'चिडिये का पख' तथा 'पाठशाले मे' जैसे प्रयोग हैं, जो होने चाहिए 'चिडिया का पख' तथा 'पाठशाला मे' । अकारात पुल्लिग (जैसे घोडा, कमरा आदि) के आधार पर गलत नियमन से यह 'चिडिया', 'पाठशाला' की अशुद्धि हुई होगी । यह नियमन साहचर्य के आधार पर होता है ।

(२) **बहुप्रयुक्त रूपों का प्रभाव**—पहले करण के रूप मे नियमन का उल्लेख किया जा चुका है । नियमन से प्राप्त सारे उदाहरणो में प्रस्तुत कारण भी कार्य करता है । नियमन होता है, भाषा के सामान्य नियम के अनुसार, किंतु इस 'नियमन होने' मे उस भाषा के बहु-प्रयुक्त रूपो का प्रभाव भी काम करता है । वस्तुत नियमन और 'यह प्रभाव' एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं । इन्हें एक साथ भी रखा जा सकता है । 'कीजिए' पद 'करिए' बनकर अपनी रचना मे नियमित हो गया अथवा चलिए, पढिए, बैठिए, लिखिए जैसे सैकडो रूपो के प्रभाव से 'कर' से 'कीजिए' के स्थान पर 'करिए बन गया है ।

कभी-कभी एक अन्य रूप मे भी 'प्रभाव' काम करता है । सस्कृत मे अकारात शब्दो का प्रयोग अन्यो की तुलना मे बहुत अधिक था । इसका परिणाम यह हुआ कि परवर्ती भाषाओ मे अन्य ध्वनियो से अत होने वाले शब्दो के रूप भी

अकारांत शब्दों की तरह बनने लगे। उदाहरण के लिए संस्कृत में संबंध एकवचन मे 'पुत्र' का 'पुत्रस्य', 'सर्व' का 'सर्वस्य', 'अग्नि' का 'अग्नेः' तथा 'वायु' का 'वायोः' बनता है, किंतु प्राकृतो में संबंध एकवचन में रूप 'पुत्तस्य', 'सब्बस्य', 'अग्गिस्स', 'वाउस्स' मिलते है। प्रश्न उठता है कि 'अग्गिस्स' और 'वाउस्स' रूप कहाँ से आ गए? 'अग्नेः' तथा 'वायोः' से ये विकसित नहीं हो सकते। स्पष्टतः बहुप्रयुक्त अकारात शब्दो के प्रभाव के कारण ही इनके रूप परिवर्तित हुए। ऐसे ही बहुप्रयुक्त धातु 'भू' के प्रभाव अन्य धातुओं की रूपरचना में पड़ा है। संबंध कारक के रूपों का प्रयोग कर्म, संप्रदान, करण, अपादान तथा अधिकरण से अधिक होता है। इसी कारण संबंधकारक के रूपों पर आधारित नये रूप 'मेरे को' (मुझे), 'तेरे को' (तुझे), 'तेरे से' (तुझसे), 'मेरे पर' (मुझ पर), तेरे में (तुझ मे), चलने लगे हैं तथा 'मुझ', 'तुझ' वाले रूप लुप्त होते जा रहे है।

(३) **ध्वनि-परिवर्तन**—इसके कारण भी रूप-परिवर्तन होता है। संयोगात्मक भाषाओ मे ध्वनि-परिवर्तन के कारण जब विभक्तियाँ परिवर्तित होते-होते लुप्त हो जाती है तो उनके स्थान पर नई भाषिक इकाइयों का प्रयोग करना पड़ता है, जिनके कारण नये रूप वन जाते है। उदाहरण के लिए, संस्कृत के कारकीय रूपों के साथ यही हुआ। धीरे-धीरे विभक्तियाँ घिसते-घिसते लुप्त हो गई है, अतः परसर्ग-युक्त नये रूप प्रयोग मे आए। 'रामः' के स्थान पर 'राम ने', 'राम' के स्थान पर 'राम को' या 'रामस्य' के स्थान पर 'राम का' जैसे नये रूप इसी के परिणाम हैं।

(४) **स्पष्टता**—भाषा का प्रयोक्ता अपनी कोई बात कहने के लिए ही भाषा का प्रयोग करता है। इसी लिए वह चाहता है कि उसकी अभिव्यक्ति अधिक से अधिक स्पष्ट हो, कहीं कोई अस्पष्टता न हो, ताकि उसकी वात ठीक से समझी जा सके। इसीलिए जब भी किसी रूप मे स्पष्टता का अभाव होता है तो नये रूपों का प्रयोग शुरू हो जाता है—ऐसे नये रूप जो पुराने रूप की तुलना में अधिक स्पष्ट होते है। हिंदी-उर्दू मे फ़ारसी के रूप चलते रहे है: 'दर-हकीकत', 'दर-अस्ल'। इधर जव से फ़ारसी का प्रचार समाप्त-सा हुआ, 'दर' (=में) शब्द लोगों को अस्पष्ट हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि 'दर-हकीकत', 'दर-अस्ल' रूप भी अस्पष्ट हो गए। परिणामतः अव नये रूप चल पडे है: 'दर हकीकत में', 'दर असल मे'। ऐसे ही 'श्रेष्ठ' का अर्थ है 'सबसे अच्छा', किंतु संस्कृत व्याकरण की जानकारी कम होने के साथ 'श्रेष्ठ' शब्द अस्पष्ट हो गया और परिणामतः नये रूप उसके स्थान पर प्रयुक्त होने लगे—सर्वश्रेष्ठ, श्रेष्ठतम। इनमे पहले का प्रयोग तो मुझे महाभारत तक मे मिला है। 'उत्तम' से 'सर्वोत्तम,' मे भी यही बात है। ध्वनि-परिवर्तन से विभक्तियों के लुप्त होने पर भी अस्पष्टता का संकट उपस्थित हो जाता है, और तब नये शब्दों की सहायता से नये रूप बनाकर अभिव्यक्ति मे अस्पष्टता लाई जाती है। 'हम', 'तुम', 'वे', 'ये' मूलतः बहुवचन हैं, किंतु आगे चलकर 'हम', 'तुम' का तो यो हीं, और 'ये' का आदर के लिए एकवचन में प्रयोग होने लगा।

इस प्रकार अस्पष्टता का सकट आया। 'हम आ रहे है', 'तुम जाओ', 'वे गये', 'ये सो रहे हैं' जैसे प्रयोगो को एकवचन का समझा जाए या बहुवचन का, इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए बहुवचन मे नये रूप प्रयुक्त होने लगे। हम लोग, तुम लोग, ये लोग।

(५) अज्ञान—कुछ अस्पष्टताएँ अज्ञान के कारण होती है, अत ऐसी अस्पष्टताओ को दूर करने के लिए जो नये रूप आने हैं, उनके पीछे अज्ञान भी एक कारण के रूप मे अवश्य काम करता है। 'दर अस्ल' ,'दर हकीकत', 'श्रेष्ठ' जैसे रूप उन्ही लोगो के लिए अस्पष्ट रहे होगे, जिन्हे फारसी और सस्कृत का ज्ञान न रहा होगा। अर्थात् 'हम लोग', 'तुम लोग', 'ये लोग' जैसे रूपो की बात छोड दें तो निश्चय ही अज्ञान एक कारण के रूप मे अस्पष्टता के साथ-साथ रूप-परिवर्तन मे काम करता है। ज़ेवरात, जवाहरात कागज़ात बहुवचन हैं, किंतु जिन्हे उनका पता नही है, वे बहुवचन मे नये रूप ज़ेवरात, जवाहरात, या 'कागज़ातो' का प्रयोग करते है। बेफज़ूल('फज़ूल के स्थान पर) का प्रयोग कुछ अशिक्षितों तक ही सीमित है। इसके पीछे भी 'अज्ञान' कारण हो सकता है। कुछ लोगो द्वारा प्रयुक्त, (मुख्यत पिछली सदी मे) कृपणताई, कोमलताई, पांडित्यता भी अज्ञान के कारण ही बने हैं। इनका प्रयोग कृपणता, कोमलता तथा पांडित्य के स्थान पर हुआ है। आश्चर्य है कि तुलनात्मक ने 'कोमलताई' का प्रयोग किया है भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। (मानस ७-११-३) पूज्यनीय, सौंदर्यता अन्य उदाहरण हैं।

(६) बल—बल देने के प्रयास मे भी भाषा का प्रयोग नये रूपो को जन्म दे देता है। 'अनेक' के स्थान पर 'अनेकों', 'खालिस' के स्थान पर 'निखालिस' 'खाकर' के स्थान पर 'खाकर के' (मैं खाकर के आया हूँ) बल के ही परिणाम हैं।

(७) आवश्यकता—आवश्यकता होने पर भी कभी-कभी रूप मे परिवतन कर लेते हैं, यद्यपि बहुत ही कम। हिंदी मे 'मैं' का बहुवचन 'हम' तथा 'हम लोग' होता है, मैंने अपनी एक कविता मे 'मैं' का बहुवचन 'मैंओ' बनाया है, क्योंकि वहाँ अपनी बात 'मैं' 'हम' अथवा 'हमलोग' से नहीं व्यक्त कर पा रहा था—चार मैंओ के नीचे दबी यह मेरी लाश।

(८) नवीनता—साहित्यकार कभी-कभी केवल नवीनता के लिए भी नये रूप बना लेते हैं। प्रभावशाली के स्थान पर 'प्रभावी' का प्रयोग इसी प्रकार का है। 'स्वीकार किया' के स्थान पर 'स्वीकारा' या 'फिल्म बनाया' के स्थान पर 'फिल्माया' जैसे रूप सामान्य दृष्टि से रूप-परिवर्तन के नही है, किंतु दो रूपो के स्थान पर एक रूप होने के कारण परिवर्तन के अतर्गत रखे जा सकते हैं। इधर नये कवियो ने इस प्रकार के सैकडो प्रयोग किए हैं नोटा, हथियाया, लतियाया, गरियाया, जुतियाया, धकियाया फोटोग्राफ़ित

(९) कुछ रूपो के लोप से नये रूप उनका स्थान ले लेते हैं, इस प्रकार प्रतिस्थापन-रूप मे रूप-परिवर्तन हो जाता है। सस्कृत मे 'या' धातु का भूतकालिक कृदत का रूप था 'यात'। हिंदी मे 'या' का 'जा' (जाता) हुआ किंतु 'यात' से विक-

सित रूप लुप्त हो गया, अतः 'जाना' का भूतकालिक कृदन्ती रूप 'गया' मान लिया गया जो वस्तुतः 'गम्' धातु के भूतकालिक कृदंती रूप 'गत' से विकसित है। इसी प्रकार अंग्रेजी मे go का भूतकाल went है जो मूलतः wend का भूतकाल है। हिंदी मे तस्सम शब्द 'इंद्रिय' है जिसका मूल रूप बहुवचन 'इंद्रियें' बनेगा। मध्यकाल में 'इन्द्री' शब्द चलता था जिसका मूल रूप ब्रहुवचन 'इंद्रियो' बनता था। अब 'इंद्रिये' का लोप हो गया और 'इद्रियों' को ही 'इंद्रिय' का मूल रूप बहुवचन मान लिया गया है जो वस्तुतः है नहीं, न नियमानुसार हो सकता है।

रूप-परिवर्तन की दिशाएँ (प्रकार)

रूप-परिवर्तन निम्नांकित दिशा मे होता है—

(१) **पुराने संबंध-तत्त्व का लोप तथा नये का प्रयोग**—ध्वनि-परिवर्तन से प्रायः पुराने संबंधतत्त्व जब लुप्त हो जाते है तो अर्थ की स्पष्टता के लिए नये सबध-तत्त्व जोड़े जाने लगते है, और इस प्रकार परिवर्तित रूप प्रयोग में आने लगता है। संस्कृत रामः, रामं, रामस्य, रामे आदि के स्थान पर आज राम ने, राम को, राम का, राम मे आदि का प्रयोग इसी का उदाहरण है।

(२) **सादृश्य के कारण नये संबंधतत्त्व के साथ नये रूप**—सस्कृत 'अग्नेः' का 'अग्गे' होना चाहिए था, किंतु प्राकृत मे मिलता है 'अग्गिस्स'। स्पष्ट ही अकारांत शब्दों का प्रत्यय 'स्स' सादृश्य के कारण आ गया है। इसी प्रकार सं० 'वायोः' का प्रा० 'वाउस्य' भी। चला, पढ़ा आदि के सादृश्य पर 'क्रिया' के स्थान पर 'करा' अथवा चलिए, पढ़िए आदि के सादृश्य पर 'कीजिए' के स्थान पर 'करिए' अन्य उदाहरण है।

(३) **अतिरिक्त प्रत्यय का प्रयोग**—अर्थात् एक प्रत्यय के रहते दूसरे का भी प्रयोग—जवाहरात-जवाहरातों। यहाँ बहुवचन प्रत्यय 'आत्' के रहते 'ओं' भी प्रयुक्त हुआ है। ऐसे ही ज़ेवरातों, काग़जातो, श्रेष्ठतम। सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम मे 'अतिरिक्त प्रत्यय' नही है, अपितु उसी अर्थ का अतिरिक्त शब्द 'सर्व' आ गया है। 'अनेको' मे 'ओं' प्रत्यय अतिरिक्त है जो वस्तुत. वही काम कर रहा है जो 'आत' 'दर असल में' में 'में' या 'दर' भी अतिरिक्त है।

(४) **अतिरिक्त शब्द-प्रयोग**—सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम ऐसे ही तमबोधक रूप हैं, जिनका उल्लेख तीसरे में किया जा चुका है।

(५) **ग़लत प्रत्यय का प्रयोग**—'इंद्रियें' के स्थान पर 'इंद्रियाँ' रूप इसी प्रकार का है। ऐसा सादृश्य के कारण नही हुआ है। 'इंद्री' शब्द का प्रयोग लुप्त हो गया, और दूसरी ओर 'इंद्रियें' का, अतः 'इंद्रिय-इद्रियाँ' को संबद्ध मान लिया गया।

(६) **नया प्रत्यय**—'प्रभावशाली' के स्थान पर 'प्रभावी'। पहले 'प्रभावशाली' ही चलता था।

(७) **आधा पुराना प्रत्यय तथा आधा नया**—'छठा' के स्थान पर 'छठवाँ'

मे 'छ' मूल शब्द है, 'छ' 'छठा' का पुराना प्रत्यय है तथा 'वाँ' 'पाँचवाँ', 'सातवाँ' आदि के सादृश्य पर आया नया प्रत्यय है।

(८) मूल में परिवर्तन—इससे भी रूप-परिवर्तन होता है। 'मुझको' के स्थान पर 'मेरे को' अथवा 'तुझको' के स्थान पर 'तेरे को' मे प्रत्यय वही है, केवल मूल बदल गया है।

(९) मूल और प्रत्यय दोनों का परिवर्तन—ऐसा कम होता है। अंग्रेजी मे go का भूतकाल went इसी प्रकार का है।

रूपिमविज्ञान अथवा रूपग्रामविज्ञान (Morphemics)

रूपिमविज्ञान या भाषाओ का रूपिमिक अध्ययन रूपविज्ञान का एक प्रमुख अग है। इसका विकास अपेक्षाकृत आधुनिक है। इसमे किसी भाषा के रूपो (morph) का अध्ययन-विश्लेषण करके उनके अर्थ एव वितरण आदि के आधार पर रूपग्राम (morpheme) एव उपरूप अथवा सरूप (allomorph) का निर्धारण किया जाता है, साथ ही दो या अधिक रूपिमो के योग से जब किसी सयुक्त रूपिम (complex morpheme) या मिश्रित रूपिम (compound morpheme) का निर्माण होता है तो उसमे यह भी देखा जाता है कि योग के पूर्व की तुलना मे उसमे कोई ध्वन्यात्मक परिवर्तन तो नही आया और यदि आया है तो उसका आधार क्या है?

रूपिम अथवा रूपग्राम (Morpheme)

'रूप' के सम्बन्ध मे ऊपर विचार किया जा चुका है। रूप या पद वे अवयव या घटक हैं, जिनसे वाक्य बनता है। 'उसके रसोईघर मे सफाई होगी' वाक्य मे पाँच पद या रूप हैं, जिन्हें सामान्य भाषा मे शब्द कहते हैं। इन रूपो मे सभी एक प्रकार के नहीं हैं। कुछ तो छोटे से छोटे टुकडे हैं, उन्हे और छोटे खडो मे नही विभाजित किया जा सकता, जैसे 'मे'। कुछ को छोटे खडो मे बाँटा जा सकता है, जैसे रसोईघर को 'रसोई' और 'घर' मे। यदि घर को और छोटे टुकडो मे बाटना चाहे तो 'घ' और 'र' कर सकते हैं, यद्यपि इनमे न तो 'घ' का कोई अर्थ है और न 'र' का, इसलिए ये दोनो खड तो हैं, किन्तु सार्थक (विशेषत इस प्रसग मे) नही है। 'भाषा या वाक्य की लघुतम सार्थक ईकाई को रूपग्राम अथवा रूपिम कहते हैं।' इसका आशय यह है कि उपर्युक्त वाक्य मे उस, के, रसोई, घर, में, साफ, ई, हो, ग, ई, ये दस रूपिम हैं। रूपिम के भेद दो आधारो पर हो सकते है। रचना और प्रयोग की दृष्टि से रूपग्राम प्रमुखत दो प्रकार के होते हैं (क) मुक्त रूपिम (free morpheme) जो अकेले या अलग भी प्रयोग मे आ सकते हैं। उपर्युक्त वाक्य में रसोई, घर, साफ, इसी प्रकार के हैं। ये अलग, मुक्त या स्वतन्त्र रूप से भी आ सकते हैं (जैसे रसोई बन चुकी है) और अन्य रूपिमो के साथ भी आ सकते हैं (जैसे रसोईघर)। (ख) बद्ध रूपिम (bound morpheme) जो अलग नही आ सकते, जैसे, 'ता' (एकता, सुन्दरता) या ई (जैसे घोडी, लडकी, खडी आदि मे) आदि। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार भी कुछ लोग मानते हैं, जिसे (ग)

अर्द्धबद्ध, अर्द्धमुक्त, मुक्तबद्ध या बद्धमुक्त की संज्ञा दी जा सकती है। इस तीसरे वर्ग में ऐसे रूपिम आते है जो अर्द्धबद्ध होते है और आधे मुक्त, या जो एक दृष्टि से मुक्त कहे जा सकते हैं तो दूसरी दृष्टि से बद्ध। अंग्रेजी का from इसी प्रकार का है। यह किसी अन्य रूपिम से मिलता नहीं, सर्वदा अलग रहता है, इसलिए मुक्त है, लेकिन साथ ही यह सर्वदा किसी के आश्रित रहता (from him या from shop आदि) है, अकेले किसी भी प्रकार की रचना का निर्माण नही कर सकता, अतः बद्ध है। हिन्दी के परसर्ग (ने, को, में, से) जब सज्ञा शब्दों के साथ आते हैं (राम से, मोहन को) तो अलग रहते है, यद्यपि सर्वनाम के साथ ये बद्ध रूपिम (जैसे उसने, मुझसे, तुमको आदि) हो जाते हैं। मेरे विचार में तात्त्विक दृष्टि से इस तीसरे भेद को अलग नही रखा जा सकता, क्योंकि स्थान की दृष्टि से अलग हो कर भी अर्थ की दृष्टि से ये हमेशा बद्ध रहते हैं। बद्ध रूपिम के तीन उपभेद करके इन्हें समाहित किया जा सकता है। (अ) मुक्त——जो अर्थ की दृष्टि से बद्ध होकर भी स्थान की दृष्टि से सर्वदा मुक्त रहते हैं, जैसे अंग्रेजी के from with आदि (ब) बद्ध——जो स्थान की दृष्टि से भी सर्वदा बद्ध रहते हैं, जैसे अंग्रेजी (ly, ness, ed), संस्कृत (अः, अम्) या हिन्दी (ई, आई) आदि के प्रत्यय। (स) बद्धमुक्त——जो कभी तो बद्ध रहते है और कभी मुक्त। जैसे हिन्दी परसर्ग, जो संज्ञा के साथ मुक्त रहते है (जैसे राम को) और सर्वनाम के साथ बद्ध (जैसे उसको)।

रचना और प्रयोग के आधार पर ही रूपिम के दो अन्य भेदो का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है। जब दो या अधिक ऐसे रूपिम एक मे मिलते है, जिनमें अर्थतत्त्व केवल एक हो (जैसे ऊपर के वाक्य मे 'उसके', 'सफ़ाई', 'होगी') तो उस पूरे रूप को संयुक्त रूपिम कहते है। यदि एक से अधिक अर्थतत्त्व हो तो मिश्रित रूपिम कहते है। ऊपर के वाक्य में 'रसोईघर' मिश्रित रूपिम है।

अर्थ और कार्य के आधार पर रूपिम के दो भेद होते है : **(क) अर्थदर्शी रूपिम**——जिनका स्पष्ट रूप से अर्थ होता है और अर्थ व्यक्त करने के अतिरिक्त जो ओर कोई कार्य नहीं करते। इन्ही को अर्थतत्त्व भी कहते है। प्राचीन व्याकरण में इन्हे ही stem, root, धातु, मस्दर या माद्दा कहा गया है। विचारों का सीधा सम्बन्ध इन्ही से होता है। भाषा के मूल आधार ये ही है। व्याकरणिक या प्रायोगिक दृष्टि से ये कई प्रकार के हो सकते है : जैसे क्रिया (हो, खा, go, भू), संज्ञा (राम, cat, किताब), सर्वनाम (वह, तुम), विशेषण (अच्छ्, बड़, सुन्दर, good) आदि। हर भाषा में इस वर्ग के रूपिमों की संख्या कई हजार होती है। दूसरे प्रकार के रूपिम से बहुत अधिक। **(ख) सम्बन्धदर्शी रूपिम या कार्यात्मक रूपिम**——इन्हें निरर्थक तो नही कहा जा सकता, किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि इनमें अर्थ का प्राधान्य नही होता। इनका प्रमुख कार्य होता है 'सम्बन्ध-दर्शन' या 'व्याकरणिक कार्य'। इसीलिए इन्हे सम्बन्धतत्त्व भी कहते है। यों इन्हे व्याकरणिक तत्त्व कहना शायद अधिक ठीक होगा। संस्कृत में प्रत्यय, तिङ्, सुप् या हिन्दी में परसर्ग प्रत्यय आदि यही है। इनके बहुत से

(phonological conditioning, morphological conditioning) पर निर्भर करता है। संक्षेप में—

```
          ┌→/–ज/   ज को छोडकर अन्य घोष ध्वन्यत शब्दो के साथ
          │→/–स/   'स' 'श' कोछोडकर अन्य अघोष ध्वन्यत शब्दो के साथ
          │→/–इज/  स, श, ज अत्य शब्दो मे साथ
{–ज}  ——│→/–इन/  आक्स, ब्रदर आदि कुछ सीमित शब्दो के साथ
          │→/–रिन/ चाइल्ड के साथ
          └→/–०/   शीप, डीयर, कॉड आदि कुछ सीमित शब्दो के साथ
```

इसी प्रकार हिन्दी मे बहुवचन के लिए—

रूपिम	उपरूप	वितरण
{–ओ}	१ /–ओं/	—सपरसर्ग रूप के लिए सभी शब्दो मे। जैसे घरों, घोडो, कवियो, हाथियो, साधुओ, भालुओ, पुस्तकों, लताओ, गुडियों, शक्तियो, लडकियो, वस्तुओ, बहुओ, गौओ आदि।
	२ /–ओ/	—सबोधन मे सभी शब्दो (घोडो, कवियो, साधुओ आदि) के साथ। नीचे का अपवाद-वर्ग यहाँ भी अपवाद है।
	३ /–ए/	—अपरसर्ग रूप के लिए आकारात पु० शब्दो (जैसे घोडे, लडके, बेटे) के साथ।
	४ /एँ–/	अपरसर्ग रूप के लिए व्यजनात (किताबें), आकारात (माताएँ), उकारात (वस्तुएँ), ऊकारात (बहुएँ) औकारात(गौएँ)स्त्री० शब्दो के साथ।
	५ /–आँ/	—अपरसर्ग रूप के लिए इकरात (जातियाँ), ईकारात (नदियाँ) तथा इयात (गुडिया) शब्दो के साथ।
	६ /–०/	अपरसर्ग रूप के लिए व्यजनात (घर), इकारात (कवि), ईकारात (हाथी), उकारात (साधु), तथा ऊकारात (भालू) पु० शब्दो मे।

टिप्पणी (क) अपवाद-वर्ग—(i) पिता जैसे तत्सम शब्द, (ii) पुनरावृत्त शब्द, जैसे

चाचा, मामा, दादा, नाना, काका, बाबा, लाला, (iii) मुखिया जैसे कुछ अन्य शब्द।

(ख) गण, लोग, जन जोड़कर भी बहुवचन बनते है। यहाँ इन्हें छोड़ दिया गया है।

(ग) उपर्युक्त रूपों में 'य' का आगम, दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाना तथा पु० के अत्य आ का लोप मिलेगा। आगे रूपस्वनिमिक परिवर्तन में इन्हे स्पष्ट किया गया है।

अर्थात्, अंग्रेजी में बहुवचन का रूपिम '-ज' है जिसके प्रमुख संरूप छः है, तथा हिन्दी मे बहुवचन का रूपिम '-ओं' जिसके प्रमुख संरूप सात है। यह ध्यान देने की बात है कि जितने भी रूपों का प्रयोग होता है, वे सभी 'उपरूप' कहलाते हैं। उन्ही में किसी एक को रूपिम माना जा सकता है। यों तो किसी को भी रूपिम माना जा सकता है, किन्तु प्रायः या तो उसे रूपिम मानते है, जिसके आधार पर वितरण को स्पष्ट एवं तर्कसम्मत रूप से रूपस्वनिमिक परिवर्तनों के साथ समझाया जा सके, या उसे मानते है जिसका प्रयोग अन्यों से ज्यादा होता हो, या फिर उसे मानते है, जिसका प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से प्रतिनिधित्व करने वाला, अधिक प्राचीन या महत्वपूर्ण हो। यों मेरे विचार में पहले और दूसरे और उनमे भी पहले को अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

निष्कर्षतः यदि एक रूपिम के परिपूरक वितरण वाले कई समानार्थी रूप (ध्वन्यात्मक दृष्टि से मिलते-जुलते या न मिलते-जुलते) हों तो उन्हे उपरूप की संज्ञा दी जाती है।

रूपस्वनिमविज्ञान (Morphophnemics)

मार्फ़ोनीमिक्स या रूपस्वनिमविज्ञान, रूपविज्ञान की ही शाखा है। इसमें उन ध्वन्यात्मक या स्वनिमिक परिवर्तनो का अध्ययन किया जाता है जो दो या अधिक रूपों या रूपिम के मिलने पर दृष्टिगत होते हैं। इसे दूसरे शब्दों मे यों भी कह सकते है कि यह रूपविज्ञान की वह शाखा है, जिससे रूपिम के उन ध्वन्यात्मक परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है, जो वाक्य, फ्रेज, रूप या शब्द के स्तर पर दो या अधिक रूपिम के एक साथ आने पर घटित होते है। उदाहरणार्थ, ऊपर के उदाहरणो मे 'बुक' और 'ज' अंग्रेजी के दो रूपिम है। दोनो के मिलने पर सामान्यतः रूप होना चाहिए 'बुक्ज', लेकिन होता है 'बुक्स'। इसे रूपस्वनिमिक (Morphophonemic) परिवर्तन कहेगे। यह परिवर्तन है 'क' के अघोष होने से 'ज' का अघोष, अर्थात् 'स' हो जाना। इस प्रकार परिवर्तन का अध्ययन रूपस्वनिमविज्ञान मे होता है। कहना न होगा कि इस रूप में, रूपस्वनिमविज्ञान, प्राचीन भारतीय पारिभाषिक शब्द 'संधि' के निकट है, किन्तु वस्तुतः सन्धि में प्रायः केवल उन परिवर्तनों को लिया जाता है जो दो मिलने वाले शब्दों या रूपों में एक के अन्त्य या दूसरे के आरम्भ या दोनों मे (राम+अवतार=रामावातार, ध्वनि+अंग=ध्वन्यंग, उत्+गम=उद्गम

या तेज + राशि = तेजोराशि आदि) घटित होते हैं, लेकिन रूपस्वनिमविज्ञान मे इसके साथ अन्य स्थानो पर आने वाले परिवर्तन भी लिए जाते हैं। जैसे घोडा + दौड = घुडदौड, ठाकुर + आई = ठकुराई, बूढा + औती = बुढौती आदि। इन सभी में हम देखते हैं कि हर दो के बीच मे तो परिवतन हुए ही हैं, लेकिन साथ ही अन्य स्थानो मे भी (घो > घु, ठा > ठ, बू > बु) परिवर्तन हो गये हैं। इन सारे परिवर्तनो का अध्ययन रूपस्वनिमविज्ञान में होता है। इस प्रकार यह सधि से अधिक व्यापक है और सधि इसका एक अग है।

अतर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान-क्षेत्र में भी 'सधि' का प्रयोग रूपस्वनिमविज्ञान के लिए हो रहा है। इसी आधार पर हिन्दी मे कुछ लोग इस अर्थ में सधि के प्रयोग के पक्ष मे हैं। किंतु मैं उपर्युक्त कारणो से सधि को परम्परागत अर्थ मे अर्थात् सधि-स्थल पर परिवतन के लिए, तथा रूपस्वनिमविज्ञान को सधिस्थल पर तथा अन्यत्र दोनों के लिए प्रयोग करने के पक्ष मे हूँ। वस्तुत रूपस्वनिमिक परिवतन दो प्रकार के माने जा सकते हैं। (१) बाह्य (external)—जहाँ शब्द के आदि या अत मे, अर्थात् उसके बाहरी अग मे परिवर्तन हो, जैसे राम + अवतार = रामावतार। यहाँ 'राम' के 'म' मे परिवर्तन है, या ध्वनि + अग = ध्वन्यग— यहाँ 'नि' और 'अ' दोनों मे परिवतन है। (२) अभ्यतर (internal)—जहाँ सधि-स्थल मे अलग शब्द के भीतर परिवतन हो, जैसे 'घुडदौड' मे। इस रूप मे 'बाह्य स्वनिमिक परिवतन' ही परम्परा सधि-पर्याय है। स्वतत्र उच्चारण में या वाक्यात मे रूसी भाषा मे शब्दात का घोष व्यजन अघोष हो जाता है, इसी प्रकार अग्रेजी शब्दो या अत्य शब्दो के स्वतत्र उच्चारण मे वाक्यात मे या व्यजन के पूर्व उच्चारण नही होता। इस प्रकार के लोप या अघोषी-करण के उदाहरण भी रूपस्वनिमिक परिवर्तन हैं, यद्यपि इनमे कम से कम स्वतत्र या वाक्यात मे प्रयुक्त शब्दो मे अत्य घोष ध्वनि का अघोष हो जाना या 'र' का लोप, सधि मे किसी भी प्रकार नही आ सकते। निष्कर्षत सधि और इसे पर्याय न मानकर सधि को रूपस्वनिमिक परिवर्तन का एक भेद मानना अधिक समीचीन है, विशेषत हिन्दी आदि भारतीय भाषाओ मे जिनमे परपरागत रूप मे 'सधि' शब्द विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा है।

ये बाह्य और अभ्यतर तो स्थान की दृष्टि से रूपस्वनिमिक परिवर्तन के भेद थे। रूप की दृष्टि से, मोटे रूप से समीकरण (डाक + घर = डाग्घर जिसमे 'ग' के घोषत्व के कारण 'क' भी घोष, अर्थात् 'ग' हो गया है, नाग + पुर = नाक्पुर, जिसमे 'प' के अघोषत्व के कारण 'ग' भी अघोष, अर्थात् 'क्' हो गया है, मार + डाला = माड्डाला, दूध + दो = दूददो) सबसे प्रमुख रूपस्वनिमिक परिवर्तन हैं। यो सूक्ष्मता और विस्तार से यदि देखें तो घोषीकरण (डाग्घर), अघोषीकरण (नाक्पुर), पूर्ण समी-करण (अर्थात् सभी दृष्टियो, जैसे हाथ + से = हास्से), अपूर्ण समीकरण (अघोष + घोष = घोष + घोष, जैसे वागीश, घोष + अघोष = अघोष + घोष, जैसे आग + का = आक्का, 'आक्का गोला' आदि), अल्पप्राणीकरण (दूध + दो = दूद्दो), आगम (हाथी +

ओं=हाथियों; कवि+ओं=कवियों), **लोप** (घोड़ा+दौड़=घुड़दौड़), **ह्रस्वीकरण** (भालू+ओं=भालुओ), (**दीर्घीकरण** (राम+अवतार=रामावतार; हरि+इच्छा=हरीच्छा) आदि अनेक रूपों में इस परिवर्तन को पाया जा सकता है। **विपर्यय** (हिब्रू मे (Hit+Sha-mmeer=hishtammeer) तथा **विषमीकरण** (ग्रीक) Thrikh (बाल) +os (का)=Trikhos (बालका) दो महाप्राण में एक रह गया, के उदाहरण इक्के-दुक्के मिलते है।

ऊपर अंग्रेजी बहुवचन के उदाहरण में 'ज' का अघोष ध्वन्यंत शब्दों में 'स' हो जाना समीकरण (अघोष+घोष=अघोष+अघोष) या पूर्ण समीकरण है। हिन्दी बहुवचन बनाने में निम्मांकित रूपस्वनिमिक परिवर्तन घटित होते है।

(क) 'ओं' जोड़ते समय शब्द के अंत में 'आ' अथवा 'याँ' हो तो उसका लोप कर देते है (घोड़ा+ओं=घोड़ों; चिड़ियाँ+ओं=चिड़ियों।

(ख) शब्द के अंत मे यदि 'ई' या 'ऊ' हो तो शून्य को छोड़कर कोई भी प्रत्यय जोड़ते समय ह्रस्व 'इ', 'उ' (**ह्रस्वीकरण**) कर देते है (हाथी—हाथियों, बहू—बहुओं, नदी—नदियाँ)।

(ग) शब्द के अत में इ या ई हो तो शून्य प्रत्यय के अतिरिक्त किसी के भी जुड़ने पर प्रत्यय और मूल शब्द के बीच में 'य' का **आगम** हो जाता है (हाथी+ओं=हाथियों, नदी+आँ=नदियाँ, कवि+ओं=कवियो, जाति+आँ=जातियाँ)।

आगे 'ध्वनिविज्ञान' अध्याय में ध्वनि-परिवर्तन पर विचार किया गया है। वस्तुत: ध्वनि-परिवर्तन मूलतः दो प्रकार के होते है: (१) **ऐतिहासिक**, (२) **रूपस्वनिमिक**। ऐतिहासिक तो उसे कहते है जो धीरे-धीरे समय बीतने के साथ विकसित हुआ है और रूपस्वनिमिक उसे कहते है जो एक से अधिक रूपो के एकसाथ आते मुख्यतः उच्चारण-सुविधा के कारण तुरंत घटित हो जाय। उदाहरण के लिए, 'कर्म का प्राकृत 'कम्म' हो गया, यह समीकरण ऐतिहासिक ध्वनि-परिवर्तन का उदाहरण है तो मार+डाला का 'माड्डाला' या 'दूद+दो' का 'दूद्दो' रूपस्वनिमिक का। साथ ही रूपस्वनिमिक परिवर्तन रूपिमो के मिलने या विशिष्ट स्थान पर आने से संबंध रखता है, जबकि ऐतिहासिक परिवर्तन के लिए ऐसा बंधन नही है।

विषय की दृष्टि से रूपस्वनिमविज्ञान ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है, यों रूपों से सम्बद्ध होने के कारण लोग इसे रूपविज्ञान में भी प्रायः रखते रहे है। इधर इसका महत्त्व इतना बढ़ गया है कि इसे स्वतंत्र स्थान भी दिया जाने लगा है।

---

७ अर्थविज्ञान

जैसा कि नाम से स्पष्ट है—अर्थविज्ञान 'अर्थ का विज्ञान' है। इसमे भाषा के अर्थ-पक्ष का वैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। अर्थविज्ञान वर्णनात्मक (सरचनात्मक), ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक—इन तीनो प्रकारो का होता है।

अर्थविज्ञान को लेकर विद्वानो मे मतभेद रहा है। काफी विद्वान् इसे भाषा-विज्ञान की एक शाखा मानते हैं, किन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् इसे भाषाविज्ञान से अलग मानते रहे हैं। कुछ लोगो के अनुसार यह दर्शनशास्त्र की एक शाखा है, और कुछ अन्य लोगो के अनुसार यह एक स्वतन्त्र विज्ञान है। इसमे कोई सदेह नही कि अर्थविज्ञान, दर्शन से बहुत अशो मे सम्बद्ध है, और उसका काफी अश ऐसा है जो मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र की अपेक्षा रखता है, किन्तु इसमे भी सन्देह नही कि अर्थ भाषा की आत्मा है, और भाषाविज्ञान जब 'भाषा' का 'विज्ञान' है, तो बिना उसके अध्ययन के उसे पूर्ण नही कहा जा सकता। इस प्रकार अर्थविज्ञान निश्चित रूप से भाषाविज्ञान का अविभाज्य अग है।

अर्थविज्ञान का यह एक मूलभूत प्रश्न है कि अर्थ क्या है? वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते हैं—

यस्मिस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थ प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥

अर्थात्, 'शब्द के उच्चारण से जिसकी प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है, अर्थ का कोई दूसरा लक्षण नही है। वस्तुत भर्तृहरि की बात अपने स्थान पर ठीक होते हुए भी कुछ आलोचना की अपेक्षा रखती है। क्या अर्थ केवल 'शब्द' का ही होता है? 'राम मारे शर्म के पानी-पानी हो गया' मे 'पानी-पानी हो' शब्द तो नही है, किन्तु यहाँ अर्थ की अपेक्षित प्रतीति केवल 'पानी' शब्द से नही हो सकती। वह 'पानी-पानी होना' से ही हो सकती है। अत कहा जा सकता है कि **'किसी भी भाषिक इकाई (वाक्य, वाक्यांश, रूप, शब्द, मुहावरा आदि) को किसी भी इन्द्रिय (प्रमुखत कान, आँख) से ग्रहण करने पर जो मानसिक प्रतीति होती है, वही अर्थ है।'**

अर्थ की प्रतीति

अर्थ की प्रतीति दो प्रकार से होती है—

(क) आत्म-अनुभव से—अर्थात् स्वय किसी चीज का अनुभव करके। उदाहरण के लिए 'चीनी मीठी होती है' मे मीठी के अर्थ की प्रतीति स्वय चीनी चखने

से हो जाती है। पानी, गर्मी, धूप के अर्थ की प्रतीति भी इसी प्रकार हो सकती है।

(ख) **पर-अनुभव से**—अनेक क्षेत्र ऐसे भी होते है जहाँ हमारी पहुँच नही होती; उस क्षेत्र से सम्बद्ध शब्दादि के अर्थ की प्रतीति के लिए हमें दूसरों के अनुभव या ज्ञान पर निर्भर करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, हममें से अनेक लोगों ने 'जहर' नहीं देखा होगा, किन्तु दूसरों से ऐसा सुन रखा है कि जहर जीव को मार डालने वाला होता है। अतः 'जहर' शब्द के अर्थ की प्रतीति का मूलाधार आत्म-अनुभव न होकर पर-अनुभव है। ऐसे ही आत्मा, ईश्वर आदि अन्य भी अनेक प्रकार के शब्द हो सकते है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

भाषा में यह प्रश्न अनादि काल से उठता रहा है कि शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है। क्यों 'पानी' कहने से 'पानी' का ही बोध होता है, 'मिट्टी' या 'काठ' का नही। क्या 'पानी' शब्द और पानी द्रव्य का कोई संबंध है? पहले हम देख चुके है कि 'भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की व्यवस्था है।' इसका अर्थ यह है कि भाषा के शब्द प्रतीक है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो शब्द और अर्थ का कोई स्वाभाविक एवं सहज संबंध नही है। समाज ने यह संबंध मान लिया है, या कहें कि समाज ने विभिन्न शब्दो को विभिन्न अर्थो मे प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिया है। शब्द विशिष्ट अर्थो के प्रतीक या सकेत हैं, इसीलिए उन शब्दो के प्रयोग से श्रोता उन्ही अर्थो को ग्रहण करता है। उदाहरण के लिए, समाज ने 'पानी' शब्द को या 'प्+आ+न+ई' ध्वनियों के समूह को 'पानी' द्रव्य के लिए संकेत या प्रतीक मान रखा है, इसीलिए पानी कहने से उसी का बोध होता है, किसी और चीज का नही। किन्तु यदि कल हिन्दीभाषी समाज यह निर्णय कर ले कि 'पानी' शब्द किसी और वस्तु का वाचक माना जाएगा तो कल से 'पानी' शब्द का अर्थ पानी न रहकर वही वस्तु हो जाएगा। हम जानते है कि 'बाथरूम', 'ट्वॉयलेट', 'क्लोकरूम' के अर्थ इसी प्रकार मान लेने से वदल गए है। भारतीय परम्परा मे इसी को दृष्टि में रखते हुए शब्द (या ध्वनि) के साथ किसी वस्तु के संबध-स्थापन को **संकेत-ग्रह** कहा गया है। संकेत-ग्रह के कारण ही शब्द अर्थ-विशिष्ट का बोध कराता हे।

अर्थबोध के साधन—भारतीय परम्परा में अर्थबोध के आठ साधन माने गए है: (१) **व्यवहार**—व्यवहार अर्थबोध का सबसे प्रमुख साधन है। समाज मे तरह-तरह के व्यवहार से भाषा के अनेक शब्दो के अर्थ का हमें बोध होता है। (२) **कोश**—अनेक शब्दों का अर्थबोध हमे कोशो से होता है। कोश ज्ञात शब्दो के अर्थ के आधार पर अज्ञात शब्द का अर्थबोध कराते है। (३) **व्याकरण**—व्याकरण से भी अर्थबोध होता है। उदाहरण के लिए, हमे पता हो कि मानव का अर्थ क्या है और यह भी पता हो कि हिन्दी में 'ता' प्रत्यय भावबोधक संज्ञा बनाने के लिए आता है तो हम 'मानवता' का अर्थ जान जाएँगे। (४) **प्रकरण**—इसे 'वाक्य-शेष' भी कहा गया है। अनेकार्थी शब्दों का विशेष प्रयोग मे प्रकरण या संदर्भ से अर्थ

ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए, धातु का व्याकरण मे एक अर्थ है, किन्तु सामान्यत सोना-चांदी आदि धातुएँ हैं। इसी प्रकार 'गोली' एक प्रकरण मे 'बन्दूक की गोली' है तो दूसरे प्रकरण मे 'दवा की गोली', तीसरे सदर्भ मे 'गोलकीपर' और चौथे मे बच्चो के खेलने की 'गोली'। (५) व्याख्या—इसे 'विवृति' भी कहा गया है। बहुत से शब्दो का अर्थबोध व्याख्या के द्वारा ही कराया जा सकता है। जैसे भाषाविज्ञान का 'अघोष', दर्शन का 'विशिष्टाद्वैत', या साहित्यशास्त्र का 'ध्वनि'। (६) उपमान—किसी वस्तु के समान वस्तु का अर्थबोध उस वस्तु को उपमान बनाकर कराया जा सकता है। जैसे गदहे या घोडे से खच्चर, कुत्ते से भेडिया, गाय से नीलगाय आदि का। (७) आप्तवाक्य—महान्, विद्वान्, प्रसिद्ध, सिद्ध या पहुँचे हुए लोगो के वाक्य भी कभी-कभी अर्थबोध कराते हैं। आस्थावान्—लोगो का ईश्वर, स्वर्ग, नरक, आत्मा, पुनर्जन्म जैसे शब्दो का अर्थबोध मुख्यत धर्मग्रन्थो पर आधारित है। (८) ज्ञात का सान्निध्य—ज्ञात शब्दो के सानिध्य से भी कभी-कभी अज्ञात शब्द का अर्थबोध हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक वाक्य लें 'बासमती का भात श्यामजीरा से अच्छा होता है।' इस वाक्य का पाठक बासमती और भात के सान्निध्य से समझ जाएगा कि श्यामजीरा किसी चावल का नाम है। इनके अतिरिक्त, (९) बलाघात (ओढना—ओढ़ना), (१०) सुरलहर (मोहन गया ?, मोहन गया !), (११) अनुवाद (man=आदमी) आदि कई अन्य साधनो से भी अर्थबोध होता है।

अर्थ-विज्ञान मे यो तो अर्थ-संबधी अनेकानेक विषयो पर विचार किया जाता है, किंतु यहाँ कुछ थोडे-से मुख्य विषय ही लिए जा रहे हैं।

अर्थ-परिवर्तन

प्रत्येक शब्द (बल्कि प्रत्येक भाषिक इकाई) का अर्थ होता है, किंतु यह 'अर्थ' सर्वदा एक नही रहता। उसमे परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए, सस्कृत का शब्द आकाशवाणी लें। सस्कृत मे इसका अर्थ 'देववाणी' है। तुलसी के समय मे भी यही अर्थ था। रामचरितमानस (१-१७३-३) मे आता है—'भै अकासबानी तेहि काला', अर्थात् उस समय देववाणी हुई। अब आकाशवाणी का अर्थ परिवर्तन होकर (हिंदी मे) 'रेडियो' (ऑल इंडिया रेडियो) हो गया है। सस्कृत का ही एक दूसरा शब्द जघ लें। इसका प्रयोग सस्कृत भाषा मे पैर के उस भाग के लिए होता है जो घुटने से नीचे होता है, किंतु हिंदी मे यही शब्द जघा रूप मे मिलता है, और इसका अर्थ पैर का वह भाग होता है जो घुटने के ऊपर होता है। इस प्रकार जघा का अर्थ-परिवर्तन हो गया है। 'गँवार' शब्द का इतिहास भी अर्थ-परिवर्तन का अच्छा उदाहरण है। पालि भाषा मे प्राप्त शब्द ग्रामदारको से अनुमान लगता है कि सस्कृत मे यह शब्द ग्रामदारक रहा होगा, जिसका अर्थ था 'गाँव का रहने वाला', 'गाव का लडका' अथवा 'गाँव वाला'। हिंदी आदि आधुनिक भाषाओ मे यह शब्द गँवार (हिंदी), गँयार (बँगला), गमार (गुजराती)

आदि रूपों में मिलता है तथा इसका अर्थ 'असभ्य' और 'मूर्ख' हो गया है। हमने देखा कि आकाशवाणी, जंघा तथा गँवार का अर्थ कुछ से कुछ हो गया है। अर्थ में यह परिवर्तन हो जाना ही अर्थ-परिवर्तन है।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ (प्रकार)

'अर्थ-परिवर्तन किन-किन दिशाओं में होता है', अथवा 'उसके कितने प्रकार होते हैं', इस विषय पर सबसे पहले फ्रांसीसी भाषाविज्ञानवेत्ता ब्रील ने विचार किया था। उन्होने तीन दिशाओं की खोज की: **अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थादेश**। अभी तक ये ही दिशाएँ अथवा प्रकार बहुस्वीकृत है।

अर्थ-विस्तार (Expansion of Meaning)—अर्थ-विस्तार का अर्थ है अर्थ का सीमित क्षेत्र से निकल विस्तार पा जाना। उदाहरण के लिए, संस्कृत का एक शब्द है **तैल** जिसका मूल अर्थ है 'तिल का रस'। अर्थात्, संस्कृत में मूलतः 'तिल के तेल' को ही '**तैल**' कहते थे। यही इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ था। हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं का **तेल** शब्द इसी **तैल** से विकसित है, किंतु इसका अर्थ विस्तृत हो गया है। **तैल** का मूल अर्थ था 'तिल का तेल', किंतु **तेल** का प्रयोग अब सभी चीजों के तेल के लिए होता है: तिल, सरसों, अलसी, गरी अथवा गोला, मूँगफली आदि, बिनौला और यही क्यो? मछली का तेल, साँप का तेल, मिट्टी का तेल। और तो और, यदि किसी को दोहपर की चिलचिलाती धूप मे कही किसी काम से भेज दें तो वह लौट कर पसीने से लथपथ शिकायत करेगा—साहब, आपने तो मेरा तेल निकाल लिया! तो हमने देखा कि **तेल** के अर्थ का विस्तार हो गया। कहाँ तो वह केवल तिल के तेल का अर्थ देता था, और कहाँ सभी चीज़ों के तेल का अर्थ देने लगा। विशेष से सामान्य हो गया। टकर का कहना है कि अर्थ-विस्तार नही होता। किंतु वस्तुतः ऐसी बात नही है। होता है और खूब होता है।'सब्ज़' का अर्थ है 'हरा'। पहले पालक, चौलाई, भिंडी जैसी हरी तरकारियों को उनके रंग के आधार पर 'सब्ज़ी' कहते थे। अब 'सब्ज़ी' शब्द के अर्थ मे विस्तार हो गया है और सभी रगो की सब्जियाँ 'सब्जी' कहलाने लगी है. टमाटर (लाल), गाजर (लाल, पीली, काली), प्याज (लाल, सफ़ेद), बैंगन (नीला), सीताफल (पीला), शलजम (सफ़ेद, लाल), मूली (सफ़ेद, लाल)। व्यक्तिवाचक संज्ञाओ के अर्थ भी विस्तृत हो जाते है। शर्त एक है, वे व्यक्ति या तो बहुत अच्छे हों, या बहुत बुरे हों—बदनाम अगर होगे तो क्या नाम न होगा। तो विभीषण, मंथरा, नारद, जयचंद, नादिरशाह, हिटलर, आदि का प्रयोग उन सभी के लिए होता है जो उस प्रकार की प्रवृत्तियों के होते है। यों राम, सीता, सावित्री, गांधी मे भी अर्थ-विस्तार हुआ है किंतु इनको इसके लिए साधना करनी पड़ी थी। कुछ और उदाहरण है: **अधर** (मूल अर्थ 'नीचे का ओष्ठ'; वर्तमान अर्थ 'दोनो ओष्ठ'), **श्रीगणेश** (मूल अर्थ किसी शुभ कार्य का आरंभ जिसके प्रारंभ मे 'श्रीगणेशाय नमः' कहते थे; अब किसी भी अच्छे-बुरे कार्य का प्रारंभ), **इतिश्री** (संस्कृत-लेखक अपनी कृति के अंत में

पुष्पिका मे लिखते थे 'इति श्री कृत समाप्तम्' आदि, अब किसी भी काम की समाप्ति 'इतिश्री' है), महाराज (पहले केवल महाराजा, अब खाना बनानेवाला ब्राह्मण भी), पंडित (पहले विद्वान व्यक्ति, इसीलिए पांडित्य=विद्वता, अब विद्वान् के साथ-साथ ब्राह्मण मात्र), कल (सं० कल्य=आनेवाला कल, हिंदी कल=आनेवाला तथा बीता हुआ कल), परसो (सं० परश्व =आनेवाला परसों, हिं परसों = आनेवाला तथा बीता हुआ परसो), अभ्यास (सं० में 'अभ्यास') (अभि+अस) का मूल अर्थ है बार-बार बाण फेंकना अथवा सैनिक अभ्यास, यास्क मे इसका प्रयोग 'आवृत्ति' के अर्थ मे है, हिंदी मे अब केवल बाण फेंकने का ही नही, बल्कि सभी कार्यों का अभ्यास (किया जाता है, जा सकता है), गवेषणा (मूल अर्थ 'गौ' की 'एषणा' अर्थात् 'गाय' की 'इच्छा' अथवा 'गाय की खोज' है, अब किसी भी प्रकार की 'खोज' 'गवेषणा' है), निपुण (मूल अर्थ शुभ कार्य करने मे प्रवीण—नि+पुण +क, अब किसी भी कार्य को करने मे प्रवीण), प्रवीण (मूलत वीणा बजाने मे पटु—प्रकृष्टो वीणायाम्, अब किसी भी कार्य में पटु), कुशल (मूल अर्थ कुश लाने या उखाडने मे चतुर—कुशान् लाति, अब किसी भी काम मे चतुर अथवा पटु) आदि।

अर्थ-सकोच (Contraction of Meaning)—*यह अर्थ-विस्तार का ठीक* उलटा है। इसमे अर्थ की परिधि पहले विस्तृत रहती है, फिर सकुचित हो जाती है। उदाहरण के लिए सस्कृत शब्द 'मृग' का मूल अर्थ 'पशु' है। 'शिकार' का वाचक 'मृगया' तथा 'पशुओ के राजा' सिंह के लिए 'मृगराज' के प्रयोग मे मूल अर्थ आज भी सुरक्षित है। किंतु आगे चलकर इस शब्द के अर्थ मे सकोच हो गया और सभी पशुओ का वाचक शब्द मृग केवल 'हिरन' का वाचक हो गया। यह अर्थ-सकोच सस्कृत मे ही हो गया था। वस्तुत अर्थ-सकोच मे अर्थ 'सामान्य' से परिवर्तित होकर 'विशेष' हो जाता है। 'मृग' 'सामान्य पशु' से 'विशेष पशु' हो गया है। एक सिद्धान्त यह है कि भाषा मे मूलत शब्द सामान्य के लिए थे, अर्थ सकोच द्वारा धीरे-धीरे विशेष के लिए शब्दो का निर्धारण हुआ। इसी लिए अर्थ-सकोच भाषा की अभिव्यजना-शक्ति की सपन्नता का द्योतक है। मेरा अपना सिद्धान्त कुछ भिन्न है। अपवादो की बात छोड दें तो पहले भाषाओं मे 'विशेष' के लिए ही शब्द थे और धीरे-धीरे 'सामान्य' के लिए अर्थ विस्तार से शब्द निश्चित होते गए। ब्रील ने *कहा है कि जो जाति जितनी उन्नति करेगी, उसकी प्रवृत्ति उतनी ही अधिक* मिलेगी। जलज मूलत जल मे जनमने वाली किसी भी चीज का वाचक रहा होगा, जैसे ही पकज पक मे जनमने वाली हर चीज थी, किंतु बाद मे अर्थ-सकोच हुआ और ये दोनो शब्द केवल कमल के वाचक रह गये। विद्यार्थी मूलत वे सभी लोग है जो 'विद्या' के 'अर्थी' है चाहे वे स्कूल मे पढते हो या न पढते हो, या सत्तर वर्ष के बुड्ढे हो। अब यह शब्द अर्थ-सकोच के कारण 'छात्र' का समानार्थी हो गया है। धान्य और यव मूलत अन्न-मात्र के लिए प्रयुक्त होते थे। 'धन-धान्य' से पूर्ण जैसे प्रयोगो मे 'धान्य' का वही अर्थ है। आगे चलकर ये दोनो शब्द अर्थ-सकोच के

कारण 'धान' तथा 'जौ' के वाचक हो गए। **रदन** (मूल अर्थ 'कोई भी जो फाड़े'; बाद में दाँत); **मंदिर** (मूलतः कोई भी भवन; बाद में देव-भवन); **सब्ज़ी** (मूलतः 'हरियाली' अथवा कोई भी हरी चीज़; अब तरकारी), **संध्या** (मूलतः कोई भी संधि-काल; संध्या-गायत्री में वह अर्थ सुरक्षित है; अब केवल शाम); **मीट** (यह अंग्रेजी शब्द मूलतः 'खाद्य' का द्योतक था; 'मिठाई' को 'स्वीटमीट' इसीलिए कहते हैं; अब यह केवल एक खाद्य 'गोस्त' का वाचक है), **भार्या** (मूलतः जो भरण-पोषण करने योग्य हो; बाद में केवल स्त्री); **वेदना** (मूलतः 'सुखद वेदना' तथा 'दुखद वेदना'; अब केवल दुखद वेदना), **मुर्ग़** (फ़ारसी मे मूलतः पक्षी; शुतुरमुर्ग़, शाहमुर्ग, मुर्ग़ापीर जलपक्षी) मे यही अर्थ; बाद में केवल एक पक्षी), **पिल्ला** (मूलतः द्रविड़ भाषाओं में 'बच्चा'। तेलुगु में आज किसी की भी बच्ची—मनुष्य, जानवर, पक्षी—को पिल्ला कहते है, जैसे कुक्क पिल्ल = 'कुत्ते का पिल्ला'; हिंदी मे पिल्ला = कुत्ते का बच्चा) आदि अन्य उदाहरण हो सकते है। इस प्रसंग में यह भी संकेत्य है कि शब्दो का अर्थ धीरे-धीरे समय बीतने के साथ परिवर्तित होते-होते तो संकुचित होता ही है, **उपसर्ग** (आचार—सदाचार, दुराचार), **प्रत्यय** (कुटी-कुटीर, देग-देगचा, बाग-बगीचा), **विशेषण** (अम्बर-नीलांबर, पीतांबर, श्वेतांबर; **घोड़ा**—लाल घोड़ा, काला घोड़ा, छोटा घोड़ा, तेज घोड़ा), **समास** (अनुज-रामानुज, कृष्णानुज), **संदर्भ का प्रसंग** (रति और खाने-पीने के प्रसंग में 'रस'—राम बहुत तेज लड़का है, चाकू बहुत तेज है, वह तेज दौड़ता है), **पारिभाषिकीकरण** (भाषाविज्ञान और गणित में 'समीकरण', काव्यशास्त्र एवं वैद्यक में 'रस', भाषाविज्ञान एव काव्यशास्त्र में 'व्युत्पत्ति', 'ध्वनि', 'गुण'; व्याकरण में 'विराम'), **नामकरण** ('कृष्ण' —मूल अर्थ 'काला' है, किंतु वासुदेव का नाम पड़ने से अब 'कृष्ण' सभी कालों का बोधक न होकर केवल वासुदेव का है; शत्रुघ्न; क्षिप्रा—तेज बहने वाली घाघरा—घर्घर करती हुई बहने वाली,, केशरी—केशों वाला; घुसपैठिया—मूलतः कोई भी, भारत-पाक-युद्ध के बाद 'भारत में घुसने वाला पाकिस्तानी'; **अन्य भाषा से शब्द-ग्रहण** ('शब्द' अपनी मूल भाषा के सभी अर्थों में दूसरी भाषा में प्रायः नही जाते, कुछ सीमित अर्थों मे ही जाते है। अंग्रेजी में 'कॉलर' का प्रयोग मछली का टुकड़ा, आभूषण-विशेष आदि कई अर्थों में होता है, किंतु हिंदी मे वह केवल एक अर्थ (कपड़ों का कॉलर) में प्रयुक्त होता है। फैशन आदि अन्य भी अनेक शब्द इसी प्रकार के है। संस्कृत में 'धरा' का अर्थ योनि, गर्भाशय, शिरा, गूदा आदि भी था, किंतु हिंदी मे केवल 'पृथ्वी' के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है) आदि के कारण तुरंत एक क्षण मे उसके अर्थ मे सकोच आ जाता है।

(३) **अर्थादेश** (Transference of Meaning)—भाव-साहचर्य के कारण कभी-कभी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ एक गौण अर्थ भी चलने लगता है। कुछ दिन में ऐसा होता है कि प्रधान अर्थ का धीरे-धीरे लोप हो जाता है और गौण अर्थ में ही शब्द प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार एक अर्थ के लोप होने तथा

नवीन अथ के आ जाने को 'अर्यादेश कहते हैं। ऊपर हम 'गँवार' शब्द ले चुके हैं। यहाँ हम देख चुके है कि 'गाँव वाला' अथवा 'गाँव का लडका' अथ का वाचक शब्द धीरे-धीरे 'असभ्य' का वाचक हो गया। इसका उदाहरण 'असुर' का दिया जा सकता है। ऋग्वेद की आरम्भ की ऋचाओ मे यह देववाची शब्द है, पर बाद मे राक्षसवाची हो गया। 'वर' का अथ श्रेष्ठ था, पर अब इसका प्रयोग 'दूल्हे' के लिए होता है। स्वय 'दूल्हा' शब्द भी इसी प्रकार का है। इसका मूल अर्थ 'जो जल्द न मिले' (=दुलभ था, पर अब यह 'वर' के नवीन अथ मे ही प्रयुक्त होता है।) ईरानी शब्द 'दिहकान' का मूल अर्थ 'देहात का बडा ताल्लुकेदार' है, पर उर्दू तथा फारसी-गुजराती मे 'देहकानी' का अथ मूर्ख होता है। अशोक 'देवाना प्रिय' कहा जाता था, पर बाद मे इसका अथ 'मूख' हो गया। सस्कृत का 'वाटिका' शब्द बँगला मे 'बाडी' हो गया है और उसका अर्थ बगीचे से हट कर 'घर' हो गया है। बौद्ध धर्म के अनुयायी बौद्ध कहलाते हैं, पर 'बुद्धू' (जो उसी का रूपातर है) का अर्थ मूख होता है। जघा (मूलत जघा=घुटने के नीचे का भाग, अब घुटने के ऊपर का भाग), दुहिता (मूल अर्थ 'दूध दूहने वाली' बाद मे पुत्री—चाहे वह दूध दूहे अथवा नही), आकाशवाणी (मूलत देववाणी, अब रेडियो), तटस्थ ('तट पर स्थित', अब किसी का भी पक्ष न लेनेवाला), मुहावरो मे भी यह प्रवृत्ति मिलती है, तिलाजलि देना (मूलत मृत्यु के बाद हाथ मे 'तिल और पानी' लेकर मृतक के नाम पर देना, अब 'छोड देना'), खाट खडी करना (मूलत 'किसी के मरने पर उसकी मृत्यु होने के सकेतस्वरूप उसकी खाट उलटी खडी कर देना', अब 'दुर्दशा करना' अथवा 'ऐसी-तैसी कर देना' आदि)।

अर्थादेश के आगे कई भेदोभेद किए जा सकते हैं। यहाँ दो आधारो पर भेद किये जा रहे हैं

(क) **सूक्ष्मता-स्थूलता के आधार पर**—शब्दो का अर्थ बदलते-बदलते कभी तो सूक्ष्म से स्थूल हो जाता है और कभी स्थूल से सूक्ष्म। इस आधार पर अर्थादेश दो प्रकार के हो सकते हैं (१) **सूक्ष्मीकरण**—**कुर्सी**=पद, **हाथ लबे होना**—पहुँच होना, **पानी**=इज्जत, **आँख की किरकिरी**=खटकनेवाला, बुरा लगनेवाला, **नाक का बाल**=अत्यत प्रिय, **परदा**=दुराव, छिपाव, **रोटी**=जीविका, **जहर**=बुरा (मेरा कहना तो तुम्हे जहर लगता है), **हृदय** (अग-विशेष)='विशाल हृदय' अथवा 'हृदय-पक्ष' जैसे प्रयोगो मे इनमे कुछ मे अर्थ-विस्तार की भी गध आ सकती है। (२) **स्थूलीकरण**—**देवता** (मूलत देव+ता =देवत्व)=देव, **यौवन** (भाववाचक सज्ञा), जोबन=स्तन, **सामग्री** (मूलत 'सचय')=चीजें, वस्तुएँ, **लिंग**=पुरुष चिह्न, **पुराण** (प्राचीन)=पुराण ग्रथ **उपनिषद्** (गुरु के चरणो के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिए बैठना)=ग्रथ-विशेष। **मिठाई** (मूलत 'मिठास')=मिष्ठान्न, **खटाई** (मूलत 'खटास')=आम आदि से बनी वस्तु। इनमे कुछ मे अर्थ-सकोच की भी गध आ सकती है। वस्तुत सूक्ष्म अपेक्षाकृत विस्तृत तथा स्थूल अविस्तृत होता है। (ख) **अपकर्षोत्कर्ष के आधार पर**—शब्दो का अथ

परिवर्तित होते-होते, सामाजिक दृष्टि से कभी तो ऊपर उठ जाता है, कभी ज्यों-का-त्यो रहता है तथा कभी नीचे गिर जाता है : (i) **अर्थोत्कर्ष**—अर्थ का बदलते-बदलते सामाजिक दृष्टि से पहले से अधिक उन्नत हो जाना। **साहस** संस्कृत में बहुत अच्छा शब्द नही था। उसका अर्थ लूट, हत्या, चोरी, व्यभिचार आदि था। स्मृतियों में उसकी गणना अपराधो में की गई है : मनुष्यमारणं चौर्य परदाराभिमर्शनम्। पारुष्यमुभयं चेति साहसं नयाच्चतुर्विधम। (वृहस्पति-स्मृति)। किंतु अब साहस का अर्थ हिम्मत है। किसी को साहसी कहा जाय तो यह अपनी प्रशंसा समझकर प्रसन्नता से फूला नहीं समाएगा। **कर्पट** का अर्थ संस्कृत मे फटा-पुराना कपड़ा था (पटच्चरं जीर्णं वस्त्रं समौ लक्तककर्पटौ।—अमरकोश), किंतु अब 'कर्पट' से ही विकसित 'कपड़ा' का प्रयोग अच्छे वस्त्र के लिए भी होता है। **मुग्ध** का संस्कृत में अर्थ 'मूढ़' अथवा 'मूर्ख' था। वोपदेव ने अपनी व्याकरण का नाम 'मुग्धबोध' रखा था, अर्थात् जो 'मूढ़ को भी बोध करा दे।' अब 'मुग्ध' मे मूढता बिल्कुल नही है। बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति किसी अच्छाई पर मुग्ध हो सकता है। **सभ्य** का सीधा अर्थ था 'सभा के योग्य' अथवा 'सभा मे बैठने योग्य।' अब 'सभ्य' एक प्रशंसासूचक शब्द है। **गोष्ठी** का मूल अर्थ था 'गो के रहने का स्थान'। भोजपुरी में आज भी गाय-भैंस के आराम करने की जगह को 'घोट्ठा' कहते है। अब 'गोष्ठी' पशुओं की न होकर विद्वानों, साहित्यकारों तथा कवियो की होती है। यास्क के अनुसार **कक्ष** पहले घोड़े के कक्ष (काँख) को कहते थे, बाद में साहचर्य के आधार पर आदमी के 'कक्ष' के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा। (ii) **ज्यों-का-त्यों**—जैसे **वाटिका** (बगीचा) का बँगला में 'बाड़ी' (घर; ठाकुरबाड़ी=ठाकुर का घर, मंदिर)। (iii) **अर्थापकर्ष**—अर्थ का उन्नत से अवनत हो जाना। **पाखंड**—मूलतः संन्यासियों के एक संप्रदाय का नाम था। अशोक इनका बड़ा आदर करता था, तथा इन्हे दान देता था। अब 'पाखंड' ढोंग का वाचक है। **पुगव**=मूल अर्थ श्रेष्ठ; अब उसी से 'पोंगा'=मूर्ख। **हरिजन**=मूल अर्थ भक्त; अब 'अछूत'। **बौद्ध**=मूल अर्थ बुद्ध का अनुयायी; इसी से बना है 'बुद्धू'। **वज्रवतुक** =मूल अर्थ पक्का ब्रह्मचारी, अब वजरबट्टू = मूर्ख। **नग्न-लुंचित**—पहले जैन साधुओं के लिए आदर के साथ प्रयुक्त अब इन्ही का विकास है नंगा-लुच्चा =लफंगा। **देवानामप्रियः**=मूलत. महाराज अशोक जो देवो का प्रिय थे; बाद मे संस्कृत मे ही 'मूर्ख'। **(ग) वाग्भाग के आधार पर** बूढापा (भाववाचक संज्ञा, किंतु अवधी में विशेषण : बुढ़ापा मनई= बूढ़ा मनुष्य।

अर्थ-परिवर्तन के कारणों का आधार

मनुष्य की मनःस्थिति में सर्वदा परिवर्तन होता रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके विचार भी एक-से नही रह पाते। भाषा विचारों की वाहिका है, अतः उसे भी विचारों का साथ देना पड़ता है। इस साथ देने के प्रयास में ही उसके शब्दों में अर्थ-परिवर्तन आ जाता है। इस परिवर्तन के मूल में कार्य करने वाले कारणों पर विचार

करना आसान नही है, क्योकि वे इतने सयुक्त और गुंथे रहते हैं कि उनका निश्चित स्वरूप दिखाई ही नही पडता। एक शब्द के अर्थ-परिवर्तन पर विचार करते समय कभी एक कारण दिखाई पडता है, तो कभी दूसरा। फिर भी, एक बात तो निश्चित-सी है कि सादृश्य, बल तथा भाव-साहचर्य ही घूम-फिर कर अर्थ-परिवर्तनो में अधिक कार्य करते दिखाई पडते है। इनके अतिरिक्त, कुछ सामाजिक और भौगोलिक कारण भी होते हैं, किंतु इनका भी प्रभाव सीधा न पडकर उन्ही के रास्ते पडता है। यो कभी-कभी व्यक्ति या सम्प्रदाय मे विचार-विभिन्नता के कारण भी अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। नीचे इस सम्बन्ध मे कुछ कारणो पर हम लोग विस्तृत रूप से विचार करेंगे। यहाँ एक बात ध्यान मे रखे रहना आवश्यक है कि किसी भी शब्द मे एक ही कारण काम नही आ सकता, इसी कारण, एक कारण के उदाहरणो मे अन्य कारणो की भी गध मिल सकती है। कारणो के इस सयुक्त काय के कारण ही एक ही प्रकृति के उदाहरण दो भिन्न कारणो मे भी यहाँ दिये गये हैं, किंतु अपने-अपने स्थान पर कारणों का अपना पक्ष स्पष्ट दिया गया है। इन कारणो मे कई को एक में मिलाकर कुछ कम वर्ग भी बनाये जा सकते हैं, लेकिन स्पष्टता की दृष्टि से यहाँ ऐसा नही किया गया है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण

(१) **बल का अपसरण** (Shift of Emphasis)—किसी शब्द के उच्चारण में यदि केवल एक ध्वनि पर बल देने लगें तो धीरे-धीरे शेष ध्वनियाँ कमजोर पड कर लुप्त हो जाती हैं। उपाध्यायजी परिवर्तित होकर 'ओझा' इसी बल के अपसरण के कारण हुए हैं। ध्वनि की ही भाँति अर्थ मे भी यह 'बल' काय करता है। किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हटकर, बल यदि दूसरे पर आ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है, और प्रधान अर्थ बिल्कुल लुप्त हो जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बल कैसे प्रधान पक्ष से हटकर गौण पर जाता है। इसका निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाव-साहचर्य का ही यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है, जिसमे समीपवर्ती दो भावो मे एक भाव विजयी बन जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण लिये जा सकते है। 'गोस्वामी' शब्द का आरम्भ का अर्थ था 'बहुत-सी गायो का स्वामी'। बहुत-सी गायो का स्वामी 'धनी' होगा, अत 'माननीय' भी होगा। इसी प्रकार, धीरे-धीरे इसका अर्थ माननीय हुआ। वही एक और भावना काय करने लगी। वह भावना यह थी कि जो अधिक गायो की सेवा करेगा, वह धर्मपरक भी होगा। इस प्रकार, बल के अपसरण से 'गोस्वामी' शब्द 'गायो के स्वामी' के अर्थ से चलकर 'माननीय धार्मिक व्यक्ति' का वाचक हो गया। इसी अर्थ मे यह मध्ययुगीन सतो के नाम (गोसाइं तुलसीराम) के साथ प्रयुक्त होता है। यो बाद मे 'गोस्वामी' की व्याख्या 'इंद्रियो का स्वामी' के अर्थ मे भी की गई, लेकिन वह बाद की व्याख्या

मात्र है। मूल अर्थ वह था नहीं। अब तो गोस्वामी या गोसाईं नाम की एक जाति भी हो गई है। **'जुगुप्सा'** शब्द का अर्थ-परिवर्तन भी इसका अच्छा उदाहरण है। यह शब्द 'गुप्' धातु से बना है, जिसका आरम्भ का अर्थ था 'रक्षा करना', 'पालन करना'। 'रक्षा' या 'पालन' छिपाकर भी किया जाता है ; अतः इसमें छिपाने का भाव आने लगा और कुछ दिनों मे यही भाव प्रधान हो गया। अधिकतर वही क्रिया या वस्तु छिपाई जाती है, जो घृणित होती है, अतएव घृणा के लिए इसका प्रयोग चल पड़ा। आज भी जुगुप्सा का प्रयोग घृणा के लिए होता है। अरबी का शब्द **'गुलाम'** तथा अंग्रेजी का **'नेव'** (knave), ये दोनों भी इसी प्रकार के है। दोनों का आरम्भ का अर्थ 'लड़का' है, किंतु बल के अपसरण के कारण दोनों का अर्थ अब बहुत नीचे गिर गया है। लड़के नौकर रक्खे जाते थे तथा वे प्रायः बन्दी जैसे रहते थे; अतः उसी पर बल पड़ते-पड़ते अरबी का 'गुलाम' उधर पहुँचा; और नौकर शरारती और बदमाश होते है, अतः उस पर बल पड़ते-पड़ते 'नेव' बेचारा शरारती और बदमाश का अर्थ देने लगा। **'ड्रेस'** (dress) का प्राचीन अर्थ है सीधा (straight)। फ्रेंच मे अब भी यह अर्थ है। अंग्रेजी में to dress timber में यह अर्थ सुरक्षित है। लट्ठे या शहतीर को सीधा करने के लिए काटना-छाँटना पड़ता था, अतः 'सफाई करना' अर्थ हुआ। फोड़े घाव की ड्रेसिंग मे वही अर्थ है (ड्रेसिंग-रूम)। चमड़े की सफाई भी की जाती थी, जूता आदि बनाने के लिए; अतः ड्रेस मे 'तैयार करने' का अर्थ आया। सलाद को 'ड्रेस' अब भी करते है। बाल भी ड्रेस करने लगे, अतः इसमे सजाने का भाव आया और 'ड्रेस' सजाने वाला कपड़ा हो गया। हिन्दी मे 'दरेसी' मे कटाई-छँटाई का भाव अब भी है।

(२) **वातावरण में परिवर्तन**—वातावरण में परिवर्तन हो जाने के कारण भी कुछ शब्दों मे अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। वातावरण कई प्रकार के हो सकते है, अतः सभी को अलग-अलग लेना उचित होगा।

(क) **भौगोलिक वातावरण**—इसके अन्तर्गत नदी, पर्वत, पेड़ आदि लिए जा सकते है। सब जगह एक ही प्रकार के पेड़ नही मिलते। थोड़ी देर के लिए मान लें कि हम एक ऐसे स्थान पर रह रहे है जहाँ 'क' नाम का पेड़ अधिक है और उससे हमें लाभ है। थोड़े दिन बाद हम किसी कारणवश वहाँ से हटकर कही और चले जायें जहाँ वह पेड़ तो नही है, पर एक दूसरा पेड़ उसी प्रकार बहुतायत मे मिलता है, साथ ही उसी पेड़ की भाँति लाभकर भी है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि हम उसी पुराने नाम से नये पेड़ को भी पुकारने लगें। वह ठीक उसी प्रकार है, जैसे छोटे लड़के यदि कही बाहर जाकर कोई नदी देखते है तो उसे अपने-अपने गाँव या नगर को ही नदी समझते है, और उसे उसी नाम से पुकारने लगते है। अंग्रेजी में 'कॉर्न' शब्द का सामान्य अर्थ 'गल्ला' अथवा अन्न है, किंतु जहाँ जो चीज ज्यादा पैदा होती है, वहाँ इसका वही अर्थ हो गया है, अतः इंग्लैड अमेरिका मे इसका अर्थ 'मक्का' है तो स्कॉटलैड मे 'बाजरा'। इंग्लैड मे कुछ लोग गेहूँ के लिए

भी इसका प्रयोग करते है। जानवरो के विपय मे भी यह बात देखी जाती है। वेदों की प्रचीनतम ऋचाओ मे 'उप्ट्र' का प्रयोग एक प्रकार के जगली वैल के लिए हुआ है, पर वाद मे सभवत जव आर्य मरुभूमि मे आ गये थे, इसका प्रयोग ऊँट के लिए होने लगा।

(ख) **सामाजिक वातावरण**—एक ही भापा मे एक ही समय मे समाज के वातावरण के अनुसार शब्दो का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। अग्रेजी के मदर (mother) और सिस्टर (sister) शब्दो का अथ साधारणत कुछ और है, गिरजाघरो मे कुछ और है तथा अस्पतालो मे कुछ और है। इसी प्रकार, सभा मे व्याख्यान देने वाले के 'भाई' और 'वहन' शब्द कुछ दूसरे अर्थ रखते हैं और घर मे भाई-वहन का प्रयोग कुछ दूसरा अर्थ रखता है। किसी आफिस मे कार्य करने वाले को रविवार के दिन देर तक सोते रहने पर जब उसकी पत्नी 'अरे भाई उठिए' कहकर जगाती है तो उसका आशय उन महाशय से साधारण 'भाई' का सम्बन्ध जोडने का कभी नही रहता। इस प्रकार, वातावरण के अनुसार शब्दो का अर्थ परिवर्तित होता रहता है। नाई का 'खत काटना' और शिशु-कक्षा के लडके का सरकडे की कलम मे 'खत काटना' भी एक अर्थ नही रखते। विद्यार्थी के प्रयोग मे आने वाला 'कलम' शब्द तथा माली का 'कलम' शब्द भी एक नही है।

(ग) **प्रथा या प्रचलन-सम्बन्धी वातावरण**—लौकिक प्रथाएँ तथा रस्म-रिवाज भी समय के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस वातावरण के परिवर्तन म ऐसा होता है कि पुरानी प्रथाओ के कुछ शब्द तो लुप्त हो जाते हैं, किंतु कुछ शब्द नये अर्थ मे प्रयुक्त होने लगते है। वैदिक शब्द 'यजमान' यज्ञ करने वाले के लिए प्रयुक्त होता था। यज्ञ की प्रथा के लुप्त होने के साथ-साथ उसका वह अथ भी समाप्त हो गया। किंतु यजमान यज्ञ कराने वाले को कुछ देता था, अत आज जो भी ब्राह्मण या नाई-धोबी को नियमित रूप से देता है, 'यजमान' कहलाता है। किसी ने यदि एक पैसा भी किसी ब्राह्मण को दे दिया तो तुरन्त ब्राह्मण देवता 'यजमान, भगवान् तुम्हारा भला करें' कहकर आशीर्वाद देते हैं। इतना ही नही, देहातो मे नाई लोग आपस मे गाँव की हजामत वनाने के लिए क्षेत्र वाँट लेते हैं और अपने हिस्से के गाँव या घरो को अपनी 'जजमानी' (पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा विहार) कहते हैं। इसी प्रकार, स्वयवर (स्वय चुनना) की प्रथा आज नही रही, पर 'वर' का प्रयोग 'दूल्हे' के लिए चल रहा है। अव 'वर' शब्द से चुने जाने का अर्थ निकल गया है। हिन्दी-क्षेत्र में १००० ई० के आसपास 'गाडी' का अर्थ ठीक वही नही था जो आज है। ऐसे अर्थ-परिवर्तन देहात मे प्रयुक्त होने वाले अनेकानेक शब्दो मे मिलते हैं।

(९) **नम्रता-प्रदर्शन**—नम्रतावश ऐसे शब्दो का प्रयोग प्राय ऐसे अथ मे कर दिया जाता है, जो उस शब्द का वास्तविक अर्थ होता नही। उदाहरण के लिए किसी आदरणीय व्यक्ति को यह नही कहते कि 'आज आप मेरे घर पर आइए',

अपितु कहते हैं 'आज आप मेरी कुटिया को पवित्र कीजिए'। वस्तुतः 'पवित्र करना' का अर्थ 'आना' नहीं है, किंतु नम्रता तथा 'आना' अथवा 'उपस्थित होना' अर्थ में इसका प्रयोग होने लगा है, अतः 'पवित्र करना' का अर्थ ऐसे संदर्भों में 'आना' या उपस्थित होना भी हो गया है। इस प्रकार इसका अर्थ परिवर्तित हो गया है। राजा, बादशाह, बड़े अफ़सर, स्वामी या बड़े को संबोधित करने के लिए प्रयुक्त 'अन्नदाता', 'गरीब परवर', 'जहाँपनाह' में भी इसी प्रकार अर्थ-परिवर्तन हुआ है। ये लोग न तो 'अन्न देने वाले' हैं, न 'गरीबों' का भरण-पोषण करने वाले, न 'विश्व को शरण देनेवाले'। 'आपका **दौलतख़ाना** कहाँ है', 'मेरा **ग़रीबख़ाना** यही है', 'श्रीमन् किन-किन **अक्षरों को सुशोभित** करते है (क्या नाम है?)', 'आप **किस देश की श्री क्षीण करके** आ रहे हैं' (कहाँ से आ रहे है?) आदि अनेकानेक अन्य प्रयोगों में भी काले अक्षरों में अंकित अंशों के अर्थ परिवर्तित हुए हैं। संबोधन में आलमपनाह, पृथ्वीनाथ भगवान् के लिए भक्तवत्सल, दयासागर, करुणानिधान; अपने लिए दास (दास का नाम अमुक है); मेरे घर जूठन गिराइए (मेरे घर खाइए), 'कैसे कृपा की' (कैसे आए), 'कैसे स्मरण किया' (बुलाया), आदि प्रयोग भी इसी के उदाहरण है।

(४) **आधार-सामग्री के आधार पर वस्तु का नाम**—कभी-कभी जब कोई नई वस्तु बनती है तो किसी अन्य अच्छे नाम के अभाव में उसे सामग्री के नाम से ही पुकारने लगते हैं, इस प्रकार सामग्री के नाम के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। **शीशा** मूलतः सामग्री का नाम है। पहले धातु के दर्पण बनते थे, किंतु वे बहुत अच्छे नहीं होते थे तथा उनका मूल्य भी अधिक होता था। बाद में दर्पण शीशे के बनने लगे तो दर्पण को भी 'शीशा' कहने लगे। इस प्रकार 'शीशा' शब्द के अर्थ में परिवर्तन आ गया। ऐसे ही लैटिन भाषा मे पंख को **पेना** (Penna) कहते हैं। जब कलम पंख (पेना) की बनने लगी तो क़लम को 'पेना' कहा जाने लगा। इस तरह 'पेना' शब्द में अर्थ-विंस्तार हो गया। आज का 'पेन' शब्द उसी लैटिन 'पेना' का विकास है। ईरान में पुस्तक चमड़े पर लिखते रहे है। चमड़े को फ़ारसी में **पोस्त** कहते है। उन्ही से सीखकर भारत में भी चमड़े पर लिखने लगे तथा 'पोस्त' के आधार पर किस्ताव 'पुस्तक' तथा 'पुस्तिका' कहलाई। ग्लास (शीशा) से बनने के कारण बर्तन-विशेष '**गिलास**' कहलाए, और 'ग्लास' (शीशा) में अर्थ-परिवर्तन हो गया।

(५) **निर्माण-क्रिया के आधार पर वस्तु का नाम**—कभी-कभी निर्माण-क्रिया के आधार पर वस्तु का नामकरण कर देते है, और तब भी उस शब्द के अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। संस्कृत में ग्रंथ धातु का अर्थ है 'गूँथना', 'एक में सिलना', 'एक में बाँधना', आदि। हमारे यहाँ भोजपत्र पर लिखकर उन्हे एक मे सिलते या ग्रंथित कर देते थे, इसीलिए पुस्तक के लिए 'ग्रंथ' (जो गूथा गया हो) शब्द का प्रयोग चला।

(६) शब्द का एक भाषा से दूसरी भाषा में जाना—जब शब्द एक भाषा से दूसरी भाषा मे जाता है तो उसमे प्राय अर्थ-सकोच हो जाता है। इसका कारण यह है कि स्रोत भाषा मे उसकी अर्थ-परिधि बडी होती है, और वह शब्द दूसरी भाषा मे अपनी पूरी अर्थ-परिधि के साथ न आकर केवल सीमित अर्थ के साथ आता है। उदाहरण के लिए, अग्रेजी का कोट शब्द लें। अंग्रेजी मे इसका अर्थ कोट, आवरण, तह, लेप आदि है, किंतु हिंदी मे यह शब्द केवल पहने जाने वाले 'कोट' के अर्थ मे ही आया है। 'पिन शब्द मे भी यही हुआ है। हिंदी मे यह केवल 'आलपिन' या कुछ यत्रो के उससे मिलते-जुलते हिस्से का नाम है, किंतु अग्रेजी मे खूंटी आदि अन्य अर्थ भी हैं। इस प्रकार अग्रेजी मूल शब्द 'कोट' तथा 'पिन' की तुलना मे हिंदी 'कोट' तथा 'पिन' का अर्थ सकुचित हो गया है।

(७) जानबूझकर नये अर्थ में प्रयोग—आवश्यकता पडने पर कभी-कभी पुराने शब्द का किसी नये अर्थ मे प्रयोग कर दिया जाता है, तथा शब्द मे अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए, 'रेडियो' के लिए कोई ठीक शब्द न पाकर कविवर सुमित्रानदन पत ने 'आकाशवाणी' का प्रयोग किया और यह शब्द हिंदी मे चल पडा। परिणामत 'देववाणी' के साथ-साथ इसका अर्थ रेडियो भी हो गया है। काव्यशास्त्र का 'यादृच्छिक' शब्द हिंदी के भाषाविज्ञान-साहित्य मे arbitrary के लिए प्रयुक्त किया गया, अब इसका यह अर्थ भी सर्वस्वीकृत हो गया, यद्यपि कामशास्त्र मे पुराना अर्थ भी चल रहा है। पश्चिम ने सस्कृत का सधि शब्द लिया तथा 'रूपध्वनिग्रामिक परिवर्तन' के अर्थ मे उसका प्रयोग किया। आज 'सधि' के अर्थ मे काफी अर्थ-विस्तार हो गया है और 'रामावतार मे तो सधि है ही। इसी, सभी, घुडदौड मे भी सधि मानी जाने लगी है। अर्थात् अ+आ=आ, स+ही= सी, ब+ही=भी, घोडा+दौड=घुडदौड—ये सभी सधि के ही रूप हैं। तकनीकी शब्दो मे इस प्रकार के अर्थ-परिवर्तन प्राय होते हैं।

(८) अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग (Euphemism)—ससार मे अशोभन बातें, भावनाएँ और कार्य हैं, किन्तु यथासाध्य मनुष्य का मस्तिष्क उनसे दूर रहना चाहता है। विडबना यह है कि चाह कर भी दूर नही रह पाता, इसलिए उन भावनाओ को शोभन शब्दो से ढँक वह सतोष की सांस लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे शोभन शब्द अपने शोभन अर्थों को छोडकर अशोभन अर्थ ढोने लगते हैं। इसे कई भागो मे बाँट कर विचार किया जा सकता है।

(क) अशुभ या बुरा—अशुभ कार्यों, बातो या घटनाओं को हम घुमा-फिरा कर अच्छा बनाकर कहना पसन्द करते हैं। 'हुजूर की तबीयत खराब है' न कहकर 'हुजूर के दुश्मनो की तबीयत नासाज है' कहने की प्रथा है। किसी के मर जाने पर मरना न कहकर गगालाभ होना, स्वर्गवासी होना, पचत्व को प्राप्त होना, असार ससार छोडना, मुक्त होना, गोलोक जाना, बैकुण्ठलाभ करना आदि कहते हैं। किसी के विधवा होने पर चूडी फूटना, सोहाग लुटना, सिन्दूर धुलना, माँग सफेद होना,

इत्यादि कहा जाता है। लाश को मिट्टी या माटी, दुकान बन्द करने को दूकान बढ़ाना, तथा चिराग बुझाने को चिराग बढ़ाना कहते हैं। अंग्रेजी में भी मरने को 'टु गिव अप द गोस्ट' (to give up the ghost) कहते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों से हमारे मनोविज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन अवश्यंभावी बातों से हम इतना अधिक डरते हैं कि सीधे इनका नाम लेना भी पसन्द नहीं करते।

(ख) **अश्लील**—कुछ लोग तो संसार में कुछ भी अश्लील नहीं मानते। उनका कहना है कि जब ईश्वर उन कार्यों या वस्तुओं को पृथ्वी पर लाने में लज्जित नहीं हुआ तो हम उनके उच्चारण या प्रयोग में क्यों लज्जित हों। पर, विश्व के सभी लोग इसे नहीं मानते। अधिक लोग ऐसे ही हैं जो बहुत से नामों को तथा उनसे सम्बन्धित कार्यों या शब्दों को अश्लील मानते हैं, और इसलिए अश्लीलता छिपाने के लिए घुमा-फिर कर अच्छे शब्दों द्वारा उन्हें प्रकट करते हैं। पाखाना जाने को 'मैदान जाना', 'पोखरे जाना', 'नदी जाना', 'दिशा जाना', 'टट्टी जाना', 'शौच जाना' तथा 'विलायत जाना' आदि कहा जाता है। सन् १९३० के बाद से भारतीयों को अपनी गुलामी अधिक खलने लगी थी और वे इंगलैंड के प्रति घृणा की भावना रखने लगे थे। इसी कारण कुछ छात्रावासों में 'पेशाब करने जाना' को 'छोटी विलायत जाना' और 'पाखाना जाने' को 'बड़ी विलायत जाना' सन् १९५० तक कहते रहे। इसमें अश्लीलता छिपाने तथा घृणा-प्रदर्शन की भावनाएँ साथ-साथ काम कर रही हैं। गर्भिणी होना न कह कर 'पाँव भारी होना' कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'टू बी इन फेमली वे' (to be in family way) कहा जाता है। पाखाना जाने को 'टू अटेन्ड द नेचर्ज काल' (to attend the natures call) तथा पेशावघर और पाखाना को 'बाथरूम' या ट्वॉयलेट कहते हैं। टु ईज (to ease) का प्रयोग भी इसी दिशा में है। कामशास्त्र से सम्बन्धित अवयवों तथा कार्यों के विषय में भी प्रयोग प्रायः बहुत घुमा-फिरा कर किए जाते हैं।

(ग) **कटुता या भयंकरता**—अशुभ और अश्लील की भाँति कटु और भयंकर भी मनुष्य को अप्रिय हैं। भोजपुरी प्रदेश में साँप को 'कीरा', 'चेवर' या 'रसरी' तथा उसके काटने को 'छूना' या 'सूँघना' कहते हैं। बिच्छू को 'टेढ़की' कहा जाता है। संपूर्ण उत्तरी भारत में चेचक निकलने को 'माता, माई या महारानी ने कृपा की है' कहा जाता है। चेचक की बीमारी कई प्रकार की होती है और प्रत्येक में तरह-तरह के दाने निकलते हैं। जिस चेचक में गर्मी अधिक होती है, उसे 'सीतला' तथा जिसमें त्वचा पर कष्ट अधिक होता है, उसे 'दुलारो' कहने की प्रथा है। हैजे में कै और दस्त होने को 'मुँह और पेट चलना' कहा जाता है। पुर्तगाली में कैन्सर को 'ओबिचो साल्वो सेजा' (Obicho Salvo Seja—the little beast God forbid) कहते हैं। अंधे को सूरदास (एक प्रसिद्ध अंधकवि) कहा जाता है।

(घ) **अन्धविश्वास**—बहुत लोगों में ऐसा अन्धविश्वास है कि पति, स्त्री,

ड़के आदि का नाम लेना पाप है। आत्मनाम् गुरोर्नाम् नामाति-
स्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयो: ।—मनु)। इसका परिणाम
उनका नाम नहीं लिया जाता। पति के विषय में तो यह नियम
क ऐसे अन्य शब्दों का भी उच्चारण नहीं किया जाता, जिसमें पति
[illegible] नाम का कोई अक्षर आता हो। मेरे गाँव में मेरी एक दादी लगती थीं, जिनके पति का नाम 'हनुमान' था। हनुमान तो हनुमान, वे हलवा भी नहीं कहती थीं और उनके लिए 'लपसी' शब्द का प्रयोग करती थीं। परिणाम यह हुआ है कि आसपास के लड़कों में 'हलुआ' के लिए 'लपसी' शब्द प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार 'पंडितजी', 'ऊ लोग', 'बिटिया के बाबू', 'आदमी' और 'मलिकार' आदि शब्दों का अर्थ पति हो गया है, क्योंकि स्त्रियाँ अपने पति के लिए इन शब्दों का प्रयोग करती हैं। पति लोग भी 'मालकिन' या अपने लड़के-लड़की के नाम के साथ माँ या चाची आदि शब्द लगाकर अपनी स्त्री को बुलाते हैं। कहीं-कहीं इसी कारण 'घरवाली' का अर्थ पत्नी हो गया। कुछ लोग अपना नाम भी नहीं लेते, अतः अपने नाम वाले साथी को 'मितान' कहकर बुलाते हैं। मितान का अर्थ मित्र था, पर अब 'अपने नाम का आदमी' हो गया है। कुछ बीमारियों को भी अंधविश्वास के कारण लोग देवी मान बैठे हैं। 'देवी ने मेरे घर कृपा की है' का अर्थ है मेरे घर चेचक निकली है।

(ङ) **गंदे या छोटे कार्य**—गन्दे कार्य को भी हम अच्छे शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहते हैं। पाखाना साफ करने के लिए 'कमाना' शब्द का प्रयोग होता है। भंगी को 'जमादार', 'हलालखोर' या मेहतर (महत्तर) कहा जाता है। पंजाबी में नाई 'राजा' कहा जाता है और नाइन 'रानी'। बुलन्दशहर के कुछ भागों में भंगी के लिए 'राजा' का प्रयोग चलता रहा है। आस्ट्रेलिया में नौकर को 'सरवेंट' न कहकर 'होम-एड', 'होम-ऐसोशिस्ट' कहते हैं। चोर को संस्कृत में तस्कर (वह करने वाला) कहते हैं। चोरी बुरा कार्य है, अतः उसका नाम लेना ठीक नहीं। चमार को रैदास (इसी नाम के एक चमार जाति के कवि) कहते हैं। खाना पकाना बुरा या गन्दा कार्य तो नहीं है, किंतु पकाने वाले को महाराज (महाराजा) जैसी बड़ी पदवी दी गई है। खाना बनाने वाली स्त्री के लिए महाराजिन, मिश्राइन आदि नाम भी ऐसे ही हैं। बंगला में नौकर या रसोइये को ठाकुर (मालिक या बड़ा) कहते हैं। उत्तरी भारत में अफसर लोग साधारण क्लर्कों को बाबू इसी भावना से कहते हैं। गांधी जी ने 'अछूत' के लिए 'हरिजन' का प्रयोग शुरू किया और 'हरिजन' का अर्थ 'भक्त' से 'अछूत' में परिवर्तित हो गया। तुलसी में इसका अर्थ भक्त है : सुर महिसुर हरिजन अरु गाई।

(९) **अधिक शब्दों के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग**—मनुष्य में आलस्य अधिक है और इसलिए कम से कम परिश्रम से वह अपना काम निकालना चाहता है। बोलने में भी वह चाहता है कि कम से कम शब्दों में अपने अधिक से अधिक भाव व्यक्त कर सके। इस प्रयास में अधिक प्रयोग में आने वाले शब्दों में कुछ अंश

वह छोड़ देता है। ऐसा करने से शेष अंश ही पूरे का अर्थ देने लगता है और इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। रेल (ट्रेन की पटरी) पर चलने के कारण ट्रेन को **रेलगाड़ी** कहा गया। अब 'गाड़ी' शब्द हटा दिया गया है, और केवल 'रेल' का अर्थ भी रेलगाड़ी है। पढ़े-लिखों को छोड़कर अब तो कम लोग इसे जानते भी हैं कि 'रेल' पटरी को कहते हैं। इस प्रकार के अर्थ में काफी परिवर्तन हो गया है। इसी प्रकार, तार का प्रयोग अब तार द्वारा भेजी गई खबर के लिए भी होने लगा है। पहले हाथी को **'हस्तिन्मृग'** (ऐसा जानवर जिसके हाथ अर्थात् सूँड़ हो) कहा जाता था, बाद में 'मृग' छोड़ दिया गया और केवल 'हस्तिन्' ही पूरे का अर्थ देने लगा। **रेलवे स्टेशन** के लिए 'स्टेशन', **मोटरकार** के लिए 'मोटर' या 'कार', **जिनरिक्शा** के लिए रिक्शा, **साईकिल रिक्शा** के लिए रिक्शा, 'कॉपी बुक' के लिए 'कॉपी', 'नया पैसा' के लिए 'पैसा' अथवा नया (पूरब में दस नये की ककड़ी है); **प्रिंसपल टीचर** के लिए प्रिंसपल, **कैपिटल सिटी** (capital city) के लिए **कैपिटल** (capital), **नेकटाई** (necktie) के लिए **टाई** तथा **पोस्टल स्टैम्प** (postal stamp) के लिए स्टैम्प का प्रयोग अब सर्वत्र हो रहा है। टिन धातु से बने पीपे को 'टिन का पीपा' न कह कर 'टिन' या 'पीपा' कहा जाता है। दो पहियों का होने के कारण **बाइसिकिल** नाम पड़ा। अब केवल **साइकिल** कहा जा रहा है; जिसका अर्थ 'पहिया' मात्र है। कुछ लोग तो **'बाइक'** कहते हैं। मीट (meat) का अर्थ था खाद्य (sweet meat—मीठा खाद्य या मिठाई)। 'फ्लेश मीट' का प्रयोग किया गया खाने में प्रयुक्त गोश्त के लिए। बाद में 'फ्लेश' हट गया और 'मीट' का ही प्रयोग 'गोश्त' के लिए होने लगा। इस प्रकार के रोज़ के प्रयोग में आने वाले बहुत से शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ परिवर्तित हो गया है।

(१०) **सादृश्य** (Analogy)—सादृश्य के कारण भी कभी-कभी अर्थ-परिवर्तन होता है, पर इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। अंग्रेजी से हिन्दी में जो बहुत से शब्द आए हैं, उनमें 'टिकट' और 'टैक्स' भी हैं। इनमें 'टिकट' का रूप तो 'टिकिट' मिलता है और उसी के सादृश्य पर 'टैक्स' का रूप टिकस या टिक्कस ('टिक्कस में घर-बार बिकानो—'भारतेंदुकालीन एक पंक्ति) हो गया है। 'टिकट' और 'टिकस' के रूप-साम्य के कारण 'टिकस' के अर्थ में परिवर्तन हो गया है और अब देहात (भोजपुरी प्रदेश) में प्रायः लोग 'टिकिट' के स्थान पर उस अर्थ में 'टिकस' (रेल का, डाक का, रसीदी) का भी प्रयोग करते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि सादृश्य के कारण अर्थ-परिवर्तन अज्ञान का सहारा लेकर घटित होता है, यों भाषा के अधिकांश परिवर्तन अज्ञान के क्रोड़ में पलते हैं। आधुनिक काल में संस्कृत का कम ज्ञान रखने वाले अनेक साहित्यकारों ने बहुत से संस्कृत शब्दों के अर्थ में इस प्रकार परिवर्तन ला दिये हैं और कुछ शब्द तो खूब चल पड़े हैं। 'प्रश्रय' का संस्कृत में अर्थ था विनय, शिष्टता, नम्रता। 'आश्रय' शब्द इससे मिलता-जुलता है, अतः आश्रय या सहारा अर्थ में इसका प्रयोग होने लगा है।

इसी प्रकार, 'उत्क्रांति' (मूल अर्थ 'मृत्यु' या 'उछाल') का क्रांति के अर्थ में, या 'उत्क्रोश' (मूल अर्थ एक पक्षी 'या' चिल्लपों) का आक्रोश के अर्थ में प्रयोग भी इसी वर्ग के परिवर्तन से युक्त है। देहात में 'कनेक्शन' के अर्थ में मैंने 'कन्सेक्शन' का भी प्रयोग सुना है। 'अभिज्ञ' और 'अविज्ञ' में सादृश्य से 'विज्ञ' के अर्थ में कुछ लोग 'भिज्ञ' का तथा 'अविज्ञ' के अर्थ में 'अभिज्ञ' का प्रयोग करते हैं। यह तो सादृश्य का ध्वन्यात्मक रूप था। *रूप-सादृश्य अथवा कार्य-सादृश्य के कारण भी* शब्दों का अर्थ बदल जाता है : घड़े का मुंह, सुराही की गर्दन, आरी के दांत, नदी का पेट, सितार के कान, सुई का मुंह, ईख की आंख, पेड़ की धड़, कुर्सी के हाथ, मेज के पैर में प्रयोग करने से।

अज्ञान—गलत अर्थ में प्रयोग करने से भी शब्द का अर्थ बदल जाता है। संस्कृत के अनेक शब्दों का प्रयोग आधुनिक भाषाओं में इसी कारण बदल गया है। संस्कृत का अच्छा ज्ञान न रखने वाले साहित्यकारों ने इस क्षेत्र में बहुत योग दिया है। संस्कृत का धन्यवाद (प्रशंसा) हिंदी में शुक्रिया हो गया है। लोक-भाषाओं में ग़लती के कारण अर्थ-परिवर्तन के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जैसे अवधी में 'बूढ़ा' के लिए 'बुढ़ापा', भोजपुरी में कलंक के लिए 'अकलंक', 'फ़जूल' के लिए बेफ़जूल, कई बोलियों में 'खालिस' के लिए निखालिस, गुजराती में 'जरूरत' के लिए जरूर। अंग्रेजी में इससे मिलती-जुलती प्रवृत्ति (Malapropism) है (देखिये परिशिष्ट)। मुहावरे एवं लोकोक्तियों के अर्थों के परिवर्तन में भी अज्ञान या ग़लती का महत्वपूर्ण स्थान है। सादृश्य के अंतर्गत भी कुछ इस प्रकार की गलतियाँ ली गई हैं।

(१२) पुनरावृत्ति—कभी-कभी शब्दों का दुहरा प्रयोग चल पड़ता है और इसके कारण भी उनके आधे भाग के अर्थ में परिवर्तन हो जाते हैं। अब 'विन्ध्याचल पर्वत' का प्रयोग चल पड़ा है। ऐसे प्रयोग करने वाले विन्ध्याचल' का अर्थ 'विंध्य पर्वत' न लेकर उसे पर्वत का नाम मात्र समझते हैं। मलयगिरि के विषय में भी यही बात है। द्रविड़ भाषा में 'मलय' शब्द ही पहाड़ का अर्थ रखता है, पर हम लोगों ने 'मलय' को *नाम समझ कर उसके साथ 'गिरि' जोड़ लिया है।* कुछ लोग तो 'मलयगिरि पर्वत' भी कहते हैं। इसी प्रकार, कुछ लोग 'हिमालय पर्वत' या 'फूलों का गुलदस्ता' भी कहते हैं।

डबलरोटी को पावरोटी भी कहते हैं। इस दुहरे प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि लोग 'पाव' का अर्थ 'डबल' लगाने लगे हैं, जबकि 'पाव' पुर्तगाली शब्द का अर्थ 'रोटी' होता है। दरअसल में, दरहकीकत में, किंतु फिर भी, पर भी, आदि प्रयोग भी ऐसे ही हैं। यह ठीक उसके उलटा है, जिसमें दो शब्दों के लिए एक का प्रयोग (रेलगाड़ी के लिए रेल) होता है, क्योंकि यहाँ एक शब्द के लिए एक से अधिक का प्रयोग है। 'सज्जन व्यक्ति' का प्रयोग भी इसी श्रेणी का है। अनुवादात्मक युग्म (translation compound) भी इसी प्रकार के होते हैं। "सौदा-सुलुफ़" में सुलुफ का अर्थ लोग अब 'वगैरह' जानने लगे हैं, यद्यपि उसका अर्थ है 'सौदा'।

(१३) **एक शब्द के दो रूपों का प्रचलन**—जीवित भाषा में एक वस्तु या कार्य के लिए ठीक एक अर्थ रखने वाले दो शब्द नहीं रह सकते। भाषा यह व्यर्थ का बोझ प्रायः स्वीकार नहीं करती। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक तत्सम शब्द के साथ-साथ उसके तद्भव या अर्द्ध तद्भव शब्द का भी प्रचलन हो जाता है। ऐसी दशा में दो बातों में से कोई एक घटित होती है। या तो दोनों शब्दों में से कोई एक लुप्त हो जाता है, या फिर किसी एक का अर्थ कुछ भिन्न हो जाता है। यहाँ हमें दूसरी बात पर विचार करना है। हिंदी में कुछ शब्दों के दो रूप चल रहे हैं और भाषा यह बोझ स्वीकार नहीं कर सकती, अतः दोनों के अर्थ में भेद हो गया है। इस प्रकार, दो रूप के प्रचलन में भी अर्थ-परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाता है। इन दो अर्थों में प्रायः देखा जाता है कि तत्सम शब्द तो कुछ प्राचीन या उच्च अर्थ रखते हैं, पर तद्भव शब्द कुछ हीन या नया अर्थ। उदाहरण के लिए **स्तन** और **थन** एक ही हैं, पर दोनों के अर्थ में अब भेद है। एक का प्रयोग स्त्री के लिए होता है तथा दूसरे का पशु के लिए। इसी प्रकार, स्थान और थान शब्द हैं। स्थान का प्रयोग देवी-देवताओं के लिए होता है और थान का प्रयोग हाथी या घोड़े के लिए। **जैसे**—'यह ब्राह्मणजी का स्थान है।' या 'हाथी का थान यहाँ है'। इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं: **गर्भिणी** (स्त्री), **गाभिन** (गाय-भैंस) **ब्राह्मण** (शिक्षित ब्राह्मण), **बाम्हन** (निरक्षर), **साधू**, **साहू**; **परीक्षक**, **पारखी**; **तिलक**, **टिकुली** (स्त्रियों के ललाट पर लगाने की काँच आदि की बिन्दी); **सौभाग्य**, **सोहाग** तथा **वार्त्ता**, **बात** इत्यादि।

अर्थ-विचार के प्रसिद्ध मनीषी ब्रील ने इसे **भेदभाव का नियम** (law of differentiation) कहा है। उनका यही कहना है कि सामान्य जनता का मस्तिष्क एकसाथ एक ही अर्थ के दो शब्द नहीं ढो सकता। एक शब्द दो विचारों को व्यक्त करे, यह ठीक हो सकता है, किंतु एक विचार के लिए दो शब्द हों, यह व्यर्थ है। साहित्य में एक वस्तु या विचार के लिए कई शब्द चलते हैं, पर उनका बिलकुल एक ही अर्थ नहीं होता। उनका प्रयोग अपना अलग-अलग महत्त्व रखता है। पंतजी ने 'पल्लव' की भूमिका में पवन, प्रभंजन, वायु, श्वसन तथा समीर आदि का अन्तर दिखलाया है। इस प्रकार एक शब्द के दो रूपों में अर्थ का अंतर प्रायः हो जाता है।

(१४) **शब्दों का अधिक प्रयोग**— अधिक प्रयोग से शब्द घिस जाते हैं और उससे परिचय इतना अधिक बढ़ जाता है कि उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। श्रीयुत, श्रीमान् या श्री का प्रयोग आरम्भ में काफ़ी सार्थक लगता था, किंतु अब वे प्रयोग से इतने घिस गये हैं कि निरर्थक से जान पड़ते हैं, और उनमें औपचारिकता मात्र रह गई है। समाजवाद, नेता, क्रांति, संस्कृति, कला, आदि भी अब उतनी शक्ति नहीं रखते जितनी पहले रखते थे। विशेषणों और क्रियाविशेषणों में यह बात और भी अधिक घटित है। 'बहुत' शब्द अब कुछ व्यर्थ हो रहा है। उनके स्थान पर

'अत्यन्त' या 'अतिशय' आदि का प्रयोग अधिक जोरदार ज्ञात होता है। 'अधिक' के शिथिल पड़ने पर 'अत्यधिक' या 'अधिकाधिक' के भी प्रयोग होने लगे हैं।

(१५) किसी राष्ट्र, जाति, संप्रदाय, धर्म या वर्ग के प्रति सामान्य मनोभाव--किसी जाति, राष्ट्र या जन-समुदाय के प्रति जब जैसी भावना होती है, उसकी छाया उनके शब्द के अर्थों पर भी पड़ती है। इस सम्बन्ध में कभी-कभी तो ऐसा भी देखा गया है कि अर्थ पूर्णतः उलटा हो जाता है। 'असुर' का पहले हमारे यहाँ 'देवता' अर्थ था। उस समय तक संभवतः ईरान वालों के प्रति हम लोगों के विचार बुरे नहीं थे। किंतु, ज्यों ही विचार बदले, हमने उस शब्द का अर्थ 'राक्षस' इसलिए कर लिया कि यह नाम ईरानियों के प्रधान देवता (अहुरमज़्दा) का था। यही बात वहाँ भी हुई। हमारे 'देव' शब्द का अर्थ उन लोगों ने अपने यहाँ अदेव या राक्षस कर लिया। साम्प्रदायिक दंगों तथा पाकिस्तान के बटवारे के समय मुसलमान शब्द का अर्थ यहाँ कुछ गिर गया था। 'हिंदू' शब्द की यह दशा पाकिस्तान में अब भी है। सनातनी हिन्दुओं में 'ईसाई' के अर्थ की भी यही दशा है। फ़ारसी में 'हिन्दू' का अर्थ बहुत पहले से 'गुलाम', 'काफिर' और 'नापाक' आदि है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में 'तुर्क' का अर्थ खाद्य-अखाद्य का विचार न रखने वाला तथा उजबक का अर्थ हिंदी में मूर्ख है। अनार्यों के कुछ शब्दों का अर्थ भी आर्यों ने घृणा के कारण गिरे अर्थ में अपने यहाँ रखा। आर्येतर परिवार का 'पिल्ला' शब्द मूलतः लड़का या किशोर (किसी भी जीव का) का समानार्थी है, पर आर्यों ने उसे कुत्ते के बच्चों के लिए प्रयोग करना आरम्भ किया। आज भी लगभग सभी भाषाओं में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। आर्यसमाजियों का सनातन-धर्मियों के प्रति श्रद्धा का भाव नहीं है। वे उन्हें धर्म की दुर्दशा करने वाले तथा ढोंगी मानते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि आर्य-समाजियों के मस्तिष्क में व्रत, कथा, श्राद्ध, माला, मूर्ति आदि का वह उच्च अर्थ नहीं है जो सनातनधर्मियों में है। कुछ त्योहारों के विषय में शिया और सुन्नी मुसलमानों में भी यही अन्तर है, जिसके कारण उनसे सम्बन्धित शब्दों के अर्थ पर भी प्रभाव पड़ा है। बौद्धों के प्रति हमारी भावना ने ही 'बौद्ध' का विकास 'बुद्ध' में किया तथा 'देवानांप्रियः' का अर्थ मूर्ख हो गया। जब से श्रेणी-संघर्ष (class struggle) का सिद्धान्त समाज के लिए आवश्यक समझा गया है, फ्रेंच शब्द बुरजुआ; हिंदी पूँजीवादी, सामंत, राजा, जमींदार, तालुकेदार, इलाकेदार, आदि का अर्थ कितना नीचे गिर गया है; स्वयं 'कांग्रेस' शब्द में जो उच्चता, पवित्रता, स्वार्थ-त्याग और बलिदान आदि की भावना थी, आज समाजवादियों के प्रभाव एवं कांग्रेसियों के पतन के कारण बिल्कुल नहीं रह गई है।

(१६) एक वर्ग के एक शब्द में अर्थ-परिवर्तन—शब्द अधिकतर वर्गों में रहते हैं। यदि वर्ग के किसी एक भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हुआ तो उसका प्रभाव शेष शब्दों के अर्थ पर भी पड़ता है।

दुहिता का अर्थ था 'गाय दुहने वाली'। बाद में जब इसका अर्थ 'लड़की' हो गया तो इससे बनने वाले दौहित्र, दौहित्री, दौहित्रायण आदि शब्दों का अर्थ भी उसी के अनुसार परिवर्तित हो गया।

'अभियोग' का मूल अर्थ लगन, मनोनिवेश (अभि+युज्) था, तथा इसी के अनुरूप 'अभियुक्त' (काम में लगा), 'अभियोक्तृ' आदि का भी अर्थ था। स्मृति-काल में **अभियोग** का अर्थ बदला तो अभियुक्त, अभियोगी आदि सभी संबद्ध शब्दों का बदल गया।

कुछ शब्दों के वर्ग, प्रयोग या संदर्भ के साथ के आधार पर भी होते हैं। अहिंसा, सत्य, कांग्रेस, आदि एक वर्ग के शब्द हैं। धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, जप-तप, ईश्वर-आत्मा आदि भी एक वर्ग के शब्द हैं। इधर धर्म के प्रति अनास्था के कारण उसकी पवित्रता अधिक लोगों के मस्तिष्क से निकल गई है। इसका प्रभाव पूजा, जप, माला, भजन, तीर्थ, कथा तथा व्रत आदि पर इतना पड़ा है कि ये सभी प्रायः ढोंग समझे जाने लगे हैं।

शब्दों के अर्थ की समीपता या धातु के आधार पर भी वर्ग बनाये जा सकते हैं। उनमें भी उपर्युक्त बातें पाई जायँगी।

(१७) **साहचर्य आदि के कारण नवीन अर्थ का प्रवेश**—ऐसी दशा में अधिकतर अर्थादेश हो जाता है। सिन्धु का अर्थ बड़ी नदी या समुद्र था। आर्यों ने सिन्धु नदी को भारत में आने पर 'सिन्धु' कहा। कुछ दिन में नदी के आसपास की भूमि भी 'सिन्धु' कही जाने लगी। सिन्धु से 'सैंधव' शब्द बना जिसका अर्थ है, 'सिन्धु का' या 'सिन्धु देश में होने वाला।' उस समय सिंधु देश की प्रधान वस्तु 'घोड़ा' और 'नमक' होने के कारण, सैंधव का प्रयोग इन दोनों के लिए होने लगा। उधर बाद में सिंधु के निवासियों को भी सिंधु कहा जाने लगा जिसका फ़ारसी रूप हिन्दु या हिन्दू हो गया। इस प्रकार, अनजाने धीरे-धीरे सिन्धु का अर्थ जड़ से चेतन हो गया।

'पत्र' शब्द का प्रयोग अब पत्र पर लिखे विचारों या शब्दों के लिए भी होने लगा है। 'पत्र में अशुद्धियाँ बहुत हैं, का अर्थ कागज की अशुद्धियाँ न होकर शब्द या वाक्य की अशुद्धियाँ हैं। 'पत्र रुला देने वाला है' में पत्र का अर्थ विचार है। आज के ये अर्थ मूल नहीं हैं, विकसित हो गये हैं।

(१८) **किसी शब्द, वर्ग या वस्तु में एक विशेषता का प्राधान्य**—एक विशेषता के प्राधान्य के कारण, वही उस वस्तु या वर्ग आदि का प्रतीक समझी जाने लगती है। इसमें अर्थ-विस्तार और अर्थ-संकोच दोनों ही होता है। कम्युनिस्टों की प्रधान निशानी 'लाल झण्डा' है, अतः वे चारों ओर इस नाम से भी प्रसिद्ध हैं। देहात में तो इन्हें जैसे 'लाल झण्डा' की ही संज्ञा दे दी गई है। 'लाल झण्डा की सभा है' का अर्थ है 'कम्युनिस्टों की सभा है।' यहाँ लाल झंडा के अर्थ का विस्तार हो गया है। वह अब कम्युनिस्टों के पूरे समूह का अर्थ रखता है। इसी प्रकार,

'गांधी टोपी' का अर्थ कांग्रेस से लिया जाता रहा है। 'लाल पगड़ी' का प्रयोग पुलिस के लिए बहुत पहले से चल रहा है। 'सफेद पगड़ी' पारसी पुरोहित का प्रतीक है।

इन सबमें अर्थ-विस्तार हो गया है जिसका कारण है किसी एक विशेषता का प्राधान्य।

इसी कारण, अर्थ-संकोच के भी उदाहरण मिलते हैं। गैस को साधारणतः एक प्रकार का हल्का ईंधन समझा जाता है, अतः गैस शब्द सर्वसाधारण के लिए केवल उसी का बोध कराता है। पर, ऐसी भी गैसें हैं जो जलाने के काम नहीं आतीं। यहाँ गैस की एक विशेषता सर्वविदित होने के कारण उसके विस्तृत अर्थ में संकोच हो गया है।

फूल प्रायः सुन्दर, कोमल और सुगंधित होते हैं। अतः सर्वसाधारण में फूल नाम से इन्हीं तीनों गुणों का भाव जागृत होता है। यों संसार में ऐसे फूलों की भी कमी नहीं है, जो बदसूरत और दुर्गन्धपूर्ण (करियारी के फूल की गंध बड़ी बुरी होती है। घृतकुमारी का फूल तो और भी बुरा महकता है।) होते हैं। पर, फूल नाम या शब्द में उनके गुणों या दुर्गुणों को स्थान नहीं है। यहाँ फूल में अर्थ-संकोच है।

(१९) **व्यंग्य**—व्यंग्य के शब्दों में अधिकतर अर्थादेश हो जाता है और फिर वे उसी नये अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं। हर भाषा में इसके उदाहरण काफी बड़ी संख्या में मिलते हैं। नीचे के उदाहरणों में प्रायः सभी का शाब्दिक अर्थ बुद्धिमान है, किंतु व्यंग्य के कारण प्रचलन में वे मूर्ख के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे 'तीन हाथ की बुद्धि वाले', 'अक्ल के खजाना', 'अक्ल की पुड़िया', 'अक्ल की मोटरी', 'पूरे पंडित' या 'पूरे देवता' तथा गुजराती 'दोढ़ चतुर' (चतुर का डेड़ा) अन्य उदाहरण हैं।

इसी प्रकार, 'पूरे युधिष्ठिर के अवतार' का अर्थ असत्यवादी, 'भाग्य के सबसे बड़े साथी' का अर्थ अभागा, 'लक्ष्मी के पति' का अर्थ दीन और 'धर्मावतार' का अर्थ अधर्मी, बुरा आदि लिया जाता है। गंदे आदमी को 'सफाई का अवतार' कहते है, और भद्दे आदमी को 'कामदेव का भाई'। बड़ी जल्दी आ गए (देर से), कैसे रास्ता भूल पड़े (आए), बड़े परिश्रमी हो (तनिक भी नहीं); आदि भी व्यंग्य के कारण विपरीतार्थी हो जाते हैं।

इस प्रकार, अच्छे गुणों के व्यंग्य-प्रयोग द्वारा हम विपरीतार्थ या दुर्गुणों को प्रकट करते हैं और दुर्गुण द्वारा गुण को। अपने साथी को बहुत साफ़ कपड़े पहने देखकर हम कह सकते हैं, 'कहो भाई आजकल धोबी तुम्हें नहीं मिल रहा है क्या?'

स्वास्थ्य, भोजन, धन, बुद्धि, सौंदर्य, गुण तथा दशा आदि के विषय में ही ऐसे प्रयोग अधिक मिलते हैं।

(२०) **भावावेश**—भावावेश में बहुत से शब्दों के विषय में हम असावधान हो जाते हैं और बहुधा बढ़ा-चढ़ाकर या विचित्र अर्थ में प्रयोग करते हैं। कभी-कभी तो

इसके उदाहरण भी व्यंग्य से मिलते-जुलते और यथार्थतः एक प्रकार के व्यंग्य ही दिखाई पड़ते हैं। जब पिता प्रेम के आवेश में अपने लड़के को 'अरे तू तो बड़ा पाजी है।' कहता है तो पाजी का अर्थ वहाँ बुरा न होकर केवल प्यार होता है। इसी प्रकार, लोग प्रेम में **शैतान, नालायक, बेहूदा** तथा **गदहा** आदि का प्रयोग करते हैं। आजकल के मित्र लोग प्रेम के आवेश में एक-दूसरे को '**साले**' ही नहीं, जाने और क्या-क्या भी कह जाते हैं। कभी-कभी तो यह कहना (जैसे कहो **बेटा !**) इतनी बड़ी गाली होती है कि कथन की पृष्ठ भूमि में नैकट्य न हो तो खून की नदी बह जाय।

क्रोध के भावावेश में भी लोग इतने पागल हो उठते हैं कि शब्दों का विचित्र प्रयोग कर देते हैं। उसमें भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। 'अच्छा बच्चू फिर आना तो पता चलेगा' में 'बच्चू' शब्द प्यार में लिपटा हुआ 'बच्चा' शब्द का वाचक नहीं है। वहाँ बच्चू केवल इतना बतला रहा है। कि क्रोध करने वाला क्रोध में अपने विपक्षी को नाचीज समझ रहा है। इसी प्रकार, करुणा और घृणा के आवेश में भी शब्दों का अर्थ विचित्र हो जाता है। 'राम-राम' ऐसे पवित्र शब्द का अर्थ घृणा के भावावेश के कारण 'छिः-छिः' हो गया है। दूसरी ओर किसी दुःखी आदमी के मुँह से निकलता 'राम' शब्द जैसे करुणा का प्रतीक और रुला देने वाला है।

कुछ लोग, विशेषतः कलाकार बड़े भावुक होते हैं और किसी चीज का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर करते हैं। इसी से यह होता है कि पढ़नेवाला अतिशयोक्ति को निकाल कर समझता है और इस प्रकार शब्दों के अर्थ धूमिल पड़ जाते हैं।

कुछ जातियाँ अन्यों से अधिक भावप्रवण होती हैं; इस कारण उनके यहाँ के जोरदार शब्दों का अर्थ अन्य शब्दों से कम शक्तिमान् हो जाता है, क्योंकि वे भाव-प्रवणता में सर्वदा उसे इधर-उधर खींचते रहते है। फ्रेंच और बँगला में यह बात विशेष पाई जाती है। इस प्रकार, भाव-प्रवणता के कारण कुछ भाषाओं के कुछ शब्दों के अर्थ बड़ी शीघ्रता के साथ परिवर्तित होते हैं।

इसके कारण घटित अर्थ-परिवर्तन ऊपर से तो क्षणिक दिखाई पड़ता है, किन्तु यथार्थतः इसका प्रभाव स्थायी होता है। इस प्रकार प्रयुक्त शब्दों का अर्थ कुछ नरम पड़ जाता है और उसके स्थान पर फिर नये शब्द आते हैं, फिर आगे चलकर उनकी यही दशा होती है।

(२१) **व्यक्तिगत योग्यता**—व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति शब्दों को एक ही संदर्भ में नहीं समझता। चोर ने 'अच्छा' शब्द चोरी के प्रसंग में यदि सीखा हो तो उसके मस्तिष्क में अच्छा का अर्थ वही नहीं होगा जो एक साधु के मस्तिष्क में। सच तो यह है कि प्रतिदिन के काम में आने वाली स्थूल वस्तुओं के नामों को छोड़कर किसी भी शब्द का अर्थ

दो मस्तिष्क में बिल्कुल एक ही नहीं रहता। एक सुयोग्य दार्शनिक के लिए 'ब्रह्म' शब्द कुछ और है, एक साधारण पढ़े-लिखे के लिए और है, और एक देहाती के लिए तो रुष्ट होकर आत्महत्या करने वाले ब्राह्मण की समाधि या 'चउर' मात्र ही ब्रह्म है।

टकर ने ठीक ही कहा है कि शब्द तो एक प्रकार का सिक्का है, पर ऐसा सिक्का जिसका मूल्य निश्चित नहीं। बोलने वाला उसे दो रुपये का समझ सकता है और सुनने वाला अपनी योग्यतानुसार उसे तीन या एक रुपये का समझ सकता है। सूक्ष्म विचारों तथा नैतिक भावनाओं के शब्दों के विषय में यह और अधिक सत्य है। धर्म, ईश्वर, पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा आदि शब्द उदाहरणस्वरूप लिए जा सकते हैं। इस प्रकार के शब्दों में अस्थायी रूप से आर्थिक उतार-चढ़ाव व्यक्तिगत स्तर पर आते रहते हैं।

(२२) शब्दों में अर्थ का अनिश्चय—ऊपर के कारण से यह मिलता-जुलता कारण है। कुछ शब्द ऐसे होते है, जिनका निश्चित अर्थ होता ही नहीं। 'अहिंसा' शब्द को हम लें। इसका एक ओर तो केवल यह अर्थ है कि किसी को जान से न मारना चाहिए, पर दूसरी ओर जीना भी हिंसा है, क्योंकि साँस के द्वारा या पैर से कुचलकर प्रायः हमसे न जाने कितने जीव मरते रहते हैं। इन दोनों अर्थों के अतिरिक्त ऐसी बात कहना भी हिंसा है, जिससे किसी का जी दुखे। और शायद ही कोई ऐसी बात होगी जो संसार में सबको अच्छी लगे। तो यहाँ सर्वदा मौन रहना भी अहिंसा पर चलने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार, हिंसा और अहिंसा शब्द का बहुत निश्चित अर्थ नहीं। सत्य और कर्त्तव्य के अर्थ भी इसी तरह अनिश्चित हैं। टकर साहब की ऊपर कही गई बात यहाँ भी लागू होती है। 'व्यक्तिगत योग्यता' तथा 'शब्द के अर्थ का अनिश्चय' इन दोनों कारणों में यथेष्ट एकता है। अंतर केवल इतना है कि एक व्यक्ति पर जोर देता है कि उसके मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर के अनुसार शब्दों का अर्थ परिवर्तित होगा, पर दूसरा शब्द पर ही जोर देता है। दूसरे के अनुसार, एक शब्द का अर्थ जितना ही अधिक अनिश्चित होगा, उसमें अर्थ-परिवर्तन का रूप भी उतना अधिक विचित्र होगा। इतना ही नहीं, अपितु अनिश्चित शब्दों में अर्थ-परिवर्तन होने की संभावना निश्चित शब्दों से अधिक होगी। आर्य पाप तथा पुण्य आदि अनेक अन्य शब्द भी लिये जा सकते हैं।

(२३) एक वस्तु का नाम पूरे वर्ग को देना या सामान्य के लिए विशेष का प्रयोग—वर्ग की किसी एक वस्तु से अधिक परिचित होने पर उसी नाम से हम पूरे वर्ग को पुकारने लगते हैं। इससे उस शब्द में अर्थ-विस्तार हो जाता है। अब 'स्याही' का अर्थ केवल काली स्याही न रहकर सभी रंग (लाल, हरी, नीली आदि) की स्याही हो गया है, यद्यपि यह शब्द 'स्याह' से बना है, जिसका अर्थ काला है। पहले केवल काली स्याही थी, अतः स्याही कहा गया। बाद में और रंग की भी स्याहियों का

प्रचलन हुआ, पर अधिक परिचित होने से वही नाम चलता है। हिन्दी का 'साग' (शाक) शब्द पहले केवल उन हरे पत्तों के लिए प्रयुक्त था जिनकी तरकारी बनती थी, पर अब साग का अर्थ तरकारी हो गया है। **'सब्जी'** शब्द सब्ज़ से बना है, जिसका अर्थ 'हरा' है। इसका भी प्रयोग पहले केवल शाक के लिए होता था, पर अब आलू (भूरा), सीताफल या कोंहड़ा (पीला), प्याज़ (सफेद या लाल) और **टमाटर** (लाल) भी सब्जी कहे जाते हैं। 'मुझे कुछ पैसे चाहिए' में 'पैसे' का अर्थ पैसा न होकर धन है। कुछ जानवरों या कीड़ों के लिए हम एक ही लिंग का नाम प्रयुक्त करते हैं। घोड़ा-हाथी आदि बड़ों में यह प्रयोग अधिक नहीं चलता, पर छोटे जानवरों में तो प्रायः सभी में चलता है। कुत्ता और कुतिया के लिए कुत्ता, गीदड़ और गीदड़िन के लिए गीदड़, लोमड़ी और लोमड़ा के लिए लोमड़ी, तोता-तोती के लिए तोता, मैना-मैनी के लिए मैना इत्यादि। इस एक लिंग का प्रयोग उभयलिंग के लिए होने के कारण उसका अर्थ भी विस्तार पाकर उभयलिंगी हो गया है। रूसी में घोड़ा के लिए वहुप्रचलित शब्द 'लोशद्' स्त्रीलिंग है। वहाँ सामान्यतः घोड़े को भी इसी शब्द से अभिहित करते हैं।

अन्य कई भाषाओं की तरह हिन्दी में सबसे एक विचित्र समस्या खड़ी हो गई है। कुछ जानवर चाहे नर हों या मादा, भाषा में उनका 'नर-प्रयोग' चल रहा है। जैसे नर चींटा हो या मादा, दोनों के लिए 'चींटा' का प्रयोग चलता है और सर्वदा पुंल्लिंग में। इसी प्रकार, तोता, कौआ, वाज, बारहसिंहा, गीदड़, तेंदुवा, चीता तथा बनमानुख आदि में हमारी हिन्दी भाषा के अनुसार जैसे केवल नर ही नर होते हैं। दूसरी ओर, चींटी, सिधरी, कोयल, लोमड़ी तथा छिपकली में हिन्दी के अनुसार नर का एकान्त अभाव है। इतना ही नहीं, पुकारने की इन विचित्रता के कारण देहात में कुछ लोगों को तो ऐसा भी विश्वास है कि चींटा और चींटी एक ही जाति हैं। अन्तर केवल यह है कि एक नर है और दूसरा मादा। 'तोता-मैना' के प्रसिद्ध किस्से में तोता-मैना के विषय में भी यही धारणा है। इसका प्रभाव यह पड़ा है कि चींटी एक अलग जीव न समझी जाकर चींटा की स्त्री समझी जाती है और इसी प्रकार मैना तोते की स्त्री मानी जाती है।

(२५) **आलंकारिक अथवा लाक्षणिक प्रयोग**—बातचीत, या किसी चीज के वर्ण में वक्ता या लेखक का यही प्रयास रहता है कि वह कम से कम शब्दों में अपने को अधिक से अधिक स्पष्ट एवं सुन्दर रूप में व्यक्त कर सके। ऐसा करने के लिए अलंकारों (उपमा, रूपक आदि) या लक्षण का प्रयोग किया जाता है। आरम्भ में तो ये प्रयोग आलंकारिक या लाक्षणिक रहते हैं, पर कुछ दिनों में अलंकार या लक्षण का ध्यान किसी को नहीं रहता और उस नवीन अर्थ में शब्द का प्रयोग चल पड़ता है। 'तुम गदहे हो' में गदहे का सीधा अर्थ 'मूर्ख' है। गदहे की तरह मूर्ख नहीं जो प्रारम्भिक प्रयोग में रहा होगा। अलंकार अधिकतर सादृश्य पर आधारित रहता है। परिचित रूपों या वस्तुओं के द्वारा हम अपरिचित के विषय में बतलाना चाहते हैं।

सूक्ष्म वस्तुओं या व्यापारों का साधारण शब्दों में प्रकटीकरण आसान नहीं है। अतः, उनके लिए अलंकारों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। उदाहरणस्वरूप गहरी बात, निर्जीव भाषा, सजीव चित्रण, मधुर संगीत, मीठे बोल, रूखी हँसी, कटु अनुभव, सरस बात, कठिनाई पार करना, दुःख काटना तथा आपत्तियों मे घिर जाना आदि को ले सकते हैं। आज बिना ध्यानपूर्वक विचार किये इनके अलंकारों का पता नहीं चलता, जिसका एक मात्र कारण है अर्थ-परिवर्तन। उल्लेख्य है कि प्रायः ये सभी भाषिक विचलन (Linguistic Deviation) के उदाहरण हैं।

मानव के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए हमें पशुओं, जातियों तथा बेजान वस्तुओं के सहारे अलंकार बनाना पड़ता है। ये प्रयोग भी इतने प्रचलित हैं कि साधारणतया अलंकार नहीं समझे जाते। अपने आलंकारिक अर्थ में ये प्रतीक रूढ़ हो चुके हैं। उदाहरणस्वरूप पत्थर (कड़े हृदय का), पानी (नरम दिल), बेंदी का लोटा (जिसका कुछ निश्चय न हो), काँटा (क्रूर), गदहा (मूर्ख), उल्लू (मूर्ख या दिन के लिए अन्धा), भैंस (बेवकूफ), बैल (मूर्ख), गाय (सज्जन और सीधा), शेर (बहादुर), गीदड़ (कायर), सियार (होशियार और छली), कौआ (चालाक), काला नाग (जिसके काटने से लहर तक नहीं आती और मृत्यु हो जाती है, अतः खतरनाक), बनिया (कंजूस), कसाई (क्रूर), चमार (गन्दा), क्रिस्तान (भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान न रखनेवाला) तथा अहिर या जाट (उजड्ड) आदि लिए जा सकते हैं। बोलचाल की भाषा के तो जैसे ये प्राण हैं। आलकारिक प्रयोग में ये शब्द अपना यथार्थ अर्थ न देकर अपने गुण का अर्थ देते हैं। ब्रील का कहना है कि अन्य सभी कारणों से शब्दों में अर्थ-परिवर्तन शनैः-शनैः होता है, किन्तु अलंकारों के कारण एक क्षण में (on the spur of the moment) हो जाता है। अलंकारों के कारण अर्थ-परिवर्तन लगभग सभी दिशाओं में होते हैं। इसके अन्तर्गत काव्यशास्त्र के सभी अलंकार लिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ और उदाहरण देकर विषय को समाप्त किया जा सकता है। काला दिल, अन्धा कुआँ, नदी की गोद, पतंग की पूँछ, मधुर गीत, मधुर गन्ध, ठोस कार्य, खोखला आदमी, टेढ़ी बात, पहाड़ की चोटी, कड़ुई बात, आरी के दाँत, बन्दूक का घोड़ा, कलम की जीभ, लकड़ी का हीर कविता की आत्मा, कुर्सी के हाथ, चारपाई के पैर, नदी की शाखा, पहाड़ की जड़ तथा फिटकिरी के फूल आदि।

इन समतामूलक अलंकारों के अतिरिक्त भी कुछ अलंकार हैं। 'आजकल रोटी (खाना) मिलना आसान नहीं है।' 'प्रसाद को (प्रसाद की कृतियों को) पढ़ रहा हूँ।' तथा 'आप गांधी (गांधी जी जैसे महान्) नहीं हैं।' उदाहरण पर्याप्त होंगे। ऊपर के कुछ अन्य कारण भी अलंकार के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, किंतु यहाँ स्पष्टता

के विचार से उन्हें अलग रखा गया है।[1]

(२५) **दूसरी भाषा का प्रभाव**—कभी-कभी दूसरी भाषा के प्रभाव से भी शब्दों का अर्थ बदल जाता है। इस प्रकार का अच्छा उदाहरण इस सदी में लिखे गए संस्कृत के ग्रंथों में मिल जाता है, जिनमें समारोह (संस्कृत अर्थ चढ़ना या किसी बात पर सहमत होना), समाचार (संस्कृत अर्थ ख्याति, बिखरना आदि) अनेक शब्दों का प्रयोग संस्कृत में प्राप्त अर्थों में न होकर हिन्दी अर्थों में हुआ है। पंजाबी तथा हरियानी के प्रभाव से दिल्ली आदि में हिन्दी में भी 'मच्छर लड़ रहे हैं' का अर्थ 'मच्छर काट रहे हैं' होने लगा है। वस्तुतः पजाबी के प्रभाव से हिन्दी 'लड़ना' में 'काटना' का भी भाव आता जा रहा है। दिल्ली में हिन्दी के कॉलिज-प्राध्यापकों के मुँह से भी 'मच्छर लड़ना', 'साँप लड़ना' जैसे प्रयोग 'काटना' के अर्थ में सुनाई पड़ते हैं। पंजाबी साहित्यकारों द्वारा लिखित हिन्दी में 'जलना' के अर्थ में 'सड़ना' (रोटी सड़ गई) भी ऐसे ही उदाहरण हैं। इसी प्रकार, कौरवी तथा हरियानी भाषी लोगों की हिन्दी में मौसा-मौसी (भाई का ससुर भी मौसा कहलाता है तथा भाई की सास मौसी)। हरियानी तथा कुछ क्षेत्रों की व्रजभाषा का व्यक्ति शरारत करके भागते हुए लड़के को संबोधित करके कहेगा—'डट जा अभी आता हूँ।' यहाँ स्पष्ट ही हिन्दी 'डटना' के अर्थ में विस्तार हो गया है। हिन्दी में इसका अर्थ 'जमना' है, पर इन क्षेत्रों में 'रुकना', 'ठहरना' भी भोजपुरी भाषा की हिन्दी में 'मरम्मत' में 'अच्छे' का भाव आ गया है। मैं स्वयं हिन्दी में 'इन कपड़ों को मरम्मत से रख दो' कहता हूँ। यहाँ 'मरम्मत से' का आशय 'अच्छी तरह' या 'सँभाल कर' है। इस प्रकार, हिन्दी की बोलियों एवं पंजाबी के प्रभाव से अनेक हिन्दी शब्दों के अर्थ में विस्तार होता जा रहा है।

(२६) **किसी ट्रेडनेम का बहुप्रचार से जाति वाचक संज्ञा बन जाना :**— डालडा, सर्फ, विम, कोकाकोला, कैंपाकोला।

इन उपर्युक्त प्रधान कारणों के अतिरिक्त विशेषण का संज्ञारूप में प्रयोग, संज्ञा का क्रियारूप में प्रयोग आदि अर्थ-परिवर्तन के अनेक और भी कारण हो सकते हैं।

पर्यायविज्ञान (Synonymics or Synonymology)

'पर्यायविज्ञान' अर्थविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है, यद्यपि इस दिशा में अभी तक बहुत कम काम हुआ है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस शाखा में पर्यायवाची शब्दों का अध्ययन करते हैं। भाषाविज्ञान की अन्य अनेक शाखाओं की भाँति ही पर्यायविज्ञान भी वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक आदि सभी प्रकार का हो सकता है। वर्णनात्मक में किसी एक काल में किसी भाषा के पर्यायों का अध्ययन करते हैं। पर्यायकोशों का निर्माण तथा पर्यायों में प्रयोग के आधार पर सूक्ष्म अर्थभेद आदि का

१. इन्हें उपचार (metaphor) भी कहा गया है। भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय भाषा के विकास में इसके महत्त्व का संकेत किया जा चुका है। इसे लक्षणा या या लाक्षणिक प्रयोग भी कह सकते हैं। इसमें समता के आधार पर एक शब्द का दूसरे के लिए प्रयोग (कुर्सी के पैर) तथा लेखक का उसकी सारी कृति के लिए प्रयोग (आजकल प्रेमचन्द पढ़ रहा हूँ) आदि हैं।

निर्धारण भी पर्यायविज्ञान के वर्णनात्मक रूप से ही सम्बद्ध है। ऐतिहासिक पर्याय-विज्ञान में किसी भाषा में समय-समय पर हुए पर्याय-विषयक विकासों आदि का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन, दो या अधिक भाषाओं का वर्णनात्मक या ऐतिहासिक दोनो ही रूपों में हो सकता है। वस्तुतः इन सभी प्रकारों के अध्ययन अभी प्रायः बहुत कम हुए हैं।

'पर्यायवाची' या 'पर्याय' शब्दों के बारे में प्रायः यह धारणा पाई जाती है कि वे एकार्थी शब्द होते हैं। किन्तु तत्त्वतः यह धारणा भ्रामक है।[1] पर्यायवाची शब्द वस्तुतः प्रायः समानार्थी होते हैं। किसी भी भाषा में सच्चे अर्थों में समानार्थी शब्द प्रायः बहुत ही कम होते हैं।

पर्याय शब्दों के निम्नांकित भेद हो सकते हैं—

- पर्याय—
  - एकार्थी (पूर्ण पर्याय)
  - समानार्थी (अपूर्ण पर्याय)—
    - मौलिक
    - क्षेत्रीय
    - वैचारिक
    - प्रायोगिक
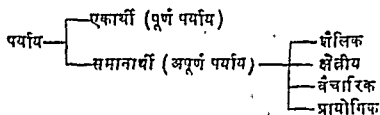
एकार्थी या पूर्ण पर्याय—एकार्थी या पूर्ण पर्याय ये शब्द होते हैं, जो पूर्णतः एक अर्थ रखते हैं, जिनकी 'पर्यायता' पूर्ण होती है। उनमें आपस मे कोई भेद नहीं होता। जैसे—संतरा-नारंगी, भावमय-भावपूर्ण। सामान्यतः जिन शब्दों को एकार्थी समझा जाता है, उनमें से प्रायः ९९ प्रतिशत एकार्थी नहीं होते। एकार्थी की पहचान यह है कि किसी भाषा में, सारे सन्दर्भों में, यदि विना अर्थ-परिवर्तन के एक शब्द के स्थान पर कोई दूसरा शब्द रखा जा सके तो वे दोनों एकार्थी या पूर्ण पर्याय कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए, 'मुश्किल' और 'कठिन' दो शब्द हैं। सामान्यतः देखने जाता है, उनमें से प्रायः ९९ प्रतिशत एकार्थी नहीं होते। एकार्थी की पहिचान यह है कि किसी भाषा में, सारे सन्दर्भों में, यदि बिना अर्थ-परिवर्तन के एक शब्द के स्थान पर कोई दूसरा शब्द रखा जा सके तो वे दोनों एकार्थी या पूर्ण पर्याय कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए, 'मुश्किल' और 'कठिन' दो शब्द हैं। सामान्यतः देखने पर ऐसा लगता है कि दोनों एकार्थी या पूर्ण पर्याय हैं, किन्तु यदि दोनों के विभिन्न प्रयोगों को देखें तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगेगी कि दोनों में अन्तर है। उदाहरणार्थ, एक वाक्य है—'वह लड़का मुश्किल से पांच वर्ष का होगा'। किन्तु, इस वाक्य को यों नही कह सकते कि 'वह लड़का कठिन से पांच वर्ष का होगा।' इसी प्रकार, 'इस काम में कुछ कठिनाई है' को 'इस काम में कुछ मुश्किलाई है' नहीं कह सकते। इस तरह हिन्दी में यह दोनों शब्द समानार्थी हैं, किन्तु एकार्थी नहीं हैं।

समानार्थी या अपूर्ण पर्याय—वे शब्द जिनमें अर्थ एक न होकर मात्र समान होते हैं। पर्याय समझे जाने वाले अधिकांश शब्द इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। जिस भाषा में इस श्रेणी के शब्द जितने ही अधिक होंगे, वह भाषा उतनी ही समृद्ध

1. दे०. लेखक के 'बृहद् पर्यायवाची कोश' की भूमिका, तथा 'शब्दों का अध्ययन' पुस्तक के 'अर्थविज्ञान' तथा 'प्रयोगविज्ञान' शीर्षक अध्याय।

होगी। समानार्थी शब्दों के अन्तर प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—शैलिक, वैचारिक एवं प्रायोगिक।

समानार्थी शब्दों में **शैलिक अन्तर** का अर्थ यह है कि दो या अधिक शब्दों का अर्थ तो प्रायः एक होता है, किन्तु प्रयोग में शैली की दृष्टि से एक रचना या वाक्य में एक ही आ सकता या उपयुक्त लगता है। उदाहरण के लिए, 'सौन्दर्य' और 'खूबसूरती' इन दो शब्दों को लें। इन दोनों के अर्थ में अन्तर नहीं है, किन्तु '**कल्पनालोक की वह अभूतपूर्व अप्सरा साकार सौन्दर्य थी**' वाक्य में सौन्दर्य के स्थान पर 'खूबसूरती' का प्रयोग अच्छा नहीं लगेगा। इजाज़त-आज्ञा, बेहद-असीम, ज़रूर-अवश्य, खुशी-प्रसन्नता, बेशक-निःसन्देह, कठोर-सख्त, आदि जोड़ों का अन्तर भी प्रायः इसी स्तर का है।

क्षेत्रीय पर्याय—अलग-अलग क्षेत्रों में मिलते हैं। जैसे दिल्ली में 'तोरी', इलाहाबाद में 'नेनुवाँ' और बलिया में 'धेवड़ा' एक ही सब्जी के नाम हैं।

वैचारिक अन्तर का अर्थ है, अर्थ का समीप होना, किन्तु पूर्णतः एक न होना। डॉक्टर-वैद्य-हकीम, केसरिया-पीला-गंधकी मक्तब-पाठशाला-स्कूल, ठर्रा-ह्विस्की-बियर-ब्राण्डी, दूबिया-मेंहदी-मूँगिया, घोड़ा-टट्टू, देखना-अवलोकन करना-घूरना, आदि उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं।

प्रायोगिक अंतर का अर्थ यह है कि शैलिक या वैचारिक अन्तर न होने पर भी परंपरागत प्रयोग के कारण एक के स्थान पर दूसरा नहीं आ सकता। मुहावरों में प्रायः यह देखा जाता है। 'वह पानी-पानी हो गया' को वह 'जल-जल हो गया' नहीं कह सकते। समासों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। उदाहरण के लिए, जल और नीर में प्रायः शैलिक या वैचारिक अन्तर नहीं है, पर 'जलपान कर लीजिए' को 'नीरपान कर लीजिए' नहीं कह सकते। बहुत से शब्दों में शैलिक एवं वैचारिक अंतर के साथ-साथ भी प्रायोगिक अन्तर मिलते हैं। जैसे "**उसके मर जाने के कारण काम रुक गया होगा**" एवं '**उसके मर जाने की वजह (से) राम रुक गया होगा**" में समानार्थी होने पर भी 'कारण' विना 'से' के प्रयुक्त हुआ है, किन्तु 'वजह' विना 'से' के नहीं आ सका है। इस प्रकार, दोनों में प्रायोगिक अन्तर है।

भाषा में पर्यायों के विकास के प्रमुख कारण

(१) **अर्थ-परिवर्तन**—अर्थ-परिवर्तन के कारण बहुत से शब्द आर्थिक दृष्टि से दूसरे शब्दों के समीप पहुँच जाते हैं, इस प्रकार पर्यायों में वृद्धि हो जाती है। 'राम' वस्तुतः एक नाम है, किन्तु अर्थ-परिवर्तन के कारण 'राम-राम' एक ओर तो 'छिः-छिः' का पर्याय हो गया, तो दूसरी ओर 'नमस्ते' का। इसी प्रकार, 'रोटी' खाना का, 'लाल झण्डा' कम्यूनिज्म का, तथा 'पैसा' धन का पर्याय बन गया है। सभी भाषाओं में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं।

(२) **विकास के साथ नया ज्ञान**—इसके कारण ज्ञान की परिधि में वृद्धि से पर्यायों में वृद्धि होती है। पहले केवल 'लाल' शब्द रहा होगा, क्योंकि 'लाल' के विभिन्न शेडों के प्रति हम जागरूक न रहे होंगे। अब लाल-सिंदूरी-इंगूरी-गुलाबी-प्याजू-लाखा-तरबूजी-अबीरी-टमाटरी आदि अनेक वैचारिक अन्तर वाले प्रयोग में आने लगे हैं। ठर-बियर-शंपेन-वाइन भी इसी वर्ग के उदाहरण हैं।

(३) **विदेशी संपर्क**—इसके कारण भी पर्याय बढ़ते हैं। जैसे—सहस्र-हजार, राजा-बादशाह, नारंगी-संतरा, दिया-चिराग, यदि-अगर, अंतिम-आखिरी, अधिकार-काबू, आयु-उम्र, स्त्री-औरत तथा भवन-इमारत बिल्डिंग, आदि। हिन्दी में अरबी, फारसी, तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि के शब्दों के आने से पर्यायों में बहुत वृद्धि हुई है।

(४) **प्रत्यय उपसर्ग आदि व्याकरणिक साधनों का प्रयोग**—इनके कारण भी पर्यायों में वृद्धि होती है। जैसे भावमय-भावपूर्ण, थकान-थकावट, अपढ़ अनपढ़, उत्साह-शून्य-उत्साहहीन, सुन्दरता-सौन्दर्य संबंधित तथा संबद्ध, आदि।

(५) **अनुवाद**—सोशलिज्म-समाजवाद, कम्यूनिज्म-साम्यवाद, गवर्नर-राज्यपाल, वाइसचांसलर-उपकुलपति। हिन्दी में इधर प्रायः १५ वर्षों में इस प्रकार के अनेक पर्याय आए हैं।

(६) **पुराने शब्दों का लाया जाना**—बनारस-वाराणसी, मुँह-मुख, पत्ता-पत्र पोथी-पुस्तक। हिन्दी में भक्तिकाल एवं छायावादी काल में तथा स्वतंत्रता के अनेकानेक पुराने शब्द लाए गये हैं, और इनके आगमन से पर्याय की संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

(७) **संक्षेप**—ट्यूबरक्लोसिस-टीबी, भारतवर्ष-भारत, हिन्दुस्तान-हिन्द, पाकिस्तान-पाक; इस प्रकार के पर्याय अधिक नहीं मिलते।

(८) **जनभाषा से शब्दों का लिया जाना**—आंचलिक कहानियों, उपन्यासों से इस प्रकार के शब्द हिन्दी में इधर बहुत आए हैं। स्थानीय रंगत (local colour) देने के लिए या ग्रमीण पात्र की भाषा स्वाभाविक बनाने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। *उदाहरणार्थ, अच्छा-नीक, लड़का-गदेला तथा दीखना-लौकना आदि।*

(९) **ध्वनि-परिवर्तन**—इसके कारण भी पर्याय विकसित हो जाते हैं: कृष्ण-कान्ह, दधि-दही, काष्ठ-काठ, हस्ती-हाथी आदि।

पर्याय केवल शब्द ही नहीं होते, वाक्य या वाक्यांश भी होते हैं। उदाहरणार्थ '—मैं नहीं जाऊँगा', 'मैं नहीं जाने का', 'वह पढ़ा-लिखा नहीं है'—'वह अनपढ़ है', 'वह लड़का चला गया जो आया था'—'जो लड़का आया था, चला गया, तथा 'मैंने उससे बैठने को कहा'—'मैंने उससे कहा कि तुम बैठो'।

विलोमता

एक दूसरे के विरोधी अर्थ वाले शब्द विलोम, विपर्याय या विपरीतार्थी कहे जाते हैं। जैसे पतला-मोटा, छोटा-बड़ा। एक शब्द का विलोम प्रायः एक ही शब्द होता है जैसे बुद्धिमान-बुद्धिहीन, खूबसूरत-बदसूरत किन्तु यदि विलोमता के अलग-अलग आधार हों तो एकाधिक विलोम भी हो सकते है। उदाहरण के लिए शासक शासित के आधार पर 'राजा' का विलोम 'प्रजा' है, तो धन के आधार पर 'रंक' है तथा लिंग के आधार पर 'रानी' है। यों यह काफी विवाद का विषय है कि वचन (घोडा-घोड़ों) तथा लिंग (घोड़ा-घोड़ी) आदि के आधार पर शब्दों की विलोमता मानी जाए या नहीं। यह आवश्यक नहीं कि सभी शब्दों के विलोम हों ही। उदाहरण के लिए 'घास' 'मकान' 'कलम' आदि के विलोम नहीं होते। विलोम कभी तो केवल अर्थ में विरोधी होते हैं (राजा-रंक, स्याह-सफेद) किन्तु कभी-कभी अपनी संरचना (सत्य-असत्य, यश-

अपयश, आशा-निराशा, कृतज्ञ-कृतघ्न नेकनाम-बदनाम) में भी विलोम होते हैं। विलोम-शब्द तो होते ही हैं, वाक्य (राम गया-राम नहीं गया) भी होते हैं।

(क) अनेकार्थता (Polysemy)

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्द अपने नवीन अर्थ के धारण करने पर भी पुराने अर्थ को नहीं छोड़ता और ऐसी दशा में कभी-कभी तीन-चार अर्थ एक ही समय में चलते रहते हैं। कभी वह सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो कभी विस्तृत में, और कभी स्थूल में तो कभी सूक्ष्म में। ऊपर हाथ, पैर तथा कान आदि के कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं।

'जड़' शब्द का 'पेड़ की जड़', 'रोग की जड़ें', 'झगड़े की जड़' आदि में आज प्रयोग चल रहा है। इसी प्रकार 'मूल' शब्द भाषा-विज्ञान, दर्शनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, गणित तथा अर्थशास्त्र में प्रयुक्त हो रहा है। 'धातु' और 'योग' की भी यही दशा है। अँग्रेजी का शब्द 'की' (key) या हिन्दी का 'कुन्जी' असल में यंत्रशास्त्र से संबद्ध है, पर अब किताब की कुन्जी, समस्या की कुन्जी आदि प्रयोग भी साथ-साथ चल रहे हैं।

संस्कृत में कुछ अनेकार्थी शब्द तो ऐसे हैं कि इस बात का विश्लेषण आज असम्भव-सा है कि उनका इतने अधिक अर्थों में प्रयोग का प्रचलन कैसे हो गया है। उनके अर्थ-परिवर्तन बिल्कुल असाधारण से हैं। उदाहरण के लिए, हम लोग कुछ ले सकते हैं—

सारंग—बाज, कोयल, मोर, पपीहा, चातक, भ्रमर, खंजन, सूर्य, चंद्रमा, कृष्ण, विष्णु, कामदेव, हाथी, घोड़ा, मृग, साँप तथा पृथ्वी आदि ५० से भी अधिक अर्थ हैं।

हरि—विष्णु, इन्द्र, बन्दर, घोड़ा, सिंह, चन्द्रमा, पानी, साँप तथा अग्नि आदि पचीसों अर्थ हैं।

हिन्दी तथा संस्कृत के कुछ कूट छन्दों में एक ही पंक्ति में ऐसे शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है। ये प्रयोग भाषा में स्वाभाविक विकास के कारण अवश्य नहीं हैं, पर इनके इतने अधिक अर्थों के होने की समस्या अवश्य ही भाषाविज्ञान के अर्थ-विज्ञान के अन्तर्गत आती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि या तो इन विभिन्न अर्थों का कुछ सम्बन्ध शब्द की धातु में होगा, या फिर बलात् ही इतने अर्थ शब्द पर लाद दिये गये होंगे। अँग्रेजी आदि भाषाओं में भी कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं, पर उनके एक-दूसरे से इतने असंबद्ध अर्थों की संख्या पचास तक नहीं पहुँचती।

भाषा में अनेकार्थता कई कारणों से विकसित हो जाती है—(१) **लक्षणा से**—जैसे 'पानी' का मूल अर्थ 'जल' है किन्तु हिन्दी में लक्षणा से 'पानी' के अर्थ 'चमक' (उस मोती में पानी नहीं है) तथा 'कांति' (उसके चेहरे पर बहुत पानी है) आदि भी हो गए हैं। (२) **सादृश्य से**—जैसे 'घोड़ी' का मूल अर्थ 'मादा घोड़ा है' किन्तु सादृश्य के आधार पर चार पैर के उस ऊँचे स्टूल को भी घोड़ी कहते हैं जिस पर चढ़ कर मकान की सफाई-पुताई आदि करते हैं। (३) **व्याकरणिक प्रक्रिया से**—हिन्दी में 'खिलाना' के दो अर्थ हैं उस लड़के को खाना खिला दो, उस लड़के को गेंद खिला दो। वस्तुतः 'खाना' और 'खेलना' दोनों के प्रेरणार्थक रूप हिन्दी में 'खिलाना' है, इसीलिए इसके दो अर्थ हैं। यों तत्त्वतः ये दोनों 'खिलाना' समध्वनीय दो शब्द हैं, किन्तु साधारणतः यह

अनेकार्थक शब्द माना जाता है। (४) **बहुस्रोतता से**—कई अलग स्रोतों से विकसित शब्द यदि समध्वनीय हों तो वे भी अनेकार्थक कहे जाते हैं। जैसे हिन्दी में 'आम'। इसका एक अर्थ 'एक फल' है तथा दूसरा अर्थ सामान्य है। फलार्थी आम संस्कृत 'आम्र' से विकसित है तो सामान्यार्थी 'आम अरबी आम से। तत्त्वतः ये भी दो शब्द हैं, किन्तु साधारणतः एक माने जाते है। '३' तथा '४' को एक में भी रखा जा सकता है। (५) **संहिता से**—भूषण की पंक्ति 'तेरी बरछी ने बर छीने है खलन के 'में बरछी ने' तथा 'बर छीने' के अर्थ का अंतर 'संहिता' के परिवर्तन से है। साहित्य में ऐसे प्रयोग भी अनेकार्थी माने जाते हैं।

अनेकार्थी केवल शब्द ही नहीं होते। वाक्य या वाक्यांश भी होते है। उदाहरणार्थ 'तुम्हें मुझे दो रुपए देने हैं' 'यह राम की तस्वीर है' 'राम की लकड़ी की आलमारी' तथा 'सुन्दर फूल और पत्ते' आदि। इस प्रकार की अनेकार्थता आंतरिक संरचना पर निर्भर करती है।

रोटी

१. आजकल रोटी का क्या प्रबन्ध है ?

२. बिना नमक की रोटी पर कौन काम करेगा ?

३. गेहूँ की रोटी।

४. धनिक गरीबों के खून की रोटी खाते हैं।

प्रचलित प्रयोगों में अलंकार का हाथ अधिक है। संक्षेप में कहने की प्रवृत्ति ही इतने अर्थों को जन्म देती है, और सम्भवतः इसी कारण वे एक ही समय में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त भी होते रहते हैं।

(ख) एक मूलीय भिन्नार्थक शब्द (Doublets)

कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक मूल से निकले या एक ही शब्द की ध्वनि की दृष्टि से दो भिन्न रूपों का अर्थ भिन्न हो जाता है। ऐसे बहुत से उदाहरण ऊपर अर्थ-परिवर्तन के कारणों के विवेचन में आ चुके हैं।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि मूल या शुद्ध शब्द तो अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है और विकसित या विकृत शब्द कुछ नीचे या बुरे अर्थ में। जैसे स्थान, थान; गर्भिणी, गाभिन; ब्राह्मण, बाम्हन; भोग, भोजन; तथा कर्त्तव्य, करतब आदि।

कुछ शब्दों में अर्थ बहुत दूर चला जाता है। पक्षी का अर्थ चिड़िया है, पर उसी से निकले पंखी शब्द का अर्थ 'हवा करने वाला पंखा' है। क्षीर, खीर, कोण, योनिया, पर्ण, पान, पन्ना तथा पत्र, पत्ता, पतई, पातर आदि भी ऐसे ही एक मूलीय भिन्नार्थक शब्द हैं।

(ग) समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द (Homonym)[1]

कुछ शब्द ध्वनि की दृष्टि से बिल्कुल एक से रहते हैं, पर उनका मूल भिन्न होता है। इसीलिए, अर्थ में बहुत अन्तर रहता है। जब तक वाक्यों में ये प्रयुक्त न रहें,

इनके अर्थ के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के कुछ ऐसे प्रचलित शब्द उदाहरण के लिए जा सकते हैं :

संस्कृत	अरबी
आम (फल) आम्र	आम (साधारण)
सहन (बर्दाश्त) सहन	सहन (आँगन)
कुल (परिवार) कुल	कुल (समस्त)

अंग्रेजी में भी hare, hair, I, eye, awl, all. आदि शब्द इसी के उदाहरण हैं।

बौद्धिक नियम (Intellectual Laws of Language)[1]

पीछे देखा जा चुका है कि शब्दों के अर्थ का विकास तीन दिशाओं—विस्तार, संकोच, आदेश में होता है और इन विकासों के पीछे कुछ कारण काम करते हैं। इन कारणों में ब्रील आदि के अनुसार कुछ बुद्धिगत कारण भी होते हैं; अर्थात् हम जान-बूझकर कभी-कभी कुछ परिवर्तन कर देते हैं, या कुछ परिवर्तनों में बुद्धि का भी योग रहता है। इस प्रकार के परिवर्तनों (बुद्धि-प्रसूत) के कारणों का विचार कर जो नियम निर्धारित किए गये हैं, उन्हें बुद्धि-नियम या 'बौद्धिक नियम' की संज्ञा दी गई है।

ब्रील ने ही सबसे पहले अर्थ के अध्ययन के सिलसिले में बौद्धिक नियमों की बात उठाई। बाद में वुंट, स्पर्बर, ल्यूमन, कैरोनी, स्टर्न सरकार आदि विद्वानों ने इस प्रकार के नियमों पर विचार किया, लेकिन बीसजर्बर तथा टकर आदि ने इस प्रकार के नियमों का विरोध किया। इस प्रसंग में विचार करते हुए ग्लासगो विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानविद् डॉ० उलमन ने ब्रील के इन नियमों को असंतोषजनक माना।

नीचे इस तथाकथित बौद्धिक नियम के अंतर्गत पराम्परागत रूप से लिये जाने वाले नियम आलोचना के साथ संक्षेप में दिये जा रहे हैं।

(१) **विशेषीकरण या विशेष भाव का नियम** (Law of Specialization)—इसकी परिभाषा कुछ इस प्रकार दी गई है : किसी एक भाव, रूप या सम्बन्ध आदि को व्यक्त करने के लिए कभी अनेक शब्द या प्रत्यय आदि प्रयुक्त होते हों और फिर धीरे-धीरे उनमें केवल एक-दो शेष रह जायँ तो इसे विशेष भाव का नियम कहते हैं, क्योंकि प्रयोक्ता एक या दो को ही उन सारे के स्थान पर विशेष (special) रूप से प्रयुक्त करने लगता है। इस प्रसंग में ब्रील तथा सरकार आदि ने भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाओं में प्रयुक्त तुलनासूचक (comparative) और सर्वाधिकतासूचक (superlative)

१. बौद्धिक नियमों का विवेचन सर्वप्रथम ब्रील ने किया। इसी आधार पर भारत में हेमन्त कुमार सरकार ने इस पर विस्तार से प्रकाश डाला। गुणे ने भी इस विषय को संक्षेप में लिखा है। श्यामसुन्दर दास ने सरकार के आधार पर ही इन्हें हिन्दी जनता के समक्ष रखा। इस अंश के लिखने में इन सभी द्वारा प्रस्तुत सामग्री उपयोगी सिद्ध हुई है। दुःख है कि प्रस्तुत लेखक उनके बहुमूल्य निष्कर्षों से प्रायः सहमत नहीं हो सका है।

प्रत्ययों को लिया है और वे कहते हैं कि आरम्भ में इस काम के लिए कई प्रत्यय प्रयुक्त होते थे, लेकिन बाद में एक ही प्रत्यय विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा। यदि संस्कृत के उदाहरण लेना चाहें तो कह सकते हैं कि पहले तुलनासूचक प्रत्यय तरप् (तर – कुशलतर, लघुतर, महत्तर, धनितर) और ईयसुन् (ईयस्–पटु से पटीयस्, धनिन् से धनीयस्, गुरु से गरीयस् तथा प्रिय से प्रेयस् आदि) दो थे।[२] इसी प्रकार सर्वाधिकता-सूचक प्रत्यय भी तमप् (तम—कुशलतम, लघुतम, महत्तम, धनितम) और इष्ठन् (इष्ठ—पटिष्ठ, धनिष्ठ, गरिष्ठ, प्रेष्ठ) दो थे।[३] बाद में 'तर' और 'तम' का प्रचलन कम हो गया और 'ईयस्' और 'इष्ठ' ही अधिक प्रयुक्त होने लगे। यहाँ दो बातें कही जा सकती हैं—(१) इस प्रकार, बहुत के स्थान पर एक या कम का प्रयोग विशेष भाव या विशेषीकरण का नियम तो कहा जा सकता है, किन्तु क्या सचमुच इसका अर्थ से विशेष सम्बन्ध है जैसा कि अनेक विद्वानों के अर्थविज्ञान के अध्याय के सिलसिले में इस पर विचार करने से प्रकट होता है। सच पूछिये तो यदि इस प्रकार के कुछ शब्दों या प्रत्ययों का प्रयोग पूर्णतः बन्द हो जाय तो उसे प्रत्यय या शब्द का लोप कहा जा सकता है, इसी प्रकार यदि प्रयोग कम हो जाय तो अल्प प्रयोग तो कहा जा सकता है, किन्तु यह अर्थ-परिवर्तन किसी भी रूप में नहीं है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि अर्थ के लिए अनेक के स्थान पर कम या एक शब्द (या प्रत्यय) का प्रयोग इसमें होता है और इसका अर्थ से इतना ही सम्बन्ध है जो निश्चय ही नहीं के बराबर है। (२) दूसरा प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह बौद्धिक नियम है ? सच पूछा जाय तो यह प्रवृत्ति सरलता की दृष्टि से, अनेकरूपता से एकरूपता की ओर जाने की है, और इस प्रकार इसे प्रयत्न-लाघव या याद करने में श्रम-लाघव ही कह सकते हैं। धीरे-धीरे सादृश्य (*analogy*) के कारण यह होता है। इसके घटने में बुद्धि प्रत्यक्षतः कोई काम नहीं करती। हाँ, परोक्षतः अवश्य करती है, लेकिन परोक्षतः तो ध्वनि, रूप, वाक्य आदि अन्य में भी काम करती है, तो क्या सभी के नियम बौद्धिक नियम हैं ? शायद नहीं। इस प्रकार, इसके लिए बौद्धिक नियम का नाम जितना सार्थक है, उतना ही निरर्थक भी।

विशेष भाव के नियम के दूसरे प्रकार के उदाहरणों के रूप में पुरानी भाषाओं के रूपों की विभक्तियों के स्थान पर कारक-चिह्नों या परसर्गों का प्रयोग माना जाता है। उदाहरणार्थ, 'रामस्य' के स्थान पर 'राम का' अर्थात् '-स्य' विभक्ति के स्थान पर 'का'। इस प्रसंग में कहा जाता है कि ये शब्द अपना अर्थ छोड़कर केवल एक विशेष व्याकरणिक अर्थ देने लगते हैं। अर्थात्, उनका अलग व्यक्तित्व (अर्थयुक्त) समाप्त हो जाता है। सच पूछा जाय तो अर्थादेश के अन्य उदाहरणों से तात्त्विक दृष्टि से इस वर्ग के उदाहरणों की स्थिति बहुत भिन्न नहीं है, साथ ही जान-बूझकर या बुद्धि के

२. **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ** (पाणिनि)

३. **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (पाणिनि)

प्रयत्न से इनका प्रयोग भले हो, अर्थ का यह परिवर्तन (या व्यक्तित्व खोकर functional word बन जाना) बौद्धिक प्रयास से उत्पन्न न होकर बहुत सहज है। ऐसी स्थिति में इसे भी बौद्धिक नियम के अन्तर्गत मानना सार्थक नहीं कहा जा सकता।

बौद्धिक नियम के रूप में तो नहीं, किन्तु यों अर्थविज्ञान और अर्थ-परिवर्तन के अन्तर्गत ऐसे शब्दों का अर्थ-विकास 'विशेष भाव का नियम' माना जा सकता है, जहाँ एक शब्द पहले सामान्य अर्थ रखता था, और बाद में विशेष अर्थ रखने लगा। उदाहरणार्थ, द्रविड़ शब्द 'पिल्ला' का प्राचीन अर्थ था सामान्य रूप से 'बच्चा' या 'शावक', किन्तु हिन्दी आदि में वह अपनी सामान्यता खोकर विशेष अर्थ (कुत्ते का बच्चा) रखने लगा। कहना न होगा कि अर्थ-संकोच के सभी उदाहरण इसी श्रेणी के हैं।

(२) अर्थोद्योतन या उद्योतन का नियम (Law of Irradiation)—उद्योतन (या irradiation) का अर्थ है 'चमकना'। जब शब्द में एक नया अर्थ चमक जाता है तो उसे इस नियम में रखते हैं। इसके अन्तर्गत कई प्रकार की अर्थ-विकास की प्रवृत्तियाँ ली जाती हैं: (१) कभी-कभी देखा जाता है कि कोई प्रत्यय किसी अच्छे अर्थ से सम्बद्ध हो जाता है, (२) और कभी इसके उल्टे किसी बुरे अर्थ से। (३) कभी-कभी अच्छा या बुरा आदि न होकर कोई नया अर्थ ही उससे संबद्ध हो जाता है। (४) कभी-कभी सादृश्य के आधार पर एक शब्द के समानान्तर बहुत से शब्द बन जाते हैं, और फिर उन सबके आधार पर मूल शब्द की प्राकृति का कोई अंश ही प्रत्यय मान लिया जाता है, और इस प्रकार उसमें एक नया अर्थ आ जाता है। (५) इसी प्रकार, कभी-कभी पूरी प्रकृति प्रत्यय बन जाती है। ये सारे विकास अर्थोद्योतन के हैं।

कुछ प्रत्ययों के उदाहरण लिये जा सकते हैं। जर्मन प्रत्यय—hard का विकसित रूप—ard के रूप में फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी में प्रयुक्त होता है। मूलतः इसका अर्थ खराब नहीं था। अंग्रेजी में भी standard या placard में इसका अर्थ बुरा नहीं है। लेकिन संयोग से इसका प्रयोग बुरे शब्दों के साथ विशेष हुआ, अतः अब यह बुरे अर्थ का ही प्रत्यय माना जाता है, जैसे dullard, coward, sluggard, drunkard या bastard आदि में।—ish की भी यही दशा है। आरम्भ में यह विशेषण बनाने का सामान्य प्रत्यय था, जैसे पुरानी अंग्रेजी में foloish (=popular) या English, Danish, British। बाद में रंगों को हलका रूप देने के लिये इसका प्रयोग होने लगा जैसे reddish, brownish, whitish। अब इसका प्रयोग बुरे अर्थों के प्रत्यय के रूप में अधिक प्रचलित है, जैसे hellish, devilish, knavish, fiendish, foolish, thievish, childish, boyish, girlish, foppish तथा swinish आदि। हिन्दी का '-हा' प्रत्यय पहले सामान्य अर्थ देता था, जैसे बइरहा, मरकहा या मरखहा, कटहा, स्कुलिहा, पुरबिहा, पछवँहा, उतरहा, किन्तु अब इसका प्रयोग घमंड के अर्थ में विशेष हो रहा है। 'रुपयहा' का अर्थ केवल 'रुपये वाला' नहीं है, अपितु है 'जिसे अपने रुपये का घमंड हो'। मोटरहा, सवँगहा, कुर्सिहा, कितबहा भी ऐसे ही हैं। 'देहात' में 'ई' लगा कर 'देहाती' शब्द बना। गलती से किसी ने इसमें 'ई' के स्थान पर 'आती' को प्रत्यय

भिन्नार्थी हो गये हैं, अर्थात् इनमें भेदभाव हो गया और डॉक्टर एलोपैथी या होमियो-पैथी का है, हकीम यूनानी का है और वैद्य आयुर्वेद का। इनके इस विकास में भेदीकरण के नियम ने काम किया है। ये तीनों शब्द तीन भाषाओं के थे। एकभाषा के शब्दों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। अंग्रेजी में child, tot, mite, imp, brat, calf, kid, colt, cub, urchin आदि एक दर्जन से ऊपर शब्द हैं, जिनका अर्थ 'बच्चा' है। अब इनका प्रयोग एक अर्थ में नहीं होता। child, tot, mite, imp और brat में उम्र या अच्छाई-बुराई आदि की दृष्टि से अन्तर हो गया है तो child, calf, colt, cub, kid आदि विभिन्न जीवों के बच्चों के नाम हो गए हैं। इस प्रकार, इनमें भेदीकरण आ गया है। एक तत्सम शब्द से विकसित तद्भव शब्दों में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे सं० वत्स से बच्चा (आदमी), बछेड़ा (घोड़ा) और बाछा (गाय), या सं० पत्र से पत्ता (पेड़ या ताश); पत्तर (धातु); पतरी (जे ही पतरी में खायें, वो ही में छेद करें) या पत्तल (पत्ते का बना)।

सच पूछा जाय तो यह भी अर्थ-संकोच है, जो कभी-कभी अर्थादेश रूप में भी दिखाई देता है। विशेष भाव के प्रसंग में अन्त में दिये गये उदाहरणों में इनमें मात्र अन्तर यह है कि उसमें एक शब्द में संकोच देखा गया था, यहाँ समानार्थी कई शब्दों में तुलनात्मक दृष्टि से वह देखा जा रहा है।

इस प्रसंग में यह जोड़ देना आवश्यक है कि सच्चे अर्थों में किसी भी भाषा में पर्यायवाची शब्द प्रायः नहीं होते। व्यर्थ में एक भाव के लिए दो शब्दों का भार भाषा बर्दाश्त नहीं कर सकती। बोलचाल की भाषा तो ऐसा बिल्कुल ही नहीं करती, साहित्यिक भाषा में भी विशुद्ध पर्याय अपवादस्वरूप ही शायद कुछ मिलें तो मिलें। कोशों के अर्थ के आधार पर हम प्रायः जिन शब्दों को पर्याय समझते हैं, वे वस्तुतः पर्याय होते नहीं। यह ध्यातव्य है कि शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से एक शब्द के सारे प्रयोगों के स्थान पर यदि दूसरा कोई पर्यायवाची शब्द रखा जाय और अर्थ या उसकी सूक्ष्म छाया में कोई जरा भी भेद न पड़े, तब वे दो शब्द पर्याय कहे जायेंगे। ऐसी स्थिति शायद ही कभी मिले। इसीलिए, पर्याय का अर्थ 'बिल्कुल समानार्थी' शब्द नहीं है, अपितु 'मिलते-जुलते अर्थों वाले शब्द' है।

'जल' और 'पानी' पर्याय समझे जाते हैं। सामान्य दृष्टि से यह ठीक है, लेकिन सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों हर स्थान पर एक दूसरे की जगह नहीं ले सकते। 'जल पी लो', 'पानी पी लो' में सामान्यतः कोई अन्तर नहीं है, लेकिन 'जलपान कर लो' के स्थान पर 'पानीपान कर लो' कभी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, वह 'उपवन-उपवन' या 'बगीचा-बगीचा' हो गया भी नहीं कहा जा सकता, जिसका अर्थ यह हुआ कि 'बाग़' के ये सच्चे पर्याय नहीं हैं। यही बात प्रायः सभी तथाकथित पर्यायों के बारे में सत्य है। डॉक्टर अँग्रेजों के लिये, हकीम अरब के लिए, वैद्य संस्कृतज्ञ के लिए निश्चय ही समानार्थी थे, किन्तु ज्योंही ये

तीनों हिन्दी में आये, इनके साथ इनकी परम्परागत औषध-पद्धतियाँ भी आईं। इस प्रकार, आरम्भ से ही इनमें इस प्रकार का अन्तर था।

सूक्ष्मता से विचार करने पर ऐसा आधार मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सच्चे अर्थों में किसी भी भाषा में समानार्थी शब्द प्रायः नहीं होते। जो समानार्थी लगते हैं, उनमें भी कुछ न कुछ भेद रहता है और उस भेद के विकास को ही हम भेदीकरण मानते हैं। बुद्धि जानबूझकर ऐसा कोई भेद शायद नहीं उपस्थित करती। इसीलिए, अन्यों की भाँति यह भी बौद्धिक नियम संज्ञा का अधिकारी नहीं है।

(६) **सादृश्य का नियम** (Law of Analogy)—इस नियम को डॉ० श्यामसुन्दर दास ने 'उपमान का नियम' कहा है। वस्तुतः यह उपमान का नियम न होकर 'सादृश्य' या 'समानता' का नियम है। इसके सम्बन्ध में ब्रील कहते हैं, "मनुष्य स्वभावतः अनुकरणप्रिय प्राणी है। यदि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई नया शब्द बनाना होता है, तो वह किसी पहले से वर्तमान शब्द के सादृश्य (analogy) पर नये शब्द का निर्माण कर लेता है।" पुराने शब्दों या रूपों के आधार पर नये शब्दों या रूपों को गढ़ लेना ही सादृश्य का नियम है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में धातु में 'आ' जोड़कर भूतकालिक कृदन्त बनाते हैं। जैसे 'पढ़्' से 'पढ़ा', 'लिख्' से 'लिखा', 'रुक्' से 'रुका' आदि। इसी आधार पर लोग 'कर' से 'करा' बना लेते हैं, और प्रयोग करते हैं। यों 'कर्' का परम्परागत रूप 'किया' है। इस प्रकार, शब्दों के सादृश्य पर दूसरे शब्द बना लेना 'सादृश्य का नियम' है। इस प्रसंग में कई उदाहरण दिये जाते हैं। कुछ यहाँ देखे जा सकते हैं। मूल भारोपीय भाषा में उत्तम पुरुष के लिए वर्तमानकालिक रूप बनाने में '—* मि' तथा '—ओ' दो प्रत्ययों का प्रयोग चलता था। प्रथम का प्रयोग अथीमटिक (nonthematic) धातुओं में तथा दूसरे का थीमटिक धातुओं में होता था। संस्कृत में हम देखते हैं कि सर्वत्र '—मि' का ही प्रयोग है। इसका आशय यह है कि '—मि' अंत वाले रूपों के सादृश्य पर ही संस्कृत के सारे रूप धीरे-धीरे बन गए '-ओ' वाले रूप वैदिक 'ब्रवो' आदि कुछ में ही हैं। दूसरी ओर, ग्रीक में इसके ठीक उलटा हुआ और कुछ अपवादों को छोड़ कर सभी रूप '-ओ' अंत वाले रूपों के आधार पर बनने लगे। जैसे सं० 'भरामि' के स्थान पर psero। लैटिन fero भी वही है। इस तरह कुछ रूपों के सादृश्य पर रूप बन जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत में संज्ञा की करण एकवचन विभक्ति मूलतः '—आ' थी। वैदिक संस्कृत में 'यज्ञा', 'महित्वा' आदि उदाहरण के लिए देखे जा सकते हैं। बाद में 'मे' सर्वनामों (जहाँ '—न' मूलतः था, सं० तेन, वैदिक त्येन, प्रा० फारसी त्यना) के सादृश्य पर संज्ञा शब्दों में भी '—न' आ गया। इसी प्रकार, मूलतः भारोपीय सम्बन्ध कारक की बहुवचन विभक्ति '—आम्' थी। उदाहरणार्थ, ग्रीक ippon, लैटिन deum, वैदिक चरताम्, नराम्। 'न्' अन्त वाले प्रातिपादिकों के रूपों, जैसे 'आत्मनाम्' के सादृश्य पर बाद में बहुतों के अन्त में 'आम्' के स्थान पर 'नाम्' लग गया। इस प्रकार के रूप भारत में आर्यों के आने से पहले ही बनने लगे थे, क्योंकि प्राचीन फारसी में भी बग (एक देवता) से 'बगा-

नाम्' रूप मिलता है। अंग्रेजी में इसी प्रकार निर्बल क्रिया '-ed' से बनने वाले रूपों के सादृश्य पर बहुत अधिक क्रियाएँ अपना रूप चलाने लगी। यदि चासर, शेक्सपीयर तथा आज की अंग्रेजी की तुलना करें तो ऐसी अनेक क्रियाएँ मिलेंगी, जो कभी सबल थीं, किन्तु आज निर्बल हो चुकी हैं। ब्रील के अनुसार, इस प्रकार के रूप (क) अभिव्यक्ति की कोई कठिनाई दूर करने के लिए, (ख) अभिव्यक्ति में अधिक स्पष्टता लाने के लिए, (ग) असमानता (antethesis) या समानता (similarity) पर बल देने के लिए, तथा (घ) किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम से संगति मिलाने के लिए, इन चारों में किसी एक या अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। प्रथम में वे सारे रूप आते हैं जो अपवादों को छोड़कर सामान्य नियमों या रूपों के सादृश्य पर बनाए जाते हैं जैसे अंग्रेजी में क्रियाओं के '-ed' वाले रूप। इससे अभिव्यक्ति की कठिनाई दूर होती है। रूप सरलता से बन जाते हैं। किन्तु, यह ध्यान रहे कि जानबूझकर ऐसा नहीं करते। अनजान में ऐसे रूप सादृश्य के आधार पर बनते हैं तथा मुँह से निकल आते हैं। ऐसे प्रयोग मूलतः अशिक्षित लोगों से प्रायः आरम्भ होते हैं। असावधानी में बच्चों या भारतीयों आदि अनांग्लभाषियों के मुँह से कभी-कभी *Broadcasted* या *Catched* जैसे रूप सुनाई पड़ जाते हैं। 'ख' में भी वही उदाहरण रक्खे जा सकते हैं, क्योंकि नियमित रूप अधिक शीघ्र तथा स्पष्ट रूप से समझे जा सकते हैं। तीसरे में मराठी का 'दाक्षिणात्य' आदि के सादृश्य पर पाश्चात्य के स्थान पर 'पाश्चिमात्य'; या हिन्दी में 'सुन्दर' के असमान 'बुरा' आदि को छोड़कर 'असुन्दर' का प्रयोग आदि आ सकते हैं। चौथे में—लोगों का सीधे भूगोलिक, इतिहासिक जैसे रूप बना लेना आ सकता है।

यहाँ भी वही प्रश्न उठता है कि क्या ये अर्थ-विकास के बौद्धिक नियम के अन्तर्गत आ सकते हैं? संभवतः नहीं। यह तो भाषा के धीरे-धीरे कठिन से सरल, अनियमित से नियमित बनने या फिर सादृश्य के आधार पर रूप-परिवर्तन या नवरूप-निर्माण की कहानी है।

(७) **नवप्राप्ति का नियम (Law of New Acquisition)**—इसे 'नये लाभ' आदि अन्य नामों से भी अभिहित किया गया है। ब्रील का कहना है कि जिस प्रकार भाषा में पुराने अर्थ, रूप, शब्द, प्रयोग आदि समाप्त होते रहते हैं, उसी प्रकार नये अर्थ, रूप, शब्द आदि आते या विकसित भी होते रहते हैं। इसके उदाहरण सभी भाषाओं में मिलते हैं। हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में कारक-विभक्तियों के घिस जाने पर स्वतंत्र शब्दों का परसर्ग रूप में प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार, संयोगात्मक क्रियारूपों (तिङन्त) के घिसने पर सहायक क्रिया तथा कृदन्तों के आधार पर संयुक्त काल बनने लगे हैं। संस्कृत में मूलतः जो उपसर्ग थे। बाद में सम्बन्धसूचक अव्यय के रूप में भी प्रयुक्त होने लगे। जैसे—तया, सह, अर्थं, बिना। इसी प्रकार, विश्वभाषाओं का इतिहास बतलाता है कि कर्मवाच्य का बाद में विकास हुआ। क्रिया-विशेषण भी विशेषण, सर्वनाम या संज्ञा से बाद में बने, पहले नहीं थे।

इनमें कुछ परिवर्तनों के पीछे बुद्धि अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य कार्य कर रही है, किन्तु बौद्धिक नियम के अन्तर्गत रखने से अधिक अच्छा कदाचित् यह होगा कि इसे

बौद्धिक कारण के रूप में अर्थ-विकास के अन्य कारणों के साथ रखा जाय तथा इसके उदाहरणों को यथोचित दिशाओं में स्थान दे दिया जाय।

(८) **अनुपयोगी रूपों के विलोप का नियम** (Law of Extinction of Useless Forms)—जैसे नये रूप आदि भाषा में आते रहते हैं, उसी प्रकार पुराने रूप किसी न किसी कारण से विलुप्त होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, संस्कृत में 'या' और 'गम्', जाना अर्थ में दो धातुएँ थीं। दोनों के रूप अलग-अलग चलते थे। हिन्दी में भी दोनों के रूप हैं; किन्तु 'गम्' के सभी रूप नहीं हैं। 'या' धातु से बनने वाले रूप सभी हैं, किन्तु भूत कृदंत का रूप होते हुए भी सामान्यत: नहीं प्रयुक्त होता। वह 'जाया जाता', 'जाया करता' आदि में ही आता है। 'वह जाया' (He went) नहीं होता। दूसरी ओर 'गम्' धातु से बनने वाला कोई भी रूप नहीं है, केवल भूत कृदंत रूप ही रह गया है—'गया'। इस प्रकार, 'या' धातु का एक रूप अल्पप्रयुक्त हो गया और दूसरी ओर 'गम्' के एक को छोड़ कर सारे रूप विलुप्त हो गये। ये रूप जानबूझ कर लुप्त नहीं किए गए, अपितु प्रचलन में कमी-बेशी होते-होते कुछ रह गये, कुछ लुप्त हो गये। यहाँ तक कि अब 'गम्' और 'या' दोनों के अवशिष्ट रूप हिन्दी में केवल एक ही धातु 'जा' के रूप माने जाते हैं। 'गया' भी 'जा' का ही रूप कहा जाता है, यद्यपि जैसा कि ध्वनि से स्पष्ट है, यह 'गम' का है।

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, बंगाली आदि विश्व की किसी भी भाषा को लिया जाय, सभी में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। एक मूल या प्रातिपदिक के रूपों में कुछ रूप तो उसके अपने होते हैं, और कुछ किसी और प्रातिपदिक के होते हैं। इस प्रकार, दो या अधिक प्रातिपदिकों के कुछ रूप लुप्त हो जाते हैं और शेष के सारे एक प्रातिपदिक के रूप माने जाने लगते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत उत्तम पुरुष 'अस्मद्' के द्वितीया के रूप लें—

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
माम्, मा	आवाम्, नौ	अस्मान्, नः

स्पष्ट ही ये सारे के सारे एक प्रातिपदिक के नहीं हो सकते। इनमें कम से कम चार प्रातिपदिकों—(क) माम्, मा, (ख) आवाम्, (ग) नौ,नः (घ) अस्मान्—के संकेत मिलते हैं। अर्थात्, चारों के कभी अलग-अलग रूप रहे होंगे, बाद में सभी के कुछ-कुछ रूप विलुप्त हो गए होंगे, और शेष मिलकर अब एक 'अस्मद्' के रूप माने जाते हैं। अस्मद् के मूलतः केवल वे रूप हैं, जिनमें 'अस्म' आता है। इसी प्रकार, 'तद्' (वह) का प्रथमा एकवचन रूप 'स' मूलतः 'तद्' का रूप नहीं हो सकता। वैदिक संस्कृत में 'तस्मिन्' के स्थान पर 'सस्मिन्' तथा 'तस्मात्' के स्थान पर 'सस्मात्' देखकर यह अनुमान लगता है कि 'तद्' के साथ-साथ एक प्रातिपदिक 'सद्' भी कभी रहा होगा। धीरे-धीरे उसके सारे रूप विलुप्त हो गए। अब केवल 'सः' ही शेष है।

इस प्रकार के लोप भाषा में होते तो हैं, किन्तु अर्थ से इनका क्या सम्बन्ध? दूसरे क्या ये लोप जानबूझकर किये जाते हैं? शायद नहीं। इस प्रकार यह भी अर्थ-

परिवर्तन का 'बौद्धिक नियम' नहीं कहला सकता।

निष्कर्ष यह निकला कि इन नियमों में—

(क) कइयों का सम्बन्ध तो अर्थ-परिवर्तन से है ही नहीं, अतः अर्थ-परिवर्तन या अर्थविज्ञान के प्रसंग में उनकी चर्चा व्यर्थ है।

(ख) कुछ में अर्थ-परिवर्तन होता है, किन्तु उनके पीछे बौद्धिक कारण नहीं है, अतः उन्हें बौद्धिक नियम नहीं कहा जा सकता।

(ग) कुछ थोड़े ऐसे भी हैं, जिनमें अर्थ-परिवर्तन होता है, तथा जिनके पीछे अप्रत्यक्षतः बौद्धिक कारण भी माने जा सकते हैं, किन्तु उन्हें 'बौद्धिक नियम' शीर्षक से अलग न रखकर अर्थ-परिवर्तन के प्रसंग में, 'बौद्धिक कारण' रूप में कारणों में, तथा इनके उदाहरणों को अर्थादेश आदि अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं में रखना अधिक समीचीन होगा।

अभिधा, लक्षणा, व्यंजना (जिन्हें शब्द-शक्ति कहा जाता है) तथा ध्वनि भी अर्थ के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बद्ध हैं। उनका विचार काव्यशास्त्र की पुस्तकों में बहुत विस्तार से मिल जाता है; इसीलिए यहाँ उन्हें छोड़ दिया गया है।

ध्वनिविज्ञान [स्वनविज्ञान] | ८

ध्वनि (स्वन) के अध्ययन से सम्बद्ध शास्त्र या विज्ञान के लिए अंग्रेज़ी में आज प्रमुखतः फ़ोनेटिक्स और फ़ोनॉलॉजी (Phonetics, Phonology) ये दो शब्द चल रहे हैं। स्पष्ट ही दोनों का सम्बन्ध ग्रीक शब्द 'Phone' से है, जिसका अर्थ 'ध्वनि' है। 'टिक्स' और 'लॉजी' प्रयोगतः 'विज्ञान' के समानार्थी हैं। इस प्रकार दोनों ही एक प्रकार से ध्वनि के विज्ञान हैं, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से इनमें थोड़ा अन्तर है। 'फ़ोनेटिक्स' में हम सामान्य रूप से ध्वनि की परिभाषा, भाषा-ध्वनि, ध्वनियों के उत्पन्न करने के अंग, ध्वनियों का वर्गीकरण और उनका स्वरूप, उनकी लहरों का किसी के मुँह से चलकर किसी के कान तक जाना तथा सुना जाना, एवं उनमें विकार आदि बातों पर विचार करते हैं। साथ ही भाषा-विशेष की ध्वनियाँ, उनका उच्चारण तथा वर्गीकरण आदि भी इसी के अन्तर्गत आता है। 'फ़ोनॉलॉजी' में भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था इतिहास तथा परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है। यों ध्वनि के अध्ययन के ये दो प्रमुख विभाग तो हैं, किन्तु इनके लिए क्रमशः 'फ़ोनेटिक्स' और 'फ़ोनॉलॉजी' इन दो पारिभाषिक नामों का जो प्रयोग किया गया है, वह सार्वभौम नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो उन्हें इस रूप में माना है, किन्तु अन्यों का प्रयोग इससे भिन्न भी है। कुछ लोग दोनों अर्थों में 'फोनेटिक्स' का ही प्रयोग करते हैं, तो कुछ लोग ध्वनि-अध्ययन के वर्णनात्मक रूप (भाषा सामान्य का या एक भाषा का) को एककालिक 'फ़ोनेटिक्स' (Synchronic Phonetics कहते हैं और ऐतिहासिक रूप को 'हिस्टॉरिकल फ़ोनेटिक्स' या (Diachronic Phonetics) कुछ अन्य लोग 'फ़ोनॉलॉजी' के अन्तर्गत ही सभी को स्थान देते हैं। कुछ लोग 'फ़ोनेटिक्स' और 'फ़ोनॉलॉजी' को पर्याय के रूप में भी प्रयोग करते रहे हैं, यद्यपि अब ऐसा प्रायः नहीं हो रहा है। आजकल प्रायः 'फ़ोनेटिक्स' का प्रयोग ध्वनि के भाषा-निरपेक्ष अध्ययन के लिए किया जाता है जिसमें सामान्य रूप से ध्वनियों का उच्चारण, वर्गीकरण आदि आते हैं, तो फ़ोनॉलॉजी का प्रयोग भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था के लिए।

संस्कृत में ध्वनिविज्ञान का पुराना नाम 'शिक्षाशास्त्र' था। हिन्दी में इस प्रसंग में 'फ़ोनेटिक्स' के लिए मुख्यतः ध्वनिविज्ञान, ध्वनिशास्त्र अथवा स्वनविज्ञान आदि तथा 'फ़ोनॉलॉजी' के लिए ध्वनि-प्रक्रिया, स्वन-प्रक्रिया या स्वनिमविज्ञान आदि नाम

प्रयुक्त हो रहे हैं। एकरूपता की दृष्टि से फ़ोनेटिक्स के लिए ध्वनिविज्ञान या स्वन-विज्ञान और 'फ़ोनॉलॉजी' के लिए 'ध्वनिप्रक्रिया' स्वप्नप्रक्रिया या स्वनिम विज्ञान का प्रयोग किया जा सकता है।

ध्वनि-अध्ययन के आधार

इसके तीन आधार हैं, उच्चारण, प्रसरण या संवहन तथा श्रवण। इसी आधार पर ध्वनिविज्ञान की मुख्यतः तीन शाखाएँ मानी जाती हैं : (१) **औच्चारणिक ध्वनि-विज्ञान** (Articulatory Phonetics)—जिसमें उच्चारण और उससे संबद्ध बातों का अध्ययन होता है; (२) **सांवहनिक या प्रासरणिक ध्वनिविज्ञान** (Acoustic Phonetics)—जिसमें उच्चारण के फलस्वरूप बनने वाली ध्वनि-लहरों का अध्ययन होता है। इस अध्ययन में प्रायः काइमोग्राफ़, स्पेक्टोग्राफ, ऑसिलोग्राफ़ आदि यंत्रों से सहायता ली जाती है; (३) **श्रावणिक ध्वनिविज्ञान** (Auditory Phonetics)—इसमें ध्वनियों के सुने जाने का अध्ययन होता है। स्पष्ट ही पहली शाखा का सम्बन्ध बोलने वाले से, तीसरी का सुनने वाले से, और दूसरी का ध्वनियों की वाहिनी तरंगों, उनके स्वरूप तथा गति आदि से, अर्थात् दोनों शाखाओं की बीच की स्थिति से है।

औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान (Articulatory Phonetics)

ध्वनियों का उच्चारण वाग्यंत्र (Vocal apparatus) से होता है, जिसे **उच्चारण अवयव** (vocal organ) भी कहते हैं :—

१. उपालिजिह्व (Pharynx, गलबिल, कंठ, कंठमार्ग)
२. भोजन-नलिका (Gullet)
३. स्वर-यंत्र (कंठ-पिटक, ध्वनि-यंत्र, Larynx)
४. स्वरयंत्र-मुख (काकल, Glottis)
५. स्वर-तंत्री (ध्वनि-तंत्री (Vocal Chord)
६. स्वरयंत्र-मुख-आवरण (अभिकाकल, स्वरयंत्रावरण Epiglottis)
७. नासिका-विवर (Nasal Cavity)
८. मुख-विवर (Mouth Cavity)
९. अलिजिह्व (कौवा, घंटी, शुंडिका, Uvula)
१०. कंठ (Gutter)
११. कोमल तालु (Soft Palate)
१२. मूर्द्धा (Cerebrum)
१३. कठोर तालु (Hard Palate)
१४. वर्त्स[1] (Alveola)
१५. दाँत (Teeth)
१६. ओष्ठ (Lip)

---

१. वैदिक साहित्य में शुद्ध शब्द 'वर्स्व' है, जिससे 'वर्स्व्य' विशेषण बनता है। अब अशुद्ध शब्द 'वर्त्स तथा उसके विशेषण 'वर्त्स्य' ही प्रचलित हो गये हैं।
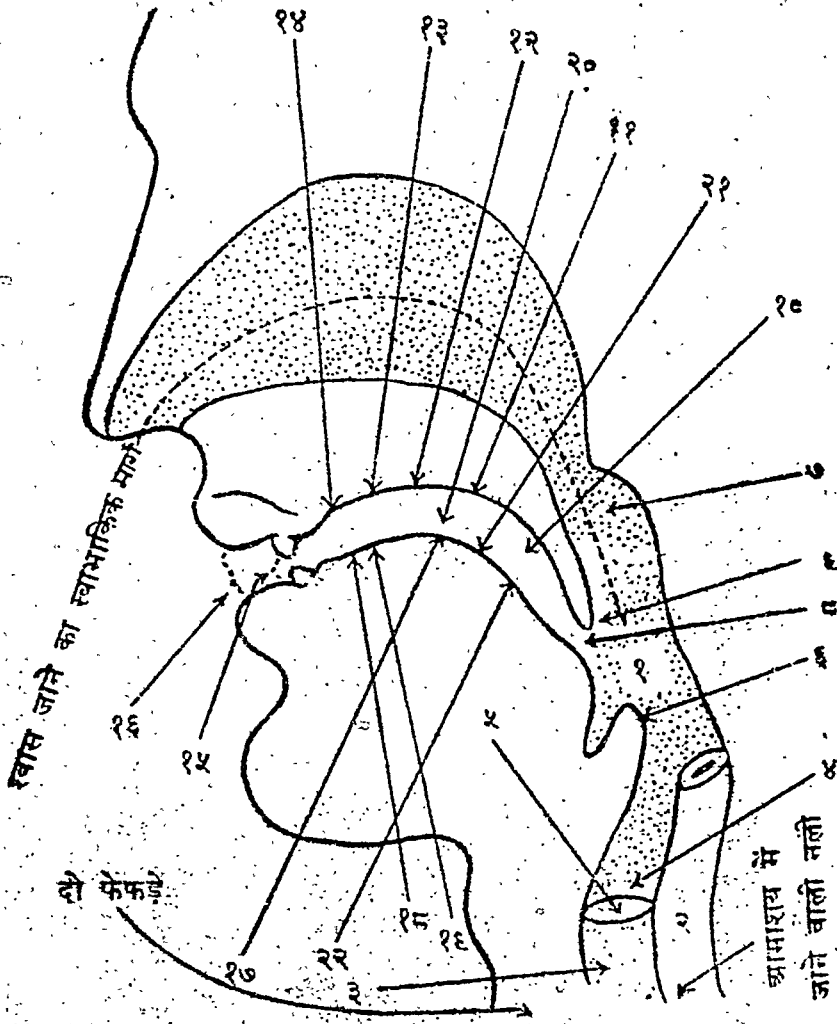
ध्वनि-यन्त्र का चित्र

१७. जिह्वामध्य (Middle of the tongue)

१८. जिह्वानोक (जिह्वानीक, Tip of the tongue)

१९. जिह्वाग्र (जिह्वा-फलक Front of the tongue)

२०. जिह्वा (Tongue)

२१. जिह्वा-पश्च (जिह्वापृष्ठ, पश्च-जिह्वा, Back of the tongue)

२२. जिह्वामूल (Root of the tongue)

चित्र में जहाँ नं० ३ में तीर की नोक है, वह श्वास-नलिका (wind pipe) है। उपर्युक्त अवयव दो वर्गों में रखे जा सकते हैं :

(क) **चल अवयव**—इन अवयवों को ऊपर उठाकर या नीचे ले जाकर ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। इन्हीं को **करण** (articulator) भी कहते हैं। नीचे का ओष्ठ (जबड़े के साथ), जीभ और उसके विभिन्न भाग तथा स्वरतंत्रियाँ

इस वर्ग में आती हैं। नीचे के ओष्ठ तथा जीभ मुँह में नीचे के भाग हैं, अतः उनके आधार पर कभी-कभी केवल निचली स्वरतंत्री को ही करण कहते हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि दोनों ही स्वरतंत्रियाँ चल होने के कारण करण का कार्य करती हैं, साथ ही ये उच्चारण-स्थान भी हैं।

(ख) अचल अवयव—ऊपर के दाँत, ऊपर का ओष्ठ, तालु के विभिन्न भाग इसके अन्तर्गत आते हैं। ये चल नहीं हैं। इनसे स्थान का बोध होता है। अलिजिह्व या कौवे की स्थिति कुछ अजीब है। यों तो यह चल अवयव है, किन्तु मुँह में ऊपर है और ऊपर के अवयव अचल हैं अतः स्थान-संकेतक हैं, इसीलिए इसे भी प्रायः उन्हीं की श्रेणी में रखा जाता है।

श्वास-नलिका, भोजन-नलिका और अभिकाकल—हम प्रतिक्षण नाक के रास्ते से हवा अपने फेफड़े में पहुँचाते रहते हैं। जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखलाया गया है। साँस श्वास-नलिका में होती हुई फेफड़ों में पहुँचती है और उन्हें स्वच्छ कर वह फिर उसी पथ से बाहर निकल जाती है। श्वास-नलिका के पीछे भोजन-नलिका है, जो नीचे आमाशय तक जाती है। इन दोनों (श्वास तथा भोजन) नलिकाओं के बीच में दोनों को पृथक् करने के लिए एक दीवाल है। भोजन-नलिका के विवर के साथ श्वास-नलिका की ओर झुकी हुई एक छोटी-सी जीभ है, जिसे अभिकाकल[1] या स्वर-यंत्रमुख-आवरण (epiglottis) कहते हैं। भोजन या पानी जब मुँह के रास्ते भोजन-नलिका के मुख के पास आता है, तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुक कर श्वास-नलिका को बन्द कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन-नलिका में चला जाता है। यदि श्वास-नलिका बन्द न हो तो जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, भोजन और पानी इसी नलिका में चले जायें और मनुष्य की तुरन्त ही मृत्यु हो जाय। खाते समय कभी-कभी असावधानी के कारण जब अन्न के एक-आध टुकड़े श्वास-नलिका में चले जाते हैं तो बुरी दशा हो जाती है और फेफड़े की हवा शीघ्र ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे लौटा देती है। पानी पीते समय भी यदि पानी 'सरक' जाता है तो इसी प्रकार की सुरसुरी आ जाती है। हमारे यहाँ खाते समय बात करना संभवतः इसीलिए वर्जित है, क्योंकि बात करते समय श्वास-नलिका को खुला रखना ही पड़ता है।

---

१. इस अंग का यों तो बोलने से बहुत सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु कुछ ध्वनिविदों के अनुसार मौखिक संगीत में यह कुछ काम करता है। साथ ही आ, ऑ के उच्चारणों में यह पीछे खिचकर स्वर-यंत्रमुख के पास चला जाता है और ई, ए के उच्चारण में यह बहुत आगे खिंच जाता है।

भोजन या पानी का स्वाभाविक मार्ग मुँह से होते भोजन-नलिका में है। इसी प्रकार श्वास या वायु का स्वाभाविक पथ नासिका-विवर में होते हुए श्वास-नलिका में है। सभी जानवर इस स्वाभाविक पथ का ही अनुसरण करते हैं, पर मनुष्य मस्तिष्क-प्रधान होने के कारण स्वाभाविकता या प्रकृति के विरुद्ध जाता है। यहाँ भी उसने कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए भोजन-पानी और श्वास के स्वाभाविक मार्ग का परित्याग कर दिया है। साधू लोग ठोस भोजन तो नहीं, पर दूध और पानी आदि द्रव पदार्थ कभी-कभी नाक से पीते देखे जाते हैं, दूसरी ओर बोलते समय सभी लोग श्वास-नलिका के साथ-साथ मुँह को भी वायु के आने-जाने का मार्ग बना देते हैं, जो कि नितान्त अस्वाभाविक है। पशु बोलते भी हैं तो वायु का अधिक भाग उनकी नाक से ही निकलता है। यही कारण है कि उनकी ध्वनि सर्वदा अनुनासिक होती है। हम लोगों की भाषा में भी कभी-कभी कुछ शब्दों में अकारण अनुनासिकता (spontaneous nasalization) आ जाती है (सर्प से साँप या वक्र से बाँका), जो शायद इसी बात को प्रदर्शित करता है कि नाक से बोलना ही हमारे लिए भी अधिक प्रकृत या स्वाभाविक है।

स्वर-यंत्र, स्वर-यंत्रमुख और स्वर-तंत्री—श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल से कुछ नीचे ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव होता है, जिसे ध्वनि-यंत्र या स्वर-यंत्र कहते हैं। बाहर गले में (दुबले पुरुषों में) जो उभरी घाँटी (टेंटुआ या Adam's Apple) दिखाई पड़ती है, वह यही है। यहाँ श्वास-नलिका कुछ मोटी होती है। 'स्वर-यंत्र' में पतली झिल्ली के वने दो लचीले परदे या कपाट होते हैं, जिन्हें स्वर-तंत्री या स्वर-रज्जु कहते हैं। वस्तुतः इनका यह नाम (vocal chord) उचित नहीं है। ये ओष्ठ-जैसे होते हैं, अतः इन्हें 'स्वर-ओष्ठ' कहना अधिक सही है। इन परदों, स्वर-तंत्रियों या स्वर-ओष्ठों के बीच के खुले भाग को स्वर-यंत्रमुख या काकल (glottis) कहते हैं। साँस लेते समय या बोलते समय हवा इसी मुख से होकर बाहर-भीतर जाती है। इन स्वर-तंत्रियों का मूल या प्राकृतिक काम है—बोझ उठाते समय या इसी प्रकार के अन्य कामों के समय हवा को रोक कर हमारी शक्ति और हिम्मत को अपेक्षाकृत बढ़ा देना। किन्तु, अब बोलने में—जो निश्चय ही कृत्रिम या बाद में विकसित है—हम इन स्वर-तंत्रियों के सहारे कई प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। ऐसा करने के लिए स्वर-तंत्रियों को कभी तो एक-दूसरे के समीप लाना पड़ता है और कभी दूर रखना पड़ता है। जो लोग रुक-रुक कर बोलते या हकलाते हैं, वे किसी शारीरिक या मानसिक कमी के कारण इन स्वर-तंत्रियों को आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में खोल या बन्द करने में असमर्थ होते हैं।

स्वर-तन्त्रियों[1] के इस प्रकार समीप आने या दूर हटने से (साथ ही तनने आदि से) कई प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। बहुत सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन स्थितियों की संख्या लगभग एक दर्जन है, जिनमें अधिक महत्वपूर्ण निम्नांकित ६-७ हैं :

(१) स्वर-तन्त्रियाँ एक-दूसरी से सबसे अधिक दूर 'श्वास लेने' (inhalation) की स्थिति में होती हैं। इस स्थिति में काकल या स्वर-यंत्रमुख एक पंचभुज की स्थिति में और बहुत अधिक चौड़ा होता है (आगे चित्र नं० १)।

(२) दूसरी स्थिति है प्रश्वास (exhalation) की। साँस निकालते समय स्वर-तंत्रियाँ श्वास लेते समय की तुलना में एक-दूसरे के निकट होती हैं और इस प्रकार स्वर-यंत्रमुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। इस स्थिति में स्वर-यंत्रमुख लगभग त्रिभुजाकार होता है (आगे चित्र नं० २)। ऐसी स्थिति में जो प्रश्वास निकलता है, स्वर-तंत्रियों से घर्षण नहीं करता। 'अघोष' ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है।

(३) तीसरी स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक-दूसरी के और भी निकट आ जाती हैं। अब ये इतनी निकट होती हैं कि उनके बीच से जाने वाली हवा को रगड़ खाकर निकलना पड़ता है। रगड़ के कारण ही स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होता है। 'घोष' ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है (चित्र नं० ३)। इस स्थिति में स्वर-यंत्रमुख बहुत संकीर्ण हो जाता है और नीचे-ऊपर के किनारों के बन्द होने के कारण लम्बाई में भी वह छोटा हो जाता है। इस स्थिति में भी कभी तो स्वर-तंत्रियाँ कम कड़ी रखी जाती हैं और कभी अधिक। इस प्रकार कभी उनके बीच से हवा कम तेज निकलती है और कभी अधिक। इन दोनों बातों पर तन्त्रियों का कम्पन निर्भर करता है और इस कम्पन के स्वरूप और तेजी पर ध्वनि का आयतन (volume), उनकी तीव्रता (intensity) तथा सुर (pitch) आदि निर्भर करते हैं। सामान्य बोल-चाल में पुरुषों में स्वर-तंत्रियों के कम्पन की गति १०९ से १६३ चक्र (cycle) प्रति सेकेंड तथा स्त्रियों में २१८ से ३२६ चक्र प्रति सेकेंड होती है। यों यह कम से कम ४२ चक्र प्रति सेकेंड तथा अधिक से अधिक २०४८ चक्र प्रति सेकेंड हो सकती है। संगीतज्ञ, अभिनेता और अच्छे वक्ता में भावावेश आदि के अनुसार यह कम्पन सामान्य से बहुत अधिक देखा जाता है। १६ मई, १९४३ ई० को चर्चिल का वाशिंगटन में भाषण हुआ था। उनके रेकर्ड का विश्लेषण करने पर पता चला कि भाषण के अधिकांश अंशों में उनकी तन्त्रियों की गति ११५ से २३० के बीच में थी।

---

१. स्वर-तंत्रियाँ जब ढीली रहती हैं तो सामान्यतः पुरुषों में उनकी लम्बाई ३/४" और स्त्रियों में १/२" होती है। तनकर कड़ा होने पर ये क्रमशः १" और ३/४" की हो जाती हैं।

(४) चौथी स्थिति में स्वर-तन्त्रियाँ अपने लगभग तीन-चौथाई भाग में तो एक-दूसरी से मिलकर हवा का मार्ग पूर्णतः बन्द कर देती हैं। कोने का केवल एक चौथाई भाग ही स्वर-यंत्रमुख के रूप में खुला रहता है (चित्र नं० ४)। इसी स्थिति में फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का उच्चारण होता है। इस ध्वनि को 'जपित', 'जाप', 'फुसफुस' या 'उपांशु' (whispered) भी कहते हैं। जब दो मित्र आपस में धीरे-धीरे बात करते हैं, तो इसी प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। स्वर--यन्त्र मुख के बहुत छोटा हो जाने के कारण ध्वनि धीमी हो जाती है। फुसफुसाहट की सभी ध्वनियाँ अघोष होती है। इनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों में कम्पन नहीं होता। वस्तुतः जपित ध्वनि के उत्पन्न होने की यह एक स्थिति है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित अन्य स्थितियाँ भी होती हैं : (क) कभी-कभी इनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियाँ ठीक उसी स्थिति में होती हैं, जिस स्थिति में वे घोष ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं। पर साथ ही गले की मांसपेशियों को बहुत कड़ा रखकर स्वर-तन्त्रियों में इतना तनाव ला दिया जाता है कि हवा के घर्षण से वे कम्पित नहीं होतीं और इस प्रकार उनसे जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जपित होती हैं। (ख) स्वर-तन्त्रियों के ऊपर उन्हीं जैसी दूसरी स्वर-तन्त्रियाँ भी होती हैं, जिन्हें मिथ्या या कृत्रिम स्वर-तंत्रियाँ (false vocal chords) कहते हैं। ये असली स्वर-तन्त्रियों से कुछ छोटी होती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि असली स्वर-तन्त्रियाँ तो दूर-दूर रहती हैं, किन्तु ऊपर की तंत्रियाँ निकट आकर हवा के रास्ते को बहुत छोटा कर देती हैं और इस स्थिति में भी 'जपित' ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। (ग) कभी-कभी स्वर-तंत्रियाँ सामान्य स्थिति में हों, लेकिन उनके बीच से आने वाली हवा बहुत थोड़ी और बहुत धीमी (बीमारी के कारण या सप्रयास) हो, तब भी फुसफुसाहट की ध्वनियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। (घ) एक चौथी स्थिति यह भी मानी जाती है, जब स्वर-तंत्रियाँ न तो अघोष की स्थिति में बहुत खुली होती हैं, और न घोष की स्थिति में काकल को इतना सँकरा बना देती हैं कि हवा रगड़ से निकले। यह स्थिति घोष-अघोष के बीच की है तथा असामान्य है। (ङ) बिथेल आदि कुछ ध्वनिशास्त्रियों ने एक ऐसी स्थिति भी मानी है जब दोनों ही स्वर-तंत्रियाँ (मिथ्या और यथार्थ) अधिकांशतः बन्द होकर हवा को रोकती हैं और केवल दोनों का एक-एक अंश ही खुला रहता है। जब बहुत फटी-फटी आवाज़ सुनाई पड़ती है, तब भी यही स्थिति रहती है। ध्वनिविदों के अनुसार, यह स्थिति देर तक नहीं रखी जा सकती।

(५) एक अन्य स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक कोने से दूसरे कोने तक पूर्णतः सटी रहती हैं, और हवा का रास्ता पूर्णतः बन्द हो जाता है (आगे चित्र नं० ५)। इसी स्थिति में रहकर झटके के साथ स्वर-तंत्रियाँ अलग हो जाती हैं तो काकल्य स्पर्श (glottal stop, glottal catch, अलिफ़, हम्ज़ा) नाम की ध्वनि उच्चरित होती

है, जिसके लिए P चिह्न का प्रयोग किया जाता है। भारतीय भाषाओं में यह मुंडारी में मिलती है। कुछ अफ्रीकी, हिब्रू, डच, जर्मन में यह ध्वनि सामान्य है। यह हल्की
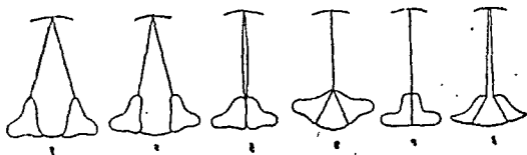
स्वरतंत्रियों की कुछ प्रमुख स्थितियाँ

खाँसी से मिलती-जुलती ध्वनि है। अंग्रेजी में कभी-कभी जोर देकर बोलने में is के उच्चारण में 'इ' के पहले यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। The key is not in the door वाक्य में 'इज्' की 'इ' के पूर्व key के प्रभाव के कारण यह ध्वनि उच्चरित होती है।

(६) छठे प्रकार की स्थिति में स्वर-तंत्रियों का लगभग तीन-चौथाई भाग तो लगभग घोष की स्थिति में होता है और शेष एक-चौथाई काफी खुला (ऊपर चित्र नं० ६)। घोष (जिसमें घोषत्व के साथ महाप्राणता भी होती है) ध्वनि इस स्थिति में उच्चरित होती है।

(७) सातवें प्रकार की स्थिति घोष वाली स्थिति ही है, किन्तु यह अलग इसलिए है कि स्वर-तंत्रियाँ घोष की तुलना में इसमें इतनी होती हैं, जिसके कारण कम्पन अधिक नहीं होता, किन्तु ये जपित-जैसी स्थिति में अर्थात् पूर्णतः तनी नहीं होतीं। इस रूप में इसे घोष और जपित के बीच की स्थिति मान सकते हैं। मर्मर ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। इसमें कम्पन बहुत थोड़ा होता है, साथ ही रगड़-जैसी एक आवाज भी होती है।

इन ६-७ स्थितियों में प्रमुख ये चार है—
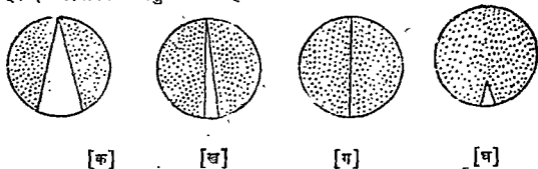
[क]

[ख]

[ग]

[घ]

इस प्रकार स्वर-यंत्र स्वर-तंत्रियों और मिथ्या स्वर-तंत्रियों के सहारे ध्वनियों के उच्चारण में पर्याप्त काम करता है। वस्तुतः यही वह पहला ध्वनि-अवयव है, जहाँ प्रश्वास के सहारे ध्वनि उत्पन्न करना आरम्भ होता है। साथ ही किसी भाषा की कोई भी ध्वनि ऐसी नहीं है, जिसके निर्माण में इस अंग का हाथ न हो।

स्वर-यंत्र, स्वर-तंत्रियों के सहारे ही नहीं, अपितु अपने पूरे शरीर के साथ, अर्थात् पूरा स्वर-यंत्र भी ध्वनियों के निर्माण में सहायता देता है। अफ़्रीका की कई भाषाओं में पायी जाने वाली अंतर्मुखी या अंतःस्फोट (implosive) ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। उच्चारण में पूरा ध्वनियंत्र कुछ नीचे कर लिया जाता है।

मुख-विवर, नासिका-विवर और कौवा—स्वर-यंत्र के ऊपर उसका ढक्कन (अभिकाकल) होता है, जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उसके ऊपर वह स्थान आता है, जिसे हम चौराहा (crossing) कह सकते हैं। यह एक खाली स्थान है जहाँ से चार मार्ग (१. श्वास-नलिका, २. भोजन-नलिका, ३. मुख-विवर, और ४. नासिका-विवर) चारों ओर जाते हैं। जिस प्रकार इस चौराहे के बीच अभिकाकल है, उसी प्रकार ऊपर जीभ के स्वरूप का मांस का छोटा-सा भाग उस स्थान पर होता है, जहाँ से नासिका-विवर और मुख-विवर के रास्ते फूटते हैं। इस छोटी जीभ को 'कौवा' या 'अलिजिह्व' कहते हैं। इसका भी कार्य कोमल तालु के साथ अभिकाकल की भाँति कभी-कभी मार्ग अवरुद्ध करना है।

'क' में दोनों स्वरतन्त्रियाँ अलग-अलग हैं। यह साँस लेने की तथा अघोष ध्वनियों की स्थिति है। 'ख' में दोनों समीप हैं। यह घोष ध्वनियों की स्थिति है। 'ग' में दोनों एक-दूसरी से सटी हैं। यह बन्द हो जाने की स्थिति है। 'घ' में दोनों ३/४ भाग में सटी हैं, और नीचे केवल १/४ खुला है। यह जपित या फुसफुसाहट की स्थिति है। अघोष उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में (उनके एक-दूसरे से दूर रहने के कारण) प्रश्वास का घर्षण नहीं होता और इसलिए उनमें कम्पन नहीं होता। साँस निकलने की स्थिति में उत्पन्न होने कारण ही इस प्रकार की ध्वनियों को संस्कृत में 'श्वास' भी कहा गया है। अंग्रेजी में इन ध्वनियों को voiceless या breathed कहते हैं। 'घोष' या 'नाद' (voiced या voice) उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में, उनके एक-दूसरे से निकट होने के कारण, उनके बीच से आती हवा के घर्षण से, कम्पन होता है। कानों को दोनों हाथों से बन्द करके या गले पर (स्वरयंत्र पर) हाथ रखकर, या सिर से ऊपर हाथ रखकर इस कम्पन का अनुभव क्रम से अघोष-घोष (क, ग) और घोष-अघोष (ग, क) ध्वनियों का बार-बार उच्चारण करके किया जा सकता है।

कौवा को कोमल तालु के साथ हम तीन अवस्थाओं में पाते हैं। पहली तो इसकी स्वाभाविक और साधारण अवस्था है, जिसमें यह ढीला होकर नीचे की ओर लटका रहता है, मुंह बन्द रहता है और श्वास अबाध गति से नासिका-विवर से होकर आता-जाता है। स्वाभाविक रूप से श्वास लेने की अवस्था यही होती है। किसी की बात सुनकर जब हम मुंह को बिना खोले हुए 'हूं' कहते हैं, तो यह इसी दशा में उच्चरित होती है।

दूसरी अवस्था में कौवा तनकर नाक के रास्ते को बन्द कर देता है और श्वास-नलिका से आई हवा को नासिका-विवर में तनिक भी नहीं जाने देता, अतः वायु मुख-विवर से आती-जाती है। मौखिक स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इसी दशा में होता है।

तीसरी और अंतिम अवस्था उस समय की है, जब कौवा न तो ऊपर तनकर नासिका-विवर को रोकता है और न नीचे गिर कर मुख-विवर को। वह मध्य में रहता है, अत: श्वास, नासिका और मुख दोनों से होकर निकलता है। अनुनासिक स्वरों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।

उपर्युक्त तीन स्थितियों में दूसरी और तीसरी में कौवा भाषा-ध्वनियों के उच्चारण में बहुत सहायक होता है, क्योंकि अधिकांश ध्वनियाँ इन्हीं दो प्रकारों की होती हैं। किन्तु, यह तो कौवे का सामान्य कार्य है, जिसकी आवश्यकता अधिकांश भाषाओं में होती है। कुछ भाषाओं में यह विशेष प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में प्रत्यक्षतः भी सहायक होता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ अलिजिह्वीय (uvular) कहलाती हैं। इनके उच्चारण में कौवा या तो जिह्वापश्च (या जिह्वामूल) से स्पर्श करके (हिन्दी-उर्दू 'क़', या उसी का घोष रूप जो फ़ारसी में है) स्पर्श-ध्वनि उत्पन्न करता है, या एस्किमो भाषा का अनुनासिक स्पर्श (ङ) उत्पन्न करता है, या उसके

समीप होकर संघर्षी ध्वनि (हिन्दी, अरबी ख, ग़) उत्पन्न करता है, या फिर उत्क्षेप या लुंठन करके फ्रांसीसी 'र' ध्वनि (जो 'ग़' जैसी सुनाई पड़ती है) उत्पन्न करता है।

तालु, जिह्वा, दन्त और ओष्ठ—कौवे के एक ओर नासिका-विवर है और दूसरी ओर मुख-विवर। नासिका-विवर में और कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जिससे ध्वनि उत्पन्न करने में कुछ सहायता मिले, अतः उसे छोड़कर मुख-विवर पर विचार किया जा सकता है।

मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु है, जिसके कंठ-स्थान और दाँतों के बीच में क्रम से ४ भाग हो सकते हैं : १. कोमल तालु, २. मूर्द्धा, ३. कठोर तालु, तथा
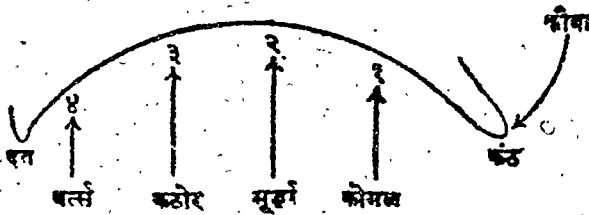
४. वर्त्स। जिह्वा के विभिन्न भागों को इनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं।
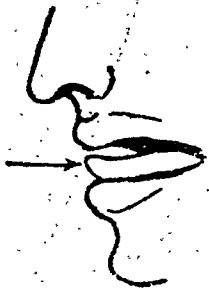
मुख-विवर के निचले भाग में जिह्वा है। जिह्वा उच्चारण-अवयवों में सबसे प्रमुख है, इसी कारण इसके पर्याय 'वाणी' 'ज़बान' (अरबी) या Lingua (लैटिन) आदि भाषा के पर्याय बन गये हैं। प्रायः सभी भाषाओं की अधिकांश ध्वनियाँ जीभ की सहायता से ही बोली जाती हैं। साधारण अवस्था में जीभ नीचे ढीली पड़ी होती है। बोलने में वायु-अवरोध या विशेष आकृति का गूँज-विवर (resonance chamber) बनाने के लिए हम इसका प्रयोग करते हैं। जिह्वा को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है।

१मूल २पश्च ३मध्य ४अग्र ५नोक

कभी-कभी इनके 'जिह्वोपाग्र' (जिह्वामध्य से कुछ आगे) आदि अन्य अवांतर भेद भी किये जाते हैं। ध्वनि-उच्चारण में इन सभी भागों का अलग-अलग महत्त्व है। साथ ही अभिकाकल कौवे की भाँति जिह्वा की विभिन्न अवस्थाएँ भी होती हैं। इन सब का सविस्तार वर्णन ध्वनियों के वर्गीकरण के प्रसंग में मिलेगा। जीभ, दाँत तथा तालु के
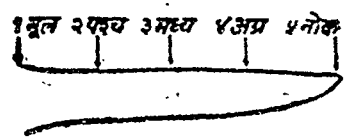
विभिन्न भागों को छूकर या उनके समीप आकर या उत्क्षेप-लोड़न आदि करके ध्वनियों का निर्माण करती है।
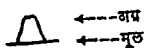
मुख-विवर में तालु तथा जिह्वा के बाद तीसरे प्रधान अंग दाँत हैं, जो भोजन करने के अतिरिक्त बोलने में भी हमारी सहायता करते हैं। इनके भी (१) मूल और (२) अग्र ये दो भाग किये जा सकते हैं।

कभी-कभी दोनों के बीच में एक मध्य भाग भी मानने की आवश्यकता पड़ती है। ध्वनि-निर्माण में ऊपर के दाँतों का ही अधिक महत्त्व है। ये नीचे के ओष्ठ या जीभ से मिलकर या उसके समीप होकर ध्वनि-निर्माण करते हैं।

ध्वनि से सम्बन्ध रखने वाले अंतिम अंग ओष्ठ हैं। ये आपस में मिल या पास आकर या दाँत की सहायता से ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं।

हम ध्वनि कैसे उत्पन्न करते हैं?—हारमोनियम या बिगुल आदि वाद्ययंत्रों की भाँति हम लोग भी वायु की सहायता से बोलते हैं। यह वायु दो प्रकार की है। एक तो वह है जो नाक या मुँह के मार्ग से भीतर खींचते हैं। यह बाहर की साफ हवा होती है। इस शुद्ध हवा से, दुःख है कि, हम लोग अधिक ध्वनियाँ उच्चरित नहीं कर पाते। कुछ भाषाओं की आश्चर्य आदि की ध्वनियाँ तथा अफ्रीका, अमरीका आदि की कुछ क्लिक आदि ध्वनियों के उच्चारण में ही यह हवा हमारा काम दे पाती है। दूसरे प्रकार की हवा वह है जो फेफड़े की गन्दगी साफ करके बाहर निकलती है। सच पूछा जाय तो यह दूसरी हवा (जो पहली का गंदा रूप मात्र है) ही संसार की प्रायः सभी भाषाओं के बोलने में हमारी सहायता करती है। पहली हवा 'श्वास' है, दूसरी 'प्रश्वास'।

फेफड़े की सफाई करने के पश्चात् वायु श्वास-रूप में श्वास-नलिका के पथ से बाहर चलती है। स्वर-यंत्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। सर्वप्रथम हम स्वर-तंत्रियों की सहायता से इसे मनमाना रूप देते हैं। उससे आगे चल कर आवश्यकतानुसार नासिका-विवर, मुख-विवर या दोनों से थोड़ा-थोड़ा निकालते हैं। ऐसा करने में कौवा भी हमारी सहायता करता है। वहाँ से मुख-विवर में जाने वाली हवा का हम आवश्यकतानुसार जिह्वा, कंठ, तालु, दाँत और ओष्ठ के सहारे इच्छित रूप देकर बाहर निकालते हैं, जो बाहर आकर ध्वनि की संज्ञा पाती है। साथ ही आवश्यक होने पर इसके एक अंश को नासिका-विवर (अनुनासिक ध्वनियों को उच्चरित करने में) से निकालते हैं।

सांवहनिक अथवा प्रासरणिक ध्वनि विज्ञान (Acoustic Phonetics)

भौतिकी में इसे केवल ध्वनिविज्ञान कहते हैं। मैंने इसे इस आधार पर यह नाम दिया है कि भाषाविज्ञान में इसके अंतर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि कैसे ध्वनि लहरों द्वारा वक्ता के मुंह से श्रोता के कान तक ले जाई जाती है। ऐसा होता है कि फेफड़े से चली हवा ध्वनि-यंत्रों की सक्रियता के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाहर की वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कम्पन से लहरें पैदा कर देती है। ये लहरें ही सुनने वाले के कान तक पहुँचती हैं, और वहाँ श्रवणेन्द्रिय में कम्पन पैदा कर देती हैं। सामान्यतः इन ध्वनि-लहरों की चाल ११००-१२०० फीट प्रति सेकेंड होती है। ज्यों-ज्यों ये लहरें आगे बढ़ती जाती हैं, इनकी तीव्रता घटती जाती है। इसी कारण दूर के व्यक्ति को ध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है। अनेक यंत्रों के सहारे भौतिकशास्त्र में इन लहरों का बहुत गम्भीर अध्ययन किया गया है, किन्तु भाषाविज्ञान में उसकी बहुत अधिक उपयोगिता नहीं है।

श्रावणिक ध्वनिविज्ञान (Auditory Phonetics)

इसमें इस बात का अध्ययन होता है कि हम कैसे सुनते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये संक्षेप में कान की बनावट को देख लेना होगा। हमारा कान तीन भागों में बँटा है, जिसको क्रम से 'बाह्य कर्ण', 'मध्यवर्ती कर्ण' और 'अभ्यंतर कर्ण' कह सकते हैं। बाह्य कर्ण के भी दो भाग किये जा सकते हैं। एक तो वह भाग है जो ऊपर टेढ़ा-मेढ़ा दिखाई देता है। यह भाग सुनने की क्रिया में अपना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। दूसरा भाग छिद्र या कर्ण-नलिका के बाहरी भाग से आरम्भ होकर भीतर तक जाता है। इस भाग की या कर्ण-नलिका की लम्बाई लगभग एक इंच होती है। नलिका के भीतरी छिद्र पर एक झिल्ली होती है जो बाह्य कर्ण को मध्यवर्ती कर्ण से संबद्ध करती है।

मध्यवर्ती कर्ण एक छोटी सी कोठरी है, जिसमें तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं। इन अस्थियों का एक सिरा बाह्य कर्ण की झिल्ली से जुड़ा रहता है, और दूसरी ओर इसका सम्बन्ध अभ्यन्तर कर्ण के बाहरी छिद्र से होता है। इसके पीछे अभ्यन्तर कर्ण आरम्भ होता है। इस भाग में शंख के आकार का एक अस्थि-समूह होता है। इसके खोखले भाग में उसी आकार की झिल्लियाँ होती हैं। इन दोनों के बीच में एक प्रकार का द्रव पदार्थ भरा रहता है। इस भाग के भीतरी सिरे की झिल्ली से श्रावणी शिरा के तन्तु आरम्भ होते हैं, जो मस्तिष्क से सम्बद्ध रहते हैं। ध्वनि की लहरें जब कान में पहुँचती हैं तो बाह्य कर्ण की भीतरी झिल्ली (या कान का पर्दा) पर कम्पन उत्पन्न करती हैं।

इस कम्पन का प्रभाव मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ पर पड़ता है और उसमें लहरें उठती हैं, जिसकी सूचना श्रावणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में जाती है, और हम सुन लेते हैं।

ध्वनि, हवा तथा अन्य संबद्ध अणुओं में कम्पन-रूप में होती है। यह कम्पन प्रति सेकेण्ड 'फ्रीक्वेन्सी' या 'आवृत्ति' कहलाता है। यह आवृत्ति कम या अधिक हो सकती है। सामान्यतः आदमी का कान कुछ से लेकर २०,००० आवृत्ति तक की ध्वनि सुन सकता है। किन्तु साफ और समझने लायक वह केवल ९० से १०,००० तक ही सुन सकता है। सुनने की दृष्टि से काफी साफ आवाज़ केवल २०० से २००० के बीच में मानी गयी है, और बहुत ही साफ १००० से २००० के बीच।

ध्वनि क्या है :—

किसी भी वस्तु से किसी भी तरह का कुछ ऐसा हो जो सुना जा सके, उसे सामान्यतया 'ध्वनि' कहते हैं। पानी में मछली के कूदने से या किसी के सिर पर डंडा मारने से जो भी आवाज होगी, उसे ध्वनि कहेंगे। इस प्रकार ध्वनि का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। **वैज्ञानिक दृष्टि से ध्वनि वायुमंडलीय दबाव (atmospheric pressure) में परिवर्तन या उतार-चढ़ाव (variation) का नाम है। यह परिवर्तन वायुकणों (air-particles) के दबाव (compression) तथा विरलन (rarefaction) के कारण होता है।** भाषा के प्रसंग में या भाषाविज्ञान में जिस ध्वनि का विचार किया जाता है, वह इतनी व्यापक नहीं है। सामान्य ध्वनि से अलग करने के लिये उसे 'भाषाध्वनि' (speech-sound या phone) या वाक्स्वन संज्ञा से अभिहित किया गया है। 'भाषा-ध्वनि' भाषा में प्रयुक्त ध्वनि **की वह लघुतम इकाई है, जिसका उच्चारण और श्रोतव्यता की दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तित्व हो।** संक्षेप में भाषा में प्रयुक्त ध्वनि ही भाषाध्वनि है। आगे प्रायः सर्वत्र संक्षेप और प्रचलन की दृष्टि से 'भाषा-ध्वनि' के स्थान पर केवल 'ध्वनि' शब्द का ही प्रयोग किया जायगा।

ध्वनियों का वर्गीकरण

ऊपर हम देख चुके हैं कि (क) ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, (ख) उच्चरित होकर वक्ता के मुँह से श्रोता के कान तक पहुँचती हैं, तथा (ग) श्रोता द्वारा सुनी जाती हैं। वस्तुतः इन तीनों ही आधारों पर ध्वनियों का वर्गीकरण और नामकरण किया जा सकता है, किन्तु अंतिम दो में कुछ कठिनाइयाँ हैं।

जहाँ तक श्रवण का प्रश्न है, दो कठिनाइयाँ हैं : (अ) इस पर आधारित वर्गीकरण वस्तुनिष्ठ (objective) न होकर आत्मनिष्ठ (subjective) होगा; एक को जो ध्वनि बहुत 'मधुर' लगेगी दूसरे को 'कम मधुर' लग सकती है; (आ) किसी भी भाषा में इसके लिए ऐसे पर्याप्त शब्द नहीं हैं जो एक-दूसरे से स्पष्टतः अलग

हों। हिन्दी में भी मात्र मधुर, मीठी, कर्कश, भारी, पतली, मोटी, भर्राई, उखड़ी, टूटी आदि कुछ ही शब्द हैं।

जहाँ तक ध्वनि तरंगों का प्रश्न है, इनका अध्ययन बहुत व्ययसाध्य है तथा अत्यंत सूक्ष्म यंत्रों से ही हो सकता है, अतः कम व्यावहारिक और कठिन है। भाषाविज्ञान में ध्वनियों के वर्गीकरण का आधार इसीलिए इन्हें भी नहीं बनाया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि इन तरंगों का भली-भाँति अध्ययन-विश्लेषण भौतिकशास्त्री के लिए ही संभव और विशेष उपयोगी है, भाषाशास्त्री के लिए नहीं।

शेष रहता है पहला आधार। वस्तुतः यह आधार बहुत अच्छा नहीं है। ध्वनि पैदा करने वाले अवयवों के आधार पर ध्वनि का नामकरण तो वैसा ही है, जैसे कोई मेज पर हाथ से मारे तो निकलने वाली आवाज को हम 'हाथ-मेज आवाज' नाम दें। यह नाम कितना हास्यास्पद है, कहने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार 'थप्पड़-मुँह-ध्वनि', 'डंडा-पीठ-ध्वनि' या 'सिर-दीवाल-ध्वनि' भी नाम रखे जा सकते हैं, पर ये सभी वस्तुतः नाम नहीं हैं, अपितु नाम की विडंबना है। कहना न होगा कि मुँह से निकलने वाली ध्वनियों को भी 'दंतोष्ठ्य' या 'द्वयोष्ठ्य' आदि कहना उसी रूप में और उतना ही हास्यास्पद है, किन्तु अन्य दोनों आधारों के अव्यावहारिक होने पर हार कर भाषाविज्ञानविदों को इसी का सहारा लेना पड़ा है। यों यह प्रसन्नता का विषय है कि हास्यास्पद होते हुए भी यह आधार बिल्कुल ही अव्ययसाध्य, वस्तुगत एवं सरल है, और इसके आधार पर बिना किसी विशेष परेशानी के ध्वनियों का नामकरण, वर्गीकरण आदि किया जा सकता है। यों इसमें थोड़ी-बहुत सहायता अन्य दो तथा ध्वनियों के प्रयोग की भी ली जा सकती और ली जाती है।

स्वर और व्यंजन

ध्वनियों का सबसे प्रचलित और प्राचीन वर्गीकरण 'स्वर' और 'व्यंजन' रूप में मिलता है। भारत में यों तो स्वर तथा व्यंजन के अंतर के संकेत पहले भी (ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में) मिलते हैं किन्तु स्पष्ट रूप से इसे सर्वप्रथम कहने का श्रेय महाभाष्यकार पतंजलि (२री सदी ई० पू०) को है। वे कहते हैं: 'स्वयं राजन्ते स्वरा अन्वग् भवति व्यंजनमिति' अर्थात् स्वर स्वतंत्र हैं, व्यंजन उन पर आधारित हैं। बाद में याज्ञवल्क्य शिक्षा, वृत्तित्रयवार्तिक आदि कई अन्य ग्रन्थों में भी इसी बात को घुमाफिरा कर कहा गया है। इस प्रकार भारतीय परम्परा में माना और कहा जाता रहा है **'स्वर उन ध्वनियों को कहते हैं जो स्वयं उच्चरित होते हैं, इसके विपरीत व्यंजन उन ध्वनियों को कहते हैं जो स्वर की सहायता से उच्चरित होते हैं**। यूरोप में २री सदी ई० पू० में ही प्रसिद्ध वैयाकरण थ्रैक्स ने भी स्वर-व्यंजन को ठीक इसी प्रकार परिभाषित किया है।

कहना न होगा कि भारत और यूरोप द्वारा प्रस्तुत यह परिभाषा कि व्यंजन वे हैं, जिनका उच्चारण स्वर की सहायता के बिना नहीं हो सकता और स्वर वे हैं, जिनका हो सकता है, बहुत ठीक नहीं है। कई भाषाओं में ऐसे पूरे-के-पूरे शब्द हैं, जिनमें एक भी स्वर नहीं है। अतः व्यंजन के स्वर की सहायता के बिना न उच्चरित होने की तो बात ही क्या, पूरे शब्द स्वर की सहायता के बिना उच्चरित हो सकते हैं। रूमानिया तथा अफ्रीका की भाषाओं में ऐसे शब्द हैं। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की इवो भाषा में ङ्गुङ्गुङ्गङ् (पार्सल)। चैक भाषा का तो एक पूरा वाक्य ऐसा है, जिनमें एक भी स्वर नहीं है—Strc prst skrz krk [गले (अपने) में उँगली दबाओ] स, श, ज् आदि संघर्षी व्यंजनों का उच्चारण तो बड़ी सरलता से किया जा सकता है। इस प्रकार स्वर-व्यंजन की उपर्युक्त परिभाषा ठीक नहीं है। दोनों का ही उच्चारण किया जा सकता है। आजकल स्वर-व्यंजन को सामान्यतः इस रूप में परिभाषित किया जाता है।

'स्वर वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से मुख-विवर से निकल जाती है।'

'व्यंजन वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से नहीं निकलने पाती। या तो इसे पूर्ण अवरुद्ध होकर फिर आगे बढ़ना पड़ता है, या संकीर्ण मार्ग से घर्षण खाते हुए निकलना पड़ता है, या मध्य रेखा से हटकर एक या दोनों पार्श्वों से निकलना पड़ता है, या किसी भाग को कंपित करते हुए निकलना पड़ता है। इस प्रकार, वायुमार्ग में पूर्ण या अपूर्ण अवरोध उपस्थित होता है।

किन्तु ये परिभाषाएं मात्र काम-चलाऊ हैं क्योंकि य, व, ह की तुलना में ई, ऊ में अवरोध कहीं अधिक होता है। वास्तविकता यह है कि ध्वन्यात्मक (Phonetic) स्वर पर स्वर-व्यंजन में पूर्णतः भेदक रेखा खींचना प्रायः असंभव है। पूरी स्थिति को यों रखा जा सकता है।

स्पर्श — स्पर्श संघर्षी — संघर्षी — अर्ध व्यंजन — अर्ध स्वर — स्वर
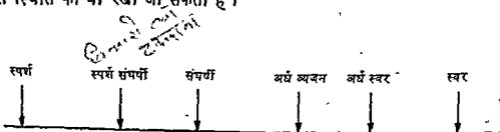
अर्थात् क-ख रेखा को ध्वनि का प्रतीक मानें तो इसके एक सिरे पर स्पर्श व्यंजन हैं तो दूसरे सिरे पर स्वर हैं तथा बोध बीच में हैं। व्यंजनत्व सबसे अधिक

स्पर्श में है, उससे कम स्पर्श संघर्षी में तथा इसी प्रकार आगे भी। इसी प्रकार स्वरत्व सबसे अधिक स्वर में है, उससे कम अर्धस्वर में तथा इसी प्रकार आगे भी, अर्धव्यंजन में पार्श्विक, प्रकंपित, नासिका तथा उत्क्षिप्त आते हैं। मैं अर्धस्वर में य, व के अतिरिक्त 'ह्' को भी रखना चाहूँगा।

उपर्युक्त बातों के बावजूद यदि स्वर और व्यंजन में अन्तर दिखाना ही हो तो निम्नांकित बातें कही जा सकती हैं :—

(१) स्वरों का अकेले उच्चारण किया जा सकता है किन्तु व्यंजनों में स, श, ज़ आदि केवल संघर्षी व्यंजनों का शेष के पहले (अब) या बाद में (जा) स्वर होने पर ही उच्चारण संभव है।

(२) सभी स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है। व्यंजनों में केवल संघर्षी ही ऐसे हैं, शेष का उच्चारण देर तक नहीं हो सकता।

(३) एक-दो (ई, ऊ) अपवादों को छोड़कर अधिकांश स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर में हवा गूँजती हुई बिना विशेष अवरोध के निकल जाती है। अधि— व्यंजन इसके विरोधी हैं, और उनमें पूर्ण या अपूर्ण अवरोध हवा के मार्ग में व्यवधान उपस्थित करता है।

(४) सभी स्वर आक्षरिक (syllabic) होते हैं। संध्यक्षरों (diphthong) में अवश्य कुछ स्वरों का अनाक्षरिक स्वरूप दिखाई पड़ता है, किन्तु यह अपवाद-जैसा है। दूसरी ओर प्रायः सभी व्यंजन सामान्यतः अनाक्षरिक (non-syllabic) होते हैं। अपवादस्वरूप न्, र्, ल् आदि चार-पाँच व्यंजन ही कभी-कभी कुछ भाषाओं में आक्षरिक रूप में दृष्टिगत होते हैं। इस अंतर का आधार भाषा में प्रयोग है।

(५) मुखरता (sonority) की दृष्टि से भी स्वर-व्यंजन में भेद है। स्वर अपेक्षाकृत अधिक मुखर होते हैं और व्यंजन कम मुखर। कुछ अपवाद भी हैं, किन्तु वे अपवाद ही हैं। यों, जैसा कि इसी अध्याय में अन्यत्र दिखाया जायेगा, इसी दृष्टि से स्वरों और व्यंजनों के अलग-अलग स्वर बनाये जा सकते हैं। यह आधार श्रवणीयता का है।

(६) ऑसिलोग्राफ आदि यंत्रों में स्वर और प्रमुख व्यंजनों की लहरों में भी अन्तर मिलता है। हाँ, यह अवश्य है कि र्, म् आदि कुछ व्यंजनों की लहरें प्रकृति की दृष्टि से स्वर और व्यंजन के बीच में आती हैं।

(७) व्यंजनों का उच्चारण मुँह में स्थान-विशेष से होता है, किन्तु स्वरों का उच्चारण किसी एक निश्चित स्थान से नहीं होता। वह पूरे मुख विवर में होने वाली एक प्रकार की गूँज होता है।

(८) ध्वन्यात्मक (Phonetic) दृष्टि से स्वर-व्यंजन में स्पष्ट भेद करना कठिन है, किंतु भाषा विशेष में स्वनिमिक (Phonemic) दृष्टि से उनको अलगाया जा सकता है।

स्वरों का वर्गीकरण

स्वरों के वर्गीकरण के आधार

स्वर ध्वनियाँ एक प्रकार की गूंज होती हैं। मौखिक स्वरों में यह गूंज मुख-विवर में होती है, तथा अनुनासिक स्वरों में गूंज मुख-विवर तथा नासिका-विवर दोनों में होती है। मुख-विवर में गूंज मुख-विवर के स्वरूप पर निर्भर करती है। वह चौड़ा होगा तो एक प्रकार की गूंज होगी तथा सँकरा होगा तो दूसरे प्रकार की। इसका आशय यह हुआ कि किसी भाषा में जितने स्वर होते हैं, उनके उच्चारण में उतने ही प्रकार के स्वरूप मुख-विवर को देने पड़ते हैं। यह स्वरूप नीचे का जबड़ा, जीभ, कौआ, ओष्ठों की स्थिति आदि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त स्वर की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि गूंज कब तक हो रही है। इन दृष्टियों से स्वरों का वर्गीकरण निम्नांकित आधारों पर किया जा सकता है।
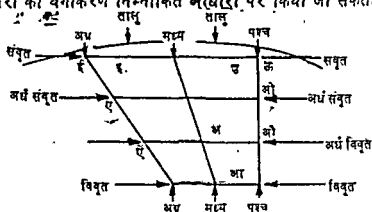
(१) **जीभ का भाग**—किसी स्वर के उच्चारण में जीभ का अग्रभाग महत्वपूर्ण कार्य करता है, तो किसी में मध्य और किसी में पश्च। इस आधार पर स्वर तीन प्रकार के होते हैं **अग्र स्वर** (जैसे हिन्दी मे ई,इ, ए, ऐ,) **मध्य स्वर** (जैसे हिन्दी में अ, आ,) **पश्च स्वर** (जैसे हिन्दी में ऊ,उ, ओ, औ, ऑ)।

(२) **जीभ के व्यवहृत भाग की स्थिति**—जीभ का व्यवहृत भाग (चाहे वह अग्र हो, मध्य हो या पश्च) कभी तो ऊपर तालू के काफ़ी पास चला जाता है (संवृत), कभी विलकुल नीचे रहता है (विवृत), और कभी संवृत्त के पास रहता है (अर्ध संवृत्त), और कभी विवृत के पास (अर्ध विवृत) इस प्रकार चार भेद हुए: **संवृत्त स्वर** (जैसे हिन्दी ई, इ, ऊ, उ), **अर्ध संवृत स्वर** (जैसे हिन्दी ए, ओ), **अर्ध विवृत स्वर** (जैसे हिन्दी ऐ, अ,औ, ऑ) तथा **विवृत स्वर** (जैसे हिन्दी आ)।

(३) **ओष्ठों की स्थिति**–ओष्ठों को वृत्ताकार करके जिन स्वरों का उच्चारण होता है उन्हे **वृत्तमुखी स्वर** (जैसे हिन्दी ऊ, उ, औ, ओ, ऑ) तथा जिनका बिना ऐसा किये उच्चारण होता है उन्हें **आवृत्तमुखी स्वर** (जैसे हिन्दी अ, आ, इ, ई, ए, ऐ) कहते हैं, ये दो मुख्य भेद हैं। यों, गौणतः **पूर्णवृत्तमुखी** (अ) **अल्पवृत्तमुखी** (ऑ) **उदासीन** (अ) तथा **पूर्णविस्तृत** (ए) आदि अन्य की भेदोपभेद किये जा सकते हैं।

(४) **मात्रा**––मात्रा का अर्थ स्वर के उच्चारण में लगने वाले समय की मात्रा है। इस आधार पर मुख्यतः दो भेद होते हैं **ह्रस्व स्वर** (जैसे हिन्दी अ, इ, उ) तथा **दीर्घ-स्वर** (हिन्दी आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ)। गौणतः दो भेद और होते हैं: **ह्रस्वार्ध स्वर** जो ह्रस्व स्वर से भी कम समय में उच्चरित हो जैसे कुछ लोगों के उच्चारण में ब्रह्म, सभ्य, विश्व आदि में अन्त में सुनाई पड़ने वाला अ, अथवा स्टेशन, स्टूल, स्त्री, आदि के बहुत से लोगों के उच्चारण में प्रारम्भ में सुनाई पड़ने वाली बहुत हलकी सी, इ। **प्लुत स्वर**–जो दीर्घ से भी कुछ दीर्घ हो। 'ओऽम,' में 'ओ' ऐसा ही स्वर है, जिसके बाद का ३ प्लुत का ही द्योतक है। इस्तोनियम भाषा में प्रायः सभी स्वरों के बीच ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत रूप मिलते हैं।

(५) **कौवे की स्थिति**–इस आधार पर स्वरों के दो भेद होते हैं: **(क) मौखिक स्वर**––जिसके उच्चारण के समय कौआ ऊपर उठ कर नासिका-विवर को बन्द कर लेता है, और सारी-की-सारी हवा मुँह से ही निकलती है। हिन्दी के अ, आ, इ, ई आदि ऐसे ही स्वर हैं। **(ख) अनुनासिक स्वर**–जिससे उच्चारण में कौआ बीच में लटकता रहता है अतः हवा का कुछ अंश नाक से भी निकलता है, हिन्दी के आं', अं', इँ, उँ, ऊँ' एँ' आदि स्वर ऐसे ही हैं। अनुनासिक स्वर दो प्रकार के हो सकते हैं **(अ) पूर्ण अनुनासिक स्वर**–जैसे 'हाँ' का, 'आँ' **(आ) अल्प अनुनासिक स्वर**–जैसे 'राम,' का 'आ'।

(६) **जीभ के अचल या चल होने के आधार पर**––इस आधार पर स्वर दो प्रकार के होते हैं: **(क) मूल स्वर**–जिसके उच्चारण में जीभ अचल रहती है, अर्थात् किसी एक स्थिति में रहती है। हिन्दी के मानव रूप में सामान्यतः सभी स्वर ऐसे ही हैं। ऊपर के स्वर चतुर्भुज में गुणे (×) के चिह्न द्वारा जीभ की अचल स्थिति ही दिखाई गई है। **(ख) संयुक्त स्वर**–ऐसे स्वरों के उच्चारण में जीभ एक स्वर-स्थिति से चलकर दूसरी स्वर-स्थिति में जाती है। हिन्दी में 'वैयाकरण' में 'ऐ' के उच्चारण में जीभ 'अ' की स्थिति से 'इ' की स्थिति की ओर जाती है। इसी प्रकार 'कौवा' के 'औ' में 'अ' से 'उ' की ओर जाती है–
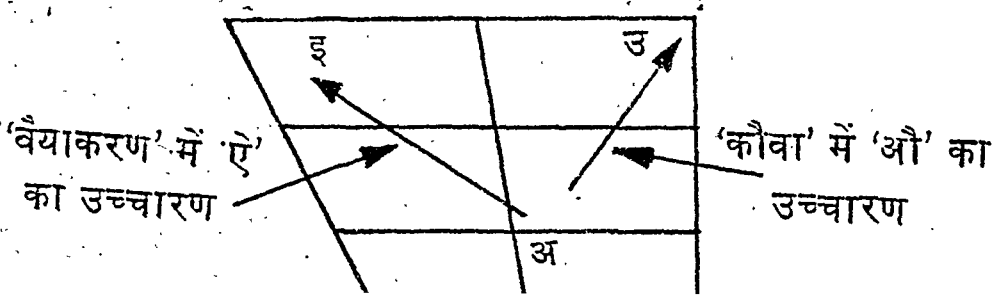
रेखा 'संवृत' (close) का द्योतन कर रही है, अर्थात् जीभ यहाँ हो तो तालु और जीभ के बीच 'सँकरा' या संवृत स्थान होगा। सबसे नीचे की रेखा 'विवृत' (open) है, अर्थात् जीभ यहाँ हो तो जीभ और तालु के बीच में अधिकतम स्थान होगा। विवृत का अर्थ है 'खुला हुआ'। दायें हाथ की खड़ी रेखा भीतर की तरफ जीभ जाने की अंतिम सीमा दिखा रही है। तथा बायें हाथ की खड़ी रेखा बाहर की तरफ जीभ की अंतिम सीमा दिखा रही है। इस प्रकार चारों रेखाएँ मिलकर स्वर-उच्चारण की चार सीमाएँ द्योतित कर रही हैं। संवृत, अर्धसंवृत, अर्धविवृत तथा विवृत जीभ के ऊपर उठने की स्थिति दिखा रहे हैं—
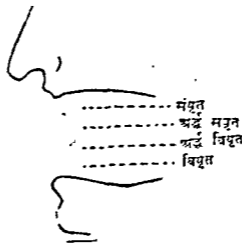
सवृत=बिल्कुल सँकरा, अर्धसंवृत=कुछ सँकरा, अर्ध विवृत=कुछ खुला, विवृत=बिलकुल खुला। अग्र, मध्य, पश्च जीभ के भाग का द्योतन करते हैं।

इन आठों में ओष्ठों की आठ स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं। 'इ' में वे बिल्कुल फैले होते हैं, ए, एँ,अ5 में क्रम से उनका फैलाव कम होता जा रहा है और अ, ऑ तथा ओ, ऊ में पूर्णतः गोलाकार हो जाते हैं। इस प्रकार अब मानस्वर अग्रवृत्तमुखी है तथा पश्च प्रायः वृत्तमुखी। इनमें भी पश्च अर्धविवृत्त ईषद्वृत्तमुखी और शेष दो—संवृत्त, अर्धसंवृत्त—पूर्णवृत्तमुखी। ये आठ मानस्वर, प्रधान मानस्वर भी कहे जाते हैं। इनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार का है। ई—अवृत्तमुखी, दृढ़, अग्र, संवृत। ए—अवृत्तमुखी, दृढ़, अग्र, अर्धसंवृत। एँ—अवृत्तमुखी, शिथिल, अग्र, अर्धवृत्त। आ—अवृत्तमुखी, शिथिल, अग्र, विवृत। ऑ—स्वल्पवृत्तमुखी (अ से कुछ अधिक) शिथिल, पश्च, अर्धविवृत। ओ—वृत्तमुखी, दृढ़, पश्च, अर्धसंवृत। ऊ—पूर्णवृत्तमुखी दृढ़ (ओ से अधिक), पश्च, संवृत।

अप्रधान या गौण मानस्वर (Secondary Cardinal Vowel)

जितने प्रधान मानस्वर थे, उतने ही अप्रधान या गौण मानस्वर भी हो सकते हैं किन्तु उनमें केवल सात ही ऐसे हैं, जिनसे मिलती-जुलती ध्वनियों का प्रयोग संसार की भाषाओं में होता है, अतः गौण मानस्वर सात ही माने गये हैं। जो स्वर 'ई' के स्थान पर हैं, उसमें अन्य सारी बातें 'ई' जैसी होती हैं, केवल ओष्ठ 'ऊ' की तरह वृत्त

मुखी होते हैं। इसी प्रकार 'ए' के स्थान वाले स्वर में ओष्ठ 'ओ' तरह वृत्तमुखी होते हैं और ऐं के स्थान वाले में आँ की तरह। इसी प्रकार पश्च गौण मानस्वरों में भी केवल ओष्ठ का अन्तर होता है। इनमें ओष्ठ क्रम से अग्र की भाँति होते हैं। गौण मानस्वरों से मिलती-जुलती ध्वनियों का प्रयोग फ्रांसीसी. जर्मन, मराठी तथा अंग्रेजी के कुछ क्षेत्रीय रूपों आदि में होता है।
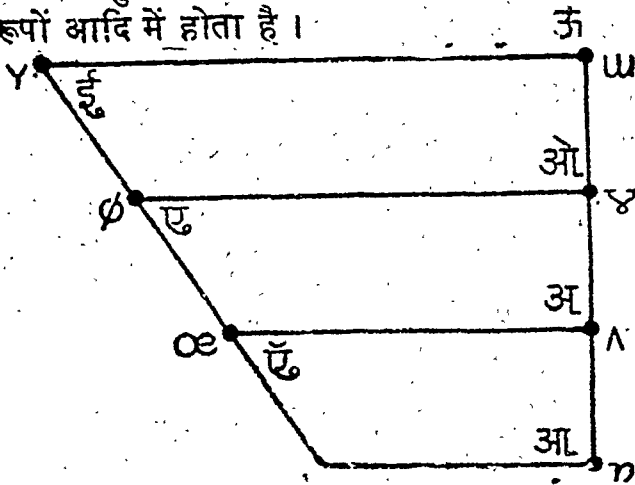
केन्द्रीय स्वरों के भी गौण मानस्त्रर रूप हो सकते हैं। जिस किसी भाषा के **स्वरों** का वर्णन करना होता है, उपर्युक्त (प्रधान या अप्रधान मानस्वर) में जिस स्वर के समीप जो स्वर होता है, उसे वही नाम दे देते हैं।

स्वर-वर्गीकरण की ब्लॉक-ट्रैगर की पद्धति

उपर्युक्त रूप में आठ प्रधान और सात अप्रधान स्वर थे। यह पद्धति यूरोप में

	अग्र		मध्य		पश्च	
	अवृत्तमुखी	वृत्तमुखी	अवृत्तमुखी	वृत्तमुखी	अवृत्तमुखी	वृत्तमुखी
उच्च	i	ü=y	ɨ	u̇	ï=ɯ	u
निम्नतर उच्च	I	Ü	Ɨ	U̇	Ï	U
उच्चतर मध्य	e	ö=ø	ė	ȯ	ë=ɤ	o
मध्य	E	Ω̈	Ė=ɘ	Ω	Ë	Ω
निम्नतर मध्य	ɛ	ɔ̈=œ	ɛ	ɔ	ɛ̈=ʌ	ɔ
उच्चतर निम्न	æ	ω̈	æ̇	ω̇	æ̈	ω
निम्न	a	ɒ̈	ȧ	ɒ̇	ä=ɑ	ɒ

प्रचलित रही है। अमेरिका में जीभ की ऊँचाई-निचाई या उसके अग्र, पश्च मध्य आदि भाग—अर्थात् उन्ही आधारों पर जिनका उपयोग उपर्युक्त मानस्वरों में हुआ है—के आधार पर और अधिक भेद किये गये हैं। ब्लाक और ट्रैगर ने स्वर का वर्गीकरण इस प्रकार किया है। उन्होंने ऊँचाई के आधार के नामों को ऊपर से नीचे high, lower high, higher mid, mean mid, lower mid, higher low तथा low कहा है।

कहना न होगा कि इसमें उपर्युक्त प्रधान और अप्रधान दोनों मिला दिये हैं, साथ ही ऊँचाई में चार के स्थान पर अधिक भेद किये गये हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, आवश्यकतानुसार ऐसे अनेक भेद किये जा सकते हैं। सिद्धान्ततः दोनों पद्धतियों में विशेष अन्तर नहीं है। यों स्वरों के स्थान-निर्धारण की दृष्टि से प्रधान स्वरों वाली पद्धति की उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

श्रुति (Glide)

लिखने में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जल्दी में दो शब्दों या दो वर्णों के बीच एक की समाप्ति के बाद और दूसरे के आरम्भ के पूर्व झटके से एक निरर्थक लाइन खिंच जाती है। इसी प्रकार बोलने में उच्चारण अवयव जब एक ध्वनि के उच्चारण के बाद दूसरे का उच्चारण करने के लिये नयी स्थिति में जाने लगते हैं तो कभी-कभी हवा के निकलते रहने के कारण बीच में ही एक ऐसी ध्वनि उच्चरित हो जाती है जो वस्तुतः उस शब्द में नहीं होती। ऐसी अकस्मात् आ जाने वाली ध्वनि 'श्रुति' कहलाती है। ऐसी ध्वनियाँ सर्वदा दो ध्वनियों के बीच में ही न आकर कभी-कभी किसी ध्वनि के पूर्व भी आ जाती हैं। पूर्व में आने वाली श्रुति 'पूर्वश्रुति' (on glide) या 'अग्रश्रुति' कहलाती है। स्टेशन, स्कूल, स्नान आदि में आरम्भ के स्वर पूर्व श्रुत ही हैं। असावधान, आलस्यपूर्ण या ढीले उच्चारण में यह अधिक स्पष्ट होती है। यह श्रुति अन्यों की भाँति अनायास है, यद्यपि इसके कारण आदि स्वर आने से व्यंजन गुच्छ टूट जाता है और एक अक्षर की वृद्धि हो जाती है। जैसे स्टेशन =२ अक्षर। इसटेशन =३ अक्षर, इस+टे+शन। अस्थि से हड्डी, उल्लास से हुलास उधर से बुधर आदि पूर्व श्रुति ही हैं, जिसे आगम (स्वर या व्यंजन) भी कहा जाता है। इसके मूल में भी ढीलापन या आलस्य आदि हैं। इस प्रकार की श्रुति शब्द के आरम्भिक मौन तथा प्रथम ध्वनि के बीच उच्चरित हो जाती है। विद्वानों ने श्रुति का दूसरा भेद बाद की श्रुति 'पश्चश्रुति', 'परश्रुति' या 'पश्चात् श्रुति' (off glide) को माना है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, 'इसका नाम 'मध्यश्रुति' होना चाहिये। अग्र-स्वर के साथ 'या' तथा पश्च स्वर के साथ 'व' प्रायः इस प्रकार सुने जाते हैं, जैसे इ—आ (किया), इ—ओ (जियो) के बीच य तथा उ—आ (हुआ) के बीच व। जेल से जेहल में 'ह' भी इसी प्रकार है। वस्तुतः यह परश्रुति नहीं है, क्योंकि अन्त में यदि उपर्युक्त स्वर न हो तो श्रुति का आगम नहीं होगा, जैसे इ—ए (लिए) या उ—ई (हुई)। इस प्रकार दोनों ओर की ध्वनियों का इस श्रुति में हाथ है, अतः इसे 'मध्यश्रुति' ही कहना चाहिये।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि परश्रुति होती ही नहीं। यह होती है, किन्तु प्रायः अत्यन्त क्षीण होती है। आलस्यपूर्ण या ढीले उच्चारण में आज संयुक्त व्यंजनांत हिन्दी शब्दों के अन्त में सुना जाने वाला, अ (स्वास्थ्य, ब्रह्म) यही है। इस प्रकार श्रुति के दो भेद नहीं माने जाने चाहिये, जैसा कि विद्वानों ने माना है, अपितु तीन माने जाने चाहिये: (१) **पूर्वश्रुति**, (२) **मध्यश्रुति**, (३) **परश्रुति**। संयुक्त स्वर मध्यश्रुति है, क्योंकि दो स्वरों के उच्चारण के बीच में आता है। यहाँ एक और बात भी ध्यान देने की है। श्रुति की प्रायः जो परिभाषा दी जाती है, वह वस्तुतः 'मध्य-श्रुति' की है। यों तीनों श्रुतियों का मूल कारण मुखसुख है। आलस्य, असावधानी या निष्क्रियता वस्तुतः इसी के रूप हैं, किन्तु मध्यश्रुति में इन सबसे अधिक हाथ सहजता का है। इसी कारण 'र', 'द' आदि के मध्यागम (डज़न—दर्जन, तनूर—तन्दूर श्रुति नहीं कहे जा सकते।

स्वरानुक्रम (Vowel sequence)—जब दो या अधिक स्वर एक के बाद एक आते हैं तो इस स्थिति को **स्वर-संयोग** अथवा **स्वर-क्रम** कहते हैं। जैसे हिन्दी आओ, आइए आदि। इसमें स्वरों के गुण में कोई विशेष अन्तर नहीं आता।

संयुक्त स्वर (Diphthong)—संयुक्त स्वर अथवा **संध्यक्षर** दो स्वरों के संयुक्त रूप को कहते हैं। संस्कृत में (अ+इ=) ए, (आ+इ=) ए, (अ+उ =) ओ, (आ+उ=) औ, इसी रूप में संयुक्त स्वर थे। हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में **ऐ** (अ+ए) तथा **औ** (अ+ ओ) की भी यही स्थिति है। इस संबंध में मुख्यतः छः बातें ध्यान में रखने की हैं: (१) संयुक्त स्वर में दो स्वर एक में मिल-से जाते हैं, स्वरानुक्रम की तरह क्रमशः अलग-अलग नहीं आते। (२) **मूल-स्वर** (monophthong) या **समानाक्षर** में जीभ एक स्थान पर अचल रहती है, किंतु संयुक्त स्वर में वह एक स्वर-स्थान से चलकर दूसरे स्वर-स्थान की ओर शीघ्रता से जाती है, और जीभ के इस जाने की स्थिति में ही उच्चारण हो जाता है। इस प्रकार मूल स्वर के उच्चारण में जीभ अचल रहती है तो संयुक्त स्वर में चल। इसीलिए संयुक्त स्वर को **विसर्प** (glide) कहते हैं, अर्थात् जिसके उच्चारण के समय जीभ सरकती रहे। (३) संयुक्त स्वर में दोनों स्वर मिलकर एक अक्षर का निर्माण करते हैं। (४) संयुक्त स्वर का पहला स्वर यदि अधिक मुखर हो तो संयुक्त स्वर को **अवरोही** (falling) **संयुक्त स्वर**, इससे अधिक मुखर हो तो **आरोही** (Rising) तथा दोनों बराबर हों तो **सम** (levelled) कहते हैं। (५) संयुक्त स्वर के गौण स्वर को **व्यंजनात्मक** (consonantal) अथवा **अनाक्षरिक** (nonsyllabic) स्वर कहते हैं। (६) अपवादतः कभी-कभी दो से अधिक स्वरों का भी संयुक्त स्वर प्रयुक्त होता है।

व्यंजनों का वर्गीकरण

प्रयत्न

ध्वनियों के उच्चारण के लिए हवा को रोक कर या और कई प्रकार से विकृत

करना पड़ता है। इसी क्रिया को 'प्रयत्न' कहते हैं। हर ध्वनि के लिये कोई न कोई प्रयत्न करना पड़ता है। 'प्रयत्न' का हमारे यहाँ प्राचीन संस्कृत साहित्य (आरण्यक, प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण आदि) में बड़े विस्तार में विचार किया गया। प्रयत्न, के दो भेद मिलते हैं—'अभ्यन्तर' 'और 'बाह्य'। 'अभ्यन्तर' प्रयत्न को 'आस्य प्रयत्न,' 'करण'[1] या 'प्रदान' भी कहा गया है। 'आस्य' का अर्थ 'मुँह' है। मुँह के भीतर प्रयत्न होने के कारण ही इसे 'अभ्यंतर प्रयत्न' कहते हैं। मुँह के बाहर जो प्रयत्न होता है, उसे वाह्य प्रयत्न', 'प्रकृति' या 'अनुप्रदान' कहा गया है।

'अभ्यंतर प्रयत्न' का क्षेत्र निश्चित नहीं है। पतंजलि 'महाभाष्य' में ओष्ठ से काकलक (ओष्ठात्प्रभृति प्राक् काकलकात्) तक मानते हैं। 'काकलक' को कैयट ने (काकलकं हि नाम ग्रीवायामुन्नत प्रदेशः) घंटी कहा है। यदि सचमुच ओष्ठ से घंटी के बीच का प्रयत्न अभ्यंतर' में आता है तो 'अनुनासिकता' और 'निरनुनासिकता' के लिये किये गये प्रयत्न को इसी के अंतर्गत मानना चाहिए, किन्तु इसे बहुत से लोगों ने तो किसी भी प्रयत्न में नहीं रखा है और जिन्होंने रखा भी है, 'बाह्य' में रखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस श्रेणी के विद्वानों के अनुसार कोमल तालु से ओठ के बीच के किये गये प्रयत्न ही अभ्यंतर के अंतर्गत हैं। इस प्रकार की अनेकरूपता के कारण यह कहना बिल्कुल ही कठिन है कि प्राचीन भारत का सर्वसम्मत मत अमुक था। यों इस स्खलन के बावजूद अधिकांश ग्रंथों में 'अभ्यंतर प्रयत्न' के अंतर्गत स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत इन चार को रखा गया है। इनमें स्पृष्ट तो स्पर्शों के लिये हैं, ईषत्स्पृष्ट अंतःस्थों के लिये, संवृत 'अ' (पाणिनि के काल में) के लिये, और विवृत ऊष्मों और स्वरों के लिये। पाणिनीय शिक्षा में 'स्पृष्ट नेमस्पृष्ट, ईषत्स्पृट और अस्पृष्ट का प्रयोग मिलता है, किन्तु इनका अर्थ थोड़ा भिन्न है। वहाँ प्रथम में स्पर्श तथा ह, दूसरे में ऊष्म, तीसरे में अंतस्थ और अन्तिम में स्वर हैं। कुछ ने इसके पाँच भेद—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट (अन्तःस्थ), ईषद्विवृत (ऊष्म), विवृत (स्वर), संवृत (अ)—किये हैं।

'वाह्य प्रयत्न' का सम्बन्ध अधिकांश लोगों के अनुसार स्वर-तंत्रियों से है। प्राचीन ग्रंथों में इसके विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये ग्यारह भेद मिलते हैं। इनमें अंतिम तीन का सम्बन्ध सुर से है, और अल्पप्राण, महाप्राण का हवा की कमी-वेशी से। शेष छः का सम्बन्ध स्वर-तंत्रियों से है। विवार उनका एक-दूसरे से दूर रहना है और संवार निकट रहना। दूर

१. आजकल 'करण' का प्रयोग उच्चारण के सक्रिय अंग (articulator) जैसे जीभ आदि के लिये किया जा रहा है। यों चंद्रगोमिन के 'वर्णसूत्र' आदि में भी इसका इसी अर्थ में प्रयोग मिलता है।

रहने पर जो उनके बीच हवा आती है, श्वास है, और उससे उत्पन्न ध्वनि अघोष है। दूसरी ओर संवार स्थिति में 'नाद' वायु से उत्पन्न ध्वनि घोष है। मनमोहन घोष आदि कुछ विद्वानों के अनुसार इनमें श्वास और अघोष तथा नाद और घोष एक ही हैं। व्यर्थ में नौ को ग्यारह कह दिया गया है।

आधुनिक विद्वानों में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि कुछ लोग 'बाह्य प्रयत्न' में केवल घोष-अघोष के लिये किये गये प्रयत्न को स्थान देते हैं, अर्थात् उनके अनुसार बाह्य प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों के केवल अघोष-घोष दो भेद होते हैं। दूसरी ओर एलेन आदि कुछ लोग इसके अन्तर्गत घोष-अघोष, अल्पप्राण-महाप्राण, अनुनासिक-निरनुनासिक इन तीनों के लिये किये गये प्रयत्न को स्थान देते हैं। यदि इसे मानें तो 'बाह्य प्रयत्न' का सम्बन्ध मात्र स्वर-तंत्रियों से नहीं रह जाता। वस्तुतः प्राचीन ग्रंथों में उपर्युक्त तीनों मत तो हैं ही, इनके अतिरिक्त कुछ और भी मत हैं। ऐसी स्थिति में प्रयत्न के भेद के सम्बन्ध में प्राचीन भारत के किसी एक मत को मान्यता देना सम्भवतः बहुत ठीक नहीं है। यों इन पंक्तियों के लेखक का मत यह है कि गम्भीरता से विचार करने पर ऐसे तथ्य सामने आते हैं कि बाह्य और अभ्यन्तर नाम से दो प्रयत्न करके फिर उनके भीतर अन्य प्रयत्नों को स्थान देने से अधिक सुविधाजनक और वैज्ञानिक यह होगा कि सीधे मात्र 'प्रयत्न' के अन्तर्गत ही उन सारे प्रयत्नों को रखें, जिनका प्रयोग ओठ से लेकर स्वर-तंत्रियों तक या उनके भी पूर्व होता है। पश्चिम में आधुनिक ध्वनिशास्त्र में ऐसा ही किया भी जा रहा है। बाह्य-अभ्यंतर का पचड़ा बेकार-सा है।

इस प्रकार अभ्यंतर-बाह्य की बात छोड़कर प्रयत्न (manner of articulation) के भेद किये जा सकते हैं। अधिकांश पुस्तकों में स्पर्श, नासिक्य, पार्श्विक लुंठित, उत्क्षिप्त; संघर्षी तथा अर्द्धस्वर के उच्चारण के लिये किये गये प्रयत्नों की गणना इसके अन्तर्गत की गई है, किन्तु मेरा मत यह है कि स्वर और व्यंजन के उच्चारण में इससे कहीं अधिक प्रयत्न किये जाते हैं। प्रमुख रूप से प्रयत्न निम्नांकित के लिये किये जाते हैं : (१) घोष, (२) अघोष, (३) जपित (इसके कई उपभेद किये जा सकते हैं), (४) अल्प प्राण, (५) महाप्राण, (६) मौखिक ध्वनि, (७) नासिक्य ध्वनि, (८) मौखिक नासिक्य ध्वनि, (९) स्पर्श, (१०) संघर्षी, (११) पार्श्विक, (१२) लुंठित (१३) उत्क्षिप्त, (१४) अर्द्धस्वर। यदि स्वर को भी रखें तो उपर्युक्त भेदों में कुछ तो आयेंगे ही, उनके अतिरिक्त (१५) मर्मर, (१६) संवृत, (१७) अर्द्धसंवृत, (१८) अर्द्धविवृत, (१९) विवृत आदि के लिये किये प्रयत्न भी जोड़ने पड़ेंगे। ये तो थीं सामान्य ध्वनियाँ, यदि इनके साथ अंतर्मुखी (imposive), क्लिक (click) और उद्गार (ejective) ध्वनियों को भी जोड़ दिया जाय तो प्रयत्नों की संख्या और भी अधिक बढ़ जायगी। ऐसा अनुमान करना अन्यथा न होगा कि सविस्तार देखने पर प्रयत्नों की संख्या ५० से कम न होगी। यह भी

स्मरणीय है कि किसी भी ध्वनि के लिये प्रायः विभिन्न स्थानों पर एक से अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, 'ख' के लिये स्पर्शीय, अघोषीय, महाप्राणीय तथा निरनुनासिकीय, ये चार प्रयत्न अपेक्षित हैं। यही बात अधिकांश ध्वनियों के लिये सत्य है।

स्थान

ध्वनियों का उच्चारण विशेष प्रयत्न से किया जाता है, किन्तु साथ ही यह प्रयत्न स्थान-विशेष या अंग-विशेष से किया जाता है। 'स्थान, वह है, जहाँ भीतर से आती हुई हवा को रोककर या किसी अन्य प्रकार के उसमें विकार लाकर ध्वनि उत्पन्न की जाती हैं। स्थान (*place of articulation*) भी उच्चारण में प्रयत्न जितने ही महत्वपूर्ण हैं और उनके आधार पर भी ध्वनियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। स्वर के अग्र, मध्य, पश्च भेद स्थान पर ही आधारित हैं। किंतु स्वरों में इन तीनों स्थानों से तो संवृत-विवृत आदि का प्रयत्न होता है, शेष—अनुनासिक-मौखिक, वृत्त-मुखी-अवृत्तमुखी, घोष-अघोष आदि—प्रयत्न अन्य स्थानों पर होते हैं। व्यंजनों में भी ओष्ठ से लेकर स्वरयंत्र तक इसी प्रकार अनेक स्थानों पर प्रयत्न होता है। प्रमुख स्थान ओष्ठ, दाँत, वर्त्स, कठोर तालु, मूर्द्धा, कोमल तालु, अलिजिह्व, उपलिजिह्व तथा स्वरयंत्र है।

जिस प्रकार एक ध्वनि के लिए कई एक प्रयत्न अपेक्षित हैं, उसी प्रकार बहुत से प्रयत्न के लिये बहुत से स्थान भी अपेक्षित हैं। उपर्युक्त उदाहरण के 'ख' के लिए ही स्वरयंत्र (अघोष), अलिजिह्व (निरनुनासिक), कोमल तालु आदि स्थानों की आवश्यकता पड़ती है। केवल एक स्थान और एक प्रयत्न का विचार ही पर्याप्त नहीं है, जैसा कि प्रायः सभी ध्वनिशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। किंतु, संक्षिप्तता और व्यावहारिकता की दृष्टि से प्रायः किसी भी ध्वनि के प्रमुख प्रयत्न और उस प्रमुख प्रयत्न के स्थान का ही विचार किया जाता है। इसी कारण उपर्युक्त उदाहरण के 'ख' के प्रयत्न और स्थान के बारे में उतने विस्तार में न जाकर संक्षेप में उसे स्थान की दृष्टि से 'कोमल तालव्य' और प्रयत्न की दृष्टि से 'स्पर्श' कहा जाता है। यही बात सभी व्यंजनों और स्वरों के बारे में की जाती है, यद्यपि किसी भी ध्वनि को पूर्णतः समझने के लिए उसके सभी स्थानों या अंगों और उनके द्वारा सम्पन्न प्रयत्नों का विचार किया जाना चाहिए।

व्यंजनों के वर्गीकरण के आधार

व्यंजनों का वर्गीकरण निम्नांकित छः आधारों पर किया जा सकता है, जिनमें मुख्य प्रथम चार हैं—

(क) **प्रयत्न के आधार पर**—इस आधार पर व्यंजनों के मुख्यतः निम्नांकित भेद होते हैं; (१) **स्पर्श** (stop)—स्पर्श का अर्थ है 'छूना'। इसके उच्चारण में एक

उच्चारण-अवयव दूसरे का स्पर्श करता है। स्पर्श के उच्चारण में तीन चरण होते हैं। पहले चरण में हवा भीतर से स्पर्श स्थान तक आती है, दूसरे चरण में दो अवयव एक-दूसरे का स्पर्श करके भीतर से आती हवा को रोक देते हैं। तीसरे चरण में दोनों अवयव एक-दूसरे के दूर हट जाते हैं और हवा बाहर निकल जाती है। ये तीनों चरण 'हवा का आगमन', 'अवरोध', 'तथा 'स्फोटन' हैं। स्पर्श व्यंजन दो प्रकार के होते हैं; **स्फोटित** (exploded) **स्पर्श**—जिसमें तीसरा चरण होता हैं, अर्थात् अंत में स्फोट होता है। यह स्वर के पूर्व आता है तथा इसमें उच्चारण तीसरे चरण के आरम्भ में सुनाई पड़ता है। **अस्फोटित** (unexploded) **स्पर्श**—इसमें तीसरा चरण नहीं होता तथा ध्वनि पहले चरण के अंत में सुनाई पड़ती है। यह स्पर्श व्यंजन के पूर्व (अप्सरा) या शब्दांत में (आप) आता है। भारतीय वैयाकरणों ने इस अस्फोटित उच्चारण को **अभिनिधान** कहा है। हिंदी में क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ठ, त, थ, द, ध, प, फ, ब, भ तथा क़ स्पर्श हैं। संस्कृत में च, छ, ज, झ तथा पाँचों नासिक्य व्यंजनों को भी स्पर्श में रखा गया है। (२) **संघर्षी** (Fricative)—इससे उच्चारण में दो उच्चारण-अवयव एक-दूसरे के इतने निकट चले जाते हैं कि दोनों से बीच से निकलने वाली हवा घर्षण या संघर्ष करती हुई बाहर निकलती है। हिंदी में फ, व, स, ज़, श, ख़, ग़, ह संघर्षी व्यंजन हैं। संस्कृत में स, ष, श, ह संघर्षी व्यंजन हैं। (३) **स्पर्श संघर्षी** (affricate)—इन ध्वनियों के उच्चारण में प्रारंभिक चरण 'स्पर्श' का होता है तथा अंतिम चरण 'संघर्ष' का, हिंदी में च, छ, ज, झ यही हैं। संस्कृत में ये स्पर्श माने गये हैं। स्पर्श संघर्षी व्यंजन स्फोटित रूप में ही स्पर्श-संघर्षी रहता है, अस्फोटित होने पर स्पर्श हो जाता है; चना, नाच। (४) **नासिक्य** (Nasal)—इनके उच्चारण में हवा नाक से निकलती है। ङ, ञ, ण, न, म नासिक्य व्यंजन हैं। स्पर्श व्यंजनों में हवा का निकलना कुछ देर के लिए रुक जाता है (अवरोध की स्थिति में), किंतु नासिक्य व्यंजनों के उच्चारण में हवा नाक से निकलती रहती है। (५) **पार्श्विक** (lateral)—इनके उच्चारण में मुँह में मध्य मार्ग में दो अवयव एक-दूसरे से मिलकर वायु को अवरुद्ध कर देते हैं, किंतु हवा एक या दोनों पार्श्वों से निकलती रहती है, इसके आधार पर इसके दो भेद होते हैं : **एकपार्श्विक, द्विपार्श्विक**। 'ल' पार्श्विक व्यंजन है जो कुछ के उच्चारण में एकपार्श्विक तथा कुछ के उच्चारण में द्विपार्श्विक होता है। (६) **उत्क्षिप्त** (Flapped)—इसके उच्चारण में जीभ ऊपर उठकर झटके से नीचे आती है : ड़, ढ़। (७) **कंपन-जात** (trilled)—इसके उच्चारण में किसी अवयव की नोक में से वायु के प्रवाह से कंपन होता है। उदाहरण के लिए हिंदी 'र' के उच्चारण में जीभ की नोक काँपती है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना ने हिन्दी 'र' को **लुंठित** (rolled) जिसका जीभ को बेलन की तरह लपेट

कर उच्चारण करते हैं) कहा है तथा डॉ॰ कादरी और चटर्जी ने उत्क्षिप्त, किंतु मेरे विचार में हिन्दी 'र' कंपनजात है। (७) संघर्षहीन सप्रवाह (Erictionless continuant) इसमें हवा का प्रवाह तो चलता रहता है, किंतु संघर्ष नहीं होता। य, व ऐसी ही ध्वनियाँ हैं। ये स्वर तथा व्यंजन के बीच में हैं। अतः इन्हें अर्धस्वर (semivowel) कहते हैं, यों ये अपनी प्रकृति में स्वर से अधिक व्यंजन हैं, अतः इन्हें अर्द्धव्यंजन कहना कदाचित अधिक उपयुक्त है। इनके उच्चारण में उच्चारण-अवयव पहले क्रमशः इ और उ की स्थिति में होते हैं तथा फिर परवर्ती स्वर (या, वा) या व्यंजन की स्थिति में हो जाते हैं।

कभी-कभी व्यंजनों के प्रयत्न के आधार पर मोटे रूप से दो भेद किये जाते हैं: (अ) अवरोधी (noncontinuant)—जिसमें हवा रुक जाय। स्पर्श तथा स्पर्श-संघर्षी ध्वनियाँ अवरोधी हैं, क्योंकि उनके उच्चारण में हवा रुक जाती है। (आ) अनवरोधी (continuant)—जिनके उच्चारण में हवा रुके नहीं। नासिक्य उत्क्षिप्त, कंपनजात पार्श्विक, संघर्षी, अर्द्धस्वर ध्वनियाँ अनवरोधी हैं। उनके उच्चारण में हवा का प्रवाह रुकता नहीं।

(ख) स्थान के आधार पर—इस आधार पर व्यंजन के प्रमुखतः निम्नांकित भेद हो सकते हैं: (१) स्वरयंत्रमुखी (laryngeal या glottal)[1]— उन ध्वनियों को कहते हैं जो स्वरयंत्रमुख से उच्चरित की जाती है। इन्हें स्वरयंत्र-स्थानीय, काकल्य या उरस्य भी कहते हैं। 'ह' (हिन्दी आदि का) स्वरयंत्रमुखी संघर्षी है। अरबी का 'हमज़ा' स्वरयंत्रमुखी स्पर्श (glottal stop) है।[2] उत्तरी जर्मन तथा कुछ अन्य भाषाओं में भी यह स्पर्श मिलता है। (२) उपालिजिह्वीय (pharyngeal)—उन ध्वनियों को कहते हैं, जो स्वर-यन्त्र और अलिजिह्व के बीच में उपालिजिह्व या गलबिल से उच्चरित होती है। इसके लिए जिह्वामूल को पीछे हटाकर गलबिल को संकीर्ण कर लिया जाता है। अरबी की 'बड़ी हे' और 'ऐन' इसी स्थान से उच्चरित होती हैं। उपालिजिह्वीय ध्वनियाँ प्रायः अफ्रीका में या उसके आसपास ही मिलती हैं, (३) अलिजिह्वीय (uvular)—कौवे या अलिजिह्व से इन ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है। इसके लिए जिह्वामूल या जिह्वापश्च को या तो निकट ले जाकर वायुमार्ग संकरा करते हैं, और संघर्षी ध्वनि उत्पन्न होती है, या स्पर्श कराकर स्पर्श-ध्वनि। इन ध्वनियों को जिह्वामूलीय या जिह्वापश्चीय भी कहा जाता है। क ध्वनि इसी प्रकार की है। (४) कोमल तालव्य (softpalatal)—इसे संस्कृत में कंठ्य (guttural या velar) कहा गया है। जीभ के पिछले भाग के सहारे इन ध्वनियों को उत्पन्न करते हैं। क, ख, ग, घ, ङ यही हैं।

१. कुछ लोग glottal और laryngeal में अन्तर मानते हैं।

२. glottal या Catch

ख, ग आदि संघर्षी ध्वनियाँ भी यहाँ से उच्चरित होती हैं। (५) **मूर्धन्य** (cerebral)—उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनके उच्चारण में मूर्द्धा से सहायता ली जाती है। संस्कृत में टवर्ग, ऋ, ष आदि मूर्द्धन्य थे—ऋटुरषाणां मूर्द्धा। हिन्दी में टवर्ग यद्यपि पुराने-नये सभी लेखकों द्वारा मूर्द्धन्य कहा गया है, किन्तु वस्तुतः उसका मूर्द्धन्य उच्चारण कम ही होता है। वह आगे खिसक आया है। उसे **पूर्व-तालव्य** (prepalatal) कहना चाहिए। यों कभी-कभी यह वर्ग कठोर तालव्य भी उच्चरित होता है। 'टूटा' जैसे शब्दों में तो वह प्रायः वर्त्स्य है। द्रविड़ तथा चीनी में कुछ ध्वनियाँ मूर्द्धन्य हैं। मूर्द्धन्य ध्वनियों के उच्चारण में जीभ की नोक को उलटकर मूर्द्धा से उसका स्पर्श कराते हैं, इसीलिए इसे प्रतिवेष्ठित कहते हैं। (६) **कठोर तालव्य** (palatal)—इनका उच्चारण कठोर तालु से होता है। जीभ के अगले भाग या नोक से इसमें सहायता ली जाती है। हिन्दी चवर्ग का उच्चारण यहीं से होता है। संस्कृत में इ, चवर्ग, य, श का उच्चारण यहीं से कहा गया है—इचुयशानां तालु। संक्षेप में कठोर तालव्य को तालव्य कहते हैं (७) **वर्त्स्य** (alveolar)—मसूड़े या वर्त्स (और जिह्वाग्र) की सहायता से उत्पन्न ध्वनियाँ वर्त्स्य कहलाती हैं। न, ल, र, स, ज इसी वर्ग के हैं। अंग्रेजी के T, D भी वर्त्स्य हैं। (८) **दंत्य** (dental)—दाँत की सहायता से उच्चरित ध्वनियाँ दंत्य हैं। इसमें जिह्वाग्र या जीभ की नोक की सहायता ली जाती है। हिन्दी के त, थ, द, ध दंत्य हैं। संस्कृत के लृ, तवर्ग, ल, स दंत्य थे। सूक्ष्मता से विचार करने पर दंत्य के अग्र, मध्य, मूल ये तीन भेद किये जा सकते हैं। (९) **दंतोष्ठ्य** (labiodental)—ऐसी ध्वनियाँ, जिनका उच्चारण ऊपर के दाँत और नीचे के ओठ की सहायता से होता है। व, फ़ दंतोष्ठ्य हैं। (१०) **ओष्ठ्य** (bilabial)—जिनका उच्चारण दोनों ओठों से हो। प, फ, ब, भ, म ऐसे ही हैं। इन्हें द्वयोष्ठ्य भी कहते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कुछ ध्वनियों के दो या अधिक प्रयत्न अपेक्षित होते हैं, इसी प्रकार कुछ ध्वनियों के लिए एक से अधिक स्थान आवश्यक होते हैं।

(ग) **स्वर-तन्त्रियों के आधार पर**—इस आधार पर व्यंजन के प्रमुखतः दो भेद हो सकते हैं: घोष, अघोष। जैसा कि कहा जा चुका है, घोष वे ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों के निकट आ जाने से उसके बीच निकलती हवा से उनमें कंपन होता है। हिन्दी में कवर्ग आदि पाँचों वर्गों की अन्तिम तीन (अर्थात् ग, घ, ङ, ज, झ, ञ आदि) ध्वनियाँ तथा य, र, ल, व, ज़, ग़, ह, ड़, ढ़ आदि घोष हैं। दूसरी ओर जिनके उच्चारण में कम्पन (स्वरतन्त्रियों में) नहीं होता, उन्हें अघोष कहते हैं। हिन्दी में पाँचों वर्गों की प्रथम दो ध्वनियाँ, क़, ख़, फ़, स, श आदि अघोष हैं। सूक्ष्मता से विचार करने पर घोष ध्वनियों के भी **पूर्ण घोष और अपूर्ण घोष** दो भेद हो सकते हैं। हिन्दी 'ब' पूर्ण घोष है, किन्तु अंग्रेज़ी B अपूर्ण।

(घ) प्राणत्व के आधार पर—प्राण का अर्थ है, 'हवा', 'श्वास' या 'हवा की शक्ति'। इस आधार पर कुछ व्यंजन 'अल्पप्राण' कहे जाते हैं और कुछ 'महाप्राण'। जिन व्यंजनों के उच्चारण में हवा का आधिक्य हो या श्वास-बल अधिक हो, उन्हें 'महाप्राण' (aspirated) कहते हैं और दूसरी ओर जिन व्यंजनों के उच्चारण में हवा का आधिक्य न हो या श्वास-बल कम हो, उन्हें 'अल्पप्राण' (unaspirated) कहते हैं।

'ह्' ध्वनि शुद्ध 'प्राण' से बहुत मिलती-जुलती है, इसी कारण महाप्राण ध्वनियों को ह्-युक्त, तथा अल्पप्राण ध्वनियों को ह्-रहित कहा तथा लिखा जाता है। अर्थात् ख्=क्+ह (kh) या क=ख्—ह। कुछ लोगों ने ऐसा माना तो है, किन्तु वस्तुतः जहाँ तक मैं समझता हूँ, ऐसी मान्यता बड़ी भ्रामक है। हम जानते हैं कि 'ह्' ध्वनि संघर्षी है, चाहे उसका संघर्ष थोड़ा ही क्यों न हो। ऐसी स्थिति में ख् को यदि 'क्+ह' माना जाय तो 'क' स्पर्श है और 'ह' संघर्षी। इस प्रकार 'ख' ध्वनि स्पर्श-संघर्षी या स्पर्श और संघर्षी का योग हो जायगी, किन्तु हम जानते हैं कि 'ख' शुद्ध स्पर्श है। इसका आशय यह हुआ कि 'ख' को 'क्' का महाप्राण वाला रूप मानना तो ठीक है, किन्तु उसे 'क्', 'ह्' का योग मानना भ्रामक है। प्राणत्व के आधार पर संघर्षी व्यंजनों को छोड़कर सभी व्यंजनों पर विचार करते हैं। हिन्दी के अल्पप्राण तथा महाप्राण व्यंजन हैं :

अल्पप्राण—क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, ल, र, ड़।

महाप्राण—ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, न्ह, फ, भ, म्ह, ल्ह, र्‌ह, ढ़।

इस प्रकार मोटे रूप में जिन ध्वनियों के लिए रोमन लिपि में H (th, kh आदि) या उर्दू लिपि में 'हे' जोड़ना पड़ता है, वे महाप्राण हैं, शेष अल्पप्राण।

(ङ) उच्चारण-शक्ति के आधार पर—इस आधार पर व्यंजनों के सशक्त (fortis) और अशक्त (lenis) तथा मध्यम ये तीन भेद किये जा सकते हैं। 'सशक्त' जिसमें मुंह की मांसपेशियाँ दृढ़ हों, जैसे स्, ट्। अशक्त में मांसपेशियाँ शिथिल होती हैं, र्, ल्। च्, श् आदि कुछ ध्वनियाँ दोनों के मध्य में आती हैं।

(च) ह्रस्वता-दीर्घता के आधार पर—ह्रस्व व्यंजन तो क, च, प आदि हैं और दीर्घ व्यंजन क्क, च्च, प्प आदि हैं, जिन्हें लेखन में द्वित्व के आधार पर प्रायः द्वित्व व्यंजन कहते हैं।

(छ) संयुक्तता-असंयुक्तता के आधार पर—इस आधार पर व्यंजनों के (१) असंयुक्त—जैसे क्, ट्; (२) संयुक्त—जैसे क्ट, प्व, ल्य; ये दो भेद किये जाते हैं।

कुछ असामान्य व्यंजन और उनके भेद

ऊपर जिन व्यंजनों और उनके भेदों का उल्लेख किया गया है, वे सामान्य

और बहुप्रचलित हैं । इसके विरुद्ध कुछ व्यंजन असामान्य और अल्पप्रचलित हैं । ऊपर के व्यंजन बहिःस्फोटात्मक थे, अर्थात् उनमें हवा फेफड़े से बाहर की ओर आती थी । आगे जिन प्रथम और तृतीय का वर्णन किया जायगा, वे **अन्तःस्फोटात्मक,** अर्थात् उसके ठीक उल्टे हैं । इनके उच्चारण में हवा बाहर से भीतर जाती है । दूसरा इस दृष्टि से भिन्न है ।

(१) **अन्तःस्फोटात्मक व्यंजन** (Implosive)—इन्हें अन्तर्मुखी या अन्तःस्फोट भी कहते हैं । ये स्पर्श व्यंजन हैं । इनसे ऐसा होता है कि सामान्य स्पर्शों की भाँति मुँह के किसी भाग में स्पर्श या अवरोध होता है और साथ ही स्वरयन्त्र काफी नीचे कर दिया जाता है । परिणाम यह होता है कि स्पर्श-स्थान और स्वरयन्त्र के बीच के स्थान के विस्तृत हो जाने के कारण हवा फैलकर हलकी हो जाती है और ज्यों ही अवरोध का उन्मोचन होता है, भीतर हलकी हवा होने के कारण बाहर से हवा बड़ी तेजी से प्रवेश करती है और यह ध्वनि उच्चरित होती है । वेस्टरमैन के अनुसार, इसके तुरन्त बाद एक सामान्य स्वर सुनाई पड़ता है । इस प्रकार की ध्वनियाँ द्वयोष्ठ्य, दंत्य, तालव्य और कोमल तालव्य होती हैं । ऐसी ध्वनियों के पूर्व प्रायः ऊपर एक उलटा 'कॉमा' रखकर उन्हें अन्य ध्वनियों से अलग करते हैं: जैसे प '('P)' आदि । यों कुछ अन्य पद्धतियाँ भी प्रचलित हैं । अफ्रीका की एफिक, इबो, हौसा, जुलू आदि; भारत की सिंधी (ज, ब आदि) तथा कुछ राजस्थानी बोलियाँ एवं कुछ मूल अमरीकी भाषाओं में इस प्रकार की ध्वनियाँ मिलती हैं । अतः स्फोटात्मक ध्वनियाँ कभी-कभी बहुत हलकी होती हैं ।

(२) **उद्गार व्यंजन** (Gjective या Glotalized Stop)—यह भी विशेष प्रकार की स्पर्श-ध्वनि ही है । इसमें मुँह में स्पर्श के अवरोध के साथ-साथ स्वरयंत्रमुख भी स्वरतंत्रियों के समीप आने से बन्द हो जाता है । पहले मुँह में स्फोट होता है और फिर स्वरयंत्र में लगभग आधा सेकेण्ड के बाद । स्वरयंत्र इस समय कुछ ऊपर उठ आता है । दोहरे अवरोध और दोहरे उन्मोचन के कारण यह ध्वनि एक विशेष प्रकार की कुछ तेज-सी बोतल के कार्क खुलने जैसी सुनाई पड़ती है । इसके उच्चारण में मुँह की माँसपेशियों में संकोचन से हवा संकुचित रहती है और उन्मोचन होते ही जोर से बाहर निकलती है । यह स्पर्श, द्वयोष्ठ्य, तालव्य, कोमल तालव्य आदि कई प्रकार का हो सकता है । इसे लिखने के लिपिचिह्न के आगे ऊपर कॉमा लगाते हैं, जैसे 'क' (k'), प' आदि । ये ध्वनियाँ प्रमुखतः अफ्रीकी भाषाओं में मिलती हैं, किंतु अपवादस्वरूप फ्रांसीसी आदि कुछ अन्य भाषाओं में भी हैं ।

स्पर्श के अतिरिक्त संघर्षी, पार्श्विक तथा अर्द्धस्वर आदि का भी उच्चारण इस प्रकार स्वरयंत्र बन्द करके हो सकता है । ये ध्वनियाँ भी अफ्रीकी भाषाओं में हैं ।

(३) **क्लिक** (Click)—इसे अन्तर्मुखी द्विस्पर्श या अन्तःस्फोट द्विस्पर्श भी कहा

गया है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ दो हैं: (क) मुंह में दो स्थानों पर स्पश या अवरोध, (ख) हवा का बाहर से भीतर जाना। दो अवरोधों या स्पर्शों में एक तो कोमल तालव्य (अर्थात् 'क्' के समान) होता है, और दूसरा स्पर्श उसके इधर कहीं भी। इसके उच्चारण में जीभ तथा मांसपेशियाँ कुछ कड़ी रहती हैं। पहले बाहर के स्पर्श का उन्मोचन होता है। भीतर की मांसपेशियों के कड़ापन एवं खिंचाव से भीतर की हवा संकुचित-सी रहती है, उन्मोचन होते ही बाहर से हवा घुसती है और तुरन्त ही क-स्थानीय स्पर्श भी उन्मोचित होता है। यह परवर्ती उन्मोचन अत्यन्त धीमा होने से सुनायी नहीं पड़ता। ध्वनि के बाद तुरन्त किसी सामान्य स्वर का उच्चारण होता है। क्लिक ध्वनियाँ कई प्रकार की होती हैं। इनका यह अन्तर क-स्थानीय स्पर्श के कारण नहीं होता, क्योंकि यह स्पर्श तो सभी में एक-सा होता है। अंतर होता है उस दूसरे स्पर्श के कारण जो क-स्थान के इधर घटित होता है। इन पूर्ववर्ती स्पर्शों के आधार पर ही क्लिक के प्रमुखतः ६ भेद किये गये हैं: द्वयोष्ठ्य, दंत्य, वर्त्स-तालव्य, वर्त्स्य, प्रतिवेष्ठित कठोर तालव्य, वर्त्स्य-पार्श्विक। इनमें अन्तिम उन्मोचन 'ल' की तरह केवल एक पार्श्व में होता है। क्लिक ध्वनियों का प्रयोग अधिकांशतः दक्षिणी अमेरिका की भाषाओं में होता है, किंतु उनसे मिलती-जुलती ध्वनि बहुत-सी अन्य भी भाषाओं में पायी जाती है। कुछ लोगों के अनुसार प्रागैतिहासिक काल में भारोपीय परिवार में भी क्लिक ध्वनियाँ थीं, धीरे-धीरे उनका लोप हो गया। ब्रिटेन में 'हम प्यार करते हैं' के अर्थ में karom का प्रयोग होता रहा है, जो इधर karomp हो गया है। वेन्द्रिये के अनुसार, 'प' का यह विकास 'क्लिक' के कारण है। फ़ांसीसी भाषा में संदेह और आश्चर्य प्रकट करने के लिए 'त' का क्लिक रूप प्रयुक्त होता है। हिन्दी का 'च्-च्' या 'टिक्-टिक्' भी कुछ इसी प्रकार का है।

क्लिक ध्वनियों के अघोष-घोष, अल्पप्राण-महाप्राण, अनुनासिक-निरनुनासिक आदि दोनों रूप हो सकते हैं। लिखने में इनके लिए कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं। होटेंटोट की एक बोली 'नामा' के लिए। (दंत्य), † (वर्त्स्य), ! (प्रतिवेष्ठित)", (पार्श्विक) चिह्नों का प्रयोग किया गया है। जैसे, !ami—ढीला करना। ओष्ठ्य के लिये का भी प्रयोग किया गया है। किन्तु अब लिपिचिह्नों को उलटी कर या उन-जैसे नये चिह्नों का ही प्रायः प्रयोग करते हैं, जैसे ɿ (उलटी टी) आदि। क्लिक ध्वनियों को प्रयुक्त करने वाली प्रमुख भाषाएँ बुशमैन, जुलू, बांटू, होटेंटोट तथा अमरीका की आदि भाषाएँ हैं। वर्त्स्य-तालव्य प्रयोग केवल सुतो (अफ्रीकी) में होता है।

संयुक्त व्यंजन : द्वित्व, दीर्घ, संयुक्त

संयुक्त व्यंजन दो या अधिक व्यंजनों के मिलने से बनते हैं। मिलने वाले

यदि दोनों व्यंजन एक हैं (जैसे क्+क्, पक्का) तो उस युक्त व्यंजन को दीर्घ या द्वित्व व्यंजन (Long या double consonant) कहते हैं, किंतु यदि दोनों दो हैं (जैसे र्+म्, गर्मी) तो संयुक्त व्यंजन (compound consonant) कहते हैं। एक दृष्टि से व्यंजन के दो भेद किये जा सकते हैं : स्पर्श और स्पर्श-संघर्षी या पूर्ण बाधा वाले तथा अन्य। स्पर्श और स्पर्श-संघर्षी के द्वित्व में ऐसा होता है कि उसमें स्पर्श की प्रथम (हवा के आने और स्पर्श होने) और अन्तिम या तृतीय (उन्मोचन या स्फोट) स्थिति में तो कोई अंतर नहीं आता, केवल दूसरी या अवरोध की स्थिति बड़ी हो जाती है। 'पक्का' में वस्तुतः दो 'क्' नहीं उच्चरित होते, अपितु 'क्' के मध्य की स्थिति अपेक्षाकृत बड़ी हो जाती है। इसीलिए वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार के द्वित्वों को 'दो क्' आदि न कह कर 'क' का दीर्घ रूप या 'दीर्घ व्यंजन क' या दीर्घ या प्रलम्बित 'क' कहना अधिक समीचीन है, क्योंकि दो 'क' तब कहलाते, जब दोनों की तीन-तीन स्थितियाँ घटित होतीं। स्पर्श-संघर्षी 'च' आदि व्यंजनों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। इस प्रकार बग्गी, बच्चा, लज्जा, भट्टी, अड्डा, पत्ती, गद्दी, थप्पड़, अब्बा आदि सभी के द्वित्व ऐसे ही हैं। महाप्राणों का इस रूप में द्वित्व नहीं होता। वस्तुतः (अन्य दृष्टियों में से एक) अल्पप्राण और महाप्राण ध्वनियों का अन्तर स्फोट के वायु-प्रवाह की कमी-वेशी के कारण होता है। अतः जब दो मिलेंगे तो पहले का स्फोट होगा नहीं, इस प्रकार वह अल्पप्राण हो जायगा। आशय यह है कि ख्ख, घ्घ, छ्छ, झ्झ, ठ्ठ, भ्भ आदि का उच्चारण हो ही नहीं सकता। उच्चारण में ये क्ख, ग्घ, ज्झ, ट्ठ, ब्भ हो जायेंगे, जैसे घग्घर, मच्छर, झज्झर, भब्भड़ आदि। अन्य प्रायः सभी व्यंजनों के द्वित्व में इस प्रकार की कोई बात नहीं होती, केवल उनकी दीर्घता बढ़ जाती है, जैसे पन्ना, अम्मा, रस्सा, बर्रे, पिल्ला आदि।

संयुक्त व्यंजनों में यदि पहला स्पर्श या स्पर्श-संघर्षी है तो वह अस्फोटित होता है, अर्थात् उसका स्फोट या उन्मोचन नहीं होता, जैसे ऐक्ट, अक्ल, बद्ली, अच्छी आदि। अन्य प्रायः कोई भी व्यंजन आये तो उसमें प्रकृति की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। हाँ, दीर्घता या मात्रा की कुछ कमी-वेशी अवश्य मिलती है। संयुक्त व्यंजनों में एक का घोषत्व-अघोषत्व दूसरे के स्वरूप को प्रभावित करता है। 'नागपुर' का उच्चारण 'नाक्पुर', 'प' के 'ग' पर पड़े प्रभाव के कारण है। संस्कृत की संधियों में इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

(व्यंजनों के वर्गीकरण की तालिका इस अध्याय के अंत में ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन के प्रसंग में देखिये।)

(घ) ध्वनि-गुण (Sound Quality)[1]

भाषा का आधार 'ध्वनि' है और 'ध्वनि' से आशय प्रायः स्वर और व्यंजन

१. इसे ध्वनि-लक्षण (sound attributes) भी कहा गया है। आंग्लध्वनि-

का लिया जाता है, किंतु भाषा केवल स्वर और व्यंजन का ही योग नहीं है। इन दोनों के अतिरिक्त मात्रा और सुर-बलाघात आदि भी उनके साथ काम करते हैं। इन तीनों का अलग अस्तित्व नहीं है। ये स्वर-व्यंजन पर ही आधारित हैं, यद्यपि इनके कारण उनकी प्रकृति या गुण में अन्तर आता रहता है। सुर-बलाघात दोनों को एक नाम 'आघात' (accent) से भी अभिनिहित कर सकते हैं। ध्वनि-गुण के अंतर्गत प्रमुखतः ये ही दो—मात्रा और आघात—आते हैं।

(अ) मात्रा (Length, mora या chrone)

किसी भी ध्वनि के उच्चारण में या उच्चारण छोड़कर मौन रहने में समय की जो मात्रा लगती है, उसे भाषा के अध्ययन में 'मात्रा-काल' कहते हैं। किसी ध्वनि के उच्चारण में समय कम लगता है, किसी में ज्यादा, किसी में बहुत कम और किसी में बहुत ज्यादा। कम समय वाली मात्रा ह्रस्व, अधिक समय वाली दीर्घ और उससे भी अधिक समय वाली प्लुत कहलाती है। इसी आधार पर मात्रा के मोटे रूप से पाँच भेद—ह्रस्वार्द्ध (half short), ह्रस्व (short), ईषत्-दीर्घ (half long), दीर्घ (long), प्लुत (over long) किये जा सकते हैं। यों सूक्ष्मता से विचार करने पर ये भेद और अधिक हो सकते हैं। मशीनों के आधार पर तो पचासों भेद किये जा सकते हैं।

प्राचीन भारत में मात्रा का अध्ययन अच्छी तरह किया गया था। भारतीय भाषाशास्त्री इसके महत्व से पूर्ण परिचित थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सिर्फ इसी विषय को लेकर लिखा गया 'काल-निर्णय शिक्षा' नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलता है।

भारतीय प्रातिशाख्य, शिक्षा या व्याकरण-ग्रन्थों में मात्रा के भेद के रूप में केवल तीन—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—का ही प्रायः उल्लेख मिलता है। परम्परागत रूप में ह्रस्व एकमात्रिक, दीर्घ द्विमात्रिक तथा प्लुत त्रिमात्रिक है, या कुछ लोगों के अनुसार एक बार चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, उतना समय ह्रस्व का है, और उससे दूना तथा तीन गुना क्रम से दीर्घ तथा प्लुत का।[1] वस्तुतः बात ऐसी है

शास्त्रियों ने इसके लिये स्वनगुण या रागीय तत्त्व (prosodic feature) तथा अमरीकनों ने अखंड या खंडेतर ध्वनियाँ (supra.segmental sounds) भी प्रयुक्त किया है। कुछ अन्य विद्वानों ने इन्हें secondary phoneme prosodeme कहा है।

१. नारद-शिक्षा, ऋक् प्रातिशाख्य तथा अन्य ग्रन्थों में इन मात्राओं को और ढंग से भी नापा गया है। जैसे ह्रस्व बराबर है आँख की झपक या नीलकंठ की एक बोली या बिजली की एक चमक के। दीर्घ बराबर है कौवे की एक बोली के, और प्लुत बराबर है मोर की एक बोली के। आधी मात्रा या ह्रस्वार्द्ध को न्यौले की एक बोली के बराबर कहा गया है।

नहीं ह्रस्व से दीर्घ में अधिक समय तो लगता है, किन्तु दूना नहीं। अंग्रेजी ह्रस्व स्वर में ·२२८ सेकेंड तथा दीर्घ में ·३१८ सेकेंड लगता है। संस्कृत में सामान्यतः प्रथम दो—ह्रस्व, दीर्घ—का ही प्रयोग मिलता है। प्लुत का प्रयोग बहुत कम मिलता है। पूरे ऋग्वेद में इसका प्रयोग दो-तीन वार से अधिक नहीं है। 'ओ३म' में 'ओ' प्लुत है। इसीलिये ओ के बाद ३ लिखते हैं जो (ह्रस्व के तीन गुने) प्लुत का द्योतक है। किसी को बुलाने में इसका प्रायः प्रयोग होता है 'ओराऽऽऽम'। यहाँ 'रा' का 'आ' प्लुत है। कभी-कभी तो इतना खींचकर बुलाते हैं कि प्लुत से भी बड़ी मात्रा सुनाई पड़ती है, जिसके लिए ४ या ५ लिख सकते हैं। भोजपुरी में 'रमवाँ हउवे रे' में रे का ए १० मात्रा से कम का नहीं होता।

मात्रा स्वर, अर्द्ध स्वर और व्यंजन सभी की होती है। कुछ लोगों का विचार है कि भारत में व्यंजन की मात्रा नहीं मानी जाती थी, किंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। अथर्ववेद, प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयी प्रातिशाख्य आदि कई ग्रन्थों में व्यंजन की मात्रा का उल्लेख मिलता है। वाजसनेयी प्रातिशाख्य व्यंजन की मात्रा आधी (व्यंजन मर्द्ध मात्रा) मानता है। व्यंजन की मात्रा के आधार पर कई वर्ग बनाये जा सकते हैं; स, श, ज् आदि ऐसे व्यंजन, जिनका उच्चारण देर तक किया जा सकता है, अपेक्षाकृत देर तक बोले जा सकते हैं। इनकी मात्रा घट-बढ़ सकती है, किन्तु स्पर्श आदि में सामान्यतया ऐसा होना सम्भव नहीं होता। किन्तु इसका आशय यह नहीं कि उनकी मात्रा कभी दीर्घ हो ही नहीं सकती। व्यंजन का द्वित्व वस्तुतः दो व्यंजन न होकर व्यंजन का मात्रा की दृष्टि से दीर्घ रूप ही है। 'गुड्डी', 'बग्गी', 'सच्चा', 'धक्का' जैसे शब्दों में यदि ध्यान दिया जाय तो 'ड', 'ग', 'च', 'क' दो नहीं हैं, अपितु एक ध्वनि के ही ये दीर्घ रूप हैं। इसका अर्थ यह भी हुआ कि स्पर्श व्यंजनों में मात्रा की दीर्घता के कारण बीच की स्थिति ही लम्बी हो जाती है। वायु के आने और स्फोट या निकलने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कहना न होगा कि इस बात को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार की ध्वनि को दो चिह्नों के योग से लिखना भ्रामक है। वस्तुतः स्वर और व्यंजन दोनों के लिए मात्रा की दीर्घता को व्यक्त करने के लिए एक चिह्न का प्रयोग अधिक वैज्ञानिक है।

किसी व्यंजन के उच्चारण में कितना समय लगता है, इसका भी अध्ययन किया गया है। अंग्रेजी की अघोष स्पर्श ध्वनियों में ·१२ सेकेंड, घोष स्पर्श में ·०८८, नासिक्य में ·१४६, पार्श्विक और लुंठित में ·१२२, तथा संघर्षी में ·११२ सेकेण्ड। यों सामान्यतया स्वरों के उच्चारण में सबसे अधिक समय लगता है, अर्द्धस्वरों में उनसे कम और व्यंजनों में अर्द्धस्वरों से भी कम। व्यंजनों में सबसे अधिक समय अनुनासिक व्यंजनों में लगता है, उनसे कम लुंठित और पार्श्विक व्यंजनों में, उनसे कम ऊष्मों में उनसे कम अन्य संघर्षियों में और सबसे कम स्पर्शों में। अन्य स्पर्शों

में भी दन्त्य में सबसे कम, तालव्य में उससे अधिक और ओष्ठ्य में सबसे अधिक समय लगता है सभी प्रकार की ध्वनियों में अघोष में समय ज्यादा लगता है और घोष में कम। मोटे रूप से सभी व्यंजनों की मात्रा ह्रस्वार्द्ध मानी जा सकती है।

(अ) आघात (Accent)

यहाँ 'आघात' शब्द अंग्रेजी शब्द 'ऐक्सेंट' (accent) के प्रतिशब्द के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। यों हिन्दी-पुस्तकों में 'ऐक्सेंट' के लिए 'बल', 'स्वर', 'स्वराघात' आदि का भी प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी 'ऐक्सेंट' शब्द का प्रयोग भाषाविज्ञान में प्रमुखतः ३ अर्थों में मिलता है : (क) पामर आदि कुछ भाषाविज्ञान-वेत्ता इसे बहुत विस्तृत अर्थ में लेते हैं, और उनके अनुसार मात्रा (mora), सुर-लहर (intonation), बलाघात (stress), ध्वनि-प्रक्रिया (आगम, लोप, समीकरण, विषमीकरण, विपर्यय आदि) तथा ध्वनि-प्रकृति (स्थान, प्रयत्न या संवृतता-विवृतता आदि) आदि अनेक चीजें इसके अन्तर्गत आती हैं। (ख) दूसरे अर्थ में 'ऐक्सेंट' बहुत सीमित है और उसे मात्र बलाघात (stress) का समानार्थी मानते हैं। प्रेटर, पेई, गेजर आदि भाषाविज्ञानविदों ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। (ग) तीसरे अर्थ में 'ऐक्सेंट' इन दोनों अर्थों के बीच में है, और उसमें बलाघात (stress) और सुर या सुराघात (pitch), केवल ये दो चीजें आती हैं। यही अर्थ अधिक प्रचलित एवं मान्य है। यहाँ इसी अर्थ में 'आघात' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।

इस प्रकार आघात (accent) के दो भेद हुए : (क) बलाघात (stress accent), और (ख) सुर (pitch accent)।

बलाघात

बोलने में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वाक्य के सभी अंशों पर बराबर बल या जोर नहीं दिया जाता। कभी वाक्य के एक शब्द पर बल अधिक होता है तो कभी दूसरे पर। इसी प्रकार एक शब्द की भी सभी ध्वनियों पर बराबर बल या आघात नहीं पड़ता। शब्द जब एक से अधिक अक्षरों (syllables) का होता है, तो इन अक्षरों पर भी बल बराबर नहीं पड़ता; एक पर अधिक होता है तो दूसरे या दूसरों पर कम। इसी बल, जोर या आघात को 'बलाघात' कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि भाषा की कोई भी ध्वनि पूर्णतः बलाघातशून्य नहीं होती।[1] जिन ध्वनियों, अक्षरों या शब्दों को हम बलाघातशून्य समझते हैं, उन पर केवल अपेक्षाकृत कम बलाघात होता है। कुछ लोग बलाघात को केवल 'अक्षर' पर मानते हैं, किन्तु ऐसी मान्यता के लिए संपुष्ट आधार का अभाव है। व्यावहारिक रूप से अक्षर-

१. अस्फोटित स्पर्श (unexploded stop) जैसे 'आप्' की 'प्' जैसी ध्वनियाँ अपवाद हैं।

बलाघात का प्रयोग अधिक दिखायी पड़ता है, इसलिए केवल मोटे रूप से तो ऐसा माना जा सकता है, किन्तु तत्त्वतः जब सभी भाषा-ध्वनियाँ किसी न किसी अंश में बलाघात से युक्त होती हैं तो फिर 'बलाघात' को मात्र अक्षर तक कदापि सीमित नहीं माना जा सकता। मूलतः बलाघात का कुछ आधिक्य एक ध्वनि पर दिखाई पड़ता है, जब हम उसकी तुलना आसपास की कम बलाघातयुक्त ध्वनियों से करते हैं; दूसरे स्तर पर बलाघाताधिक्य अक्षर पर दिखायी पड़ता है, जब हम एक अक्षर की तुलना आसपास के अक्षर से करते हैं, तीसरे स्तर पर यह शब्द पर दिखाई पड़ता है, जब हम एक शब्द की तुलना आसपास के शब्दों से करते हैं और चौथे स्तर पर यह वाक्य पर दिखायी पड़ता है, जब हम एक वाक्य की तुलना आसपास के वाक्यों से करते हैं।

भाषा के विभिन्न स्तरों पर बलाघात के भेद

सभी भाषाविज्ञानविदों ने बलाघात के दो भेद माने हैं : शब्द-बलाघात और वाक्य-बलाघात। इस परम्परागत भेद से थोड़ा हटते हुए, इन पंक्तियों का लेखक उपर्युक्त कारणों से ध्वनि, अक्षर, शब्द, वाक्यांश और वाक्य के स्तर पर बलाघात के निम्नांकित चार-पाँच भेद का विनम्र सुझाव देना चाहता है—

(१) **ध्वनि-बलाघात**—वह बलाघात जो किसी एक ध्वनि (स्वर या व्यंजन) पर हो। यदि किसी अक्षर (syllable) में एक से अधिक ध्वनियाँ हों तो हम देखते हैं कि उनमें एक ध्वनि उस अक्षर का 'शिखर' होती है और शेष 'गह्वर'। कहना न होगा कि अपेक्षाकृत अधिक बलाघात उस शिखर पर ही होगा।' उदाहरणार्थ, 'जप्' एक अक्षर है। इस अक्षर का शिखर बीच का अ (ज्+अ+प) है। इस 'अ' में मुखरता आदि अन्य गुणों के साथ बलाघाताधिक्य भी है, इसीलिए यह 'शिखर' है, अन्य ध्वनियाँ इसी कमी के कारण 'गह्वर' हैं।

(२) **अक्षर-बलाघात**—वह बलाघात जो अक्षर पर हो। यदि किसी शब्द में एक से अधिक अक्षर हैं, तो उनमें प्रायः यह देखा जाता है कि एक अक्षर पर बलाघात सबसे अधिक होता है, दूसरे पर कम और तीसरे पर और कम या इसी प्रकार। अंग्रेजी आदि बलाघात-प्रधान भाषाओं में यह बात पर्याप्त स्पष्ट है। उनमें एक से अधिक अक्षर वाले शब्दों में एक अक्षर बलाघातयुक्त (stressed) कहलाता है, और शेष में कुछ बलाघातहीन (unstressed) तथा कुछ अल्पबलाघातयुक्त (weak stress वाले)। यहाँ 'बलाघातहीन' का अर्थ यह नहीं है कि वे अक्षर बिना बलाघात के होते हैं। इसका मात्र यह अर्थ है कि उनका 'बलाघात' अन्यों की तुलना में 'नहीं के बराबर' होता है। इसीलिए बलाघातहीन (या अंग्रेजी का 'अनस्ट्रेस्ड') शब्द भ्रामक है, और इसके स्थान पर 'अत्यल्प बलाघातयुक्त' का प्रयोग होना चाहिये।

यों तो वाक्य के एक से अधिक शब्दों के अक्षरों के बलाघात को भी तुलनात्मक रूप में देखा जा सकता है, किन्तु इस प्रकार का तुलनात्मक मूल्यांकन प्रायः केवल एक

शब्दों के अक्षरों का ही किया जाता है। उनके बलाघातों को क्रम से प्रथम बलाघात (सबसे प्रबल), द्वितीय बलाघात (उससे निर्बल), तृतीय बलाघात (उससे भी निर्बल), चतुर्थ बलाघात (तीसरे से निर्बल) आदि नामों से अभिहित किया जा सकता है। अंग्रेजी शब्द 'ऑपर्ट्यूनिटि' (opportunity) में ५ अक्षर हैं। तुलनात्मक दृष्टि से प्रथम बलाघात तीसरे अक्षर पर, द्वितीय पहले पर, तृतीय पाँचवें पर, चतुर्थ दूसरे पर और पंचम चौथे पर है। इसी रूप में बलाघात के सापेक्ष बल को लेकर विद्वानों ने इसके उच्च (loud), उच्चार्द्ध (half loud), सामान्य, सशक्त या प्रबल (strong), अशक्त या निर्बल (weak) तथा मुख्य (primory), गौण (secondary), गौणातिगौण या तृतीयक (tertiary) आदि भेद किये हैं। कहना न होगा कि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करके आवश्यकतानुसार इस प्रकार के अनेक भेद किये जा सकते हैं। यों मुख्य भेद दो ही होते हैं, जिनके लिये उपर्युक्त में किसी युग्म या त्रिक में प्रथम दो का प्रयोग किया जा सकता है। अंग्रेजी शब्द 'फादर' (father) में प्रथम अक्षर मुख्य बलाघातयुक्त है, और दूसरा गौण।

भाषाविज्ञान के विद्वानों ने इस 'अक्षर-बलाघात' को ही शब्द-बलाघात (word-stress) कहा है, जिसका आशय है शब्द के अवयवों, अर्थात् अक्षरों पर बलाघात होना। बलाघात-प्रधान भाषाओं में शब्द के अक्षरों पर का बलाघात निश्चित होता है, जिसे निश्चित बलाघात (fixed stress) कहते हैं। भाषा को स्वाभाविक रूप में बोलने के लिए इनका ज्ञान और प्रयोग आवश्यक है। अंग्रेजी इसी प्रकार की भाषा है। भारतीय जब अंग्रेजी बोलते हैं तो उसे प्राय: बलाघातशून्य रूप में बोलते हैं, इसीलिए अंग्रेजी के लिए वह अस्वाभाविक लगती है, और कभी-कभी समझ में भी नहीं आती। यों तथाकथित बलाघातहीन भाषाओं में भी शब्द के अक्षरों पर वालाघात निश्चित होता है। जैसे हिन्दी में कुछ विशेष प्रकार के शब्दों में प्रायः अक्षर के उपांत पर बलाघात होता है, इसी कारण अन्तिम 'अ' का लोप हो गया है, जैसे कमल्, राम्, दाल्, आप् आदि।

(३) शब्द-बलाघात—एक सामान्य वाक्य में सभी शब्दों पर लगभग बराबर बलाघात रहता है। 'राम ने मोहन को डंडे से मारा' एक इसी प्रकार का सामान्य वाक्य है। किंतु आवश्यकतानुसार इसके किसी शब्द पर अपेक्षाकृत अधिक बलाघात डाला जा सकता है, और तब इस वाक्य के अर्थ में थोड़ा परिवर्तन आ जायगा। वाक्य-गठन में जैसे कभी-कभी वाक्य के सबसे महत्वपूर्ण शब्द को नियमतः ठीक न होते हुए भी पहले रख देते हैं ('मोहन को तुमने मारा' या 'डंडे से तुमने मारा।' इन दोनों वाक्यों में बल देने के लिये 'मोहन' और 'डंडे' को अनियमित होते हुए भी पहले रख दिया गया है), उसी प्रकार बल देने के लिये शब्द-विशेष पर बलाघात' भी डाल दिया जाता है। ऊपर के वाक्यों में प्रमुख अर्थबोधक शब्द राम,

मोहन, डंडे, मारा, ये चार हैं। इन चारों में किसी पर भी बलाघात डालकर अर्थ की विशेषता प्रकट की जा सकती है। 'राम' पर बल देने का अर्थ होगा कि 'राम ने मारा, अन्य किसी ने नहीं', इसी प्रकार 'डंडे' पर बल देने का अर्थ होगा कि 'डंडे' से मारा, किसी और चीज से नहीं। इसी प्रकार औरों पर भी बल देने से अर्थ बदला जायगा। 'राम आया और रुपये लेकर चला गया' वाक्य में यदि 'और' पर बल न दें तो वह, 'तथा' का समानार्थी है। 'तथा' पर बल दें तो वह 'और ज्यादा' या 'दूसरे' का समानार्थी है।

यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं: (क) इस रूप में बलाघात निश्चित (fixed) न होकर मुक्त या अनिश्चित (free) है, और अपनी आवश्यकतानुसार वक्ता किसी भी शब्द पर उसे डाल सकता है।

(ख) इस बलाघात का सीधा संबंध अर्थ से है। थोड़ा भी हेर-फेर करने से अर्थ बदला जायगा।

शब्द-बलाघात संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, प्रधान क्रिया और क्रियाविशेषण पर हो सकता है।

जिसे यहाँ 'शब्द-बलाघात' कहा गया है, उसे भाषाविज्ञान के विद्वानों ने 'वाक्य-बलाघात' (sentence stress) कहा है। यह इसलिए कि वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही इस प्रकार के बलाघात का प्रयोग होता है, किंतु वस्तुतः इसे शब्द-बलाघात कहना ही अधिक उचित है, वाक्य-बलाघात नहीं। वाक्य-बलाघात कुछ और है, जिसे आगे दिया जा रहा है।

(४) **वाक्य-बलाघात**—यों तो सामान्य बातचीत में प्रायः सभी वाक्य बलाघात की दृष्टि से लगभग बराबर होते हैं, किंतु कभी-कभी आश्चर्य, भावावेश, आज्ञा या प्रश्न आदि से सम्बद्ध होने पर कुछ वाक्य अपने आसपास के वाक्यों से अधिक जोर देकर बोले जाते हैं। ऐसे वाक्यों में कभी-कभी तो बल कुछ ही शब्दों पर होता है, किंतु कभी-कभी पूरे वाक्य पर भी होता है। आसपास के अन्य वाक्यों की तुलना में अधिक बलाघातयुक्त वाक्य के प्रयोग के कारण इस स्वर के बलाघात को 'वाक्य-बलाघात' कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—

राम—तुम जो भी कहो, मैं नहीं जा सकता।

श्याम—वाह! यह तो अच्छी रही! जिसे पतरी में खाओ, उसी में छेद करो, और उस पर कहो कि नहीं जा सकता; जाओगे कैसे नहीं? (हाथ उठाकर भगाने की दिशा में फेंकते हुए) भाग जाओ नालायक कहीं के।

यहाँ कहना न होगा कि श्याम द्वारा कहे गए वाक्यों में 'भाग जाओ, पर बलाघात अन्यों की तुलना में [illegible]धिक होगा। इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने

योग्य है कि इस प्रकार का 'बलाघातयुक्त वाक्य' छोटा होगा। यदि उसमें शब्द अधिक होंगे तो फिर सशक्त बलाघात केवल कुछ प्रमुख शब्दों तक ही सीमित रह जायगा। उस प्रकार के बलाघात को यदि अलग नाम देना चाहें तो (५) वाक्यांश-बलाघात कह सकते हैं। उपर्युक्त वाक्य के 'भाग जाओ' के स्थान पर यदि 'भाग जाओ यहाँ से' कर दें तो सामान्यतः सशक्त बलाघात पूरे पर न पड़कर प्रथम दो शब्दों तक ही सीमित रहेगा।

बल या आघात के आधार पर बलाघात के भेद

हम यह देख चुके हैं कि किसी न किसी अंश में बलाघात प्रायः सभी ध्वनियों पर होता है। इसकी तीव्रता या इसका भौतिक स्वरूप इसी कारण निरपेक्ष रूप से वर्गीकरण या भेदीकरण के योग्य नहीं है। यदि बहुत गहराई से देखना हो तो भाषा, व्यक्ति, संदर्भ आदि के प्रसंग में उच्च, उच्चार्द्ध, निम्न, निम्नार्द्ध, सामान्य आदि भेद किये जा सकते हैं। यों जैसा कि ऊपर अक्षर-बलाघात के प्रसंग में उल्लेख किया जा चुका है, आवश्यकतानुसार इसके और भी अधिक भेद तीव्रता के तुलनात्मक मूल्यांकन के आधार पर किये जा सकते है, किंतु अधिक प्रचलित भेद 'सशक्त' और 'अशक्त' दो ही हैं। भाषा-अध्ययन की सामान्य शब्दावली में जहाँ बलाघात सशक्त और श्रोतव्य होता है, केवल उसी को बलाघातयुक्त कहते हैं, और जहाँ हल्का या बहुत अशक्त होता है, उसे प्रायः बलाघात नहीं मानते।

अर्थ के आधार पर बलाघात के भेद

अर्थ के स्तर पर बलाघात दो प्रकार का होता है : सार्थक बलाघात और निरर्थक बलाघात। सार्थक बलाघात उसे कहते हैं जिसका अर्थ से सम्बन्ध होता है। ऊपर शब्द-बलाघात इसी प्रकार का है। वाक्य में जिस शब्द पर बलाघात होता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, और उसके महत्व के आधार पर वाक्य के अर्थ में विशेषता आ जाती है। ऊपर 'राम ने मोहन को डंडे से मारा' वाक्य उदाहरणस्वरूप लिया जा चुका है और इस बात का संकेत किया जा चुका है कि शब्द-बलाघात से वाक्य के अर्थ में किस प्रकार विशेषता आ जाती है। सार्थक बलाघात का दूसरा रूप बलाघात-प्रधान भाषाओं में अक्षर-बलाघात में दिखायी पड़ता है। इन भाषाओं में शब्दों के अक्षर पर बलाघात में परिवर्तन से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी में ऐसे बहुत से शब्द हैं (जैसे import, conduct, present, insult, increase आदि) जो संज्ञा और क्रिया दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं। इनकी वर्तनी में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता, लेकिन बलाघात में पड़ जाता है। जब बलाघात प्रथम अक्षर पर होता है तो शब्द 'संज्ञा' होते हैं, किन्तु जब दूसरे पर होता है तो 'क्रिया' हो जाते है। इस प्रकार इन शब्दों में संज्ञा और

क्रिया का भेद किसी अन्य बात पर निर्भर न होकर मात्र बलाघात पर निर्भर है। इसीलिए यहाँ बलाघात सार्थक है। इसे 'सोद्देश्य बलाघात' भी कह सकते हैं। ग्रीक भाषा में सार्थक बलाघात एक और ढंग का मिलता है। वहाँ तो बलाघात के कारण अर्थ बिल्कुल बदल जाता है। उदाहरणार्थ, 'पॉली' शब्द में यदि बलाघात प्रथम अक्षर पर होगा तो इसका अर्थ 'नगर' होगा, किंतु दूसरे पर होगा तो यह संज्ञा से विशेषण हो जायेगा और इसका अर्थ हो जायेगा 'बहुत'।

निरर्थक बलाघात उसे कहते हैं, जिसके परिवर्तन से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, हिन्दी में 'कमल' में 'म' के 'अ' पर बलाघात है, किन्तु बोलने वाला उसके स्थान पर क के 'अ' पर यदि बलाघात पर दे तो सुनने वाले को थोड़ा अस्वाभाविक तो लगेगा, किंतु अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

बलाघात की परिभाषा

बलाघात उच्चारण-शक्ति की वह मात्रा है, जिससे किसी भाषिक इकाई (ध्वनि, अक्षर, शब्द, वाक्यांश, वाक्य) का उच्चारण किया जाता है, तथा जो उच्चारण के लिए भीतर से आती हुई हवा की तीव्रता एवं उच्चारण से संबद्ध मांस-पेशियों की दृढ़ता पर निर्भर करती है।

सुर

सुर का स्वरूप और उसमें उतार-चढ़ाव का कारण—बलाघात में हम देख चुके हैं कि सभी ध्वनियाँ बराबर बल से नहीं बोली जातीं। उसी प्रकार वाक्य की सभी ध्वनियाँ सर्वदा एक सुर में नहीं बोली जातीं। संगीत के सरगम की तरह उनमें सुर ऊँचा-नीचा होता रहता है। 'आप जा रहे हैं' वाक्य की सभी ध्वनियों को एक सुर में बोलने से इसका सामान्य अर्थ होगा, जिसका उद्देश्य होगा मात्र सूचना देना। किन्तु यदि 'आप' के बाद की ध्वनियों का सुर बढ़ाते जायँ और अंत में 'हैं' को बहुत ऊँचे सुर पर बोलें तो इस वाक्य में एक संगीत-सा आरोह या चढ़ाव सुनाई देगा और वाक्य सामान्य से बदल कर प्रश्नसूचक हो जायगा, जिसका अर्थ होगा, 'क्या आप जा रहे हैं?' इस वाक्य को आश्चर्यसूचक बनाने के लिए इसी प्रकार एक विशेष प्रकार के 'सुर' की जरूरत होगी : आप जा रहे हैं !

'बलाघात' की तरह ही 'सुर' भी मूलतः एक मनोवैज्ञानिक है, जिसे स्वर-तंत्रियों के कंपन द्वारा प्रकट किया जाता है। स्वर-तन्त्र पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि घोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वर-तंत्रियों में कंपन होता है। यही कंपन जब अधिक तेजी से होता है तो ध्वनि ऊँचे सुर में होती है और जब धीमी गति से होता है तो नीचे सुर में होती है।[1] सुर स्वर-तंत्रियों की प्रति सेकेंड कंपना

[1] इससे यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सुर से स्वर यंत्र को छोड़कर और किसी भी उच्चारण-अवयव का सम्बन्ध नहीं है।

वृत्ति (frequency of vibration) पर निर्भर करता है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि बलाघात की तरह सुर घोष-अघोष दोनों प्रकार की ध्वनियों में संभव नहीं। अघोष ध्वनि की तो यही विशेषता है कि उसके उच्चारण में स्वर-तंत्रियों में कंपन होता ही नहीं, अर्थात् 'सुर' केवल घोष या सघोष ध्वनियों की चीज है। अघोष से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह बात बिल्कुल तार वाले बाजों की तरह है। यदि सितार, वीणा या इसी प्रकार के किसी अन्य बाजे में तार ढीला होगा तो उससे जो ध्वनि निकलेगी, उसका सुर नीचा होगा, किन्तु यदि कसा होगा तो सुर ऊँचा होगा। इसका कारण यह है कि ढीले तार पर आघात करने पर कंपन धीमी गति से होगा। किन्तु वह कसा होगा तो कंपन अधिक तेजी से होगा। इनको बजाने वाले बजाने के पूर्व इसी दृष्टि से विभिन्न तारों को कसते या ढीला करते हैं। वाद्य संगीत की भाँति ही मौखिक संगीत का अभ्यासी आरम्भ में घंटों 'आ-आ' करके अपनी स्वर-तंत्रियों को कड़ा-नरम और समीप-दूर करके उनमें विभिन्न सुरों (या सरगम के आरोहों-अवरोहों) की आवाज निकालने, अर्थात् विभिन्न गतियों से कंपित करने का अभ्यास करता है। अभ्यस्त हो जाने पर भी स्वर-तंत्रियों पर अपना इस दृष्टि से पूरा नियंत्रण रखने के लिए उसे अभ्यास को जारी रखना पड़ता है। इस प्रकार संगीत के लिए 'सुर' का बहुत महत्त्व है, किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, भाषा के लिए भी वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि सभी भाषाओं में उसका महत्त्व समान नहीं है।

सुर के आरोह-अवरोह या उतार-चढ़ाव में स्वर-तंत्रियों की समीपता और उनके कड़ापन के अतिरिक्त फेफड़े से आने वाली हवा का महत्त्व भी कम नहीं है, क्योंकि स्वर-तंत्रियों का धीमी या तेज गति से कंपन हवा की शक्ति पर भी एक सीमा तक निर्भर करता है। इन बातों के अतिरिक्त 'सुर' स्वर-तंत्रियों की लम्बाई और स्वर-यंत्र (larynx) से विस्तार (size) पर भी निर्भर करता है। बच्चों की आवाज ऊँचे सुर की होती है, क्योंकि उनमें लम्बाई और विस्तार दोनों ही कम होता है। पुरुष की तुलना में स्त्रियों में भी यही बात मिलती है।

सुर के भेद : आरोहण-अवरोहण के आधार पर—हर व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक एक सुर पर नहीं बोलता। भाषा की स्वाभाविक गति में प्रयुक्त सुर-उच्चता या सुर-निम्नता तथा भावात्मक स्थिति के कारण सुर का आरोह-अवरोह एक व्यक्ति की भाषा में भी अपना अलग मिलता है। इस आरोह-अवरोह का अनुपात एक भाषाभाषी लोगों में प्रायः समान होता है।

यूनानी और वैदिक संस्कृत के स्वर

प्रत्येक व्यक्ति की सुर की दृष्टि से अपनी निम्नतम और उच्चतम सीमा होती है। उसके सुर का उतार-चढ़ाव उसी के बीच होता रहता है। सूक्ष्म दृष्टि से

इसके अनेक भेद किये जा सकते हैं। यों इसके उच्च (high), मध्य, मिश्र या सम (mid या level) तथा निम्न (low), ये तीन भेद अधिक प्रचलित रहे हैं। वैदिक संस्कृत में लगभग ये ही तीन सुर या स्वर उदात्त, स्वरित एवं अनुदात्त हैं। ग्रीक में ऐक्यूट (acute accent), ग्रेव (grave accent) तथा सरकम्फ्लेक्स (circumflex accent) ये तीन सुर थे। ऐक्यूट भारतीय उदात्त की भाँति ही उच्च था, इसे यों (a') अंकित करते थे। ग्रेव (जिसे वे a अंकित करते थे) निम्न था, किन्तु कदाचित् बहुत निम्न नहीं। यद्यपि बहुत से विद्वानों ने माना है, किन्तु मेरे विचार में यह भारतीय अनुदात्त का समानार्थी नहीं है। यह कदाचित् सामान्य सुर और उच्च या ऐक्यूट के बीच का रहा होगा। सरकम्फ्लेक्स (जिसे वे a) या a, या a, रूप में अंकित करते थे वह सुर था जो पहले उठता था और फिर गिरता था। इस रूप में इसे आरोही-अवरोही सुर कह सकते हैं। वैदिक स्वरित को अनेक लोगों ने इसका समानार्थी माना है, किन्तु वस्तुतः ये दोनों भिन्न हैं।

स्वरित—इसका शाब्दिक अर्थ है 'उच्चरित' या 'ध्वनित'। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा अष्टाध्यायी आदि में आता है—'समाहारः स्वरितः'। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में आता है—'उभयवान् स्वरितः'। आपिशलि शिक्षा में आता है—उदात्तानुदात्तस्वर सन्निपातात् स्वरितः', अर्थात् स्वरित, उदात्त और अनुदात्त का मेल या समाहार है। इस मेल का अर्थ संधि है या समन्वय, यह प्रश्न महाभाष्यकार ने उठाया है। कहना न होगा कि यह संधि ही है, जिसे नर-क्षीर की तरह न मान कर काष्ठ-जंतु के समान माना गया है। पाणिनि ने कहा है—'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (१.२.३२), अर्थात् स्वरित के आदि की ह्रस्वार्द्ध मात्रा उदात्त होती है और शेष 'अनुदात्त'। मैकडॉनेल ने स्वरित को उदात्त से गिरता हुआ या अधोगामी सुर (falling accent) माना है। उनके अनुसार यह उदात्त और सुरशून्यता (tonelessness) के बीच का है। स्वरों के भेद और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत व्यक्त किये गये हैं। **भेद**—कुछ लोगों ने पाणिनि के आधार पर इसके स्वतंत्र और परावलंबी दो भेद माने हैं। परावलंबी स्वरित ग्रीक के सरकम्फ्लेक्स-सा कहा गया है, जिसमें स्वरित का आद्यांश उदात्त से भी कुछ ऊँचा होता है। उसके बाद यह अनुदात्त होता है। ऋक् प्रातिशाख्य में भी यह बात कही गयी है। स्वतंत्र रूप में यह महत्त्व की दृष्टि से उदात्त के समकक्ष माना गया है। कुछ लोगों ने मात्रा के आधार पर स्वरित के ह्रस्व स्वरित, दीर्घ स्वरित और लुप्त स्वरित तीन भेद माने हैं। ह्रस्व स्वरित का पूर्वार्द्ध उदात्त और उत्तरार्ध अनुदात्त होता है; दीर्घ के प्रारम्भ की १/४ मात्रा उदात्त तथा शेष ३/४ अनुदात्त, तथा प्लुत के प्रारम्भ की १/८ मात्रा उदात्त तथा शेष ७/८ अनुदात्त होती है। इस प्रकार के मत उव्वट तथा अनंत भट्ट आदि द्वारा व्यक्त किये गये हैं। प्रातिशाख्यों में स्वरित के कई भेदों

का उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रमुख जात्य स्वरित या नित्य स्वरित, अभिनिहित स्वरित, क्षैप्र स्वरित, प्रश्लिष्ट स्वरित, तैरोव्यंजन स्वरित तथा पादवृत्त स्वरित या वैवृत्त स्वरित आदि हैं।

उदात्त—उदात्त का शाब्दिक अर्थ है 'उठा हुआ'। जो सुर उठा हुआ या ऊँचा हो, उसे उदात्त कहते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य तथा अष्टाध्यायी आदि में इसे स्पष्ट किया गया है 'उच्चैरुदात्तः' अर्थात् उदात्त उच्च होता है। इसमें 'उच्च' का अर्थ क्या है, इसे पतंजलि ने स्पष्ट किया है—'आयामो-दारुण्यं अणुता खस्य इति उच्चैः कराणि शब्दस्य।' इस आधार पर उत्ताद में आयाम या अंग-संकोच, दारुण्य अर्थात् रूखापन तथा अणुता, अर्थात् कंठ या स्वर-यंत्र की संकृतता, ये तीन बातें मानी जा सकती हैं। आपिशलि शिक्षा में भी ये ही बातें कही गई हैं।

अनुदात्त—ऐसा स्वर जो 'उदात्त न हो।' अनुदात्त को तैत्तिरीय प्रातिशाख्य वाजसनेयी प्रातिशाख्य तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी आदि में 'नीचैरनुदात्तः' रूप में स्पष्ट किया गया है, अर्थात् यह 'निम्न सुर' या 'नीचा सुर' था। अनुदात्त का प्रयोग कदाचित् एक से अधिक अर्थों में हुआ है। कभी तो इसका अर्थ 'उदात्त नहीं', अर्थात् 'उदात्त से थोड़ा निम्न' ज्ञात होता है। इस रूप में यह ग्रीक ग्रेव का समानार्थी है और कभी सुरविहीन (accentless) का समानार्थी है। आपिशलि शिक्षा में आता है—'यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्रस्य निग्रहः, कंठबिलस्य चाणुत्वं, स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति, तमुदात्तमाचक्षते।' अर्थात्, जब शरीर के सर्वाङ्गों का प्रयत्न तीव्र हो, अंग शिथिल न हों, कंठ संकुचित हो तथा ध्वनि-उत्पादक वायु तीव्र हो तो जो रुक्ष ध्वनि निकलती है, उसकी रुक्षता उदात्त है। इसके विरुद्ध 'यदातु मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्रस्य स्रंसनं कंठबिलस्य महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तं प्रचक्षते।' अर्थात्, जब प्रयत्न मंद हो तो जो स्निग्ध ध्वनि निकलती है, उसकी स्निग्धता अनुदात्त है। कौशिका वृत्तिकार का 'यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणामन्ववसर्गोनाम् शिथिलीभवनंभवति स्वरस्य मृदुता, कंठविवरस्य उरुता च सः अनुदात्तः' भी प्रायः यही है। *अनुदात्ततर—अनुदात्त से भी नीचा सुर। इसे कुछ लोगों ने पूर्णतः निम्न सुर माना* है। महाभाष्यकार पतंजलि आदि ने सुर के जो उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितस्थोदात्त, तथा एकश्रुति सात भेद माने हैं, इनमें अनुदात्ततर, निम्नतम कहा गया है। उदात्त या स्वरित सुर के पूर्व का अनुदात्त सुर बहुत निम्न होता है। कुछ लोगों के अनुसार उसी को अनुदात्ततर कहा गया है। इस अर्थ में पाणिनि ने इसे सन्नतर (उदात्त स्वरित परस्य सन्नतरः १. २. ४०) की संज्ञा से अभिहित किया है।

इस प्रकार के प्रमुख तीन भेद मानने पर भी भारतीय मनीषी इस बात से पूर्णत: परिचित थे कि सुर के और भी भेद हो सकते हैं। इसीलिए तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की वैदिकाभरण-व्याख्या में चार (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय) सुरों के संकेत मिलते हैं। नारद शिक्षा में एक और 'निघात' बढ़ाकर भेदों की संख्या पाँच कर दी गयी है। महाभाष्यकार पतंजलि ने उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर स्वरित, स्वरित के आरम्भ में वर्तमान उदात्त और एकश्रुति, ये सात भेद माने हैं। इतना ही नहीं, ऋक्प्रातिशाख्य, शुक्लयजुः प्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में यह भी पता चलता है कि इन भेदों में 'स्वरित' के अलग से संहितज, जात्य, अभिनिहित, श्रैप्र-प्रश्लिष्ट, तैरोव्यंजन, वैवृत्त, तैरोविराम तथा प्रातिहित ये ९ उपभेद भी प्राचीन काल में माने जाते थे।

चीनी भाषा में अनेक सुर आज भी हैं, यद्यपि वे उपर्युक्त भेदों से कुछ भिन्न हैं। उसमें चार प्रमुख सुर सम (even), आरोही (rising), अवरोही (sinking या falling) और प्रवेशमुखी (entering) हैं। कुछ लोगों ने कुछ ऊँचा, साधारण प्रश्नात्मक तेजप्रश्नात्मक तथा उत्तरात्मक कहा है। चीनी की कुछ बोलियों में इन सबके उच्च और निम्न इस प्रकार ८ भेद किये गये हैं। चीनी की कैंटनी बोली में ९ सुर हैं।

सुरलहर|अथवा अनुतान (Intonation)

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया 'सुर' स्वर-तंत्रियों के कंपन के कारण उत्पन्न एक ध्वनि गुण है, जो स्वर-तंत्रियों के प्रति सेकेण्ड कम्पनावृत्ति पर निर्भर करता है। 'सुर' किसी एक ध्वनि का होता है, किन्तु जब हम एक से अधिक ध्वनियों की कोई इकाई (शब्द, वाक्यांश, वाक्य) का उच्चारण करते हैं तो हर ध्वनि (घोष) का सुर प्राय: अलग-अलग होता है, और इस प्रकार सुरों के उतार-चढ़ाव की लहर बनती है, जिसे 'सुरलहर' अथवा 'अनुतान' कहते हैं। दूसरे शब्दों में **अनुतान या सुरलहर सुरों के उतार-चढ़ाव या आरोह-अवरोह का क्रम है जो एकाधिक ध्वनियों की भाषिक इकाई के उच्चारण में सुनाई पड़ता है।**

यह ध्यान रखने की बात है कि सुर तथा सुरलहर का आधार 'स्वरतंत्रियों का कंपन' केवल घोष ध्वनियों में होता है किन्तु अघोष ध्वनियों का प्रयोग इतना कम होता है कि सुनने वाले को ऐसा लगता है कि वह पूरे उच्चारण का अनुतान सुन रहा है, खन्ड-खन्ड का नहीं।

विश्व भाषाओं को अनुतान की दृष्टि से दो भागों में रखा जा सकता है: तान (Tone) भाषाएँ (जैसे चीनी, बर्मी, एफ़्रिक याउंडे आदि), अतान भाषाएँ (जैसे हिन्दी अंग्रेजी आदि)। तान भाषाओं में अनुतान से शब्द का अर्थ भी बदल जाता है तथा उसका व्याकरणार्थ भी, किन्तु अतान भाषाओं में केवल आश्चर्य,

प्रश्न, अनिच्छा, आज्ञा आदि का अतिरिक्त भाव ही आ पाता है जो अभिव्यक्ति के सामान्य अर्थ के ऊपर एक प्रकार से आरोपित रहता है। इस प्रकार अनुतान के मुख्यतः तीन प्रकार्य (फंक्शन) हैं :

(१) **कोशार्थ-परिवर्तन**—तान भाषाओं में अनुतान से शब्दों के अर्थ (कोशार्थ) बदल जाते हैं । उदाहरण के लिए, चीनी शब्द 'मा' का एक अनुतान में अर्थ 'माता' है तो दूसरे में 'घोड़ा' । चीनी भाषा की एक बोली में विभिन्न अनुतानों में 'येन' शब्द के धुआँ, नमक, आँख तथा हंस ये चार अर्थ होते हैं। ऐसे ही अफ्रीका की 'एफिक' भाषा में 'आक्या' के 'नदी' तथा 'पहला' दो अर्थ होते हैं ।

(२) **व्याकरणार्थ-परिवर्तन**—अफ्रीका की याउंडे भाषा में 'मंगायेन्' एक अनुतान में भूतकाल का रूप है (मैंने देखा) तो दूसरे अनुतान में भविष्य का (मैं देखूंगा) । इसी प्रकार अमेरिका की मैक्जाटेको भाषा में 'साइटे' एक अनुतान में वर्तमान का रूप है (मैं बुनता हूँ) तो दूसरे में भविष्य का (मैं बुनूंगा) ।

(३) **सामान्य कथन, प्रश्न, आश्चर्य आदि का द्योतन**—

राम गया । (सामान्य कथन)
राम गया ? (प्रश्न)
राम गया ! (आश्चर्य)

ऐसे ही विभिन्न अनुतानों में 'अच्छा' शब्द से 'हाँ' (तुम भी आना—अच्छा, आ जाऊँगा), आश्चर्य (वह पास हो गया--अच्छा !!), अनिच्छा (शाम को मेरे साथ चाय पियो—अ च छ ा) आदि के भाव व्यक्त होते हैं ।

अनुतान मूलतः स्वर-तंत्रियों के प्रति सेकेण्ड कंपन में कमी-वेशी से उच्चारण में उत्पन्न उतार-चढ़ाव है, किन्तु इसके अतिरिक्त उसका सम्बन्ध बलाघात, मात्रा, तथा संगम (जंक्चर) भी है । ये चारों मिलकर मुख्यतः निम्नांकित तीन काम करते हैं: (१) वाक्यों के समूह को वाक्यों में, वाक्य को उपवाक्य तथा पदबंध में और पदबंध को और छोटी इकाइयों में तोड़ते हैं; (२) अभिव्यक्ति को उत्तर, सामान्य कथन, आज्ञाद्योतक, प्रश्नद्योतक तथा अनिच्छाद्योतक आदि बनाते हैं; (३) अभिव्यक्ति के विभिन्न भागों या अंशों को अर्थ के धरातल पर आपस में सम्बद्ध करते हैं ।

अंत में १ को निम्न सुर, २ को सामान्य सुर तथा ३ को उच्च सुर का प्रतीक मानकर कुछ मुख्य हिन्दी अभिव्यक्तियों की अनुतान-अभिरचना (Intonation Pattern) यहाँ देखी जा सकती है—

(१) मकान अच्छा है। (सामान्य कथन)
(२) मकान अच्छा है। (सामान्य कथन): २ ३ १
(३क) राम आ गया ? (प्रश्न) : २ ३ ३
(३ख) राम आ गया क्या ? (प्रश्न) : २ ३ २
(४) राम आ गया ! (आश्चर्य) : ३ ३ १
(५) नमस्कार (अभिवादन) : १ २ ३

संगम (Juncture), संहिता अथवा विवृति

बोलने में एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि आती रहती है। वक्ता एक ध्वनि समाप्त करके दूसरी का उच्चारण करता है। यह एक ध्वनि से दूसरी पर जाना दो प्रकार का होता है। कभी तो हम सीधे चले जाते हैं और दोनों ध्वनियों के बीच में कुछ नहीं आता। उदाहरणार्थ, 'तुम्हारे' में 'म्' के बाद 'ह्' सीधे आ जाता है। किन्तु कभी एक ध्वनि से दूसरी पर जाना ऐसा नहीं होता। उदाहरणार्थ, 'तुम् हारे' में ध्वनियाँ वही हैं, किन्तु 'म्' के बाद जाना 'तुम्हारे' जैसा नहीं है। यहाँ 'म्' और 'ह्' के बीच में थोड़ा अवकाश, विराम या मौन है। इसी विराम या मौन को 'संगम', 'संहिता', विवृति' या 'योजक मौन' कहते हैं। यह ध्यातव्य है कि यह संगम सार्थक है। यदि न हो तो 'तुम् हारे' का अर्थ 'तुम्हारे' हो जायगा। संगम को भाषाविज्ञान में धन (+, जैसे तुम्+हारे) द्वारा व्यक्त करते हैं, इसीलिए इसे 'धन-संगम' (plus juncture) भी कहते हैं। संगम सर्वदा शब्दों के बीच में आता है, अर्थात् वाक्यांश की सीमाओं के भीतर ही आता है, इसलिये इसे कुछ लोग 'आंतरिक संगम' (internal juncture) भी कहते हैं। दूसरे शब्दों में संगम कभी वाक्य या वाक्यांश के अन्त के 'विराम' (‡‡) को भी संगम कहा है, किन्तु उसे संगम न कह कर सीमांतिक विराम' (terminal contour) कहना कुछ लोग अधिक ठीक मानते हैं।

संगम का एक भेद 'रूपिमिक संगम' (morphemic juncture) भी है। जब दो रूपिमों (morphemes) के बीच संगम हो, तो उसे यह नाम देते हैं। 'तुम+हारे' में यही है। व्याकरणिक शब्दों के बीच में आने से इसे 'व्याकरणिक संगम' भी कहते हैं। संगम का एक भेद 'आक्षरिक संगम' (syllabic juncture) भी है। जब संगम, दो अक्षरों के बीच में आये, तो उसे यह नाम देते हैं। दो समध्वनीय भिन्नार्थी उच्चारणों को लें।

नल्की	नल् की
(१)	(२)

उपर्युक्त दोनों में दो अक्षर हैं—'नल्' और 'की'। इन दो अक्षरों के बीच

संगम नहीं है, किन्तु दूसरे में इन्हीं दोनों अक्षरों के बीच संगम है। अक्षर-सीमा पर स्थित होने के कारण यह संगम 'आक्षरिक संगम' है।[1]

संगम बहुत-सी भाषाओं में किसी न किसी रूप से सार्थक होता है। कुछ उदाहरण हैं—

नदी—न दी। नफ़ीस—न फ़ीस। नरम—न रम। सोना—सो ना। वह घोड़ागाड़ी खींचता है—वह घोड़ा गाड़ी खींचता है। गाली-गा ली। इसी आधार पर संगम को स्वनिमिक माना जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि वाक्य या वाक्यांश के अन्त में आने वाले विराम को संगम न कहकर सीमांतिक विराम कहना अधिक उचित समझा जाता है, किन्तु बात सर्वसमस्त नहीं है। कुछ लोग भाषा के बीच किसी भी प्रकार के मौन या टूट (break) को संगम मानते हैं।

इस रूप में सीमांतिक विराम को संगम मानकर उसके दो भेद किये जा सकते हैं: (१) 'पूर्णविराम' या 'सीमांतिक' संगम (terminal juncture)—यह पूर्णविराम है जिसके (i) सामान्य नाव, (ii) प्रश्न, (iii) आश्चर्य, ये तीन उपभेद किये जा सकते हैं। (२) 'अल्पविराम संगम' या 'कामा संगम' (coma juncture)—यह अल्पविराम है। रोको मत, जाने दो; रोको, मत जाने दो। He will act, roughly in the same manner; He will act roughly, in the same manner; Old man and woman; Old man and woman; दिया, तले रख दो, दिया तले रख दो

१. इस प्रसंग में आन्तरिक मुक्त संगम (internal open juncture) और बाह्य मुक्त संगम (external open juucture) के भी नाम लिये जाते हैं। दूसरा वहाँ होता है, जहाँ संगम ध्वनिग्राम की प्रकृति में निहित हो, जैसे हिन्दी आदि में अन्त के स्पर्श या स्पर्श-संघर्षी अस्फोटित होते हैं, या अंग्रेजी में आरम्भ में आने वाले क्, प्, ट् महाप्राण हो जाते हैं। इस प्रकार, यह आदि या अन्त में मिलता है, अर्थात् शब्द से बाहर है। इसे हॉकिट ने 'सीमांतक' (terminal) कहा है। पहले को शब्द-संगम' या 'वाक्य-संगम' भी कहते हैं। यहाँ संगम न बाहर होता है, न ध्वनिग्राम की प्रकृति में निहित होता है। वह शब्द के भीतर होता है। अंग्रेजी का एक उदाहरण लें slyness। इसमें बीच में sly+ness संगम है। कभी-कभी 'बद्ध संगम' (close juncture) का भी प्रयोग होता है। जहाँ सरलता से बिना अवकाश के एक ध्वनि से दूसरी पर जाया जाय (जैसे तुम्हारे, नल्की), वहाँ यह होता है। इसे 'ध्वन्यात्मक संगम' भी कहते हैं। वस्तुतः इसे संगम नहीं कहना चाहिए। कुछ लोग आन्तरिक

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ये अल्पविराम संगम सार्थक हैं, और इसके रहने या न रहने से अर्थ में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है।

अक्षर (syllable)

अक्षर का हिन्दी तथा संस्कृत में कई अर्थों में प्रयोग होता है: (१) हर्फ़ (letter) या वर्णचिह्न। जैसे उसके अक्षर बड़े सुन्दर हैं; (२) अनश्वर (अ+क्षर; न क्षरतीति)। इसी अर्थ में 'अक्षर' ब्रह्म का पर्याय है; (३) स्वर इसी आधार पर संस्कृत में मूल स्वर या सामान्य स्वर को 'समानाक्षर' तथा संयुक्त स्वर को 'संध्यक्षर' कहा गया है; (४) अक्ष या शीर्षवाला 'अक्ष' (अर्थात् धुरी या शीर्ष)+र। इस अर्थ में 'अक्षर' शब्द अंग्रेज़ी 'सिलेब्ल' (syllable) का पर्याय है और इसी अर्थ में हम लोग इसका प्रयोग यहाँ कर रहे हैं।

अक्षर 'एक ध्वनि' अथवा 'एकाधिक ध्वनियों' की वह इकाई है, जिसका उच्चारण एक झटके (एक चेस्टपल्स या हृत्स्पन्द) से होता है तथा जिसमें एक स्वर अवश्य होता है। उसके पहले या बाद में एक या अधिक व्यंजन आ भी सकते हैं, नहीं भी।

हिन्दी से उदाहरण लें तो 'आ' (तू मेरे घर आ) एक अक्षर है, जिसमें केवल स्वर है; 'जा' अक्षर में व्यंजन+स्वर है, 'आप' अक्षर में स्वर+व्यंजन है, 'काम' अक्षर में व्यंजन+स्वर+व्यंजन है, तथा 'प्यार' में व्यंजन+व्यंजन+स्वर+व्यंजन है तो 'प्राप्त' में व्यंजन+व्यंजन+स्वर+व्यंजन+व्यंजन आदि।

'काला' (का+ला), 'पानी' (पा+नी), 'तारे' (ता+रे) में दो-दो अक्षर हैं; तो 'आवारा' (आ+वा+रा), 'बाज़ीगर' (बा+ज़ी+गर), 'सुन्दरता' (सुन्+दर+ता), 'आइए' (आ+इ+ए) में तीन-तीन अक्षर।

अक्षर में स्वर शीर्ष (peak) या केन्द्रक (nucleus) होता है तथा उसके पहले वाला या वाले व्यंजन 'पूर्वगह्वर' (onset) तथा बाद वाला या वाले व्यंजन
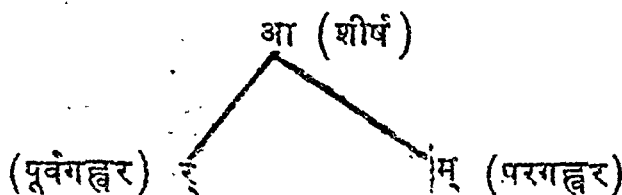
और बाह्य मुक्त संगम नाम का प्रयोग बिलकुल ही भिन्न अर्थों में करते हैं। कुछ अमरीकी विद्वान् 'जंक्चर' में और भी बहुत-सी बातों को समेट लेते हैं।

'परगह्वर' (Coda)। उच्चारण में शीर्ष मुखर होता बनिस्बत पूर्व और परगह्वर के।

अपवादतः न (अं. mutton), ल (अं. little), र (चेक krk; सं. ऋण) आदि कई व्यंजन भी कुछ भाषाओं में शीर्ष का काम करते हैं और तब इन्हें आक्षरिक व्यंजन (syllabic consonant) कहते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी पूर्व और परगह्वर के रूप में स्वर भी आते हैं (अर्धस्वर या संयुक्त स्वर में) और तब उस स्वर को अनाक्षरिक स्वर (nonsyllabic vowel) कहते हैं।

अक्षर दो प्रकार के होते हैं: **बद्धाक्षर** (closed syllable)–जिसके अंत में व्यंजन हो। जैसे आप्, एक्, सीख्। **मुक्ताक्षर** (open syllable)—जिसके अंत में स्वर हो। जैसे जो, या, खा, ले।

हर भाषा में एकाक्षरी शब्द ही सर्वाधिक होते हैं। यदि 'स' को स्वर तथा 'व' को व्यंजन माने तो विभिन्न भाषाओं में एकाक्षरी शब्द आक्षरित संरचना की दृष्टि से निम्नांकित प्रकार के मिलते हैं। यहाँ उदाहरण हिन्दी से लिए गए हैं—

स्वरूप	उदाहरण
स	आ
व स	जा, खा, गा, रो, जी
स व	आज्, ईख्, अब्
स व व	अन्त्, अस्त्
व व स	क्या
स व व व	अस्त्र्, इन्द्र्
व व व स	स्त्री
व स व	नाम्, हम्, कुल्
व स व व	कन्त्, पस्त्, वक्त्
व स व व व	शस्त्र्, वस्त्र्
व व स व	द्वेप्, द्वीप्
व व स व व	क्षिप्र्, व्यस्त्
व व स व व व	कृच्छ्र्, स्वास्थ्य्

व व व स व	स्त्रैण
व स व व व व	वत्स्र्य

कोष्ठक को विकल्पद्योतक मानकर हिन्दी के उपर्युक्त सभी एकाक्षरी शब्दों की आक्षरिक संरचना को संक्षेप में यों रखा जा सकता है—

(व व व) स (व व व व)

अर्थात् हिन्दी में अक्षर में स्वर का शीर्ष रूप में आना आवश्यक है। उसके पूर्व एक, दो या तीन व्यंजन आ सकते हैं तथा अंत में एक, दो, तीन या चार व्यंजन।

उपर्युक्त के आधार पर यह भी कह सकते हैं कि 'हिंदी की आक्षरिक संरचना' या 'हिंदी के एकल अक्षर की संरचना' उपर्युक्त प्रकार की होती है। इसे शीर्ष तथा पूर्व और परगह्वर की दृष्टि से चार वर्गों में रखा जा सकता है: (१) मात्र शीर्ष वाला (आ, ओ); (२) पूर्वगह्वर+शीर्ष (ला, क्या, स्त्री); (३) शीर्ष+परगह्वर (आज, आप्त, आर्द्र) (४) पूर्वगह्वर+शीर्ष+परगह्वर (काम, शान्त, वस्त्र, वत्स्र्य, क्रम, स्वास्थ्य, स्त्रीत्व)

भाषाओं में एकाधिक अक्षरों के भी शब्द होते हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी में **द्व्यक्षरी** (अभी, गणित, प्रकार), **त्र्यक्षरी** (आवारा, पढ़ाई, उत्साहित), **चतुरक्षरी** (अभिनंदन, कठिनाई) तथा **पंचाक्षरी** (अनिर्वचनीयता, बहाइएगा, अन्धानुकरण) शब्द मिलते हैं।

एकाधिक अक्षरों के शब्द के उच्चारण में ठीक अक्षरविभाजन आवश्यक है। अर्थात् 'वक्+ता' न कि 'व—क्ता' अथवा 'प—थिक' न कि 'पथ्—इक'। गलत आक्षरिक विभाजन से उच्चारण तो अशुद्ध हो ही जाता है, कभी-कभी अर्थ भी प्रभावित होता है: 'ना—प—ता'—'नाप—ता', 'म—धुर—ता'—'म+धु+र—ता', 'मा—नव—ता'—मान—व—ता' आदि।

अक्षर विभाजन के नियम हर भाषा के अपने होते हैं, इसीलिए विदेशी भाषा के शब्दों के उच्चारण में अक्षरविभाजन संबंधी अशुद्धियाँ प्रायः हो जाती हैं।

अक्षर-विभाजन लेखन या वर्तनी के आधार पर न होकर उच्चारण के आधार

पर होना चाहिए : उपन्यास (उ—पन्—न्यास्), अभ्यास (अब्—भ्यास्), व्याख्यान (व्याक्—ख्यान्), वाक्यांश (वाक्—क्यांश्), लगभग (लग्—भग्) भरद्वाज (भा—रद्—द्वाज) ।

अक्षर-विभाजन जहाँ से होता है वहाँ थोड़ी देर मौन होता है जिसे 'अत्यल्प-कालिक संगम' की संज्ञा दी जा सकती है।[1]

प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान (Experimental Phonetics)

जैसा कि येस्पर्सन ने कहा था, ध्वनिविज्ञान की इस शाखा को 'यांत्रिक' न कहकर 'प्रायोगिक' कहना अधिक उचित है, क्योंकि प्रयोग तो बिना मशीन के भी हो सकता है। यों इस शाखा में किसी न किसी प्रकार के यंत्र या उपकरण की सहायता अवश्य ली जाती है। ध्वनियों के अध्ययन में, जब यों देखने-सुनने से काम न चला तो ध्वनिशास्त्रियों ने अध्ययन और विश्लेषण के लिए तरह-तरह के उपकरणों का प्रयोग प्रारम्भ किया। इन उपकरणों में एक ओर तो कुछ बड़े सामान हैं, जैसे दर्पण आदि और दूसरी ओर मशीनें हैं, जिनके संचालन के लिए यंत्रज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। आज तो इस क्षेत्र में इतनी जटिल मशीनों का प्रयोग हो रहा है कि यह क्षेत्र मात्र भाषा-शास्त्रियों के वश का नहीं है, जब तक कि वे गणित, भौतिकशास्त्र तथा इंजीनियरिंग से भी परिचित न हों। यहाँ इस क्षेत्र में काम आने वाले कुछ उपकरणों का संक्षिप्त एवं सामान्य परिचय दिया जा रहा है—[2]

(१) मुखमापक (Mouth Measurer)

इसे ऐटकिन्सन ने बनाया था, उसी आधार पर इसको प्रायः ऐटकिन्सन का 'मुखमापक' कहा जाता है। इसकी सहायता से किसी ध्वनि के उच्चारण के समय जीभ की ऊँचाई, निचाई, उसका आगे या पीछे हटना आदि ठीक-ठीक नापा जा सकता है। १–२ धातु की पतली नली है, जो ऊपर की ओर झुकी है। इसके भीतर एक पतला तार है जो २ के बाहर दिखाई पड़ रहा है। नीचे यह दस्ते से जुड़ा है। इस दस्ते की सहायता से इस तार को ऊपर-नीचे किया जा सकता है। तार की लम्बाई ऐसी होती है कि जब उसका निचला सिरा १ के पास होता है, ऊपरी सिरा २ के पास होता है। ५ एक 'दाँतरोक' (teeth stop) है जिसमें बाहर की ओर दो निकले भाग हैं। ये जब ऊपर की
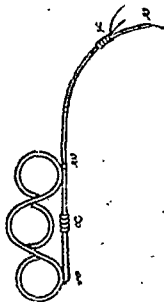
१. देखिये इस पुस्तक का प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान से सम्बद्ध अंश।

२. इसे Instrumental Phonetics (यांत्रिक ध्वनिविज्ञान) या Laboratory Phonetics (प्रयोगशाला-ध्वनिविज्ञान) भी कहते हैं।

ओर रहते हैं तो दाँतरोक नली से चिपका रहता है; और, जब नीचे कर दिये जाते हैं तो इसे खिसकाया जा सकता है। इसका ऊपरी भाग मुँह में इतना डालते हैं कि दाँतरोक दाँतों तक आ जाय, फिर दस्ते को ऊपर करके तार को जीभ तक ले जाते हैं; और उसी स्थिति में इसे निकाल कर पहले से बने नक्शों में बिन्दु लगा देते हैं। इसी प्रकार 'दाँत-रोक' खिसका-खिसका कर जीभ की स्थिति के ६–७ बिन्दुओं का पता लगा कर जीभ की पूरी स्थिति का ठीक नक्शा खींच लेते हैं।

(२) कृत्रिम तालु (False या Artificial Palat)
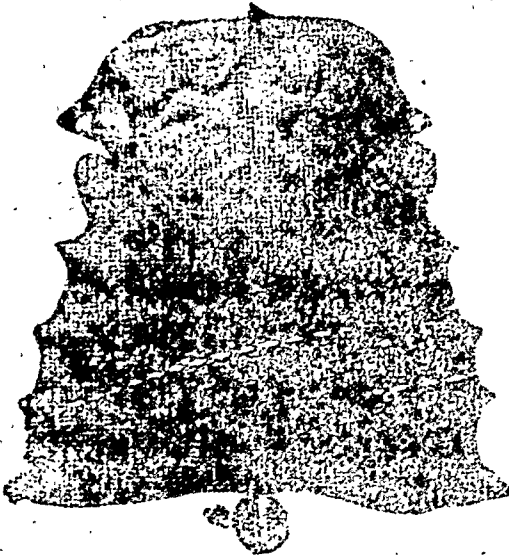
कृत्रिम तालु धातु या वल्कनाइट का बना होता है। यह प्रयोक्ता के मुँह की ठीक नाप का ऊपर के तालु के लिए होता है। किसी ध्वनि का उच्चारण करने के पूर्व इसमें भीतरी ओर कोई रंग या खड़िया लगा लेते हैं और फिर ऊपर के तालु पर इसे बैठा देते हैं। इसके बाद जिस ध्वनि की परीक्षा करनी होती है, उसका उच्चारण करते हैं। उच्चारण में जीभ, तालु पर लगे कृत्रिम तालु का स्पर्श करती है और जहाँ स्पर्श होता है, वहाँ का रंग (या चॉक) जीभ पर लग जाता है। इस प्रकार कृत्रिम तालु का स्पर्श-स्थान स्पष्ट हो जाता है। तालु को सावधानी से बाहर निकाल कर उस स्पर्श-स्थान का अध्ययन करते हैं। मुँह से निकालने के बाद ही इसकी फोटो ले लेना अधिक अच्छा होता है, क्योंकि रङ्ग (या चॉक) के झड़ या छूट जाने पर वास्तविक स्थिति का पता नहीं चलता।

आजकल इसका ठीक स्वरूप जानने के लिए 'पैलेटोग्राम प्रोजेक्टर' नाम की एक मशीन प्रयोग में आने लगी है। इसमें बोलने के बाद कृत्रिम

तालु को नीचे लगा देते हैं। भीतर बिजली के प्रकाश तथा शीशे की ऐसी व्यवस्था रहती है कि स्विच दवाते ही उनसे ऊपर के शीशे (चित्र में चौकोर काला) पर कृत्रिम तालु की छाया पड़ने लगती है और किसी पतले कागज को उस पर रख कर अक्स कर लेते हैं। इस प्रकार सरलता से चित्र उतर जाता है। इस पर जल्दी-जल्दी थोड़े ही समय में काफी ध्वनियों का चित्र अक्स किया जा सकता है।

मूलतः कृत्रिम तालु दन्त-चिकित्सा में प्रयुक्त होता था। १८१७ में कीट्स ने इसका प्रयोग ध्वनियों के लिए किया और तब से इस क्षेत्र में यह बहुत कारगर सिद्ध हुआ है।

(३) कायमोग्राफ़ (Kymograph)

'कायमोग्राफ' एक यंत्र है, जिसका उपयोग ध्वनियों के अध्ययन के लिए किया जाता है। यह चौकोर वाक्स की तरह एक मशीन होती है, जिसके ऊपर सिगरेट के गोल डिब्बे की तरह एक वडी ढोल लगी होती है। ढोल के ऊपर चारों ओर धुएँ से काला किया हुआ एक चिकना कागज लपेट देते हैं। पास ही एक खड़े डंडे में छोटी-सी मशीन और उसी से सम्बद्ध एक रवड़ की नली रहती है। रबड़ की नली के एक ओर एक चौड़ी-सी चीज लगी रहती है, ताकि मुँह में ठीक से लगाया जा सके। दूसरी ओर एक पतली-सी सुई रहती है। जैसा चित्र से स्पष्ट है, सुई ढोल पर लिपटे कागज पर लगी रहती है। मुंह में लगाये जाने वाले छोर को मुँह में लगा कर प्रयोगकर्त्ता बोलता है। इससे दूसरे छोर पर लगी सुई में कम्पन होता है। उधर ढोल विद्युत् की सहायता से घूमने लगती है और सुई काले कागज पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीर बनाने लगती है। अनुनासिकता आदि देखने के लिए एक नली नाक मे भी सम्बद्ध कर लेते हैं, जो एक अलग निशान वनाती चलती है। कुछ ध्वनियाँ घोष और कुछ अघोष होती हैं। इसका निश्चय
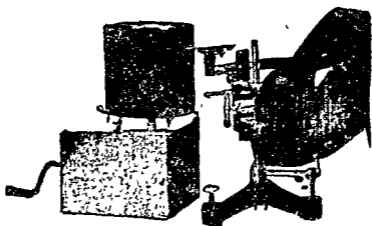
कायमोग्राफ की सहायता से सफलतापूर्वक हो सकता है। अघोष ध्वनियों का उच्चारण करने पर ढोल वाले कागज पर बनी लकीर सीधी होती है। उसमें लहरें नहीं रहती हैं, पर घोष ध्वनियों की लकीर लहरदार होती है। इसका कारण यह है कि घोष ध्वनियों में सुई नीचे-ऊपर काँपती रहती है, पर अघोष में नहीं। अल्पप्राण और महाप्राण की

लाइनों की लहरों में भी कायमोग्राफ़ में स्पष्ट भेद रहता है। एक कुछ अधिक सीधी और दूसरी कम सीधी होती है। **स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, पार्श्विक** आदि की लहरों में भी सूक्ष्म अन्तर रहता है, जिसे लाइनों का अध्ययन करने वाला पहचान सकता है। **अनुनासिकता** जानने के लिए एक अन्य नली नाक में लगा लेते हैं। उसका भी दूसरा सिरा प्रथम की भाँति सुईयुक्त होता है और ढोल पर लगा रहता है। अनुनासिक ध्वनि में नासिका से भी कुछ वायु निकलती है। अतः नासिका-नली की सुई अनुनासिक ध्वनि के समय लहरदार लकीर बनाती है, पर अनुनासिक ध्वनि में उसकी लकीर साधारण रहती है। **लकीर या मात्रा** जानने के लिए एक घड़ी से सम्बद्ध करके एक तीसरी रबड़ की नली इसके लिए लगा देते हैं। यह तीसरी लकीर समय प्रदर्शित करती चलती है। इसकी सुई एक सेकेण्ड में सौ निशान बनाती है, जिसके देखने से पता चल जाता है कि किस ध्वनि के उच्चारण में कितना समय लगा, तथा वह दीर्घ है या लघु। इससे सुर का भी पता चल जाता है। इसका प्रयोग पहले डाक्टर लोग करते थे, किन्तु १८७६ में रोज़पेल्ली ने ध्वनि-अध्ययन में इसका प्रयोग किया और तब से इससे ध्वनिविज्ञान में बहुत सहायता मिलती आ रही है।

कायमोग्राफ़ के नये रूप

ऊपर जिस कायमोग्राफ का वर्णन किया गया है, उसका प्रयोग तो चल ही रहा है, किन्तु अब (१) **'एलेक्ट्रो-कायमोग्राफ़'** रूप में इसका एक नया रूप भी प्रयुक्त हो रहा है, जिसमें माइक लगा होता है। इसमें अधिक स्वाभाविकता संभव है, किन्तु यह पुराने जितना उपयोगी नहीं है। इसमें अधिक घोष-अघोष तथा सुर, केवल इन दो को ही जाना जा सकता है। (२) **इंक-राइटर** भी एक प्रकार का कायमोग्राफ कहा जा सकता है। इसमें कायमोग्राफ़ की तरह धुएँ का काला कागज़ न लपेट कर सफेद कागज लपेटते हैं और उस पर सुई स्याही से निशान बनाती है। प्रयोक्ताओं का कहना है कि इसके चिह्न अधिक सही होते हैं, साथ ही प्रयोग में यह सस्ता भी है, यद्यपि खरीदने में महँगा है। (३) **क्रोमोग्राफ़** (Chromograph)—१९३२ के लगभग स्पेन के Laierda नामक भाषातत्त्वविद् ने इसे बनाया। यह यन्त्र भी अच्छा है, किन्तु इसका प्रचार नहीं हो सका। (४) **मिंगोग्राफ़** (Mingograph)—यह यंत्र घोषत्व-अघोषत्व तथा सुर को नापने के लिए बहुत अच्छा है। इस पर भी माइक पर बोला जाता है। इसे स्वीडेन में बनाया गया है। (५) इङ्गलैंड में एक अन्य प्रकार के कायमोग्राफ़ का प्रयोग होता है जिसमें फोटो के कैमरे का प्रयोग किया जाता है।

(४) एक्सरे (X-Ray)

विभिन्न ध्वनियों के उच्चारण में जीभ तथा जबड़े की स्थिति का ठीक ज्ञान एक्सरे से भी किया जाता है। मान स्वरों के एक्सरे-चित्र ध्वनिविज्ञान की कई पुस्तकों में दिये गये हैं। जोन्ज़, स्टीफेन, जॉर्ज आदि ने इस क्षेत्र में पर्याप्त काम किया है।

(५) लैरिंगोस्कोप (Laryngoscope)

इसमें एक पतली छड़ पर १२०° के कोण पर एक छोटा-सा गोल दर्पण लगा होता है। इसके द्वारा स्वरयंत्र और उसके कार्य को देखा जा सकता है। किसी व्यक्ति को सूर्य की ओर या लैंप की ओर मुंह करके बैठा देना पड़ता है, फिर नीचे जैसे चित्र है, उसी स्थिति में उसके मुंह में इतना डालते हैं कि दर्पण कौवे के पास चला जाय। वहाँ पहुँचने पर इस दर्पण में स्वरयंत्र प्रतिबिंबित होने लगता है और देखा जा सकता है। उस स्थिति में जिन ध्वनियों का उच्चारण संभव है, उनके उच्चारण में स्वरयंत्र और स्वरतंत्रियों की स्थिति भी इससे देखी जा सकती है। यदि अपना स्वरयंत्र स्वयं देखना हो तो एक और दर्पण अपने सामने रखकर लैरिंगोस्कोप के दर्पण की छाया में उसे देखा जा सकता है।
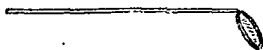
सर्वप्रथम सन् १८०७ ई० में बोज़िनी (Bozzini) ने यह दिखाया कि मुंह के भीतर के बहुत से यंत्रों को शीशे के द्वारा बाहर दिखलाया जा सकता है। बाइस वर्ष के बाद सन् १८२९ में बोबिंगटन ने सर्वप्रथम इस प्रकार स्वरयंत्र-मुख को देखने का प्रयास किया। १८५४ में प्रसिद्ध संगीतशास्त्रज्ञ गर्शिया ने इसी से अपने और कई अन्य संगीतज्ञों के स्वरयंत्र को देखा। इसके अधिक प्रचार का श्रेय उसी को है। इस पद्धति को कुछ और विकसित करके टर्क और जरमक आदि विद्वानों ने १८५७ में लैमिगोस्कोप बनाया और १८८३ में सर्वप्रथम एल० ब्राउने तथा ई० बेहके ने इसके सहारे जीवित मनुष्य के स्वरयंत्र की फोटो ली। लैरिंगोस्कोप से स्वरयंत्र, स्वरयंत्र-मुख तथा स्वरतंत्री को बोलते समय देख कर ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन तो किया जा सकता है, किन्तु इसमें सबसे बड़ी अड़चन यह है कि इसे मुंह में डालने पर ही यह सम्भव है, और ऐसा करने पर स्वाभाविक रूप से बोलना असम्भव हो जाता है। गले तक किसी यंत्र को मुंह से डालने पर हम असाधारण परिस्थिति में आ जाते हैं, अतः इस यंत्र का प्रयोग अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ।

(६) एंडोस्कोप (Endoscope)

यों तो हिगनर, पैंकोनसेलो आदि कई विद्वानों ने लैरिंगोस्कोप को सुधारने का कार्य किया, पर फ्लेटाउ का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इसे सुधार कर एंडोस्कोप बनाया, जिसके सहारे मुंह बन्द रहने पर भी स्वरयंत्र का अध्ययन हो सकता है। इस प्रकार ध्वनियों के मूल स्थान के अध्ययन में इस नवीन यंत्र एंडोस्कोप से अब पर्याप्त सहायता मिल रही है।

(७) ऑसिलोग्राफ (Oscillograph)

यह भाषा के अध्ययन में प्रयुक्त यंत्रों में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण यंत्र है।

इसमें बोलने पर ध्वनि की लहरें बनती हैं, जो बीच के शीशे (स्क्रीन) पर दिखायी पड़ती हैं, और उसका फोटो लिया जाता है। यह मशीन बिजली से चलती है।
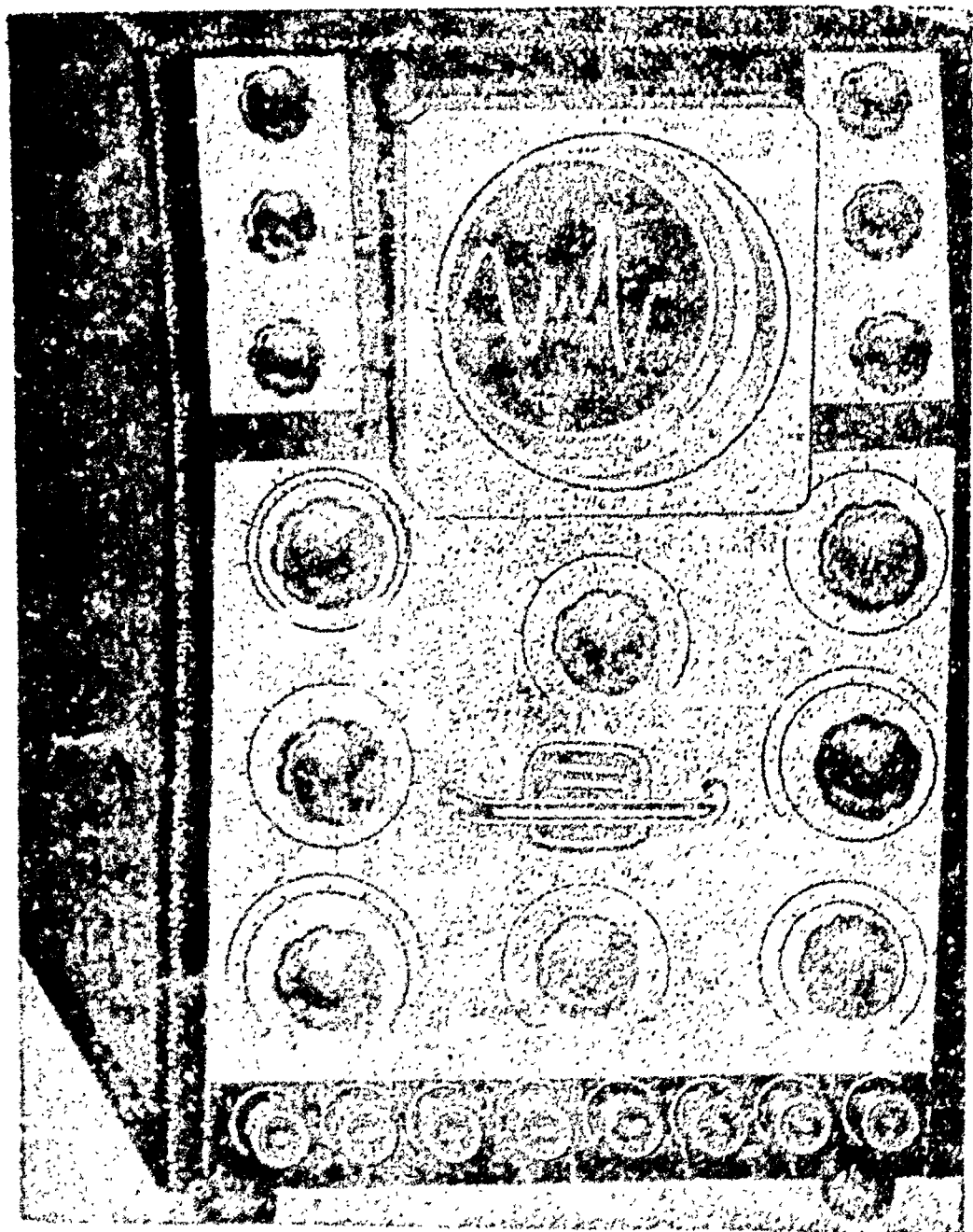
(१) इससे ध्वनियों के उच्चारण में प्रयुक्त समय का बहुत ठीक पता चल जाता है। समय-रेखा के लहरों की संख्या [illegible] अधिक निश्चित होती है। (२) सुर का अध्ययन भी इसके आधार पर किया [illegible]। (३) लहरों के स्वरूप के आधार पर घोषत्व-अघोषत्व का भी [illegible] पता चल जाता है। इस दृष्टि

यह यंत्र सर्वोत्तम माना जाता है। (४) मोटे ढंग से ध्वनि की गम्भीरता (intensity) जानने के लिए भी यह काफ़ी अच्छा यंत्र है, यद्यपि गम्भीरता-मापक (intensity-meter) जैसा आदर्श नहीं। (५) ध्वनियों के तरंगीय स्वरूप का भी इससे पता चल जाता है। स्वर की लहरें नियमित (regular तथा repetitive) होती हैं। स्पर्शों की लहरों में नियमितता बिल्कुल नहीं होती। उनका स्वरूप बड़ा जटिल होता है। अंतस्थ (नासिक्य, पार्श्विक, लुंठित, संघर्षी आदि) एक प्रकार से दोनों के बीच में पड़ते हैं। नासिक्य की ध्वनियाँ कुछ नियमित तथा स, ज् आदि की अव्याहृत और सम होती हैं।

'अ' का ऑसिलोग्राम

(८) पैटर्न प्ले बैक (Pattern Play Back)

फ्रैंकलिन तथा बोर्स्ट ने इसी दशक में इसका आविष्कार किया। इससे स्पेक्टोग्राफ़ के चित्र को बजाया जा सकता है, अर्थात् चित्र के आधार पर उन्हीं ध्वनियों को सुना जा सकता है, जो उसमें चित्रित हैं। इस मशीन से स्पेक्टोग्राफ के ध्वनि-चित्रों के आधार पर बनाये गये कृत्रिम चित्र भी बजाये या सुनाये जा सकते हैं। ध्वनि की विभिन्न विशेषताओं के अध्ययन में यह बहुत सहायक हो रहा है।

(९) पिचमीटर (Pitchmeter)

यह सुर नापने के लिए प्रयुक्त हो रहा है। बहुत महँगा होने के कारण इसका प्रचार अभी तक अधिक नहीं हो सका है।

(१०) इन्टेंसिटीमीटर (Intensitymeter)

इससे ध्वनि की गम्भीरता या तीव्रता नापी जाती है।

(११) स्पीचस्ट्रेचर (Speechstretcher)

इससे रिकार्ड की हुई किसी भी सामग्री को काफी धीरे-धीरे बिना विशेष अस्वाभाविकता के सुना जा सकता है। किसी (informant) से सुनकर रिकार्ड की हुई सामग्री को विश्लेषण के लिए बहुत धीरे-धीरे सुनना अधिक अच्छा होता है। इसी दृष्टि से इस यंत्र को बनाया गया है। नयी भाषा को रिकार्ड से सुनकर सीखने वाले के लिए भी यह पर्याप्त उपयोगी है। इस यंत्र का एक रूप 'सोना स्ट्रेचर' है।

(१२) स्पेक्टोग्राफ (Spectograph)

दूसरे महायुद्ध में यह यंत्र सामरिक प्रयोग के लिए बनाया गया था। अब भाषा के अध्ययन में सहायक यंत्रों में यह सबसे अधिक उपयोगी माना जाता है। इससे प्रमुखतः उच्चारण-समय तथा आवृत्ति (frequency) का पता चलता है। अभी तक स्वर का ही विशेष रूप से अध्ययन इसके द्वारा सम्भव हो सका है। व्यंजन के फार्मेन्ट इस पर
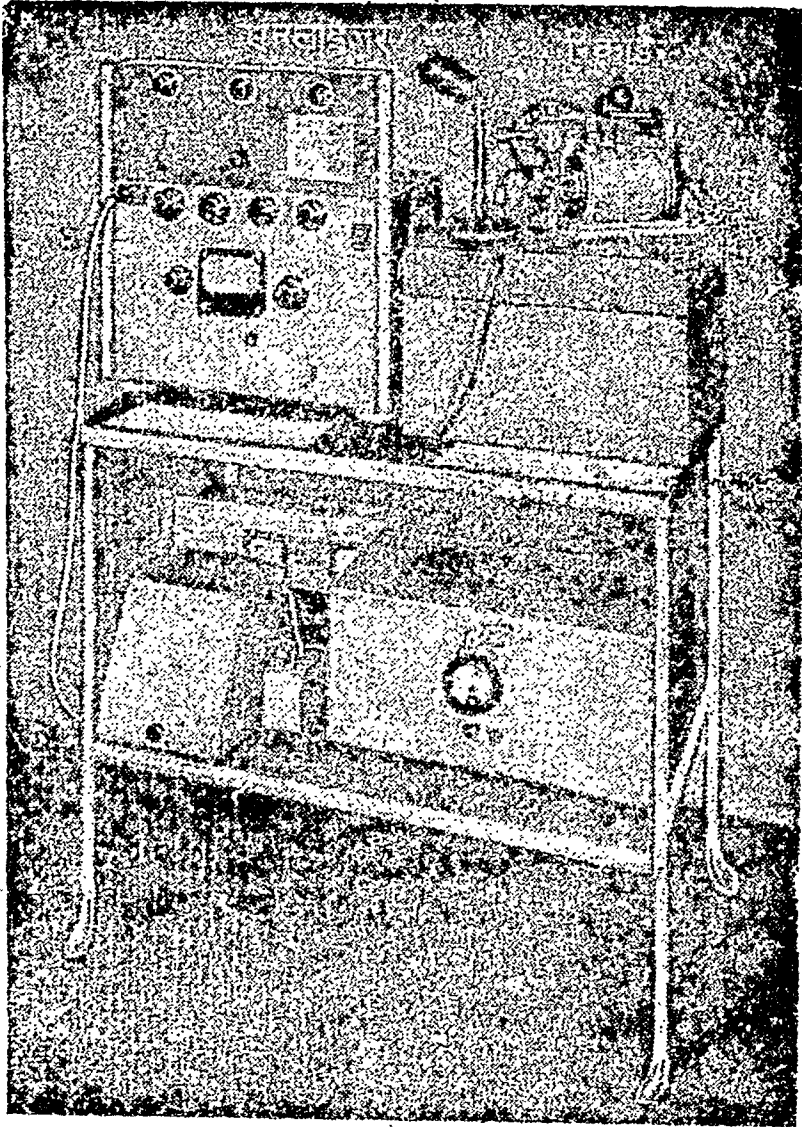
पर्याप्त स्पष्ट नहीं आते, यद्यपि इस दिशा में प्रयास जारी है। यह यंत्र सोनोग्राफ (Sonograph), वाइब्रलाइज़र (Vibralyzer) तथा कार्डिअलाइज़र (Cardialyzer) आदि कई रूपों में चल रहा है। सोनोग्राफ़ समय-मापन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। इस मशीन से ध्वनि का जो चित्र (स्पेक्टोग्राम) बनता है, ऊँचाई में आवृत्ति तथा लम्बाई में समय दिखलाता है। इससे ध्वनि के भौतिक स्वरूप की सारी

विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। इसमें माइक पर बोलते हैं और ध्वनि-चित्र मशीन में ही बनता है।

(१३) ऑटोफ़ोनोस्कोप (Autophonoscope)

पैकोनसेली ने इसे स्वर-यंत्र के अध्ययन के लिए बनाया है।

(१४) ब्रीदिंग फ्लास्क (Breathing Flask)

इसे गट्ज़मैन ने श्वास-प्रक्रिया के अध्ययन के लिए बनाया है।

(१५) स्ट्रोबोलैरिंगोस्कोप (Strobolaryngoscope)

स्वरतंत्रियों की गतिविधि का अध्ययन करने के लिए यह बनाया गया है।

'एलेक्ट्रिक वोकल ट्रैक', 'फार्मन्ट ग्राफ़िंग मशीन', 'ओवे' तथा 'कैस्केड मॉडुलेशन ऑसिलेटर' आदि कुछ अन्य मशीनें भी बनायी जा रही हैं, जिनसे भविष्य में ध्वनियों का अध्ययन बड़ी सूक्ष्मता से किया जा सकता है।

ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान (Diachronic Phonetics)

ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान में किसी भाषा की विभिन्न ध्वनियों के विकास का विभिन्न कालों में अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी 'क' के सम्बन्ध में देखेंगे कि वह हिंदी में किन-किन स्रोतों (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि) से आया है, साथ ही यह भी देखेंगे कि हिन्दी में विभिन्न कालों में इसका विकास किन-किन रूपों में हुआ है। अक्षर, सुर, बलाघात आदि का भी इतिहास इसी प्रकार देखा जाता है। यहाँ हमें भाषा-विशेष की ध्वनियों का इतिहास नहीं देखना है। यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान ध्वनियों के विकास का अध्ययन है, अतः हम लोग ध्वनियों के विकास के कारण तथा विकास के स्वरूप या दिशाओं पर विचार करेंगे। साथ ही, उन प्रमुख ध्वनि-नियमों को भी देखेंगे, जिनका निर्धारण विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों के अध्ययन के सिलसिले में हुआ है।

ध्वनि-परिवर्तन

भाषा परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन उसमें सभी स्तरों—वाक्य, रूप, अर्थ, ध्वनि आदि—पर होता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत का 'घोटक' शब्द परिवर्तित होते-होते हिन्दी में 'घोड़ा' हो गया : घोटक > घोडग > घोडअ > घोड़ा। अर्थात् 'ट' ध्वनि 'ड', 'ड़' हो गई। 'क्' व्यंजन 'ग्' होकर लुप्त हो गया; और 'क' का अ 'ड़' के अ से मिलकर 'आ' हो गया। यह ध्वनि-परिवर्तन है। ऐसे ही अंग्रेजी शब्द 'स्टेशन' भारतीय भाषाओं और बोलियों में इस्टेशन ('इ' का आगम), सटेशन ('अ' का आगम), टेसन ('स्' का लोप) आदि कई रूपों में मिलता है, और इन सभी में किसी-न-किसी प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन हुआ है।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

ध्वनि-परिवर्तन के कारण दो प्रकार के होते हैं : **आंतरिक और बाह्य**। आंतरिक से आशय है, वे कारण जो शब्द में या ध्वनि-विशेष में परिवर्तित होते हैं। कारण वे हैं जो शब्द के भीतर न होकर उसके बाहर परिस्थिति अथवा वक्ता आदि में होते हैं। इन आंतरिक और बाह्य कारणों पर विचार करने के पूर्व कुछ ऐसे कारणों को लेना आवश्यक है जो कभी कुछ लोगों द्वारा स्वीकृत थे, किन्तु अब प्रायः अस्वीकृत हैं।

अस्वीकृत कारण

(१) **वाग्यंत्र की विभिन्नता**—अर्थात् हर व्यक्ति का वाग्यंत्र दूसरे से भिन्न होता है, अतः वह प्रयास करने पर भी किसी ध्वनि का उच्चारण ठीक उसी रूप में नहीं कर पाता, जैसे उसे करना चाहिए। इस प्रकार उसके उच्चारण में अंतर आता जाता है। यह औच्चारणिक अंतर ही ध्वनि-परिवर्तन है। व्यक्तियों के उच्चारण अवयव में थोड़ा-बहुत अंतर होता है, किंतु हम देखते हैं कि १०-१५ व्यक्तियों के परिवार में किसी भी शब्द का उच्चारण दस-पंद्रह तरह से नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि वाग्यंत्र का थोड़ा-बहुत अंतर हमारे उच्चारण को उल्लेखनीय रूप से प्रभावित नहीं करता, अतः इस कारण को ध्वनि-परिवर्तन का कारण नहीं माना जा सकता।

(२) **श्रवणेंद्रिय की विभिन्नता**—भाषा सुनकर सीखी जाती है। हर व्यक्ति की श्रवणेन्द्रिय दूसरे से भिन्न होती है, अतः उसे ध्वनि कुछ भिन्न सुनाई पड़ती है, अपने सुनने के अनुरूप ही वह कुछ भिन्न रूप में बोलता है, और ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। वस्तुतः इसके विरोध में भी ऊपर की ही बात कही जा सकती है, और इसे भी ध्वनि-परिवर्तन का कारण नहीं माना जा सकता।

(३) **भौगोलिक प्रभाव**—'भौगोलिक स्थिति और जलवायु के अनुरूप व्यक्ति का उदाहरण होता है,' ऐसी मान्यता कुछ लोगों की रही है। वे यह मानते रहे हैं कि ठंडी जलवायु में ध्वनियाँ संवृत होती हैं तथा गर्म में विकृत आदि। किंतु विश्व की भाषाओं पर तुलनात्मक दृष्टि डालने पर हमें ऐसी बात दीखती नहीं। अतः इस कारण को भी माना नहीं जा सकता।

आंतरिक कारण

वे कारण जो उस भाषिक इकाई (ध्वनि, शब्द) के भीतर वर्तमान होते हैं, जिसमें ध्वनि-परिवर्तन होता है। इन्हें भाषावैज्ञानिक कारण भी कह सकते हैं। ये मुख्यतः निम्नांकित हैं :

(१) **ध्वनियों का परिवेश**—किसी ध्वनि में होने वाला परिवर्तन कभी-कभी आसपास की ध्वनियों के कारण होता है। उदाहरण के लिए, संस्कृत शब्द

कुञ्चिका में च व्यंजन अघोष है, किंतु उसके पहले 'ञ्' व्यंजन घोष है तथा उसके बाद में 'इ' स्वर भी 'घोष' है। दो घोषों के बीच की यह अघोष ध्वनि च, इसी लिए स्वयं घोष होकर 'ज' हो गई और 'कुंचिका' का हिंदी रूप हुआ है 'कुंजी'। 'गृह' में 'ह' के कारण 'ग' का 'घ' (महाप्राणीकरण) हुआ : गृह=घर। 'नाम' का उच्चारण 'नाँम' होता है। 'आ' की यह अनुनासिकता (आँ) पहले और बाद की न्, म् ध्वनियों (अनुनासिक) के कारण है। 'घोटक' का 'ट्' 'ओ' (घोष) तथा 'अ' (घोष) के बीच में होने के कारण 'ड' (घोष) बन गया और फिर 'घोड़ा' का 'ड' 'ओ' (अर्ध-संवृत) तथा 'आ' (विवृत) के बीच होने के कारण स्पर्श से उत्क्षिप्त 'ड़' हो गया। प्रस्तर > पत्थर, शुष्क > सूखा, क्षेत्र > खेत आदि में भी यही बात है।

(२) ध्वनियों की अपनी प्रकृति—कुछ ध्वनियाँ सबल होती हैं तथा कुछ निर्बल। निर्बल ध्वनियों में परिवर्तन प्रायः होता है, जबकि सबल में नहीं होता या कम होता है। निर्बल और सबल दोनों साथ-साथ आएँ तो प्रायः निर्बल का लोप हो जाता है तथा सबल ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। व्यंजनों में पाँचों वर्ग की प्रथम चार ध्वनियाँ सबल होती हैं (अग्नि > आग; 'न' का लोप), उनके बाद सबलता में नासिक्य व्यंजन हैं तथा फिर अन्य (कर्म > काम; र् का लोप) आते हैं।

(३) स्थिति के कारण ध्वनियों की अपनी शक्ति—संयुक्त व्यंजनों में यदि दोनों व्यंजन समान शक्ति के हैं तो पहला निर्बल होता है तथा दूसरा सबल, अतः पहले का लोप हो जाता है : सप्त > सात, दुग्ध > दूध, मुद्ग > मूंग।

(४) शब्दों की असाधारण लंबाई—जो शब्द लंबे अधिक होते हैं, उन्हें बोलने में अधिक असुविधा होती है, और इसी लिए उनमें परिवर्तन अधिक होते हैं : अध्यापक > झा, उपाध्याय > ओझा, जय राम जी की > जैरम; 'चाय गरम (स्टेशनों पर) > चारम। ऐसे शब्दों को सायास छोटा करने लगे हैं : उत्तरी-पूर्वी सीमा > उपूसी, आंतरिक सुरक्षा क़ानून > आंसुक, कोका कोला > कोका कोक, भारतीय लोक दल > भालोद, संयुक्त विधायक दल < संविद। ऐसे ही युनेस्को, भारोपीय, सुदी (शुक्ल दिवस), वदी (बहुलकृष्ण दिवस)। इस तरह के संक्षेप से शब्द भी बनने लगे हैं : राडार (Radio Detection and Ranging)।

बाह्य कारण

(१) मुखसुख, उच्चारण-सुविधा या प्रयत्न-लाघव (Economy of Effort)—ध्वनि-परिवर्तन का सबसे प्रधान कारण यही है। भाषा साध्य न होकर विचारों को व्यक्त करने का साधन मात्र है। अतः, यह स्वाभाविक है कि हम कम

से कम प्रयास में अपने भाव व्यक्त करने की चेष्टा करें। मुख को सुख देने के प्रयास में कभी-कभी हम किसी ध्वनि का कठिन होने के कारण शब्द-विशेष में उच्चारण करना ही छोड़ देते हैं। अंग्रेजी में talk, walk, know, knife, night, Psychology, आदि में कुछ ध्वनियों का उच्चारण इसीलिए नहीं किया जाता। वहाँ उनके उच्चारण में जीभ को द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ता है। कभी-कभी नयी ध्वनि भी उच्चारण-सुविधा के लिए जोड़ लेते हैं। इसीलिए, स्कूल तथा स्टेशन को कुछ लोग तो इस्कूल तथा इस्टेशन और कुछ लोग सकूल तथा सटेशन कहते हैं। कभी-कभी ध्वनियों का स्थान भी परिवर्तित कर देते हैं। जैसे चिह्न से चिन्ह, ब्राह्मण का ब्राम्हण आदि। कभी-कभी प्रयत्न-लाघव के प्रयास में शब्दों को काट-छाँट कर इतना छोटा बना लिया जाता है कि पहचानना भी कठिन हो जाता है। गोपेन्द्र से गोबिन, सपत्नी से सौत तथा अध्यापक से झा इसके अच्छे उदाहरण हैं। बोलने की इस सुविधा के विषय में कुछ निश्चय नहीं है। कहीं तो किसी एक ध्वनि को हटाने से सुविधा होती है, कहीं उसी को जोड़ना सुविधाजनक हो जाता है। कहीं संयुक्त ध्वनि में दो भिन्न ध्वनि को अनुरूप करना (धर्म=धम्म) पड़ता है। और कहीं अनुरूप ध्वनि को भिन्न बना देना (काक=काग, मुकुट=मउर) पड़ता है। इसी को कुछ लोगों ने आलस्य नाम से भी पुकारा है। आलस्य नाम उचित नहीं जान पड़ता। शक्ति की मितव्ययिता को आलस्य नहीं कहा जा सकता और न धन की मितव्ययिता को कंजूसी। इस सम्बन्ध में यह संकेत्य है कि प्रयत्न-लाघव का अर्थ प्रयत्न की तेजी न होकर सरलता है।

(२) **बोलने में शीघ्रता**—बोलने में शीघ्रता के कारण भी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। साहित्य में लिखा तो जाता है 'पंडित जी', पर इसका शीघ्रता के कारण सर्वत्र ही और विशेषतः प्राइमरी या संस्कृत स्कूलों में उच्चारण 'पंडी जी' होता है। देहाती पत्रों में तो यह लिखा भी जाने लगा है। इसी प्रकार, 'उन्होंने' का 'उन्ने' हो गया है। जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में ऐसे शब्दों को स्थान दिया है। किन्ने, जिन्ने आदि भी प्रचलित हैं। जब ही, कब ही, अब ही, तथा तब ही के जभी, कभी, अभी और तभी भी इसी के उदाहरण हैं। 'इस ही' आदि का इसी, उसी, जिसी; या द्विवेदी का दुवेदी; 'सरदार जी' का 'दारजी', 'इकहत्तर' का हरियाणी में खत्तर, 'दूध-दो' का 'दूद्दो', 'मास्टर साहब का 'मास्साँव' और 'मार डाला' का 'माड्-डाला' हो गया है। इंग्लैंड में 'थैंक्यू' (आप को धन्यवाद है) बेचारा व्यस्त जीवन की शीघ्रता में घिस-घिस कर केवल 'क्यू' रह गया है। अंग्रेजी के वोंट, डोंट, शांट तथा संस्कृत के स्वर या व्यंजन संधियों में होने वाले ध्वनि-परिवर्तन भी इसी के उदाहरण हैं।

(३) भ्रामक या लौकिक व्युत्पत्ति (Popular Etymology)—भ्रामक व्युत्पत्ति का सम्बन्ध भी अज्ञान या अशिक्षा से है। पर, साथ ही इसमें दो मिलते-जुलते शब्दों का होना भी आवश्यक है। भ्रामक व्युत्पत्ति में होता यह है कि लोग किसी अपरिचित शब्द के संसर्ग में जब आते हैं और यदि उससे मिलता-जुलता कोई शब्द उनकी भाषा में पहले से रहता है, तो उस अपरिचित शब्द के स्थान पर उस परिचित शब्द का ही उच्चारण करने लगते हैं और इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। अरबी का 'इंतिकाल' शब्द इसी कारण हिन्दी में 'अंतकाल' हो गया है। लोगों ने अन्त (=आखिरी)—काल (=समय) समझ लिया और अर्थ में साम्य था ही, अतः 'अंतकाल' कहने लगे। इस प्रकार, लोकभाषाओं में 'लाइब्रेरी' (पुस्तकालय) का 'रायबरेली', 'एडवांस' का 'अठवांस' (आठवाँ अंश), 'हू कम्स देयर' का 'हुकुम सदर' तथा पाउरोटी का पावरोटी (यह रोटी जो पाव भर की या बड़ी हो), 'आर्ट कॉलिज' का 'आठ कालिज', गार्डन का गर्दनी (गर्दनी बाग कालोनी पटने की), 'मार्केट' का मर्कट (मर्कट बाजार=कटक में), 'हीराकुंड' का हीराकुण्ड, 'क्रिसमस डे' का 'किसमिस डे' हो गया है। 'मेकेन्जी' का 'मक्खनजी', 'बनर्जी' का 'बानरजी', 'क्वार्टर गार्ड' का 'कोतल गारद' तथा 'चार्ज शीट' का 'चार सीट' भी भ्रामक व्युत्पत्ति के कारण ही बने हैं। माउंट आबू में एक स्थान का नाम अंग्रेजों ने Sunset Point रखा था, अब उसे लोग 'सैंसठ-पैंसठ' कहते हैं। सिलाई 'प्लीट' (Pleat) डालते हैं जिसे ग़लती से 'प्लेट' समझकर 'प्लेट' कहने लगे हैं। शिमले में समरहिल की दूसरी तरफ के मुहल्ले या कॉलोनी को बालूगंज कहते हैं। मैंने जब शुरू में इसका नाम सुना तो अनुमान लगाया कि इस नाम का संबंध बालू या रेत से है। किन्तु एक अत्यन्त वयोवृद्ध सज्जन ने बताया कि एक अंग्रेज मिस्टर बॉइलू (Boileau) के नाम पर पहले इसे बॉइलूगंज कहते थे जिसे धीरे-धीरे जनता ने बालूगंज कर दिया। दिल्ली शहर का जंगपुरा मूलतः किसी अंग्रेज के नाम पर 'यंग-पुरा' था। बाद में 'जंगपुरा' हो गया। 'हॉलीहॉक' फूल को दिल्ली के बहुत से माली 'अलीहक' कहते हैं।

(४) सादृश्य (Analogy)—कुछ शब्द किसी दूसरे के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। 'पैंतिस' के सादृश्य पर 'सैंतिस' में अनुनासिकता आ गयी है। संस्कृत में 'द्वादश' के सादृश्य पर 'एकदश' भी 'एकादश' हो गया। मुझ (> मह्य) का उकार तुझ (<तुभ्यं) के सादृश्य से है। 'देहात' से 'देहाती' के सादृश्य पर 'शहर' से 'शहराती' हो गया है। 'स्वर्ग' के सादृश्य पर 'नरक' 'नर्क' हो गया है। कबीर ने 'निर्गुण' के आधार पर 'सगुण' का 'सर्गुण' कर दिया है तथा 'पिंगला' के आधार का 'इड़ा' का 'इंगला'।

सच पूछा जाय तो सादृश्य स्वयं कारण न होकर कार्य है। इसका भी प्रधान कारण सुगमता ही है, पर यहाँ पर सुगमता की प्राप्ति किसी विशेष शब्द के आधार

पर होती है, अतः इसे अलग रख दिया गया है। इसी प्रकार, सुक्ख का 'क' दुक्ख (दुःख) के सादृश्य के कारण आ गया है।

(५) लिखने के कारण—अंग्रेजी में गुप्त, मित्र आदि लिखने में अन्त में a लिखने का प्रभाव यह पड़ा है कि लोग न केवल गुप्ता, मित्रा, मिश्रा आदि कहने लगे हैं, अपितु हिन्दी में भी वही लिखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि इसी से प्रभावित होकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थी बातचीत में 'बुद्ध' और 'अशोक' के स्थान पर 'बुद्धा' और 'अशोका' का भी प्रयोग करते सुने जाते हैं। 'सहस्र' में 'त्र' का भ्रम होने से लोग 'सहस्त्र' और 'सहस्तर' कहने लगे हैं। देहरादून में 'सहस्र-धारा' को लोग 'सहस्तर धारा' कहते हैं। कदाचित् उर्दू लिपि के कारण पंजाबियों तथा मुसलमानों में राजेन्दर, इन्दरजीत जैसे उच्चारण चल पड़े हैं। अंग्रेजों ने सिंह को sinha लिखा, फिर यही 'सिनहा' पढ़ा गया, इस तरह 'सिंह' से 'सिनहा' हो गया।

(६) बलाघात—बलाघात के कारण भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। किसी ध्वनि पर बल देने में श्वास का अधिक भाग उसी के उच्चारण में व्यय करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि आसपास की ध्वनियाँ कमजोर पड़ जाती हैं और धीरे-धीरे उनका लोप हो जाता है। 'अभ्यंतर' के बीच में बल है, अतः आरम्भ का 'अ' समाप्त हो गया और 'भीतर' बन गया। 'उपाध्याय' से 'ओझा' में भी यह बात है। पंजाबी लोगों के मुँह से इसी कारण बरीक (बारीक), बजार (बाजार), सहित्य (साहित्य), अलोचना (आलोचना) सुनायी पड़ता है। डाइरेक्टर और फाइनेन्स का उच्चारण बल के कारण ही डिरेक्टर और फिनैन्स हो गया है। अलाबु का लाऊ और लौ (की) है। 'अस्ति' से 'है', 'तत्स्थाने' से 'तहाँ' अनाज से नाज, सरदारजी से दारजी आदि भी इसके उदाहरण हैं।

(७) अज्ञान—अज्ञान के कारण भी कभी-कभी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अनुकरण की अपूर्णता के साथ इसका योग हम ऊपर देख चुके हैं। देशी या विदेशी किसी भी प्रकार के शब्द, जिनके विषय में हमें निश्चित ज्ञान नहीं है, अधिकतर अशुद्ध उच्चरित होने लगते हैं, और ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। अज्ञान के कारण लोग शब्दों का ठीक रूप समझ नहीं पाते और फल यह होता है कि उच्चारण का ठीक अनुकरण नहीं हो पाता और इस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अपरिचित या विदेशी शब्दों में प्रायः इसी कारण ध्वनियों में परिवर्तन विशेष दिखाई पड़ता है। लोकभाषाओं में इसी से इंजीनियर का इंजियर, एक्सप्रेस का इस्प्रेस, ओवरसियर का ओसियर, कम्पाउन्डर का कम्पोडर या कम्पोटर तथा डिस्ट्रिक्टबोर्ड का डिस्टीबोट हो गया है। अंग्रेजों ने 'गंगा जी' सुना और 'जी' की अलग सत्ता नहीं समझ पाये। परिणामतः अंग्रेजी में 'गंगा' का 'गैंजिज' हो गया। अज्ञान के कारण ही लोग बहुत से विदेशी शब्दों में क़ को क, ज़ को ज, ख़ को ख आदि कर देते हैं : क़ानून-कानून, ज़ोर-जोर, 'ख़बर-खबर', ऑफ़िस-आफिस। इसके

विपरीत ज का ज़, क का क़ आदि भी अज्ञान के कारण हो जाते हैं। वस्तुतः अज्ञान अनुकरण की अपूर्णता तथा विदेशी ध्वनि का अभाव ये तीनों कारण संवाद हैं। अज्ञान के कारण ऐसी ध्वनि का ठीक अनुकरण नहीं हो पाता, अतः वह परिवर्तित होकर निकटतम प्राप्त ध्वनि बन जाती है। इसीलिए 'थर्मामीटर' हिन्दी में 'थर्मामीटर' तथा तमिल में 'तर्मामीटर' हो गया है।

(८) अनुकरण की अपूर्णता—भाषा अनुकरण द्वारा सीखी जाती है। किंतु यह अनुकरण हमेशा पूर्ण नहीं होता और इसीलिए अपूर्ण अनुकरण ध्वनि-परिवर्तन को जन्म देता रहता है। बच्चा सुनता है 'रुपया', किंतु अनुकरण से कह पाता है 'नुपया' अथवा 'लुपया'। 'नंबरदार' लोकभाषा में 'लंबरदार' है, 'सिगनल' 'सिगल' है। बुंदेलखंड के कुछ विद्यालयों में मैंने सुना 'ॐ नमः सिद्धम्' का 'ओनामासीधम'। यह ध्यान देने की बात है कि इस कारण के साथ-साथ एक दूसरा कारण 'अज्ञान' भी काम करता है। ज्ञानी व्यक्ति पूर्ण अनुकरण कर लेता है। अपूर्ण अनुकरण अज्ञानी ही करता है। इस तरह 'अज्ञान' और 'अनुकरण की अपूर्णता' इन दोनों कारणों का चोली-दामन का साथ है

(९) किसी विदेशी ध्वनि का अपनी भाषा में अभाव—जब कोई भाषाभाषी किसी दूसरी भाषा के संपर्क में आता है और उस विदेशी भाषा मे यदि कुछ ऐसी ध्वनियाँ रहती हैं जो उनकी अपनी भाषा में नहीं रहतीं तो प्रायः वह उधार लिये गये शब्दों में उन ध्वनियों के स्थान पर अपनी भाषा की उनसे मिलती-जुलती या निकटतम ध्वनियों का प्रयोग करता है और इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। भारतीय भाषाओं में समय-समय पर यूनानी, इब्रानी, जापानी, चीनी, तुर्की, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेजी तथा पुर्तगाली आदि भाषाओं के बहुत से शब्द लिये गये हैं और इन सभी में ऐसा हुआ है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। अंग्रेजी में ट तथा ड ध्वनि हिंदी के ट, ड के समान न तो मूर्द्धन्य या पूर्व-तालव्य है और न त, द के समान दंत्य। ये वर्त्स हैं। अतः, स्वभावतः उन अंग्रेजी शब्दों में, जो हिंदी में आये हैं, ये ध्वनियाँ या तो मूर्द्धन्य या पूर्व तालव्य में परिवर्तित हो गई हैं, जैसे : 'रिपोर्ट' से 'रपट', या दंत्य में जैसे—'ऑगस्ट' से 'अगस्त'; 'डेसंबर' से 'दिसम्बर'। इसी प्रकार, अंग्रेजी के दंत्य-संघर्षी 'थ' तथा 'द' हिंदी-उर्दू में दंत्य स्पर्श 'थ', 'द' (थर्मामीटर) तथा लोकभाषाओं में अरबी और अंग्रेजी आदि क़ क, ख़ ख, ग़ ग, तथा ज़ ज हो गयी हैं (रूज, ताक, खाहिश, गरीब)।

(१०) भावुकता—भावुकता के कारण भी शब्दों में पर्याप्त ध्वनि-परिवर्तन देखा गया है। विशेषतः लोक-प्रचलित व्यक्तिवाचक नाम तो अधिकांशतः इसी ध्वनि-परिवर्तन के परिणाम हैं। दुलारी का दुल्लो, दुलिया या दुल्ली, मुखराम का मुक्खू, बच्चा का बचाऊ, मुन्ना का मुन्नू तथा कुमारी का कुम्मो आदि इसी के उदाहरण हैं। सम्बन्धसूचक संज्ञाएँ अम्मा, चाची, बेटी प्यारपूर्ण भावुकता में ही अम्मी,

बच्ची या चचिया तथा बिट्टो या बिट्टी आदि हो गई हैं। इसके कारण, भाषा पर स्थायी प्रभाव पड़ता तो अवश्य है, किन्तु अधिक नहीं।

(११) **विभाषा का प्रभाव**—एक राष्ट्र, जाति या संघ, दूसरे के सम्पर्क में आता है तो विचार-विनिमय के साथ ध्वनि-विनिमय भी होता है। एक-दूसरे की विशेष ध्वनियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। अफ्रीका के बुशमैन परिवार की भाषाओं की क्लिक ध्वनियाँ समीप के अन्य भाषा-वर्गों को प्रभावित कर रही हैं। कुछ लोगों का विचार है कि भारोपीय भाषा में टवर्ग नहीं था। द्रविड़ों के प्रभाव से भारत में आने पर आर्यों के ध्वनि-समूह में उसका प्रवेश हो गया। इसी कारण आरंभिक वैदिक मंत्रों में उसका प्रयोग बहुत कम है, किन्तु बाद में इसका प्रयोग बहुत अधिक हो गया (त आदि के स्थान पर ट आदि)। यों यह कारण थोड़ा विवादास्पद है।

(१२) **सहजीकरण**—दूसरी भाषाओं से अज्ञात शब्दों को कभी-कभी जान-बूझकर भी परिवर्तित कर लिया जाता है। उस शब्द को भाषा की ध्वन्यात्मक प्रकृति के अनुरूप बनाने के लिए या उस भाषा में सहज करने के लिए ऐसा करते हैं। उदाहरण के लिए 'एकैडमी' को हिंदी आदि में 'अकादमी' या 'टेकनीक' को 'तकनीक' कर लिया गया है। कभी-कभी ऐसा करते समय यह भी ध्यान रखते हैं कि शब्द सहजीकृत होकर अर्थ के स्तर पर भी अपनाने वाली भाषा में मूल या मिलते-जुलते अर्थ में सार्थक हो सके। हिन्दी में 'ट्रैजेडी' के लिए 'त्रासदी' या 'कॉमेडी' के लिए 'कामदी' में यही बात है। 'इंटोनेशन' के लिए हिन्दी 'अनुतान' बिल्कुल यही न होकर इस सहजीकरण के काफ़ी निकट है। भारतीय भाषाओं के लिए स्वतन्त्रता के बाद स्वीकार किए गए तकनीकी शब्दों में काफ़ी शब्द इस प्रकार के हैं।

परिवर्तन के स्वरूप या उनकी दिशाएँ

कारणों पर विचार करने के बाद उनके कार्य पर विचार करना होगा। कार्य से यहाँ आशय ध्वनि-परिवर्तन से है। ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं। प्रथम को स्वयंभू (unconditional, spontaneous या in contact) कहते हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। अधिकतर ये भाषा के प्रवाह में हो जाते हैं और कहीं भी घटित हो सकते हैं। इनके लिए किसी विशेष अवस्था या परिस्थिति (condition) की आवश्यकता नहीं। स्वतः अनुनासिकता नाम का ध्वनि-परिवर्तन इसी में आता है। दूसरे प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन परोद्भूत (conditional या contact) कहा जाता है। इस वर्ग में आने वाले ध्वनि-परिवर्तन ऊपर दिये गये कारणों से प्रभावित होकर घटित होते हैं। यहाँ प्रमुख रूप से इन्हीं पर विचार किया जायगा। प्रथम वर्ग के केवल दो-एक ही उदाहरण आनुषंगिक रूप से लिये जा सकेंगे।

(१) लोप (Elision)

कभी-कभी बोलने में मुखसुख के कारण अथवा शीघ्रता या स्वराघात आदि के प्रभाव से कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। भाषाओं में सबसे अधिक प्रवृत्ति इसी की मिलती है। लोप तीन प्रकार का सम्भव है: (१) स्वर-लोप, (२) व्यंजन-लोप, (३) स्वर-व्यंजन-लोप। आदि, मध्य, अंत्य की दृष्टि से इनके तीन-तीन भेद होते हैं। यहाँ इन सब पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(अ) स्वर-लोप

(क) आदि स्वर-लोप (Aphesis)—अनाज=नाज (हरियानी), अगर=गर; अहाता=हाता (भोजपुरी), अभ्यंतर=भीतर, एकादश=ग्यारह, अरघट्ट=रहँट, अतिसी=तीसी, अफ़साना=फ़साना।

(ख) मध्य स्वर-लोप (syncope)—उच्चारण में हिन्दी में बहुत से शब्दों में मध्य स्वर का लोप हो गया है, किन्तु अभी लिखा नहीं जाता। उदाहरणार्थ, बलदेव=बल्देव, लगभग=लग्भग, कृपया=कृप्या, कपड़ा=कप्ड़ा, हरदम=हर्दम। इन लुप्त हो जाने वाले स्वरों को 'मध्यलोपी स्वर' (syncopic Vowel) कहते हैं। अंग्रेजी में do not का don't में भी यही बात है।

(ग) अन्त्य स्वर-लोप—मध्य की भाँति बोलने में हिन्दी के अकारांत शब्दों का 'अ' स्वर भी लुप्त हो गया है। इसके कारण धीरे-धीरे हिन्दी के अकारांत शब्द व्यंजनांत हो गये हैं। कुछ उदाहरण हैं: आम=आम्, तिल=तिल्, राम=राम्, दिल=दिल्, मार=मार्, वाम=वाम्, हम=हम्, चल=चल्, कमल=कमल् कुछ अन्य स्वरांत शब्द भी व्यंजनांत हो गए हैं: परीक्षा-परख्, भिक्षा=भिख्।

(आ) व्यंजन-लोप

(क) आदि व्यंजन-लोप—उच्चारण की कठिनाई के कारण अनेक आदि व्यंजनों का अंग्रेजी बोलने में लोप हो चुका है, किन्तु लिखने में अभी वे चल रहे हैं। जैसे Psychology, know, Write आदि। हिन्दी में भी अनेक संस्कृत शब्द अपने आदि व्यंजन खोकर आये हैं:—स्थाली-थाली, श्मशान-मसान, स्थानक-थाना-थाना; स्कंध-कंधा, स्फूर्ति-फुर्ती। अंग्रेजी 'हॉस्पिटल' का हिन्दी में भी यही बात है।

(ख) मध्य व्यंजन-लोप—सूची=सूई, घरद्वार=घरबार, आसन्दी=आसनी, प्रिय=पिया, सप्त=सात, कूचिका=कूँची, कर्म=काम; कोकिल=कोयल, गर्भिणी=गाभिन, कार्तिक=कातिक। अंग्रेजी उच्चारण में कुछ मध्य व्यंजनों का लोप हो गया है, यद्यपि वर्तनी में अभी वे लिखे जाते हैं, *Walk, talk, right, daughter* Often.

(ग) अन्त्य व्यंजन-लोप—इसके उदाहरण बहुत कम भाषाओं में मिलते हैं। अंग्रेजी Water, Father आदि 'र' से अंत होने वाले शब्दों का उच्चारण वाटर,

फादर आदि अर्थात् र—विहीन होता है। अंग्रेजी Command हिन्दी में 'कमान' (कांग्रेस हाई कमान) हो गया है तथा Bomb बम।

(इ) स्वर-व्यंजन-लोप

(क) आदि स्वर-व्यंजन-लोप (Apheresis)—इसके उदाहरण भी अधिक नहीं मिलते। दो उदाहरण हैं 'नेकटाई' से 'टाई' तथा आदित्यवार से इतवार या इतवार।

(ख) मध्य स्वर-व्यंजन-लोप—अग्रहायण=अगहन, भाण्डागार=भंडार, पर्यंकग्रंथि=पलथी, वरुजीवी=बरई, राजकुल्य=राउर, (भोजपुरी) फलाहार-फरार (ब्रज)।

(ग) अन्त्य स्वर-व्यंजन लोप (Apocope)—माता=माँ, विज्ञाप्तिका=बिनती, नीलमणि=नीलम, भ्रातृजाया=भावज, मौक्तिक-मोती, कर्तरिका-कटारी, निम्बुक-नींबू, जीव-जी, दीपवर्तिका-दीवट, कुंचिका-कुंजी, सपादिक-सवा, उष्ट्र-ऊँट, आम्र-आम्।

(ई) समध्वनि-लोप (Haplology)—इसमें होता यह है कि किसी शब्द में यदि एक ही ध्वनि या ध्वनि-समूह दो बार आयें तो एक का लोप हो जाता है। वस्तुतः एक स्थान पर दो ध्वनियों का उच्चारण असुविधाजनक होता है, अतः एक को छोड़ देते हैं। प्रायः सभी भाषाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ—स्वर्गंगंगा=स्वर्गंगा, नाककटा=नक्टा, खरीददार, खरीदार, (यह तो लेखन में भी है) नाटककार=नाटकार, संवाददाता=संवादाता, मानससरोवर=मानसरोवर, Parttime =पार्टाइम, Snowwhite=snowhite नाममात्र=नामात्र, नन्ददुलारे बाजपेयी= नंदुलारे बाजपेयी। कभी-कभी ध्वनि या अक्षर पूर्णतः एक ही न होकर उच्चारण मिलते-जुलते हों, तब भी एक का लोप हो जाता है : कृष्णनगर=कृष्नगर अतः इसके 'समव्यंजन-लोप' (खरीददार=खरीदार) और 'समस्वर-लोप' (साराआकाश= साराकाश) दो उपभेद किये जा सकते हैं। मेरे विचार में संस्कृत में अ+आ=आ, ई+ई=ई, ऊ+ऊ=ऊ, तत्वतः समस्वर-लोप के ही उदाहरण हैं।

(२) आगम

लोप का उलटा आगम है। इसमें कोई नयी ध्वनि आ जाती है। उच्चारण-सुविधा ही इनके प्रमुख भेदों का कारण है। लोप की भाँति ही इसके भी कई भेद होते हैं—

(क) आदि-स्वरागम (Prothesis)—इसमें शब्द के आरम्भ में कोई स्वर आ जाता है। यह स्वर ह्रस्व होता है। बोलचाल में बहुत से लोग स्-युक्त संयुक्त व्यंजन के पूर्व 'अ' या 'इ' का आगम उच्चारण-सुविधा की दृष्टि से कर लेते हैं: स्कूल=इस्कूल, स्टेशन=इस्टेशन, स्टूल=इस्टूल, स्नान=अस्नान, स्नेह=इस्नेह,

संस्कृत स्त्री=प्राकृत इत्थी। कोई आवश्यक नहीं है कि सर्वदा ऊष्म के पूर्व ही स्वर आयें। अन्य उदाहरण भी मिलते हैं: यूनानी शब्द प्लातोन (प्लेटो)=अफलातून।

(ख) मध्य-स्वरागम (Anaptyxis)—मूल व्यंजन की तुलना में संयुक्त व्यंजन के उच्चारण में कठिनाई होती है। इसीलिए बोलने के सुभीते के लिये कभी-कभी बीच में स्वर लाकर संयुक्त व्यंजन को तोड़कर दो में विभक्त कर लेते हैं। ऐसे शब्द जिन्हें पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोग आदि स्वरागम द्वारा बोलने के लिए आसान बनाते हैं, पंजाबी लोग प्रायः उन्हें मध्य-स्वरागम द्वारा आसान बनाते हैं। जिन लोगों ने पंजाबियों को बोलते सुना है, वे सकूल, सटेशन, सटूल, सनान, सप्रिंग आदि मध्य-स्वरागम वाले शब्दों से अपरिचित नहीं हैं। संस्कृत में भी पृथ्वी=पृथिवी तथा इंद्र=इंदर जैसे कुछ अपवादात्मक उदाहरण मिलते हैं। बोलचाल में मध्य-स्वरागम खूब मिलता है; शर्म=शरम, धर्म=धरम, कर्म=करम, गर्म=गरम। कुछ शब्द तो मानक भाषा में भी प्रविष्ट हो गए हैं: पूर्व=पूरब, सूर्य=सूरज, जन्म=जनम, हुक्म=हुकुम, भक्त=भगत। भोजपुरी 'दुइज' (दुज) या 'बेइल' (बेला) जैसे शब्दों में इसका कारण अस्पष्ट है।

इसे स्वर-भक्ति भी कहते हैं। यों तो संस्कृत में स्वर-भक्ति का अन्य अर्थों में भी प्रयोग मिलता है, किन्तु सामान्यतः संयुक्त व्यंजनों के बीच उच्चारण की असुविधा दूर करने के लिए किसी स्वर के आगम को स्वर-भक्ति विप्रकर्ष (diaeresis) या युक्तिविकर्ष भी कहा गया है। 'अपनिहिति' भी एक प्रकार का स्वरागम ही है, जिस पर आगे 'विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन' शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया गया है।

(ग) अन्त्य-स्वरागम—यह प्रवृत्ति बहुत ही कम मिलती है। जर्मन agon से अंग्रेजी agony, 'दवा' से 'दवाई' तथा 'पत्र' से 'पतई' (भोजपुरी) आदि कुछ उदाहरण हैं।

(घ) समस्वरागम (epenthesis) पर आगे 'विशेष परिवर्तन' में विचार किया गया है।

(आ) व्यंजनागम

(क) आदि-व्यंजनागम—इस आगम के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। इसकी कमी का स्पष्ट कारण यह है कि नये व्यंजनों को आदि में लाने से प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख की दृष्टि से कोई सुविधा नहीं होती। ह्-आगम के उदाहरण अवश्य हैं—ओष्ठ=होंठ, अस्थि=हड्डी, उल्लास=हुलास, (संस्कृत) 'अपर'=पंजाबी 'होर' (और) (संस्कृत) अंसली=हंसली (आभूषण अथवा हड्डी विशेष)। यह कहना कठिन है कि 'ह' का यह आदि-आगम क्यों होता है।

(ख) मध्य-व्यंजनागम—इनके उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं : हमेशा =हरमेशा (अवधी, भोजपुरी) ,वनतर=बन्दर; पर्ण=प्रण; सुनरी=सुन्दरी; शाप =श्राप; सुनर=सुन्दर; पक्ष+ख=पंखा वियोग=बिरोग (अवधी); पसन्द=परसन्द (भोजपुरी)।

इस प्रकार हिन्दी और उसकी बोलियों में मुख्यतः र्, ह् व्यंजनों का आगम होता है। इनके आगम का कारण स्पष्ट नहीं है।

(ग) अन्त व्यंजनागम—चील=चील्ह (भोजपुरी); कल=काल्ह (प्राचीन साहित्य), भ्रू=भौंह (भौंहें); (अरबी) तिलस्म=(अंग्रेजी) Talisman; तारा=(कश्मीरी) तरुख, परवा=परवाह (भोजपुरी), दरिया=दरियाव (हिन्दी बोलियाँ), उमरा ('अमीर' का अरबी बहु०)=उमराव ।

(इ) स्वर-व्यंजन-आगम

(क) आदि—गुंजा=घुंगुची (भोजपुरी)।

(ख) मध्य—खल=खरल; आलस=आलकस (भोजपुरी), आलसी=आलकसी (भोजपुरी), जेल=जेहल (भोजपुरी), लाश=लहास (भोजपुरी), डेढ़ा=डेवढ़ा (भोजपुरी), समुद्र=समुन्दर, उर्दू तथा कई बोलियाँ।

विपर्यय (Metathesis)

(ग) अन्त्य—रंग=रंग।

इसमें किसी शब्द के स्वर, व्यंजन या स्वर-व्यंजन एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और दूसरे स्थान के पहले के स्थान पर आ जाते हैं जैसे (कुछ भोजपुरी क्षेत्रों के उच्चारण में) 'अमरूद' से 'अरमूद'। यहाँ 'म्' और 'र्' व्यंजनों ने एक-दूसरे का स्थान ले लिया है। यदि पास-पास की ध्वनियाँ एक दूसरे का स्थान लेती हैं तो 'पार्श्वर्तीविपर्यय' होता है, अन्यथा 'दूरवर्ती विपर्यय'। स्वर, व्यंजन के आधार पर इनके कई भेद हो सकते हैं। कुछ उदाहरण हैं : भोजपुरी में चहुंपना पहुँचना, अरमूद अमरूद, डेक्स डेस्क; पंजाबी में चीकड़ (कीचड़), काचू (चाकू), मतबल (मतलब) मैथिली में कहचरी (कचहरी) आदि।

(अ) स्वर-विपर्यय

(क) पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्यय—इंडो (अफ्रीकी भाषा) में lie=lei (=बनाना)

(ख) दूरवर्ती स्वर-विपर्यय—कुछ-कुछ; अनुमान-उनमान (प्राचीन साहित्य)।

(आ) व्यंजन-विपर्यय

(क) पार्श्ववर्ती व्यंजन-विपर्यय—चिह्न-चिन्ह; ब्राह्मण-ब्राम्हण; ब्रह्म-ब्रम्ह ब्रह्मा-ब्रम्हा।

(ख) दूरवर्ती व्यंजन-विपर्यय—अमरूद=अरमूद (भोजपुरी); तमगा—तगमा (भोजपुरी); महाराष्ट्र=मरहठा; मुकलचा=मुचलका; वाराणसी=बनारस; खुर्द=खुदरा (अवेस्ता) बफर (फारसी) बरफ; मतलब=मतबल (पंजाबी) लखनऊ=नखलऊ (कई ग्रामीण बोलियों में)।

(ई) एकांगी-विपर्यय

वान्द्रिये ने ऐसे परिवर्तनों को भी विपर्यय माना है, जिसमें कोई एक स्वर या व्यंजन अपना स्थान छोड़कर दूसरी जगह पर चला जाता है, किन्तु उसके स्थान पर कोई दूसरा नहीं आता। इसके भी स्वर-व्यंजन के आधार पर भेद हो सकते हैं। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं: पुर्तगाली भाषा में Festra का Fresta (खिड़की), ब्रिटेन की बोली में Debri (खाना) का Drebi; बिन्दु-बूंद ('इ' का लोप तथा 'उ' का 'ऊ' रूप में स्थान-परिवर्तन)।

(उ) आद्य शब्दांश-विपर्यय

कभी-कभी दो शब्दों के आरम्भ के अंशों में विपर्यय हो जाता है, जैसे घोड़ा-गाड़ी का गोड़ा-घाड़ी। बोलने में कुछ लोगों की ऐसी आदत-सी पड़ जाती है। ऑक्सफोर्ड के डॉ० डब्ल्यू ए० स्पूनर (१८४४-१९३०) से यह विपर्यय अधिकतर हो जाता था, अतः उन्हीं के नाम पर इसे स्पूनरिज्म कहते हैं। स्पूनर साहब के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं: Two bags and a rug के स्थान पर Two rags and a bug. एक बार स्पूनर साहब ने बिगड़कर एक विद्यार्थी से कहा—you have tasted a whole worm. वे कहना चाहते थे—you have wasted a whole term। हिन्दी उदाहरण के लिए 'कड़ी बिताब' (बड़ी किताब), 'चाल दावल' (दाल चावल) आदि लिये जा सकते हैं। किसी ने पूछा आपकी बड़ी (घड़ी) में क्या घजा (बजा) है? उत्तर था—चौ-नौ बजकर ना (चा) लिस मिनट। इसमें कभी-कभी तो केवल स्वर-विपर्यय ही होता है, जैसे चूल्हा-चौका से चौल्हा-चूका या नून-तेल का नेन-तूल आदि। वह केवल बोलने में हो जाता है। भाषा पर इसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता।

(४) समीकरण (Assmilation)

सावर्ण्य, सारूप्य तथा अनुरूपता भी इसके नाम हैं। इसमें एक ध्वनि दूसरी को प्रभावित कर अपना रूप दे देती है, जैसे संस्कृत 'चक्र' से प्राकृत में 'चक्क' हो गया

है। यहाँ क् ने र् को प्रभावित या समीकृत करके क् बना लिया। समीकरण मुख्यतः बोलने की सुविधा की दृष्टि से होता है। समीकरण दो प्रकार का होता है–१. व्यंजन का, और २. स्वर का। आगे इन दोनों के ही दो-दो भेद हो सकते हैं—(क) पुरोगामी (आगे जाने वाला), (ख) पश्चगामी (पीछे जाने वाला)। इनमें से प्रत्येक के पार्श्ववर्ती और दूरवर्ती विभेद भी हो सकते हैं।

(अ) व्यंजन

(क) दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण (Incontact Progressive assimilation)–इसमें ध्वनियाँ पास-पास न रहकर दूर-दूर रहती हैं, और पहली ध्वनि दूसरी को प्रभावित करती है। इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। संस्कृत का शब्द 'भ्रष्ट' भोजपुरी में 'भरभट' हो गया है।

(ख) पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण (Contact Progressive Assimilation)—इसमें ध्वनियाँ पास-पास होती हैं। इसके उदाहरण प्राकृत में पर्याप्त संख्या में मिलते हैं : चक्र=चक्क; पद्म=पद्द; व्याघ्र=बग्घ; मुक्त=मुक्क; लग्न=लग्ग; यस्य=जस्य; तक्र=तक्क; वक्र=बक्क; हिन्दी में चक्रिका' से चक्की तथा 'पत्र' से पत्ता इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(ग) दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण (Incontact Regressive Assimilation)—इसमें दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है। इसके उदाहरण भी अधिक नहीं मिलते। लैटिन Pequo=Quequo; Pipue=Quique; नील=लील (भोजपुरी)।

(घ) पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण (Contact Ragressive Assimilation)—इसके उदाहरण प्राकृत में बहुत अधिक मिलते हैं। कर्म=कम्म; धर्म=धम्म; सर्प=सप्प; दुग्ध=दुग्ध (दुद्ध); भक्त=भत्त; श्रेष्ठ=सेट्ठ; दुर्गा=दुग्गा। हिन्दी में भी शर्करा=शक्कर या कलट्टर=कलट्टर (बोलियों में) जैसे कुछ उदाहरण मिल जाते हैं।

(आ) स्वर

दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण—ऊपर के व्यंजन-नियम की भाँति इसमें भी प्रथम स्वर दूसरे को प्रभावित करता है : जुल्म=जुलम=जुलुम (बोलचाल); पूरब=पूरुब (भोजपुरी); खुरपी=खुरुपी (भोजपुरी); सूरज=सूरुज (भोजपुरी)।

स्वर-समीकरण के अन्य संभावित भेदों के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते।

(इ) अपूर्ण समीकरण

ऊपर के उदाहरण पूर्ण समीकरण के थे। कभी-कभी अपूर्ण समीकरण भी होता है : नागपुर=नाक्पुर 'प' (अघोष) ने 'ग' (घोष) को 'क' (अघोष) बना

दिया है। डाकघर=डाग्घर, यहाँ घोष 'घ' ने 'क' (अघोष) को 'ग' (घोष) कर दिया है। हिंदी में उच्चारण 'नाक्पुर' तथा 'डाग्घर' ही होता है। is 'इज' उच्चारण में भी यही बात है। घोष i ने अघोष s को घोष z बना दिया है।

(५) विषमीकरण (dissimilation)

यह समीकरण का उलटा है। इसमें दो एक-सी ध्वनियों में, एक ध्वनि किसी समान ध्वनि के प्रभाव से अपना स्वरूप छोड़ कर दूसरी बन जाती है। इसका प्रमुख कारण सुनने वाले की ध्वनि पहचानने की सुविधा कहा जाता है। भाषाओं में विषमीकरण की प्रवृत्ति मैं नहीं मानता और उसके सारे उदाहरण सरलता से घोषीकरण 'र' का 'ल' या 'ल' का 'र' तथा 'न' का 'ल' या 'ल' का 'न' में परिवर्तन आदि में रखे जा सकते हैं।

(अ) व्यंजन-विषमीकरण

(क) पुरोगामी विषमीकरण—जब प्रथम व्यंजन ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है तो उसे पुरोगामी कहते हैं। लांगूली=लंगूर; काक=काग; कंकण=कंगन।

(ख) पश्चगामी विषमीकरण—इसमें प्रथम व्यंजन में विकार होता है। नवनीत=लयनू (भोजपुरी); पुर्तगाली Lelloo=नीलाम; दरिद्र=दलिद्दर (भोजपुरी); साबस (शाबाश)=चाबस (भोजपुरी)।

(आ) स्वर-विषमीकरण

(क) पुरोगामी विषमीकरण संस्कृत पुरुष=प्राकृत पुरिस।

(ख) पश्चगामी विषमीकरण—मुकुट=मउर (भोजपुरी), नूपुर=नेउर (प्राचीन साहित्य); मुकुल=बउर (भोजपुरी)।

(६) संधि

इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ (संस्कृत आदि में) नियमों का विवेचन किया गया है। ये नियम स्वर-व्यंजन दोनों ही के सम्बन्ध से बने हैं। हिन्दी में भी कुछ सन्धियों की प्रवृत्ति बोलने में दिखाई पड़ रही है। 'दूध दो' को 'दूद्दो' कहा जाता है, किन्तु इसे समीकरण कहना अधिक समीचीन होगा। इन सबके अतिरिक्त भाषा के स्वाभाविक विकास में एक प्रकार की सन्धियाँ दिखाई पड़ती हैं। कुछ व्यंजन (प, व, म, य आदि) उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवर्तित हो जाते हैं और फिर अपने से पहले के व्यंजन में मिल जाते हैं। कभी-कभी इससे ध्वनियों में इतना परिवर्तन हो जाता है कि साधारणतया समझ में नहीं आता। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं: सपत्नी=सवत्त=सउत्त=सौत; शत=सत=सव=सउ==सौ; नयन=नइन=नैन; भ्रमर=भँवर=भौंरा; आत्म=आत्प=अत्व=आत्प=अप्प=आप।

(७) ऊष्मीकरण (Assibilation)

कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ ऊष्म में परिवर्तित हो जाती हैं। मूल 'क' ध्वनि सतम् वर्ग में ऊष्मीकृत है। इसी आधार पर भारोपीय भाषाओं के केन्तुम् और सतम् दो वर्ग बनाये गये हैं : लैटिन केंतुम=संस्कृत शतम्, अवेस्ता सतम्, रूसी स्तो।

(८) स्वतः अनुनासिकता (Spontaneous Nazalization)

शब्दों के विकास में अनुनासिकता दो प्रकार की आ सकती है : (क) सकारण; भंग=भाँग, चुंच=चोंच, कंपन=काँपना; चन्द्र=चाँद; (ख) अकारण; भ्रू=भौं, श्वास =साँस। इस दूसरे प्रकार में हम पाते हैं कि बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के अनुनासिकता आ जाती है। उदाहरणार्थ, 'सर्प' से 'साँप'। यहाँ मूल शब्द में अनुनासिकता नहीं थी, किन्तु 'साँप' में है। इसी को स्वतः अनुनासिकता कहते हैं। 'अकारण अनुनासिकता' इसलिए नहीं कि दुनिया में आकरण कुछ नहीं होता। यह अनुनासिकता क्यों आ जाती है, इसके सम्बन्ध में विवाद है : (क) कुछ लोगों के अनुसार यह द्रविड़-प्रभाव है। (ख) कुछ लोग इसे अकारण मानते हैं। (ग) ब्लाक और टर्नर के अनुसार स्वर की मात्रा में परिवर्तन के परिणामस्वरूप ऐसा हुआ है। ये लोग मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-काल से ही इस प्रकार की अनुनासिकता मानते हैं। (घ) ग्रियर्सन इसे आधुनिक-काल की प्रवृत्ति मानते हैं, किन्तु इनके द्वारा दिया गया कारण ब्लाक और टर्नर से बहुत भिन्न नहीं है। इनके अनुसार, प्राकृत-काल के बाद आधुनिक काल में जब स्वर दीर्घ होने लगे (सर्प-सप्प-साँप) तो यह प्रवृत्ति चली। (ङ०) चटर्जी म० भ० आ० काल में इसे कुछ क्षेत्रों की विशेषता मानते हैं। उनके अनुसार, इसीलिये कुछ शब्द में दोनों रूप (पक्खी, पङ्खी, सं० पक्षी) मध्य काल में मिलते हैं। (च) मैं उपर्युक्त मतों से सहमत नहीं हूँ और मेरे विचार में ऐसा मुखसुख के कारण हुआ है। हवा का सहज मार्ग नाक है, अतः अनुनासिक ध्वनि का उच्चारण अधिक सहज एवं सरल है। नासिक विवर की ओर हवा न जाने देने के लिए कौवे को ऊपर उठाकर नासिका-मार्ग बन्द करने के लिए प्रयास करना पड़ता है। साँप-सांप, का उच्चारण करके अनु-नासिक स्वर वाले शब्द में उच्चारण के कम प्रयास का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। अनुनासिक ध्वनि ही हमारे लिए स्वाभाविक तथा आसान है, और इसी-लिए कहीं-कहीं उसका अनजाने विकास हो जाता है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। सर्प=साँप; उष्ट्र=ऊँट; सत्य=साँच; यूक=जूँ; कूप=कुआँ; अश्रु=आँसू; श्वास=साँस; भ्रू=भौं; वक्र=बाँका; वेत्र=बेंत। ऐसे ही काँख, ऊँचा, ईंट, आँख आदि। अन्य मतों की आलोचना स्वरूप निम्नांकित बातें द्रष्टव्य हैं : (क) द्रविड़ प्रभाव है तो द्रविड़ों में ऐसा क्यों हुआ ? (ख) अकारण कुछ भी नहीं होता। (ग) मात्रा-परिवर्तन से इसका सम्बन्ध है तो श्वास=साँस में अनुनासिकता क्यों आ गई ? (घ) यदि ऐसा है तो 'साँस' में नहीं होना चाहिए। (ङ) जिन क्षेत्रों में यह विशेषता थी, वहीं ऐसा क्यों हुआ ?

(९) मात्राभेद

इसमें स्वर कभी ह्रस्व से दीर्घ और कभी दीर्घ से ह्रस्व हो जाते हैं। इन्हें स्वयंभू नहीं कहा जा सकता। क्षतिपूरकता तथा स्वराघात आदि के परिणामस्वरूप ये परिवर्तन होते हैं। इसके दो भेद हो सकते हैं : (क) दीर्घ से ह्रस्व अर्थात् ह्रस्वीकरण—शून्य=सुन्न; आषाढ़=असाढ़; आभीर=अहीर; आगस्ट=अगस्त; ऑफिसर=अफसर; आश्चर्य=अचरज। (ख) ह्रस्व से दीर्घ दीर्घीकरण—कंटक=काँटा; लज्जा=लाज; सुपुत्र=सपूत; अद्य=आज; जिह्वा=जीभ; दुग्ध=दूध; शिक्षा=सीख; भक्त=भात, भिक्षा=भीख.इनमें दीर्घता क्षति पूरक है।

(१०) घोषीकरण (Vocalization)

कुछ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं। ऐसा करने में प्रायः उच्चारण-सुविधा होती है। शाक=साग, कंकण=कंगन, कुंचिका=कुंजी, घोटक=घोड़ा, अमृत (उच्चारण अम्रृत)=अमरूद, मकर=मगर, (मगरमच्छ, पानी में रहके मगर से बैर), एकादश=ग्यारह, काक=काग, कागा।

(११) अघोषीकरण (Devocalization)

इसमें घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं। साधारणतः इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते। अदद=अदत् (भोजपुरी); मदद=मदत् (भोजपुरी); पैशाची प्राकृत की यह प्रधान विशेषता थी : नगर=नकर; गगन=गकन; वारिद=वारित; मेघ=मेख। ऐसे ही भोजपुरी में 'डंडा' और 'खूबसूरत' को कहीं-कहीं 'डंटा और 'खपसूरत' कहते हैं। रूसी भाषा में शब्दांत का घोष व्यंजन अघोष रूप में उच्चारित होता है : क्लेब=क्लेप (रोटी), साद=सात (बाग), द्रुग=द्रुक (मित्र)।

(१२) महाप्राणीकरण (Aspiration)

कभी-कभी अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं। वाष्प=भाप; वृश्चिक=बिच्छू; किश्मिश=(मराठी) खिसमिस; गृह=घर; ग्रहण=घिरना; पृष्ठ=पीठ; शुष्क=सूखा; हस्त=हाथ; वेष=भेष, परशु=फरसा; सर्व=सभ (भोजपुरी); ताक=ताखा (भोजपुरी); पेड़=फेड़ (भोजपुरी), पत्थर=फत्तर (दिल्ली की करखन्दारी बोली)।

(१३) अल्पप्राणीकरण (Deaspiration)

कुछ शब्दों में महाप्राण का अल्पप्राण भी हो जाता है। ग्रैसमैन नियम, जिसका आगे ध्वनि-नियम शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन है, में भी ये ही बातें पायी जाती हैं। भोधामि—बोधामि; सिन्धु—हिन्दु व्याधि—कश्मीरी बोद; धधामि—दधामि; विधि—कश्मीरी व्यद; युद्ध—कश्मीरी य्वद्; स्वादिष्ठ—स्वादिष्ट; श्रेष्ठ—श्रेष्ट, वसिष्ठ—वसिस्ट; वलिष्ठ—वलिष्ठ; भूख—भूक; हाथ—हात।

विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन

कुछ विशेष प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन भी भाषाओं में मिलते हैं। इनके बारे में सभी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। यहाँ इनका सामान्य और संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इन परिवर्तनों का अब मात्र ऐतिहासिक महत्त्व है। पीछे व्यवस्थित रूप में दिये गये परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अभिश्रुति (Umlaut या Vowel Mutation)

अपश्रुति, अपिनिहिति और पुरोहिति की भाँति ही 'अभिश्रुति' नाम के प्रयोग के बारे में भी भाषाविज्ञानवेत्ताओं में मतैक्य नहीं है। यों Umlaut नाम ग्रिम का दिया हुआ है। इसका सामान्य अर्थ है—शब्द के किसी आंतरिक स्वर में बाद के अक्षर में आने वाले किसी अन्य स्वर (अन्य गुण वाला, मात्रा वाला नहीं) के कारण परिवर्तन। पेई आदि कुछ विद्वानों के अनुसार कोई अन्य स्वर, अर्द्धस्वर या व्यंजन के कारण भी कभी-कभी यह परिवर्तन हो जाता है। ब्लूमफील्ड और ग्रे इसे स्वर का पश्चगामी समीकरण मानते हैं।

अभिश्रुति जर्मन की एक प्रमुख विशेषता है। इसमें कभी तो एक स्वर दूसरे के पूर्णतः अनुरूप हो जाता है, कभी पूर्णतः अनुरूप न होकर भी प्रकृति के समीप पहुँच जाता है। प्राचीन जर्मन +barja, मध्यकालीन जर्मन haria, पुरानी अंग्रेजी here (सेना)। यहाँ j के कारण a बदलते-बदलते e हो गया। +guḍini, पुरानी अंग्रेजी gyden (देवी)। यहाँ i ने u को प्रभावित करके y कर दिया। जर्मन-अंग्रेजी में अगले अक्षर के 'i' स्वर के कारण a, u, ea क्रम से e, y, ie में परिवर्तित हो गये हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार, बँगला में भी यह प्रवृत्ति है। मध्य बंगाली हारियां, आधु० बंगाली हेरे(खोकर)। अभिश्रुति में यह भी द्रष्टव्य है कि प्रभावित करने वाला स्वर भी समाप्त हो जाता है। पश्चगामी समीकरण और इसमें यही थोड़ा अन्तर है। यों शुद्ध पश्चगामी समीकरण को भी ग्रे आदि इसके अन्तर्गत रखते हैं। अपिनिहिति के साथ भी कभी अभिश्रुति देखी जाती है। परिवर्तन होने के पहले अपिनिहित स्वर आ जाता है।

Mani, maini, men.

बँगला Karia, Kairia, K're, Kore (करके)

इस प्रकार की अपिनिहिति-अभिश्रुति प्राकृतों में भी मिलती है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में बँगला तथा सिंहली में ही अभिश्रुति विशेष रूप से मिलती है।

अपिनिहित (Epenthesis या Paraptyxis)

भाषाविज्ञान की पुस्तकों में 'अपिनिहिति' का प्रयोग एक से अधिक अर्थों में किया गया है। ग्रे तथा पेई आदि कुछ विद्वान् इसे मात्र 'आगम' के अर्थ में (भी) प्रयुक्त करते हैं। ग्रे इसके व्यंजनीय अपनिहिति (consonantal epenthesis) और स्वरीय अपनिहिति (vocal epenthesis) दो भेद करते हैं, और फिर इसके विभिन्न

भेदों पर विचार करते हैं। कहना न होगा कि यह अपिनिहिति का व्यापकतम रूप है और इसमें सभी प्रकार के आगम समाहित हो जाते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इससे मिलते-जुलते अर्थ में 'अक्षरापिनिहिति' का प्रयोग किया है। गुणे ने भी इसे प्रायः इसी अर्थ में लिया है और इसे 'अक्षर' (*syllable*) या वर्ण का किसी शब्द में या उसके आरम्भ में 'आगम' कहा है। किन्तु, इसके (कुछ अपवादों को छोड़कर) जो उदाहरण अधिकांश पुस्तकों में दिये गये हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रयोग आगम (insertion) जैसे विस्तृत अर्थ में करना अपेक्षित नहीं है। जैसा कि डॉ० चटर्जी तथा तारापोरवाला आदि ने माना है, यह एक प्रकार का स्वरागम है। उच्चारण-सुविधा के लिये इसमें कोई स्वर आ जाता है। यह पूर्वश्रुति के रूप में होता है। किन्तु, साथ ही अपिनिहिति के लिए यह भी आवश्यक है कि शब्द में आने वाले स्वर की प्रकृति का कोई स्वर या अर्द्धस्वर पहले से वर्तमान हो। संस्कृत से अवेस्ता की तुलना करने पर पता चलता है कि अपिनिहिति अवेस्ता की एक प्रमुख विशेषता थी। उदाहरणार्थ, bhavati (भवति)—bavaiti; arusah (अरुषः)—auruso; tarunà (तरुण)—*tauruna*; aryah (आर्यः)—*airyo*; *sarvam*(सर्वम्)—baurvam। इन उदाहरणों में आरम्भ में संस्कृत के शब्द हैं और बाद में अवेस्ता के। यहाँ हम देखते हैं कि i और u का आगम हुआ है, किन्तु यह तभी हुआ है जब शब्द में पहले से उससे मिलती-जुलती ध्वनि है। अवेस्ता में केवल इ, उ इन दो का ही अपि-हिति स्वर के रूप में आगम हुआ। 'इ' ऐसे शब्दों में आया है जहाँ पहले से इ, ई, ए या य थे, और 'उ' ऐसे में आया है, जहाँ पहले से 'उ' या 'व' था।

इस बात को सामान्यीकृत करते हुए यह कहते हैं कि किसी शब्द में यदि कोई ऐसा स्वर आ जाय, जिसकी प्रकृति का स्वर या अर्द्धस्वर पहले से वर्तमान हो तो उस स्वरागम को 'अपिनिहिति' कहेंगे। इस प्रकार का स्वर प्रायः आदि या मध्य में उच्चारण-सुविधा के लिए आता है। इस आधार पर इसके आदि अपिनिहिति और मध्य अपिनिहिति, दो भेद किये जा सकते हैं। नीचे अंग्रेजी तथा हिन्दी आदि से कुछ और उदाहरण दिये जा रहे हैं।

अंग्रेजी—Goldsmith = Goldismith (उच्चारण में)

मध्ययुगीन बंगाली—Karia = Kairia (करके)

Sathua = Sauthua (साथी)

भोजपुरी— स्त्री = इस्त्री

स्नान = अस्नान

स्टेशन = इस्टेशन

स्प्रिंग = ईस्प्रिंग

बेल = बेइल

बेला = बेइला, बेइल

हिन्दी— स्थिति = इस्थिति (उच्चारण में)

उसी प्रकृति के स्वर के आने के कारण इसे 'समस्वरागम' भी कहा जा सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि इसके सभी उदाहरण 'आदि स्वरागम' या 'मध्य स्वरागम' के उदाहरण कहे जा सकते हैं; किन्तु, 'आदि स्वरागम' और 'मध्य स्वरागम' के सभी उदाहरण इसके उदाहरण नहीं कहला सकते, क्योंकि इसके लिए नवागत स्वर की प्रकृति की ध्वनि का पहले से रहना आवश्यक है। यह भी स्पष्ट है कि इस रूप में स्वर-भक्ति या स्वरागम का यह पर्याय नहीं है, अपितु उसका एक भेद मात्र है। साथ ही, 'स्वर-भक्ति' अपने प्राचीन अर्थ में दो संयुक्त व्यंजनों के बीच में आकर दोनों को अलग कर देती है (जैसे धर्म से धरम; राजेन्द्र से राजेन्दर), किन्तु अपिनिहिति में यह प्रवृति नहीं दिखाई पड़ती।

ऊपर अपिनिहिति के आदि और मध्य दो भेद किये गये हैं। कुछ लोग (डॉ० तारापोरवाला आदि) केवल मध्य[1] को ही अपिनिहिति मानते हैं और आदि के लिये **पुरोहिति या पूर्वहिति** (prothesis)[2] का प्रयोग करते हैं, किंतु साथ ही पुरोहित में समस्वरागम को आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार, कोई भी स्वर जो शब्द के आदि में आ जाय, पुरोहिति का उदाहरण है। इस रूप में यह आदि स्वरागम[3] का समानार्थी है। किंतु अवेस्ता भाषा के विवेचन के सिलसिले में 'पुरोहिति' का प्रयोग केवल उस आदि स्वरागम के लिए किया गया है, जिसकी प्रकृति का एक स्वर पहले से उस शब्द में विद्यमान हो। जैसे

सं० रिणक्ति (rinakti)— अवेस्ता irinahti
सं० रिष्यन्ति (risyanti)— ,, irisyeiti
सं० रोपयन्ति (ropavanti)— ,, urupayeinti

अवेस्ता में 'र' से आरम्भ होने वाले शब्दों में पुरोहिति सर्वत्र मिलती है। एक उदाहरण 'थ' के पूर्व भी मिलता है।

इसका आशय यह हुआ कि यदि अपिनिहिति को केवल 'मध्य अपिनिहिति' ही माना जाय तो 'आदि अपिनिहिति' को 'पुरोहिति' माना जा सकता है और तब पुरोहिति की परिभाषा होगी, 'किसी शब्द के आरम्भ में किसी ऐसे स्वर का आना जिसकी

१. डॉ० श्यामसुन्दर दास अपिनिहिति को केवल 'मध्य में इ, उ का आगम मानते हैं।

२. अंग्रेजी में मूल शब्द prothesis न होकर prosthesis है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'आदि-आगम' (स्वर, व्यंजन या अक्षर) तथा तात्पर्य मात्र 'आगम' होता है।

३. ये भी इसका इसी रूप में, बल्कि विशेषतः स् से आरम्भ होने वाले शब्द के आरम्भ में उच्चारण-सुविधा के लिए आये स्वर [जैसे लैटिन scribere—स्पैनिश escribir (लिखना)] के लिए प्रयोग करते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भी इसे इस रूप में लिया है।

मात्रिक भेद है और 'ध' से 'धि' में गुणीय) आदि।

(३) गुणीय भेद वाले —किताब से कुतुब।

अपश्रुति के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण ही मूर्द्धन्य भाषाविज्ञानविदों को अधिक मान्य है। इस मत के अनुसार, बल इस बात पर नहीं है कि मूल शब्द या धातु के केवल स्वरों में परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन हो, अपितु इस बात पर है कि एक शब्द से बनने वाले भिन्नार्थी दूसरे शब्द में मूल शब्द के किसी एक स्वर या स्वरों के स्थान पर कुछ परिवर्तित स्वर आ जाये या आ जायें, चाहे (क) अन्य स्वर और व्यंजन पहले वाले ही रहें, (ख) या उनमें कुछ हट गये हों, या (ग) कुछ नये आ गये हों, (४) या कुछ गये या परिवर्तित हुए हों और कुछ आये हों। इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रायः धातु से बनने वाले क्रियारूपों (तिङन्त) या अन्य शब्दों (सुबन्त) में ही इस प्रक्रिया का विशेष उल्लेख किया जाता है। साथ ही, यह भी माना जाता है कि उपसर्ग या प्रत्यय में भी यदि स्वर परिवर्तित हो जायें तो अपश्रुति मानी जावेगी अर्थात् मूल शब्द में ही उसका होना आवश्यक नहीं है।

कुछ उदाहरण हैं :

मात्रीय अपश्रुति

संस्कृत

सामान्य श्रेणी	दीर्घीभूत	शून्य श्रेणी
सदस् (सीट)	सादयति (बैठाता है)	सेदुः (वे बैठे)
सचते (सम्बद्ध करता है)	रातिपाचः (वदान्यता से सम्बद्ध करने वाले)	सश्चति (वे बैठे)
दम्नोति (घायल करता है)	अदाम्य (जो घायल न हो सके)	अद्भुत (जो घायल नहीं किये जा सकते = विचित्र

ग्रीक

poda पैर को		pos (पैर)

लैटिन

pedem (पैर को)		pes (पैर)

गुणीय अपश्रुति

ग्रीक—lego (मैं कहता हूँ), logos (शब्द)।

लिथुवानियन—vezu (मैं जाता हूँ), vazis (एक प्रकार की गाड़ी)।

अंग्रेजी—choose, chose, chosen; mouse, mice; brother, brethren

हिन्दी—मिल्, मेल, मिला, मिले।

अरबी—किताब, मकतूल, मकतुब, कतवत।

सित, ह्रस्वीभूत, या निर्बलीभूत (reduced या weak) और शून्य (zero) ये चार श्रेणियाँ स्थापित की हैं। यों अधिक प्रचलित उपर्युक्त तीन ही हैं। हाँ, कुछ लोगों ने बलाघातयुक्त या बलाघातहीन या विभिन्न स्वरों के संपर्क में आने के कारण इन तीन के छः उपभेद भी किये हैं।

गुणीय अपश्रुति[1]

गुणीय अपश्रुति में स्वर मात्र गुण की दृष्टि से परिवर्तित हो जाता है, जैसे पश्च के स्थान पर अग्र या इसी प्रकार अन्य।[2] उदाहरणार्थ, लैटिन tego(=मैं ढँकता या ओढ़ाता या पहनाता हूँ) और togo(=ढक्कन, लबादा या चोगा); या रूसी vezu (मैं ले जाता हूँ)और और voz(गाडी या बोझा); या अंग्रेजी sing (गाना) और sang (गाया), man-men, foot-feet, goose-geese या अरबी किताब (पुस्तक), कुतुब (पुस्तकें) और कातिब (लिखने वाला) आदि।

अपश्रुति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण

अपश्रुति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं। एक का विवेचन ऊपर किया गया है, जिसमें प्रायः केवल स्वर में गुणीय या मात्रिक परिवर्तन से ही शब्द का अर्थ बदल जाता है। इस दृष्टि से गुणीय अपश्रुति के काफी उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। हिन्दी मेल, मिली, मिले या करना, करनी, कराना भी इसी के उदाहरण हैं। किन्तु, मात्रिक अपश्रुति के इस दृष्टिकोण के बहुत कम उदाहरण मिलेंगे। वस्तुतः यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो शुद्ध मात्रिक अपश्रुति केवल वहाँ होगी जहाँ स्वर का उच्चारण-स्थान तो बिलकुल वही रहे, केवल मात्रा के ह्रस्वत्व-दीर्घत्व आदि से अर्थ बदले यह बात कम मिलेगी। संस्कृत में यदि 'अ' और 'आ' का उच्चारण-स्थान एक मान और उनमें केवल मात्राभेद मानें तो 'भरद्वाज' से 'भारद्वाज' या इस प्रकार के अन्य उदाहरण इसके माने जा सकते हैं। कुछ भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने इस प्रसंग में हिन्दी 'करना' से 'कराना' या इसी प्रकार के उदाहरण मात्रिक में रक्खे हैं। कहना न होगा कि ये ग़लत हैं, क्योंकि हिन्दी में 'अ' और 'आ' में मात्र मात्राभेद न होकर स्थान का भी पर्याप्त भेद है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो इस रूप में या इस दृष्टिकोण के अपश्रुति से प्रभावित शब्द तीन प्रकार के हो सकते हैं—

(१) मात्रिक भेद वाले—भरद्वाज—भारद्वाज।

(२) गुण-मात्रिक भेद वाले—दशरथ—दाशरथि (इसमें 'द' से 'दा' में

१. इसे qualitative alteration, qualitative gradation या metaphony भी कहते हैं।

२ इसी कारण डॉ० चटर्जी इसे 'उच्चारण-स्थान-परिवर्तनात्मक अपश्रुति' कहते हैं।

प्रकृति का दूसरा स्वर शब्द में पहले से वर्तमान हो, पुरोहिति कहलाता है।' किन्तु, जैसा कि संकेत किया जा चुका है, सामान्यतः इसे लोगों ने आदि स्वरागम के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त किया है, और इस रूप में इसकी वही परिभाषा होगी जो 'आदि स्वरागम' की।

अपश्रुति[1]

ध्वनि की इस प्रवृत्ति का पता सबसे पहले १८७१ ई० में लगा। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि शब्द के व्यंजन तो प्रायः ज्यों के त्यों रहते हैं, किन्तु स्वरों [विशेषतः आन्तरिक (internal vowel) स्वर)] में परिवर्तन के कारण अर्थ बदल जाता है, जैसे चलन, चलान। यों कभी-कभी इनमें कुछ और अंश भी (पहले या बाद में) जुड़ जाता है, जैसे अंग्रेजी में choose, chose, chosen। यह प्रवृत्ति प्रमुखतः भारोपीय, हैमेटिक तथा सेमेटिक परिवार की भाषाओं में मिलती है और भाषाविज्ञान में 'अपश्रुति' नाम से अभिहित की गयी है। स्वरों का यह परिवर्तन दो प्रकार का हो सकता है—(क) मात्रिक (quantitative) और (ख) गुणीय या गौण (qualitative)।

मात्रिक अपश्रुति[2]

'मात्रा' का अर्थ है ह्रस्व-दीर्घ आदि। जब स्वर (प्रकृतितः) वही रहे, केवल उसकी मात्रा परिवर्तित हो जाय तो 'मात्रिक अपश्रुति' होती है, जैसे संस्कृत में भरद्वाज और भारद्वाज या वसुदेव और वासुदेव। संस्कृत व्याकरणों में इसी को गुणवृद्धि कहा गया है। यहाँ आधारशून्य श्रेणी (zero grade) को माना गया, लेकिन उसका कोई नाम नहीं दिया गया। उसके ऊपर या आगे गुण और फिर वृद्धि। संस्कृत, ग्रीक आदि में इसके स्वरूप का अध्ययन करके भाषाविज्ञानवेत्ता अब दूसरे निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। वे मूल आधार श्रेणी, शून्य को नहीं मानते, अपितु 'गुण' को मानते हैं और फिर 'गुण' के प्रवर्द्धित (prolonged) रूप को वृद्धि तथा प्रह्रासित (reduced) या निर्बलीभूत (weak) रूप को शून्य मानते हैं। अ, ए, ओ के निर्बल रूप को शून्य; अ, ए, ओ को गुण; और आ, ऐ, औ को वृद्धि कहा गया है।

और सूक्ष्मता से विचार करके कुछ भाषाविज्ञानविदों ने मात्रिक अपश्रुति में सामान्य (normal), प्रवर्द्धित या दीर्घीभूत (lengthened या prolonged) प्रह्रा-

१. इसके लिए जर्मन शब्द Ablaut है, जिसका शाब्दिक अर्थ है स्वर-ध्वनि का परिवर्तन। अंग्रेजी में इसे metaphony, apophony या vowel gradation या vocalic ablaut भी कहा जाता है। हिन्दी में 'अपश्रुति' के अतिरिक्त 'अक्षर-अवलोकाय', 'स्वरक्रम या 'अक्षरावस्थान' का भी प्रयोग हुआ है। मराठी में इसके लिए केवल 'संप्रसारण' का ही प्रयोग होता रहा है।

२. इसे अंग्रेजी में quantitative alteration, qualitative gradation या केवल apophony भी कहा गया है। डॉ० चटर्जी इसे 'ह्रस्वता-दीर्घतात्मक अपश्रुति' कहते हैं।

अपश्रुति के कारण—अपश्रुति के कारण के रूप में संगीतात्मक स्वराघात तथा बलात्मक स्वराघात का उल्लेख किया जाता है। प्रमुखतः इस दृष्टि से भारोपीय परिवार की भाषाओं का पर्याप्त अध्ययन हुआ है, और निष्कर्ष यह निकला है कि इस परिवार में अत्यन्त प्राचीन काल में जो मात्रिक परिवर्तन हुए, उनका कारण तो बलात्मक स्वराघात था और जो गुणीय परिवर्तन हुए, उनका कारण संगीतात्मक स्वराघात था। अंग्रेजी, रूसी, हिन्दी, आदि आधुनिक भाषाओं में प्रायः केवल गुणीय अपश्रुति है, और उसका कारण आधुनिक न होकर प्रायः पुरानी परम्परा का विकास मात्र है। यों हिन्दी आदि में संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघात के कारण स्वरों की दीर्घता-ह्रस्वता तो कभी-कभी दिखाई पड़ती है, किन्तु प्रायः अर्थ बदलने से उसका सम्बन्ध नहीं है, और जहाँ है, वहाँ किसी न किसी रूप में गुणीय परिवर्तन भी हो गया है।

ग्रीक, संस्कृत, लैटिन आदि में गुणीय और मात्रिक दोनों अपश्रुतियों की कई श्रेणियाँ निर्धारित की गयी हैं। संस्कृत में तो गुणवृद्धि, संप्रसारण से भी उनका सम्बन्ध जोड़ा गया है, किन्तु यहाँ भाषा-विशेष को लेकर गहराई में उतरना अपेक्षित नहीं है।

ध्वनि-नियम (Phonetic Law)

पीछे हम लोग ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तन पर विचार कर चुके है। उनमें से बहुत से परिवर्तन तो किसी विशेष नियमानुसार नहीं चलते, पर अन्य कुछ ऐसे भी होते हैं जो अंशतः या पूर्वतः नियमों पर आधारित होते हैं। यहाँ नियमों का आशय यह है कि उनके घटित होने की परिस्थितियों में बहुधा एकरूपता रहती है। उस एकरूपता को ही एक नियम कहा जाने लगा है।

नियम की परिभाषा—यहाँ प्रश्न यह उठता है कि 'नियम' कहते किसे हैं। नियम का अधिकतर प्रयोग प्राकृतिक नियम के लिए होता है, जो किसी विशेष वस्तु आदि के सम्बन्ध में लागू होते हैं। यदि विशेष परिस्थितियों में पड़कर कोई क्रिया समय और स्थान की सीमा तोड़ कर सर्वदा घटित हुआ करती है, तो उसे प्रायः नियम की संज्ञा देते हैं। जैसे कोई संख्या एक से कम की संख्या से गुणा करने पर घटती और अधिक से गुणा करने पर बढ़ती है।

प्राकृतिक नियम और भाषा-सम्बन्धी नियम में अन्तर—(१) प्राकृतिक नियम किसी काल-विशेष की अपेक्षा नहीं रखते। चार और चार जोड़ने से सर्वदा आठ होता है, होता था, और आगे भी होगा, पर भाषा के ध्वनि-नियम में यह बात नहीं है। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में प्राचीन काल से मध्य में आने में जो परिवर्तन घटित हुए हैं, मध्य से आधुनिक काल में आने में नहीं हुए हैं। भविष्य के लिए भी हम निश्चित नहीं हैं कि वे परिवर्तन घटित होंगे या [illegible] (२) प्राकृतिक नियम काल की भाँति ही देश या स्थान की भी अपेक्षा [illegible] न्यूटन का नियम प्रायः सर्वत्र लागू होता है, पर ध्वनि-नियम की इस [illegible] हैं, जिनको वह लाँघ नहीं सकता।

३) प्राकृतिक नियम अन्धे की भाँति काम करते हैं और कोई अपवाद नहीं छोड़ते, पर इसके विरुद्ध ध्वनि-नियम अपवाद छोड़ते चलते हैं। संस्कृत 'नृत्य' का 'नाच' हो गया, किन्तु भृत्य का विकास 'भाच' नहीं हुआ।

ध्वनि-नियम नाम की अशुद्धि—ऊपर प्राकृतिक नियम और ध्वनि-नियम के अन्तर पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि नियम की स्थिरता ध्वनि-नियमों में नहीं पायी जाती। इसीलिए, कुछ विद्वानों का मत है कि 'ध्वनि-नियम' नाम ही भ्रामक और अशुद्ध है। वे इसे 'ध्वनि-प्रवृत्ति' (phonetic tendency) या ध्वनि-फारमूला कहना उचित समझते हैं।

ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति—दूसरी ओर कुछ अन्य विद्वान् ध्वनि-नियम और ध्वनि-प्रवृत्ति में अन्तर मानते हैं। उनके अनुसार जो ध्वनि-विकार या ध्वनि-परिवर्तन आरम्भ होता है, पर थोड़ी दूर चलने के बाद मर जाता है और सफल नहीं हो पाता, ध्वनि-प्रवृत्ति है, किन्तु ऐसे ध्वनि-परिवर्तन जो धीरे-धीरे पूरी सफलता प्राप्त कर लेते हैं, अपने घटित होते रहने के काल में (अर्थात् पूर्ण हो जाने के पूर्व) 'ध्वनि-प्रवृत्ति' कहे जाते हैं, पर पूर्ण हो जाने पर उन्हें 'ध्वनि-नियम' कहेंगे। इसी कारण, यह भी कहा गया है कि ध्वनि-नियम वर्तमान या भविष्य के सम्बन्ध में न होकर केवल भूत के सम्बन्ध में होते हैं।

ध्वनि-नियम में अपवाद और उनके कारण—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ध्वनि-नियमों के अपवाद भी मिलते हैं। इन अपवादों के चार कारण हो सकते हैं: (१) सबसे बड़ा कारण तो सादृश्य है। सादृश्य के कारण नियमानुसार दूसरा रूप धारण करने वाला शब्द कुछ और हो जाता है। (२) दूसरा कारण, अन्य भाषा से शब्दों का उधार आना। बहुधा हाल के आये विदेशी शब्दों में ध्वनि-नियम लागू नहीं होते। (३) अपवाद मिलने का तीसरा कारण यह है कि कभी-कभी हम अपनी भी भाषा के उस काल से शब्द उधार ले लेते हैं, जब वह नियम विशेष लागू नहीं हुआ रहता। (४) चौथा कारण यह भी हो सकता है कि कभी-कभी अन्य भाषा का मिलता-जुलता शब्द आकर अधिकार जमा लेता है और पुराने शब्द का ही रूप ज्ञात होता है तो उसे भी अपवाद मानना पड़ता है। उदाहरणार्थ, ध्वनि-नियम के अनुसार 'कोटपाल' को 'कोट्-पाल' और फिर 'कोटाल' होना चाहिए, जैसा कि बँगला में प्रचलित भी है, पर बीच में फारसी शब्द 'कोतवाल' मूलतः भारतीय मुसलमानों के साथ आ गया और उसने हिन्दी में आधिपत्य जमा लिया। अब आज साधारण दृष्टि से देखने पर कोटपाल का विकार कोट्टपाल = कोट्टाल = कोतवाल लगता है, पर ऐसे उदाहरण बहुत नहीं मिलते, अतः इसे अपवाद कहा जाता है। इसी प्रकार, कितने ही अन्य मानसिक कारण भी सम्भव हैं।

ध्वनि-नियम की वैज्ञानिक परिभाषा—किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में, किसी विशिष्ट काल और कुछ विशिष्ट दशाओं में, हुए निय-

किस परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि-नियम कहते हैं। इस परिभाषा के चार अंग हैं : (१) ध्वनि-नियम किसी भाषा-विशेष का होता है। एक भाषा के ध्वनि-नियम को दूसरी पर नहीं लागू कर सकते। अंग्रेजी के अधिकतर शब्दों के अन्तिम आर (R) का उच्चारण नहीं किया जाता। अर्थात्, फ़ादर (father) का उच्चारण 'फ़ादअ' होता है, पर हिन्दी में इसे लागू करके हम 'अम्बर' को 'अम्बअ' नहीं कह सकते। (२) एक भाषा की भी सभी ध्वनियों पर यह नियम न लागू होकर कुछ विशिष्ट ध्वनियों या ध्वनि-वर्ग पर लागू होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में (R) को अनुच्चरित होते देख हम अन्तिम (N) को भी अनुच्चरित करके मैन (Man) को 'मैअ' नहीं कह सकते और न गन (gun)को 'गअ' ही कह सकते हैं। (३) ध्वनि-परिवर्तन का भी एक विशिष्ट काल होता है। इस अन्तिम आर (R) के अनुच्चरित होने का नियम प्रायः नवीन है। इसे अंग्रेजी के अत्यधिक प्राचीन काल पर लागू नहीं किया जा सकता। (४) किसी विशिष्ट भाषा के किसी विशिष्ट काल में कोई विशिष्ट ध्वनि भी यों ही परिवर्तित नहीं हो सकती। उनके लिए विशिष्ट दशा या परिस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। उपर्युक्त उदाहरण में ही प्रायः ऐसा नियम है कि वाक्य में किसी शब्द के अन्त में आर (R) हो और उसके पश्चात् आने वाला शब्द किसी व्यञ्जन से आरम्भ होता हो, तब तो यह अनुच्चरित होने का नियम लागू होगा, और यदि वह शब्द स्वर से आरम्भ होता हो तो न होगा। इस प्रकार, ध्वनि-नियम परिस्थितियों से प्रायः बँधा रहता है।

कुछ प्रसिद्ध ध्वनि-नियम

(क) ग्रिम-नियम

इस नियम की ओर संकेत करने वाले दो व्यक्ति, इहरे और डैनिश विद्वान् रैस्क हैं, पर इन लोगों ने संकेत मात्र किया था। इसकी पूरी विवेचना और छानबीन करने वाले अध्येता, जर्मन भाषा के महान् पंडित याकोब ग्रिम हैं। आपने १८१९ में जर्मन भाषा का एक व्याकरण प्रकाशित किया। सन् १८२२ में उसके दूसरे संस्करण में इस नियम का विवेचन किया। इनके ही नाम पर इस नियम का नाम 'ग्रिम-नियम' है। इस नियम का सम्बन्ध भारोपीय स्पर्शों से है जो जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गये थे। इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन कहते हैं, जिसके लिए जर्मन शब्द 'Lautverschiebung' है। जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ। प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा से कई सदी पूर्व हुआ था और दूसरा वर्ण-परिवर्तन उत्तरी जर्मन लोगों से ऐंग्लो-सैक्सन लोगों के पृथक् होने के बाद लगभग ७वीं सदी में हुआ। दोनों ही का कारण जातीय मिश्रण कहा जाता है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

इस प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा के कुछ स्पर्श परिवर्तित हो गये थे, जिन्हें तालिका-रूप में यों दिया जा सकता है—

(क) भारोपीय मूल भाषा के घोष महाप्राण स्पर्श घ्, ध्, भ्	जर्मनिक में घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब् हो गये।
(ख) भारोपीय मूल भाषा के घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब्	जर्मनिक में अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् हो गये।
(ग) भारोपीय मूल भाषा के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्	जर्मनिक में संघर्षी अघोष महाप्राण ख़् (ह्), थ्, फ़् (ध्), (थ्), (भ्) हो गये।

मूल भारोपीय भाषा के ये व्यञ्जन संस्कृत तथा ग्रीक आदि में सुरक्षित हैं। अतः, उदाहरण के लिए मूल के स्थान पर संस्कृत[1] या ग्रीक शब्द लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार, परिवर्तित स्पर्शों को दिखलाने के लिए जर्मनिक वर्ग की अंग्रेजी भाषा के शब्द लिए जा सकते हैं—

	संस्कृत	अंग्रेजी
(क)	घ् (ह्) से ग् = हंस, दुहिता	...गूज (goose), डॉ (ग) टर (daughter)
	ध् से द् (ड) = विधवा, धूम	...विडो (widow), डस्ट (dust)
	भ् से ब् = भू, भ्रातृ	...बी (Be), ब्रदर (brother)
(ख)	ग् से क् = गो, योग	...काउ (cow), योक (yoke)
	द् से त् (ट) = द्वौ, दशन्	...टू (Tow), टॅन (Ten)
	ब् से प् = (इसका संस्कृत में उदाहरण नहीं मिलता) आदि भाषा में *स्लेउब् का अंग्रेजी में Slip	
(ग)	क् से ख् (ह्) = कद्, कः	...ह्वाट (what), हू (who)
	त् से थ् = दंत, तनु, त्रि	...टूथ (tooth), थिन (thin) थ्री (Three)
	प् से फ् = पिता, पशु, पाद	...फ़ादर (Father), फी (Fee), फुट (Foot)

(उपर्युक्त उदाहरणों में कहीं-कहीं एक ही शब्द दो भाषाओं में दो अर्थ रखता दिखाई पड़ रहा है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों भिन्न-भिन्न शब्द हैं। अर्थ-परिवर्तन के प्रकरण में हम देखेंगे कि किस प्रकार शब्दों का अर्थ कभी-कभी बहुत दूर चला जाता है।)

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मनिक भाषा भिन्न हुई थी, पर इस द्वितीय में जर्मन भाषा के ही दो रूप उच्च जर्मन और निम्न जर्मन में यह अन्तर पड़ा। बात यह हुई कि निम्न जर्मन वाले (अंग्रेज आदि) विकास के पूर्व ही वहाँ से हट गये, अतः उनमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ा। पर, उच्च जर्मन वाले जो वहीं थे, द्वितीय परिवर्तन के

१. हम लोग संस्कृत और अंग्रेजी से ही विशेष परिचित हैं, अतः मूल के स्थान पर संस्कृत और जर्मनिक के लिए अंग्रेजी शब्द उदाहरण में लिये गये हैं।

शिकार हुए और फल यह हुआ कि उच्च और निम्न जर्मन की कुछ ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो गयीं।

निम्न जर्मन की प्रतिनिधि अंग्रेजी को मानकर हम कुछ उदाहरण ले सकते हैं—

	निम्न जर्मन (अंग्रेजी)	उच्च जर्मन
प् का फ़्	=डीप (deep), शीप (sheep)	टीफ़ (tief), शाफ़ (Schaf)
ट् का ट्स् या स्स्	=फूट (foot), लेट (let),	फ़स्स (fuss), लासेन (lassen)
क् का ख् (ह्)	=योक (yoke)	याख (Joch)
ह्व का व्	=डोव्ह (dove)	टाउबे (taube)
ड् का ट्	=डीड (deed)	टाट (tat)
थ् का ड (द्)	थ्री (three)	ड्राय (Drei)

आलोचना

प्रथम और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के सम्बन्ध में ग्रिम ने जो तालिका दी थी, वह कुछ इस प्रकार है—

मूल भाषा	आदि जर्मनिक	उच्च जर्मन
घ् ध् भ् =	ग् द् ब्	= क् त् प्
ग् द् ब् =	क् त् प्	= ख् (ह्) थ् फ़्
क् त् प् =	ख् (ह) थ् फ़्	= ग् द् ब्

प्रथम वर्ण-परिवर्तन   द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

हम देखते हैं कि इस प्रकार नियम बहुत सुलझा हुआ दिखाई पड़ता है। हिन्दी तथा अंग्रजी के बहुत से विद्वानों ने इसे इसी रूप में स्वीकार किया है। किन्तु, यथार्थतः बात ऐसी नहीं है। दोनों परिवर्तनों में इस प्रकार की समानता नहीं है, जैसी ग्रिम ने दिखलाने की कोशिश की थी। यहाँ तालिका में दिया गया प्रथम वर्ण-परिवर्तन अपवादों के रहते हुए भी ठीक है, पर द्वितीय के उदाहरण ठीक इस रूप में नहीं मिलते, साथ ही इसके अपवाद भी बहुत हैं। ग्रिम ने द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण इसी रूप में इकट्ठा करने का प्रयास किया, पर उसे अपेक्षित सफलता न मिली। प्रथम वर्ण-परिवर्तन के साथ द्वितीय परिवर्तन का शुद्ध रूप, जो वस्तुतः मिलता है, कुछ इस प्रकार हो सकता है—

मूल भाषा*	निम्न जर्मन या आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
gh, dh, bh	g, d, b	x, t, x
g, d, b	k, t, p	x; z, ss, sz, f
k, t, p	kh (h), th, f	x; d, st, x

(ख) ग्रेसमैन नियम

ग्रिम को स्वयं अपने नियम के पर्याप्त अपवाद मिले थे। उनके साधारण नियमानुसार क्रमशः क्, त्, प् का ख् (ह्), थ्, फ् होना चाहिये। पर, कुछ शब्दों में क् त् प् का ग् द् ब् मिलता है; उदाहरणार्थ, ग्रीक किन्बो से हो (ho), तुम्पोस से थम (thump) और पिथास से फाडी (foby) बनना चाहिये, पर बनता है गो (go), डम (dump), बाडी (body)।

ग्रेसमैन ने यह खोज निकाला कि भारोपीय मूल भाषा में यदि शब्द या धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों पर महाप्राण हों तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्पप्राण हो जाता है।

संस्कृत की √हु (=हवन करना) का रूप बनना चाहिये)
हुहोति, हुहुतः, हुह्वति
पर रूप है—जुहोति, जुहुतः, जुह्वति
इसी प्रकार √भृ (=डरना) से भिभर्ति आदि न होकर बिभर्ति आदि रूप बनते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि भारोपीय मूल भाषा की दो अवस्थाएँ रही होंगी। प्रथमावस्था में दो महाप्राण रहे होंगे और दूसरी अवस्था में नहीं, अतः अपवादस्वरूप क् त् प् आदि के स्थान पर जहाँ ग् द् ब् मिलते हैं; प्राचीन काल में क् त् प् का (पुराना रूप ख् ह), फ् अर्थात् भारोपीय में घ् ध् भ् रहा होगा और घ् ध् भ् से ग् द् ब् बना होगा-जो पूर्णतः नियमानुकूल है।

इस प्रकार, ग्रिम-नियम में जितने अपवाद इस तरह के थे, जिनमें ग्रिम-नियम से एक पग आगे परिवर्तन हो जाता था, ग्रेसमैन नियम से समाधानित हो गये। पीछे ध्वनि-परिवर्तन के प्रकरण में अल्पप्राणीकरण पर विचार करते समय इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

(ग) वर्नर नियम

उपर्युक्त दोनों नियमों के बाद भी कुछ अपवाद रह गये थे। वर्नर ने यह पता लगाया कि ग्रिम नियम बलाघात (accent) पर आधारित था। मूल भाषा के क्, त्, प् के पूर्व यदि बलाघात हो तो ग्रिम-नियम के अनुसार परिवर्तन होता है, किन्तु

*स्पष्टता के लिये रोमन लिपि का प्रयोग किया गया है। यह टकर की पुस्तक से लिया गया है।

यदि स्वराघात क् त् प् के बाद वाले स्वर पर हो तो परिवर्तन एक पग और आगे ग्रैसमैन की भाँति ग् द् ब् हो जाता है।

संस्कृत	गोथिक
सप्त	सिबुन
शतम	हुन्द

ग्रिम ने यह भी कहा था कि स् के लिये स् ही मिलता है, पर कुछ उदाहरणों में स् के स्थान पर र् मिला। इसके लिये भी वर्नर ने स्वराघात का ही कारण बतलाया। स् के पूर्व स्वराघात हो तो स् रहेगा, पर यदि बाद में हो तो र् हो जायेगा।

एक और तीसरी बात वर्नर ने बतलायी कि यदि मूल भारोपीय क् त् प् आदि के पूर्व स् मिला हो (अर्थात् स्क, स्प) तो जर्मेनिक में आने पर शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं मिलता।

लैटिन	अंग्रेजी	गोथिक
piskis	—	fiski
aiter	star	

इसी प्रकार, त् यदि क् या प् के साथ हो तो भी कोई परिवर्तन नहीं होता।

इतने पर भी ग्रिम नियम के अपवाद हैं, जिनके लिए सादृश्य ही मूल कारण माना जाता है।

(घ) तालव्य-नियम (Palatal Law)

बहुत निश्चय रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम इसकी खोज किसने की। सत्य यह है कि कई विद्वान् लगभग एक ही समय इस तक पहुँचने में सफल हुए। इसी कारण, किसी एक व्यक्ति को इसका श्रेय देना लोग ठीक नहीं समझते। १८७५ में विल्हेम थॉम्सन ने अपने व्याख्यान में इसकी ओर संकेत किया था, पर इस सम्बन्ध में उनका विस्तृत लेख प्रकाश में आ भी नहीं पाया था कि जोहन्स श्मिट ने अपना लेख तैयार कर लिया। यह लेख इनकी एक पुस्तक में १९२० में प्रकाशित हुआ। इन दोनों के अतिरिक्त एसाय तेंगर की भी एक छोटी-सी पुस्तिका इस विषय पर निकली। पर, उस पुस्तक में एसाय तेंगर ने दिया है कि उनके पूर्व भी कालित्ज तथा सास्यूर ने कुछ ऐसे विचार प्रकट किये थे। उपर्युक्त पाँचों विद्वानों के अतिरिक्त वर्नर भी कुछ इस परिणाम तक पहुँच चुके थे। इस प्रकार, तालव्य-नियम के साथ छः विद्वानों के नाम सम्बद्ध हैं, यद्यपि कुछ लोग इसे 'कालित्ज का तालव्य नियम' भी कहते हैं।

इस नियम के ज्ञात होने के पूर्व तक विद्वानों का विश्वास था कि कुछ शब्दों में संस्कृत अधिक बातों में अन्य सगोत्रीय भाषाओं की अपेक्षा मूल भारोपीय भाषा के निकट है। कुछ शब्दों में संस्कृत के च् और ज् के स्थान पर अन्य भाषाओं में क्

व्यतिरेकी नहीं होते; वैसे ही ल', ल', ल', ल' में भी मतैक्य है। ल' केवल 'ट' के पहले आएगा, ल' ओ के पहले, ल' ए के पहले तथा ल' आ के पहले। अर्थात् उनमें मतैक्य है। उनके हिन्दी में आने की एक सुनिश्चित व्यवस्था है अर्थात् वे अनुमेय हैं। साथ ही वे 'ल' परिवार की दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक हैं। चारों मिलकर एक परिवार बना रहे हैं। ऐसी स्थिति को भाषाविज्ञान में परिपूरक वितरण (complementary distribution) में होना कहते हैं। जहाँ एक-दूसरे में विरोध न हो, बल्कि हर एक के प्रयोग की स्थिति अलग-अलग, अव्यतिरेकी (अविरोधी) हो। यहाँ ल' के स्थान पर ल' नहीं आ सकता, न ल' के स्थान पर ल'......आदि; अतः ल', ल', ल', ल' परिपूरक वितरण में हैं, अर्थात् एक-दूसरे के अव्यतिरेकी (अविरोधी) हैं। इसके विपरीत 'ल' और 'क' एक-दूसरे के व्यतिरेकी या विरोधी हैं, क्योंकि 'आली' के पहले दोनों आ सकते हैं : ल+आली=लाली, क+आली=काली। जो ध्वनियाँ या स्वन इस प्रकार एक-दूसरे के व्यतिरेकी या विरोधी होते हैं, उन्हें स्वनिम कहते हैं। ऐसे ही 'नाली' और 'लाली' से स्पष्ट है कि 'न', 'ल' स्वनिम हैं। क्योंकि ये व्यतिरेकी या विरोधी हैं, अतः उपस्वन नहीं है। निष्कर्ष : (३) किसी भाषा के स्वनिम अपने वितरण में एक-दूसरे के व्यतिरेकी (विरोधी) होते हैं (लाली-काली, लाली-नाली, लग-जग आदि), किन्तु उपस्वन (जैसे ल', ल', ल', ल') एक-दूसरे के व्यतिरेकी न होकर परिपूरक वितरण में होते हैं। जहाँ एक आता है, वहाँ दूसरा कदापि नहीं आता। (४) स्वनिम अननुमेय होते हैं, अर्थात् यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि कौन स्वनिम कहाँ आएगा, किन्तु परिपूरक वितरण के कारण उपस्वन अनुमेय होते हैं।

हमने चार प्रकार के 'ल' की चर्चा की। अब यदि 'लो' के उच्चारण में हमने देखा कि ल' है, किन्तु यदि हम यहाँ ल' के स्थान पर ल', ल' या ल' का उच्चारण प्रयासपूर्वक करें तो भी 'लो' के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आएगा। अर्थात् उपस्वन (संध्वनि) अर्थ-भेदक नहीं होते। इसके विपरीत 'लो' में ल के स्थान पर 'क' (को), 'स' (सो), 'द' (दो) या 'ह' (हो) आदि किसी भी स्वनिम को रख दें तो अर्थ बदल जाएगा, अर्थात् स्वनिम अर्थ-भेदक होते हैं। निष्कर्ष : (५) स्वनिम अर्थ-भेदक होते हैं, किन्तु उपस्वन अर्थ-भेदक नहीं होते। इस प्रकार के लाली-काली, लाली नाली, लो-दो, लग-पग आदि जिन शब्द-जोड़ों से दो ध्वनियों (स्वनों) की अर्थ-भेदकता स्पष्ट होती है, उन्हें भाषाविज्ञान में न्यूनतम युग्म (minimal pair) अथवा न्यूनतम विरोधी युग्म कहते हैं। ऐसा जोड़ा या युग्म जिसके शब्दों के अर्थ अलग-अलग हों तथा जिनमें ध्वनि के स्तर पर न्यूनतम अर्थात् केवल एक का विरोध हो। अर्थात् 'लाली-काली' न्यूनतम युग्म हैं, क्योंकि इन दोनों शब्दों के दो अर्थ हैं और ध्वनि के

स्तर पर दोनों में एक ही अन्तर है—एक में 'ल' है तो दूसरे में 'क'। यह ध्यान देने की बात है कि किसी भाषा में जिन दो ध्वनियों के न्यूनतम युग्म मिल जाते हैं, उस भाषा में वे दोनों ध्वनियाँ या स्वन स्वनिम होते हैं, उपस्वन नहीं।

संक्षेप में—

स्वनिम	उपस्वन
(१) जाति के समान	व्यष्टि या व्यक्ति के समान
(२) परिवार	परिवार का एक सदस्य
(३) मानसिक सत्ता	भौतिक सत्ता
(४) अर्थभेदक	अर्थभेदक नहीं
(५) भाषा में महत्वपूर्ण	अमहत्वपूर्ण
(६) आपस में व्यतिरेकी या व्यतिरेकी वितरण वाले	आपस में परिपूरक वितरण वाले
(७) अननुमेय	अनुमेय

ऊपर वितरण के दो भेद किये गये : (क) **व्यतिरेकी या विरोधी वितरण**—जहाँ एक ही स्थिति में दो आएँ और दोनों के आने से अर्थ बदल जाए। (ख) **परिपूरक वितरण**—जहाँ एक स्थिति में दो न आएँ। वितरण का एक भेद और होता है : (ग) **मुक्त वितरण**—जहाँ एक स्थिति में दो स्वन (ध्वनि) मुक्त रूप से आएँ किन्तु अर्थ में अन्तर न हो। उदाहरण के लिए, बहुत से हिन्दी शब्दों में बहुत से लोगों के उच्चारण में क-क़ (क़ानून-कानून) या ग-ग़ (गरीब-ग़रीब) मुक्त वितरण (free Variation, free distribution) में हैं। बिना अर्थ बदले कोई भी आ सकता है। इस प्रकार आने वाली ध्वनियाँ (स्वन) मुक्त परिवर्त (free variant) कहलाती हैं।

स्वनिम (ध्वनिग्राम) के भेदोपभेद—स्वनिम दो प्रकार के होते हैं : (क) **खंड्य** (segmental) **स्वनिम**—जिन्हें अलग-अलग खंडित किया जा सके। इनकी स्वतंत्र सत्ता होती है। (ख) **खंड्येतर** (suprasegmental) **स्वनिम**—इन्हें अलग-अलग खंडित नहीं किया जा सकता। ये प्रायः एकाधिक खंड्य स्वनिम पर आधारित होते हैं। साथ ही सामान्यतः इनका अलग उच्चारण संभव नहीं। ये खंड्य स्वनिमों के साथ ही आते हैं। आगे खंड्य स्वनिम के दो उपभेद तथा खंड्येतर के पाँच उपभेद होते हैं :—
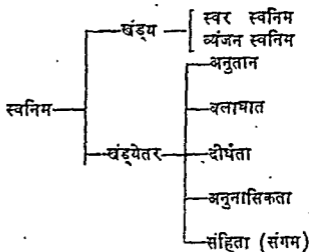
हिन्दी स्वनिम (ध्वनिग्राम)

स्वर स्वनिम—हिन्दी भाषा में दस स्वर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ स्वनिम हैं, क्योंकि इनके न्यूनतम युग्म हिन्दी में मिलते हैं :—

	ई	इ	ए	ऐ	अ	आ	औ	ओ	उ	ऊ
ई	—	मिल मील	मेल मील	मैल मील	मल मील	माल मील	तौर तीर	कोट कीट	सुर सीर	कूट कीट
इ	—	—	मेल मिल	मैल मिल	मल मिल	माल मिल	तौल तिल	मोल मिल	पुल पिल	ऊन इन
ए	—	—	—	मैल मेल	मल मेल	माल मेल	तौल तेल	मोल मेल	सुर सेर	तूल तेल
ऐ	—	—	—	—	पर पैर	पार पैर	ग़ौर ग़ैर	मोल मैल	सुर सैर	फूल फैल
अ	—	—	—	—	—	माल मल	तौल तल	मोल मल	कुल कल	फूल फल
आ	—	—	—	—	—	—	तौल ताल	मोल माल	कुल काल	ऊन आन
औ	—	—	—	—	—	—	—	लोटना लौटना	लुटा लौटा	लूट लौट
ओ	—	—	—	—	—	—	—	—	लूटा लोटा	लूट लोट
उ	—	—	—	—	—	—	—	—	—	सूर सुर

अर्थात् ये आपस में व्यतिरेकी हैं तथा अर्थ भेदक हैं।

व्यंजन स्वनिम--हिन्दी के अधिकांश व्यंजनों के उपर्युक्त प्रकार से न्यूनतम युग्म मिल जाते हैं। सबको तो अलग-अलग लेना स्थानाभाव के कारण यहाँ संभव नहीं है किन्तु उदाहरण के लिए कुछ न्यूनतम युग्म देखे जा सकते हैं--

कुड़ा-खुड़ा-गुड़ा-घुड़ा
चुला-छुला-जुला-झुला
टाला, ठाला, डाला, ढाला
तान-थान-दान-धान
पुली-फुली-बुली-भुली
यह-रह-लह-वह
साल-शाल-हाल
कुमार-कुम्हार
कान-कान्ह
आला-आल्हा
आदि

कुछ विवादास्पद व्यंजन स्वनिम--(क) नासिक व्यंजन--ऊपर 'न-न्ह', 'म-म्ह' के अलग-अलग स्वनिम होने का संकेत न्यूनतम युग्मों द्वारा दिया जा चुका है। शेष में 'म-न' (माला-नाला) तो स्पष्ट स्वनिम हैं।'ण-न' की समस्या थोड़ी जटिल है। बहुत से लोग 'ण' को 'न' (गुण-गुन, प्राण-प्रान) कहते हैं, इस प्रकार कई शब्दों में ये मुक्त परिवर्त हैं, किन्तु अणु (कण), अनु (एक उपसर्ग) न्यूनतम युग्म हिन्दी में प्राप्त हैं, अतः ण-न को भी एक सीमा तक स्वनिम माना जा सकता है। जहाँ तक शेष नासिक्य व्यंजनों का प्रश्न है, 'न' स्वनिम हैं तथा उसके ङ, ञ, न--ये तीन उपस्वन हैं :--

स्वनिम	**उपस्वन**	**वितरण**
न	ङ	(१) क, ख, ग, घ, के पूर्व (अंक, शंख, अङ्ग, जंघा)
		(२) अपवादतः वाङ्मय, पराङ्मुख
	ञ	च, छ, ज, झ के पूर्व (चंचल, वांछा, मंजु, झंझा)
	न	अन्यत्र

(ख) **ड-ड़**--पहले ये दोनों 'ड' स्वनिम के दो उपस्वन थे, क्योंकि परिपूरक वितरण में थे--

ड़-- (१) मध्य में दो स्वरों के बीच (घोड़ा)
(२) अन्त में स्वर के बाद (पहाड़)

ड— अन्यत्र : (१) आदि में (डाली)

(२) मध्य में रूपिम सीमा पर (अडिग); अनुनासिक स्वर के बाद (डोंडी); दीर्घ रूप में (गड्डी); तथा संयुक्त व्यंजन के सदस्य रूप में (गड्ढा)

अब रेडियो, रोड, सोडा, कोड आदि अंग्रेजी शब्दों के आने के कारण मध्य (घोड़ा-सोडा) तथा अन्त में (जोड़-रोड) में दोनों व्यतिरेकी हो गये हैं, अतः आदि में परिपूरक वितरण में होने के बावजूद ये दो स्वनिम माने जा सकते हैं।

(ग) ढ-ढ़—सामान्यतः तो ये एक स्वनिम (ढ) के दो उपस्वन जैसे ही आते हैं—

ढ़—आदि में नहीं, मध्य में दो स्वरों के बीच (पढ़ाई) तथा अन्त में स्वर के बाद (गढ़);

ढ—अन्यत्र : आदि में (ढाल), तथा मध्य में रूपिम सीमा (बेढब) पर या संयुक्त के सदस्य रूप (गड्ढा) में या अनुनासिक स्वर के बाद (मेंढक); किंतु 'ओढ़रदानी' जैसे कुछ शब्दों तथा ड-ड़ की व्यवस्था के सहायक के आधार पर कई स्थितियों में परिपूरक वितरण के बावजूद ढ-ढ़ को भी अलग-अलग स्वनिम माना जा सकता है।

केन्द्रीय (core) स्वनिम तथा परिधीय (peripheral) स्वनिम—जो स्वनिम भाषा में सामान्य रूप से अर्थ-भेदक तथा व्यतिरेकी होते हैं, उन्हें केन्द्रीय या मुख्य स्वनिम कहते हैं, किन्तु जो कुछ सीमित लोगों, सीमित शब्दों या सीमित परिस्थितियों में प्रयुक्त होते हैं वे परिधीय या गौण स्वनिम कहलाते हैं।

ऊपर जो स्वनिम दिये गये, वे हिन्दी के प्रायः केन्द्रीय स्वनिम हैं, इसके विपरीत ऑ, क़, ख़, ग़, ज़, फ़ परिधीय हैं, क्योंकि (क) इनका प्रयोग बहुत कम लोगों द्वारा होता है, (ख) सामान्य भाषा में ये व्यतिरेकी न होकर मुक्त परिवर्त हैं, अर्थात् इनके स्थान पर क्रमशः आ, क, ख, ग, ज, फ आ सकते हैं, (ग) सामान्य भाषा में ये अर्थ-भेदक नहीं हैं—क़ानून-कानून, ख़बर-खबर, जहाज़-जहाज आदि।

किन्तु जो थोड़े-से लोग इन स्वनों (ध्वनियों) का प्रयोग करते हैं, उनकी भाषा में ये अर्थ-भेदक तथा व्यतिरेकी हैं, क्योंकि इनके न्यूनतम युग्म मिलते हैं—

आ-ऑ : काफ़ी-कॉफ़ी, बाल-बॉल, हाल-हॉल।

क-क़ : ताक़ (आला)-ताक (देख)

ख़-ख : खाना-ख़ाना, खैर (कत्था) ख़ैर

ग-ग़ : ग़ौर-गौर, बाग-बाग़, बेगम-बेग़म

ज-ज़ : जरा-ज़रा, सजा-सज़ा, राज-राज़

फ-फ़ : फन-फ़न

खंड्येतर स्वनिम

चूंकि इनका अलग से उच्चारण नहीं हो सकता, अतः इन्हें ध्वनिग्राम न कहकर ध्वनिग्रामिक कहना कदाचित अधिक समीचीन होगा। यद्यपि बहुत से लोग इन्हें स्वनिम कहते हैं। हिन्दी में खंड्येतर स्तर पर बलाघात, अनुतान, दीर्घता, अनुनासिकता तथा संहिता ध्वनिग्रामिक हैं, क्योंकि इनके न्यूनतम युग्म उपलब्ध हैं :—

बलाघात : मुझे एक खिड़कीवाला मकान चाहिए।
मुझे एक खिड़कीवाला मकान चाहिए।

अनुतान : राम गया।
राम गया!

दीर्घता : बला-बल्ला, लगी-लग्गी,
आसन-आसन्न, बचा-बच्चा

अनुनासिकता : सास-साँस, गोद-गोंद, सवार-सँवार

संहिता (संगम) : सिरका-सिर का, तुम्हारे-तुम हारे,
होली-हो ली।

संदिग्ध युग्म (suspricious pair)—जिन दो स्वनों (ध्वनियों) के विषय में संदेह हो कि वे अलग-अलग स्वनिम हैं या एक ही स्वनिम के दो उपस्वन, उनके युग्म को संदिग्ध युग्म कहते हैं। वितरण के आधार उन दोनों का स्वनिम या उपस्वन के रूप में निर्धारण होता है। उदाहरण के लिए 'ड-ड़' हमारे लिए संदिग्ध युग्म थे और हमने वितरण के आधार पर सिद्ध किया कि ये दोनों पहले तो एक स्वनिम के दो उपस्वन थे किन्तु अब अलग-अलग स्वनिम हैं ऐसे ही 'म-न' 'न-ण' 'न-ङ' 'न-ञ' भी संदिग्ध युग्म थे, जिनमें तीन (म, न, ण) को न्यूनतम युग्म द्वारा स्वनिम; तथा शेष दो (ङ, ञ) को परिपूरक वितरण द्वारा 'न' के उपस्वन सिद्ध किया गया।

ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन (Phonetic Transcription)

पीछे ध्वनि के सम्बंध में विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। उससे तथा ध्वनिग्रामविज्ञान में संध्वनि (allophone) के प्रसंग में कही गयी बातों से स्पष्ट है कि हम जो बोलते हैं, वह ठीक वैसा ही नहीं है जैसा कि लिखते हैं। बोलने में अनेक सूक्ष्म

बातें हैं, जिनका लिखने में बिल्कुल विचार नहीं किया जाता। इतना ही नहीं, परम्परा का अनुकरण करने के कारण हम लिखने में प्रायः बहुत दूर चले जाते हैं। इन बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रतिलेखन के प्रमुखतः दो भेद हैं—(१) परम्परागत, (२) ध्वन्यात्मक। (१) परम्परागत प्रतिलेखन में हमारा ध्यान इस बात पर विशेष नहीं रहता कि हम क्या बोल रहे हैं, अपितु इस बात पर रहता है कि हम जो बोल रहे हैं, उसे परम्परागत रूप से कैसे लिखते आये हैं। नागरी, रोमन, उर्दू आदि में आज जो हम लिखते हैं, इसी प्रकार का है। अर्थात्, उसमें काफ़ी अंश ऐसा है जो हमारे बोलने के अनुरूप बिल्कुल नहीं है। उर्दू में 'तोय' और 'ते' का प्रयोग होता है, यद्यपि सर्वत्र 'ते' बोलते हैं। ज़े, ज़ाल, ज़ोय, ज़्वाद आदि लिखते हैं, यद्यपि बोलते केवल 'ज' हैं। 'से, सीन' तथा 'दो, हे' भी इसी प्रकार लिखने में प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि बोलने में उन सभी का अस्तित्व नहीं है। अंग्रेज़ी में तो और भी गड़बड़ियाँ हैं। एक ओर तो 'अ' के लिए u (cup) या i (bird) या o (son) आदि का प्रयोग करते हैं, और दूसरी ओर u कभी 'अ' (sun) उच्चारित होता है, कभी 'उ' (put)। वर्तनी में अनुच्चारित स्वर (colour) तथा व्यंजन (know, right, neighbour, write, talk आदि) एक और ही समस्या उत्पन्न करते हैं। उर्दू में बोलते हैं 'बिलकुल' और लिखते हैं 'बालकुल'। नागरी लिपि में लिखी गयी हिन्दी भी इन दोषों से मुक्त नहीं, यों उसे प्रायः बहुत वैज्ञानिक समझा जाता है। लिखने-बोलने के कुछ उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देंगे। पहले लिखित रूप दिया गया है, फिर कथित या उच्चरित : ऋण-रिण़, ऋषि-रिशि, चंद्रिका-चन्द्र्+इका, द्विवेदी-दुवेदी, साहित्यिक-साहित्तिक, काम-काम्, नागपुर-नाक्पुर, लगभग-लभग् आदि। इस प्रकार, परम्परागत प्रतिलेखन उससे बहुत दूर है, जो हम बोलते हैं। (२) ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन का अर्थ है, वह प्रतिलेखन जो बोलन के अनुरूप हो। उसमें जो हम बोलते हैं, वही लिखते भी हैं। इसके दो उपभेद हैं : (क) स्थूल प्रतिलेखन (broad transcription) और (ख) सूक्ष्म प्रतिलेखन (narrow transcription)। स्थूल को प्रशस्त या आयत प्रतिलेखन भी कहते हैं। इस प्रतिलेखन में लिखते तो वही हैं जो बोलते हैं, किन्तु मोटे रूप से लिखते हैं। सूक्ष्म बातों का ध्यान नहीं रखते। उदाहरण के लिए, 'ध्वनिग्रामविज्ञान' के प्रसंग में कहा जा चुका है कि कोई भी ध्वनि किसी भाषा में सभी प्रसंगों में बिल्कुल एक नहीं होती। बाल्टी, लू, ला, ली, इन चारों के 'ल' सूक्ष्मता की दृष्टि से एक नहीं है, अपितु चार हैं, किन्तु स्थूल प्रतिलेखन में इन चारों को चार न लिखकर एक 'ल' ही लिखते हैं। दूसरे शब्दों में, संध्वनियों को सूक्ष्म रूप में न लिखकर मोटे ढङ्ग से सारी संध्वनियों के लिए एक चिह्न का ही प्रयोग होता है। रोज के सामान्य लेखन के लिए यही लेखन अच्छा है। तुर्की आदि ने अपना लेखन ऐसा ही बना लिया है। हर भाषा की लिपि ऐसी ही हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। इसमें तीन बातों का ध्यान प्रमुख रूप से रखा जाना चाहिए : (१) भाषा के हर ध्वनिग्राम के लिए लिपिचिह्न हो। (२) न तो एक लिपिचिह्न एक से अधिक ध्वनिग्रामों को व्यक्त करे, और न एक ध्वनिग्राम एक से अधिक

लिपिचिह्न द्वारा व्यक्त हो। इस प्रकार, लिपि में ठीक उतने चिह्न हों, जितन भाषा में ध्वनिग्राम हों। (३) लिपिचिह्न लिखने, पढ़ने, टाइप करने एवं प्रेस की दृष्टि से सरल एवं स्पष्ट हों।

सूक्ष्म प्रतिलेखन को 'संकीर्ण' या 'संयत' भी कहते हैं। यह प्रतिलेखन सामान्य लेखन में नहीं प्रयुक्त होता। जब किसी भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन करना होता है, तो उसका सूक्ष्म प्रतिलेखन करते हैं। इसका मूल आधार तो स्थूल प्रतिलेखन के लिनिचिह्न होते हैं, किंतु लिखने में केवल स्थूल बातों का ही ध्यान न देकर सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को देखते हैं और उसके लिए अलग-अगल चिह्नों का प्रयोग कर ठीक उसके अनुरूप लिखने का प्रयास करते हैं, जैसे कि वक्ता बोलता है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि स्थूल प्रतिलेखन में केवल ध्वनिग्रामों को लिखा जाता है, किन्तु सूक्ष्म में संध्वनियों को लिखा जाता है। ऐसा करने के लिए स्थूल प्रतिलेखन के चिह्नों के अतिरिक्त और भी वहुत से उपचिह्नों (डायक्रिटिक्स जैसे संवृत, विवृत, ईषत् अनुनासिक, वृत्तमुखी, आगे बढ़ा, पीछे हटा, मूर्द्धन्यीकृत, आदि) की सहायता लेनी पड़ती है। प्रमुख लिपिचिह्न ऊपर दिये गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिह्न (International Phonetic Alphabet)

ध्वनिशास्त्र के अध्येताओं ने बहुत पहले यह देख लिया था कि संसार की कोई भी लिपि ध्वन्यात्मक लेखन के लिए ठीक नहीं है। इसीलिए, कई सदी पूर्व से लोग किसी वैज्ञानिक ध्वन्यात्मक लिपि के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। इसके लिए अब तक लगभग दो दर्जन से अधिक प्रयास हुए हैं, किन्तु बहुत कम को कुछ विशेष मान्यता मिल सकी है। कुछ समय पूर्व तक भारत में तथा यूरोप आदि में भी रोमन लिपि पर आधारित रायल एशियाटिक सोसाइटी की लेखन-पद्धति का प्रायः प्रयोग होता रहा है। इसमें दीर्घ स्वर के लिए—(i, a) तथा टवर्ग के लिए (t) का प्रयोग मिलता है। इस दृष्टि से सबसे अधिक प्रचार 'अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिह्न' का है। यह आज भी विश्व के अधिकांश भाषाविदों द्वारा प्रयुक्त हो रहा है। इस लिपिचिह्न का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-परिषद् से है। १८८६ में येस्पर्सन ने सर्वप्रथम संसार की सारी भाषाओं के लिए एक लिपिचिह्न बनाने के लिए पाल पासी को एक पत्र लिखा था। उसी के फलस्वरूप परिषद् के सदस्यों ने दो वर्ष बाद १८८८ में इस लिपि का प्रथम रूप बनाया। तब से इसका प्रयोग होता आ रहा है, और प्रयोग के आधार पर आवश्यकतानुकूल इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होते आ रहे हैं। इसमें डैनियल जोन्स का विशेष हाथ रहा है। आज इसके व्यंजन तथा स्वर-चिह्न ये हैं—

अंतर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि

		द्वयोष्ठ्य	दंत्योष्ठ्य	दंत्य और वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालु वर्त्स्य	वर्त्स्य-तालव्य	तालव्य	कंठ्य	अलिजिह्वीय	ग्रसनिजिह्वीय	स्वर यंत्र मुखी
व्यंजन	स्पर्श	p b		t d	ʈ ɖ			c ɟ	k g	q G		?
	नासिक्य	m	ɱ	n	ɳ			ɲ	ŋ	N		
	पार्श्विक संघर्षी			ɬ ɮ								
	पार्श्विक अघर्षी			l	ɭ			ʎ				
	लुंठित			r						R		
	उत्क्षिप्त			ɾ	ɽ					R		
	संघर्षी	ɸ β	f v	θ ð s z ɹ	ʂ ʐ	ʃ ʒ	ɕ ʑ	ç ʝ	x ɣ	χ ʁ	ħ ʕ	h ɦ
	अघर्षी तथा अर्धस्वर	w ɥ	ʋ	ɹ				j (ɥ)	(w)	ʁ		
स्वर	संवृत	(y ʉ u)						अग्र मध्य पश्च i y ɨ ʉ ɯ u				
	अर्द्ध संवृत	(ø o)						e ø ɤ o ə				
	अर्द्ध विवृत	(œ ɔ)						ɛ œ ʌ ɔ æ ɐ				
	विवृत	(ɒ)						a ɑ ɒ				

कहना न होगा कि इनके प्रयोग से किसी भी भाषा का प्रायः केवल स्थूल प्रतिलेखन ही किया जा सकता है, इसीलिये सूक्ष्म प्रतिलेखन के लिए इस पद्धति में कुछ अतिरिक्त चिह्न भी बनाये गये हैं। बहुत-सी भाषाओं में अपेक्षित नयी ध्वनियों के लिये ये सभी लिपिचिह्न या चिह्न यादृच्छिक हैं, और आवश्यकतानुसार बनाये जा सकते हैं।

नागरी लिपि के आधार पर भी ध्वनि-चिह्न बनाये जा सकते हैं। इस दृष्टि से कुछ प्रयास हो चुके हैं

अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि की भाँति ही इस नागरी लिपिसे भी स्थूल प्रतिलेखन ही संभव है। सूक्ष्म प्रतिलेखन के लिये कुछ संस्कारक या विकारक (modifier) या अन्य बातों के लिये विशेष चिह्न भी अपेक्षित हैं, जो सुविधा एवं आवश्यकतानुसार बनाये जा सकते हैं। कुछ प्रमुख चिह्न आगे दिये गये हैं।

ध्वन्यात्मक नागरी लिपि के स्वर इस प्रकार के हो सकते हैं—

स्वर

	द्वयोष्ठ्य	तालव्य अग्र	मध्य	कोमल तालव्य पश्च
संवृत	(ई॰ ऊ)	ई ई॰	ई ऊ	ऊ ऊॅ
अर्द्ध संवृत	(ए॰ ओ)	ए ए॰	अ	ओ· ओ
				अ ऑ
अर्द्ध विवृत	(एॅ॰ ऑ)	एॅ एॅ॰	एॅ	आ
विवृत	(आ)		आ	आ आ

ध्वन्यात्मक नागरी लिपि का रूप कुछ इस प्रकार हो सकता है:

ध्वन्यात्मक नागरी लिपि

उच्चारण विधि	स्थान →	द्वयोष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य-तालव्य	तालव्य	कोमल तालव्य	प्रतिजिह्वीय	उपालिजिह्वीय	स्वरयंत्रमुखी
स्पर्श अल्पप्राण	अघोष	प्		त्	ट्	ट्		क्	क्	क़्		?
	सघोष	ब्		द्	ड्	ड्		ग्	ग्	ग़्		
महाप्राण	अघोष	फ्		थ्		ठ्			ख्			
	सघोष	भ्		ध्		ढ्			घ्			
स्पर्श-संघर्षी अल्पप्राण	अघोष	प्फ़्		त्थ़्	ट्स (च्)		ट्श (च्)					
	सघोष	ब्व़्		द्द़्	ड्ज़्		ड्झ़् (ज्)					
महाप्राण	अघोष						छ्					
	सघोष						झ्					
पार्श्विक-संघर्षी	अघोष				ट्ल्							
	सघोष				ड्ल्							
संघर्षी	अघोष	प़्	फ़	थ़्	स्	ष्	श्	श्	ख़्	ख़्	[illegible]	ह्
	सघोष	व़्	व़्	द़्	ज़्, ऱ्	ज़्	झ़्	घ़्	ग़्	ग़्	९	ह्
अनुनासिक	अल्पप्राण सघोष	म्	म्		न्	ण्		ञ्	ङ	ङ़		
	महाप्राण सघोष	म्ह्			न्ह्				ङ्ह्			
पार्श्विक	अल्पप्राण सघोष				ल्	ळ्		ल़्				
	महाप्राण सघोष				ल्ह्							
लुंठित	अल्पप्राण सघोष				र्					ऱ्		
	महाप्राण सघोष				र्ह्							
उत्क्षिप्त	अल्पप्राण सघोष				ड़्	ड़्				ऱ्		
	महाप्राण सघोष					ढ़्						
सप्रवाह अर्ध स्वर	सघोष	व्	व्		र्			य्				

अन्तर्राष्ट्रीय लिपिचिह्न में सिद्धान्त के अतिरिक्त टाइप आदि की सुविधा की दृष्टि से भी कुछ कमियाँ हैं। इसी कारण, इधर अनेक देशों में थोड़े-बहुत अन्तर के साथ कई पद्धतियाँ विकसित हो गयी हैं, जिनमें पाइक की सम्भवतः सबसे अधिक प्रचलित है। यूरोप के भी कई देशों में कुछ नयी पद्धतियाँ चल रही हैं।

शब्दविज्ञान[1] ९

'शब्दविज्ञान' शब्द का विज्ञान है। इसमें 'शब्द' और उससे संबद्ध उन सारे अध्ययनों को रखा जा सकता है, जो भाषाविज्ञान की पारम्परिक शाखाओं—ध्वनि-विज्ञान, रूपविज्ञान तथा अर्थविज्ञान—में नहीं रक्खे जा सकते।

संसार की सभी भाषाओं को दृष्टि में रखते हुए शब्द की सभी दृष्टियों से पूर्ण परिभाषा देना असम्भव-सा है। इस विषय पर विचार करते हुए येस्पर्सन, वेंद्रिये, डैनियल जोन्स तथा उल्डल आदि भाषाविज्ञान के अनेक दिग्गजों ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। फिर भी, 'शब्द' की कामचलाऊ परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है : **शब्द अर्थ के स्तर पर भाषा की लघुतम स्वतन्त्र इकाई है।** इस परिभाषा में शब्द के सम्बन्ध में प्रमुखतः दो बातें कही गयी हैं, जो उसकी विशिष्टता मानी जा सकती हैं : (क) यह अर्थ के स्तर की लघुतम इकाई है, अर्थात् इसका एक स्पष्ट अर्थ होता है, जो अर्थ के स्तर पर लघुतम (वाक्य, उपवाक्य, पदबंध तथा पद की तुलना में) होता है। यह ध्वनि के स्तर की लघुतम इकाई नहीं है, क्योंकि इसमें एक ध्वनि भी हो सकती है और अधिक भी। (ख) यह इकाई स्वतन्त्र है, अर्थात् प्रयोग में या अर्थ व्यक्त करने के इसे किसी और की सहायता अपेक्षित नहीं होती। 'अ' (उपसर्ग) भी अर्थ के स्तर पर लघुतम इकाई (=नहीं) है और 'ता' (प्रत्यय) भी (=सुंदरता), किन्तु ये शब्द नहीं माने जा सकते, क्योंकि अर्थ की लघुतम इकाई होते हुए भी इनका अकेले प्रयोग नहीं हो सकता। इनके अर्थ की सार्थकता किसी के साथ होने (अपूर्ण, पूर्णता) पर ही है और उसी रूप में ये प्रयोग में आ सकते हैं। इस प्रकार, ये परतन्त्र हैं। इसके विरुद्ध "पूर्ण" एक शब्द है, क्योंकि इसमें उपर्युक्त दोनों बातें हैं। यह लघुतम इकाई भी है और स्वतन्त्र (वह पूर्ण है) भी।

१. भाषाविज्ञान की प्रमुख शाखाएँ केवल चार— ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, वाक्यविज्ञान, अर्थविज्ञान—परम्परागत रूप से मानी जाती हैं। मेरा विचार है कि 'शब्दविज्ञान' नाम की एक पाँचवीं शाखा इनके साथ जोड़ दी जानी चाहिए, क्योंकि इस अध्याय में शब्द के जिन विभिन्न पक्षों को लिया गया है, उन्हें वैज्ञानिक ढंग से सुविधापूर्वक, उपर्युक्त चार में किसी में भी नहीं रक्खा जा सकता और साथ ही भाषा के सर्वाङ्गीण विवेचन से ये इतने अधिक संबद्ध हैं कि उन्हें छोड़ा भी नहीं जा सकता। शब्दों के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की ये पुस्तकें : 'शब्दों का जीवन', 'शब्द[illegible]अध्ययन' 'शब्दों की कहानी' तथा 'शब्द विचार'

शब्दों का वर्गीकरण—यों तो शब्दों को व्याकरणिक कार्यकारिता की दृष्टि से आठ वर्गों (parts of speech) में रखा जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण बड़ा उथला और मात्र व्यावहारिक है, जैसा कि येस्पर्सन आदि ने दिखाया है। अपने यहाँ नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप में जो चार, या सुबन्त, तिङन्त और अव्यय रूप में जो तीन वर्ग बनाये गये हैं, वे भी अपेक्षाकृत ठोस होते हुए भी बहुत दूर तक नहीं टिकते। रचना, इतिहास और प्रयोग के आधार पर निम्नांकित रूपों में शब्द को वर्गीकृत किया जा सकता है :

रचना के आधार पर शब्दों के रूढ़, यौगिक और योगरूढ़, ये तीन भेद होते हैं। रूढ़ शब्द तो वे हैं, जिनके उस अर्थ में सार्थक टुकड़े न हो सकें, जैसे भैंस, जल, कलम आदि। यौगिक उन शब्दों को कहते हैं, जो दो शब्दों या दो सार्थक लघुतम भाषिक इकाइयों के योग से बने हों। 'ग्राममल्ल' दो शब्दों के योग से बना है और 'कलमदान' या 'सुन्दरता' शब्द और प्रत्यय से। योगरूढ़ उन्हें कहते हैं जो दो से बने हैं, किंतु जिनका अर्थ विशेष अर्थ में संकुचित हो गया है, जैसे 'पंकज'। इसका अर्थ पंक से उत्पन्न सभी चीजें या वनस्पतियाँ न होकर केवल 'कमल' है। ऊपर शब्द को 'लघुतम इकाई' कहा जा चुका है। उस दृष्टि से स्पष्ट ही इन तीनों में तत्त्वतः प्रथम ही शब्द है, शेष दो प्रयोगतः शब्द होते हुए भी प्रकृतितः लघुतम इकाई न होने के कारण यौगिक शब्द हैं, जिनमें एक शब्द के साथ या तो दूसरा शब्द जोड़ा गया है, या कोई अन्य व्याकरणिक तत्त्व।

इतिहास के आधार पर शब्दों को तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी, इन चार वर्गों में रखने की परम्परा रही है। तत्सम[1]—संस्कृत के शुद्ध या अविकृत शब्दों को कहते रहे हैं, जैसे जल, विद्या, नर। तद्भव—संस्कृत के शुद्ध शब्दों से निकले विकृत या विकसित शब्दों को कहते रहे हैं, जैसे जीभ (जिह्वा), कन्हैया (कृष्ण), साँप (सर्प) और कान (कर्ण)। विदेशी शब्द उन्हें कहते रहे हैं जो बाहर से आये हों, जैसे अंग्रेजी रेल, मोटर, फ़ोटो, या अरबी किताब आदि। 'विदेशी' के स्थान पर इन्हें गृहीत या आगत कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इनके लिए आवश्यक नहीं कि ये विदेशी भाषा के हों। दक्षिण की भाषाओं से हिंदी में आया शब्द 'दोसा' भी इसी श्रेणी का है। देशज शब्द उन्हें कहते हैं, जो उपर्युक्त तीन में किसी में न हों, अर्थात् जिनकी व्युत्पत्ति का पता न हो, जो उसी क्षेत्र में जन्मा हो। दूसरे शब्दों में, जो इन तीनों में न होकर देश में उत्पन्न या विकसित हुए हों। 'देशज' वस्तुतः निश्चयात्मक नाम है, जबकि इनकी व्युत्पत्ति के बारे में निश्चय के साथ हम कुछ नहीं जानते। इसीलिए, मैं 'देशज' के स्थान पर अज्ञातव्युत्पत्तिक नाम का प्रयोग करना अधिक उचित मानता हूँ। इन चार के अतिरिक्त, इस प्रसंग में कुछ और भी नाम लिये जाते हैं। कुछ लोगों ने द्वयात्मक शब्द (चमचम, बगबग), प्रतिध्वनि शब्द (लोटा-ओटा), अनुकरणात्मक शब्द (भोंपू),

---

१. 'तत्सम शब्दों की तत्समता चिंत्य है। तत्सम, अर्धतत्सम एवं देशज, आदि पर विस्तृत विवेचन के लिए देखिए मेरी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' का 'शब्द-समूह' शीर्षक अध्याय।

अनुरणनात्मक शब्द (झनझन, टनटन) आदि को अलग माना है, किन्तु वस्तुतः ये प्रकृति की दृष्टि से ही भिन्न हैं। इतिहास की दृष्टि से उपर्युक्त चार में ही किसी के अन्तर्गत रक्खे जा सकते हैं। अर्थात्, ये तत्सम होंगे या तद्भव या देशज या विदेशी। कुछ लोगों ने **तत्समाभास** (श्राप, प्रण), **तद्भवाभास** (दुलहिन, मौसा) को भी अलग स्थान दिया इस तरह तो **विदेश्याभास** (अखरोट, कलेजा) और **देशजाभास** (पगड़ी) शब्द भी हो सकते हैं। वस्तुतः जहाँ इतिहास के आधार पर वर्गीकरण किया जा रहा है 'आभास' पर आधारित शीर्षकों को रखना पूर्णतः अवैज्ञानिक और असंगत है। यहाँ हम लोग इस बात पर नहीं विचार कर रहे हैं कि कोई शब्द क्या लगता है, अपितु इस बात पर विचार कर रहे हैं कि वह क्या है।

ग्रियर्सन, चटर्जी तथा धीरेन्द्र वर्मा आदि बहुत से चोटी के भाषाविज्ञानवेत्ता इस प्रसंग में **'अर्द्धतत्सम'** नामक एक अन्य वर्ग का उल्लेख करते हैं, जो तत्सम और तद्भव के बीच में आता है। अर्द्धतत्सम शब्द उनको कहा जाता है जो आधुनिक काल में या हाल में संस्कृत से गृहीत तत्सम शब्दों से विकसित हुए हैं। उदाहरणार्थ, 'कृष्ण' के 'कान्हा', 'कन्हैया', 'कान्ह' आदि तो तद्भव हैं, किन्तु आधुनिक काल में 'कृष्ण' शब्द भी प्रयोग में आया और 'किशुन' या किशन' उससे आधुनिक काल में ही विकसित हुए। ये 'किशुन' या 'किशन' जैसे शब्द ही अर्द्धतत्सम या अर्द्धतद्भव हैं। वस्तुतः यह वर्ग ठोस विचारभूमि पर आधारित नहीं दीखता। यदि शब्द संस्कृत के समान है तो 'तत्सम' हुआ और यदि उससे विकसित या विकृत होकर उससे भिन्न हो गया तो तद्भव (—उससे पैदा) हो गया। यह तद्भवता पूर्ण-अपूर्ण, आधी-तिहाई या चौथाई हुई है, इसे नापने के लिए कोई भी आधार नहीं है। इसके अतिरिक्त, ऐसे भी शब्द हैं जो वैदिक काल से चले आ रहे हैं और जिनमें बहुत थोड़ा अन्तर आया है, जैसे हल—हर[1] (जोतने का उपकरण)। इसमें केवल एक ध्वनि परिवर्तित हुई। दूसरी ओर ऐसे भी शब्द हैं जो आधुनिक काल में विकृत हुए हैं और जो अर्द्धतत्सम कहे जाते हैं, किन्तु उनमें अपेक्षाकृत अधिक ध्वनियाँ विकृत हो गयी हैं : कृष्ण-किशन। इसमें ऋ से इ, ष् से श और ण से न हो गया है। ऐसी स्थिति में यदि किशन अर्द्धतत्सम है तो 'हर' को 3/4 या 7/8 तत्सम कहना होगा, किंतु 'हर' तद्भव कहलाता है, और 'किशन' अर्द्ध-तत्सम जो बिल्कुल उलटा-सा है। जो अधिक तद्भव है, उसे अर्द्धतत्सम कहा जा रहा है जो कम तद्भव है उसे तद्भव। वस्तुतः यदि इन शब्दों को अलग करना ही हो तो मैं **परवर्ती तद्भव** नाम का सुझाव देना चाहूँगा।

विदेशी शब्द का अर्थ जैसा कि पीछे भी संकेतित है, दूसरे देश का नहीं है। मान लें, हिन्दी में कोई पंजाबी शब्द है। किसी कारण से कल पंजाब भारत से अलग हो जाय, तो उस दिन से उस शब्द को विदेशी कहेंगे और उसके पूर्व देशी, ऐसी बात नहीं है। अंग्रेजी शब्द 'फ़ॉरेन' इसके लिए अधिक उपयुक्त है। कोई भी शब्द जो विशिष्ट भाषा-क्षेत्र का नहीं है, अपितु किसी अन्य भाषा से आ गया है, विदेशी है, अर्थात् विदेशी

---

१. भोजपुरी आदि बोलियों में 'हर' शब्द 'हल' के लिए चलता है।

भी भाषा के शब्द-समूह से प्रायः निकल जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में भारत में प्रचलित 'यज्ञ' को लें। उस समय देश में भाँति-भाँति के यज्ञ होते थे, अतः उस काल की भाषा में यज्ञ से सम्बन्धित सुब्रह्मण्या, न्यूङ्ख, यज्वा, यायजूक, स्थाण्डिल, आग्रसयिक, अहीन, अभिप्लव, संचाय्य, सुत्या तथा आनाय्य आदि सैकड़ों शब्द प्रचलित थे, जो बाद में 'यज्ञ' की परम्परा लुप्त हो जाने के कारण शब्द-समूह से निकल गये। यदि यज्ञकर्म आज तक होते आते तो तत्सम या तद्भव रूप में ये शब्द अवश्य वर्तमान होते।

(ख) रहन-सहन तथा खान-पान आदि में परिवर्तन—खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा या इस प्रकार की अन्य चीजों में परिवर्तन का भी शब्द-समूह पर प्रभाव पड़ता है। परिवर्तन होने पर पुरानी चीजें नहीं रह जातीं, अतः उनके सम्बन्धित शब्द भी लुप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में भक्त, अम्यूप, अपूप तथा सक्तुक का प्रचार खाने में था और आज भी है। अतएव, ये शब्द लुप्त नहीं हुए हैं, और तद्भव रूप में (भात, हावुस, पूआ या मालपूआ और सत्तू), आज भी शब्द-समूह में हैं, पर दूसरी ओर मंथ (धान का मथकर बनाया गया सत्तू) यावक (जौ से बना एक खाद्य) तथा संयाव (एक प्रकार का हलुवा) का प्रयोग बहुत पहले से बन्द हो गया है, अतः ये शब्द भी शब्द-समूह से निकल गये हैं। इसी प्रकार, पुराने ढङ्ग के कपड़ों, गहनों, शृङ्गार की अन्य सामग्रियों, वाहनों, अस्त्रों तथा वर्तनों आदि जिन-जिन भी चीजों का प्रयोग समाप्त हो जाता है, उनसे संबंधित शब्द भी शब्द-समूह से लुप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, वैदिक आभूषण 'कुरीर' (मस्तक का) या 'हिरज्जयवर्तिनी' (कमर का), भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन आभूषण 'अनवट' अब प्रयुक्त नहीं होते, अतः ये शब्द भी भाषा में नहीं हैं।

(ग) अश्लीलता—सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के अनुसार, मैथुन या शौच-विषयक बहुत से शब्द अश्लील स्वीकार कर लिए जाते हैं। इसका फल यह होता है कि शिक्षित तथा सभ्य समाज में उनका प्रयोग नहीं होता और इस प्रकार वे लुप्त हो जाते हैं। आश्चर्य यह है कि ठीक वही अर्थ रखने वाले अन्य शब्द समय और क्षेत्र विशेष से अश्लील नहीं माने जाते। 'पाखाना और गुह', 'पेशाब और मूत' आदि में यह बात स्पष्ट है। इन दोनों जोड़ों में प्रथम शब्द प्रचलित हैं, पर दूसरे सभ्य समाज के शब्द-समूह से निकल चुके हैं। इसी प्रकार, लिंग, उपस्थ, सहवास, वीर्य, शौच तथा गुदा आदि शब्द प्रचलित हैं, पर इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त कुछ अन्य शब्द अब बिलकुल ही अश्लील हो गए हैं तथा सभ्य समाज के लिये त्याज्य समझे जाते हैं। वे शब्द-समूह से निकल गये हैं। अंग्रेजी urinal, bathroom, toilet, cloackroom का क्रमशः एक ही स्थान के लिए प्रयुक्त होता जाना तथा पूर्ववर्ती शब्दों का लोप भी इसका अच्छा उदाहरण है।

(घ) ध्वनि की दृष्टि से शब्दों का घिस जाना—ध्वनि-परिवर्तन होते-होते कभी-कभी शब्द इतने घिस जाते हैं कि उन्हें शब्द-समूह से निकल जाना पड़ता है और उनके स्थान पर भाषा में फिर से उनके मूल तत्सम शब्द या अन्य शब्द ले लिये जाते हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश तक आते-आते बहुत से शब्द इस प्रकार के हो गये थे। कुछ

में केवल स्वर ही स्वर रह गये थे। कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें घिसते-घिसते कई शब्द एक रूप धारण कर चुके थे और उनमें प्रयोगकर्त्ता के लिए परेशानी थी। फल यह हुआ कि इस प्रकार के बहुत से शब्द निकल गये। यहाँ कुछ इस प्रकार के उदाहरण लिये जा सकते हैं जो स्पष्ट रूप से घिसे लगते हैं और जिनको प्राकृत-अपभ्रंश के बाद हम प्रयोग में नहीं पाते और उनके स्थान पर उनके मूल तत्सम शब्दों को फिर से अपना लिया गया है।

(क) ऐसे शब्द जिनमें घिसने से केवल स्वर ही स्वर शेष थे—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
अति	अइ
इति	इइ

(ख) अन्य घिसे शब्द—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
उदर	उअअ
ऋतु	उउ
उचित	उइअ
एक	एअ
ऋण	अण
उदास	उआस
राज	राअ
चरित	चरिउ
अजगर	अअगर
अतिथि	अइहि
वर्ष	वास
रजत	रयय
भरत	भरह
साधक	साहय
शाखा	साहा
अंतर	अंतों
अध्ययन	अहिज्जण
इत्यादि	इच्चाइ
स्त्री	इत्थि
प्रयोग	पओग
प्रदेश	पएस
शब्द	सद्द
धर्म	धम्म

(ग) ऐसे शब्द जिन्होंने घिसकर एक रूप धारण कर लिया था और भ्रम की आशंका थी—

संस्कृत	प्राकृत-अपभ्रंश
अवतार	ओआर
अपकार	ओआर
उपकार	ओआर

(ग) के अन्तिम दो उदाहरणों में हम देखते हैं कि दो विरोधी भावों के शब्द भी घिसकर एक हो चुके थे। यहाँ भ्रम की कितनी अधिक गुंजाइश थी, कहने की आवश्यकता नहीं।

(ङ) अंधविश्वास—यह विशेषतः जंगली या अर्द्धसभ्य लोगों की भाषाओं में पाया जाता है। वे लोग अंधविश्वास से शब्दों का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर देते हैं। यदि किसी भी कारण से उन्हें आभास मिल गया कि अमुक शब्द अशुभ है, उसके कहने से कोई देवता रुष्ट होगा तो ये उसका प्रयोग छोड़ देते हैं। कुछ सभ्य लोगों में भी इस प्रकार के अंधविश्वास मिलते हैं। जापान में राजा या उसके परिवार में बोली जाने वाली भाषा में ऐसे बहुत से शब्द हैं, जो वहाँ की सामान्य भाषा से निकल गये हैं, क्योंकि सामान्य जनता उनका प्रयोग पाप समझती है। भारत में पति का नाम पत्नी या पत्नी का नाम पति नहीं लेता। कहीं-कहीं बड़े लड़के का नाम नहीं लिया जाता। एक संस्कृत का श्लोक भी है, जिसमें अपना नाम, गुरु का नाम, राजा का नाम तथा इसी प्रकार के कुछ और नामों को लेने का निषेध है। अनेक मुसलमान मसूर ('सूर' के कारण जो 'सूअर' जैसा सुन पड़ता है) के स्थान पर इसी कारण अन्य नामों का प्रयोग करते हैं। कुछ पुराने हिन्दू अपने गर में बने 'साग' को 'साग' या 'भाजी' कह लेते हैं, किन्तु 'तरकारी' नहीं। कहीं-कहीं रात में लोग साँप-बिच्छू का नाम न लेकर साँप को जेवर, करियवा या पोंढ़ा तथा बिच्छू को टेढ़की आदि कहते हैं। पर, इस प्रकार के वैयक्तिक या विशिष्ट समय (जैसे रात में बिच्छू आदि का नाम न लेना) के शब्दों का भाषा के शब्द-समूह पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता।

(च) पर्याय—कभी-कभी यह देखा जाता है कि जब मस्तिष्क व्यर्थ में एक भावना के लिये कई शब्दों का भार ढोना पसन्द नहीं करता। ऐसा होता है कि शब्दों के अर्थ में यदि कुछ भी अन्तर न हो तो उसमें कुछ लुप्त हो जाते हैं। मुसलमानों के आगमन के बाद मध्ययुग में जनभाषा में 'सहस' (सं० सहस्र) शब्द 'हज़ार' की प्रतियोगिता में खड़ा न हो सका और उसे मैदान छोड़ना ही पड़ा। इसी प्रकार 'इशारा' की प्रतियोगिता में संकेत, आईना या शीशा की प्रतियोगिता में दर्पण, शकल की प्रतियोगिता में आकृति, शराब की प्रतियोगिता में मदिरा या मद्य, शहर की प्रतियोगिता में नगर या पुर, शिकार की प्रतियोगिता में मृगया या आखेट तथा खाली की प्रतियोगिता में रिक्त या रीता भी जनभाषा में नहीं ठहर सके। हाँ, अब अवश्य सांस्कृतिक पुनरुत्थान के साथ फिर धीरे-धीरे ये लुप्त शब्द प्रयोग में आ रहे हैं।

बेईमान, ईमान तथा ईमानदार आदि ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिनके लिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि मुसलमानों के संपर्क में आने के पूर्व भारत में ये भाव व्यक्त नहीं किये जाते थे, पर हाँ आज इनके उपयुक्त भारतीय पर्याय इतनी बुरी तरह लुप्त हो गये हैं कि बिना समुचित शोध किये उन्हें जान पाना भी कठिन है।

(२) नवीन शब्दों का आगमन

भाषा में एक ओर तो कुछ प्राचीन शब्दों का लोप होता है, पर दूसरी ओर कुछ नये शब्दों का आगमन भी होता है। आगमन के लिये अग्रलिखित कारण सम्भव हैं—

(क) **सभ्यता में विकास**—सभ्यता के विकास के साथ तरह-तरह की नवीन चीजों का निर्माण होता है और उनसे सम्बन्धित शब्दों का निर्माण करना पड़ता है। अंग्रेजी भाषा में तरह-तरह के वैज्ञानिक विकास के कारण ही तरह-तरह की चीजों तथा विचारों के लिए प्रतिवर्ष हजारों नये शब्द अन्य भाषाओं से लेने या बनाने पड़ते हैं। हिन्दी में स्वतन्त्रता के बाद इस प्रकार के पर्याप्त शब्द आये हैं, जैसे नलकूप आदि।

(ख) चेतना—राजनीतिक या सांस्कृतिक चेतना के कारण भी नवीन शब्दों का आगमन होता है। स्वतन्त्रता के बाद भारत में बहुमुखी चेतना दृष्टिगत हो रही है। फल यह हुआ है कि उन विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित विचार की अभिव्यक्ति के लिए हजारों शब्द संस्कृत के आधार पर बनाये जा रहे हैं; या संस्कृत-प्राकृत आदि प्राची भाषाओं या कभी-कभी अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं से लिये जा रहे हैं। इसका प्रभाव कई रूपों में देखने को मिलता है। कभी तो पुराने प्रचलित शब्द (प्राय: विजायीय) को हटाकर अपना पुराना शब्द लाते हैं, या कभी नया बना लेते हैं। हिन्दी में 'पोस्ट आफ़िस' को अपदस्थ करके इसी रूप में 'डाकघर' आया है। कलक्टर-जिलाधीश, सूबाप्रदेश, आफिस-कार्यालय, अफसर-अधिकारी, टेलीफोन-दूरभाषा, टेलीविजन-दूरदर्शन, गोलकीपर-गोली जैसे अनेक शब्द उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं। पाकिस्तान अपने संगीत को भारतीय सगीत से अलगाने के लिए रागों के भारतीय नामों को हटाकर नए नाम रखना चाहता है। वहाँ के कुछ नागरिकों ने कुछ सुझाव भी रखे हैं। जैसे 'दुर्गा' के लिए 'मुर्गा' 'भूपाली' के लिए 'चित्राली' 'शंकरा' के लिए 'अकबरा' तथा 'मालकौस' के लिए 'गुलाम गौस' आदि।

(ग) **भिन्न भाषा भाषी शब्दों या क्षेत्रों का सम्पर्क**—जब दो भिन्न भाषा-भाषी राष्ट्र, प्रान्त या क्षेत्र एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो दोनों ही एक-दूसरे से कुछ न कुछ शब्द लेते हैं। भारत के संपर्क में समय-समय पर अरब, ईरानी, पुर्तगाली तथा अंग्रेज आदि आये और फल यह हुआ कि एक ओर तो भारतीय भाषाओं ने इन सभी की भाषाओं (अरबी, फ़ारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी) के शब्द लिये, तथा दूसरी ओर अरब, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी आदि ने भी भारतीय भाषाओं से अनेकानेक शब्द लिये। संसार की सभी भाषाओं ने संपर्क के कारण कुछ न कुछ शब्द इस प्रकार ग्रहण

किये हैं। जर्मन में विदेशी शब्दों की संख्या लगभग १०,००० है। अंग्रेजों ने केवल भारतीय भाषाओं से लगभग २, ०० शब्द लिये हैं। हिन्दी ने तुर्की से लगभग ८०, फारसी-अरबी से लगभग ७,०००, अंग्रेजी से लगभग ३५०० तथा पुर्तगाली से लगभग ८० शब्द लिये हैं। फारसी में भारत से लगभग १५० शब्द लिये गये हैं। डॉ० चटर्जी के अनुसार, बंगला में अरबी-फारसी-तुर्की शब्द २४००, अंग्रेजी शब्द ७०० तथा पुर्तगाली शब्द लगभग १०० हैं। संपर्क के कारण कुछ अन्य भाषाओं के शब्द अनूदित होकर भी आ जाते हैं। जैसे पोस्टआफिस—डाकघर।

(घ) **दृश्यात्मकता**—कुछ चीजों के विशिष्ट रूप से दिखाई पड़ने के कारण कभी-कभी कुछ शब्द उनकी दृश्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए आ जाते हैं। बगबग, जगमग, चमचम, लकदक आदि हिन्दी शब्द इसी श्रेणी के हैं।

(ङ) **ध्वन्यात्मकता**—कुछ वस्तुओं की ध्वनि के कारण भी नये शब्द उन ध्वनियों के आधार पर आ जाते हैं। मोटर-ध्वनि के कारण पों-पों, कुत्ते के कारण भों-भों शब्द हिन्दी में आये हैं। चरमर, भड़भड़, हड़हड़, कल-कल, छल-छल तथा खल-खल आदि शब्द भी ऐसे ही हैं।

(च) **साम्य और नवीनता लाने के लिए**—साम्य और नवीनता लाने के लिए कभी-कभी लोग बलात् नये शब्दों को लाते हैं और वे शब्द चल पड़ते हैं। हिन्दी में साम्य के लिये 'पाश्चात्य' के साथ नवीन शब्द 'पौर्वात्य' आ गया है। पिंगल के आधार पर डिंगल, मीठा के आधार पर सीठा आदि ऐसे ही हैं। नवीनता के लिए उपसर्गों आदि को जोड़ कर भी इधर कितने ही नवीन शब्द बनाये जाते हैं। १९१५ से १९३६ तक तथा इधर १९४७ के बाद हिन्दी में ऐसे बहुत से शब्द बने हैं।

नवीन शब्दों का स्रोत

नवीन शब्दों के प्रमुखतः दो स्रोत हैं—१. निर्माण, २. उधार।

कुछ शब्द तो (क) दो शब्दों के मेल से, (ख) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर, (ग) ध्वनि के आधार पर, (घ) दृश्य के आधार पर, (ङ) सदृशता के आधार पर, (च) व्याकरण के आधार पर, (छ) स्वतन्त्र, निर्मित कर लिये जाते हैं, और कुछ (क) दूसरी भाषाओं से, (ख) अपने प्राचीन साहित्य से, या (ग) ग्रामीण बोलियों से उधार ले लिये जाते हैं। यहाँ इन सभी पर अलग-अलग संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

(१) निर्माण

(क) **दो शब्दों के मेल से**—आवश्यकतानुसार हम कभी-कभी दो शब्दों को मिलाकर एक तीसरा शब्द बना लेते हैं। यह क्रिया सभी समुन्नत भाषाओं में हुआ करती है। यह मिलाना आवश्यकतानुसार प्राचीन शब्द+प्राचीन शब्द, प्राचीन शब्द+नवीन शब्द, नवीन शब्द+नवीन शब्द, विदेशी शब्द+विदेशी शब्द, विदेशी शब्द+देशी शब्द तथा देशी शब्द+देशी शब्द आदि कई प्रकार का हो सकता है। फारसी भाषा में फारसी और अरबी के मेल से बनाये गये शब्द कई हजार हैं। कुछ उदाहरण हैं—

अरबी	फारसी	मेल से बने शब्द
अक्द (विवाह)	नामा	अक्दनामा (विवाह का इकरारनामा)

अक्ल	मंद	अक्लमंद
अरक़	रेज़ी	अरक़रेज़ी (बहुत परिश्रम)
अर्ज़ी	नवीस	अर्ज़ीनवीस
जमा	बंदी	जमाबंदी

हिन्दी में भी इस प्रकार मेल से बनाये गये शब्दों की संख्या कम नहीं है। कुछ उदाहरण हैं—

अंग्रेजी 'रेल'	+	हिन्दी 'गाड़ी'	=	रेलगाड़ी
अरबी 'अजायब'	+	हिन्दी 'घर'	=	अजायबघर
हिन्दी 'चिड़िया'	+	फ़ारसी 'खाना'	=	चिड़ियाखाना
संस्कृत 'दल'	+	फ़ारसी 'बंदी'	=	दलबंदी
हिन्दी 'रसोई'	+	हिन्दी 'घर'	=	रसोईघर
संस्कृत 'देश'	+	हिंदी 'निकाला'	=	देशनिकाला
हिन्दी 'अब'	+	हिन्दी 'ही'	=	अभी
पुर्तगाली 'पाव'	+	हिन्दी 'रोटी'	=	पावरोटी
हिन्दी 'कब'	+	हिन्दी 'ही'	=	कभी
हिन्दी 'जब'	+	हिन्दी 'ही'	=	जभी

(ख) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर—व्यक्तिवाचक शब्दों के आधार पर भी उनके कार्य, गुण या विशेषता को लेकर शब्द बना लिये जाते हैं। 'सैंडो' बनियाइन में का 'सैंडो' शब्द एक अमेरिकन पहलवान के नाम से लिया गया है, जिसने इस प्रकार की बनियाइन का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। अंग, बंग, कुरु, पंचाल, भारत तथा अमेरिका आदि भी व्यक्तिवाचक नामों पर ही आधारित हैं। अंग्रेजी के बॉयकाट, एटलस, मर्सराइज़, इको तथा विवसलिंग एवं हिन्दी के जयचन्द (देशद्रोही), सावित्री (पतिव्रता), हरिश्चन्द्र (सच्चा) तथा विभीषण (घर का भेदिया, देशद्रोही) आदि शब्द भी ऐसे ही हैं।

स्थानों के नाम के आधार पर भी शब्द बनते हैं। सूर्ती (सूरत नगर से आने वाली), चीनी (चीन की), मिस्री (मिस्र की), तथा मोरस (मारिशस की) ऐसे ही शब्द हैं। लखनौवा (छैला, नाजुक) तथा बनारसी (चतुर, ठग) आदि विशेषण भी इसी के उदाहरण हैं।

(ग) ध्वनियों के आधार पर—कुछ शब्द ध्वनियों के आधार पर भी बनते हैं। धड़-धड़, तड़-तड़, पड़-पड़, चर-मर, चूँ-चूँ, मर-मर तथा खड़-खड़ आदि शब्द ऐसे ही हैं।

(घ) दृश्य के आधार पर—कुछ वस्तुओं के देखने से ही उनके दिखाई पड़ने के सम्बन्ध में शब्द बन जाते हैं। चम-चम, जग-मग, बग-बग तथा दग-बग आदि इसी प्रकार के शब्द हैं।

(ङ) दूसरे शब्दों के रूप के आधार पर (औपम्य या सादृश्य के आधार पर)—दूसरे शब्दों के वजन या औपम्य पर भी कुछ शब्दों से नये शब्द बनाये जाते हैं। कुछ इस प्रकार के विचित्र उदाहरण भी मिलते हैं। उस्मानिया यूनिवर्सिटी से एक कोश (A Concise English Hindi Dictionary) प्रकाशित हुआ है, जिसमें 'करना', 'कराना' आदि के सादृश्य पर अंग्रेजी शब्द canvass से हिन्दी 'कन्वसना', acknowledge के लिये रसीद से 'रसीदियाना' तथा aliente के लिये विपक्ष से 'विपक्षियाना' जैसे बहुत-से शब्द बनाये गये हैं। कहना न होगा कि योग्य संपादकों ने धन, श्रम और बुद्धि का यह जो दुरुपयोग किया है, दयनीय है और इसका अधिकांश कभी प्रयुक्त नहीं होगा। पर, सादृश्य के आधार पर बने ऐसे शब्द भी बहुत हैं जो खूब चलते हैं और अच्छे हैं। हिन्दी में एक शब्द 'दुहेल' है जो सुहेल (सुखकोली, सुखेल) पर आधारित है। शहर से शहरी और देहात से देहाती शब्द थे, पर बाद में 'देहाती' के सादृश्य पर 'शहराती' शब्द बना जो आज भी कुछ क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है। 'बराती' के आधार पर कुछ हिन्दी क्षेत्रों में 'घराती' (लड़की-पक्ष के लोग) चलता है। बहुत से संज्ञा-शब्दों से (करना, मरना, आदि के) सादृश्य के आधार पर क्रिया शब्द बने हैं, जैसे संस्कृत टंकार से टंकारना, फ़ारसी दाग से दागना या लालच से ललचाना, अंग्रेजी फिल्म से फिल्माना। लोकभाषाओं में भी यह प्रवृत्ति है और बरध से बरधाना, पाड़ी से पड़ियाना, भैंस से भैंसाना तथा लात से लतियाना आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(च) संक्षेप के आधार पर—संयुक्त विधायक दल=संविद, भारतीय क्रांति दल=भाक्रांद, उत्तरी-पूर्वी सीमा=उपूसी. पेप्सू, यूनेस्को, नकेन (वाद), सुदी, बदी मिग, राडार, मोटेल (मोटर+होटेल) आदि।

(छ) व्याकरण के नियमों के आधार पर—व्याकरण के नियमों के आधार पर पुराने या नये, देशी या विदेशी शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय आदि लगाकर बहुत अधिक शब्दों का निर्माण होता है। जैसे हिन्दी में 'आ' परसर्ग लगाकर 'अथाह'; 'दु' लगाकर 'दुकाल'; 'नि' लगाकर 'निकम्मा' या 'अक्कड़' प्रत्यय लगाकर 'भुलक्कड़'; 'आऊ' लगाकर 'दिखाऊ', 'चलाऊ', 'उड़ाऊ'; 'आका' लगाकर 'पड़ाका','धड़ाका', तथा 'आरी' लगाकर 'भिखारी','पुजारी', आदि।

संस्कृत में कृत में 'अप' उपसर्ग लगाकर अपकृत, 'उप' लगाकर 'उपकृत', 'वि' लगाकर विकृत, या 'ता' प्रत्यय लगाकर 'सुन्दर' से 'सुन्दरता', 'मृदु' से 'मृदुता' आदि। अंग्रेजी में 'डिविजन' में 'सब' उपसर्ग लगाकर 'सबडिविजन' या 'अल' प्रत्यय लगाकर 'डिविजनल'। अरबी-फ़ारसी में 'ला' उपसर्ग लगाकर 'वारिस' से 'लावारिस' या 'कम' लगाकर 'कमजोर', और 'खोर' प्रत्यय लगाकर 'चुगलखोर' या 'कार' लगाकर 'पेशकार' आदि।

(ज) अनुवाद—कुलसचिव (रजिस्ट्रार)।

(झ) स्वतन्त्र रूप से निर्मित शब्द—बिना किसी आधार के स्वतन्त्र रूप से शब्दों का निर्माण होता है या नहीं, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। अधिकतर विद्वान् इसी पक्ष में हैं कि स्वतन्त्र रूप से शब्दों का निर्माण नहीं होता। कुछ लोग अंग्रेजी शब्द 'कोडक',

'गर्ल', 'डांग' तथा 'गैस' को स्वतन्त्र रूप से निर्मित शब्द मानते हैं। यों इसमें संदेह नहीं कि बिना किसी आधार के प्रायः बहुत ही कम शब्द बनते हैं।

(२) उधार

(क) **दूसरी भाषाओं से**—देश या विदेश की दूसरी भाषाओं के संपर्क में आने पर शब्द उधार ले लिये जाते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि तुर्की, फारसी, अंग्रेजी आदि के बोलने वालों के संपर्क में आने कारण हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं ने बहुत से शब्द लिये हैं। ये शब्द कभी-कभी तो ज्यों के त्यों ले लिये जाते हैं, जैसे अंग्रेजी निब, पिन, टिन आदि और कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तित होकर, जैसे दिसम्बर, अगस्त, पैंटमैन तथा वास्कट आदि।

(ख) **अपने प्राचीन साहित्य से**—सभी भाषाओं के प्राचीन साहित्य या वहाँ की प्राचीन भाषाओं के साहित्य में ऐसे अनेकानेक शब्द मिलते हैं, जो अब प्रचलित नहीं हैं और आवश्यक होने पर वे वहाँ से ले लिये जाते हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी को पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से संपन्न बनाने के लिये संस्कृत साहित्य से बहुत-से पुराने शब्द लिये जा रहे हैं। अंग्रेजी तथा फ्रेंच आदि यूरोपीय भाषाएँ आवश्यकता पड़ने पर ग्रीक तथा लैटिन से इसी प्रकार शब्द लेती हैं।

(ग) **ग्रामीण बोलियों से**—ग्रामीण बोलियों से भी आवश्यकतानुसार, भाषा को जीवंत बनाने के लिये या यों भी शब्द लिये जाते हैं। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य में तत्कालीन बोलियों से काफी शब्द लिये गये हैं। आधुनिक युग में भी विशेषतः आंचलिक उपन्यासों में इस प्रकार के शब्द पर्याप्त मिलते है। नागार्जुन का 'बलचनमा' या रेणु का 'मैला आँचल' या 'परती परिकथा' इस दृष्टि से दर्शनीय हैं। हिन्दी के चिपोंग, झाँपी, झाम, लहबर, लेंहड़ा, ठड्ढा, ढोंका, ढुकना, टट्टू, ठर्रा, ठेट, हेट, टंटा तथा ढील आदि शब्द ग्रामीण बोलियों से ही लिये गये हैं।

कोशविज्ञान

भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में कोशविज्ञान भी मान्य है, यद्यपि 'शब्दविज्ञान रूप में भाषाविज्ञान को एक शाखा मानने पर, जैसा कि इस पुस्तक में किया गया है, 'कोशविज्ञान' को 'शब्दविज्ञान' की एक शाखा मानना ही अधिक उचित है, क्योंकि इसमें विशेष दृष्टि से शब्दों का ही अध्ययन किया जाता है।

कोशविज्ञान (lexicology) से सम्बद्ध ही दूसरा शब्द कोशकला (lexicography) है। कोशविज्ञान तो कोश बनाने का विज्ञान है। इसमें उन सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं, जिनके आधार पर कोश बनाते हैं। इस प्रकार, इसका सम्बन्ध सिद्धान्त से है। दूसरी ओर, 'कोशकला' सिद्धान्त न होकर कला या प्रयोग है। सिद्धांतों के आधार पर कोश बनाना इसमें आता है।

भाषाविज्ञान की अन्य शाखाओं के कार्यों की भाँति ही कोश-निर्माण भी सबसे पहले अपने प्रारम्भिक रूप में भारतवर्ष में ही विकसित हुआ। लगभग १००० ई० पू० निघण्टुओं की रचना हुई। तब से लेकर १००० ई० तक इन दो हजार वर्षों में भारत में कई प्रकार के सैकड़ों कोश लिखे गये, जिनमें से बहुत से तो अब भी उपलब्ध हैं।

यूरोप में १००० ई० के पूर्व ठीक अर्थों में कोश नहीं मिलते। अंग्रेजी कोशों का इतिहास तो १६वीं सदी के अन्तिम चरण से ही प्रारम्भ होता है, यद्यपि अब वे संसार में संभवतः सबसे आगे हैं।

कोशों के प्रमुख प्रकार—कोश मूलतः तीन प्रकार के होते हैं—व्यक्ति-कोश, पुस्तक-कोश और भाषा-कोश। *व्यक्ति-कोश*—किसी एक व्यक्ति द्वारा अपने साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का कोई कोश व्यक्ति-कोश कहलाता है। शेक्सपीयर, मिल्टन, तुलसीदास आदि के कोश इसी प्रकार के हैं। *पुस्तक-कोश*—ऐसा कोश होता है जो केवल एक पुस्तक में प्रयुक्त शब्दों का हो। बाइबिल कोश, कुरान कोश इसी प्रकार के हैं। हिन्दी में इस प्रकार का एक रामचरितमानस का कोश बहुत पहले बना था। *भाषा-कोश*—इस प्रकार के कोश एक भाषा (बोली आदि) के हो सकते हैं, या एक से अधिक भाषाओं के। पहले एक भाषा के कोशों पर विचार किया जा रहा है।

एक भाषा के कोश (जिनमें अर्थ उस भाषा से उसी भाषा में दिये गये हों, जैसे हिन्दी-हिन्दी या अंग्रेजी-अंग्रेजी, या जिनमें अर्थ एक भाषा से दूसरी भाषा में हों, जैसे अंग्रेजी-हिन्दी, रूसी-अंग्रेजी) प्रमुखतः तीन प्रकार के हो सकते हैं। वर्णनात्मक, तुलनात्मक (दे० बहुभाषा कोश) और ऐतिहासिक।

वर्णनात्मक कोश—इसमें किसी भाषा में किसी एक काल में प्रयुक्त सारे शब्दों और उनके सारे अर्थों को देते हैं। इस प्रसंग में यह प्रश्न विचारणीय है कि यदि एक शब्द के एक से अधिक अर्थ हैं, तो उन्हें किस क्रम में रखा जाय। हिंदी में नागरी प्रचारिणी सभा का 'हिन्दी शब्दसागर' या उसका संक्षिप्त रूप 'वृहत् शब्दसागर' या 'प्रामाणिक' आदि इसी प्रकार के वर्णनात्मक कोश हैं। उनमें अर्थ किसी भी क्रम से न दिये जाकर मनमाने ढंग से, जैसे याद आते गये, आगे-पीछे दे दिये गये हैं। वस्तुतः वर्णनात्मक कोश में अर्थ प्रचलन के आधार पर क्रमबद्ध किये जाने चाहिएँ—जो अर्थ सबसे अधिक प्रचलित हो, उसे सबसे पहले और जो सबसे कम प्रचलित हो, उसे बाद में। कभी-कभी अर्थ के कम या अधिक प्रचलन के सम्बन्ध में विवाद भी खड़ा हो सकता है और ऐसी स्थिति में विवादग्रस्त अर्थों में किसी को भी आगे-पीछे रखा जा सकता है।

ऐतिहासिक कोश—किसी भाषा का ऐतिहासिक कोश उसके विकास आदि को समझने के लिए बड़ा सहायक होता है। ऐतिहासिक कोश में किसी भाषा में केवल प्रचलित शब्दों या उसके प्रचलित अर्थों को ही न लेकर सारे शब्दों और उनके सारे अर्थों को लेते हैं। वर्णनात्मक कोश में हमने देखा कि अर्थ, प्रचलन के आधार पर सजाया जाता है। यहाँ अर्थ अपने इतिहास के आधार पर सजाया जाता है। उदाहरणार्थ, हम मान लें कि किसी भाषा का एक शब्द है 'अ'। उसके 'आ', 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', ये पाँच अर्थ हैं। यहाँ देखना होगा कि सबसे पहले किस अर्थ का प्रयोग हुआ और फिर किस-किस का। मान लें कि उस भाषा का आरम्भ १००० ई० से और 'आ' अर्थ का प्रयोग १६०० ई० में, 'इ' का ११०० में, 'ई' का १००० में, 'उ' का १७०० में और 'ऊ' का १२०० ई० में हुआ है। कहना न होगा कि यहाँ उन अर्थों

कालक्रम से सजाना होगा, अर्थात् १००० ई० में प्रचलित अर्थ पहले दिया जायगा, फिर क्रम से ११००, १२००, १६०० और १७०० ई० का। अर्थात्—

अ, ई, इ, ऊ, आ, उ

इस प्रकार का कोश बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उस भाषा का साहित्य उपलब्ध हो। ऐसे कोश के निर्माण के पूर्व दो बातें आवश्यक हैं: (१) उस भाषा में प्राप्त सभी ग्रन्थों का पाठ पाठालोचन के आधार पर निश्चित कर लिया जाय। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रक्षिप्त अंशों को निकाल फेंकने की आवश्यकता नहीं, अपितु उनके रचे जाने का काल-निर्धारण करके, उन्हें भी उस काल या सदी की रचना मान कर उनके समकालीन साहित्य के साथ रखा जाय। (२) सभी रचनाओं का काल निश्चित कर लिया जाय।

इन दो बातों के कर लेने पर किस सदी में, कौन शब्द, किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ, इसका निश्चय करना सरल हो जायेगा, और उनके आधार पर सरलता से ऐतिहासिक कोश बन जायेगा। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक कोश हर दृष्टि से बहुत पूर्ण नहीं बन सकता, क्योंकि तैयार होने के बाद नयी खोजों के आधार पर यदि कोई नयी रचना सामने आ गयी, पुरानी रचना का नया पाठ आ गया, या किसी रचना का काल कुछ और सिद्ध हो गया तो उनके कारण उसमें पर्याप्त परिवर्तन करना होगा। किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा का इस प्रकार का ऐतिहासिक कोश अभी तक नहीं बना। संस्कृत का मोनियर विलियम्स का कोश इसी प्रकार का है, यद्यपि बहुत अपूर्ण है। संस्कृत का इस प्रकार का एक आदर्श कोश पूना में बन रहा है। अंग्रेजी की 'आक्सफोर्ड डिक्शनरी' इस प्रकार का अब तक का सर्वोत्तम प्रयास है।

पारिभाषिक कोश—भाषा-कोश के अन्तर्गत ही पारिभाषिक कोश भी आते हैं। किसी भी भाषा में विभिन्न विषयों (इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, भाषाविज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान आदि) या उनकी शाखाओं (प्राचीन भूगोल, सांख्यिकी, ध्वनिविज्ञान) में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के कोश बन सकते हैं। इस प्रकार के कोश साहित्यिक धाराओं के भी बन सकते हैं। हिन्दी में 'संत साहित्य कोश' बड़ा उपयोगी हो सकता है।

पर्याय कोश—यह भी भाषा-कोश का एक रूप है, जिसमें मिलते-जुलते अर्थ के शब्द एकसाथ रक्खे जाते हैं। उनके साथ कभी-कभी विरोधी या विलोम शब्दों का भी उल्लेख कर दिया जाता है। कवियों तथा लेखकों के लिए इस प्रकार के कोश बड़े उपयोगी हैं।

मुहावरा और लोकोक्ति कोश—इन दोनों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शब्द से नहीं है, और इस प्रकार ये शब्दकोश नहीं हैं, किन्तु इनका भाषा से सम्बन्ध है, अतएव

भाषा-कोशों के प्रसंग में इनका उल्लेख भी आवश्यक है। ये दोनों ही कोश वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक, तीनों प्रकार के बनाये जा सकते हैं।

बहुभाषा कोश—ये दो या अधिक भाषाओं के हो सकते हैं। अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों के साथ उनके लिए हिन्दी या संस्कृत समानार्थी शब्द देने वाले या इसी प्रकार के अन्य कोश भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

इसी प्रकार, कथाओं, जीवनियों आदि अनेक विषयों के कोश हो सकते हैं। विश्वकोश का भी कोशों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कोश-निर्माण की कुछ आवश्यक बातें

शब्द-संकलन—कोश-निर्माण में सबसे पहला काम कोशकार को इस दिशा में करना पड़ता है। कोश यदि जीवित भाषा का बनता है तो शब्द लोगों से सुनकर इकट्ठे करने पड़ते हैं। यदि साहित्य या पुरानी भाषा का बनाना हो तो पुस्तकों से लेना पड़ता है। लोगों से सुनकर इकट्ठा करने में पूर्ण कोश बनाना प्रायः असम्भव-सा है, क्योंकि हर जीवित भाषा में शब्द बढ़ते रहते हैं। नये शब्द विभिन्न स्रोतों से आते रहते हैं। साहित्य के आधार पर कोश बनाने के लिए संबद्ध सारी पुस्तकों की पूरी शब्दानुक्रमणी बना लेना सबसे अच्छा होता है। इससे कोई शब्द या अर्थ छूटने नहीं पाता। ऐतिहासिक कोशों के लिए तो ऐसा करना अनिवार्य है।

वर्तनी—शब्द-संकलन के बाद उन्हें कोश में देने के लिए उनकी वर्तनी (spelling) ठीक कर लेना आवश्यक है। इस दृष्टि से सबसे अधिक आवश्यक चीज है एकरूपता। अनेकरूपता होने पर होता यह है कि कभी-कभी शब्द कोश में रहता तो है, किन्तु मिलता नहीं। इस विषय के आवश्यक निर्णयों का उल्लेख भूमिका में अवश्य किया जाना चाहिये।

शब्द-निर्णय—यह कार्य बहुत कठिन है। इसमें कई प्रश्न आते हैं। जैसे—किस शब्द को मूल मानें और किसको दूसरे के अन्तर्गत रक्खें; समस्त पदों को प्रथम के साथ रखें या दूसरे के। इसी प्रकार से ध्वनि की दृष्टि से एक दीखने वाले शब्द को एक मानें या अधिक। उदाहरणार्थ, 'आम' शब्द है। एक तो अरबी का जो 'खास न हो' दूसरे संस्कृत में 'आम्र' का तद्भव। अच्छे कोश में दोनों को अलग शब्द मानना होगा—आम (१), आम (२)।

शब्दक्रम—कोश में शब्द विशेष क्रम से होते हैं, ताकि देखने वाला उन्हें सरलता से पा ले। संसार में कोशों में अनेक प्रकार के शब्दक्रम प्रचलित रहे हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—

(१) वर्णानुक्रम—आज की अधिकांश भाषाओं के अधिकांश कोशों में शब्द वर्णानुक्रम से रक्खे जाते हैं। पहले शब्द केवल प्रथम वर्ण के आधार पर रखे जाते थे। अर्थात् 'क' से शुरू होने वाले सारे शब्द एकसाथ। इसका आशय यह हुआ कि यदि किसी भी भाषा में 'क' से प्रारम्भ होने वाले ५००० शब्द हैं तो वे एक जगह बिना किसी क्रम से रखे जाते थे और खोजने वाले को सारे शब्दों को देखकर अपेक्षित शब्द खोजना पड़ता था। बाद में शब्द के दूसरे वर्ण का भी विचार होने लगा और अन्त में सारे वर्णों का।

(२) **अक्षर-संख्या**—इसके आधार पर भी शब्दों को रखा जाता है। भारत में इस प्रकार के एकाक्षरी कोश मिलते हैं। चीनी तथा कुछ और भाषाओं में भी यह पद्धति प्रचलित है। इसमें एक अक्षर (syllable) वाले शब्द पहले, फिर दो वाले, फिर तीन वाले और आगे भी इसी प्रकार रखे जाते हैं।

(३) सुर-प्रधान भाषाओं में वर्णानुक्रम या अक्षर-संख्या के आधार पर शब्दों के रखने के अतिरिक्त उन्हें सुरों के आधार पर भी रखते हैं, क्योंकि वहाँ एक ही शब्द कई सुरों में भी प्रयुक्त होता है।

(४) **विचारों के अधार पर**—पर्याय कोशों या थेसारस में शब्दों को भावों या विचारों के आधार पर रखा जाता है, जैसे सारे जीवों के शब्द एक स्थान पर। ऐसे ही धर्म, अंग, खाद्य-पदार्थ, कला, विज्ञान आदि के अलग-अलग। 'अमरकोश' के कांड इसी आधार पर हैं।

(५) **व्युत्पत्ति के आधार पर**—कभी-कभी शब्द व्युत्पत्तियों के आधार पर रखे जाते हैं। अरबी में इस प्रकार के कोश प्रायः मिलते हैं, जिनमें वर्णानुक्रम से 'माद्दा' देते हैं और हर 'माद्दा' के साथ उससे बनने वाले शब्द।

व्याकरण—बहुत से कोशों में शब्द पर व्याकरण की दृष्टि से भी टिप्पणी रहती है। इसका निर्णय भी विचारपूर्वक होना चाहिए। कभी-कभी एक शब्द कई व्याकरणिक इकाइयों के रूप में प्रयुक्त होता है। मूलतः वह जो है, उसी का कोश में उल्लेख होना चाहिए।

अर्थ—अर्थ वर्णनात्मक कोश में प्रचलन के आधार पर और ऐतिहासिक कोश में इतिहास के आधार पर दिया जाता है। इसे पीछे समझाया जा चुका है। अर्थ दो प्रकार के होते हैं : एक में केवल एक समानार्थी शब्द देते हैं (जैसे गज-हाथी) दूसरे में परिभाषा देते हैं, या समझाते हैं (जैसे हाथी एक जानवर है जो...)। दोनों प्रकारों का उचित प्रयोग होना चाहिए। व्याख्या जहाँ अपेक्षित हो, वहीं दी जानी चाहिए।

उद्धरण—अर्थ के स्पष्टीकरण या उदाहरण के लिए अर्थ के साथ उसके प्रयोग भी दिये जाते हैं। ऐसे उद्धरण प्रामाणिक होने चाहियें। यदि कई उद्धरण दिये जायँ तो उन्हें कालक्रमानुसार रखना चाहिये।

चित्र—कभी-कभी अर्थ, पर्याय या व्याख्या से स्पष्ट नहीं होते। ऐसी स्थिति में वस्तु का चित्र आवश्यक हो जाता है।

उच्चारण—कोश में उच्चारण भी आवश्यक है, क्योंकि मात्र सामान्य वर्तनी से वह स्पष्ट नहीं होता। हिन्दी कोशों में उच्चारण नहीं रहता। नागरी लिपि के समर्थकों का कहना है कि जैसा हमारा उच्चारण है, वैसा ही नागरी में लिखते हैं। अतः, अलग उच्चारण की हिन्दी में जरूरत नहीं। किन्तु, ऐसा मानना अवैज्ञानिक है। बलाघात, एवं अ, ऐ, औ, ऋ, ष, ज्ञ आदि कई ध्वनियों के सम्बन्ध में हिन्दी शब्दों में भी संकेत अपेक्षित है।

व्युत्पत्ति—यह भी कोश का महत्त्वपूर्ण अंग है। अच्छे कोश में इसका होना आवश्यक है। व्युत्पत्ति का कभी तो सीधे संकेत कर देते हैं; कभी-कभी तुलनात्मक दृष्टि से और भाषाओं के भी रूप दे देते हैं।

व्युत्पत्ति (Etymology)

व्युत्पत्तिशास्त्र शब्दविज्ञान का एक प्रमुख अंग है। यह ध्वनिविज्ञान, शब्द-विज्ञान तथा अर्थविज्ञान का सम्मिलित योग है, जिसके आधार पर किसी शब्द का मूल खोजा जाता है। इसमें यह पता लगाया जाता है कि कोई शब्द-विशेष मूलतः किस भाषा का है। साथ ही, इसमें इस बात के पता लगाने का भी प्रयास हो सकता है कि मूल शब्द का अर्थ तथा रूप क्या था और किन परिस्थितियों में एवं किन कारणों से उसमें ध्वनि या अर्थ सम्बन्धी परिवर्तन हुए ? आधुनिक ढंग के कोशों में व्युत्पत्ति की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। कोशों में अर्थ देने के साथ-साथ अब यह भी देने का प्रयास किया जा रहा है कि शब्द मूलत कहाँ का है। इसके साथ अन्य भाषाओं से तुलनात्मक सामग्री भी देते हैं। इस दिशा में पथ-प्रदर्शक कार्य टर्नर का 'नेपाली कोश' है। इधर उनका भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक कोश भी आता है। व्युत्पत्तिशास्त्र के आधार पर किसी भाषा-विशेष के किसी एक समय में प्रयुक्त शब्द-समूह का विश्लेषण कर इस बात का भी पता लगाते हैं कि उसमें कितने प्रतिशत शब्द अपने हैं तथा कितने प्रतिशत विदेशी या अन्य भाषाओं के।

व्युत्पत्तिशास्त्र के लिए अंग्रेजी शब्द 'एटिमॉलोजी' है। यह असल में यूनानी भाषा का शब्द है और इसका अर्थ यथार्थ लेखा-जोखा (etymos—यथार्थ, logos-शब्द या लेखा-जोखा) है। यूनानी में 'एटिमॉलोजी' मूलतः दर्शन की एक शाखा थी, न कि भाषाविज्ञान की, और इसके अन्तर्गत यूनानी दार्शनिक किसी शब्द द्वारा व्यक्त भाव या विचार की यथार्थ जानकारी के लिये शब्दों के मूल तथा उसके मूल अर्थ का अध्ययन करते थे। हिन्दी में इसके लिये 'व्युत्पत्तिशास्त्र' शब्द है। व्युत्पत्ति का अर्थ 'विशेष या विशिष्ट उत्पत्ति' है। प्राचीन काल में भारत में इस शास्त्र को निरुक्त कहते थे और यह छः वेदांगों में एक था। लोगों का विश्वास है कि उस समय निघण्टु के शब्दों की व्याख्या और व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिये बहुत से निरुक्त ग्रन्थों की रचना हुई थी, जिसमें सबसे प्रसिद्ध निरुक्त यास्क का था। और आज केवल वही उपलब्ध है। इस प्रकार यास्क विश्व के प्राचीनतम व्युत्पत्तिकार हैं। इन्होंने अपने निरुक्त में कुल १२६८ व्युत्पत्तियाँ दी हैं, जिनमें २२४ बहुत ही वैज्ञानिक तथा युक्तिसंगत हैं।

व्युत्पत्तिशास्त्र के प्राचीन रूप को ठीक से हृदयंगम करने के लिये यह बतला देना आवश्यक है कि यास्क ने एक शब्द की एक ही व्युत्पत्ति न देकर एक से अधिक व्युत्पत्तियाँ[1] भी दी हैं। इसका आशय यह है कि उन लोगों के लिए यह एक निश्चित

१. यास्क के निरुक्त में इन्द्र की १४ व्युत्पत्तियाँ, जातवेदस की ६, अग्नि की ५ तथा अरण्य की २ दी गयी हैं।

और नियमित विज्ञान या शास्त्र नहीं था। मनमाने ढङ्ग से जितनी भी बुद्धि दौड़ाई जा सके, दौड़ाई जाती थी। यही कारण है कि इन व्युत्पत्तियों में आधी से अधिक तो अत्यन्त पुराने ढङ्ग की तथा मनमानी हैं[२] तथा कुछ संयोग से ठीक और वैज्ञानिक हो गयी हैं।[३]

प्लेटो के समय में तथा उनके कुछ पूर्व भी यूनान में दर्शन की शाखा के रूप में इस शास्त्र का अध्ययन प्रचलित था। वहाँ, उस समय विद्वानों का विश्वास था कि किसी शब्द की ध्वनि और उसके द्वारा व्यक्त किये गये अर्थ में कुछ सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए वहाँ भी मनमानी व्युत्पत्तियाँ दी गयीं। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'क्रेटीलस' में ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध का, उस समय की ये बातें देखने के कारण ही, मजाक उड़ाया है।

मध्य युग तक आते-आते जब लोगों का देश-देशान्तर तथा उनकी भाषाओं से परिचय बढ़ा तो संसार की सारी भाषाओं को किसी एक भाषा से निकली सिद्ध करने के लिये अर्थ तथा ध्वनि की दृष्टि से मिलते-जुलते शब्दों के बहुत से संग्रह बने। उस समय तक इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित् सिद्धांत तो थे नहीं। लोग अटकल से दो शब्दों के बाह्य रूप को देखकर दोनों को एक शब्द से निकला मान बैठते थे। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के शब्द 'नीअर' (near) का अर्थ 'समीप' है, और भोजपुरी में 'निअर' का अर्थ यही है। बस प्राचीन लोगों का इतना पाना था कि दोनों शब्द एक मूल के मान लिए जाते थे। ऐसे ही न जाने कितनी बड़ी-बड़ी पुस्तकें बनीं, जिनमें इस प्रकार के उदाहरणों के आधार पर हिब्रू से अंग्रेजी का या हिब्रू से ग्रीक का सम्बन्ध स्थापित किया गया। यों तो उन लोगों के ये कार्य आज व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं, पर इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व है कि उन्हीं अटकलों और असंगत बातों में भाषाविज्ञान के शिशु ने जन्म लिया और पलता रहा।

व्युत्पत्ति और भ्रामक व्युत्पत्ति (Popular Etymology)

ध्वनि-साम्य देखकर किसी और शब्द को और समझ लेना भ्रामक व्युत्पत्ति है। इसके कारण बहुत से शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन हो जाते हैं। 'ध्वनिविज्ञान' शीर्षक के अन्तर्गत इस पुस्तक में अन्यत्र इस पर विचार किया जा चुका है। भ्रामक व्युत्पत्ति के कुछ मनोरंजक उदाहरण लिये जा सकते हैं। पहरा देने वाला संतरी अधिकतर किसी के आने पर कहता सुना जाता है—'हुकुम सदर'। इसका अर्थ लोग समझते हैं कि 'यह सदर हुक्म है कि यहाँ आना मना है।' पर, मूलतः यह शब्दावली 'हुकुम सदर' न होकर—हू कम्स देयर (Who comes there) है, जिसका आशय है—कौन आता है ?

---

२. जैसे अंगार, अग्नि, अर्द्ध तथा अरण्य आदि की।

३. जैसे सहस्र, विंशति, श्रद्धा तथा कंटक आदि की।

Popular का शुद्ध अनुवाद 'लौकिक' होने के कारण कुछ लोगों ने इसे लौकिक व्युत्पत्ति' कहा है, पर लौकिक-पारलौकिक अन्य अर्थ में रूढ़ हैं, अतएव यहाँ भ्रामक व्युत्पत्ति' प्रयोग किया गया है, जो अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

पर, भ्रामक व्युत्पत्ति के कारण लोगों ने इसे 'हुकुम सदर' कर डाला है। ग्रामीण जनता में इसी प्रकार लाइब्रेरी (पुस्तकालय) 'रायबरेली' कही जाती है और गाँव के मिडिल स्कूलों में चेम्सफोर्ड महोदय 'चिलमफोड़' कहे जाते रहे हैं। 'चार्जशीट' को चार-शीट (जो चार पन्ने कागज पर हो) और 'पाउरोटी' को 'पावरोटी' (पाव भर की रोटी या बड़ी रोटी) भी इसी कारण हो जाना पड़ा है, और इसी कारण मुकदमेबाज लोग 'असस्ने नौ' को 'साढ़े नौ' और 'आनरेरी' को 'अन्हेरी' (जहाँ अँधेरा या अन्याय हो) कहते हैं। अंग्रेजी का कन्ट्री डान्स (country dance) इसी कारण फ्रांसीसी में कोंत्र डान्स (contra dance) हो गया है। भ्रामक व्युत्पत्ति से मिलती-जुलती चीज कुछ दिन पूर्व तक आर्यसमाजियों में प्रचलित रही है। वे लोग सारे संसार को आर्य-संस्कृति से अभिभूत तथा सभी भाषाओं की आदि जननी संस्कृति को मानते रहे हैं और इसी भावना से कितने ही देश के नामों तथा अन्य शब्दों को संस्कृत से लिया गया सिद्ध करते रहे हैं। उनके लिए अरबी का ज़ात सं० जाति, स्कैंडिनेवियन सं० स्कंध-निवासी, जापान संजयप्राण, अफ़ग़ानिस्तान सं० आवागमनस्थान, चीन सं० च्यवन-देश, क्राइस्ट सं० कृष्ण, तथा मिस्टर सं० मित्र हैं।

अन्य बातें

यों तो व्युत्पत्तितः एक मूल के शब्द बाह्य रूप तथा अर्थ की दृष्टि से प्रायः कुछ मिलते-जुलते रहते हैं, प से उदहरणों की भी कमी नहीं है, जिनमें यह समानता नहीं रहती, उदाहरण के लिए—

भारोपीय* 'Penqe'—अंग्रेजी 'Eive' (रूप बिल्कुल भिन्न है)
फ्रेंच 'Larme'— " 'Tear' (" " ")
अंग्रेजी 'फ्री' (Free)—संस्कृत 'पशु' (अर्थ और रूप दोनों भिन्न हैं)
संस्कृत 'उपाध्याय'—'ओझा' (" " ")

यहाँ एक पंक्ति में दिये गये शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक हैं, पर ऊपर से अलग-अलग हैं और कुछ में तो अर्थ की दृष्टि से भी कोई समानता नहीं है।

शब्दों की व्युत्पत्ति देने में बहुत-सी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, जिनमें प्रधान ये हैं—

(१) जिस शब्द की व्युत्पत्ति देनी हो, उसके जीवन का पता लगाकर और उस पर कालक्रमानुसार विचार करके उसके प्रयलतम रूप, अर्थ एवं प्रयोग का निश्चय कर लेना चाहिए। जिस शब्द के सम्बन्ध में ये बातें निश्चित हो जाएँ, उसकी व्युत्पत्ति देने में भटकने का भय प्रायः नहीं रह जाता।

*जिस प्रकार नाटे व्यक्ति बहुत दिनों तक परिवर्तित नहीं होते और दूसरी ओर लम्बे व्यक्ति शीघ्र परिवर्तित हो (वृद्ध हो) जाते हैं, उसी प्रकार छोटे शब्दों में भी परिवर्तन कम होता है, और लम्बे जल्द परिवर्तित हो जाते हैं।

(२) दो भाषाओं में एक ध्वनि तथा एक अर्थ के शब्द पाकर बिना और छान-बीन किये दोनों को सम्बद्ध नहीं मानना चाहिए। उदाहरण के लिए भोजपुरी का 'नीयर', 'नियर' या 'नियरा' (=नजदीक) और अंग्रेजी का 'नीअर' (near) =नजदीक, शब्दों को लें। दोनों में ध्वनि तथा अर्थ का साम्य है, पर यथार्थतः भोजपुरी का 'नियर' या 'नियरा' संस्कृत शब्द 'निकट' से निकला है और अंग्रेजी का 'नीअर' पुरानी नार्स के 'नेर' से; और इस प्रकार दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ इस प्रकार का साम्य मिले, उस भाषा या बोली की जननी भाषा में, उस शब्द के समानार्थी शब्दों तथा उस शब्द की प्राप्त जीवनी को लेकर विचार करना चाहिए।

(३) दो शब्दों को सम्बद्ध सिद्ध करने में या किसी पुराने शब्द से किसी बाद के शब्द को व्युत्पन्न सिद्ध करने में ध्वनि या रूप के अतिरिक्त अर्थ पर भी विचार करना चाहिए, और यदि कोई अर्थ-परिवर्तन दिखाई पड़े तो भूगोल, इतिहास तथा सामाजिक नियमों एवं रूढ़ियों के प्रकाश में उस परिवर्तन का कारण समझ लेना चाहिए।

(४) किसी भी ध्वनि का न तो यों ही लोप होता है और न तो कोई अतिरिक्त ध्वनि यों ही किसी शब्द में जुड़ जाती है। अकारण अनुनासिकता भी इसका अपवाद नहीं। इस प्रकार के परिवर्तन में मुखसुख, सादृश्य, किसी और शब्द का साथ में जुड़ना तथा स्वराघात (बलात्मक तथा संगीतात्मक) आदि काम करते हैं। इन दृष्टियों से भी दो शब्दों (यदि उनके रूप अभिन्न न हों) को सम्बद्ध सिद्ध करने में विचार आवश्यक है। इस प्रकार की समस्याओं पर विचार करने में ध्वनि-नियमों का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

(५) भाषा के विकास के साथ शब्द उच्चारण की दृष्टि से सरल तथा लम्बाई में प्रायः छोटे* होते जाते हैं। एक शब्द के दो रूपों में प्राचीन तथा अर्वाचीन रूप पहचानने के लिए इस सिद्धांत को सामान्यतः अपनाया जा सकता है। यों इसके अपवाद भी मिल सकते हैं।

(६) यदि किसी अन्य भाषा से किसी शब्द के उधार लिये जाने की संभावना हो तो ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से उस पर विचार अपेक्षित है। दो भाषा-भाषियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्पर्क होने पर ही, एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में पहुँचते हैं।

(७) किसी भी भाषा के शब्द प्रमुखतः तीन प्रकार के हो सकते हैं, जिनके सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है। किसी शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित करने में इन सबका ध्यान आवश्यक है। सम्भव है देखने में कोई शब्द विदेशी ज्ञात हो, पर यथार्थतः वह अपनी प्राचीन भाषा से विकसित हुआ हो, और उसी जननी भाषा से अतीत में कभी विदेशी भाषा में चला गया हो। या दूसरी ओर कोई शब्द जननी भाषा से विकसित हुआ ज्ञात हो, पर यथार्थतः वह जननी भाषा से विदेशी भाषा में गया हो और फिर विदेशी भाषा से ही वह आधुनिक काल में लिया गया हो। इस दूसरी अवस्था में वह शब्द विदेशी कहा जायगा, यद्यपि उसका मूल देशी है। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी शब्द

शेम्पू लें । पढ़ी-लिखी औरतों में यह एक प्रचलित शब्द है। प्रसाधन-सामग्री में इसका प्रमुख स्थान है। इसे प्रायः लोग अंग्रेजी का समझते हैं, पर यथार्थतः यह हिन्दी शब्द 'चाँपना' से ही अंग्रेजी में लिया गया है। इस प्रकार मूलतः 'शैंपू' हिन्दी शब्द है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से मूलतः हिन्दी 'चाँपना' से विकसित होते हुए भी 'शैंपू' अंग्रेजी में लिया गया माना जायेगा।

(८) दो भाषाओं के दो शब्द यदि अर्थ एवं ध्वनि की दृष्टि से समान या समीप ज्ञात हों तथा अन्य सारी बातों का विचार करने पर भी उनके सम्बन्ध में कोई निर्णय न हो सके तो देखना चाहिये कि वे दोनों भाषाएँ कहीं एक परिवार की तो नहीं हैं, और यदि हैं तो उनमें पाये जाने वाले मिलते-जुलते शब्द उन दोनों की आदि जननी मूलभाषा के तो नहीं हैं। संस्कृत पितृ, अंग्रेजी फ़ादर, या फ़ारसी हफ़्त, संस्कृत सप्त ऐसे ही शब्द हैं। इस प्रकार के शब्दों में यदि मूल भाषा के किसी एक शब्द से विकसित होने की सम्भावना का ध्यान न रक्खा जाय तो प्रायः इस निर्णय पर पहुँचने का भय रहता है। वह शब्द उन दोनों भाषाओं में किसी से दूसरे में लिया गया है।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध व्युत्पत्तिशास्त्रियों में नेपाली डिक्शनरी के सुयोग्य सम्पादक टर्नर के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध व्युत्पत्तिकार स्कीट, यूल और बर्नेल आदि के नाम लिये जा सकते हैं। भारतवर्ष के इस क्षेत्र में कार्य करने वालों में मुनि रत्नचन्द्र जी महाराज (अर्धमागधी), हरगोविन्द दास विक्रमचन्द्र सेठ (प्राकृत), ज्ञानेन्द्र मोहन दास (बँगला), गोपालचन्द्र (उड़िया), कृष्णाजी पांडुरंग कुलकर्णी (मराठी), हरिवल्लभ भायाणी (गुजराती) तथा वासुदेव शरण अग्रवाल (हिन्दी) आदि प्रधान हैं।

व्युत्पत्तिशास्त्र के आधार पर किसी भाषा के समस्त शब्दों की सम्पूर्ण जीवनी देकर उस भाषा का बहुत सुन्दर कोश बनाया जा सकता है, जिससे भाषा के अतिरिक्त समाजविज्ञान तथा विज्ञान-सम्बन्धी कितनी ही समस्याओं पर प्रकाश पड़ सकता है। कार्य के कठिन होने के कारण अभी तक इस दिशा में उल्लेख्य प्रयास नहीं हुए हैं, पर आशा है कि निकट भविष्य में विद्वान् इधर अवश्य ध्यान देंगे।

तीन व्युत्पत्तियाँ

(१) सं० घोटक>प्रा० घोडअ>हि० घोड़ा। यहाँ 'घो' तो ज्यों का त्यों है। 'ट' दो स्वरों के बीच में था, अतः घोषीकरण हो गया 'ड'। हिन्दी में उसी का विकास 'ड़' हो गया है। अंत का 'अक' (>अग>अग़>अअ>आ) विकसित होते-होते 'आ' हो गया।

(२) सं० हस्ती>प्रा० हत्थी> हि० हाथी। यहाँ 'ह' ज्यों का त्यों है। 'स' जो 'ह' में परिवर्तित हो जाता है, के मिलने से 'त' का 'थ' हो गया। मात्रा में कमी न होने देने के लिए 'थ' का 'थ्थ' हुआ, किन्तु दो महाप्राण साथ-साथ उच्चरित नहीं हो सकते। अतः, 'थ्थ' का 'त्थ' हो गया। प्राकृत में यही 'हत्थी' है।

हिन्दी में सामान्यतः तद्भव शब्दों में एक व्यंजन की प्रवृत्ति है, अतः 'स्थ' का 'थ' रह गया और शब्द की मात्रा की दृष्टि से इस क्षति की पूर्ति के लिए 'ह' के 'अ' का 'आ' हो गया। इस प्रकार 'हाथी' हो गया।

(३) सं० उष्ट्र>प्रा० उट्ट>हि० ऊँट। 'ष्ट्र' में उच्चारण की दृष्टि से ष्, र् निर्बल हैं तथा 'ट' सबल है, अतः 'ट' ने ष् और र् को समीकृत कर लिया, अतः 'ष्ट्र' का हो गया 'ट्ट' और प्राकृत में हो गया 'उट्ट'। हिन्दी में एक व्यंजन की प्रवृत्ति के कारण जब 'ट्ट' का 'ट' हो गया, तो मात्रा की दृष्टि से क्षतिपूर्ति के रूप में 'उ' का 'ऊ' हो गया, साथ ही स्वतः-अनुनासिकता भी आ गयी। इस प्रकार, 'उष्ट्र' का 'ऊँट' हो गया।

नामविज्ञान

शब्दविज्ञान की यह महत्त्वपूर्ण शाखा है, जिसमें स्त्री-पुरुष, स्थान, नगर, देश, नदी आदि के नामों का व्युत्पत्ति की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। (विस्तार के लिए देखिए लेखक की पुस्तक 'शब्दों का अध्ययन' का 'नामविज्ञान' शीर्षक अध्याय।)

१०| प्रकरणार्थ-विज्ञान (Pragmatics)

भाषा का आधार वाक्य है। वाक्य की संरचना से जो अर्थ निकलता है, वह उसका मूलार्थ होता है। इसी को भारतीय काव्यशास्त्र में अभिधार्थ या वाच्यार्थ कहते हैं। जैसे 'घोड़ा दौड़ रहा है' का वाच्यार्थ घोड़े के दौड़ने से संबद्ध है। इसी पर आधारित किन्तु इससे रूढ़ि अथवा किसी प्रयोजन से जो अलग अर्थ निकलता है, वह लक्ष्यार्थ (Extended meaning) है। जैसे 'राम शेर है' का अर्थ है 'राम बहादुर है' या 'मोहन गीदड़ है' का अर्थ है 'मोहन कायर/डरपोक है'। कभी-कभी वाक्य का एक तीसरा अर्थ भी निकलता है जो इन दोनों से भिन्न होता है। ऐसा तब होता है जब वक्ता विशेष *प्रकरण/संदर्भ में कोई वाक्य बोलकर श्रोता तक कोई ऐसा अर्थ पहुँचाना चाहता है जो* अभिधार्थ तथा लक्ष्यार्थ से अलग हो। उदाहरण के लिए राम और मोहन को चार बजे ट्रेन पकड़नी है। राम मोहन से उसके घर पहुँचकर साढ़े तीन बजे कहता है, 'अरे भाई, साढ़े तीन बज गए।' इस संदर्भ में इसका अर्थ यह हुआ कि 'जल्दी चलो नहीं तो ट्रेन छूट जाएगी'। इस अर्थ को किसी अन्य अच्छे नाम के अभाव में 'प्रकरणार्थ' अथवा 'संदर्मार्थ' कहा जा सकता है। संस्कृत में 'प्रकरण' शब्द के कई अर्थ हैं जिनमें 'विषय', 'प्रसंग', 'अवसर', 'मौका', आदि भी हैं। कहना न होगा कि प्रकरणार्थ इन्हीं बातों पर निर्भर करता है, इसीलिए इस नाम का प्रयोग मुझे इस अर्थ के लिए उपयुक्त लग रहा है। नीचे के आरेख के रूप में प्रकरणार्थ, अर्थ और वाक्य की स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है :
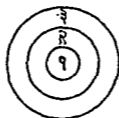
3—प्रकरणार्थ
2—अर्थ
1—वाक्य

अर्थ वाक्य पर आधारित होता है और प्रकरणार्थ के लिए वाक्य; उसका अर्थ और प्रकरण तीनों का विचार करना पड़ता है। 'वाक्य', 'अर्थ' और 'प्रकरणार्थ' को एक अन्य प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है। भाषा प्रतीकों की व्यवस्था होती है। उसकी दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'वाक्य' प्रतीकों के आपसी संबंधों पर निर्भर करता है, तो 'अर्थ' वस्तु और उसके प्रतीक के संबंध पर आद्धृत होता है तथा 'प्रकरणार्थ' संदर्भ, वक्ता और श्रोता से प्रतीकों के संबंध पर निर्भर करता है। वस्तुतः यहाँ 'वक्ता' (उत्तम पुरुष), 'श्रोता' (मध्यम पुरुष), 'अन्य कोई संबद्ध व्यक्ति' (अन्य पुरुष) तथा इनसे बनने वाले 'संदर्भ', इन सभी को अपने में समाविष्ट करने वाले शब्द के रूप में 'प्रकरण' का प्रयोग किया जा रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा के प्रसंग में 'प्रकरण' के अंतर्गत ये चारों ही आ सकते हैं। दूसरे शब्दों में पूरा प्रकरण इन चारों या तीनों (यदि कोई अन्य पुरुष कथ्य से संबद्ध नहीं है) के योग से ही बनता है।

प्रकरणार्थ के कुछ अन्य उदाहरण हैं : श्याम घर में रखी मिठाई खाना चाहता है। उसने माँ से मिठाई माँगी। माँ ने कहा कि पिताजी के आने के बाद उसे मिठाई मिलेगी। अंत में पिताजी आते हैं। थोड़ी देर रुककर श्याम माँ से कहता है, 'माँ, पिता जी आ गए'; इसका अर्थ हुआ 'माँ, अब मिठाई दे दो।' ऐसे ही 'वह तो जा चुका' का सामान्य अर्थ है 'वह गया', किन्तु प्रकरणार्थ हो सकता है 'वह नहीं जाएगा' या 'मैं क्यों जाऊँ?' का सामान्य अर्थ है 'मैं किसलिए जाऊँ', किन्तु प्रकरणार्थ हो सकता है 'मैं नहीं जाऊँगा'। हिन्दी में इस प्रकार के अनेकानेक निषेधबोधक वाक्य अपनी संरचना में अनिषेधबोधक होते हैं।

पेशाबघर के अभाव में लोग प्रायः ऐसे स्थानों पर पेशाब करने लग जाते हैं जो पेशाब के लिए उपयुक्त नहीं होता। उस स्थान के मालिक प्रायः इससे परेशान होकर वहाँ लिख देते हैं, 'यहाँ पेशाब गधे करते हैं' या 'देखो, गधा पेशाब कर रहा है'। इस सूचनापरक वाक्य का प्रकरणार्थ 'आज्ञार्थ' है · 'यहाँ पेशाब मत करो।' ऐसे ही सूचना-सूचक (मोहन मर गया!) तथा प्रश्नसूचक (क्या मोहन मर गया!) वाक्यों से आश्चर्य तथा प्रश्नसूचक (तुम बैठ क्यों नहीं जाते तुम बैठ जाओ) वाक्यों से 'आज्ञा' या सामान्य वाक्यों से (राम गया ?=राम गया क्या ?) से प्रश्न आदि का द्योतन भी प्रकरणार्थ ही है।

सब मिलाकर प्रकरणार्थ भारतीय काव्यशास्त्र की व्यंजना तो है ही, उससे शायद कुछ अधिक भी है।

प्रकरणार्थ से यह द्योतित होता है कि भाषा अपने अर्थद्योतन में काफ़ी लचीली होती है और इस दृष्टि से भाषा की संरचना ही सब कुछ नहीं है, प्रकरण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता।

११|भाषाविज्ञान की कुछ अन्य शाखाएँ

इस अध्याय के पूर्व भाषाविज्ञान की वाक्य, रूप, ध्वनि, अर्थ तथा शब्द से संबद्ध शाखाओं पर विचार किया गया है, तथा आगे 'लिपि' तथा 'इतिहास' को लिया गया है। यहाँ कुछ अन्य साखाओं को संक्षेप में देखा जा रहा है—

(क) भाषा-भूगोल (Linguistic Geography)

अर्थ और अध्ययन-विस्तार—भौगोलिक विस्तार में स्थानीय विशेषताओं की दृष्टि से किसी क्षेत्र की भाषा का अध्ययन ही 'भाषा-भूगोल' या 'क्षेत्रीय भाषाविज्ञान' (areal linguistics) है। दूसरे शब्दों में, किसी क्षेत्र में, बोली जाने वाली भाषाओं, भाषा या बोलियों आदि में ध्वनि, सुर, शब्द-समूह, रूप, वाक्य-गठन तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से कहाँ-कहाँ, क्या-क्या अन्तर या विशेषताएँ हैं, इनका अध्ययन ही भाषा-भूगोल में किया जाता है। इस प्रकार, भाषा-भूगोल में पहले किसी क्षेत्र के अनेक स्थानों की भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन किया जाता है और फिर उन विभिन्न स्थानों की भाषा-विषयक विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निश्चय किया जाता है कि कितने स्थानों की भाषा लगभग एक-सी है, और स्थानीय अन्तर प्रायः नहीं के बराबर हैं, तथा किस-किस स्थान से भाषा में अन्तर आने लगा है और वह अन्तर कहाँ थोड़ा है और कहाँ अधिक। साथ ही कहाँ से भाषा में इतना परिवर्तन आरम्भ हो गया है कि एक क्षेत्र का व्यक्ति दूसरे क्षेत्र की भाषा को समझ न सके। इन बातों का निर्धारण हो जाने पर, यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि उस क्षेत्र में 'इतनी' भाषाएँ हैं, और उनके क्षेत्र अमुक स्थान तक हैं। साथ ही, प्रत्येक भाषा के अंतर्गत आने वाली बोलियों और प्रत्येक बोली के अन्तर्गत आने वाली उपबोलियों एवं उनके क्षेत्रों (तथा एक-दूसरे से अलग करने वाली प्रमुख विशेषताओं), आदि का भी निर्धारण किया जाता है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की भाषा, जिसे 'व्यक्ति-भाषा' या 'व्यक्ति-बोली' (idiolect) कहते हैं, दूसरे से भिन्न होती है; और यहाँ तक कि एक व्यक्ति की भाषा भी हर क्षण बदलती रहती है। किसी व्यक्ति की भाषा का विभिन्न दृष्टियों से जो स्वरूप किसी दिन दो बजकर पाँच मिनट पर होगा, ठीक वही रूप दो बजकर छः मिनट पर नहीं हो सकता, क्योंकि वह व्यक्ति भी ठीक वही नहीं है, जो दो बजकर पाँच मिनट पर था। किन्तु, व्यावहारिक दृष्टि से इतनी सूक्ष्मता में नहीं जाया जा सकता। इसीलिए, सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि किसी क्षेत्र की व्यक्ति-भाषाओं (idiolects)) में यदि कोई स्पष्ट भेद नहीं है तो उस क्षेत्र की भाषा

को 'उपबोली' कह सकते हैं। ऐसी कई उपबोलियों (जिनमें आपस में थोड़ा ही अन्तर है) से मिलकर बने क्षेत्र की भाषा को 'बोली' कह सकते हैं। ऐसी कई बोलियों (जिनमें आपस में अन्तर तो बहुत स्पष्ट है, किन्तु उनमें बाह्य और आंतरिक दृष्टि से आपसी साम्य कम से कम इतना है कि किसी एक के बोलने वाले को दूसरी बोली का बोलने वाला सरलता से समझ सके) से मिलकर बने क्षेत्र की भाषा को 'भाषा' कहते हैं। दो (या अधिक) ऐसे क्षेत्र की भाषाएँ, जिनके व्यक्ति एक-दूसरे' को सरलता से न समझ सकें, एक भाषा के अन्तर्गत नहीं माने जायेंगे और वे सभी अलग-अलग भाषाएँ मानी जायेंगी।

बोलियों का निर्धारण हो जाने पर उनके क्षेत्र में ध्वनि, रूप, शब्द आदि सभी दृष्टियों से सर्वेक्षण किया जाता है और इस प्रकार अलग-अलग बोलियों के अलग-अलग व्याकरण तथा कोश बनाये जाते हैं। उपबोलियों के अन्तरों का भी विवरण प्रस्तुत किया जाता है, और आवश्यकतानुसार बोली-क्षेत्रों के अलग-अलग नक्शे भी बनाये जाते हैं, जिनमें भाषा-सम्बन्धी विशेषताओं को स्पष्ट करने वाली रेखाएँ (देखिए आगे) खींची जाती हैं। बोलियों के इस प्रकार के सर्वाङ्गीण—ऐतिहासिक और तुलनात्मक—अध्ययन को बोलीविज्ञान (dialectology) कहते हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से बोलियों के बनने एवं उनके भाषा बन जाने के कारण आदि का भी इससे विवेचन किया जा सकता है। बोली के इस सम्बन्ध में स्पष्टतः दो भाग हैं : एक भाग तो भौगोलिक है, और दूसरा अन्य प्रकार का। भौगोलिक भाग में बोलियों के भौगोलिक विस्तार एवं स्थानीय अन्तरों आदि का अध्ययन तथा नक्शे बनाना आदि आता है। बोली-भूगोल (dialect geography) में बोली का यह भौगोलिक अध्ययन ही तत्त्वतः आता है, यों आजकल इसका प्रयोग बोली के पूरे अध्ययन, यहाँ तक कि तुलनात्मक और ऐतिहासिक के लिए भी होने लगा है, और इस प्रकार उसे बोलीविज्ञान के बहुत निकट ला दिया गया है। भाषा-भूगोल में बोली-भूगोल पूर्णतः आ जाता है। भाषा-भूगोल में दो भाषाओं की सीमारेखा निर्धारित करना, या किसी असर्वेक्षित क्षेत्र में सर्वेक्षण के सहारे विभिन्न भाषाओं का पता लगाना तो आता ही है, साथ ही किसी एक भाषा के पूरे क्षेत्र का सर्वेक्षण कर उनकी स्थानीय विशेषताओं का अध्ययन भी आता है, और यही अध्ययन बोली-भूगोल भी है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, एक में भाषा पर बल है, तो दूसरे में बोली पर, यों बोली भाषा का अंग है।

इस प्रसंग में '**शब्द-भूगोल**' (word geography) का भी उल्लेख किया जा सकता है। किसी क्षेत्र में एक शब्द के एक से अधिक रूपों का अलग-अलग स्थानों में प्रचलन, तथा एक भाव के लिए एक से अधिक शब्दों या एक से अधिक भावों के लिए एक शब्द का विभिन्न स्थानों में प्रयोग आदि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। यह भाषा-भूगोल या बोली-भूगोल की एक शाखा है। ध्वनि-भूगोल (phono-geography) रूप-भूगोल (morpho-geography) आदि रूपों में इस प्रकार की और भी शाखाएँ-प्रशाखाएँ बनायी जा सकती हैं।

इतिहास—भाषा-भूगोल के अध्ययन की परम्परा १९वीं सदी के प्रथम चरण तक जाती है। इस क्षेत्र में प्रथम उल्लेखनीय नाम श्मेलर का है। इन्होंने १८२१ के कुछ पूर्व एक बवेरियन उपबोली का अध्ययन करके उसका व्याकरण तैयार किया था। १८७३ में स्कीट ने 'इंगलिश डायलेक्टॉलोजी सोसायटी' की स्थापना की, और बाद में एटलस बनाने का भी प्रयास किया गया। इसके ३ वर्ष बाद १८७६ में जर्मन विद्वान् जार्ज वेंकर ने राइन में स्थानीय बोलियों का सर्वेक्षण किया। बाद में, पूरे जर्मनी को अपने सर्वेक्षण का क्षेत्र बनाया और सरकारी सहायता से स्कूल के शिक्षकों के सहारे ४० वाक्यों को ४०,००० से अधिक स्थानीय बोलियों में रूपांतरित कराया। यह अध्ययन बहुत विस्तृत तो था, किन्तु भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों से अपरिचित लोगों ने काम किया था, अतएव इसके परिणाम बहुत विश्वसनीय नहीं थे। बाद में, रीड द्वारा संपादित होकर, इनके आधार पर नक्शे छपे। वेंकर के अध्ययन पर आधारित सिद्धान्तों पर १९०८ में यावर्ग ने विचार किया। १८९५ में फिशर ने अपना 'स्वाबिया का एटलस' छपाया। भाषा-भूगोल के क्षेत्र में गिलेरो और एडमंट का फ्रांस में किया गया सर्वेक्षण-कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एडमंट ध्वनिविज्ञान आदि से पूर्ण परिचित था और उसने अकेले लगभग २०० शब्दों और वाक्यांशों के आधार पर ६०० से कुछ अधिक स्थानों का अध्ययन किया। जर्मन-अध्ययन की तुलना में यहाँ स्थान तो बहुत कम लिये गये थे, किन्तु एडमंट अपेक्षित शिक्षण-प्राप्त था, अतः उसकी सामग्री अपेक्षाकृत बहुत प्रामाणिक थी। गिलेरो ने इसी आधार पर फ्रांस का एटलस (१८९६ से १९०८) प्रकाशित किया। ये नक्शे अब भी भाषा-भूगोल के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व रखते हैं। एलिस ने अंग्रेजी बोलियों के ध्वनि-पक्ष पर कार्य किया, और राइट ने अंग्रेजी बोलियों की ध्वनियों का कोश और व्याकरण (१८९६ से १९०५) प्रकाशित किया। १८९८ में हाग ने दक्षिणी स्वाबिया के एक जिले का पर्यवेक्षण किया, और भाषा-भूगोल के अध्ययन के सिद्धान्तों का विवेचन किया। १८९८ से १९४० तक वेनिक तथा क्रिस्टेन्सन ने डेनमार्क में काम किया और उसे प्रकाशित भी किया। वेगैन्ड का रूमानिया में किया गया कार्य १९०९ में प्रकाश में आया। इटली में यावर्ग और युद ने कार्य किया और उनका एटलस (१९२८ से १९४० तक) प्रकाशित हुआ। यह कार्य भी महत्त्वपूर्ण है। रुवस द्वारा ब्रिटैनी में किया गया कार्य १९२४ में, और कोयके द्वारा नीदरलैण्ड और बेल्जियम में किया गया कार्य १९२७ में प्रकाशित हुआ। कोयके का अध्ययन केवल दो शब्दों के स्वर-फ़ोनीमों तक सीमित था। इधर कनाडा तथा अमेरिका में कार्य हुआ है, जिसमें कुरेथ का न्यू इंगलैंड का एटलस (१९३९-४३), हैंडबुक तथा शब्द-भूगोल आदि प्रकाशन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

भारत में ग्रियर्सन ने सर्वे का कार्य किया था, जो अपनी कमियों के बावजूद बहुत महत्त्व रखता है। इसका प्रकाशन २०वीं सदी के प्रथम चरण में हुआ। इधर डॉ० विश्वनाथ प्रसाद की देखरेख में बिहार के कुछ पूर्वी भाग का सर्वेक्षण हुआ है। पंजाब

के भाषा-विभाग की ओर से भी कुछ कार्य हो रहा है। विभिन्न बोलियों-उपबोलियों पर इधर जो प्रबन्ध लिखे गए हैं, उनके लिये सर्वेक्षण हुआ है।

भाषा-भूगोल के क्षेत्र में काम करने वालों में कुछ और उल्लेख्य नाम पॉप, वॉच, वीनरीच, गैमिलशेग, दउजा, ग्राइरा, ब्लॉक तथा ब्लैंक्वार्ट आदि के हैं।

पद्धति—जिस भौगोलिक क्षेत्र में भाषा का अध्ययन करना हो, उसमें पहले घूम-फिर कर मोटे ढंग से उसकी भाषा-स्थिति का पता लगा लेते हैं, और इस आधार पर प्रारम्भिक रूप में उसे अध्ययन की सुविधा के लिए खण्डों में भी बाँट लेते हैं। साथ ही, वहाँ की स्थिति और अपने अध्ययन से आवश्यकतानुसार शब्दों या वाक्यों आदि की सूची तैयार करते हैं। सूची कैसे बनायें तथा उसके सम्बन्ध में लोगों से सूचना कैसे प्राप्त करें, इसका अध्ययन 'सर्वेक्षण-पद्धति' (दे० अगला अध्याय) के अंतर्गत आता है। भाषा का अध्ययन ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य, अर्थ तथा मुहावरे आदि दृष्टियों से किया जाता है। सूची के आधार पर फिर पूरे क्षेत्र में सामग्री एकत्र करते हैं। इसके लिए कभी-कभी यह भी किया जाता है कि क्षेत्र में उन स्थलों का निश्चय कर लिया जाता है, जहाँ से सामग्री लेनी हो। अच्छा तो यह होता है कि हर ५-५ या १०-१० मील के बाद से सामग्री लें, किन्तु यदि इतने अधिक स्थलों से लेना सम्भव न हो, तो उन स्थलों से लेना चाहिये, जहाँ स्पष्टत: कुछ अन्तर हो। सामग्री एकत्र करने पर उस क्षेत्र के नक्शे में उसे विषयानुसार भरा जाता है। मान लें कि उस क्षेत्र में उत्तरी भाग में 'आ' अधिक विवृत है और दक्षिण में अर्द्धसंवृत है, तो बीच में एक रेखा खींचेंगे। वह रेखा ऐसे स्थलों से होकर जायेगी, जिसके उत्तर में 'आ' विवृत हो और दक्षिण में संवृत हो। इस प्रकार की रेखाएँ सामान्य रूप से **'आइसोग्लास'** कहलाती हैं; यद्यपि इन्हें **'ध्वनि-रेखा'** या **'आइसोफोन'** कहना अधिक उपयुक्त है। इसी प्रकार, ध्वनि के अन्तरों की रेखाएँ बना ली जायेंगी। हर विशेषता के लिए अलग-अलग नक्शे का प्रयोग अधिक अच्छा होता है। रूप, वाक्य, शब्द तथा अर्थ की दृष्टि से भी इसी प्रकार के नक्शे बनाये जा सकते हैं। सबके तैयार होने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि पूरे क्षेत्र में भाषा-सम्बन्धी विशेषताएँ क्या हैं? क्षेत्र की बोलियों में विभाजन के लिए इन नक्शों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो जायगा कि प्राय: सभी रेखाएँ (ध्वनि-रेखा, रूप-रेखा, वाक्य-रेखा अर्थ-रेखा तथा शब्द-रेखा) अलग-अलग हैं, पर साथ ही यह भी स्पष्ट हो जायगा कि कुछ स्थलों पर कुछ रेखाएं एक-दूसरे के अधिक समीप हैं, या कभी-कभी एक में मिल भी जाती हैं। जहाँ भाषा का अन्तर दिखाने वाली ये दो या अधिक रेखाएँ एक-दूसरे पर हों, या समीप हों, उसी को दो बोलियों की सीमारेखा मानते हैं, क्योंकि इसी के आसपास से अन्तर आरम्भ होते हैं, किन्तु दो बोलियों के बीच रेखा या स्पष्ट सीमा जैसी कोई चीज नहीं होती। प्राय: दो के बीच एक ऐसी पतली पेटी रहती है, जिसमें दोनों बोलियों की विशेषतएँ रहती है। शब्दों का स्थान दिखाने के लिए बिन्दु या तारक से भी काम लेते हैं

उपर्युक्त अध्ययन प्रमुखतः नक्शे की दृष्टि से था। इस प्रकार, बोलियों के क्षेत्र का निर्धारण हो जाने पर उनके क्षेत्र से अधिक सूक्ष्मता से सामग्री एकत्र कर उनका व्याकरण, कोश आदि बनाया जा सकता है, या उपबोलियों या उनके भी स्थानीय भेदों के क्षेत्र का निर्धारण हो सकता है।

कहना न होगा कि यह अध्ययन वर्णनात्मक तथा तुलनात्मक है। तुलना भौगोलिक रूपों की है। इनका ऐतिहासिक अध्ययन भी हो सकता है और साथ ही इस अध्ययन से ऐतिहासिक परिणाम भी निकाले जा सकते हैं और प्राचीन इतिहास का पुनर्निर्माण भी किया जा सकता है, किन्तु यहाँ उस विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं है।

(ख) सर्वेक्षण-पद्धति (Field-Method)

यदि हमें किसी ऐसी भाषा का विश्लेषण करना हो, जिसकी सामग्री लिखित रूप में हमें प्राप्त नहीं है, और वह भाषा किसी क्षेत्र में प्रयुक्त हो रही है, तो उस क्षेत्र में जाकर, उसके प्रयोक्ताओं से सुनकर, अपेक्षित सामग्री संकलित करने की पद्धति को क्षेत्र-पद्धति या सर्वेक्षण-पद्धति कहते हैं। यह सामग्री-संकलन भी प्रायः दो प्रकार से होता है : (१) स्वयं उस क्षेत्र में जाकर, (२) उस भाषा को मातृभाषा के रूप में बोलने वाले, अर्थात् मातृभाषाभाषी (native speaker) को अपने यहाँ बुलाकर। इन दोनों में प्रथम अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है, क्योंकि उस क्षेत्र में उस भाषा का अपना वातावरण बना रहता है, अतः सहज रूप में संबद्ध और अपेक्षित सारी सामग्री प्राप्त करना संभव होता है। क्षेत्र के बाहर बुलाने में निम्नांकित कारणों से ठीक और अपेक्षित पूरी सामग्री नहीं मिल पाती—(क) उक्त भाषा का वहाँ का मूल वातावरण नहीं रहता, जिसमें भाषा बोली जाती है। इसके कारण, कुछ असहजता आ जाती है। (ख) बाहर जाने से नये वातावरण के भी कुछ प्रभाव की संभावना होती है जो चाहे बहुत थोड़े रूप में ही सही, सूचक को प्रभावित कर सकता है। (ग) सूचक के घर या उस गाँव में जाकर उससे बात करने पर वह अधिक सहज रूप में उत्तर देता है, किन्तु यदि उसे कहीं बाहर बुलाया जाय तो अपनी भाषा के प्रति उसके अधिक सतर्क हो जाने की संभावना होती है, जिसका परिणाम यह होता है कि ऐसे शब्द, रूप या प्रयोग जिन्हें वह शिष्ट या परिनिष्ठित नहीं समझता, प्रायः छोड़ जाता है। इसके विपरीत, उसके अपने वातावरण में सहज रूप से बात करने का यदि यत्न किया जाये तो ऐसी सामग्री के छूटने की अपेक्षाकृत कम संभावना रहती है। (घ) उस गाँव में होने पर किसी शब्द, रूप, प्रयोग आदि में संदेह होने पर दूसरों से बात करके सही रूपादि प्राप्त किये जा सकते हैं, किन्तु उस क्षेत्र के बाहर ऐसी सुविधा नहीं होती। (ङ) क्षेत्र में हाथ से इशारा करके भी अनेक वस्तुओं, सम्बन्धों, क्रियाओं के नाम आदि पूछे जा सकते हैं, किन्तु क्षेत्र के बाहर यह आवश्यक नहीं है कि क्षेत्र में उपलब्ध सभी वस्तुएँ आदि हों ही। इस तरह सामग्री के छूट जाने का भय रहता है।

सूचक से सामग्री प्राप्त करने के लिए उसके संपर्क में आना पड़ता है। इस प्रसंग

में आने की स्थिति दो प्रकार की हो सकती है। कभी तो ऐसा होता है कि सूचक केवल अपनी भाषा जानता है, उसे किसी ऐसी दूसरी भाषा की जानकारी नहीं होती जो सामग्री संकलित करने वाले या सर्वेक्षक को ज्ञात हो, और कभी-कभी इसके विपरीत वह ऐसी कोई एक (या अनेक) भाषा जानता है, और वह भाषा (या भाषाएँ) उन दोनों के बीच विचार-विनिमय के माध्यम का कार्य करती है (हैं)। पहली स्थिति में उन दोनों के बीच केवल वही भाषा होती है, जिसकी सामग्री लेनी है। अतः इस रूप में सामग्री-संकलन की पद्धति को एकभाषिक (monolingual) पद्धति कहते हैं, तथा दूसरी को **द्वैभाषिक** (bilingual) **पद्धति**, क्योंकि उस स्थिति में उन दोनों के बीच एक और भाषा भी आ जाती है। दूसरी में यदि एक से अधिक भाषाओं को माध्यम बनाया जाय तो उसे **बहुभाषिक पद्धति** कह सकते हैं। यों एकभाषिक पद्धति के सादृश्य पर दूसरी को **अनेकभाषिक पद्धति** भी कहा जा सकता है, जिसमें द्वैभाषिक और बहुभाषिक दोनों ही पद्धतियाँ आ जाती हैं। आगे की बातें मुख्यतः एकभाषिक पद्धति को ध्यान में रखकर कही गई हैं। द्वैभाषिक या बहुभाषिक पद्धति से सामग्री-संकलन अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है। उसके लिए जिस भाषा को विचार-विनिमय का माध्यम बनाना होता है, उसमें प्रश्नावली तैयार करते हैं। प्रश्नावली बनाते समय मुख्यतः केवल इस बात का ध्यान रखते हैं कि वह इतनी व्यापक हो कि उसके उत्तरस्वरूप, उक्त भाषा के विश्लेषण-विवेचन के लिए अपेक्षित सारी सामग्री (ध्वनि, लिंग, वचन, कारक, सर्वनाम, संख्यावाचक विशेषण, क्रिया, अव्यय एवं वाक्यादि विषयक) प्राप्त हो जाय। सर्वेक्षण-पद्धति के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें उल्लेख्य हैं—

सूचक (Informant)—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूचक उस व्यक्ति को कहते हैं, जिससे सूचना (भाषा-विषयक सामग्री) प्राप्त की जाय। सूचक के चयन आदि के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से ये बातें ध्यान में रखने की हैं : (१) सामान्यतया १७-१८ वर्ष से कम का सूचक बहुत काम का नहीं होता, क्योंकि उसका भाषाज्ञान अपेक्षित गहराई का नहीं होता। यों मेरा अनुभव तो यह रहा है कि ३०-३५ वर्ष के आसपास का सूचक बहुत अच्छा होता है, क्योंकि वह अपनी भाषा की सूक्ष्मताओं से अधिक परिचित होता है। चालीस से ऊपर के सूचकों में साधारणतया अपेक्षित चुस्ती नहीं होती। (२) कभी-कभी एक ही स्थान की भाषा, उच्च वर्ग, निम्न वर्ग, उच्च जाति, निम्न जाति, हिन्दू-मुसलमान, विशेष प्रकार के अलग-अलग पेशे, आदि दृष्टियों से एकाधिक प्रकार की होती है। यह अन्तर शब्द-समूह के अतिरिक्त, कभी-कभी, यद्यपि सीमित रूप में, ध्वनि एवं व्याकरण के स्तर पर भी (बिजनौर में हिन्दू—आय है, मुसलमान—आवे है, खड़ीबोली के ही कुछ अन्य क्षेत्रों में आता है) होता है। सूचक-चयन के समय इसका विचार भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में कई सूचकों (कुछ पुरुषों तथा कुछ स्त्रियों) से सामग्री लेना अच्छा रहता है। (३) एक स्थान से दो-तीन सूचक लिए जाने चाहिएँ, किन्तु सभी से अलग-अलग (दूसरे की उपस्थिति में नहीं) सामग्री नोट करनी चाहिए। जो बातें सभी में समान हों, वे

निश्चित रूप से ठीक हैं, किन्तु जिनमें अन्तर है, आवश्यक नहीं कि सर्वदा गलत ही हों। उम्र, व्यवसाय, कुल-परम्परा, शिक्षा आदि कारणों से अन्तर पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में उन्हीं सूचकों से फिर सुनकर, या अन्य सूचकों से पता लगा कर शुद्धि-अशुद्धि या बोलीगत अन्तर आदि का निर्णय किया जा सकता है। (४) स्त्री-पुरुष में पुरुष सूचक अपेक्षाकृत अधिक अच्छे होते हैं, क्योंकि अधिक सामाजिक जीवन बिताने के कारण, उनका भाषा-विषयक अनुभव भी अधिक होता है। किन्तु, इसके साथ ही, यह भी उल्लेख्य है कि पुरुष सूचकों पर बाह्य प्रभाव की अधिक संभावना रहती है। स्त्री सूचक अपेक्षाकृत अधिक अप्रभावित एवं ठेठ भाषा का प्रयोग करती हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई कठिनाई न हो तो एक पुरुष और एक स्त्री, दो सूचकों से सामग्री ली जानी चाहिए। (५) पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में शब्दों, रूपों, मुहावरों आदि के स्तर पर कभी-कभी अन्तर भी मिलते हैं। उर्दू में 'मुहावराते निस्वाँ' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। हास (M. R. Haas) ने अपने एक लेख (Men's and Women's Speech in Koasafil, Language, 20, 1944) में इस प्रकार के अन्तर का अच्छा विवरण दिया है। इसीलिए अपनी आवश्यकतानुसार केवल पुरुष से, केवल स्त्री से, या दोनों से सामग्री ली जा सकती है। (६) कभी-कभी कुछ पिछड़े वर्गों या जातियों में स्त्रियाँ दूसरों से नहीं मिलतीं-जुलतीं। ऐसे स्थानों पर केवल पुरुष सूचक से काम चलाया जा सकता है। (७) शब्दों, रूपों एवं प्रयोगों आदि के स्तर पर कम आयु, अधिक आयु और बहुत अधिक आयु के लोगों में अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के पुराने लोग 'चिड़िया' का बहुवचन 'चिड़ियें' भी प्रयुक्त करते है, किन्तु नयी पीढ़ी 'चिड़ियाँ' का ही प्रयोग करती हैं। इसी प्रकार, अनेक पुराने लोग 'आये,गाये' के स्थान पर 'आवे,गावे' जैसे रूपों को व्यवहृत करते हैं। शब्दों के स्तर पर भी इस प्रकार के अन्तर मिलते हैं। हिन्दी में ही सुशिक्षितों की पुरानी पीढ़ी 'आश्चर्य' और 'मूर्ख' का प्रयोग करती है, किन्तु नयी पीढ़ी 'अचरज' और 'मूरख' (सात युगोस्लाव कहानियाँ—प्रभाकर माचवे १९६६; इसमें एकाधिक बार 'मूर्ख' के स्थान पर 'मूरख' प्रयुक्त हुआ है) को भी परिनिष्ठित हिन्दी का अंग मानती है। सामान्यतः नयी पीढ़ी के लोगों को धर्म, अंधविश्वास आदि विषयक शब्दों या वर्जित शब्दों (टैबू) के सम्बन्ध में पुरानी पीढ़ी की तुलना में कम जानकारी होती है। अलग-अलग क्षेत्रों में इससे मिलते-जुलते अन्य प्रकार के भी अन्तर मिल सकते हैं। यदि इस प्रकार के अन्तरों को ज्ञात करना भी हमारा लक्ष्य हो, तो सूचक तदनुकूल चुने जा सकते हैं। (८) सूचक कई पीढ़ियों से यदि उसी क्षेत्र में रह रहा हो, तो अधिक अच्छा हैं, क्योंकि बाहर से आने वालों की भाषा में किसी न किसी स्तर पर, किसी और भाषा या बोली के प्रभाव की पूरी संभावना रहती है। इस प्रकार, उससे उस भाषा या बोली का प्रकृत रूप नहीं मिल पाता। (९) सूचक कई पीढ़ियों से वहाँ रह रहा हो, किन्तु यदि वह अपने जीवन-काल में अधिक दिनों तक कहीं बाहर रहा हो, तो भी उसकी भाषा में बाह्य तत्त्वों के आ जाने की संभावना रहती है, अतः अच्छा हो कि ऐसे व्यक्ति को सूचक बनाया जाय जो अधिक दिनों के लिए कहीं बाहर न गया

हो। (१०) सामग्री के साथ सूचक का नाम, उसकी आयु, स्थान, परिवार की स्थिति, मूल, प्रवास, पेशा आदि विषयक संक्षिप्त इतिहास, तथा उच्चारण-अवयव-विषयक विशेषता (जैसे दाँत बाहर निकले या नीचे का जबड़ा भीतर को धँसा आदि) लिख लेनी चाहिए। सामग्री-विश्लेषण में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। एक बार एक सूचक से मैं सामग्री नोट कर रहा था। वह सभी स्थितियों में दंतोष्ठ्य 'व' का ही प्रयोग कर रहा था, अतः मैंने मान लिया कि उस बोली में केवल दंतोष्ठ्य 'व' है, किन्तु बाद में औरों से तुलना करने पर पता चला कि और लोग द्वयोष्ठ्य का भी प्रयोग करते हैं। जब दूबारा मैंने उस सूचक से मुलाकात की और उसका उच्चारण समझने की कोशिश की तो पता चला कि उसका नीचे का जबड़ा कुछ भीतर को धँसा होने के कारण, उसके लिए द्वयोष्ठ्य 'व' का उच्चारण संभव नहीं था। इसी प्रकार, बड़े दाँत वाले पवर्ग का उच्चारण भी दंतोष्ठ्य करते हैं। एक व्यक्ति मुझे ऐसा भी मिला जो जीभ कुछ छोटी होने के कारण प्रायः सभी जिह्वोच्चरित ध्वनियों को सामान्य से कुछ पीछे से उच्चरित करता था। इस प्रकार की और भी असामान्यताएँ मिलती हैं, जिनका उच्चारण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। सूचक के चयन में भी इन बातों का ध्यान रखना चाहिए और भरसक सभी दृष्टियों से सामान्य आदमियों को लेना चाहिए। (११) समझदार आदमी अधिक अच्छा सूचक बन सकता है, क्योंकि वह सर्वेक्षक की आवश्यकता को जल्दी समझ सकेगा। (१२) अल्पभाषी, लज्जालु, एकांतप्रिय या बहुत गंभीर व्यक्ति प्रायः अच्छे सूचक नहीं बन पाते। इसके विपरीत, बातूनी, हँसमुख, न झेंपने वाला व्यक्ति सूचक के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त होता है। (१३) सूचक ऐसा होना चाहिए जो सहज रूप में बोले। बहुत से लोग सतर्क होकर बनावटी रूप में बोलने लगते हैं। इस बात का पता चलते ही, या तो उसे छोड़ देना चाहिए, या फिर उसके द्वारा बताई गयी बातों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का किसी अन्य अच्छे सूचक की सहायता से पता लगा लेना चाहिए। (१४) सभी दृष्टियों से विचार करने पर अन्य लोगों की तुलना में किसान अपने क्षेत्र की भाषा को प्रायः अधिक प्रकृत रूप में जानता तथा बोलता है, अतः मजदूर या अन्य नौकरीपेशा व्यक्ति की तुलना में वह प्रायः अधिक अच्छा सूचक हो सकता है। (१५) ऐसा व्यक्ति जो कोई ऐसी भी भाषा जानता हो जिसका ज्ञान सर्वेक्षक को हो, ऐसी भाषा न जानने वाले की तुलना में, सूचक का काम अधिक अच्छा तरह कर सकेगा। उससे बड़ी सरलता से और कम समय में अपेक्षित सारी सूचनाएँ ली जा सकती हैं। (१६) यदि कई पढ़े-लिखे सूचक उपलब्ध हों तो भाषाविज्ञान का जानकार सूचक अपेक्षाकृत अधिक अच्छा हो सकता है।

सर्वेक्षक—सर्वेक्षक स्वभाव, योग्यता तथा प्रशिक्षण आदि की दृष्टि से कैसा हो, इस संबंध में ये बातें ध्यान में रखने की हैं : (१) सर्वेक्षक को यथाशीघ्र अपरिचित को परिचित एवं परिचित को मित्र बना लेनेवाला, मिलनसार, विनम्र, व्यवहार-कुशल, हँसमुख, धैर्यवान्, अपना काम सहज ढंग से निकालने वाला, जिज्ञासु, सूचक से एक

शिष्य की तरह भाषा सीखने तथा उसके संबंध में जानकारी प्राप्त करने को इच्छुक, बातचीत में पटु, चुस्त और सावधान होना चाहिए : (२) उसकी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी होनी चाहिए। इससे तुलना, विश्लेषण आदि में वह अपेक्षाकृत अधिक सफल हो सकता है। (३) जिस क्षेत्र से सर्वेक्षक को सामग्री संकलित करनी हो, उसके भूगोल, इतिहास, संस्कृति और सभ्यता, रहन-सहन, लोग, जाति, उद्योग-धंधे आदि का यथा-साध्य उसे समुचित ज्ञान होना चाहिए। इससे उसे अपनी प्रश्नावली बनाने, लोगों से निकट सम्पर्क स्थापित करने, अच्छे सूचक चुनने और अंततः वहाँ की भाषा का समुचित अध्ययन एवं विश्लेषण करने में सहायता मिलेगी। (४) उसकी श्रवण-शक्ति बहुत अच्छी होनी चाहिए, ताकि उच्चारण-स्थान, प्रयत्न, प्राणत्व, अनुनासिकता, मर्मरता, मात्राकाल, सुर, सुर-लहर, बलाघात, संगम आदि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतर को अत्यंत शीघ्रता से और ठीक-ठीक पकड़ सके। इसके लिए, सहज श्रवण-शक्ति के अतिरक्त, ध्वनिविज्ञान का सैद्धांतिक ज्ञान, तथा उस ज्ञान के प्रयोग का उसे जितना ही अधिक अभ्यास होगा, वह उतनी ही कुशलता और सफलता से अपना काम कर सकेगा। (५) भाषाविज्ञान—सामग्री-सकलन एवं सामग्री-विश्लेषण—में सैद्धांतिक और व्यावहारिक, दोनों ही दृष्टियों से अच्छी गति, सर्वेक्षक के लिए बड़ी सहायक होती है। (६) सर्वेक्षक को क़ाफी तेज लिखने का अभ्यास होना चाहिए, ताकि वह सूचक की बोलने की सहज गति को कम किये बिना अपेक्षित सामग्री नोट कर सके। (७) ध्वन्यात्मक लिपि का न केवल अच्छा ज्ञान, बल्कि तेजी से उसमें लिखने का अभ्यास भी होना चाहिए।

प्रश्नावली—कहानी, गीत, चुटकुला, आदि के लिए तो किसी प्रश्नावली की अपेक्षा नहीं होती, किंतु शब्द, रूप, वाक्य आदि जानने के लिए सर्वेक्षक को प्रश्नावली बना लेनी चाहिए। प्रश्नावली बना लेने से एक तो सरलता एवं सहजता से सूचक अपेक्षित सूचनाएँ देता चलता है, दूसरे आवश्यक सूचनाओं के छूटने का भय नहीं रहता। यों ऐसी कोई भी प्रश्नावली नहीं बनायी जा सकती जो अपने मूल रूप में बिना किसी परिवर्तन के सभी क्षेत्रों में भाषा-सर्वेक्षण के काम आ सके, क्योंकि हर भाषा या बोली की अपनी सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि भिन्न होती है। इसीलिए, अच्छा यह होता है कि क्षेत्र के लोगों, जातियों, धर्म, रहन-सहन एवं उद्योग-धंधे आदि से परिचय प्राप्त करके ही सर्वेक्षक प्रश्नावली तैयार करे। फिर भी, मोटे रूप से इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें बतायी जा सकती हैं : (१) प्रश्नावली में स्थूल या मूर्त्त वस्तुओं या क्रियाओं से सम्बन्धित प्रश्न पहले आने चाहिएँ तथा सूक्ष्म या अमूर्त्त से सम्बन्धित बाद में। (२) व्याकरणिक दृष्टि से संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा वाक्य-क्रम से सामग्री प्राप्त करने की दृष्टि से प्रश्नावली बनानी चाहिए। (३) वाक्य के बाद कहानी, चुटकुले, गीत जैसी चीजें पूछकर नोट की जा सकती हैं। भाषा के बारे में अच्छी जानकारी हो जाने पर स्वतंत्रतः भी इन्हें पूछकर मालूम किया जा सकता है। प्रश्नावली बनाते समय क्षेत्र की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अग्रलिखित आधारों से सहायता ली जा सकती है—

(अ) **संज्ञा—(क) शरीर के अंग**—सिर, पैर, हाथ, अँगूठा, उँगली, नाखून, बाल, आँख, नाक, मुँह, कान, गाल, दाँत, जीभ, होंठ, भौं, गर्दन, छाती, पीठ, पेट, कमर, जाँघ, घुटना, पिंडली, हड्डी, रक्त, मांस, दिल, जिगर, फेफड़ा जैसी चीजों के नाम बाद में पूछे जा सकते हैं। **(ख) संबंधियों के नाम**—बाप, माँ, भाई, भाभी, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, बहन, जीजा, दादा, दादी, ताऊ, ताई, चाचा, चाची, नाना, नानी, मामा, मामी, मौसा, मौसी, फूफा, बूआ, साला, साली, सास, ससुर, पोता, पोती, नाती, नतिनी, पतोहू। **(ग) घरेलू चीजों के नाम**—चारपाई, बिछौना, रजाई, तकिया, चादर, लोटा, गिलास, थाली, कटोरी, पतीला, पतीली, कड़ाही, तवा, चमचा, अँगीठी, चूल्हा। **(घ) अन्न तथा खानपान**—गेहूँ, धान, जौ, मटर, चना, बाजरा, उड़द, चावल, दाल, आटा, खाना, पानी, मिठाई, रोटी, पराठा, सब्जी, आलू, बैंगन, गोभी, पालक, आम, सेब, अमरूद, केला, अंगूर, संतरा, नींबू, अनन्नास, नाशपाती, अखरोट, बादाम, किशमिश, काजू आदि। **(ङ) जीव-जन्तुओं के नाम**—गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, कुत्ता, बिल्ली, बंदर, घोड़ा, हाथी, शेर, चीता, हिरन, गीदड़, ऊँट, मछली, चूहा, साँप, मेढक, तोता, कोयल, मुर्गी, बत्तख, मक्खी, मच्छर आदि। **(च) फूलों के नाम**—गुलाब, चमेली, गेंदा, चम्पा, रातरानी, बेला आदि। **(छ) भौगोलिक नाम आदि**—नदी-नाला, समुद्र, पर्वत-घाटी, जमीन, आसमान, सूर्य, चाँद, तारे, बादल। **(ज) कपड़े आदि**—धोती, कुर्ता, टोपी, तौलिया, अँगौछा, रूमाल, कोट, पाजामा, बनियाइन, जूता, मोजा, कमीज, स्वेटर आदि। **(झ) पढ़ने-लिखने की चीजों के नाम**—किताब, कागज, कलम, स्याही, पत्र, पत्रिका, अखबार आदि।

(आ) सर्वनाम—यदि एकभाषिक पद्धति से पूछना हो तो सर्वनामों में प्रारंभ में मेरा घर, उसका घर, तुम्हारा घर जैसे प्रयोगों से संबंध कारक के रूप मालूम किये जा सकते हैं तथा अन्य रूपों (मैं, हम, तुम, वह, यह, मुझे, उन्हें आदि) को बाद में जानने का यत्न किया जा सकता है। हाँ, द्वैभाषिक या बहुभाषिक पद्धति से यदि सामग्री एकत्र की जा रही हो तो मूल रूप (मैं, तुम, हम, वह, यह आदि) एवं सम्बन्ध के रूप, दोनों ही नोट किये जा सकते हैं। अन्य रूप (उन्हें, मुझे, जिसे, आदि) बाद में वाक्यों के विश्लेषण के बाद खोजे जाने चाहियें। उसके पूर्व इनको जानने का यत्न अनावश्यक रूप से बहुत समय तो लेता ही है, स्पष्टतः पता चलना भी कठिन हो जाता है।

(इ) विशेषण—सबसे पहले संख्यावाचक विशेषण। इनमें भी पूर्ण तथा कम पहले, और अपूर्ण आदि बाद में। पूर्ण में भी दस तक पहले तथा अन्य बाद में। रंग आदि विषयक विशेषणों को छोड़कर अन्य विशेषण वाक्य के माध्यम से अधिक अच्छी तरह जाने जा सकते हैं। ये बातें एकभाषिक पद्धति की दृष्टि से कही जा रही हैं। द्वैभाषिक आदि में इनका ध्यान रखना आवश्यक नहीं है।

(ई) वाक्य—लिंग, वचन, कारक, शेष सर्वनाम, शेष विशेषण, अव्यय, क्रिया, आदि की जानकारी फुटकर उदाहरणों से अपेक्षित पूर्णता के साथ नहीं [illegible]

सकती। वाक्य के स्तर पर ही इन्हें पाया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसे प्रश्न बनाये जाने चाहिएँ कि उत्तर में प्राप्त वाक्यों से पूरी भाषा के सम्बन्ध में इन विषयों से संबद्ध तथ्य जाने जा सकें।

प्रश्नावली के लिए कुछ संकेत—संज्ञा के लिए: वस्तु या जानवर आदि की ओर संकेत करते हुए 'यह क्या है?', व्यक्ति की ओर संकेत करते हुए 'यह कौन है?' या 'यह तुम्हारा कौन है?' सर्वनाम के सम्बन्ध में कारकीय रूपों के लिए: वस्तु की ओर संकेत करते हुए 'यह किसका (की) है?' संख्याओं के लिए: कई वस्तुओं को एक स्थान पर रखकर 'ये कितने हैं?' क्रिया के लिंग: स्वयं चलते या कूदते हुए 'मैं क्या कर रहा हूँ?' या दूसरे को कुछ करते हुए देखकर, संकेत करते हुए 'वह क्या कर रहा है?' इत्यादि।

कहानी, गीत, चुटकुले आदि का संकलन——वाक्यों के बाद इनका संकलन करना चाहिए। इनके विश्लेषण द्वारा सूक्ष्म संज्ञाएँ (आत्मा, दया, श्रद्धा आदि), सूक्ष्म विशेषण (बुद्धू, चालाक, संतोषी आदि), प्रत्यय, उपसर्ग, समास, संधि, मुहावरे तथा लोकोक्तियों आदि का पता लगाया जा सकता है तथा ऊपर जिनका उल्लेख किया जा चुका है, उनसे संबद्ध जानकारी की प्रामाणिकता की परीक्षा की जा सकती है। असल में इस प्रकार के पाठों (texts) में ही भाषा अपने सहज और पूरे रूप में हमारे सामने आती है। इसी कारण, इसके आधार पर अपने अनेक पूर्ववर्ती निर्णय हमें बदलने भी पड़ते हैं। यों इस संबंध में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि कहानी तथा गीत आदि की भाषा कभी-कभी प्रचलित सहज भाषा से कई बातों में थोड़ी भिन्न तथा पुरानी होती है। उदाहरण के लिए, अनेक भोजपुरी क्षेत्रों की बोलचाल की भाषा में मुझे 'पहिती' ('सगपहिता' अपवाद है), 'लुचुई', 'सगौती' शब्द नहीं मिले, किन्तु गीतों में इनका प्रयोग खूब मिलता है। गीतों में छंद की आवश्यकतानुसार तोड़-मरोड़ की प्रवृत्ति भी असामान्य नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि कहानी, गीत, आदि के आधार पर भाषा के स्वरूप-निर्धारण में इन दृष्टियों से पर्याप्त सतर्कता आवश्यक है।

बातचीत की रिकार्डिङ्ग—दो या अधिक सूचकों की बातचीत की टेप-रिकार्डर से रिकार्डिङ्ग करके, उसे फिर सुनकर उसका विश्लेषण करना भी उस भाषा या बोली विषयक सामग्री की प्राप्ति का अच्छा साधन है। सच पूछा जाय तो दो या अधिक सूचकों की आपसी बातचीत में ही भाषा का सर्वाधिक प्रकृत रूप मिल सकता है।

सामग्री-लेखन—इस संबंध में मुख्यतः निम्नांकित बातें ध्यान में रखने की हैं: (१) विश्लेषण के समय कभी-कभी यह जानना आवश्यक हो जाता है कि कौन-सी सामग्री कब ली गयी थी। अतः, जिन चिटों पर सामग्री नोट करें, उन पर उस दिन की तिथि भी अंकित होनी चाहिए। पहले से तिथि अंकित करने में बची चिटों पर तिथि काटनी पड़ती है, अतः प्रतिदिन नोट करने के बाद तिथि अंकित करना अधिक अच्छा रहता है। (२) यदि चिटों पर कोई संशोधन करना हो तो ऐसे काटकर लिखना

चाहिए कि पूर्वलिखित सामग्री भी पढ़ी जा सके। कभी-कभी संशोधनपूर्व सामग्री को जानना भी आवश्यक हो जाता है। (३) सामग्री कितने बड़े कागज पर नोट करें, यह प्रश्न भी विचारणीय है। नाइडा ने बड़े कागज पर सामग्री नोट करने की राय दी है, जिस पर काफी लिखा जा सके। मेरे विचार में शब्द, रूप, वाक्य आदि छोटी-छोटी चिटों पर नोट करना अच्छा है, ताकि फिर से सामग्री उतारनी न पड़े और ध्वनिग्रामिक, रूपग्रामिक तथा वाक्य-विश्लेषण में चिटों को आवश्यकतानुसार विभिन्न वर्गों में रखा जा सके। हाँ, कहानी, गीत आदि बड़े कागज पर नोट किए जा सकते हैं। (४) कागज के एक तरफ लिखना चाहिए। दोनों तरफ लिखने में तुलना करते समय बहुत समय लग जाता है तथा विश्लेषण में भी कठिनाई पड़ती है। (५) छिपाकर नहीं लिखना चाहिए। इससे सूचक को सर्वेक्षक के उद्देश्य पर संदेह हो सकता है। (६) हर शब्द को कम से कम दो बार सुनकर लिखना अधिक अच्छा होता है। लिखने के बाद तुरन्त एक बार दुहरा भी लेना चाहिए, ताकि लेखन में यदि कोई त्रुटि हो तो उसे ठीक किया जा सके। प्रस्तुत लेखक ने रूस में ताजुब्बेकी भाषा का सर्वेक्षण करते समय यह अनुभव किया कि उसी समय लेखन की गलती यदि नहीं पकड़ी गयी और उसे ठीक नहीं किया गया, तो बाद में ऐसा करना कई कारणों (उस सूचक का न मिलना, अन्य लोगों का उच्चारण कुछ भिन्न होना आदि) से प्रायः असंभव हो जाता है। (७) जो शब्द जैसे सुनाई पड़े, वैसे ही लिखना चाहिए। किसी स्तर पर बलात् एकरूपता लाने का यत्न नहीं किया जाना चाहिए। अनुसंधाता में ऐसी ईमानदारी बड़ी ही आवश्यक है। (८) सामग्री ध्वनिग्रामिक लिपि में न लिखी जाकर ध्वन्यात्मक लिपि में लिखी जानी चाहिए। साथ ही, अपेक्षित उपचिह्नों की सहायता से विवृतता, संवृतता, अग्रता, मध्यता, पश्चता, प्रयत्न, स्थान, प्राणत्व, अनुनासिकता, मर्मरता, मात्रा, सुर, सुर-लहर, बलाघात, सगम आदि विषयक असामान्यताओं को भी नोट कर लेना चाहिए। (९) सूचक से सामग्री नोट करने के लिए अच्छी किस्म की पेंसिल ठीक रहती है। एक तो इससे अपेक्षाकृत अधिक तेजी एवं सरलता से लिखा जा सकता है, दूसरे कागज के भीगने पर अपठ्य होने का भय नहीं रहता, और तीसरे स्याही साथ रखने की परेशानी से भी छुटकारा मिल जाता है। (१०) टेप-रिकार्डर से टेप करके, बाद में अकेले बैठ कर भी सामग्री लिखी जा सकती है।

अर्थ—सामग्री लिखने के साथ-साथ उसका अर्थ भी लिखते चलना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त बातें ध्यान में रखी जा सकती हैं : (१) स्थूल वस्तुओं के सुनिश्चित अर्थ (जैसे रोटी, चारपाई, मकान आदि) तो सरलता से लिखे जा सकते हैं। (२) जिन शब्दों के लिए अपनी भाषा में शब्द न मिलें, उनकी व्याख्या लिखी जा सकती है। (३) बहुत-सी वस्तुओं के ऐसे भी नाम मिल सकते हैं, जिनके लिए अपनी भाषा में शब्द नहीं हैं, और उनकी ठीक व्याख्या लिखना भी जल्दी में कठिन होता है। ऐसी स्थिति में उनके रेखाचित्र या संकेत से काम चलाया जा सकता है। (४) अर्थ की दृष्टि से अस्पष्ट शब्दों के अर्थ उनके प्रयोग से पकड़ने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि सूचक

के लिए सभी शब्दों का अर्थ समझाना—विशेषत: ठीक अर्थ समझाना—सर्वदा संभव नहीं होता।

सर्वेक्षक के लिए अन्य सुझाव—ऊपर, सर्वेक्षक 'कैसा हो', इस सम्बन्ध में कुछ बातें कही गयी हैं। यहाँ कुछ वे बातें दी जा रही हैं, जिनका उसे सर्वेक्षण करते समय ध्यान रखना चाहिए : (१) यदि सूचक की अभिवादन-पद्धति से सर्वेक्षक परिचित है, या मिलते ही देखकर परिचित हो जाता है, तो उसे उसी पद्धति में तुरंत अभिवादन करना चाहिए। प्रारम्भ में बिना विशेष परिचय के अपनी पद्धति से अभिवादन करना उचित नहीं होता, क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि सर्वेक्षक की पद्धति से सूचक परिचित न हो, और पहली भेंट में ही उसकी यह हरकत सूचक के लिए एक रहस्य बन जाय, या यह भी हो सकता है कि उस प्रकार की क्रिया (जैसे हाथ उठाना) उसकी अपनी संस्कृति में कुछ भिन्न अर्थ रखती हो, या खराब अर्थ रखती हो। विशेषत: किसी भी देश के बहुत पिछड़े आदिवासियों में जाते समय तो इस बात का ध्यान नितांत आवश्यक है। (२) सूचक से मुस्कराते हुए मिलना चाहिए। यों विभिन्न स्थितियों में मुस्कराहट व्यंग्य या मजाक उड़ाने की भी द्योतिका होती है; किन्तु प्रथम मिलन या मिलते समय की सहज मुस्कान, प्राय: सभी संस्कृतियों में इसी बात का द्योतन करती है कि मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। विशेषत: एकभाषिक पद्धति में तो यह मुस्कान और भी आवश्यक हो जाती है, क्योंकि सर्वेक्षक ऐसी स्थिति में नहीं होता कि बोलकर अपने भावों को सूचक तक पहुँचा सके। (३) मिलते ही चुप न रहकर किसी न किसी भाषा में (चाहे उसे सूचक भले न समझता हो) बात करनी शुरू कर देनी चाहिए। सूचक पर इसकी सहज प्रतिक्रिया यही होगी कि सर्वेक्षक बात करना चाहता है। (४) यदि सूचक की सभ्यता में प्रचलित विनम्रता एवं शिष्टता के ढंगों से सर्वेक्षक परिचित हो, या परिचित हो जाय तो उसे उसी के अनुरूप व्यवहार करना चाहिए। इससे सूचक को अपनी ओर आकर्षित करने एवं उससे उपेक्षित सहयोग प्राप्त करने में मदद मिलती है। (५) क्षेत्र में कुछ उपहार (जैसे मिठाई आदि) लेकर जाना प्राय: अच्छा साबित होता है। यदि सर्वेक्षक को इस बात का पता हो कि सूचक के क्षेत्र में कैसा उपहार विशेष पसन्द किया जायगा तो वही लेकर जाना चाहिए। उदयपुर में एक बार मैं कुछ नटों से वहाँ की भाषा-सम्बन्धी कुछ सामग्री नोट करने गया। एक बुड्ढे ने बात शुरू करते ही अपनी भाषा में अपने साथियों से कुछ संकेत किया, और परिणाम यह हुआ कि स्पष्टत: कुछ विरोध न करके भी वे कुछ विशेष बतलाने को तैयार न हुए। शाम को मैं बीड़ी के दस बंडल लेकर वहाँ गया। उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे अपेक्षित सारी बातें बतलायीं और अंत में यह भी बतलाया कि प्राय: बुड्ढा कह रहा था कि 'ये साले हमसे पूछताछ कर अपना पैसा बनाते हैं, और हमें कुछ नहीं देते।' (६) सूचक से मैत्रीपूर्ण भंगिमा से स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। (७) सर्वेक्षक कुछ सीखने के लिए सूचक के पास जाता है। उसे सच्चे अर्थों में अपने को शिष्य समझना चाहिए। (८) सूचक की हर परम्परा, बात एवं व्यवहार आदि के प्रति सर्वेक्षक को सहज प्रशंसात्मक दृष्टिकोण

अपनाना चाहिए तथा ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि सूचक को भी दृष्टिकोण का पता चल जाय। (९) यदि सूचक से कोई गलती हो जाय तो ऐसा रुख अपनाना चाहिए या ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे उसे ग्लानि, संकोच आदि न हो, और उसे लगे कि सर्वेक्षक यह कहना चाहता है कि कोई बात नहीं, ऐसी गलतियाँ तो हो ही जाती हैं। या ऐसी गलती देखकर भी नजरंदाज कर देना चाहिए, ताकि सूचक को लगे कि सर्वेक्षक ने देखा नहीं, या ध्यान ही नहीं दिया, ताकि उसमें लज्जा, संकोच आदि के भाव न आएँ। (१०) सूचक के साथ जब भी सर्वेक्षक रहे, उसे प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। (११) यदि किसी प्रकार यह पता चल जाय कि किसी कारण सूचक कुछ दुःखी है तो ऐसी स्थिति में उस समय उससे सामग्री नोट करने का प्रयास न कर, फिर कभी उसके लिए जाना चाहिए। यदि किसी प्रकार सम्भव हो तो ऐसी स्थिति में सहानुभूति के भाव व्यक्त करना उसे अपने समीप लाने में बहुत सहायक होता है। (१२) सूचक यदि कोई बात अशुद्ध भी बतलाये तो न तो उसे टोकना चाहिए और न उससे विवाद करना चाहिए। यदि किसी बात के अशुद्ध होने का संदेह हो तो बिना उसे बताए, उससे फिर एक बार घूमा-फिरा कर किसी अन्य प्रसंग में वही बात पूछ लेनी चाहिए। यदि फिर भी गलती का सन्देह हो तो बाद में दूसरे सूचक से पूछना चाहिए। (१३) यदि अपने से कोई गलती या अभद्रता हो जाय तो सर्वेक्षक को क्षमा-प्रार्थी होना चाहिए। नाइडा ने अपनी भूलों पर तुरन्त हँसने की सलाह दी है। मेरे विचार में कुछ स्थितियों में तो यह ठीक हो सकता है, किन्तु सभी स्थितियों में भूल करके हँसने से गलतफहमी हो सकती है। (१४) सूचक के शब्द या वाक्य दुहराने में यदि सर्वेक्षक से कोई अशुद्धि हो जाय और इस पर सूचक या अन्य लोग हँसें तो इसका बुरा न मान, ठीक रूप से उच्चरित करने का प्रयास करना चाहिए, और उन लोगों के साथ अधिक से अधिक बातचीत करनी चाहिए। (१५) सर्वेक्षक को सूचक या उस भाषा के भाषियों के संपर्क में अधिक रहना चाहिए, ताकि उन लोगों को आपस में बात करते सुना जा सके। (१६) सूचक से सुने गये कुछ शब्द या वाक्य यथावसर सूचक के सामने प्रयुक्त किये जायँ तो सूचक आगे और भी तत्परता से बतलाता है, क्योंकि उसे विश्वास हो जाता है कि उसकी भाषा के सम्बन्ध में जानकारी एकत्र करने वाला व्यक्ति बतायी गयी चीजें परिश्रम से याद कर रहा है। (१७) सूचक के साथ लगातार बहुत देर तक काम करना ठीक नहीं होता। ऐसा न हो कि वह ऊब कर बतलाने में रुचि लेना छोड़ दे। नाइडा (मारफालॉजी, पृ० १९१) ने ४५ मिनट को सामान्यतः ठीक समय माना है। मेरे विचार में ऐसा कोई नियम बनाना कदाचित् बहुत व्यावहारिक नहीं। मिथिला के एक सूचक के साथ मैथिली के संबंध में कार्य करते समय मैंने देखा कि डेढ़-दो घंटे के पूर्व वह स्वयं मुझे छोड़ने को तैयार न होता था। दूसरी ओर बिजनौर के एक व्यक्ति के साथ कौरवी पर काम करते हुए मैंने पाया कि २०-२५ मिनट बाद ही वह ऊब जाता था। वस्तुतः समय का निर्धारण सूचक की प्रकृति (कम बोलने वाला या बातूनी), उसके पास कितना समय है, उसकी उम्र (मेरा अनुभव

यह रहा है कि अधेड़ या कुछ बूढ़े देर तक बिना ऊबे बतलाते रहते हैं, और १८-२० वर्ष की उम्र वाले सबसे जल्दी ऊब जाते हैं) तथा उसके स्वास्थ्य आदि के आधार पर भाषा-सर्वेक्षक स्वयं कर सकता है। (१८) सूचक से एक ही बात बार-बार दुहराने को नहीं कहना चाहिए। इससे वह ऊब सकता है। यदि दो-तीन बार के बाद भी उसी को दुहराने की आवश्यकता है तो ऐसा बाद में किसी और प्रसंग में करना अधिक उचित होगा। (१९) 'ऐसा क्यों' या इस प्रकार के अन्य प्रश्न पूछना उचित नहीं। यदि सूचक जानता है तो बतला देगा, और यदि नहीं जानता है तो यह सोचकर कि उसे अपनी भाषा के बारे में नहीं मालूम है, झेंप सकता है, और आगे सर्वेक्षक की सहायता करने से कतरा सकता है। सूचक ऐसी स्थिति में यह सोच कर भी हीन भावना का अनुभव करता है कि सर्वेक्षक उसके बारे में क्या सोचेगा कि उसे अपनी भाषा के बारे में, इतनी-सी बात भी नहीं मालूम है। (२०) नाइडा ने लिखा है कि एक बार कोई सर्वेक्षक अँगुली से इशारा करके विभिन्न वस्तुओं के नाम पूछता रहा, और सूचक हर बार एक ही उत्तर देता रहा। हुआ यह कि हर बार सूचक यह समझता था कि सर्वेक्षक अँगुली का नाम पूछ रहा है और वह वही बतलाता रहा। इस प्रकार, जब एक ही उत्तर बार-बार मिले तो ऐसी गलतफहमी का अनुमान लगा लेना चाहिए, और इससे बचने के लिए वस्तु को छुआ जा सकता है या और तरीके अपनाए जा सकते हैं। (२१) नाम जानने के लिए सूचक को वस्तुओं को देखने में, अपनी वस्तुओं को दिखाना बहुत सहायक होता है। इसका आशय यह भी हुआ कि सर्वेक्षक भी अपने साथ कुछ वस्तुएँ ले जाय, और अच्छा हो कि वह पहले अपनी वस्तुएँ दिखाए। (२२) अपनी वस्तुएं दिखाते समय सर्वेक्षक को सतर्कता के साथ सूचक के शब्दों को सुनना चाहिए। निश्चित रूप से 'यह क्या है' या 'इसका क्या नाम है' या 'यह किस काम आता है' का समानार्थी कोई शब्द या वाक्य प्रयुक्त करेगा। इस प्रकार के प्रश्नों के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों को जान लेने पर उनकी वस्तुओं के नाम-काम आदि पूछने में सर्वेक्षक को आसानी रहेगी। (२०) इस संबंध में एक यह बात भी ध्यान देने की है कि यदि सूचक से सुनकर उसी रूप में प्रश्न किया जाय और सूचक एक शब्द न कहकर एक या कई वाक्य कहे, या देर तक बोलता रहे, तो इसका आशय यह समझना चाहिए कि उस प्रश्न का अर्थ 'इसका क्या नाम है' न होकर 'यह किस काम आता है' है। (२४) अपनी वस्तुएँ दिखाते समय उनके नाम तथा काम आदि के बारे में कहते चलो, यद्यपि यह निश्चित है कि सूचक कुछ नहीं समझेगा। इससे लाभ यह होगा कि अपनी वस्तुएँ दिखाते समय वह भी उनके बारे में कुछ कहना चाहेगा, जिससे उसकी भाषा को सुनने और कुछ प्रारम्भिक बातों को पकड़ने का अवसर मिलेगा। (२५) सूचक की संस्कृति एवं उसके अंधविश्वास आदि को ध्यान में रखते हुए उन वस्तुओं के नाम प्रायः नहीं पूछने चाहिएँ, जिन्हें बताने में सूचक को किसी भी कारण संकोच हो। उदाहरण के लिए, अनेक पिछड़ी जातियों के आदिवासी अपना नाम, रात में साँप-बिच्छू के नाम तथा शैतान-भूत आदि तथाकथित अमांगलिक शक्तियों आदि

के नाम लेना नहीं चाहते । आदिम जातियों में कुछ शब्द टैबू होते हैं । यदि उनकी जानकारी हो तो उन्हें भी नहीं पूछना चाहिए । (२५) सूचक की चीजें देखते समय उन चीजों के बारे में उसके न समझने के बावजूद कुछ कहते और पूछते चलो, जिससे वह स्पष्ट समझ जाय कि उन वस्तुओं के बारे में सर्वेक्षक जानना-सुनना चाहता है । इसका परिणाम यह होगा कि वह हर वस्तु को दिखाने के समय उसके नाम-काम के बारे में कुछ कहता चलेगा, जिससे अनेक वस्तुओं के नाम जानने तथा सूचक की भाषा समझने-सीखने में मदद मिलेगी । (२७) अनुसंधाता को सूचक की वस्तुओं के प्रति प्रशंसात्मक भाव व्यक्त करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि लोभ या उस वस्तु को लेने के भाव की गंध न आने पाये । (२८) सूचक की सभी वस्तुओं के संबंध में सर्वेक्षक को सहज जिज्ञासा का भाव प्रदर्शित करना चाहिये । (२९) ऊपर 'यह क्या है' का समानार्थी शब्द या वाक्य जानने के लिए कहा जा चुका है । वस्तुतः सर्वेक्षक के लिए सूचक की भाषा के तीन वाक्य जानने बहुत आवश्यक हैं : 'वह क्या है', 'वह किसका है', 'वह क्या कर रहा है।' इनमें प्रथम से अनेक संज्ञा शब्दों, दूसरे से सर्वनाम के संबंध कारक के रूपों तथा तीसरे से अनेक धातुओं की जानकारी हो सकती है । (३०) भाषा सीखने के लिए उसे बार-बार सुनना और बोलने का प्रयास करना बहुत आवश्यक है । क्षेत्र में इन दोनों के द्वारा भाषा सीखने की कोशिश करनी चाहिए । (३१) भाषा के (विषय एवं वक्ता से सबद्ध) विभिन्न स्तरों की जानकारी के लिए, विभिन्न विषयों एवं अवसरों पर, तथा विभिन्न वर्गों-जातियों-धर्मों-स्तरों के लोगों के बीच बातें सुननी चाहिये । इससे उस भाषा के विभिन्न रूपों या स्तरों को समझने में आसानी होगी । (३२) काम के बाद समय मिलते ही सामग्री का विश्लेषण आरंभ कर देना चाहिये । इससे आगे के काम में मदद मिलती है तथा जानी गयी चीज के भूलने का भय नहीं रहता, और वह याद होती चलती है । (३३) विश्लेषण के साथ-साथ ऐसी सामग्री याद करते चलनी चाहिए जो आगे के काम में सहायक हो ।

(ग) भाषा-कालक्रम-विज्ञान (Glottochronology)

भाषाविज्ञान में सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) से काम करने या सांख्यिकी (statistics) की सहायता लेने का इतिहास पिछली सदी से आरम्भ होता है । ह्विटनी ने १८७४ में अँग्रेजी ध्वनियों पर इस पद्धति से कुछ काम किया था । किंतु, इस पर विशेष बल १९३५ के बाद दिया गया है। १९४८ में भाषाविज्ञान की छठी अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस, जो पेरिस में हुई थी, ने इस सम्बन्ध में काम करने के लिए एक कमेटी बनायी थी । इस क्षेत्र में काम करने वालों में किंग्स्ले जिप्फ, हॉकेट, रीड, क्रोयबर, क्रैटीन तथा रास आदि के नाम उल्लेख्य हैं । ग्लाटोक्रोनालोजी (जिसे हिन्दी में 'भाषा-कालक्रम-विज्ञान' कहा जा सकता है) इसी क्षेत्र में विकसित अध्ययन का एक रूप है, जिसे विकसित करने का श्रेय मारिस स्वाडेस को है । इस विज्ञान को १९५० में इन्होंने विद्वानों के समक्ष रक्खा । १९[illegible] उत्तरी अमेरिकी इंडियनों तथा एस्किमों के सम्बन्धों

पर इसी आधार पर लिखित इनका लेख अमेरिकन फ़िलासोफ़िकल सोसायटी की कार्यवाही में प्रकाशित हुआ। एक वर्ष बाद राबर्ट बी० लीज़ ने इस पर एक बहुत सुन्दर सैद्धान्तिक लेख प्रकाशित किया। इसके बाद, ग्लीसन तथा कुछ अन्य लोगों ने इसे आगे बढ़ाया है। यद्यपि सही अर्थों में भाषाविज्ञान की यह शाखा अभी अपनी बाल्यावस्था में है, और इसकी प्रक्रिया तथा परिणामों आदि का पूर्ण उद्‌घाटन अभी तक नहीं हुआ है; फिर भी, इसकी सम्भावनाओं की धुंधली छाया हमारे सामने आ चुकी है। यहाँ अत्यंत संक्षेप में इसका परिचय दिया जा रहा है।

भाषा-कालक्रम-विज्ञान में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर एक भाषा-परिवार की दो या अधिक भाषाओं के शब्द-समूह को एकत्र करते हैं और फिर उनका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन में पुराने शब्दों के लोप और नये के आगम के आधार पर भाषाओं के एक मूल भाषा से अलग होने के काल का पता लगाते हैं। साथ ही, कभी-कभी ऐसी भाषाओं में, जिनमें कुछ समानता हो और कुछ भिन्नता हो, जिसके कारण उनके एक परिवार के होने के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन हो, भाषा-कालक्रम-विज्ञान के आधार पर उनके एक परिवार के होने या न होने के सम्बन्ध में, अपेक्षाकृत अधिक निश्चय के साथ कहा जा सकता है। एक ही भाषा के दो कालों का शब्द-समूह ज्ञात हो तो उनके बीच के समय के सम्बन्ध में भी इसके आधार पर कुछ कहा जा सकता है। इस प्रकार, वर्णनात्मक और तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर आधारित इस नयी शाखा के आधार पर ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझायी जा सकती हैं।

तेरह भाषाओं के आधार पर आरम्भ में गणना की गयी। गणना के परिणामस्वरूप यह सिद्धांत स्थापित किया गया कि सामान्यतया एक हजार वर्षों में कोई भी भाषा अपने मूल शब्दों के केवल ८१% शब्द रख पाती है। शेष १९% शब्द लुप्त हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रतिहजार वर्ष में किसी भाषा में १९% शब्द नये आ जाते हैं। यों इस प्रतिशत के बारे में कुछ विद्वानों ने मतभेद प्रकट किया है, किन्तु किसी सर्वसम्मत प्रतिशत के न होने पर इस अधिक मान्य प्रतिशत को स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रतिशत की प्राप्ति वर्णनात्मक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक, तीनों आधारों पर हुई है। अब इसे स्वीकार करके किसी भी भाषा के बारे में बहुत-सी बातों का यदि बिलकुल सही नहीं तो, उसके बहुत समीप का अनुमान लगाया जा सकता है।

उदाहरणार्थ, यदि किसी भाषा के शब्द-समूह का किसी प्राचीन काल में पता हो और आधुनिक काल में पता हो, किन्तु यह न पता हो कि वह प्राचीन काल कितने वर्ष पूर्व का है तो दोनों शब्द-समूहों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर लुप्त होने वाले या नये आने वाले शब्दों के प्रतिशत का पता लगाया जा सकता है और फिर उपर्युक्त प्रतिशत के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह पुरानी स्थिति कितने वर्ष पुरानी है। इसी प्रकार, यदि एक परिवार की दो भाषाओं के शब्द-समूह का पता हो, किंतु यह न पता हो कि वे दोनों कब एक-दूसरे से अलग हुईं, तो उपर्युक्त

पद्धति से उस मूल भाषा के उस समय के शब्द-समूह का पता लगाया जा सकता है, जब दोनों भाषाएँ उससे निकलीं और फिर उस समय का भी पता लगाया जा सकता है। राजस्थानी, गुजराती या बँगला, उड़िया, असमियाँ के लिए इस प्रकार की गणना बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

सैद्धांतिक दृष्टि से जो बातें ऊपर कही गयी हैं, प्रायोगिक दृष्टि से उन्हें पूर्णतः ठीक या प्रयोग के योग्य नहीं माना जा सकता। पहली बात तो यह है कि किसी भाषा के पुराने रूप के आधारभूत शब्द-समूह को, जिसके लिए प्रायः केवल थोड़ा-बहुत साहित्य ही उपलब्ध होता है, निश्चित करना कितना कठिन है, कहने की आवश्यकता नहीं। दूसरे, शब्द-समूह में परिवर्तन-सम्बन्धी जो प्रतिशत निकाले गये हैं, सभी भाषाओं के लिए लागू नहीं हो सकते। एक भाषा ऐसी भी हो सकती है जो किसी ऐसी जगह बोली जाती हो, जिससे बाहर के लोगों का सम्पर्क नहीं के बराबर हो। ऐसी स्थिति में उसके शब्द-समूह में परिवर्तन प्रायः नहीं के बराबर होगा। दूसरी ओर, ऐसी भी भाषा हो सकती है जो भौगोलिक तथा अन्य दृष्टियों से ऐसे जगह की हो, जहाँ अनेक राष्ट्रों को सम्पर्क स्थापित करने तथा संस्कृति के आदान-प्रदान करने का अवसर मिला हो, और ऐसी स्थिति में उसके शब्द-समूह में परिवर्तन बहुत अधिक होगा। आइसलैंडिक तथा ईरानी भाषा की इस दृष्टि से तुलना की जा सकती है। साथ ही, एक ही भाषा की दो स्थितियाँ हो सकती हैं। ऐसा असम्भव नहीं है कि अपने इतिहास के प्रथम एक हजार वर्षों में शब्द-समूह में परिवर्तन कम हो और दूसरे हजार वर्ष में बहुत अधिक। दूसरी ओर ऐसी भाषा हो सकती है, जिसमें इसके ठीक उलटा हो। तीसरी भाषा ऐसी भी सम्भव है जिसमें दोनों में हजार वर्षों में पर्याप्त परिवर्तन हो और चौथी ऐसी हो सकती है, जिसमें दोनो ही में परिवर्तन नाम मात्र का हो। ऐसी स्थिति में सब को एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता। हाँ, यह माना जा सकता है कि अपवादों को यदि छोड़ दिया जाय तो सामान्य भाषाओं के लिए इन नियमों को काफ़ी अंशों में लागू किया जा सकता है। पर साथ ही, एक अन्य बात की ओर भी यहाँ संकेत कर देना अन्यथा न होगा। भाषा एक बहुत ही संश्लिष्ट चीज है। भूगोल, परम्परा, संस्कृति, बाह्य प्रभाव, वर्तमान सामाजिक स्थिति आदि अनेक बातों पर उसके परिवर्तन की गति निर्भर करती है। इसीलिए, शुद्ध गणना पर आधारित सिद्धान्त उसके अध्ययन में उतने अधिक सहायक नहीं हो सकते, जितने कि अन्य बहुत से अत्यधिक निश्चित और विकल्प-विहीन विज्ञानों में होते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह विज्ञान अभी अपनी शैशवावस्था में है। इसके और विकसित होने पर भाषाविज्ञान में इससे और अधिक सहायता मिलने की सम्भावना हो सकती है।

(घ) व्यक्ति-बोली-विकास (Linguistic Ontogeny)

'आंटोजेनी' (व्यक्ति-विकास) शब्द मूलतः जीवविज्ञान का है। इसका प्रयोग १८७० के आसपास किसी एक व्यक्ति (मनुष्य या अन्य जीव) के विकास के लिए किया

गया। आधुनिक काल में भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने इसके साथ 'लिंग्विस्टिक' जोड़ कर भाषा-विज्ञान की शाखा के रूप में इसे स्वीकार कर लिया है। इसमें व्यक्ति-बोली या व्यक्ति-भाषा (idiolect) के जन्म से मृत्यु तक के विकास की प्रक्रिया का अध्ययन होता है। दूसरे शब्दों में, इसमें एक व्यक्ति की भाषा के विकास (जन्म से मृत्यु तक) का अध्ययन किया जाता है। बच्चों की भाषा पर ओविस सी० इरविन, मैकार्थी, वाट्स, लियोपोल्ड याकोब्सन, ग्रे डनबर्ग, डेलाक्रवायक्स, केलाग, स्टर्न, कीज़, सिद्धेश्वर वर्मा आदि कई विद्वानों ने काम किया है, जिसे इस अध्ययन से सम्बद्ध माना जा सकता है। सैद्धांतिक दृष्टि से इस विषय पर हाकेट तथा कुछ अन्य लोगों ने भी विचार किया है।

छोटे बच्चों में भाषा-जैसी चीज नहीं होती, किन्तु भूखा या दर्द आदि से पीड़ित होने पर वह रोकर या अंगों को पटक कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। और यह प्रतिक्रिया ही उसके लिए भाषा बन जाती है। माँ समय और स्थिति के आधार पर इन प्रतिक्रियाओं से उसके भूखे या दर्द आदि से पीड़ित होने का अनुमान लगा लेती है। धीरे-धीरे उसे पता चल जाता है कि भूखा होने पर रोने की क्रिया द्वारा वह खाना पा सकता है और तब वह रोने का धीरे-धीरे भाषा के रूप में प्रयोग करने लगता है। साथ ही, अभ्यास से पीठ ठोंकने आदि से सोने और बैठाने से शौच होने आदि के रूप में वह माँ के इशारों या 'इशारों की भाषा' को समझने लगता है। इस प्रकार, विचारों का आदान-प्रदान बच्चा बहुत छोटी अवस्था से करने लगता है, किन्तु इसे सच्चे अर्थों में 'भाषा' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दोनों में बहुत अंतर है।

फिर, धीरे-धीरे बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति आ जाती है, साथ ही वह ओठों से और जीभ से तरह-तरह की ध्वनियों को बिना किसी उद्देश्य के उच्चरित करता है। यों तो पैदा होते ही बच्चा रोने के रूप में हँ, कँ, यँ, आँ आदि ध्वनियों का उच्चारण करता सुना जाता है, किन्तु शीघ्र वह अन्य ध्वनियों का भी उच्चारण करने लगता है। कुछ लोगों का कहना है कि बच्चा पहले दोनों ओठों से बोले जाने वाली ध्वनियाँ कहता है, किन्तु यह बात पूर्णरूपेण सत्य नहीं है। मैंने व्यक्तिगत रूप से एक लड़की में, ध्वनियों के उच्चारण में विकास का अध्ययन पर्याप्त सावधानी से किया है। आरम्भ में 'किहाँ-कियाँ' जैसी ध्वनि सुनाई पड़ती थी। एक महीने २२ दिन की होने पर, लड़की 'घी-घी'-जैसी ध्वनि उच्चरित करने लगी। एक महीने बाद, अर्थात् लगभग पौने तीन महीने की होने पर दुःखी होने पर अघी, ङ ङ, हियाँ, अँगा, अंङा, अँहँ-अँहँ, अङऽऽ, उँहँ-उँहँ जैसी ध्वनियाँ उच्चरित करती थी और प्रसन्न होकर खेलते समय हँ-हँ, अबू-अबू अफ्-अफ्, अऽऽ, अँऽ, गे-गे, गीगी, अगी-अघी आदि। निष्कर्षतः अनुनासिक और घोष ध्वनियों का यहाँ प्राधान्य माना जायगा। यों कुछ ऐसे बच्चे भी देखे गये हैं जो म, प, ब का भी उच्चारण इस काल में विशेष रूप से करते हैं। इस प्रकार के अनर्गल ध्वनि-समूहों से उसका ध्वनि-उच्चारण का अभ्यास बढ़ता है और धीरे-धीरे वह अभ्यास के आधार पर सफलता से अनुकरण करने लगता है। आरम्भ में उसकी सफलता इतनी ही होती है कि मामा को 'माँ' या 'पापा' को 'पा' आदि रूप में वह कह लेता है, पर

धीरे-धीरे ये कमियाँ दूर होती जाती हैं। आरम्भ में मौखिक के स्थान पर अनुनासिक, अल्पप्राण के स्थान पर महाप्राण या महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण, घोष के स्थान पर अघोष या अघोष के स्थान पर घोष आदि का उच्चारण करता है। संघर्षी ध्वनियाँ प्रायः उसके लिए कठिन होती हैं। साथ ही, पार्श्विक 'ल' और लुंठित 'र' भी बच्चों के लिए कठिन होते हैं, इसलिए वे इन दोनों के स्थान पर 'न' आदि कहते हैं। कुछ बच्चे 'ल' को पहले पकड़ लेते हैं और 'र', 'ड़' आदि के स्थान पर इसी का प्रारम्भ में प्रयोग करते हैं। धीरे-धीरे उन्हें अपनी गलती का पता चलता जाता है और वे उसे ठीक करते जाते हैं। यह है ध्वनि की दृष्टि से बच्चों की बोली का विकास।

बच्चे आरम्भ में केवल एक-एक शब्द कहते हैं, किन्तु वे शब्द हमारी दृष्टि से हैं; बच्चों की दृष्टि से वे वाक्य हैं। बच्चे द्वारा कहे गये 'दू' या 'दूध' का अर्थ है 'मैं दूध चाहता हूँ' या मुझे दूध दो'। धीरे-धीरे वे व्याकरण की अन्य बातों—सैद्धांतिक दृष्टि से नहीं, अपितु प्रायोगिक दृष्टि से—को सीख लेते हैं। सादृश्य के आधार पर शब्दों का निर्माण भी इसी काल के बाद शुरू होता है। बच्चे में इस निर्माण के आरम्भ होने का अर्थ है कि उसके मस्तिष्क में भाषा की नियमितता अपना स्थान बनाने लगी है। मैं जिस लड़की का अध्ययन कर रहा था, चार वर्ष की उम्र में वह कुछ लड़कियों के साथ खेलने लगी और उन्हें सहेली कहने लगी। फिर कुछ लड़के भी उसके साथ खेलने लगे और आरम्भ में उन्हें भी सहेली कहती थी, पर शीघ्र ही वह उन्हें 'सहेला' कहने लगी। मेरे पूछने पर उसने बतलाया कि वे लड़की नहीं हैं, लड़के हैं, अतः 'सहेली' न कह कर उन्हें 'सहेला' कहना चाहिए। मैं तरह-तरह से पूछ कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'सहेला' उसका बनाया (सादृश्य के आधार पर) शब्द है और वह 'ई' प्रत्यय के स्त्रीलिंग और 'आ' से पुल्लिंग के सम्बन्ध से परिचित है। इतना ज्ञान हो जाने के उपरान्त बच्चे बड़ी जल्दी भाषा सीखने लगते हैं।

इसी प्रकार, फ़ोनीम' और 'अर्थ' की दृष्टि से भी धीरे-धीरे विकास होते हैं। छः-सात वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते बच्चा अपनी भाषा को काफ़ी हद तक सीख लेता है। उसके आधारभूत शब्द-समूह से परिचित हो जाता है। आगे बढ़ने पर, प्रायः ध्वनि या व्याकरण की दृष्टि से आदमी में विकास नहीं होता; जो होता है, शब्द-समूह, मुहावरे तथा शैली आदि की दृष्टि से ही होता है, और स्वभावतः ये विकास उसके पेशे एवं वातावरण आदि पर निर्भर करते हैं।

(ङ) तुलनात्मक पद्धति तथा पुनर्निर्माण
(Comparative Method and Reconstruction)

भाषाविज्ञान में अध्ययन की पद्धति, और भाषाविज्ञान के तीन रूपों पर विचार करते समय (प्रथम अध्याय में) तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। तुलनात्मक पद्धति को तुलनात्मक भाषाविज्ञान का एक अंग माना जा सकता है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इ[illegible] तुलनात्मक पद्धति में) दो (या अधिक) भाषाओं

या बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर पहले से यह निश्चय किया जाता है कि वे एक परिवार की हैं या नहीं; और फिर सूक्ष्म तुलना के आधार पर उन भाषाओं या बोलियों की पूर्वजा भाषा (जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है) का पुनर्निर्माण किया जाता है, अर्थात् उसकी ध्वनियों तथा व्याकरणिक रूपों एवं अन्य नियमों आदि को ज्ञात किया जाता है।

तुलनात्मक पद्धति—तुलनात्मक पद्धति का आरम्भ १७वीं सदी में हो गया था। तब से अब तक भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण एवं पारिवारिक अध्ययन के क्षेत्र में जो भी कार्य हुआ है, उसका आधार तुलनात्मक पद्धति ही है। अब यह पद्धति पहले की अपेक्षा सांख्यिकी आदि शास्त्रों की सहायता से बहुत सुविकसित हो गयी है।

तुलनात्मक पद्धति में पहले दो भाषाओं के शब्दों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप हम देखते हैं कि दोनों भाषाओं के बहुत से शब्दों में ध्वनि (या रूप) और अर्थ की दृष्टि से बहुत साम्य है। उदाहरणार्थ, संस्कृत पिता, ग्रीक pater या लैटिन pater, फ़ारसी पेदर, या अंग्रेजी father आदि। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ध्वनि और अर्थ दोनों में यह साम्य क्यों हुआ ? यदि विचार करें तो चार सम्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं : (१) सम्भव है यह साम्य यों ही संयोग से हो गया हो। इसका कोई ऐतिहासिक आधार न हो। उदाहरणार्थ, जर्मन नास (nass) और जूनी नास (nas) दोनों का अर्थ 'भीगा हुआ' होता है, और दोनों में ध्वनि-साम्य भी है, किन्तु इसका कोई आधार नहीं है। संयोग से ही यह साम्य हो गया है, अंग्रेजी near तथा भोजपुरी नीयर (=समीप) में भी इसी प्रकार का साम्य है। (२) दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि इन दोनों भाषाओं में से किसी एक ने दूसरी से उस शब्द को लिया हो। उदाहरणार्थ, हिन्दी ने द्रविड़ भाषाओं से 'पिल्ला' शब्द लिया है। या यदि संस्कृत और द्रविड़ परिवार की किसी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो एक ओर ऐसे बहुत से शब्द मिलेंगे जो उन भाषाओं में संस्कृत से लिये गये हैं, जैसे कन्नड़ अन्नम् (भात) और दूसरी ओर संस्कृत में ऐसे बहुत से शब्द मिलेंगे जो द्रविड़ भाषाओं से लिये गये हैं, जैसे व्रीहि (चावल)। (३) तीसरी संभावना यह भी हो सकती है कि दोनों ही भाषाओं ने ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से साम्य रखने वाले शब्दों को किसी तीसरी भाषा से लिया हो। इस सम्भावना के कई अन्य रूप भी हो सकते हैं। दोनों ऐसी दो अन्य भाषाओं से भी शब्द ले सकती हैं जो या तो पारिवारिक दृष्टि से सम्बद्ध हों, या किसी भी स्तर पर उधार लेने के कारण दोनों में एक ही शब्द हो। उदाहरणार्थ, पंजाबी और हिन्दी ने फ़ारसी से बहुत से शब्द लिये हैं, या फ़ारसी और तुर्की ने अरबी से बहुत से शब्द लिये हैं। जर्मन और अंग्रेजी ने फ्रांसीसी भाषा से बहुत से शब्द लिये हैं। (४) चौथी सम्भावना यह भी हो सकती है कि जिन दो भाषाओं में कुछ शब्दों में अर्थ और ध्वनि का साम्य हो, वे दोनों एक ही परिवार की हों और वे समता वाले शब्द उस मूल भाषा के हों, जिनसे वे निकली हों। हिन्दी-पंजाबी, हिन्दी-मराठी या हिन्दी-बंगला की

तुलना करने पर बहुत अधिक शब्द इस प्रकार के मिलेंगे और कहना न होगा कि वे शब्द मूलतः संस्कृत के हैं। वहीं से परम्परागत रूप से इन भाषाओं को मिले हैं।

इन चारों सम्भावनाओं को संक्षेप में रखना चाहें तो केवल तीन वर्ग बना सकते हैं। एक संयोग या चांस का, दूसरा उधार लिये जाने का और तीसरा मूल भाषा से, उससे निकली भाषाओं में परम्परागत रूप से आने का।

पहली या संयोग की सम्भावना को लेकर विद्वानों ने बहुत सोचने-समझने तथा विभिन्न भाषाओं के आधार पर इसका प्रतिशत निकालने की कोशिश की है। मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि संयोग या चांस के कारण अधिक से अधिक दो भाषाओं के चार प्रतिशब्दों में ध्वनि या रूप का साम्य हो सकता है। यदि साम्य इससे अधिक शब्द में हो तो इसका आशय है कि साम्य चांस पर आधारित न होकर शेष दो में किसी एक पर आधारित है। दूसरे प्रकार के—अर्थात् उधार पर आधारित —साम्य की जानकारी के लिए उधार की सम्भावनाओं की छानबीन करनी पड़ती है। इसके लिए दोनों भाषाओं की भौगोलिक स्थिति एवं उनके बोलने वालों के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास एवं पारस्परिक सम्बन्ध आदि पर दृष्टि दौड़ानी पड़ती है। इन आधारों पर इस बात का निर्णय हो जाता है कि समता रखने वाले शब्द उधार दिये गये हैं, या नहीं। इसके लिए प्रतिशत का निर्धारण सम्भव नहीं। कुछ भाषाएँ ऐसी हैं, जिसमें उधार शब्दों की संख्या बहुत अधिक है, जैसे फ़ारसी भाषा में अरबी शब्द, और दूसरी ओर ऐसी भी भाषाएँ हैं, जिनमें इस प्रकार की संख्या बहुत कम है, जैसे आइसलैंडिक।

उपर्युक्त दोनों सम्भावनाओं के न रहने पर तीसरी सम्भावना के लिए गुंजाइश होती है। इस सम्भावना के होने पर दोनों भाषाओं की कुछ दृष्टियों से भी तुलना अपेक्षित होती है। पहले प्रकार की तुलना ध्वनियों की हो सकती है, दूसरे प्रकार की व्याकरणिक रूपों की। इस दूसरे में उपसर्ग तथा प्रत्ययों की तुलना भी महत्त्वपूर्ण है। तीसरे प्रकार की तुलना वाक्य-गठन आदि भाषा के अन्य नियमों की हो सकती है। इन तुलनाओं के अतिरिक्त, इन दोनों के बोलने वालों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, उनके शरीर, जीवन एवं संस्कृति के मानवशास्त्रीय विश्लेषण, एवं उनके आदि स्थान एवं इतिहास के अध्ययन द्वारा भी इन भाषाओं के एक परिवार की होने की सम्भावना को पुष्ट किया जाता है, और फिर दोनों भाषाओं के एक परिवार की होने का निश्चय हो जाता है।

पुनर्निर्माण (Reconstruction)—पारिवारिक दृष्टि से आपस में संबद्ध भाषाओं के शब्दों, रूपों, ध्वनियों, तथा वाक्य-निर्माण के नियमों आदि से तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उस मूल भाषा की ध्वनियों, शब्दों, रूपों आदि का पता लगाना पुनर्निर्माण है। संस्कृत, प्राचीन फ़ारसी, ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं के इसी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के आधार [illegible] की मूल भारोपीय भाषा के सारे अंग

(च) भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज
(Linguistic Palaeontology)

भाषाविज्ञान की यह शाखा इतिहास, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें इतिहास के उस अन्धे युग पर, जिसके सम्बन्ध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है, भाषा के सहारे प्रकाश डाला जाता है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी नींव रखी। जर्मन में इसका नाम उर्गेशिख्त (Urgeschichte) है।

खोज की प्रणाली—इस खोज के लिए किसी भाषा के प्राचीन शब्दों को लिया जाता है, फिर उस परिवार की अन्य भाषाओं के प्राचीन शब्दों की तुलना के आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि प्राचीनतम काल के शब्द कौन-कौन थे। इन शब्दों को इकट्ठा कर इनका विश्लेषण कई दृष्टियों से किया जाता है। सामाजिक, धार्मिक आदि वर्गों में शब्दों को अलग-अलग करके अनुमान लगाया जाता है कि उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा क्या थी? जानवरों के नामों से यह पता चलता है कि उनके पास कौन-कौन जानवर थे? 'क्रिया' शब्दों से उनके सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार, यथासाध्य उन शब्दों के सहारे जीवन के प्रत्येक अंग की छानबीन की जाती है और एक पूरा नक्शा तैयार करने का प्रयास किया जाता है।

साथ ही, प्रकृति, पर्वत, नदी, जानवर, पेड़-पौधे तथा ऋतु से सम्बन्धित शब्दों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि किस स्थान पर इन सबका इस रूप में पाया जाना सम्भव है। इससे उनके आदिम स्थान का अनुमान लग जाता है।

खोज में सहायक अन्य शास्त्र तथा विज्ञान—इस खोज का आधार यद्यपि भाषाविज्ञान है, पर पूर्णता के लिए अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से भी सहायता लेनी पड़ती है। इनमें सबसे प्रथम स्थान मानवविज्ञान का है। इसके द्वारा उस काल के मानव का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन अन्य आधारों से होता है। इसी प्रकार, पुरातत्त्व (archaeology) की सामग्रियों एवं निष्कर्षों से भी हमें भाषाविज्ञान के आधार पर की गई खोज को पर्याप्त सहायता मिलती है, साथ ही उनके सत्यासत्य होने की परीक्षा भी कुछ हद तक हो जाती है। भूगर्भविद्या (geology) भी हमारी कम सहायता नहीं करती है। पर, सबसे अधिक सहायता भूगोल (geography) से मिलती है। विशेषतः उस स्थान-विशेष का प्राचीन भूगोल, शब्दों के आधार पर प्राप्त वहाँ की तत्कालीन भौगोलिक दशा को समझने में तथा आदि स्थान को निश्चित करने में बहुत सहायक होता है।

मूल भाषा के शब्दों का निर्णय करते समय कुछ स्मरणीय बातें—(१) जिस कुल के प्राचीन काल की खोज करनी हो, उसकी नयी-पुरानी सभी शाखाओं-प्रशाखाओं के शब्दों को इकट्ठा करना चाहिए और सभी का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। ऐसा करने में कभी-कभी अप्रत्याशित सामग्री मिल जाती है। किसी भी प्राचीन शब्द को व्यर्थ समझकर छोड़ना उचित नहीं। (२) एक शब्द एक शाखा की

अनेक प्रशाखाओं में और अन्य शाखा की **एकाध प्रशाखाओं में मिले तो इससे सीधे** यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि शब्द मूल भाषा का है। हो सकता है कि एक शाखा में बाद में उसका कहीं और जगह से **आगम हुआ हो और** दूसरी शाखाओं की एकाध प्रशाखाओं ने उसे उधार ले लिया हो। इस सम्बन्ध में, शब्द यदि दूर की शाखाओं में मिले, जिनकी आपस में **भौगोलिक दूरी भी अधिक हो और इतिहास के किसी काल में उसका** प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी न रहा हो तो वह मूल भाषा का माना जा सकता है। इसे निम्न चित्र के द्वारा अधिक सरलता से समझा जा सकता है।
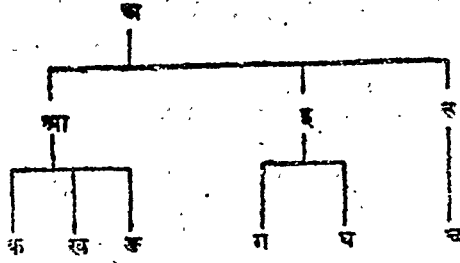
यहाँ अ मूल भाषा है। उससे आरम्भ में आ, इ, उ तीन शाखाएँ हुई और क्रमशः आ से क, ख, ङ, इ से ग, घ, तथा उ से च का जन्म हुआ है। यदि क, ख और ङ में कोई शब्द है तो इसका अर्थ यह नहीं कि अनिवार्यतः वह मूल भाषा में अ का शब्द है। पर, यदि क और च में एक शब्द मिलता है तो उसके मूल में होने की अधिक सम्भावना हो सकती है। इतना ही नहीं, यदि अंग्रेजी और हिन्दी की भाँति क और च का सम्बन्ध हो, या रहा हो, तो इस प्रकार के एक शब्द का पाया जाना विशेष महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि सम्भव है संसर्ग के कारण, एक ने दूसरे से उधार लिया हो। पर, दूसरी ओर दोनों भाषाओं में पाया जाने वाला शब्द यदि इतने पुराने समय से पाया जाता हो जबकि दोनों का आपस में सम्बन्ध नहीं था, तो उसका महत्त्व हो सकता है। यह बात प्रत्यक्ष सम्पर्क की है। कभी-कभी अप्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण भी शब्द एक भाषा से दूसरी में आ जाते हैं। उपर्युक्त चित्र में क और घ से सीधा सम्बन्ध कभी नहीं रहा है। पर, क का यदि ग से और ग का घ से सम्बन्ध रहा हो तो यह अप्रत्यक्ष सम्बन्ध माना जायगा और शब्द के उधार लिये जाने की सम्भावना हो सकती है। पर, यहाँ भी पहले के उदाहरण की भाँति सम्पर्क के समय पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। (३) दो भाषाओं में एक शब्द मिले, किन्तु ध्वनि और अर्थ में कुछ या अधिक अन्तर हो, तो इस आधार पर शब्द छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि सम्भव है अर्थ एवं ध्वनि-परिवर्तन के कारण यह अन्तर पड़ा हो और मूलतः शब्द एक हो। (४) कोई एक शब्द एकाध प्रशाखा में हो और शेष में न हो तो इससे सीधे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि मूल भाषा में शब्द नहीं था, क्योंकि यह भी सम्भावना हो सकती है कि शेष भाषाओं में उस शब्द का लोप हो गया हो। अतः और आधारों से इसकी परीक्षा करनी चाहिए। (५) किसी शृङ्खलाबद्ध शब्द-पंक्ति में इधर-उधर के शब्द मिलें तो बीच के शब्द न मिलने पर भी उसकी सम्भावना की जा सकती है। जैसे नाक, कान, मुँह के

लिए शब्द मिलें तो आँख के लिए शब्द मिले या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि उसके लिए शब्द था। इसी प्रकार, १, २, ३, ५, ६, ७, ६ के लिए शब्द हों तो ४ और ८ का होना भी माना ही जायगा, चाहे शब्द मिलें या न मिलें।

शब्दों से निष्कर्ष निकालते समय ध्यान देने योग्य बातें—(१) एक वस्तु के नाम का मूल भाषा में मिलने पर जब तक और शब्द न मिलें, उसके विभिन्न प्रयोगों का उस काल में होना न मान लेना चाहिए। जैसे, यदि घोड़ा के लिए शब्द मिल जाय, चढ़ने और रथ आदि के लिए शब्द न मिले तो इसका प्रयोग संदिग्ध हो सकता है। क्योंकि, यह भी सम्भव है कि परिचय मात्र रहा हो और रथ में जोतना, चढ़ना, आदि प्रचलित न रहा हो। इसी प्रकार दूध के लिए शब्द मिलने पर दधि और घी होने की सम्भावना अन्य आवश्यक शब्दों के मिले बिना नहीं हो सकती। (२) पानी, पर्वत, पेड़ आदि शब्दों के तथा ऋतु के आधार पर मूल निवास-स्थान के निश्चित करने में बहुत सतर्क रहना चाहिए। इसमें प्राचीन भूगोल से विशेष सहायता ली जानी चाहिए। साथ ही केवल कुछ ही शब्दों के आधार पर निष्कर्ष निकालना उचित नहीं। (३) सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था आदि के विषय में भी अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से सहारा लेकर निष्कर्ष निकालना चाहिए। साथ ही, अपने परिणाम को पर्याप्त सामग्री पर आधारित करना चाहिए। उस विषय में शब्द के मिलने पर भी किसी ऐसी परम्परा या ऐसे विधान की कल्पना न की जानी चाहिए जो उस काल के लिए असम्भव हो, क्योंकि ऐसी दशा में अधिक सम्भव यह है कि वह शब्द-विशेष उस समय कुछ दूसरा अर्थ रखता रहा हो। उदाहरणार्थ, प्राचीन भारोपीयों के सम्बन्ध में खोज करते समय रेल के लिए कोई शब्द मिले तो उसका आशय यह नहीं कि उस समय रेल थी, बल्कि उसका अर्थ यह अवश्य है कि उस शब्द-विशेष के ठीक अर्थ से हम अवगत नहीं हैं।

भाषाविज्ञान के आधार पर ऐसी खोजें विशेषतः भारोपीय परिवार के विषय में हुई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस सम्बन्ध में प्रथम व्यवस्थित कार्य मैक्स मूलर द्वारा हुआ। उसने और बातों पर प्रकाश डालते हुए मध्य एशिया में आर्यों का आदि स्थान निश्चित किया। तब से लैथम, पीटर गाइल्स, सर देसाई, तिलक, ब्रैंदेस्ताइन, दाप, सम्पूर्णानन्द, कीथ आदि अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है, किन्तु अभी तक सभी लोग किसी एक मत को मान्य नहीं मान सके हैं।

(छ) समाजभाषाविज्ञान (Sociolinguistics)

भाषा पूर्णतः सामाजिक वस्तु है। व्यक्ति समाज में ही उसे सीखता है और समाज में ही उसका प्रयोग करता है। इस प्रकार, समाज और भाषा का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध का परिणाम है कि भाषा अपनी व्यवस्था में समाज के अनुरूप होती है, साथ ही उसका विकास भी सामाजिक विकास के समानान्तर चलता है। इसी लिए, किसी समाज के बारे में उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा के आधार पर बहुत कुछ कहा

जा सकता है। भारतीय भाषाओं में चाचा, ताऊ, मामा, मौसा जैसे सम्बन्धद्योतक स्वतन्त्र शब्दों का पाया जाना, किंतु यूरोपीय भाषा में इनका अभाव, इस बात को स्पष्ट करता है कि भारतीय समाज के इन संबन्धों का यूरोपीय समाज की तुलना में अधिक महत्त्व था। फ़ारसी में बड़े लोगों के लिए आदरार्थ में क्रिया के बहुवचन रूप का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि वहाँ की सामन्ती व्यवस्था में अमीर या बड़े आदमी एक से अधिक सामान्य या निम्न श्रेणी के व्यक्ति के बराबर माने जाते थे। जापान में राजा तथा राजघराने के लोगों के लिए सामान्य भाषा से अलग शब्दों एवं रूपों के प्रयोग इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि वहाँ के समाज में राजा का स्थान बहुत ही विशिष्ट रहा है जो अन्य देशों में प्रायः दुर्लभ है। भाषा और समाज के इस घनिष्ट सम्बन्ध की ओर ध्यान जाने के कारण ही अब भाषाविज्ञान की यह एक नयी शाखा विकसित हो गयी, जिसमें भाषा और समाज के सम्बन्धों तथा उससे सम्बद्ध बातों पर विचार किया जाता है। इसे हम भाषाविज्ञान और समाजविज्ञान का एक प्रकार का सम्मिलित रूप भी कह सकते हैं।

समाज-भाषाविज्ञान का पूर्ण एवं व्यवस्थित अध्ययन मोटे रूप से निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(क) ध्वनिविज्ञान
(ख) रूपविज्ञान
(ग) वाक्यविज्ञान
(घ) अर्थविज्ञान
(ङ) शब्दविज्ञान
(च) मुहावरे
(छ) लोकोक्तियाँ

भाषा में सामाजिक भेद इन सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है। शिक्षित-अशिक्षित, उच्च वर्ग-मध्य वर्ग-निम्न वर्ग, शिक्षित में विभिन्न स्तरों (जैसे हिन्दी प्रदेश में मात्र हिन्दी पढ़ा—उर्दू पढ़ा—संस्कृत पढ़ा—अंग्रेजी पढ़ा), विभिन्न पीढ़ियों, विभिन्न पेशों, विभिन्न प्रकार के जीवन (विद्यार्थी आदि), विभिन्न जातियों (जैसे ब्राह्मण, बनियाँ, कोरी), विभिन्न धर्मों (जैसे हिन्दू-मुसलमान), स्त्री या पुरुष आदि द्वारा प्रयुक्त एक ही भाषा-ध्वनि (मूल स्वर, संयुक्त स्वर, अनुनासिक स्वर, मूल व्यंजन, संयुक्त व्यंजन, बलाघात, सुर-लहर, दीर्घता), रूप-रचना, वाक्य-गठन, शब्द-प्रयोग, मुहावरे तथा लोकोक्तियों आदि की दृष्टि से थोड़ी-बहुत अलग-अलग होती है, और वक्ता की बात सुनकर एक सीमा तक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किस सामाजिक स्तर का व्यक्ति बोल रहा है। यह दो व्यक्तियों की बातचीत सुनकर दोनों के सामाजिक स्तर तथा आपसी सम्बन्ध आदि का अन्दाज लगाया जा सकता है। हिन्दी प्रदेश के एक ही गाँव में जमुना-यमुना, व्यक्ति-व्यक्ति कानून-क़ानून, बर्सा-वर्षा, रच्छा-रक्षा, अखबार-

अखबार, गरीब-गरीब, रोज-रोज, कालेज-कॉलिज, रजिन्नर-रजिन्दर-राजेन्दर-राजेन्द्र, परसाद-परशाद-प्रसाद, बरहमन-बाम्हन-ब्राम्हन-ब्राम्हण-ब्राह्मण, सहर-शहर, रपट-रिपोर्ट, नखलऊ-लखनऊ, टीसन-टेसन-इस्टेशन-स्टेशन जैसे हजारों शब्दों में उच्चारण-भेद सामाजिक भेदों की अभिव्यक्ति करते हैं। तमिल में विशिष्ट प्राचीन ध्वनि ज केवल ब्राह्मणों में सुरक्षित है, अन्यों की भाषा में वह ल, ळ आदि हो गयी है। बंगलौर के ब्राह्मणों की कन्नड़ में 'मनुष्य' शब्द 'मनुश्य' रूप में है तो अन्यों की कन्नड़ में 'मनुस' रूप में। विश्व की अन्य अनेक भाषाओं में भी ऐसे तत्त्व खोजे जा सकते हैं। रूप के क्षेत्र में भी सामाजिक अन्तर होते हैं। दिल्ली की भाषा इस दृष्टि से बड़ी समृद्ध सामग्री प्रस्तुत करती है। इन पंक्तियों के लेखक ने रूप की दृष्टि से कुछ काम किया था। कभी इस पर विस्तृत रूप से लिखने का विचार है। यहाँ कुछ भेदों की ओर संकेत मात्र किया जा सकता है : किया-करा, हैं-हैंगे, आना-आइयों, उन्होंने-उन्ने, मुझको-मैंने-मेरे को, मुझसे-मेरे से, मुझमें-मेरे में, मुझ पर-मेरे पर, देना-दियो।

इसी प्रकार, वाक्य-रचना तथा शब्दों के अर्थ में भी अन्तर मिलता है। यों सर्वाधिक अन्तर शब्द-प्रयोग में मिलता है। मेरे अपने गाँव (आरीपुर, ज़िला ग़ाज़ीपुर उत्तर प्रदेश) में तथाकथित निम्न जाति के लोग, प्रायः ३० वर्ष पहले 'सोहारी' शब्द का प्रयोग पूड़ी के लिए करते थे, जबकि अन्य लोग 'पूड़ी' कहते थे। साड़ी-लुग्गा, भोजन-खाना-खयका, कुर्ता-अँगरखा, घर-बखरी आदि भी इसी प्रकार चलते थे। मुहावरों, लोकोक्तियों में भी एक सीमा तक पर्याप्त अन्तर मिलते हैं। जातियों आदि के अतिरिक्त, स्त्रियों और पुरुषों द्वारा प्रयुक्त मुहावरों, लोकोक्तियों तथा शब्दों में भी काफ़ी अन्तर होता है। दोनों की बोलियों में बहुत अधिक अन्तर है। भोजपुरी में 'नौज', 'नौजी', 'लगनकरे', 'मरकिनौना', 'उड़ासी', 'मुँहझौंसा' आदि केवल स्त्रियों की भाषा में मिलते हैं तो अनेक अश्लील गालियाँ केवल पुरुषों की भाषा की ही शोभा बढ़ाती हैं।

भाषा के विशिष्ट रूप का उद्भव, उसका विशेष प्रकार का विकास तथा उस के शब्द-समूह आदि में परिवर्तन, उस पर अन्य भाषाओं का प्रभाव एवं उसका अन्य भाषाओं पर प्रभाव, परिनिष्ठित भाषा के रूप में उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति आदि भाषा-विषयक अनेक बातें मूलतः उसके बोलने वालों की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती हैं।

उदाहरण के लिए, भाषा के एक रूप का मानक (standard) मान लिया जाना मूलतः सामाजिक स्वीकृति है। कैसे और क्यों आज दिल्ली के आसपास की भाषा मानक मान ली गयी है और शिक्षा आदि के क्षेत्रों में वही पूरे हिन्दी प्रदेश पर छा गयी है, इसका उत्तर समाज के संदर्भ में ही दिया जा सकता है। जब किसी एक क्षेत्र के समाज को अन्य क्षेत्रों का समाज किसी भी कारण (धर्म, राजनीति आदि) अपनी तुलना में, जाने या अनजाने, प्रमुखता देने लगता है तो वहाँ की भाषा भी सहज ही शेष समाज के लिए मान्य होने लगती है और धीरे-धीरे वही मानक भाषा बन

जाती है। बहुत से देशों में राजधानी के आसपास की भाषा मानक है, इसके पीछे यही सामाजिक कारण है।

इसी तरह किसी एक भाषा के दूसरी भाषा पर प्रभाव (शब्द, वाक्य-रचना आदि किसी भी क्षेत्र में) के पीछे भी सामाजिक कारण कार्य करते हैं। ऐसे समाज की भाषा जो किसी भी कारण अन्यों की तुलना में उच्च समझी जाती है, अन्य भाषाओं को बड़ी जल्दी प्रभावित कर लेती है, हालांकि कुछ अन्य कारणों से इसके विपरीत भी होता है।

जापानी भाषा के अनेक प्रयोगों में सामाजिक दृष्टि से कई स्तर हैं। इन स्तरों का मुख्य आधार समाज में एक-दूसरे के प्रति आदर की भावना की कमी-बेशी है जो शब्दों, रूपों, आदि में अभिव्यक्त हुई है। यहाँ कुछ उदाहरण मनोरंजक होंगे। इस तरह के अंतर सर्वनामों में बहुत अधिक हैं। मध्यम पुरुष के लिए अंग्रेजी में thou तथा you दो हैं, हिन्दी में तू, तुम, आप तीन हैं, किन्तु जापानी में छः-सात हैं। **ओमाए**—इसे हिन्दी में कहते है 'आप हैं मेरे सामने उपस्थित होने वाले'। पहले इसमें कुछ आदर का भाव था, किन्तु अब आदर-भाव प्रायः नहीं के बराबर है। बहुत नजदीक के पुरुष मित्र आपस की बातचीत में एक-दूसरे के लिए इसका प्रयोग करते हैं। पति पत्नी के लिए भी इसका प्रयोग करता है। **अनाता**—यह आदरसूचक 'आप' है। उदाहरण के लिए, शिष्य, गुरु को इसके द्वारा संबोधित करता है। **अन्ता**—इसमें आदर 'अनाता' से कुछ कम है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह 'अनाता' का ही विकसित रूप है। माँ बेटी के लिए, पत्नी पति के लिए या पति पत्नी के लिए इसका प्रयोग कर सकता है। **ओमाए सान**—यह बहुत आदरसूचक है। इसका प्रयोग प्रायः केवल पुरुष के लिए होता है। **अनाता सामा**—अपने से बड़े के लिए आता है। प्रायः स्त्रियाँ ही इनका प्रयोग करती हैं। यह लिखने में अधिक प्रयुक्त होता है और बोलने में कम। **किमि**—इसमें स्वामी, रामकुमार जैसा आदर का भाव है। इसका प्रयोग पुरुष आपस में करते हैं। स्त्रियाँ नहीं करतीं। **नान्जी**—यह thou का समानार्थी है। बोलने में इसका प्रयोग नहीं होता। वस्तुतः अंग्रेजी से अनुवाद करने में thou के प्रतिशब्द रूप में इसका प्रयोग होता है। इसी प्रकार, 'मैं' के लिए भी जापानी में कई शब्द प्रयुक्त होते हैं। **वाताशी**—यह अत्यंत शिष्टाचारयुक्त है तथा प्रायः लिखित भाषा में प्रयुक्त होता है। स्त्री-पुरुष दोनों प्रयोग करते है। **शीसेइ**—इसका प्रयोग प्रायः पुरुष करते हैं, स्त्रियाँ बहुत कम। इसे हिन्दी 'में अत्यन्त तुच्छ' कह सकते हैं। शिष्य अध्यापक को यदि लिखे तो इसका प्रयोग करेगा। **बोकु**—इसका प्रयोग प्रायः पुरुषों तक सीमित रहा है। **ओरे**—समीपी मित्र से बोलचाल में प्रयुक्त होता है। यह बहुत शिष्ट नहीं है। **सेश्शा**-इसके प्रयोग में भी बड़ी विनम्रता और तुच्छता का भाव निहित रहता है। इसका प्रयोग सामंत-युग में अधिक होता था। इसी तरह 'वह' के लिए **कोनीकाता** (आदरयुक्त और बहुत शिष्ट; स्त्री-पुरुष दोनों के लिए; दोनों प्रयोग कर सकते हैं), **कोनोहितो** (पूर्ववर्ती से कम आदर), **सोनोकाता** (कुछ समीप); **आनोकाता** (दूर), **कारे** (he), **कानोजो**

(she), सोरे (it), आरे (that) आदि हैं। विशेषण में ऐसे प्रयोग कम हैं। एक उदाहरण पर्याप्त समझा जाना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को लम्बा कहना हो तो सेनोताकाइ कहेंगे, किन्तु राजा या राजकुमार को लम्बा कहना हो तो सेनोओताकाइ कहेंगे। क्रिया में भी अन्तर है। 'आ रहा है' के लिए ओइदेनीनारीमासु (अधिक आदर जैसे सम्राट् के लिए), ओइदेनीनारेमासु (अत्यधिक आदर), इराशशाइमासु (आदर, जैसे अध्यापक के लिए), किमासु (सामान्य)। संज्ञा शब्दों में भी यह अन्तर है : बेटा के लिए मुसुको (सामान्य), मुसुकोसान (कुछ आदर), रेइसोकु (आदर, उच्च परिवार के बेटे के लिए), गोरेइसोकु (अत्यधिक आदर) आदि कई शब्द हैं।

एक सीमा तक ऐसे प्रयोग हिन्दी-उर्दू में भी हैं : तू, तुम, आप, जनाब, जनाबआली, हुजूर; बैठना-विराजना-तशरीफ रखना, आना-पधारना-तशरीफ लाना-पवित्र करना (कभी मेरे घर आ/ आओ/ आइए/ पधारो/ पधारिए/ तशरीफ लाइए/ (को) पवित्र कीजिए); नाम-शुभ नाम ; गरीबखाना-दौलतखाना ; चल-चलो-चलें-चलिए आदि।

हरियाणी-भाषी क्षेत्र के कुछ भागों में [उदाहरण के लिए, माजरा डवास (दिल्ली का एक गाँव) तथा उसके आसपास] सामान्य भाषा में 'यह' के लिए स्त्रीलिंग में 'याह' का प्रयोग होता है तथा पुल्लिंग में 'योह' का उदाहरणार्थ—

याह् के करै सै = यह क्या कर रही है ?

योह् के करै सै = यह क्या कर रहा है ?

किन्तु, वहीं का हरिजन चूहड़ा, चमार तथा धानक (जुलाहे) [आदि] स्त्रीलिंग में 'याह्' के स्थान पर 'योह्' का प्रयोग भी करता है। साथ पुल्लिंग में 'योह' के स्थान पर 'याह्' बोलता है।

सामाजिक परिवर्तनों के साथ भाषा में भी परिवर्तन आता है। शब्दों के स्तर पर यह परिवर्तन बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। हिन्दी प्रदेश में मध्ययुग में जहाँपनाह, अन्नदाता, गरीबपरवर जैसे शब्द संबोधन के रूप में बहुप्रचलित थे। अब ये हमारी भाषा के बहुप्रयुक्त शब्द नहीं रह गये हैं, क्योंकि उस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था अब नहीं रही। जापान में वहाँ के राजा को भगवान माना जाता था और उसे 'तेन्नो हेइका' या 'तेन्नो ग्रामा' कहते थे। केवल 'तेन्नो' कहने वाला राजद्रोही समझा जाता था। अब कुछ लोग केवल 'तेन्नो' भी कहने लगे हैं। आज की हिन्दी में केक, बिस्कुट, पैंट, कोट हैं तो मध्ययुगकी हिन्दी में मिर्जई, शोरमाल आदि थे, तथा आदिकालीन हिन्दी में कुछ और थे। तत्त्वत: शब्द-समूह में परिवर्तन अनेक दृष्टियों से समाज की विचारधारा तथा उसकी रहन-सहन में परिवर्तन का बहुत ही अच्छा सूचक है।

इस प्रकार, यदि भाषा का सूक्ष्मता से सामाजिक स्तरों के संदर्भ में अध्ययन किया जाय तो उन सूक्ष्मताओं को खोज निकाला जा सकता है जो सामाजिक स्तरों से उद्भूत हैं तथा एक सीमा तक उनकी अभिव्यक्ति करती हैं। साथ ही, अभी तक भाषा केवल

विचारों-भावों की अभिव्यक्ति का साधन समझी जाती रही है, समाज-भाषाविज्ञान के अध्ययन द्वारा और गहराई में जाकर उससे भावों और विचारों को जानने के अतिरिक्त यह भी जाना जा सकता है कि वक्ता की सामाजिक स्थिति—धर्म, जाति, शिक्षा, आय, परम्परा आदि की दृष्टि से—क्या है, तथा जिससे वह बातें कर रहा है, उसका उससे सम्बन्ध तथा सामाजिक स्तर क्या है ? साथ ही, भाषाओं में हुए अनेक परिवर्तनों, भाषाओं के आपसी सम्बन्ध तथा प्रभाव, उनके शिष्ट-अशिष्ट, श्लील-अश्लील, मान्य-अमान्य, परिनिष्ठित-अपरिनिष्ठित आदि होने की स्वीकृति आदि अनेक बातों को भी समाज से जोड़ा जा सकता हैं। इस तरह समाज भाषा विज्ञान समाज के परिप्रेक्ष्य में भाषा का वैद्यानिक अध्ययन है।

(ज) सांख्यिकीय भाषाविज्ञान (Statistical Linguistics)

भाषाविज्ञान की इस शाखा में सांख्यिकी के आधार पर भाषा के विभिन्न पक्षों पर विचार किया जाता है। यह गणितीय भाषाविज्ञान (mathematical linguistics) के अंतर्गत है। जैसा कि ज्ञात है, सांख्यिकी गणित की ही एक शाखा है। यहाँ इसकी कुछ प्रारम्भिक बातों का ही परिचय दिया जा रहा है।

यह बात कम आश्चर्य की नहीं है कि भाषाविज्ञान की यह अपेक्षाकृत नयी शाखा, भारत के लिए नयी नहीं है, और इस दिशा में सर्वप्रथम कार्य करने का श्रेय भारत को ही है। तीसरी-चौथी सदी ई० पू० में बनायी गयी वैदिक अनुक्रमणियाँ विश्व में अपने ढंग की प्रथम हैं। इनमें संहिताओं पर सांख्यिकीय दृष्टि से कार्य है। इनमें से एक के अनुसार ऋग्वेद में १०१७ मंत्र, १०५८० ½ छंद, १५३८२६ शब्द तथा ४३२००२ अक्षर हैं।

आधुनिक काल में सांख्यिकीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ हुआ है, वह प्रेरणा आदि की दृष्टि से प्राचीन भारतीय कार्य से सम्बद्ध नहीं है। इसका विकास स्वतंत्रतः हुआ है। हुआ यह कि गणितशास्त्र ज्यो-ज्यों विकसित होता गया, अन्य अनेक शास्त्र उसे अपने लिए उपयोगी पाते गये। इसी परंपरा में इसनें भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे भी प्रवेश किया। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस दिशा में पहल करने का श्रेय सोवियत संघ को है। सर्वप्रथम प्रसिद्ध रूसी बुन्जकोफ्स्कीं (Bunjakovskiy) ने १८४७ ई० में भाषाविज्ञान में गणित के प्रयोग की सम्भावना की ओर संकेत किया था। १८७४ में ह्विटने (W. D. Whitney) ने अंग्रेजी ध्वनियों की आवृत्ति (frequency) पर काम किया। १९०४ में प्रसिद्ध भाषाशास्त्री कुर्तने (B. Courtenay) ने विभिन्न शास्त्रों में गणित को सहायक होता देख भाषाविज्ञान के लिए भी गणित के अत्यन्त सहायक होने की बात कही थी। १९०५ में आर्नल्ड (Arnold) ने अपना Vedic Metre in its Historical Development प्रकाशित किया, जिसमें सांख्यिकी का प्रयोग, ऋग्वेद के विभिन्न भागों की सापेक्षिक प्राचीनता के निर्धारण में किया गया था।

१९१३ में रूसी गणितज्ञ मार्कोव (A. A. Markov) ने पुश्किन (Evgeniy

Onegin) के सांख्यिकीय अध्ययन के आधार पर रूसी में स्वरों और व्यंजनों के साथ-साथ आने (co-occurence) के नियम निकाले । इस दिशा में यह पहला गंभीर कार्य था । मार्कोव ने यह भी दिखाया कि किसी भाषा की भाषिक इकाइयों के पारस्परिक आश्रय (mutual dependence) का पता लगाया जा सकता है । इसके लिए उसने जो पद्धति दी, वह आज भी मार्कोव पद्धति (Morkov Process) के नाम से प्रसिद्ध है ।

इसी समय, आशुलिपिकों एवं टंककों की समस्याओं ने उनका ध्यान सांख्यिकी की ओर खींचा । फ़्रांसीसी आशुलिपिक एस्तोप (Estoup) ने १९१६ में अपनी पुस्तक 'Gammes Stenographiques' में गणना के आधार पर कहा कि हर प्रकार के पाठ में शब्द विशिष्ट सांख्यिकीय नियमों का अनुसरण करते हैं । १९२८ में भौतिक-शास्त्री कन्डन (E. U. Condon) ने अपने अध्ययन 'Statistics of Vocabulary' में कहा था कि शब्द-आवृत्तियाँ नियमित होती हैं ।

इस तरह धीरे-धीरे भाषा के अध्ययन-विश्लेषण में सांख्यिकी का प्रयोग बढ़ता गया । यही नहीं, गणित ने भी भाषाविज्ञान को अपने लिए काफ़ी उपयोगी पाया । दूसरे महायुद्ध के बाद (१९५० से) सूचना-सिद्धांत (information theory) के विकास के पश्चात् गणित से भाषाविज्ञान में और भी अधिक सहायता ली जाने लगी है । गणितीय भाषाविज्ञान की कई अलग संस्थाएँ बनी हैं तथा इसकी कई पत्रिकाएँ भी निकल रही हैं । १९५७ में आठवीं अंतर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान कांग्रेस के बाद इस क्षेत्र में और भी अधिक काम होने लगा है । इस क्षेत्र में काम करने वाले देशों में रूस, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, जापान और चीन विशेष रूप से उल्लेख्य हैं ।

सांख्यिकीय भाषाविज्ञान (statistical linguistics) में ध्वनि, ध्वनिग्राम, अक्षर, शब्द, रूप, मुहावरे, लोकोक्ति तथा वाक्यों के पैटर्न आदि सभी भाषिक इकाइयों की गणना की जाती है और उनके आधार पर अनेकानेक दृष्टियों से उपयोगी परिणाम निकाले जा सकते हैं ।

यहाँ हम पहले इस बात को ले सकते हैं कि साहित्य तथा भाषाविज्ञान विषयक विभिन्न समस्याओं एवं अध्ययनों में सांख्यिकीय भाषाविज्ञान का क्या योगदान हो सकता है ।

इस प्रसंग में सबसे पहले शैलीविज्ञान को लें । शैलीविज्ञान को इधर सांख्यिकीय भाषाविज्ञान से बहुत सहायता मिलने लगी है । पहले की किसी शैली पर विचार अपनी वैयक्तिक रुचि के आधार पर किया जाता था, अतः वह बहुत 'सब्जेक्टिव' होता था । अब सांख्यिकी ने शैलीविज्ञान को सचमुच विज्ञान बनने के पथ पर अग्रसर किया है, और वह समय दूर नहीं जब वैज्ञानिक स्तर पर शैली का विवेचन हो सकेगा । सांख्यिकी के आधार पर यह देखा गया है कि अभिव्यक्ति की सामान्यता की आवृत्ति (frequency) अधिक होती है । इसी प्रकार, दो या अधिक लेखकों या कवियों की शैली में वास्तविक अन्तर क्या है, सांख्यिकी के आधार पर साफ़-साफ़ देखा जा सकता

है कि यह अंतर शब्द-चयन, मुहावरे, लोकोक्तियों तथा व्याकरणिक ढाँचे के प्रयोग पर निर्भर करता है।

सांख्यिकीय भाषाविज्ञान से किसी रचना के रचनाकार के बारे में भी काफ़ी हद तक ठीक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उदाहरण के लिए, 'सूरसागर' सूरदास की रचना है, किन्तु 'सूरसारावली' के संबंध में थोड़ा संदेह है। दोनों की शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह जाना जा सकता है कि दोनों एक कवि की हैं, या नहीं। इसमें भी सांख्यिकी बहुत सहायक हो सकती है। यूल (Yule) ने De Imitatione Christi के रचनाकार का पता लगाने के लिए इस पद्धति का प्रयोग १९४४ में किया था।

इसी प्रकार, किसी कवि या लेखक की विभिन्न रचनाओं के कालक्रम का भी सांख्यिकी के आधार पर निर्धारित शैली से पता लगाया जा सकता है।

किसी भाषा से दूसरी या कई भाषाएँ कब निकलीं (जैसे अपभ्रंश से हिन्दी), कोई पुस्तक मूलतः किस भाषा की है (जैसे 'संदेशरासक' अपभ्रंश का है, या हिन्दी का), दो बोलियों या भाषाओं की ठीक-ठीक सीमारेखा क्या है (जैसे ब्रजी-खड़ीबोली की), कोई बोली सचमुच स्वतंत्र बोली है, या दो का मिश्रण-मात्र है (जैसे कन्नौजी), दो भाषाओं या बोलियों में कितनी समानताएँ और कितनी असमानताएँ हैं, कोई भाषा कितनी पुरानी है (दे० लेखक की पुस्तक 'भाषाविज्ञान' का 'भाषा-कालक्रम-विज्ञान' शीर्षक अध्याय), आदि बातों का उत्तर भी सांख्यिकीय भाषाविज्ञान के आधार पर पर्याप्त वैज्ञानिक रूप में दिया जा सकता है।

विदेशी भाषा के शिक्षण के लिए भी सांख्यिकीय भाषाविज्ञान बड़ा उपयोगी है। उसके आधार पर किसी भाषा की आधारभूत शब्दावली, आधारभूत व्याकरणिक रूप तथा वाक्यों के आधारभूत ढाँचों का पता लगाया जा सकता है, जिनके आधार पर बनाये गये पाठ भाषा सिखाने में बड़े उपयोगी हो सकते हैं। मातृभाषा की शिक्षा में भी आवृत्ति (frequency) के आधार पर सिखाना अधिक उपयोगी हो सकता है।

अब तक शब्दों के दिशा में जो काम हुआ है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि सभी भाषाओं में लगभग तीन हजार मूल शब्द होते हैं, जिनका प्रयोग उस भाषा में लगभग ८० प्रतिशत तक होता है। शेष २० प्रतिशत विभिन्न प्रकार के पाठों के अनुसार, विभिन्न प्रकार के शब्दों के होते हैं।

वर्णों की आवृत्ति के अध्ययन के आधार पर प्रेस, टाइपराइटर आदि के लिए भी भाषाविज्ञान की यह शाखा बहुत सहायक हो सकती है। यदि वर्णों की आवृत्ति का ठीक पता लगाकर टाइपों को स्थानित किया जाय तो गति बहुत अधिक बढ़ सकती है।

इस प्रकार का कार्य अपनी सीमाओं के साथ विश्व की कई भाषाओं में हुआ है। यहाँ कुछ कार्यों का परिचय उपयोगी एवं मनोरंजक होगा।

सोवियत संघ 'इस्तोनिया' जनतंत्र की राजधानी ताल्लिन की अकेडेमी के रूसी विभाग ने, आधुनिक रूसी भाषा में शब्दों एवं रूपों की गणना के लिए ३००

व्यक्तियों को नियुक्त किया। ये ३०० व्यक्ति यह गणना ३ वर्षों तक (१६५६ से १६६८ तक) करते रहे। जिस साहित्य से यह गणना की गयी, वह इस प्रकार था—

उपन्यास-कहानी	५६ प्रतिशत
नाटक	७ प्रतिशत
आलोचना-लेख	१४ प्रतिशत
पत्र-पत्रिकाएँ	२० प्रतिशत

उपर्युक्त साहित्य से कुल ४ लाख रूप एकत्र किए गए। इनकी गणना के आधार पर पता चला कि समवेत रूप में, आधुनिक रूसी साहित्य में विभिन्न व्याकरणिक वर्गों के प्रयोग-प्रतिशत इस प्रकार हैं—

संज्ञा	२६.४ प्रतिशत
क्रिया	१७.३ प्रतिशत
सर्वनाम	१२.१ प्रतिशत
पूर्वसर्ग	११.१ प्रतिशत
विशेषण	८.३ प्रतिशत
क्रियाविशेषण	७.८ प्रतिशत
समुच्चयबोधक	७.२ प्रतिशत
उपपद (पार्टिकल, चस्तीत्सी)	५.१ प्रतिशत
संख्यावाचक शब्द	२.१ प्रतिशत
विशेषणवत् प्रयुक्त भूत० एवं वर्त० कृदंत	१.५ प्रतिशत
पूर्वकालिक कृदंत	०.७ प्रतिशत
विस्मयादिबोधक	०.३ प्रतिशत
अवलंब शब्द (तकिया कलाम)	०.१ प्रतिशत

इस गणना के परिणामों की कुछ और बातें भी मनोरंजक हैं—

संज्ञा का प्रयोग

वचन	एकवचन	७१.५ प्रतिशत
	बहुवचन	२८.३ प्रतिशत
	दोनों वचनों में एक रहने वाले रूप	०.२ प्रतिशत
लिंग	पुल्लिग	४६.८ प्रतिशत
	स्त्रीलिंग	३५.१ प्रतिशत
	नपुं० लिंग	१५.५ प्रतिशत
	बहुलिंगी	२.६ प्रतिशत

वर्तमान रूसी भाषा में सर्वाधिक प्रयुक्त कुछ शब्द—(इनमें पहले शब्द का प्रयोग सर्वाधिक होता है, दूसरे का उससे कम, तीसरे का और कम, तथा आगे भी इसी प्रकार)—और, में, पर, नहीं, वह (पुल्लिग), मैं, क्या (कि), यह, होना तथा कुछ आदि।

व्याकरणिक दृष्टि से सर्वाधिक प्रयुक्त कुछ शब्द—(उपर्युक्त की भाँति ही, पहले का सर्वाधिक प्रयोग होता है, तथा दूसरे का कम)।

संज्ञा—वर्ष, काम, दिन, आँख, हाथ, समय, बार, जीव, लोग, शब्द, लड़का, जगह तथा घर आदि।

क्रिया—होना, सकना, बोलना (कहना), जानना, चाहना, चलना, देखना, सोचना, देना, करना, पूछना, लेना, बैठना आदि।

विशेषण—बड़ा, नया, अच्छा, छोटा, बूढ़ा (पुराना), अंतिम, ऊँचा, ज्यादा, सफेद, मुख्य, लाल आदि।

संख्या—१, पहला, २, १०००, ३, दूसरा, २०, तीसरा, ५, ४, १०, ४०, ३० तथा चौथा आदि।

सर्वनाम—वह, मैं, ये, सब, वे, वह (स्त्री), हम, तू, तुम (आप) तथा अपना आदि।

क्रियाविशेषण—ऐसे, फिर, बहुत, अब, कैसे, वहाँ, तथा यहाँ आदि।

सोवियत संघ के ताशकद विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री कासानोव्स्की ने अखबारों में प्रयुक्त हिन्दी पर इस प्रकार का कार्य किया है। उनकी गणना के अनुसार हिन्दी समाचार पत्रों में १९५ आधार-शब्द ऐसे हैं जो समाचारपत्रों की सामान्य सामग्री में ६० प्रतिशत तक मिलते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण है—

व्याकरणिक कोटि	**शब्द**	**प्रतिशत**
समुच्चयबोधक	५	६ प्रतिशत
परसर्ग	२०	२१ प्रतिशत
सहायक क्रिया 'है', 'था'	२	१.३ प्रतिशत
निपात (particle)	८	३ प्रतिशत
सर्वनाम	२४	८ प्रतिशत
संख्या	३	१ प्रतिशत
क्रिया	३९	१२.५ प्रतिशत
क्रियाविशेषण	१५	२.३ प्रतिशत
विशेषण	१०	०.५ प्रतिशत
संज्ञा	६९	४.५ प्रतिशत
	१९५	६०.१ प्रतिशत

सकता। 'जाया-गया' में भी चयन संभव नहीं, क्योंकि दोनों के वितरण निश्चित हैं। सर्वनामों में आज कुछ प्रदेशों में 'मुझे-मुझको-मैंने-मेरे को' में चयन चल रहा है—मुझे/मुझको/मैंने/मेरे को जाना है। इसी प्रकार, 'तुम्हें-तुमको-तुमने-तेरे को' तथा इसी रूप में कुछ अन्य सर्वनामों में भी। कवियों-कविजन, मंत्रियों-मंत्रिगण, मकानों-मकानात, हाकिमों-हुक्काम या डाक्टरनी-डाक्टरानी-डाक्टराइन आदि कुछ अन्य उदाहरण भी लिये जा सकते हैं।

वाक्य—वाक्य-रचना के क्षेत्र में भी चयन के लिए काफी अवकाश है। कुछ उदाहरण हैं : राम ने ही—राम ही ने; राम को ही—राम ही को; राम से ही—राम ही से; राम के लिए ही—राम ही के लिए; राम ही का—राम का ही; मात्र पानी, पानी मात्र; खाकर-खाकर के, न...न...—न...नाहीं; राम नहीं आता है—राम नहीं आता; खा चुका हूँ—खा लिया है—खा बैठा हूँ; जो लड़का आया था चला गया—लड़का जो आया था चला गया; राम ने कहा कि मैं/वह जाऊँगा/जाएगा; साधारण वाक्य—संयुक्त वाक्य—मिश्रित वाक्य; छोटे वाक्य—बड़े-वाक्य इत्यादि। पदक्रम में परिवर्तन करते हुए एक ही वाक्य के कई रूप संभव हैं—

मैं जा रहा हूँ और तुम...
जा मैं रहा हूँ और तुम...
जा रहा मैं हूँ और तुम...
जा रहा हूँ मैं और तुम...

इसी प्रकार, प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त दो या अधिक मुहावरों, विशेष प्रयोगों या लोकोक्तियों में किसी एक का प्रयोग भी शैलीय विशेषता के लिए प्रायः किया जाता है—

(१) घर का उजाला
घर का चिराग
(२) घात पर चढ़ना
घात में आना
(३) घी के चिराग जलाना
घी के दिए जलाना
(४) घूँघट करना
घूँघट काढ़ना
घूँघट निकालना
(५) चंपत बनना
चंपत हो जाना
(६) बेखबर सोना
घोड़ा बेचकर सोना

वस्तुतः शैलीविज्ञान अभी पूरी तरह विकसित नहीं है। यहाँ मैंने इसे उस रूप में रखा है, जैसा मैं मानता हूँ। यों इस क्षेत्र में काफी विकास तथा कार्य की संभावना है।

लिपि | १२

भाषा अपने मूल रूप में ध्वनि पर आधारित है। ध्वनियाँ ही उच्चरित होती हैं और सुनी जाती हैं। इस प्रकार भाषा की काल और स्थान की दृष्टि से सीमा है। वह केवल तभी सुनी जा सकती है जब बोली जाती है तथा वहीं तक सुनी जा सकती है जहाँ तक आवाज़ जा सकती है। काल और स्थान की इस सीमा के बंधन से भाषा को निकालने के लिए लिपि का जन्म हुआ। निश्चय ही भाषा के विकसित हो जाने के बाद ही लिपि का विकास हुआ होगा।

लिपि और भाषा का संबंध यह है कि भाषा अपने मूल रूप में ध्वनियों पर आधारित है, लिपि में उन ध्वनियों (या कुछ भाषाओं में शब्दों को) को रेखाओं द्वारा व्यक्त करते हैं। अर्थात्, दोनों में माध्यम का अंतर है।

लिपि की उत्पत्ति—भाषा की उत्पत्ति की भाँति ही लिपि की उत्पत्ति के विषय में भी पुराने लोगों का विचार था कि ईश्वर या किसी देवता द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। भारतीय पंडित ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई मानते हैं और इसके लिए उनके पास सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लिपि का नाम 'ब्राह्मी' है। इसी प्रकार मिस्री लोग अपनी लिपि का कर्त्ता थाथ (Thoth) या आइसिस (Isis) को, बेबिलोनिया के लोग नेबो (Nebo) को, पुराने ज्यू लोग मोजेज़ (Moses) को तथा यूनानी लोग हर्मेस (Hermes) या पैलमीडस, प्रामेथ्यूस, आफ्यूँस तथा लिनोज़ आदि अन्य पौराणिक व्यक्तियों को मानते हैं। पर, भाषा की भाँति ही लिपि के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के मत अन्धविश्वास मात्र हैं। तथ्य यह है कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकतानुसार लिपि को स्वयं जन्म दिया। आरम्भ में मनुष्य ने इस दिशा में जो कुछ भी किया, वह इस दृष्टि से नहीं किया गया था कि उससे लिपि विकसित हो, बल्कि जादू-टोने के लिये कुछ रेखाएँ खींची गईं, या धार्मिक दृष्टि से किसी देवता का प्रतीक या चित्र बनाया गया, या पहचान के लिए अपने-अपने घड़े या अन्य चीजों पर कुछ चिह्न बनाये गये, ताकि बहुतों की ये चीजें जब एक स्थान पर रक्खी जायँ, तो लोग सरलता से अपनी चीजें पहचान सकें, या सुन्दरता के लिए कंदराओं की दीवालों पर आसपास के जीव-जन्तुओं या वनस्पतियों को देखकर उनके टेढ़े-मेढ़े चित्र बनाये गये*, या स्मरण के लिए किसी रस्सी या पेड़ की छाल आदि में गाँठें लगाई गईं और बाद में इन्हीं साधनों का प्रयोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया और वह धीरे-धीरे विकसित होकर लिपि बन गई।

***इस प्रकार के चिह्न या चित्र आदि या तो रेखा खींचकर या पत्थर या अन्य चीजों पर खोद या रँग कर बनाये गये।**

लिपि का विकास—आज तक लिपि के सम्बन्ध में जो प्राचीनतम सामग्री उपलब्ध है, उस आधार पर कहा जा सकता है कि ४,००० ई० पू० के मध्य तक लेखन की किसी भी व्यवस्थित पद्धति का कहीं भी विकास नहीं हुआ था और इस प्रकार के प्राचीनतम अव्यवस्थित प्रयास १०,००० ई० पू० से भी कुछ पूर्व किये गये थे। इस प्रकार इन्हीं दोनों के बीच, अर्थात् १०,००० ई० पू० और ४,००० ई० पू० के बीच लगभग ६,००० वर्षों में धीरे-धीरे लिपि का प्रारम्भिक विकास होता रहा।

लिपि के विकास-क्रम में आने वाली विभिन्न प्रकार की लिपियाँ

लिपि के विकास-क्रम में हमें निम्न प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं—

१. चित्रलिपि
२. सूत्रलिपि
३. प्रतीकात्मक लिपि
४. भावमूलक लिपि
५. भाव-ध्वनिमूलक लिपि
६. ध्वनिमूलक लिपि

आगे इन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

[कैलिफ़ोर्निया में प्राप्त चित्रलिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में एक है। चित्र से स्पष्ट है कि कुछ तो मनुष्य, पशु तथा पक्षी आदि के तरह-तरह के चित्र हैं, और कुछ ज्यामितीय शक्लें।]

(१) **चित्रलिपि**—चित्रलिपि ही लेखन के इतिहास की पहली सीढ़ी है। पर, वे प्रारम्भिक चित्र केवल लेखन के इतिहास के आरम्भिक प्रतिनिधि थे, यह सोचना गलत होगा। उन्हीं चित्रों से चित्रकला के इतिहास का भी आरम्भ होता है, और लेखन के भी इतिहास का। उस काल के मानव ने कंदराओं की दीवालों पर या अन्य चीजों पर वनस्पति, मानव-शरीर या अंग तथा ज्यामितीय शक्लों आदि के टेढ़े-मेढ़े चित्र बनाये होंगे। यह भी सम्भव है कि कुछ चित्र धार्मिक कर्मकांडों के हेतु देवी-देवताओं के बनाये जाते रहे हों। इस प्रकार के पुराने चित्र दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, क्रीट, मेसोपोटामिया, यूनान, इटली, पुर्तगाल, साइबेरिया, उज़बेकिस्तान, सीरिया, मिस्र, ग्रेटब्रिटेन, केलिफोर्निया, ब्राजील, तथा ऑस्ट्रेलिया आदि अनेकानेक देशों में मिले हैं। ये पत्थर, हड्डी, काठ, सींग, हाथीदांत, पेड़ की छाल, जानवरों की खाल तथा मिट्टी के बर्तन आदि पर बनाये जाते थे।

चित्रलिपि में किसी विशिष्ट वस्तु के लिए उसका चित्र बना दिया जाता था। जैसे सूर्य के लिए गोला और उसके चारों ओर निकलती रेखाएँ, विभिन्न पशुओं के लिए उनके चित्र, आदमी के लिए आदमी का चित्र तथा उनके विभिन्न अंगों के लिए उन अंगों के चित्र आदि। चित्रलिपि की परम्परा उस प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। भौगोलिक नक्शों में मन्दिर, मस्जिद, बाग, पहाड़ आदि तथा पंचांगों में ग्रह आदि चित्रों द्वारा प्रकट किये जाते हैं।

[एरिजोना (अमेरिका) में प्राप्त चित्रलिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में एक है।]

प्राचीन काल में चित्रलिपि बहुत ही व्यापक रही होगी, क्योंकि इसके आधार पर किसी भी वस्तु का चित्र बनाकर उसे व्यक्त कर सकते रहे होंगे। इसे एक अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय लिपि भी माना जा सकता है, क्योंकि किसी भी वस्तु या जीव का चित्र सर्वत्र प्रायः एक-सा ही रहेगा, आर उसे देखकर विश्व का कोई भी व्यक्ति जो उस वस्तु या जीव से परिचित होगा, उसका भाव समझ जायगा और इस प्रकार उसे

पढ़ लेगा। पर यह तभी तक सम्भव रहा होगा जब तक चित्र मूल रूप में रहे हों।

चित्रलिपि की कठिनाइयाँ—(१) व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को व्यक्त करने का इसमें कोई साधन नहीं था। आदमी का चित्र तो किसी भी प्रकार कोई बना सकता था, पर राम, मोहन और माधव का पृथक्-पृथक् चित्र बनाना साधारणतया सम्भव नहीं था। (२) स्थूल वस्तुओं का प्रदर्शन तो सम्भव था, पर भावों या विचारों का चित्र सम्भव न था। कुछ भावनाओं के लिए चित्र अवश्य बने थे, जिन्हें हम आगे देखेंगे, पर सबका इस प्रकार प्रतीकात्मक चित्र बनाना व्यावहारिक नहीं था। (३) शीघ्रता में ये चित्र नहीं बनाये जा सकते थे। (४) कुछ लोग ऐसे भी रहे होंगे जो सभी वस्तुओं के चित्र बनाने में अकलाकार-प्रवृत्ति के होने के कारण समर्थ न रहे होंगे। ऐसे लोगों को और भी कठिनाई पड़ती रही होगी। (५) काल आदि के भावों को व्यक्त करने के साधनों का इस लिपि में एकान्त अभाव था।

चित्रलिपि विकसित होते-होते प्रतीकात्मक हो गई। उदाहरणार्थ, यदि आरम्भ में पहाड़ इस प्रकार बनता था तो धीरे-धीरे लोग उसे केवल इस तरह बनाने लगे।

दूसरे शब्दों में उसका रूप घिस गया। शीघ्रता में लिखने के कारण संक्षेप में इसी प्रकार लोग लिखने लगे और रूढ़ि-रूप में इसी से पहाड़ का भाव व्यक्त होने लगा। चीनी लिपि का विचार करते समय इस प्रकार चिह्नों के प्रतीक बन जाने के और भी उदाहरण हमें मिलेंगे। इस तरह धीरे-धीरे चित्रलिपि के सभी चित्र प्रतीकात्मक हो गये होंगे। इस रूप में चित्रलिपि की विश्व भर में समझी जाने की क्षमता समाप्त हो गई होगी और विभिन्न सजीव और निर्जीव वस्तुओं के चित्र उन वस्तुओं के स्वरूप के आधार पर बनकर विकसित चिह्नों के रूप में बनने लगे होंगे। यहाँ वह अवस्था आ गई होगी जब इन प्रतीकात्मक या रूढ़ि-चिह्नों को याद रखने की आवश्यकता पड़ने लगी होगी।

(२) सूत्रलिपि—सूत्रलिपि का इतिहास भी बहुत पुराना है। इसकी परम्परा प्राचीन काल से आज तक किसी न किसी रूप में चली आ रही है। स्मरण के लिए आज भी लोग रूमाल आदि में गाँठ देते हैं। सालगिरह या वर्षगाँठ में भी वही परम्परा अक्षुण्ण है। प्राचीन काल में सूत्र, रस्सी तथा पेड़ों की छाल आदि में गाँठ दी जाती थी। किसी बात को सूत्र में रखने या सूत्र*यादकर पूरी बात को याद रखने की परम्परा का भी सम्बन्ध इसी से ज्ञात होता है।

---

*व्याकरण या दर्शनशास्त्र आदि के सूत्र।

सूत्रों में गाँठ आदि देकर भाव व्यक्त करने की परंपरा भी काफ़ी प्राचीन है। इस आधार पर भाव कई प्रकार से व्यक्त किये जाते रहे हैं, जिनमें प्रधान ये हैं—(क) रस्सी में रंग-बिरंगे सूत्र बाँध कर। (ख) रस्सी को रंग-बिरंगे रंगों से रँग कर। (ग) रस्सी या जानवरों की खाल आदि में भिन्न-भिन्न रंगों के मोती, घोंघे, मूँगे या मनके आदि बाँधकर। (घ) विभिन्न लम्बाइयों की रस्सियों से। (ङ) विभिन्न मोटाइयों की रस्सियों से। (च) रस्सी में तरह-तरह की तथा विभिन्न दूरियों पर गाँठें बाँध कर। (छ) डंडे में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न मोटाइयों या रंगों की रस्सी बाँध कर।

इस तरह के लेखन का उल्लेख, ५वीं सदी के ग्रंथकार हेरोडोटस (४९८) ने किया है। इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पीरू की 'क्वीपू' है। 'क्वीपू' में भिन्न-भिन्न लम्बाइयों, मोटाइयों तथा रंगों के सूत (जो प्रायः बटे ऊन के होते थे) लटकाकर भाव प्रकट किये जाते थे। कहीं-कहीं गाँठें भी लगाई जाती थीं। इनके द्वारा गणना की जाती थी तथा ऐतिहासिक घटनाओं का भी अंकन होता था।
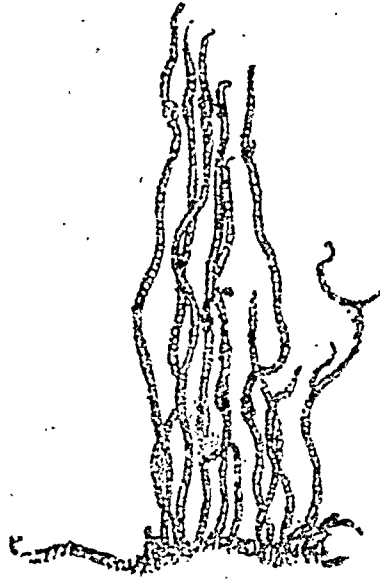
[पीरू में प्राप्त 'क्वीपू' नामक सूत्रलिपि]

पीरू के सैनिक अफ़सर इस लिपि का विशेष प्रयोग करते थे। इसके माध्यम से सेना का एक वर्णन आज भी प्राप्त है, पर उसे पढ़ने या समझने का कोई साधन नहीं है। चीन तथा तिब्बत में प्राचीन काल में भी सूत्रलिपि का व्यवहार होता था। बंगाल के संथालों, तथा कुछ जापानी द्वीपों आदि में अब भी सूत्रलिपि कुछ रूपों में प्रयोग में आती रही है। टंगानिका के मकोन्दे लोग छाल की रस्सियों में गाँठ देकर बहुत दिनों से घटनाओं तथा समय की गणना करते आये हैं।

(३) भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति या प्रतीकात्मक लिपि—शुद्ध अर्थ में लिपि न होते हुए भी, इस रूप में कि आँख के सहारे दूरस्थ व्यक्ति के विचार भी उनके द्वारा भेजी गई वस्तुओं के द्वारा जाने जा सकते हैं, यह पद्धति लिपि कही जा

[टगानिका की सूत्रलिपि। गाँठें स्पष्ट हैं।]

सकती है। कई देशों और कबीलों में प्राचीन काल से इसका प्रचार मिलता है। तिब्बती-चीनी सीमा पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा, उसकी चर्बी के तीन टुकड़े तथा एक मिर्च लाल कागज में लपेटकर भेजने का अर्थ रहा है कि युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। गार्ड का लाल या हरी झंडी दिखलाना, युद्ध में सफेद झंडा फहराना तथा स्काउटों का हाथ से बातचीत करना भी इसी के अन्तर्गत आ सकता है। गूँगे-बहरों के वार्तालाप का आधार भी कुछ इसी प्रकार का साधन है। फतेहपुर जिले में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि उच्च जातियों में लड़की के विवाह का निमन्त्रण हल्दी भेजकर तथा लड़के के विवाह का निमन्त्रण सुपारी भेजकर दिया जाता है। भोजपुर प्रदेश में अहीर आदि जातियों में हल्दी बाँट कर निमन्त्रण देते हैं। इलाहाबाद के आसपास छोटी जाति के लोगों में गुड़ बाँट कर निमन्त्रण देते हैं। कुछ स्थानों पर किसी के मृत्यु-संस्कार में भाग लेने के लिए आने वाला निमन्त्रण-पत्र कोने पर फाड़कर भेजा जाता है। इस प्रकार विचाराभिव्यक्ति के साधन विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के मिलते हैं। कांगो नदी की घाटी में कोई हरकारा जब कोई बहुत महत्वपूर्ण समाचार लेकर किसी के पास जाता था तो भेजने वाला उसे एक केले की पत्ती दे देता था। यह पत्ती ६ इंच लम्बी होती थी और दोनों ओर पत्ती के चार-चार भाग किये रहते थे। कम महत्त्व के समाचार के साथ चाकू या भाले आदि भेजे जाते थे। सामान्य समाचारों के साथ कुछ भी

नहीं भेजा जाता था। कहना न होगा कि लिपि के अन्य रूपों की भाँति यह बहुत व्यापक नहीं है और इसका प्रयोग बहुत ही सीमित है।

(४) **भावमूलक लिपि**—भावमूलक लिपि चित्रलिपि का ही विकसित रूप है। चित्रलिपि में चित्र वस्तुओं को व्यक्त करते थे, पर भावलिपि में स्थूल वस्तुओं के अतिरिक्त भावों को भी व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, चित्रलिपि में सूर्य के लिए एक गोला बनाते थे, पर भावमूलक लिपि में यह गोला सूर्य के अतिरिक्त सूर्य से संबद्ध अन्य भावों को भी भाव व्यक्त करने लगा, जैसे सूर्य देवता, गर्मी, दिन तथा प्रकाश आदि। इसी प्रकार चित्रलिपि में पैर का चित्र पैर को व्यक्त करता था, पर भावमूलक लिपि में यह चलने का भी भाव व्यक्त करने लगा। कभी-कभी चित्रलिपि के दो चित्रों को एक में मिलाकर भी भावमूलक लिपि में भाव व्यक्त किये जाते हैं। जैसे दुःख के लिए आँख का चित्र और उससे बहता आँसू, या सुनने के लिये दरवाजे का चित्र और उसके पास कान। भावमूलक लिपि के उदाहरण उत्तरी अमरीका, चीन तथा पश्चिमी अफ्रीका आदि में मिलते हैं। इस लिपि के द्वारा बड़े-बड़े पत्र आदि भी भेजे जाते हैं। इस प्रकार यह बहुत ही समुन्नत रही है। इसका आधुनिक काल का एक मनोरंजक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। उत्तरी अमेरिका के एक रेड इंडियन सरदार ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसीडेंट के यहाँ एक पत्र अपनी भावमूलक लिपि में भेजा था। पत्र मूलतः रंगीन था, पर यहाँ उनका स्केच-मात्र दिया जा रहा है—
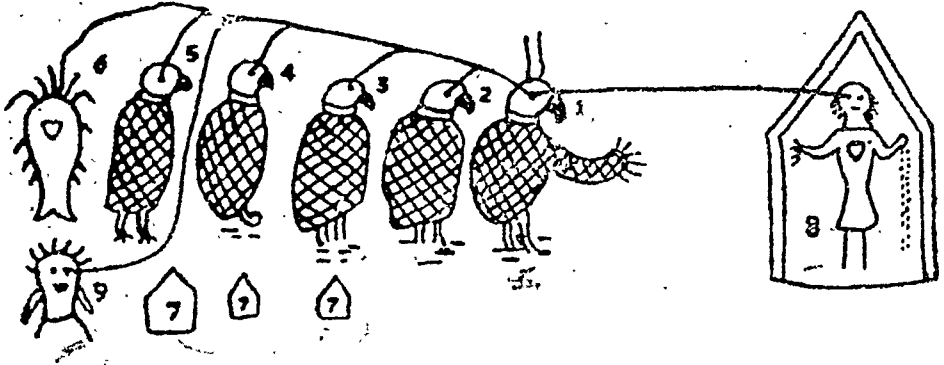
इसमें जो अंक दिये गये हैं वे मूल पत्र में नहीं थे। समझने के लिए ये दे दिये गये हैं। पत्र पाने वाला (नं० ८) ह्वाइट हाउस में प्रेसिडेंट है। पत्र लिखने वाला (१) उस कबीले का सरदार है, जिसका गणचिह्न गरुड़ (टोटेम) है। उसके सर पर दो रेखाएँ यह स्पष्ट कर रही हैं कि वह सरदार है। उसका आगे बढ़ा हुआ हाथ यह प्रकट कर रहा है कि वह मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। उसके पीछे उस के कबीले के चार सिपाही हैं। छठा व्यक्ति मत्स्य-गणचिह्न के कबीले का है। नवाँ किसी और कबीले का है। उसके सर के चारों ओर की रेखाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि पहले सरदार से वह अधिक शक्तिशाली सरदार है। सबकी आँखों को मिलाने वाली

रेखा उनमें मतैक्य प्रकट करती है। नीचे के तीन मकान यह संकेत दे रहे हैं कि ये तीन सिपाही प्रेसिडेंट के तौर-तरीके अपनाने को तैयार हैं। पत्र इस प्रकार पढ़ा जा सकता है—'मैं, गरुड़-गणचिह्न के कबीले का सरदार, मेरे कई सिपाही, मत्स्य-गण-चिह्न के कबीले का एक व्यक्ति, और एक अज्ञात गणचिह्न के कबीले का, मुझसे अधिक शक्तिशाली सरदार एकत्र हुए हैं, और आपसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। हमारा आपसे सभी बातों में मतैक्य है। हमारे तीन सिपाही आपके तौर-तरीके अपनाने को तैयार हैं।'

इस प्रकार भावलिपि चित्रलिपि तथा सूत्रलिपि की अपेक्षा अधिक समुन्नत तथा अभिव्यक्ति में सफल है। चीनी आदि कई लिपियों के बहुत से चिह्न आज तक इसी श्रेणी के हैं।

(५) भाव-ध्वनिमूलक लिपि—चित्रलिपि का विकसित रूप ध्वनिमूलक लिपि है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा, पर उसके पूर्व ऐसी लिपि के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है जो कुछ बातों में तो भावमूलक है और कुछ बातों में ध्वनि-मूलक। मेसोपोटेमियन, मिस्री तथा हित्ती आदि लिपियों को प्रायः लोग भावमूलक कहते हैं, पर यथार्थतः ये भाव-ध्वनिमूलक है, अर्थात् कुछ बातों में भावमूलक है और कुछ बातों में ध्वनिमूलक। आधुनिक चीनी लिपि भी कुछ अंशों में इसी के अंतर्गत आती है। इन लिपियों के कुछ चिह्न चित्रात्मक तथा भावमूलक होते हैं, और कुछ ध्वनिमूलक; और दोनों ही का इसमें यथासमय उपयोग होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सिंधुघाटी की लिपि भी इसी श्रेणी की है।

(६) ध्वनिमूलक लिपि—चित्रलिपि तथा भावमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को प्रकट करते हैं। उनसे उस वस्तु या भाव के नाम से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। पर इसके विरुद्ध, ध्वनिमूलक लिपि में चिह्न किसी वस्तु या भाव को न प्रकट कर, ध्वनि को प्रकट करते हैं, और उनके आधार पर किसी वस्तु या भाव का नाम लिखा जा सकता है। नागरी, अरबी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं की लिपियाँ ध्वनिमूलक ही हैं।

ध्वनिमूलक लिपि के दो भेद हैं—(क) आक्षरिक (syllablic), (ख) वर्णिक (alphabetic)।

(क) आक्षरिक लिपि— आक्षरिक लिपि में चिह्न किसी अक्षर (syllable) को व्यक्त करता है, वर्ण (alphabet) को नहीं। उदाहरणार्थ, नागरी लिपि आक्ष-रिक है। इसके 'क' चिह्न में क्+अ (दो वर्ण) इसके मिले हैं, पर विरुद्ध रोमन लिपि वर्णिक है। उसके K में केवल 'क्' है। अक्षरात्मक लिपि सामान्यतया प्रयोग की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु भाषाविज्ञान में जब हम ध्वनियों का विश्लेषण करते चलते हैं तो इसकी कमी स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी का 'कक्ष' शब्द लें। नागरी लिपि में इसे लिखने पर स्पष्ट पता नहीं चलता कि इसमें कौन-कौन वर्ण हैं, पर रोमन

लिपि में यह बात (kaks'a) बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। नागरी में इसे देखने पर लगता है कि इसमें दो ध्वनियाँ हैं, पर रोमन में लिखने पर सामान्य पढ़ा-लिखा भी कह देगा कि इसमें पाँच ध्वनियाँ हैं। अरबी-फ़ारसी, बँगला, गुजराती, उड़िया तथा तेलगू आदि लिपियाँ अक्षरात्मक ही हैं।

(ख) **वर्णिक लिपि**—लिपि-विकास की प्रथम सीढ़ी चित्रलिपि है तो इसकी अंतिम सीढ़ी वर्णिक लिपि है। वर्णिक लिपि में ध्वनि की प्रत्येक इकाई के लिए अलग चिह्न होते हैं और उनके आधार पर सरलता से किसी भी भाषा का कोई भी शब्द लिखा जा सकता है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह आदर्श लिपि है। रोमन लिपि प्रायः इसी प्रकार की है। ऊपर नागरी और रोमन में 'कक्ष' लिखकर आक्षरिक लिपि और वर्णिक लिपि के भेद को तथा आक्षरिक की तुलना में वर्णिक लिपि की अच्छाई को हम लोग देख चुके हैं।

लिपि के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाएँ—लिपि के विकास-क्रम में प्राप्त छः प्रकार की लिपियों का ऊपर परिचय दिया गया है। विकास-क्रम की क्रमिक सीढ़ी की दृष्टि से सूत्रलिपि तथा भावाभिव्यक्ति की प्रतीकात्मक पद्धति (या प्रतीकात्मक लिपि) का विशेष स्थान नहीं है। वे दोनों भाव प्रकट करने की विशिष्ट पद्धतियाँ हैं, जो किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से आज तक चली आ रही हैं। उनका न तो उनकी पूर्ववर्ती चित्रलिपि से कोई सम्बन्ध है और न बाद की भावमूलक या ध्वनि-मूलक लिपि से। दूसरे शब्दों में न तो ये दोनों चित्रलिपि से विकसित हुई हैं और न इनसे उनके बाद प्रचलन में आने वाली भावमूलक या ध्वनिमूलक लिपियाँ।

इन दो को छोड़ देने पर शेष चार प्रकार की लिपियाँ बचती हैं। इनमें, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रारम्भिक लिपि चित्रलिपि है। चित्र का ही विकसित रूप भावमूलक लिपि है; और, आगे चलकर भावमूलक लिपि विकसित होकर भावध्वनि-मूलक लिपि और फिर ध्वनिमूलक हुई है। ध्वनिमूलक में भी आक्षरिक ध्वनिमूलक लिपि प्रारम्भिक है, और वर्णिक ध्वनिमूलक लिपि उससे विकसित तथा बाद की है।

इस प्रकार लिपि के विकास-क्रम में चित्रलिपि प्रथम अवस्था की लिपि है और वर्णिक ध्वनिमूलक लिपि अन्तिम अवस्था की।

संसार की प्रमुख लिपियों के दो प्रधान वर्ग—संसार की लिपियाँ प्रमुख रूप से दो वर्गों में रक्खी जा सकती हैं : (१) जिनमें अक्षर या वर्ण नहीं हैं, जैसे क्यूनीफॉर्म तथा चीनी आदि। (२) जिनमें अक्षर या वर्ण हैं, जैसे रोमन तथा नागरी आदि।

पहले वर्ग की प्रधान लिपियाँ—

१. क्यूनीफ़ार्म
२. हीरोग्लाफ़िक
३. क्रीट की लिपि (या लिपियाँ)

४. सिंधुघाटी की लिपि
५. हिट्टाइट लिपि
६. चीनी लिपि
७. प्राचीन मध्य-अमेरिका तथा मेक्सिको की लिपियाँ, सात तथा

दूसरे वर्ग की प्रधान लिपियाँ

१. दक्षिणी सामी लिपि
२. हिब्रू लिपि
३. फ़ोनेशियन लिपि
४. खरोष्ठी लिपि
५. आर्मेइक लिपि
६. अरबी लिपि
७. भारतीय लिपि
८. ग्रीक लिपि
९. लैटिन लिपि

नौ हैं। यहाँ इनमें कुछ प्रधान पर (कुछ पर विस्तार से और कुछ पर संक्षेप में) विचार किया जा रहा है। सिंधुघाटी की लिपि तथा खरोष्ठी लिपि पर अलग विचार न करके 'भारतीय लिपियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत ही भारत की अन्य लिपियों के साथ विचार किया गया है।

क्यूनीफ़ॉर्म या (तिकोनी या फन्नी या वाणमुख) लिपि

क्यूनीफ़ॉर्म विश्व की प्राचीनतम लिपि है। इसकी उत्पत्ति कब और कहाँ हुई, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहने के लिए अभी तक कोई आधार-सामग्री नहीं मिली है। यों इसका प्राचीनतम प्रयोग ४,००० ई० पू० के आसपास मिलता है, साथ ही विद्वानों का अनुमान है कि सुमेरी लोग इसके उत्पत्तिकर्ता हैं। इसके तिकोने स्वरूप के कारण आधुनिक काल में, १७०० ई० के आसपास, इसे 'क्यूनीफ़ॉर्म' नाम दिया गया। इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम थामस हाइड ने और कुछ लोगों के अनुसार ई० कैम्फर ने किया।

४,००० ई० पू० से १ ई० पू० तक इसका प्रयोग मिलता है। इसके अध्ययन-कर्त्ताओं का कहना है कि मूलतः यह लिपि चीनी सिंधुघाटी की मूल लिपि की भाँति चित्रात्मक थी। बेबिलोनिया में गीली मिट्टी की टिकियों या ईंटों पर लिखने के कारण धीरे-धीरे यह तिकोनी रेखात्मक हो गई है। यह कारण ठीक ही है। गीली मिट्टी पर गोल, धनुषाकार या और प्रकार की रेखा खींचने की अपेक्षा सीधी रेखा बनाना सरल है। इसके अतिरिक्त रेखा का गीली मिट्टी पर तिकोनी हो जाना भी स्वाभाविक है। जल्दी में रेखा जहाँ से बननी आरम्भ होगी, वहाँ गहरी और चौड़ी होगी और जहाँ समाप्त होगी, लिखने की कलम के उठने के कारण कम गहरी और

कोणाकार। इस प्रकार उसका स्वरूप त्रिभुजाकार रेखा-सा हो जायेगा। इस लिपि में

इसी प्रकार की छोटी रेखाएँ पड़ी, खड़ी और विभिन्न कोणों पर आड़ी मिलती हैं। आरम्भ में इसमें बहुत अधिक चिह्न थे, पर बाद में सुमेरी लोगों ने ५७० के लगभग कर दिये और उनमें भी ३० ही विशेष रूप से प्रयोग में आते थे।

चित्रात्मकता से विकसित होकर यह लिपि भावमूलक लिपि हुई। (सूर्य का चित्र =दिन, या पैर का चित्र=चलना आदि) तथा और बाद में असीरिया और फारस आदि में यह अर्द्ध-अक्षरात्मक हो गई। पहले यह ऊपर से नीचे को लिखी जाती थी, पर बाद
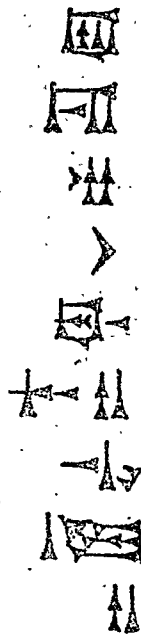
में दाएँ से बाएँ, और फिर बाएँ से दाएँ भी लिखी जाने लगी थी। सुमेरी, बेबीलोनी असीरी तथा ईरानी लोगों के अतिरिक्त हिट्टाइट, मितानी, एलामाइट तथा कस्साइट आदि ने भी इस लिपि का प्रयोग किया है।

हीरोग्लाइफ़िक लिपि—इसे पवित्राक्षर, गूढ़ाक्षर, चित्राक्षर या बीजाक्षर आदि भी कहते हैं। विश्व की प्राचीन लिपियों में हीरोग्लाइफ़िक लिपि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका यह नाम यूनानियों का रक्खा हुआ है, जिसका मूल अर्थ 'पवित्र खुदे अक्षर' है। प्राचीन काल में मन्दिर की दीवारों पर लेख खोदने में इस लिपि का प्रयोग होता था। इसी आधार पर इसका यह नाम रक्खा गया। विद्वानों का अनुमान है कि ४,००० ई० पू० में यह लिपि प्रयोग में आ गई थी। आरम्भ में यह चित्रलिपि थी, बाद में भावलिपि हुई और फिर यह अक्षरात्मक हो गई। संभवतः इसी लिपि में अक्षरों का सर्वप्रथम विकास हुआ। इस लिपि में स्वर नहीं थे, केवल व्यंजन थे। पर

ये व्यंजन ठीक आज के अर्थ में नहीं थे। एक ध्वनि के लिए कई चिह्न थे और साथ ही एक चिह्न का कई ध्वनियों के लिये भी प्रयोग हो सकता था। सामान्यतः यह दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी, पर कभी-कभी इसके उलटे या एकरूपता के लिये दोनों ओर से भी। हीरोग्लाइफ़िक लिपि के घसीट लिखे जाने वाले रूप का नाम 'हारीटिक' है, जो पहले ऊपर से नीचे को और बाद में दायें से बायें को लिखी जाने लगी थी। बाद में इसका एक और भी घसीट रूप विकसित हो गया जिसकी संज्ञा 'डेमोटिक' है। यह दायें से बायें को लिखी जाती थी। हीरोग्लाइफिक लिपि का प्रयोग ४००० ई० पू० से छठी ई० तक, हीराटिक का २००० ई० पू० से ३री सदी तक तथा डेमोटिक का ७वीं सदी ई० पू० से ५वीं सदी तक मिलता है।

क्रीट की लिपियाँ—क्रीट में चित्रात्मक तथा रेखात्मक दो प्रकार की लिपियाँ लती हैं। इन लिपियों की उत्पत्ति सम्भवतः वहीं हुई थी, पर इन पर मिस्र की हीरोग्लाइफ़िक लिपि का प्रभाव पड़ा था। कुछ लोगों के अनुसार इन लिपियों की उत्पत्ति में भी हीरोग्लाइफ़िक लिपि का हाथ रहा है। चित्रात्मक लिपि में लगभग १३५ चित्र मिलते हैं। यह बाद में कुछ अंशों में भावमूलक लिपि तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक लिपि हो गई थी। इसको कभी तो बायें से दायें और कभी-कभी क्रमशः दोनों ओर से लिखा जाता था। इसका प्राचीनतम प्रयोग ३,००० ई० पू० में होता था। १७०० ई० पू० के लगभग इसकी समाप्ति हो गई। रेखात्मक लिपि का प्रयोग १७०० ई० पू० के बाद प्रारम्भ हुआ। इसमें लगभग ९० चिह्न थे। इसे बाएँ से दाएँ लिखते थे। यह कुछ अंशों में चित्रात्मक तथा भावात्मक और कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक थी। १२०० ई० पू० से पूर्व ही यह समाप्त हो गई।

हिट्टाइट लिपि—हिट्टाइट लिपि को 'हिट्टाइट हीरोग्लाइफ़िक' लिपि भी कहते हैं। इसका प्राचीनतम प्रयोग १५०० ई० पू० का मिलता है। ६०० ई० पू० के बाद इसका प्रयोग नहीं मिलता। यह लिपि मूलतः चित्रात्मक थी, पर बाद में कुछ अंशों में भावात्मक तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक हो गई थी। इसमें कुल ४१९ चिह्न मिलते है। इसे कभी दाएँ से बाएँ और कभी इसके उलटे लिखते थे। इसकी उत्पत्ति कुछ लोग मिस्री हीरोग्लाइफ़िक से तथा कुछ लोग क्रीट की चित्रात्मक लिपि से मानते हैं, पर डॉ० डिरिजर ने इन मतों का विरोध करते हुए इसे वहीं की उत्पत्ति माना है। उनके अनुसार केवल यह सम्भव है कि आविष्कारकों ने इसके आविष्कार की प्रेरणा मिस्र से ली हो।

चीनी लिपि—चीनी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चीन में तरह-तरह की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार एक आठ प्रकार की त्रिपंक्तीय रेखाओं से यह निकली है। इन विशिष्ट रेखाओं का प्रयोग वहाँ के धार्मिक कर्मकांडों में होता था। एक चीनी कहावत के अनुसार लगभग ३२०० ई० पू० फू-हे नाम के एक व्यक्ति ने चीनी में लेखन का आविष्कार किया। कुछ धार्मिक प्रवृत्तिवालों के अनुसार लिपि के देवता 'त्जूशेन' ने चीनी लिपि बनाई। एक मत से त्सं-की नामक एक बहुत ही प्रतिभासंपन्न व्यक्ति चीन में २७०० ई० पू० के लगभग पैदा हुआ। उसने एक दिन एक

कछुआ देखा और उसी के स्वरूप को देखकर उसने उसके भाव के लिए उसका रेखा-चित्र बनाया। बाद में उसने इस दिशा में और सोच-समझ कर सभी आसपास के जीवों और निर्जीव वस्तुओं का रेखाचित्र बनाया और उसी का विकसित रूप चीनी लिपि हुआ। चीनी भाषा के प्रसिद्ध बौद्ध विश्वकोश 'फा युअन् चु लिन्' (निर्माण-काल सन् ६६८ ई०) में भी 'त्सं-की' को ही चीनी लिपि का आविष्कारक माना गया है, और यह भी लिखा है कि उसने पक्षी के पैरों आदि को देखकर यह लिपि बनाई। त्सं-की का होना और कछुआ या पक्षी के पैर को देखकर लिपि बनाना ठीक हो या नहीं, पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आसपास के इसी प्रकार के जन्तुओं तथा पदार्थों को देखकर लोगों ने उनके चित्र बनाये और उसी से मूल चीनी लिपि (जो चित्रात्मक लिपि थी) का जन्म हुआ। यों विद्वानों ने चीनी लिपि की उत्पत्ति के बारे में तरह-तरह के अनुमान लगाये हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं—(१) पीरू की ग्रन्थ-लिपि की भाँति की किसी लिपि से यह निकली है। (२) सुमेरी लोगों की क्यूनीफ़ॉर्म लिपि से इसका जन्म हुआ है। (३) चीन में हाथ की मुद्रा से भाव-प्रदर्शन की पद्धति के अनुकरण पर इसका जन्म हुआ है। (४) सजावट या स्वामित्व-चिह्न रूप में बनने वाले चिह्नों से इसका जन्म हुआ है। (५) मिस्र की हीरोग्लाइफ़ी से इसकी उत्पत्ति हुई है। (६) मेसोपोटामिया, ईरान या सिंधुघाटी की चित्रलिपि की प्रेरणा से इन लोगों ने अपनी लिपि बनाई है।

इनमें छठा कुछ ठीक लगता है, क्योंकि इन देशों से चीन का सम्बन्ध था और इन देशों में चीन से पहले चित्रलिपि बनी। अतः असम्भव नहीं है कि इन लोगों की लिपि से प्रेरणा लेकर चीनियों ने अपने यहाँ के जीवों और निर्जीवों के आकार-अनुकरण के आधार पर अपनी लिपि बनाई हो।

चीनी लिपि में भी अन्य अक्षर या वर्णविहीन लिपियों की भाँति अक्षर या वर्ण नहीं हैं। वहाँ अलग-अलग शब्दों के लिए अलग-अलग चिह्न हैं। अपने मूल रूप में अधिकतर चिह्न चित्र रहे होंगे, पर धीरे-धीरे परिवर्तित होते-होते अधिकतर चित्र रूढ़ि-रूप में चिह्न-मात्र रह गये। उदाहरणार्थ, पहले सूर्य के लिये

बनता था, जो सूर्य का चित्र है, पर बाद में परिवर्तित होते-होते यह हो गया। पहाड़ पहले यों
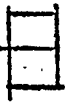
बनता था, जिसे पहाड़ का चित्र कहा जा सकता है, पर बाद में यह घिसते-घिसते या विकसित होते-होते

हो गया।

चीनी लिपि में कुल लगभग ५०,००० चिह्न हैं। उन्हें मोटे रूप से चार वर्गों में रक्खा जा सकता है—

(क) चित्रात्मक चिह्न—ये चिह्न चीनी लिपि के आरम्भिक काल के हैं। यों अधिकतर चिह्न, जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, चित्र से विकसित होकर अब चिह्न मात्र रह गये हैं। पर इन चिह्नों में भी इनकी चित्रात्मकता देखी जा सकती है। ईश्वर, कुआँ, मछली, सूर्य, चाँद तथा पेड़ आदि के चिह्न इसी श्रेणी के हैं।

(ख) संयुक्त चित्रात्मक चिह्न—ये चिह्न पहले की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था के हैं। जब बहुत-से चित्रात्मक चिह्न बन गये तो दो या अधिक चित्रात्मक चिह्नों के संयोग से कुछ चीजों के लिए चिह्न बने। जैसे, दो पेड़ के चिह्न पास-पास बना कर 'जंगल' का चिह्न बना; या एक रेखा खींच कर उसके ऊपर सूर्य बनाकर 'सवेरा' का चिह्न बनाया गया, जिसमें रेखा क्षितिज का प्रतीक है। इसी प्रकार मुँह से निकलती हवा दिखाकर 'शब्द', तथा मुँह से कोई निकलती चीज दिखलाकर 'जीभ' के चिह्न बनाये गये। चित्रात्मक चिह्नों की भाँति ही, आज ये संयुक्त चित्रात्मक चिह्न भी, चित्र न रहकर चिह्न-मात्र रह गये हैं।

(ग) भाव-चिह्न—स्थूल वस्तुओं और जीवों के लिए चित्र बन जाने पर सूक्ष्म भावों को चीनी लिपि में व्यक्त करने का प्रश्न आया। कहना न होगा कि भावों के चित्र खींचना सरल न होने के कारण यह समस्या बड़ी विकट थी। पर, चीनी लोगों ने ड़ी चतुराई से काम लिया और सूक्ष्म भावों को भी चित्रों द्वारा प्रकट कर लिया। कुछ मनोरंजक उदाहरण यहाँ दिये जा सकते हैं। सूर्य और चाँद के चिह्न एक स्थान पर बनाकर 'चमक' या 'प्रकाश' का भाव प्रकट किया गया। इसी प्रकार स्त्री+लड़का =अच्छा, भला। खेत+पुरुष=शक्ति। पेड़ के बीच सूरज=पूरब। दो हाथ= मित्रता। दो स्त्रियाँ=झगड़ा। आँख में निकलते आँसू=दुःख। दरवाजा+कान= सुनना। मुँह+पक्षी=गाना, तथा छत के नीचे स्त्री=शांति इत्यादि। कहना न होगा कि ये सभी भावचित्र बहुत ही उचित और सफल हैं और चीनियों के सूक्ष्म चिन्तन के ज्वलंत उदाहरण हैं।

(घ) ध्वन्यर्थ संयुक्त चिह्न—चीनी भाषा में एक शब्द के प्रायः बहुत-से अर्थ होते हैं। कहते समय वे अर्थभेद के लिए विभिन्न सुरों में शब्दों का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार उच्चारण करने में तो सुर के कारण अर्थ स्पष्ट हो जाता है, पर कोई लिखित चीज पढ़ने में इस अनेकार्थता के कारण पहले बहुत कठिनाई होती थी। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए चीनियों ने ध्वनि के संकेत के लिए लिखने में चिह्नों का दोहरा प्रयोग आरम्भ किया। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक चीनी शब्द 'फँग' है, जिसका अर्थ 'बुनना' तथा 'कमरा' होता है। अब यदि यों कहीं 'फँग' लिख दें तो पढ़नेवाला यह न जान पायेगा कि यह 'फँग' बुनने का अर्थ रखता है, या 'कमरे' का; और यह न जान पाने से उसको ठीक सुर में या ठीक ध्वनि से उच्चरित न कर पायेगा। पर यदि 'फँग' के साथ कोई और शब्द लिख दें, या किसी और भाव को प्रकट कर देने वाला चिह्न बना दें, जिससे अर्थ तथा ध्वनि स्पष्ट हो जाय तो यह

कठिनाई न रहेगी। चीन में यही किया गया है। जहाँ 'फैंग' का बुनना अर्थ अपेक्षित होता है, उसके साथ 'सिल्क' का भाव प्रकट करने वाला चिह्न बना देते हैं, और जहाँ कमरा अर्थ अपेक्षित होता है, 'दरवाजे' के भाव के चिह्न बना देते हैं; और चूँकि दरवाजे और कमरे तथा सिल्क और बुनने में सम्बन्ध है, अतः उन शब्दों के संकेत से पढ़नेवाला ठीक अर्थ समझ कर उनका उच्चारण ठीक सुर में करता है। इसीलिए इस दोहरे प्रयोग को 'ध्वन्यर्थ चिह्न' कहते हैं। कहना न होगा कि इसके कारण चीनी लिपि को शुद्ध पढ़ना सम्भव है, नहीं तो बड़ी कठिनाई होती।

दोहरे प्रयोगों में केवल उपर्युक्त उदाहरण में दिये गये सम्बन्धित शब्द ही नहीं रक्खे जाते। इसके लिए तीन, अन्य तरीके भी अपनाये जाते हैं। एक के अनुसार कभी-कभी उसी चिह्न को दो बार रख देते हैं। जैसे 'को' के कई अर्थ हैं, जिनमें एक 'बड़ा भाई' भी है। 'बड़े भाई' के भाव तथा सुर की ओर संकेत करने के लिए 'को' का एक चिह्न न बनाकर दो चिह्न बना देते हैं। इस प्रकार एक ही चिह्न का दोहरा प्रयोग भी सुर और अर्थ स्पष्ट करने का काम दे जाता है। यह परम्परागत रूप से रूढ़ि-सा हो गया है कि दो 'को' साथ होने पर बड़े भाई का ही अर्थ लिया जाय, अतः इससे लोग यही भाव समझ जाते हैं। पहले उदाहरण की भाँति इसमें कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है।

दूसरे के अनुसार सुर तथा अर्थ की स्पष्टता के लिए दो पर्याय साथ रखते हैं। हिन्दी से इनका उदाहरण लेकर स्पष्टता से इसे समझाया जा सकता है। 'हरि' का अर्थ विष्णु, साँप, पानी तथा मेढक आदि होता है। इसी प्रकार 'क्षीर' का अर्थ 'दूध' तथा 'पानी' आदि होता है। अब यदि 'हरि क्षीर' लिखें तो अर्थ में गड़बड़ी न होगी। दोनों शब्दों के अनेक अर्थों में 'पानी' उभयनिष्ठ है, अतएव स्वभावतः उसी की ओर लोगों का ध्यान जायेगा। चीनी में इस प्रकार के समानार्थी शब्द-चिह्नों को एक स्थान पर रखकर भी उपर्युक्त कठिनाई का निवारण किया जाता है। कुंग-पा (डरना), शु-मु (पेड़), या काओ-सु (कहना) आदि ऐसे ही चिह्न हैं।

अन्तिम प्रकार के प्रयोग में जो दो शब्द-चिह्न साथ-साथ रखे जाते हैं, उनमें आपस में कोई इस प्रकार का स्पष्ट करने वाला सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, हु (=चीता) के लिए लाव-हु (वृद्ध चीता) लिखते हैं। इस लाव (वृद्ध) का चीते से कोई सम्बन्ध नहीं है, पर प्रयोग की रूढ़ि के कारण इन दोनों चिह्नों को एक स्थान पर देखकर लोग समझ जाते हैं कि यह 'चीते' के लिए आया है।

चीनी लिपि में अलग-अलग अक्षर या वर्ण न होने के कारण विदेशी नामों के लिखने में कठिनाई होती है। इसके लिए ये लोग अधिकतर नामों का चीनी भाषा में अनुवाद करके लिखते हैं। उदाहरणार्थ, उन्हें 'केशवचंद्र' लिखना होगा तो वे 'ईश्वर' और 'चाँद' के भाव प्रकट करने वाले चिह्न एक स्थान पर रख देंगे। बुद्ध भगवान के पिता 'शुद्धोदन' का चीनी लिपि में लिखा जो रूप मिलता है, उसका मूल अर्थ 'शुद्ध चावल' (शुद्ध+ओदन) है। पर, इसके अतिरिक्त यदि किसी नाम से ध्वनि में मिलता-

जुलता उन्हें अपनी भाषा में कोई शब्द मिल जाता है तो उसी के चिह्न से काम चलाते हैं। बुद्ध की स्त्री 'यशोधरा' का नाम उन्होंने इसी पद्धति से लिखा है। सुना है इधर ध्वनि की इस पद्धति पर ही वे लोग अधिकतर विदेशी नाम तथा शब्द लिखने लगे हैं और अनुवाद करके लिखने का तरीका छोड़ा जा रहा है।

चीनी लिपि दो दृष्टियों से बहुत कठिन है : एक तो यह कि इसके चिह्न बहुत टेढ़े-मेढ़े हैं। रेखाओं के भीतर रेखाएँ और बिन्दु आदि इतने घिचपिच होते हैं कि इन्हें बनाना तथा याद रखना दोनों ही बहुत कठिन है। दूसरे, इसमें लिपि-चिह्न बहुत अधिक (४०५० हजार) हैं। इस प्रकार के (कठिन) इतने अधिक चिह्नों को याद रखना कितना कठिन है, कहने की आवश्यकता नहीं। चिह्न के कठिन होने की-कठिनाई को पार करने के लिए चीनी लोगों ने अपने ५०० बहुप्रयुक्त चिह्नों को सरल बनाया है और अब उसका प्रयोग ही वहाँ विशेष रूप से चल रहा है। चिह्नों को सरल बनाने के लिए स्ट्रोक या रेखाओं की संख्या घटा दी गई है। उदाहरण के लिए, पहले यदि किसी चिह्न में १६ छोटी-छोटी रेखाएँ थीं तो उसके स्थान पर अब ६ या ७ से लोग काम चला लेते हैं। कुछ वर्ष पूर्व यह सुनने में आया था कि चीनी रोमन लिपि को अपनाने जा रहे हैं। तीस अक्षरों (२४ व्यंजन+६ स्वर) को प्रस्तावित रोमन में ल्ह, च्ज, ङ के लिए नये चिह्न बनाए गए थे तथा अनावश्यक अक्षर छोड़ दिए जाने वाले थे।

馬 (मा) = घोड़ा

媽 (माँ) = माँ

麻 (मा) = एक कपड़ा

罵 (मा) = गाली देना

[चीनी लिपि का उदाहरण। कोष्ठक में उच्चारण है।]

अरबी लिपि—अरबी लिपि विश्व की एक बहुप्रचलित लिपियों में है। इसकी उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। प्राचीन काल में एक पुरानी सामी लिपि थी, जिसकी आगे चलकर दो शाखाएँ हो गईं। एक उत्तरी सामी लिपि और दूसरी दक्षिणी सामी लिपि। बाद में उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक तथा फोनेशियन लिपियाँ विकसित हुईं। इनमें आर्मेइक ने विश्व की बहुत-सी लिपियों को जन्म दिया, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा नेवातेन आदि प्रधान हैं। नेवातेन से सिनेतिक और सिनेतिक से पुरानी अरबी लिपि का जन्म हुआ। यह जन्म कब और कहाँ हुआ, इस सम्बन्ध में

निश्चय के साथ कहने के लिए प्रमाणों का अभाव है। अरबी का प्राचीनतम अभिलेख ५१२ ई० का है। अतएव इस आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसके पूर्व अरबी लिपि का जन्म हो चुका था। अरबी लिपि का विकास मक्का, मदीना, बसरा, कुफ़ा तथा दमस्कस आदि नगरों में हुआ और इनमें अधिकांश की अपनी-अपनी शैली तथा विशेषताएँ विकसित हो गईं, जिनमें प्रमुख दो थीं—(क) कुफ़ी (मेसोपोटामिया के कुफ़ा नगर में विकसित); (ख) नस्खी (मक्का-मदीना में विकसित)। इनमें 'कुफ़ी' का विकास ७वीं सदी के अन्तिम चरण में हुआ। यह कलात्मक लिपि थी और स्थायी मूल्य के अभिलेखों के प्रयोग में तरह-तरह से आती थी। 'नस्खी' का विकास बाद में हुआ और इसका प्रयोग सामान्य कार्यों तथा त्वरालेखन आदि में होता था। अरबी लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है। इसमें कुल २८ अक्षर हैं।

इस लिपि को यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के कई देशों ने अपना लिया, जिनमें तुर्की (अब तुर्कों ने अरबी लिपि छोड़कर 'रोमन' को अपना लिया है), फ़ारस, अफ़गानिस्तान तथा हिन्दुस्तान प्रधान हैं। इन विभिन्न देशों में जाकर इस लिपि के कुछ चिह्नों तथा अक्षरों की संख्या में परिवर्तन भी आ गये हैं। उदाहरणार्थ, फ़ारसी में 'रे' और 'जे' कुछ परिवर्तित ढंग से लिखने लगे तथा उनकी भाषा में अरबी की २८ ध्वनियों के अतिरिक्त प, च, ज्ह तथा ग, ये चार ध्वनियाँ और थीं, अतः इनके लिए ४ नये चिह्न

پ چ ژ گ

अरबी वर्णमाला में सम्मिलित कर लिए गये, और इस प्रकार फ़ारसी अक्षरों की संख्या ३२ हो गई। भारत में उर्दू तथा कश्मीरी आदि के लिए भी अरबी लिपि अपनाई गई। यहाँ फ़ारस वालों ने जो वृद्धि की थी, उसे तो स्वीकार किया ही गया, उसके अतिरिक्त

ٹ ڈ ڑ ھ ں ی ے

सात चिह्न और बढ़ा लिए गये। इस प्रकार उर्दू आदि भाषाओं की लिपि में अक्षरों की संख्या ३७ हो गई। इन बढ़े अक्षरों में ध्वनि की दृष्टि से केवल तीन ही (टे, डाल, ड़े)

नवीन हैं। अन्य चार में (ۂ) अक्षर (ہ) का, (ء) अक्षर (ا) का (ے) अक्षर (ی) का दूसरा रूप मात्र है, और (لا) अक्षर (ل) तथा (ا) का योग मात्र है। इसीलिए, ये महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। भारत में 'रे', 'जे' आदि की बनावट अरबी की भाँति न होकर प्रायः फ़ारसी की भाँति है। 'काफ़' और 'गाफ़' अक्षर अरबी या फ़ारसी की भाँति के न होकर

ک   گ

हैं। तुर्की, पश्तो तथा मलय आदि भाषाभाषियों ने भी अरबी में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन-परिवर्द्धन कर लिये। अरबी तथा उससे निकली सभी लिपियाँ पुरानी सामी की भाँति व्यंजन-प्रधान हैं। स्वरों के लिए 'जेर', 'ज़बर', 'पेश' तथ 'मद' आदि का सहारा लेकर पूर्ण अंकन का प्रयास किया जाता है, पर वह उतना वैज्ञानिक नहीं है, जितना नागरी या रोमन आदि में है। इस दृष्टि से अरबी तथा उससे निकली अन्य सभी लिपियों में सुधार अपेक्षित है।

भारतीय लिपियाँ

सिन्धुघाटी लिपि—भारत में लिखने की कला का ज्ञान लोगों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। इसके प्राचीनतम नमूने सिंधुघाटी (पंजाब के मांटगोमरी जिले के हड़प्पा तथा सिंधु के लरकाना जिले के मोहनजोदड़ो में प्राप्त सीलों पर) में मिले हैं। हेरास, लैंग्डन, स्मिथ, गैंड तथा हंटर ने इसे समझने और पढ़ने का प्रयास किया है, किन्तु अभी तक किसी को सफलता नहीं मिल सकी है।

सिन्धुघाटी की लिपि की उत्पत्ति—सिंधुघाटी की लिपि की उत्पत्ति के विषय में प्रधानतः तीन मत हैं : (क) **द्रविड़ उत्पत्ति**—इस मत के समर्थकों में एच० हेरास तथा जान मार्शल प्रधान हैं। इन लोगों के अनुसार सिंधुघाटी की सभ्यता द्रविड़ों की थी, और वे लोग इस लिपि के जनक तथा विकास करने वाले थे। इस मत के समर्थकों के तर्क पुरातत्त्ववेत्ताओं को इतने सशक्त नहीं लगे हैं कि उन्हें स्वीकार किया जा सके। (ख) **सुमेरी उत्पत्ति**—एल० ए० वैडेल के तथा डॉ० प्राणनाथ के अनुसार सिंधुघाटी की लिपि सुमेरी लिपि से निकली है। वैडेल के अनुसार सिंधु की घाटी में ४००० ई० पू० सुमेरी लोग थे, और उन्हीं की भाषा तथा लिपि वहाँ प्रचलित थी। वस्तुतः प्राचीन भारत, मध्य एशिया, क्रीट तथा इजिप्ट की पुरानी लिपियाँ चित्रलिपि थीं और व्यापारिक सम्बन्धों के कारण उनमें कुछ साम्य भी है, किन्तु आज इतने दिन बाद यह कहना कठिन है कि इस प्रकार की लिपि के मूल निर्माता कौन थे, और किन लोगों ने मूल निर्माताओं से इसे सीखा? (ग) **आर्य या असुर उत्पत्ति**—कुछ लोगों के अनुसार सिंधु की घाटी में आर्य या असुर (जो जाति तथा संस्कृति में आर्यों से सम्बद्ध थे) रहते थे और इन्हीं लोगों ने इस लिपि का निर्माण किया। इन लोगों के अनुसार

प्राचीन एलामाइट, सुमेरी तथा मिस्री लिपियों से, इस लिपि का साम्य इस कारण है कि इन तीनों ही देशों में लिपि भारत से ही गई है। (दीक्षीत—प्रीहिस्टारिक सिविलाइजेशन ऑव् इंडस वैली, पृ० ४६)।

ये तीनों ही मत अपने समर्थकों को ही मान्य हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि आधार सूत्र की कमी के कारण इस लिपि की उत्पत्ति या उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिंधुघाटी की लिपि में कुछ चिह्न तो चित्र जैसे हैं—
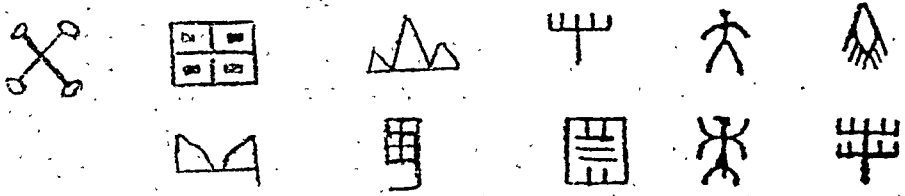
और कुछ अक्षर जैसे—
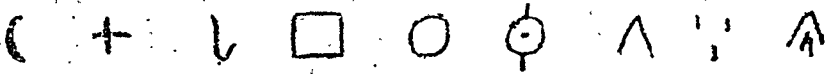
विद्वानों का कहना है कि यह लिपि यदि शुद्ध भावमूलक होती तो इतने थोड़े चिह्नों से काम नहीं चलता, जितने वहाँ मिले हैं। इसी आधार पर लोगों ने अनुमान लगाया है कि यह भावमूलकता और अक्षरात्मकता के संधि-स्थल पर है। अर्थात्, कुछ चिह्न चित्रमूलक हैं, और कुछ अक्षर-से हैं। डिरिंजर ने इसी आधार पर इसे 'ट्रांजिशनल स्क्रिप्ट' (भाव-ध्वनिमूलक लिपि) कहा है।

सिंधुघाटी की लिपि में कुल कितने चिह्न हैं, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। इसका कारण यह है कि वर्गीकरण में कुछ लोग तो कई चिह्नों को क चिह्न का ही लेखन के कारण परिवर्तित रूप मानते हैं, और कुछ लोग उन्हें अलग चिह्न मानते हैं। इस सम्बन्ध में तीन विद्वानों के मत प्रधान हैं। हन्टर के अनुसार चिह्नों की संख्या २५३, लैंग्डन के अनुसार २२८ तथा गैड और स्मिथ के अनुसार ३९६ है।

भारत में लिपिज्ञान की प्राचीनता—सिंधुघाटी की लिपि के प्रकाश में आने के पूर्व विदेशी विद्वानों का यह मत रहा है कि भारत में लिखने का प्रचार बहुत बाद में हुआ। मैक्समूलर ने पाणिनि का काल ४थी शताब्दी ई० पू० माना है अ उनके अनुसार, पाणिनि के अष्टाध्यायी में लिपि के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है। इस प्रकार मैक्समूलर के अनुसार ४थी शताब्दी ई० पू० के बाद भारत में लिपि क प्रचार हुआ। बर्नेल के अनुसार भारतवासियों ने ४थी या ५वीं शताब्दी ई० पू० में फोनेशियन लोगों से लिखने की कला सीखी। डॉ० बूलर ने उपर्युक्त दोनों मतों को अस्वीकार करते हुए अपना मत सामने रखा। इनके अनुसार ५०० ई० पू० या इसके भी पहले भारतीयों ने सेमिटिक लिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया।

इधर भारत में लिपि या लेखन-ज्ञान की प्राचीनता (सिंधुघाटी की लिपि को छोड़कर) के विषय में पर्याप्त सामग्री प्रकाश में आई है। यहाँ इनमें से कुछ प्रधान का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

भारत में लिपि या लेखन-ज्ञान की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाली सामग्री अधोलिखित वर्गों में रखी जा सकती है—(१) ग्रन्थों के प्रमाण : क. विदेशी, ख. देशी; (२) शिलालेख आदि; (३) अन्य।

१. ग्रन्थों के प्रमाण [क] विदेशी—बहुत से विदेशी ग्रन्थों में भारत में लिपि-ज्ञान की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रमाण मिलते हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं : (अ) एरिअन ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में सिकन्दर के सेनापति निआर्कस (३२६ ई० पू०) द्वारा लिखित भारत के वृत्तांत को संक्षेप में दिया है। उससे स्पष्ट है कि यहाँ लिखने के लिए कागज बनाया जाता था। (आ) मेगस्थनीज (३०५ ई० पू०) ने अपने 'इंडिका' में भारत में सड़कों पर मील के पत्थरों के गड़े होने का उल्लेख किया है। उसने जन्म-कुण्डली का भी उल्लेख किया है। (इ) चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत में लिपिज्ञान के अत्यन्त प्राचीन काल में होने का उल्लेख किया है। (ई) प्रसिद्ध चीनी विश्वकोश 'फ़ावान-वान-शु-लिन' में ब्राह्मी लिपि का उल्लेख है। उसके अनुसार इस लिपि का आविष्कार ब्रह्मा ने किया था।

[ख] देशी—(अ) बौद्ध ग्रन्थ सुत्तंत (सुत्रांत) में, जो राइस डेविड्ज के अनुसार ४५० ई० पू० के आसपास का, पर डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार छठी सदी ई० पू० से भी पूर्व का है, 'अक्खरिका' खेल का उल्लेख है, जिसमें आकाश में या पीठ पर अक्षर लिखे जाते थे। (आ) विनय-पिटक (ओल्डनबर्ग के अनुसार ४०० ई० पू० के भी पूर्व) में लेखन-कला की प्रशंसा की गई है। (इ) जातकों में अनेक नियमों को सुवर्ण पत्रों पर खुदवाने, व्यक्तिगत तथा सरकारी पत्र लिखने एवं ऋण लेने पर ऋणापर्ण लिखे जाने के रूप में लेखन-कला के उल्लेख हैं। ओझा जी के अनुसार जातकों में ई० पू० छठी सदी या उससे भी पूर्व के समाज का चित्र है। (ई) रामायण, महाभारत (४०० ई० पू०), अर्थशास्त्र (४थी सदी ई० पू०) तथा अष्टाध्यायी (गोल्डस्टकर के अनुसार बुद्ध के पूर्व, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ४४०-४३० ई० पू०) आदि में भी लिपि-विषयक पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। पीछे मैक्समूलर के अनुसार पाणिनि में लेखन के विषय में प्रमाण न मिलने का उल्लेख किया जा चुका है, पर वह नितान्त भ्रामक है। अष्टाध्यायी में लिपि, लिबि, लिपिकर, लिबिकर, ग्रन्थ तथा यवनानी आदि के उल्लेख लिपिज्ञान की निश्चितता स्पष्ट कर देते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाणिनीकालीन भारतवर्ष' (पृ० ३०६–७) पठनीय है।

लिपि तथा लेखन-विषयक कुछ प्रमाण और भी पहले के मिलते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में 'हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति अक्षरं तत्समं' में स्पष्ट रूप से अक्षर का उल्लेख है। तैत्तिरीय में 'वर्णः स्वरः मात्रा बलम्' में वर्ण, स्वर तथा मात्रा का मिलना भी उसी ओर संकेत करता है। इसी प्रकार, यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय

संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा पंचविंश ब्राह्मण आदि में भी प्रमाण हैं। पर, इतना ही नहीं, प्राचीनतम वेद ऋग्वेद में भी इस प्रकार के संकेत हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय भी आर्यों को लेखन-ज्ञान था। 'सहस्रम् में ददतो अष्टकर्ण्यः' से स्पष्ट है कि गायों के कान पर ८ की संख्या लिखी जाती थी।

२. शिलालेख—भारत में लेखन-कला प्राचीन होने पर भी पुराने लेख आदि नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि लोग पत्ते, कागज़ तथा भोजपत्र आदि पर लिखा करते थे और ये वस्तुएँ सड़-गल गई। पुराने लेख केवल पत्थरों पर कुछ मिले हैं। प्राचीनतम शिलालेख अजमेर जिले के 'बडली' गाँव तथा नेपाल के 'पिपरावा' में मिले हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये लेख लगभग ४८३ ई० पू० के हैं। आगे चलकर ४थी सदी ई० पू० के कुछ लेख तथा ३री सदी ई० में खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपि में अशोक के शिलालेख मिलते हैं।

३. अन्य—कुछ पुराने सिक्कों तथा ब्रह्मा और सरस्वती की मूर्तियों (जिनके हाथ में पुस्तक बनी है) से भी भारत में लेखन-कला के प्राचीन काल से प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं।

भारत की प्राचीन लिपियाँ

सिंधुघाटी की लिपि को थोड़ी देर के लिये छोड़ दिया जाय तो भारत के पुराने शिलालेखों और सिक्कों पर दो लिपियाँ (ब्राह्मी, खरोष्ठी) मिलती हैं। किंतु, पुस्तकों में और अधिक लिपियों के नाम मिलते हैं। उदाहरण के लिए, जैनों के पन्नवणासूत्र में १८ लिपियों के नाम हैं: १ बंभी, २. जवणालि, ३. दोसापुरिया, ४. खरोट्ठी, ५. पुक्खरसारिया, ६. भोगवइया, ७. पहाराइया, ८. उपअन्तरिक्खिया, ९. अक्खरपिट्ठिया, १०. तेवणइया, ११. गि (णि) राहइया, १२. अंकलिवि, १३. गणितलिवि, १४. गंधव्वलिवि, १५. आदंसलिवि, १६. माहेसरी, १७. दामित्ती, १८. पोलिंदी। इसी प्रकार, बौद्धों की संस्कृत पुस्तक 'ललितविस्तार' में ६४ लिपियों के नाम दिए गए हैं: १. ब्राह्मी, २. खरोष्ठी, ३. पुष्करसारी, ४. अंगलिपि, ५. अंगलिपि, ६. मगधलिपि, ७. मांगल्यलिपि, ८. मनुष्यलिपि, ९. अंगुलीयलिपि, १०. शकारिलिपि, ११. ब्रह्मवल्लीलिपि, १२. द्राविड़िलिपि, १३. कनारिलिपि, १४. दक्षिणिलिपि, १५. उग्रलिपि, १६. सख्यालिपि १७. अनुलोमलिपि, १८. ऊर्ध्वधनुर्लिपि, १९. दरदलिपि, २०. खास्यलिपि, २१. चीनलिपि, २२. हूणलिपि, २३. मध्याक्षरविस्तरलिपि, २४. पुष्पलिपि, २५. देवलिपि, २६. नागलिपि, २७. यक्षलिपि, २८. गन्धर्वलिपि, २९. किन्नरलिपि, ३०. महोरगलिपि, ३१. असुरलिपि, ३२. गरुड़लिपि, ३३. मृगचक्रलिपि, ३४. चक्रलिपि, ३५. वायुमरुलिपि, ३६. भौमदेवलिपि, ३७. अंतरिक्षदेवलिपि, ३८. उत्तरकुरुद्वीपलिपि, ३९. अपरगौड़ादिलिपि, ४०. पूर्वविदेहलिपि, ४१, उत्क्षेपलिपि, ४२. निक्षेपलिपि, ४३. विक्षेपलिपि, ४४. प्रक्षेपलिपि, ४५. सागरलिपि, ४६. वज्रलिपि, ४७. लेखप्रतिलेखलिपि, ४८. अनद्रतलिपि, ४९. शास्त्रावर्तलिपि, ५०. गणावर्तलिपि, ५१. उत्क्षेपावर्तलिपि,

५२. विक्षेपावर्तलिपि, ५३. पादलिखितलिपि, ५४. द्विरुत्तरपदसन्धिलिखितलिपि, ५५. दशोत्तरपदसन्धिलिखितलिपि, ५६. अध्याहारिणीलिपि, ५७. सर्वरुतसंग्रहणीलिपि, ५८. विद्यानुलोमलिपि, ५९. विमिश्रितलिपि, ६०. ऋषितपस्तप्तलिपि, ६१. धरणी-प्रेक्षणीलिपि, ६२. सर्वौषधनिष्यन्दलिपि, ६३. सर्वसारसंग्रहणीलिपि, ६४. सर्वभूतरुद्-ग्रहणीलिपि। इनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दो का ही आज पता है। यों, इनमें के अधिकांश नाम कल्पित ज्ञात होते हैं।

खरोष्ठी—खरोष्ठी लिपि के प्राचीनतम लेख शहबाजगढ़ी और मनसेरा में मिले हैं। आगे चलकर बहुत से विदेशी राजाओं के सिक्कों तथा शिलालेखों आदि में यह लिपि प्रयुक्त हुई है। इसकी प्राप्त सामग्री मोटे रूप से ४थी सदी ई० पू० से ३री सदी ई० तक मिलती है। इसके इंडोबैक्ट्रियन, बैक्ट्रियन, काबुलियन, बैक्ट्रोपालि या आर्यन आदि और भी कई नाम मिलते हैं, पर अधिक प्रचलित नाम 'खरोष्ठी' ही है, जो चीनी साहित्य में ७वीं सदी तक मिलता है। नाम पड़ने के कारण—'खरोष्ठी' नाम पड़ने के सम्बन्ध में निम्नांकित ९ मत मिलते हैं—(१) चीनी विश्वकोश 'फ़ा-वान-शु-लिन' के अनुसार, किसी 'खरोष्ठ' नामक व्यक्ति ने इसे बनाया था। (२) यह 'खरोष्ठ' नामक सीमाप्रान्त से अर्धसभ्य लोगों में प्रचलित होने के कारण इस नाम की अधि-कारिणी बनी। (३) इस लिपि का केन्द्र कभी मध्य एशिया का एक प्रान्त 'काशगर' था, और 'खरोष्ठ' काशगर का ही संस्कृत रूप है। (४) सिलवाँ लेवी के अनुसार खरोष्ठ काशगर के चीनी नाम 'किया-लु-शु-ता-ले' का विकसित रूप है, और काशगर ही इस लिपि का केन्द्र रहा है। (५) गदहे की खाल पर लिखी जाने से इसे ईरानी में 'खर-पोश्त' कहते थे, और उसी का अपभ्रंश रूप 'खरोष्ठ' है। (६) डॉ० प्रजिलुस्की के अनुसार, यह गदहे की खाल पर लिखी जाने से 'खरपृष्ठी' और फिर 'खरोष्ठी' कहलाई। (७) कोई आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' था, और उसी का भ्रामक व्युत्पत्ति के आधार पर बना संस्कृत रूप 'खरोष्ठ' है। (८) डॉ० राजबली पांडेय के अनुसार, इस लिपि के अधिक अक्षर गदहे के ओठ की तरह बेढंगे हैं, अतएव यह नाम पड़ा है। (९) डॉ० चटर्जी के अनुसार, हिब्रू में खरोशेथ (Kharosheth) का अर्थ 'लिखावट' है। उसी से लिया जाने के कारण इसका नाम 'खरोशेथ' पड़ा, जिसका संस्कृत रूप खरोष्ठ और उससे बना खरोष्ठी है। इन नवों में कोई भी बहुत पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है, अतएव इस सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। यों अधिक विद्वान् इस लिपि की उत्पत्ति, जैसा कि आगे हम लोग देखेंगे, आर्मेइक लिपि से मानते हैं, अतएव आर्मेइक शब्द 'खरोट्ठ' से इसके नाम को संबद्ध माना जा सकता है।

उत्पत्ति—खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सभी लोग एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो मत हैं: (१) यह आर्मेइक लिपि से निकली है। (२) यह शुद्ध भारतीय लिपि है।

प्रथम मत का सम्बन्ध प्रसिद्ध लिपिवेत्ता जी० बूलर से है। इनका कहना है कि—(१) खरोष्ठी लिपि आर्मेइक लिपि की भाँति दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है।

(२) खरोष्ठी लिपि के ११ अक्षर बनावट की दृष्टि से आर्मेइक लिपि के ११ अक्षरों से बहुत मिलते-जुलते हैं, साथ की इन ११ अक्षरों की ध्वनि भी दोनों लिपियों में एक है। यथा—

खरोष्ठी		आर्मेइक	य		योध्
क	...	क़ाफ्	र	...	रेश्
ज	...	ज़ाइन्	व	...	वाव्
द	...	दालेथ्	ष	...	शिन्
न	...	नून	स	...	त्साधे
ब	...	बेथ्	ह	...	हे

(३) आर्मेइक लिपि खरोष्ठी से पुरानी है। (४) तक्षशिला में आर्मेइक लिपि में प्राप्त शिलालेख से यह स्पष्ट है कि भारत से आर्मेइक लोगों का सम्बन्ध था। इन चारों बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि खरोष्ठी लिपि आर्मेइक से ही संबद्ध है। भारतीय लिपियों के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भी इस मत से सहमत हैं। आधुनिक युग के लिपिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् और अध्येता डिरिंजर ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

दूसरा मत खरोष्ठी को शुद्ध भारतीय मानने का है। डॉ० राजबली पांडेय ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पैलोग्राफ़ी' में इस मत का प्रतिपादन किया है। यह मत केवल तर्क पर आधारित है। पूर्व मत की भाँति ठोस आधारों की इसमें कमी है, अतः जब तक इस मत के पक्ष में कुछ ठोस सामग्री उपलब्ध न हो जाय, पूर्व मत की तुलना में इसे मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती है।

खरोष्ठी लिपि उर्दू लिपि की भाँति पहले दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी, पर बाद में सम्भवतः ब्राह्मी लिपि के प्रभाव के कारण यह भी नागरी आदि लिपियों की भाँति बाएँ से दाएँ को लिखी जाने लगी। डिरिंजर तथा अन्य विद्वानों का अनुमान है कि इस दशा-परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ और बातों में भी ब्राह्मी लिपि ने इसे प्रभावित किया। इसमें मूलतः स्वरों का अभाव था। वृत्त, रेखा या इसी प्रकार के अन्य चिह्नों द्वारा ह्रस्व स्वरों का अंकन इसमें ब्राह्मी का ही प्रभाव है। इसी प्रकार, भ, ध तथा घ आदि के चिह्न आर्मेइक में नहीं थे। यह भी ब्राह्मी के ही आधार पर इसमें सम्मिलित किये गये।

खरोष्ठी लिपि को बहुत वैज्ञानिक या पूर्ण लिपि नहीं कहा जा सकता। यह एक कामचलाऊ लिपि थी, और आज की उर्दू लिपि की भाँति इसे भी लोगों को प्रायः अनुमान के आधार पर पढ़ना पड़ता रहा होगा। मात्राओं के प्रयोग की इसमें कमी है, विशेषतः दीर्घ स्वरों (आ, ई, ऊ, ऐ और औ) का तो इसमें सर्वथा अभाव है। संयुक्त व्यंजन भी इसमें प्रायः नहीं के बराबर या बहुत थोड़े हैं। इसकी वर्णमाला में अक्षरों की मूल संख्या ३७ है।

खरोष्ठी लिपि के अक्षर यहाँ दिये जा रहे हैं—

अ —	ण —
इ —	त —
उ —	थ —
ए —	द —
ओ —	ध —
अं —	न —
क —	प —
ख —	फ —
ग —	ब —
घ —	भ —
च —	म —
छ —	य —
ज —	र —
झ —	ल —
ञ —	व —
ट —	श —
ठ —	ष —
ड —	स —
ढ —	ह —

[पहचान के लिए आरम्भ में नागरी अक्षर देकर उनके सामने उसी ध्वनि के खरोष्ठी अक्षर दिये गये हैं।]

ब्राह्मी—ब्राह्मी प्राचीन काल में भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि रही है। इसके प्राचीनतम नमूने बस्ती जिले में प्राप्त पिपरावा के स्तूप में तथा अजमेर जिले के बडली (या बर्ली) गाँव के शिलालेख में मिले हैं। इनका समय ओझाजी ने ५वीं सदी ई० पू० माना है। उस समय से लेकर ३५० ई० तक इस लिपि का प्रयोग मिलता है।

ब्राह्मी नाम का आधार—इस लिपि के 'ब्राह्मी' नाम पड़ने के सम्बन्ध में कई मत हैं—(१) इस लिपि का प्रयोग इतने प्राचीन काल से होता आ रहा है कि लोगों के इसके निर्माता के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है और धार्मिक भावना से विश्व की अन्य चीजों की भाँति 'ब्रह्मा' को इसका भी निर्माता मानते रहे हैं, और इसी आधार पर उसे ब्राह्मी कहा गया है। (२) चीनी विश्वकोश 'फ़ा-वान-शु-लिन' (६६८ ई०) में

इसके निर्माता कोई ब्रह्म या ब्रह्मा (Fan) नाम के आचार्य लिखे गये हैं, अतएव उनके नाम के आधार पर इनका ब्राह्मी पड़ना सम्भव है। (३) डॉ० राजबली पांडेय के अनुसार, भारतीय आर्यों ने ब्रह्म (=वेद अर्थात् ज्ञान) की रक्षा के लिए इसको बनाया। इस आधार पर भी इसके ब्राह्मी नाम पड़ने की सम्भावना हो सकती है। (४) कुछ लोग साक्षर समाज—ब्राह्मणों—प्रयोग में विशेष रूप से होने के कारण भी इसके नाम से पुकारे जाने का अनुमान लगाते हैं। वस्तुतः 'खरोष्ठी' की भाँति ही ब्राह्मी के विषय में भी व्यक्त ये मत केवल अनुमान पर ही आधारित हैं। ऐसी स्थिति में इनमें किसी को भी सनिश्चय स्वीकार नहीं किया जा सकता। यों पहला मत अन्यों की अपेक्षा अधिक तर्क-सम्मत लगता है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति—ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर विद्वानों में बहुत विवाद होता आया है। इस विषय में व्यक्त किये गये विभिन्न मत दो प्रकार के हैं। एक के अनुसार ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से सम्बन्ध रखती है और दूसरे के अनुसार इसका उद्भव और विकास भारत में हुआ है। यहाँ दोनों प्रकार के मतों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है—

(क) ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से निकली है—इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं, जिनमें प्रमुख निम्नांकित हैं—(१) फ्रेंच विद्वान् कुपेरी का विश्वास है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति चीनी लिपि से हुई है। यह मत सब से अधिक अवैज्ञानिक है। चीनी और ब्राह्मी चिह्न आपस में सभी बातों में एक-दूसरे से इतने दूर हैं कि किसी एक से दूसरे को सम्बन्धित मानने की कल्पना ही हास्यास्पद है। इस मत की व्यर्थता के कारण ही प्रायः विद्वानों ने इस विषय पर विचार करते समय इसका उल्लेख तक नहीं किया है। (२) डॉ० अल्फ्रेड मूलर, जेम्स प्रिंसेप तथा सेनार्ट आदि ने यूनानी लिपि से ब्राह्मी को उत्पन्न माना है। सेनार्ट का कहना है कि सिकंदर के आक्रमण के समय भारतीयों से यूनानियों का सम्पर्क हुआ और उसी समय इन लोगों ने यूनानियों से लिखने की कला सीखी। पर, जैसा कि बूलर तथा डिरिंजर आदि ने लिखा है, सिकंदर के आक्रमण (३२५ ई० पू०) के बहुत पहले से यहाँ लेखन का प्रचार था,[1] अतएव यूनानी लिपि से इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। (३) हलवे के अनुसार ब्राह्मी एक मिश्रित लिपि है, जिसके ८ व्यंजन ४थी सदी ई० पू० आर्मेइक लिपि से; ६ व्यंजन, दो प्राथमिक स्वर, सब मध्यवर्ती स्वर और अनुस्वार खरोष्ठी से; तथा ५ व्यंजन एवं तीन प्राथमिक स्वर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यूनानी से लिये गये हैं, और यह मिश्रण सिकन्दर के आक्रमण (३२५ ई० पू०) के बाद हुआ है। कहना न होगा कि ४थी सदी ई० पू०, एवं सिकंदर के आक्रमण से पूर्व ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था, अतएव यह मत भी अल्फ्रेड मूलर के मत की भाँति ही निस्सार है। (४) ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति सामी (सेमिटिक) लिपि से मानने के पक्ष में

---

१. पीछे भारत में लेखन की प्राचीनता पर विचार किया जा चुका है।

अधिक विद्वान् हैं, किन्तु इनमें सभी दृष्टियों से पूर्णतः मतैक्य नहीं है। यहाँ कुछ प्रधान मत दिये जा रहे हैं। (अ) वेबर, कस्ट, वेनफे तथा जेनसन आदि विद्वान् सामी लिपि की फोनीशियन शाखा से ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत का मुख्य आधार है कुछ ब्राह्मी और फ़ोनीशियन लिपिचिह्नों का रूप-साम्य। इसे स्वीकार करने में दो आपत्तियाँ हैं : (१) जैसा कि डिरिंजर ने अपनी पुस्तक 'द अलफ़ाबेट' में दिखलाया है, जिस काल में इस प्रकार के प्रभाव की सम्भावना हो सकती है, भारत तथा फ़ोनेशियन लोगों के प्रत्यक्ष सम्पर्क के कोई निश्चित और प्रौढ़ प्रमाण नहीं मिलते।[1] (२) फ़ोनीशियन लिपि से ब्राह्मी की समानता स्पष्ट नहीं है। इसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यह समानता यदि स्पष्ट होती तो इस सम्बन्ध में इस विषय के चोटी के विद्वानों में इतना मतभेद न होता। इस प्रसंग में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत ही समीचीन ज्ञात होता है कि दोनों केवल एक अक्षर (ब्राह्मी 'ज' और फ़ोनीशियन 'गिमेल') का ही साम्य है। कहना अनुचित न होगा कि एक अक्षर के साम्य के आधार पर इतने बड़े निर्णय को आधारित करना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। (आ) टेलर तथा सेथ आदि के अनुसार, ब्राह्मी लिपि दक्षिणी सामी लिपि से निकली है। डॉ० आर० एम० साहा ने इसे अरबी से सम्बन्धित माना है। पर, सत्य यह है कि इन लिपियों में समानता नहीं के बराबर है और ऐसी स्थिति में केवल इस आधार पर, कि अरब से भारत का पुराना सम्पर्क था,[2] यह मान लेना न्यायसंगत नहीं लगता कि ब्राह्मी अरबी या दक्षिणी सामी लिपि से निकली है। डीके के अनुसार, असीरिया के कीलाक्षरों (क्यूनीफ़ार्म) से किसी दक्षिणी सामलिपि की उत्पत्ति हुई थी और फिर उससे ब्राह्मी की। इस सम्बन्ध में गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मत पूर्णतः न्यायोचित लगता है कि रूप की विभिन्नता के कारण कीलाक्षरों से न तो किसी सामी लिपि के

---

१. डॉ० राजबली पाण्डेय का कहना है कि ऋग्वेद में (६–५१, १४, ६१, १) इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि फ़ोनीशी लोग मूलतः भारतीय थे और ब्राह्मी तथा फ़ोनीशी लिपि में जो थोड़ा-बहुत साम्य है, वह इसलिए नहीं है कि ब्राह्मी फ़ोनिशियन से निकली है, अपितु इसलिए है कि ब्राह्मी को ही वे अपने साथ ले गये और उसी का विकसित रूप फ़ोनीशी है। पांडेय जी की इस स्थापना के सम्बन्ध में विद्वानों का क्या विचार है, मुझे ज्ञात नहीं है। पर, इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि फ़ोनीशी तथा ब्राह्मी लिपि के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों लिपियों में कुल एक ही अक्षर में समता मिलती है; और केवल एक अक्षर की समता के आधार पर दो लिपियों को संबद्ध या एक-दूसरे से निकली मानना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

२. और यह सम्बन्ध भी इतना अधिक पुराना नहीं मिलता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि ब्राह्मी जो अशोक के समय में इतनी विकसित है, अपने मूल रूप में इससे निकली है।

निकलने की सम्भावना है और न तो सामी से ब्राह्मी की। (इ) कुछ लोग उत्तरी सामी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। इस मत के समर्थकों में प्रधान नाम बूलर का लिया जाता है। यों वेवर, बेनर्फ, पाट, वेस्टरगार्ड, ह्विटने तथा विलियम जोन्स आदि अन्य लोगों के भी इनसे बहुत भिन्न मत नहीं हैं। बूलर का कहना है कि हिन्दुओं ने उत्तरी सामी लिपि के अनुकरण पर कुछ परिवर्तन के साथ अपने अक्षरों को बनाया। परिवर्तन से उसका आशय यह है कि कहीं लकीर को कुछ इधर-उधर हटा दिया, जैसे 'अलेफ' से 'अ' करने में—

जहाँ लकीर न थी, वहाँ नयी लकीर बना दी, जैसे ज़ाइन से 'ज' बनाने में। कहीं-कहीं लकीरें मिटा दी, जैसे 'हेथ' को घ' करने में—

और इसी प्रकार कहीं नीचे लटकती लकीर ऊपर घुमा दी, कहीं तिरछी लकीर सीधी कर दी, कहीं आड़ी लकीर खड़ी कर दी, कहीं त्रिकोण को धनुषाकार बना दिया और कहीं कोण को अर्द्धवृत्त या कहीं लकीर को काटकर छोटी या वड़ी कर दी तो कहीं और कुछ, आशय यह कि जहाँ जो परिवर्तन चाहा, कर लिया।

यहाँ दो बातें कहनी हैं : (१) इतना करने पर भी बूलर को ७ अक्षरों [दालेथ (द) से 'घ', हेथ (ह) से 'ध', तेथ से 'थ', सामेख (स) से 'ष', फ़े (फ़) से 'प', त्साधे से 'च' तथा क़ाफ़ (क़) से 'ख'] की उत्पत्ति ऐसे अक्षरों से माननी पड़ी, जो उच्चारण में भिन्न हैं। (२) बूलर ने जिस प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर 'अलेफ' से 'अ', या इसी प्रकार अन्य अक्षरों की उत्पत्ति सिद्ध की है, यदि कोई चाहे तो संसार की किसी भी लिपि को किसी अन्य लिपि से निकली सिद्ध कर सकता है। उदाहरण के लिए, 'क' अक्षर से यदि अंग्रेजी K को निकला सिद्ध करना चाहें तो कह सकते हैं कि बनाने वाले ने क के बाईं ओर के गोले हटाकर ऊपर की शिरोरेखा तिरछी कर दी और K बन गया या, इसी प्रकार ब्राह्मी के अ—

का मुँह फेर कर सीधी रेखा को जरा हटा दिया और उत्तरी सामी का अलेफ़—

बन गया। इसी तरह जैसा कि ओझा जी ने लिखा है अंग्रेजी A से ब्राह्मी अ—

AHHHK

या D से ब्राह्मी द

ᑕ ᑕ (D

का निकलना सिद्ध किया जा सकता है।

बूलर ने इस द्रविड़-प्राणायाम के आधार पर यह सिद्ध किया कि ब्राह्मी के २२ अक्षर उत्तरी सामी से, कुछ प्राचीन फोनीशीय लिपि से, कुछ मेसा के शिलालेख से तथा ५ असीरिया के बाटों पर लिखित अक्षरों से लिये गये।

इधर डॉ० डेविड डिरिंजर ने भी अपनी 'द अलफाबेट' नामक पुस्तक में बूलर का समर्थन करते हुए ब्राह्मी को उत्तर सामी लिपि से उत्पन्न माना है। उत्तरी सामी से ब्राह्मी के उत्पन्न होने के लिए प्रधान तर्क ये दिये जाते हैं—(१) दोनों लिपियों में साम्य है। (२) भारत में सिंधुघाटी में जो प्राचीन लिपि मिली है, वह चित्रात्मक या भावध्वनिमूलक लिपि है, और उससे वर्णात्मक या अक्षरात्मक लिपि नहीं निकल सकती। (३) ब्राह्मी प्राचीन काल में सामी की भाँति ही दायें से बायें को लिखी जाती थी। (४) भारत में ५वीं सदी ई० पू० के पहले की लिपि के नमूने नहीं मिलते। नीचे एक-एक करके इन तर्कों पर विचार किया जा रहा है—

(१) दोनों लिपियों में प्रत्यक्ष साम्य बहुत ही कम है। ऊपर हम लोग देख चुके हैं कि किस प्रकार तरह-तरह के परिवर्तनों तथा द्रविड़-प्राणायाम के आधार पर बूलर ने दोनों लिपियों के अक्षरों में साम्य स्थापित किया है। साथ ही, हम लोग यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि इस प्रकार यदि साम्य सिद्ध करने पर कोई तुल ही जाय तो संसार की किसी भी दो लिपि में थोड़ा-बहुत साम्य सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह आरोपित साम्य दोनों में सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त है। (२) जहाँ तक दूसरे तर्क का प्रश्न है, दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि यह कहना पूर्णतया भ्रामक है कि चित्रात्मक लिपि या चित्रभावमूलक लिपि या भावध्वनिमूलक लिपि से वर्णात्मक लिपि का विकास ही नहीं होता। प्राचीन काल में संसार की सभी लिपियाँ चित्रात्मक थीं और उनसे ही वर्णात्मक लिपियों का विकास हुआ।[1] दूसरे यह

१. सामी का 'अलेफ' उदाहरणार्थ लें। शब्द का मूल अर्थ 'बैल' है और 'अलेफ' के लिए मूल चिह्न बैल का सर था, जिस पर दो सींग थे। उसी चित्रलिपि से शुद्ध वर्णात्मक लिपि रोमन के A का विकास हुआ है। इस प्रकार, अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। लिपि के विकास-क्रम की चित्रात्मक, भावध्वनिमूलक, अक्षरात्मक तथा वर्णात्मक लिपियाँ सीढ़ियाँ हैं।

कि सिंधुघाटी की लिपि पूर्णतया चित्रलिपि नहीं है। पीछे हम देख चुके हैं कि उसमें कुछ तो चित्र हैं, पर साथ ही कुछ ऐसे भी चिह्न हैं जिन्हें चित्र न कहकर लिपिचिह्न कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। जैसा कि डिरिंजर ने लिखा है, यह भाव और ध्वनि के बीच में थी, अर्थात् भाव-ध्वनिमूलक लिपि थी। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि सिंधुघाटी की लिपि से ब्राह्मी लिपि का विकास संभव नहीं है। संभव है कल कोई टूटी कड़ी मिल जाय और सिंधुघाटी की लिपि से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध हो जाय। यों यदि ध्यान से सिंधु घाटी की लिपि तथा ब्राह्मी को देखा जाय तो दोनों के कई चिह्नों में पर्याप्त साम्य है, और वह साम्य बूलर द्वारा उत्तरी सामी और ब्राह्मी में आरोपित साम्य से कहीं अधिक युक्तियुक्त और तर्कसंगत है। (३) तीसरे तर्क में उत्तरी सामी से ब्राह्मी को निकली मानने वालों ने कहा है कि सामी दायें से बायें को लिखी जाती है, और पुरानी ब्राह्मी के भी कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें वह बायें से दायें न लिखी जाकर दायें से बायें को लिखी गई है। इसका आशय यह है कि सामी से निकली होने के कारण ब्राह्मी मूलतः दायें से बायें को लिखी जाती थी।

ब्राह्मी के उदाहरण जो दायें से बायें लिखे मिले हैं, निम्नांकित हैं—

(क) अशोक के अभिलेखों के कुछ अक्षर।[1]

(ख) मध्यप्रदेश के एरण स्थान में प्राप्त सिक्के का लेख।

(ग) मद्रास के येरगुड़ी स्थान में प्राप्त अशोक का लघु शिलालेख।

बूलर के सामने इनमें केवल प्रथम दो थे। तीसरा बाद में मिला है।

'क' के सम्बन्ध में यह कहना है कि इसके उदाहरण बहुत थोड़े हैं जब कि इसके समकालीन लेखों में बायें से दायें लिखने के उदाहरण इससे कई गुने अधिक हैं। जैसा कि ओझा जी का अनुमान है, यह लेखक की असावधानी के कारण हुआ ज्ञात होता है; या संभव है देशभेद के कारण इस प्रकार का विकास हो गया हो, जैसे छठी सदी के यशोधर्मन के लेख में 'उ' नागरी के 'उ'-सा मिलता है, पर उसी सदी के गारुलक सिंहादित्य के दानपत्र में ठीक उसके उलटा। बँगला का 'च' भी पहले बिल्कुल उल्टा लिखा जाता था। अतएव, कुछ उल्टे अक्षरों के आधार पर लिपि को उल्टी लिखी जाने वाली (दायें से बायें) मानना उचित नहीं कहा जा सकता। 'ख' का सम्बन्ध सिक्के से है। किसी सिक्के पर अक्षरों का उल्टे खुद जाना आश्चर्य नहीं। ठप्पे की गड़बड़ी के कारण प्रायः ऐसा हो जाता है। सातवाहन (आन्ध्र) वंश के राजा शातकर्णि के भिन्न प्रकार के दो सिक्कों पर ऐसी अशुद्धि मिलती है। इसी प्रकार, पार्थिअन अब्दगसिस के एक सिक्के पर का खरोष्ठी का लेख भी उलट गया है। और भी इस प्रकार के उदाहरण हैं। इसी कारण, प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० हुल्श तथा फ्लीट

---

१. जौगढ़ और धौली के लेखों में 'ओ' उल्टा है, तथा जौगढ़ और देहली के शिवालिक स्तंभ में संभवतः 'ध'।

ने बूलर के इस तर्क को अर्थहीन माना है। 'ग' के सम्बन्ध में विचित्रता यह है कि इसमें एक पंक्ति बायें से दायें को लिखी मिलती है तो दूसरी दायें से बाएँ और आगे भी इसी प्रकार परिवर्तन होता गया है। इससे ऐसा लगता है कि लिखने वाला नये प्रयोग या खिलवाड़ की दृष्टि से यह कर रहा था। यदि वह दायें से बायें लिखने के किसी निश्चित सिद्धान्त का पालन करता तो ऐसा न होता। पूरा लेख एक प्रकार का होता।[1] इन सारी बातों को देखने से स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि इन थोड़े से अपवादस्वरूप प्राप्त और अशुद्धियों या नये प्रयोगों पर आश्रित उदाहरणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि पहले ब्राह्मी दायें से बायें को लिखी जाती थी। (४) चौथा तर्क भी महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब तक उत्तरी भारत के सभी संभाव्य स्थलों की पूरी खुदाई नहीं हो जाती, यह नहीं कहा जा सकता कि इससे पुराने शिलालेख नहीं हैं। साथ ही, साहित्यिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो ही चुका है कि इससे बहुत पूर्व[2] से भारत में लिखने का प्रचार था। यह बहुत संभव है कि आर्द्र जलवायु तथा नदियों की बाढ़ आदि के कारण पुरानी लिखित सामग्री जो भोजपत्र आदि पर रही हो, सड़-गल गई हो। इस प्रकार, उत्तरी सामी से ब्राह्मी का सम्बन्ध संभव नहीं है।

ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से सम्बद्ध सिद्ध करने वालों में प्रधान के मतों का विवेचन यहाँ किया गया, और इससे स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी पुष्ट प्रमाण अभी तक नहीं मिला है, जिसके आधार पर ब्राह्मी को किसी विदेशी लिपि से निकली सिद्ध किया जा सके।

इसी प्रकार, कुछ और लोगों ने कुछ और लिपियों से ब्राह्मी को सम्बद्ध माना है। संक्षेप में इन विभिन्न विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी चीनी, आर्मेइक, फ़ोनीशियन, उत्तरी सेमिटिक, दक्षिणी सेमेटिक, मिस्री, अरबी, हिमेअरेटिक क्यूनीफ़ॉर्म, हड़प्पा या ओमंज की किसी अज्ञात लिपि या सेबिअन आदि से मिलती-जुलती तथा सम्बद्ध है।

इस प्रसंग में सीधी बात यह कही जा सकती है कि इस क्षेत्र में काम करने वाले उच्च श्रेणी के विद्वानों ने ब्राह्मी लिपि से इन विभिन्न प्रकार की लिपियों से समता देखी है और सम्बद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि इन विभिन्न लिपियों में किसी एक से भी स्पष्ट और यथार्थ साम्य होता तो इस विषय में इतने मतभेद न होते। इन विद्वानों में इतना अधिक मतभेद यही सिद्ध करता है कि यथार्थतः इनमें विद्वानों को दूर की कौड़ी लानी पड़ी है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मी ऊपर गिनाई गई लिपियों में किसी से भी नहीं निकली है।

१. सन् १८९५ में डान मार्टिनो डी० जिल्वा विक्रमसिंघे ने एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में (पृ० ८९५) लंका में प्राप्त कुने ब्राह्मी के शिलालेखों में दो अक्षरों के उल्टे होने का उल्लेख अपने एक पत्र में किया था, पर उसका चित्र कहीं प्रकाश में नहीं आया, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ कहना संभव नहीं है।

२. बुद्धयुग से भी पूर्व।

(ख) ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में हुई है—इस वर्ग में कई मत हैं, जिन पर यहाँ अलग विचार किया जा रहा है।

(१) **द्रविड़ीय उत्पत्ति**—एडवर्ड थॉमस तथा कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि ब्राह्मी लिपि के मूल आविष्कारक द्रविड़ थे। डॉ० राजबली पांडेय ने इस मत को काटते हुए लिखा है कि द्रविड़ों का मूल स्थान उत्तर भारत न होकर दक्षिण भारत है पर ब्राह्मी लिपि के पुराने सभी शिलालेख उत्तर भारत में मिले हैं। यदि इसके मूल आविष्कर्त्ता द्रविड़ होते तो इसकी सामग्री दक्षिण भारत में भी अवश्य मिलती। साथ ही, उनका यह भी कहना है कि द्रविड़ भाषाओं में सबसे प्राचीन भाषा तमिल है और उसमें विभिन्न वर्गों के केवल प्रथम एवं पंचम वर्ण ही उच्चरित होते हैं, पर ब्राह्मी में पाँचों वर्ण मिलते हैं। यदि ब्राह्मी मूलतः उनकी लिपि होती तो इसमें भी केवल प्रथम और पंचम वर्ण ही मिलते। किसी ठोस आधार के अभाव में कहना तो सचमुच ही सम्भव नहीं है कि ब्राह्मी के मूल आविष्कर्त्ता द्रविड़ ही थे, पर पांडेयजी के तर्क भी बहुत युक्तिसंगत नहीं दृष्टिगत होते। यह सम्भव है कि द्रविड़ों का मूल स्थान दक्षिण में रहा हो, पर यह भी बहुत से विद्वान् मानते हैं कि वे उत्तर भारत में भी रहते थे और मोहनजोदड़ो जैसे विशाल नगर उनकी उच्च संस्कृति के केन्द्र थे। पश्चिमी पाकिस्तान में ब्राहुई भाषा का मिलना (जो द्रविड़-भाषा ही है) भी उनके उत्तर भारत में निवास की ओर संकेत करता है। बाद में, सम्भवतः आर्यों ने अपने आने पर उन्हें मार भगाया और उन्होंने दक्षिण भारत में शरण ली। पांडेयजी यदि सिंधु-सभ्यता से द्रविड़ों का सम्बन्ध नहीं मानते, या ब्राहुई भाषा के उस क्षेत्र में मिलने के लिए कोई अन्य कारण मानते हैं, तो उनकी ओर यदि यहाँ संकेत कर देते तो पाठकों को इस प्रकार सोचने का अवसर न मिलता। पांडेयजी की दूसरी आपत्ति तमिल में ब्राह्मी से कम ध्वनि होने के सम्बन्ध में है। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव नहीं है कि आर्यों ने तमिल या द्रविड़ों से उनकी लिपि ली हो और अपनी भाषा की आवश्यकता के अनुकूल उनमें परिवर्द्धन कर लिया हो। किसी लिपि के प्राचीन या मूल रूप का अपूर्ण तथा अवैज्ञानिक होना बहुत सम्भव है और यह भी असम्भव नहीं है कि आवश्यकतानुसार समय-समय पर उसे वैज्ञानिक तथा पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया हो। किसी अपूर्ण लिपि के निकलने की बात तत्त्वतः असम्भव न होकर सम्भव तथा स्वाभाविक है।

(२) **सांकेतिक चिह्नों से उत्पत्ति**—श्री आर० शामशास्त्री ने 'इंडियन एंटीक्वेरी' जिल्द ३५ में एक लेख देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय में लिखा था। इनके अनुसार, देवताओं की मूर्तियाँ बनने के पूर्व सांकेतिक चिह्नों द्वारा उनकी पूजा होती थी, 'जो कई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए यन्त्र (जो 'देवनगर' कहलाता था) के मध्य में लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न कालान्तर में उन-उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम देवनागरी हुआ।"[1] ओझाजी के शब्दों में शास्त्रीजी

---

१. **प्राचीन लिपिमाला**, पृ० ३०

का यह लेख, गवेषणा के साथ लिखा गया तथा युक्तियुक्त है, पर जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि जिन तांत्रिक पुस्तकों से अवतरण दिये गये हैं, वे वैदिक साहित्य से पहले के या काफी प्राचीन हैं, इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(३) वैदिक चित्रलिपि से उत्पत्ति—श्री जगमोहन वर्मा ने सरस्वती (१६१३-१५) में एक लेखमाला में यह दिखाने का यत्न किया था कि वैदिक चित्रलिपि या उससे निकली सांकेतिक लिपि से ब्राह्मी निकली है। पर, इस लेख के चिन्ह पूर्णतया कल्पित हैं, और उनके लिए प्राचीन प्रमाणों का अभाव है, अतएव इनका मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सिंधु घाटी की लिपि	ब्राह्मी लिपि	नागरी लिपि
(	𑀝	ट
+	𑀓	क
ʅ	𑀳	ह
□	𑀯	व
O	𑀞	ठ
⦽	𑀣	थ
∧	𑀕	ग
⩚	𑀰	श
|	𑀭	र
⁝	𑀇	इ

[तुलना करते समय यह समानता मैंने १६५५ में खोजी थी, तभी से अनेक विद्वानों ने इसे इसी रूप में अपने लेखों या ग्रंथों आदि में दिया। इसका अर्थ क्या यह लिया जाय कि दोनों में संबंध की यह संभावना अब कुछ स्वीकृति-सी पा रही है।]

(४) आर्य-उत्पत्ति—डाउसन, कनिंघम, लासन, थॉमस तथा डॉसन आदि विद्वानों का मत है कि आर्यों ने ही भारत की किसी पुरानी चित्रलिपि के आधार पर ब्राह्मी लिपि को विकसित किया। बूलर ने पहले इसका विरोध करते हुए लिखा था कि जब भारत में कोई चित्रलिपि मिलती ही नहीं, तो चित्रलिपि से ब्राह्मी के विकसित होने की कल्पना निराधार है। पर, संयोग से इधर सिंधु की घाटी में चित्रलिपि मिल गयी है, अतएव बूलर की इस आपत्ति के लिए अब कोई स्थान नहीं है, और सम्भव है

कि यह लिपि आर्यों की अपनी चीज हो। यह तो किसी सीमा तक माना जा सकता है कि भारतीयों[1] ने ही इस लिपि को जन्म दिया तथा इसका विकास किया, पर यह कार्य आर्यों, द्रविड़ों या किसी अन्य जाति के लोगों द्वारा हुआ यह जानने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। ओझाजी का यह कथन—"जितने प्रमाण मिलते हैं, चाहे प्राचीन शिलालेखों के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्य के उल्लेख, सभी यह दिखाते हैं कि लेखन-कला अपनी प्रौढ़ावस्था में थी। उनके आरम्भिक विकास का पता

ब्राह्मी लिपि

अ —
आ —
इ —
उ —
ए —
ओ —
अं —
क —
ख —
ग —
घ —
च —
छ —
ज —
झ —
ञ —
ट —
ठ —
ड —
ढ —
ण —
त —
थ —
द —
ध —
न —
प —
फ —
ब —
भ —
म —
य —
र —
ल —
व —
श —
ष —
स —
ह —

[पहचान के लिए आरम्भ में नागरी लिपि के अक्षर दिये गये हैं।]

१. डॉ० डिरिंजर इस मत से सहमत नहीं हैं कि भारतीयों ने ब्राह्मी को जन्म दिया, पर इसके लिए उन्होंने जो तर्क दिये हैं, उनमें बहुत सार नहीं दिखलाई पड़ता।

नहीं चलता। ऐसी दशा में यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार कैसे हुआ और इस परिपक्व रूप में वह किन-किन परिवर्तनों के बाद पहुँची।...निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि इस विषय के प्रमाण जहाँ तक मिलते हैं, वहाँ तक ब्राह्मी लिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिलती है, और उसका किसी बाहरी स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता।" बहुत ही ठीक है, और जब तक और सामग्री प्रकाश में न आए, इसके आगे कुछ कहना उचित नहीं है। यों इधर सिंधुघाटी की लिपि प्रकाश में आई है और उसके कुछ चिह्न ब्राह्मी से मिलते भी हैं (ऊपर उदाहरण दिये गये हैं)। अतएव इस अवसर पर इतना और जोड़ा जा सकता है कि यह भी असम्भव नहीं है कि ब्राह्मी का विकास सिन्धुघाटी की लिपि से हुआ हो। पर, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना तभी उचित होगा जब सिंधु घाटी के चिह्नों की ध्वनि का पता चल जाय। डॉ० राजवली पाण्डेय का निश्चित मत है कि सिंधुघाटी की लिपि से ही ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है, पर तथ्य यह है कि बिना ध्वनि* का विचार केवल स्वरूप में थोड़ा-बहुत साम्य देखकर दोनों लिपियों को सम्बद्ध मान लेना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

ब्राह्मी लिपि का विकास—ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम नमूने ४थी सदी ई० पू० के मिले हैं। आगे चलकर इसके उत्तरी भारत और दक्षिण भारत के रूपों में अन्तर होने लगा। उत्तरी भारत के रूप पुराने रूप के समीप थे, पर दक्षिणी रूप धीरे-धीरे विकसित होकर भिन्न हो गये। यह लिपि भारत के बाहर भी गई। वहाँ इसके रूपों में धीरे-धीरे कुछ भिन्नताओं का विकास हुआ। मध्य एशिया में ब्राह्मी लिपि में ही पुरानी खोतानी तथा तोखारी आदि भाषाओं के लेख मिलते हैं। ५वीं सदी ई० पू० से लेकर ३५० ई० तक की भारत में प्राप्त ब्राह्मी लिपि थोड़े-बहुत भेद तथा विभिन्नताओं के होते हुए भी ब्राह्मी नाम से ही पुकारी जाती है। ३५० ई० के बाद इसकी स्पष्ट रूप से दो शैलियाँ हो जाती हैं—(१) उत्तरी शैली—इसका प्रचार प्रमुखतः उत्तरी भारत में था। (२) दक्षिणी शैली—इसका प्रचार प्रमुखतः दक्षिणी भारत में था। इन्हीं दोनों शैलियों से और आगे चलकर भारत की विभिन्न लिपियों का विकास हुआ, जिनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

उत्तरी भारत की लिपियाँ

गुप्त लिपि—गुप्त राजाओं के समय (चौथी तथा पाँचवीं सदी) में इसका प्रचार होने से इसे 'गुप्त लिपि' नाम आधुनिक विद्वानों ने दिया है।

कुटिल लिपि—इस लिपि का विकास गुप्त लिपि से हुआ। स्वरों की मात्राओं

*सम्भव है जिन दो चिह्नों को स्वरूप-साम्य की दृष्टि से हम एक समझते हों, मूलतः दो अलग-अलग ध्वनियों के प्रतीक हों।

की आकृति कुटिल या टेढ़ी होने के कारण इसे कुटिल लिपि कहे
तथा शारदा लिपियाँ इसी से निकली हैं। इसका काल छठी-सातवीं

प्राचीन नागरी लिपि—इसका प्रचार उत्तर भारत में ९वीं स...
चरण से मिलता है। यह मूलतः उत्तरी लिपि है, पर दक्षिण भारत में भी कु
पर ८वीं सदी से यह मिलती है। दक्षिण में इसका नाम नागरी न होकर 'नंद
है। आधुनिक काल की नागरी या देवनागरी, गुजराती, महाजनी, राजस्थानी
महाराष्ट्री आदि लिपियाँ इस प्राचीन नागरी के ही पश्चिमी रूप से विकसित हु
और इसके पूर्वी रूप से कैथी, मैथिली तथा बँगला आदि लिपियों का विकास हुआ
इसका प्रचार १६वीं सदी तक मिलता है। नागरी[1] लिपि को नागरी या देवनागरी[2]
लिपि भी कहते हैं।

शारदा लिपि—कश्मीर की आधष्ठात्री देवी शारदा कही जाती हैं, और इसी आधार पर कश्मीर को 'शारदा-मंडल' तथा वहाँ की लिपि को 'शारदा लिपि' कहते हैं। कुटिल लिपि से ही १०वीं सदी में इसका विकास हुआ और नागरी के क्षेत्र के उत्तर-पश्चिम (कश्मीर, सिंध तथा पंजाब आदि) में इसका प्रचार रहा। आनुनिक काल की शारदा, टाकरी, लंडा, गुरमुखी, डोग्री, चमेआली तथा कोछी आदि लिपियाँ इसी से निकली हैं।

आधुनिक लिपियाँ ये हैं : (१) **टाकरी**—ग्रियर्सन इसे शारदा और लंडा की बहन मानते हैं, पर बूलर इसे शारदा की पुत्री मानते हैं। ओझाजी ने इसे ...दा का घसीट रूप कहा है। इसका नाम टक्की भी है। टक्क लोगों की लिपि हों... नाम टक्की है। महाजनी की तरह इसमें भी स्वरों की कमी है। इधर इ... ते रूप विकसित हो गये हैं। 'टाकरी' शब्द टाँक (एक जाति) या ठक्कुर (... की लिपि) से व्युत्पन्न माना जाता है। **सिरमौरी**—यह टाकरी या टक्की लिपि की ही एक उपशाखा है। सिरमौरी बोली इसमें लिखी जाती है। इस पर देवनागरी का प्रभाव पड़ा है। (३) **डोग्री**—यह पंजाब की डोग्री भाषा की लिपि है। इसकी भी उत्पत्ति शारदा से हुई है। (४) **चमेआली**—चंबा प्रदेश की चमेआली भाषा की यह लिपि है। देवनागरी की भाँति यह पूर्ण लिपि है। यह भी शारदा से निकली है। (५) **मंडेआली**—मंडा तथा सुकेत राज्यों की मंडेआली भाषा की यह लिपि है और शारदा

१. नागरी लिपि की उत्पत्ति, विकास, सुधार के संबंध में विस्तृत सामग्री के लिए देखिये प्रस्तुत लेखक की पुस्तक 'हिन्दी भाषा' का 'लिपि' से संबद्ध अध्याय।

२. देवभाषा संस्कृत के लिए यह लिपि प्रयुक्त हुई है, अतः 'नागरी' को देवनागरी' कहा गया है।

। है। (६) जौनसारी—सिरमौरी से मिलती-जुलती 'जौनसारी' लिपि । प्रदेश जौनसार की जौनसारी बोली की लिपि है। यह भी शारदा से ही विकसित हुई है। (७) कोछी—शारदा से उत्पन्न इस लिपि का प्रयोग शिमला से पश्चिम पहाड़ों में बोली जाने वाली कोछी के लिए होता है। यह लिपि भी अवैज्ञानिक है। (८) कुल्लुई—यह भी शारदा से उत्पन्न है। कुल्लू घाटी की बोली कुल्लुई की यह लिपि है। (९) कश्टवारी—कश्मीर के दक्षिण-पूर्व में कश्टवार की घाटी की बोली कश्टवारी इसी लिपि में लिखी जाती है। यह भी शारदा से उत्पन्न है। ग्रियर्सन ने इसे टक्की और शारदा के बीच कड़ी माना है। (१०) लंडा—पंजाब तथा सिन्ध के महाजनों की यह लिपि शारदा से निकली है। सिन्धी तथा लहँदा भाषा इसमें लिखी जाती हैं। यह भी महाजनी लिपि की भाँति अपूर्ण है। इसके कई स्थानीय भेद विकसित हो गए हैं। 'लंडा' शब्द का सम्बन्ध 'लहँदा' से है। (११) मुल्तानी—लहँदा की प्रमुख बोली 'मुल्तानी' की यह लिपि 'लंडा' लिपि से ही विकसित है। (१२) वानिको—वानिको या बनिया, 'लंडा' का सिन्ध में प्रचलित नाम है। अब केवल वहाँ के हिन्दू ही इसका प्रयोग करते हैं। मुसलमानों ने फारसी लिपि को कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ अपना लिया है। (१३) गुरुमुखी—लंडा लिपि को सुधार कर सिक्ख के दूसरे गुरु अंगद ने यह लिपि १६वीं सदी में बनाई। सिक्खों में इस लिपि का विशेष प्रचार है। (१४) नागरी—प्राचीन नागरी या लिपि से ही इसका विकास हुआ है। पूरे हिन्दी प्रदेश की यह लिपि है। मराठी भाषा में भी कुछ परिवर्द्धन-परिवर्तन के साथ यह प्रयुक्त होती है। इनके अतिरिक्त नेपाली, संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश लेखन में भी इसी का प्रयोग होता है।

(१५) गुजराती—यह लिपि भी पुरानी नागरी लिपि से ही निकली है और हिन्दी के लिए प्रयुक्त नागरी की बहन है। गुजरात में देवनागरी तथा सराफी (बनियई या बोडिया भी इनके नाम हैं) भी प्रयोग में आती है। सराफी लिपि महाजनों की भाँति बनियों द्वारा प्रयुक्त होती है और बड़ी ही अपूर्ण है। (१६) महाजनी—हिन्दी क्षेत्र (राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश आदि) में बहीखाता में इसी लिपि का प्रयोग होता है। इसके कुछ ही अक्षर नागरी से भिन्न हैं। इसमें मात्रा नहीं दी जाती, अतः पढ़ने में बड़ी दुरूह है। (१७) मोड़ी—यह महाराष्ट्र की पुरानी लिपि है। लोगों का कहना है कि बाला जी आवाजी ने १७वीं सदी में इसे बनाया, पर यथार्थतः यह और पहले की लिपि है। यह भी पुरानी नागरी से ही निकली है। जल्दी लिखने के लिए इसके अक्षरों के रूप तोड़े-मरोड़े गये हैं, इसी से इसका नाम मोड़ी है। (१८) कैथी—पुरानी नागरी लिपि के पूर्वी रूप से उत्पन्न यह लिपि, कायस्थों में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण 'कैथी' कहलाई। इसका प्रमुख क्षत्र बिहार है। इसके कई स्थानीय रूप हैं—(क) भोजपुरी कैथी—यह भोजपुर प्रदेश में प्रयुक्त होती है और नागरी के बहुत निकट है। (ख) तिरहुती कैथी—इसका क्षेत्र तिरहुत है। (ग)

मगही कैथी—मगही बोली का क्षेत्र इसका क्षेत्र है। (१९) **मैथिली**—इसका क्षेत्र मिथिला है। यह बँगला से बहुत मिलती-जुलती है। पुरानी नागरी के पूर्वी रूप से इसका भी विकास हुआ है। (२०) **बंगाली**—पुरानी नागरी की पूर्वी शैली से ११वीं सदी में इसका जन्म हुआ। कुछ लोग इसका जन्म ७वीं सदी में भी मानते हैं। इसका क्षेत्र बंगाल है। (२१) **असमिया**—यह बँगला लिपि की बहन है। केवल 'र' तथा 'व' के रूप इसमें भिन्न होते हैं। यह असम में प्रचलित है। (२२) **उड़िया**—उड़ीसा की यह लिपि भी बँगला की भाँति पुरानी नागरी की पूर्वी शैली से विकसित हुई है, पर इस पर दक्षिण की तेलगू तथा तमिल लिपियों का प्रभाव पड़ा है, और इसी कारण बड़ी कठिन हो गई है। कुछ लोग इसे पुरानी बँगला लिपि से निकली मानते हैं। इसके दो रूप 'करनी' तथा 'ब्राह्मणी' नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणी ताड़पत्रों पर लिखने में प्रयुक्त होती रही है, और करनी कागज़ पर। गंजाम जिले में उड़िया का एक और रूप मिलता है, जिसके अक्षर अपेक्षाकृत और भी वर्तुलाकार होते हैं। (२३) **मनीपुरी**—इसका क्षेत्र मनीपुर है। यह भी बंगला का ही एक विकसित रूप है। (२४) **नेवारी**—यह बँगला से उत्पन्न है और नेपाल की नेवारी भाषा की लिपि है। इसे नेपाली भी कहते हैं।

मध्य तथा दक्षिणी भारत की लिपियाँ

पीछे कहा जा चुका है कि ३५० ई० के बाद ब्राह्मी लिपि की स्पष्टतः उत्तरी और दक्षिणी दो शैलियाँ हो गईं। इस दक्षिण शैली से ही दक्षिणी भारत की लिपियों का विशेष सम्बन्ध है। (१) **पश्चिमी**—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि उत्तरी शैली के क्षेत्र की सीमा पर प्रचलित होने के कारण कुछ उत्तरी शैली से भी प्रभावित है। इसके क्षेत्र भारत के मध्य तथा दक्षिण के पश्चिमी प्रदेश (गुजरात, काठियावाड़, नासिक, खानदेश तथा सतारा जिले, हैदराबाद, मैसूर के कुछ भाग तथा कोंकण) हैं: ५वीं सदी से ९वीं सदी तक इसका काल है। (२१) **मध्य-प्रदेशी**—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि भी पश्चिमी की भाँति ही उत्तरी शैली से प्रभावित है। इसके क्षेत्र मध्य प्रदेश, बुन्देलखंड, हैदराबाद राज्य का उत्तरी भाग तथा मैसूर के कुछ भाग हैं। ५वीं सदी से ९वीं सदी तक इसका समय है। इसके अक्षरों के सिर संदूक की तरह चौखुण्टे (कभी भरे और कभी खाली) होते हैं, और अक्षरों की आकृति समकोणवाली होती है। (३) **तेलुगु-कन्नड़**—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से विकसित यह लिपि वर्तमान तेलुगु और कन्नड़ लिपियों की जननी होने से इस नाम से अभिहित की गई है। ५वीं सदी से १४वीं सदी तक यह दक्षिण

महाराष्ट्र, शोलापुर, बीजापुर, बेलगाव, धारवाड़, तथा कारवाड़ जिले, हैदराबाद के दक्षिणी तथा मद्रास के उत्तरी-पूर्वी भाग एवं मैसूर के कुछ हिस्सों में प्रचलित रही। १४वीं सदी के बाद इससे तेलुगु तथा कन्नड़ लिपियाँ विकसित हुईं। (४) ग्रन्थ—वर्तमान ग्रन्थ लिपि की जननी होने से इसका नाम ग्रन्थ लिपि है। यह भी ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से निकली है। इसके क्षेत्र में तमिल लिपि का प्रचार रहा है, पर वह अपूर्ण है। अतएव, संस्कृत ग्रन्थों के लिखने के लिए यह लिपि प्रयुक्त होती रही है, इसी कारण इसका नाम 'ग्रन्थ' है। ७वीं सदी के १५वीं सदी तक यह मद्रास प्रात के कुछ भागों में प्रचलित रही है। उसके बाद वर्तमान ग्रन्थ लिपि विकसित हुई और फिर उससे मलयालम तथा तुलू लिपियाँ। (५) कलिंग—ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से इसका विकास हुआ है। कलिंग के आसपास इसका ७वीं से ११वीं सदी तक प्रचार रहा। समय-समय पर इस लिपि पर मध्य प्रदेश, पश्चिमी, तेलुगु-कन्नड़ी, ग्रंथ और नागरी का प्रभाव पड़ता रहा है, इसी कारण भिन्न-भिन्न कालों में इसके भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं। (६) तमिल—वर्तमान तमिल लिपि की यह जननी है और दक्षिणी ब्राह्मी से निकली है। ग्रन्थ लिपि के क्षेत्र में तथा कुछ उसके बाहर भी इसका प्रचार रहा है। इसके अक्षर ग्रन्थ लिपि से समानता रखते हैं। पर साथ ही 'क' तथा 'र' ब्राह्मी की उत्तरी शैली से लिए गये जान पड़ते हैं। (७) वट्टलुत्तु—यह तमिल लिपि का ही विकसित घसीट रूप है। इसके अक्षर बहुधा गोलाई लिए हुए होते हैं। ७वीं सदी से १४वीं सदी तक यह मद्रास के पश्चिमी तथा बिल्कुल दक्षिण में प्रचलित रही है।

भारत के बाहर ब्राह्मी लिपि का विकास- ब्राह्मी लिपि भारत के बाहर भी पहुँची और वहाँ भी उसका विकास हुआ तथा अन्य लिपियाँ उससे विकसित हुईं। पीछे कहा जा चुका है कि भारत के धर्म-प्रचारकों के साथ यह मध्य एशिया पहुँची और वहाँ तोखारी, पुरानी खोतानी तथा ईरानी भाषाओं के लेखन में इसका प्रयोग हुआ। गुप्त लिपि की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से छठी शताब्दी में सिद्धमात्रिका लिपि विकसित हुई (इसे बूलर ने न्यूनकोणीय लिपि कहा है। बोधगया का प्रसिद्ध लेख इसी लिपि में है) और उससे तथा कश्मीरी लिपि से तिब्बती लिपि की उत्पत्ति हुई और इसका थोड़ा-बहुत प्रचार आज भी चीन तथा जापान के बौद्धों में है। ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शैली ने भी भारत के बाहर कम यात्रा नहीं की है। सिंहली, हिंदेशियाई, हिंदचीनी, मान, तलग, आधुनिक बर्मी, कोरियाई, कंबोडियाई, स्यामी, बटक तथा जावा, बाली, सेलिबीज और फिलिपाइन्स की लिपियाँ इसी की पौत्रियाँ या यौत्रियाँ हैं।

यूनानी लिपि—विश्व की अन्य लिपियों की भाँति यूनानी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी तरह-तरह की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, पर यथार्थतः उनमें कोई तत्त्व नहीं है। पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से निकली आर्मेइक की पुत्री एशियानिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है। कुछ विद्वानों के अनुसार, इस पर फोनीशियन लिपि

का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कुछ लोगों के अनुसार यह पूर्णरूपेण फ़ोनीशी लिपि से ही निकली है। पर, जैसा कि डॉ० डिरिंजर ने स्पष्ट किया है (१) यूनानी लिपि के अक्षरों के स्वरूप, (२) उनका क्रम, तथा (३) उनके नाम बहुत अंशों में सामी से मेल खाते हैं, अतएव एशियानिक से होते हुए सामी से इसका निकलना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। ११वीं सदी ई० पू० के लगभग यूनानी लिपि का जन्म हो चुका था। आगे चलकर इससे एट्रुस्कन और उससे लैटिन लिपि का जन्म हुआ, जिससे आधुनिक यूरोप की लिपियाँ निकली हैं। इस प्रकार, यूनानी लिपि बहुत महत्त्वपूर्ण लिपि है। सामी लिपि मूलतः व्यंजन-प्रधान लिपि थी। उर्दू-फ़ारसी लिपि के जानकारों के लिये यह स्पष्ट है। यूनानियों ने उससे अपनी आवश्यकतानुसार व्यंजनों को लिया और कुछ नये व्यंजनों तथा स्वरों के लिये चिह्नों का निर्माण कर अपनी लिपि को अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। इसमें कुल २४ लिपिचिह्न हैं। यह बाएँ से दाएँ को लिखी जाती है।

लैटिन लिपि—लैटिन लिपि अपने वंश की अन्य लिपियों को ले-देकर विश्व की सबसे महत्त्वपूर्ण लिपि है, और विश्व की संस्कृति और सभ्यता की यह सबसे प्रमुख संरक्षिणी है। अरबी लिपि की भाँति लैटिन लिपि की भी उत्पत्ति पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से हुई है। पीछे अरबी लिपि के सम्बन्ध में कहते समय कहा जा चुका है कि उत्तरी सामी लिपि से आर्मेइक और फ़ोनीशी या फ़ोनेशियन लिपियाँ विकसित हुईं। आर्मेइक से कई लिपियाँ निकलीं, जिनमें हिब्रू, पहलवी तथा एशियानिक प्रधान हैं। एशियानिक लिपि से यूनानी लिपि निकली है और यूनानी से एट्रस्कन। एट्रुस्कन लिपि से अम्ब्रिअन, रूनी, ओस्कन तथा लैटिन आदि लिपियाँ निकली हैं। लैटिन लिपि इस (एट्रुस्कन) लिपि से ७वीं सदी ई० पू० में विकसित हुई। एट्रुस्कन में कुल २६ अक्षर थे, जिनमें से लैटिन में अपनी ध्वनियों की आवश्यकतानुसार केवल २१ अक्षर A, B, C, D, E, F, G, ⌶, H, I, K, L, M, N, O, P, Q, R (R की मूल आकृति यही थी), S, T, V, X लिये गये। मोटे रूप से मूल तत्त्व की दृष्टि से इन २१ अक्षरों में सामी, यूनानी और एट्रुस्कन तीनों के ही तत्त्व हैं। आगे चलकर सिसरो के समय में जब बहुत से यूनानी शब्द लैटिन भाषा के शब्द-समूह में आ गये तो स्वभावतः उन नयी ध्वनियों के अंकन की आवश्यकता हुई जो लैटिन में पहले से नहीं थीं। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो चिह्न Y और Z ग्रीक लिपि से लिये गये, और इस प्रकार लैटिन अक्षरों की संख्या २३ हो गई। और आगे चलकर मध्ययुग में ध्वनि की आवश्यकता के कारण तथा लिपि को पूर्ण बनाने के लिए ३ अक्षर U, W और J और बढ़ाये गये और इस प्रकार कुल २६ अक्षर हो गये। यह बाएँ से दाएँ को लिखी जाती है।

लैटिन लिपि[1] को यूरोप तथा यूरोप के बाहर के कई राष्ट्रों ने अपनी भाषाओं

---

१. इसी को रोमन लिपि कहते हैं।

(अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, इटली, पुर्तगाली, रूमानियन, जर्मन, चेक, पोलिश, तुर्की[२] तथा कुछ अफ्रीकी भाषाओं) के लिये अपना लिये हैं। इसमें कुछ ने चिह्नों तथा ध्वनियों में कुछ परिवर्तन भी कर लिये हैं। अंग्रेजी में अक्षर यही हैं। आधुनिक यूनानी लिपि प्राचीन यूनानी से विकसित हुई है, पर उसके विकास में लैटिन लिपि का भी प्रभाव पड़ा है। इधर चीनी भाषाभाषी भी अपनी भाषा के लिए कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ रोमन लिपि को अपनाने के पक्ष में हो रहे हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी इस पक्ष में हैं कि सभी भारतीय भाषाओं को कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ यह लिपि अपना लेनी चाहिए। वैज्ञानिकता की दृष्टि से यह उचित भी है, पर राष्ट्रीयता के मोह में हमारा उधर जाना सम्भव नहीं लग रहा है।

'रोमन' लिपि जो वर्णात्मक होने के कारण तथा अन्य दृष्टियों से भी और लिपियों की तुलना में अच्छी होने के कारण संसार की सर्वोत्तम लिपियों में समझी जाती है, सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं है। किसी भी भाषा की सभी ध्वनियों के लिये उसमें स्वतन्त्र चिह्न नहीं हैं। अंग्रेजी को ही लें। 'श', च', 'थ' तथा 'द' आदि के लिए रोमन लिपि को एक से अधिक अक्षरों को मिलाकर काम चलाना पड़ता है (sh tio, ch, th)। इतना ही नहीं i, u, o, e, a, आदि स्वरों तथा th, ch, आदि संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण निश्चित नहीं है। उदाहरणार्थ, i कहीं 'अ' का काम करती है तो कहीं 'इ' का, और th कहीं 'थ' का काम करते हैं तो कहीं 'द' का। ऐसी स्थिति में इस लिपि में भी सुधार अपेक्षित है। डायक्रिटिकल मार्क आदि लगाकर इसे वैज्ञानिक रूप दिया जाता है, पर इन बैसाखियों की सहायता से इसे खड़ा करने की अपेक्षा कहीं अच्छा हो यदि आवश्यक चिह्नों की वृद्धि कर दी जाय और सब चिह्नों की ध्वनियाँ निश्चित कर दी जायें।

लिपि की उपयोगिता और उसकी शक्ति—लिपि का कार्य भावों का अंकन है। अपने इस कार्य में जो लिपि जितनी ही सफल होगी, उसे उतनी ही शक्ति-सम्पन्न तथा उपयोगी कहा जायगा। रज्जु लिपि तथा भावमूलक लिपि की अपनी सीमायें हैं, अतः ध्वनिमूलक लिपि की तुलना में उन्हें उपयोगी नहीं कहा जा सकता। ध्वनिमूलक लिपि में भी, जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है, वर्णात्मक लिपि (alphabetical script), अक्षरात्मक लिपि (syllabic script) की तुलना में अधिक वैज्ञानिक तथा उपयोगी है, क्योंकि उसके द्वारा ध्वनियों का अंकन अधिक स्पष्ट तथा वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है। इस श्रेणी की लिपि केवल रोमन तथा उससे निकली कुछ अन्य हैं। यों, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इन लिपियों में भी अभी सुधार के लिये स्थान है। आशा है भावी भाषातत्त्वविज्ञ इसे अधिक पूर्ण बनायेंगे, साथ ही विश्व की अन्य अपूर्ण तथा लूली लिपियों को भी पूर्ण तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयास करेंगे।

---

२. तुर्की के लिये रोमन लिपि १९२८ में अपनाई गई। यहाँ इसमें २६ के स्थान पर २९ अक्षर हो गये हैं।

आधुनिक काल में लिपियों के अध्ययन पर भी पर्याप्त बल दिया गया है। इस दृष्टि से (क) लिपियों के सामान्य विकास, (ख) लिपि-विकास की विभिन्न सीढ़ियाँ, (ग) लिपियों के वर्गीकरण, (घ) वर्णमाला की उत्पत्ति और उनके नाम के आधार, (ङ) विभिन्न देशों, संस्कृतियों और भाषाओं की लिपियों की उत्पत्ति, उनके प्राचीन रूप में प्राप्त लेखों को पढ़ने, उनके विकास, उनकी कमियों तथा सुधार एवं परिवर्तन आदि पर महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं।

नागरी लिपि

भारत की प्राचीन लिपि **ब्राह्मी** का प्रयोग ५वीं सदी ई० पू० से लेकर लगभग ३५० ई० तक होता रहा। इसके बाद इसकी दो शैलियों का विकास हुआ: (१) **उत्तरी शैली**, (२) **दक्षिणी शैली**। उत्तरी शैली से चौथी सदी में **गुप्त लिपि** का विकास हुआ, जो ५वीं सदी तक प्रयुक्त होती रही: गुप्त लिपि से छठी सदी में **कुटिल लिपि** विकसित हुई जो ८वीं सदी तक प्रयुक्त होती रही। इस कुटिल लिपि से ही ९वीं सदी के लगभग नागरी के प्राचीन रूप का विकास हुआ, जिसे **प्राचीन नागरी** कहते हैं। प्राचीन नागरी का क्षेत्र उत्तरी भारत है, किंतु दक्षिणी भारत के कुछ भागों में भी यह मिली है। दक्षिणी भारत में इसका नाम 'नागरी' न होकर नंदिनागरी है। प्राचीन नागरी से ही आधुनिक नागरी, गुजराती, महाजनी, राजस्थानी, कैथी, मैथिली, असमिया, बंगला आदि लिपियाँ विकसित हुई हैं। कुछ लोग कुटिल से ही प्राचीन नागरी तथा शारदा के अतिरिक्त एक और प्राचीन लिपि विकसित मानते हैं, जिससे आगे चलकर असमिया, बंगला, मनीपुरी आदि पूर्वी अंचल की लिपियाँ विकसित मानी जाती हैं। प्राचीन नागरी से १५-१६वीं सदी में आधुनिक नागरी विकसित हुई।

'नागरी' नाम—यह नाम कैसे पड़ा, इस बात को लेकर विवाद है। कुछ मत ये हैं: (१) गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा विशेष रूप से प्रयुक्त होने के कारण यह 'नागरी' कहलाई। (२) प्रमुख रूप से नगरों में प्रचलित होने के कारण इसका नाम 'नागरी' पड़ा। (३) कुछ लोगों के अनुसार ललितविस्तर में उल्लिखित 'नाग लिपि' ही 'नागरी' है, अर्थात् 'नाग' से 'नागर' शब्द का संबंध है। (४) तान्त्रिक चिह्न 'देवनागर' से साम्य के कारण इसे 'देवनागरी' और फिर 'नागरी' कहा गया। (५) 'देवनगर' अर्थात् 'काशी' में प्रचार के कारण यह 'देवनागरी' कहलाई। (६) एक अन्य मत के अनुसार मध्ययुग में स्थापत्य की एक शैली 'नागर' थी, जिसमें चतुर्भुजी आकृतियाँ होती थीं। दो अन्य 'शैलियाँ' 'द्रविड़' (अष्टभुजी या सप्तभुजी) तथा बेसर (वृत्ताकार) थीं। नागरी लिपि में चतुर्भुजी अक्षरों (प, म, म, ग) के कारण इसे नागरी कहा गया। उपर्युक्त मतों में कोई भी बहुत प्रामाणिक नहीं है, अतः 'नागरी' नाम की व्युत्पत्ति का प्रश्न अभी तक अनिर्णीत है।

नागरी का विकास—नवीं सदी से अब तक के नागरी लिपि के विकास पर अभी तक कोई भी विस्तृत कार्य प्रकाश में नहीं आया है। इन पंक्तियों के लेखक ने संक्षेप में 'हिंदी भाषा' में विचार किया है। यहाँ उसी आधार पर ब्राह्मी से नागरी का विकास अत्यंत संक्षेप में दिया जा रहा है। विकास का चार्ट 'हिंदी भाषा' से देखा जा सकता है, यों संक्षेप में यहाँ भी दिया जा रहा है।

नागरी लिपि के इस लगभग एक हज़ार वर्षों के जीवन-काल में यों तो प्रायः सभी अक्षरों में न्यूनाधिक रूप में परिवर्तन हुए हैं, जैसा कि ऊपर संकेतित चार्ट से स्पष्ट हो जाएगा। किंतु इन परिवर्तनों के अतिरिक्त भी कुछ उल्लेख्य बातें नागरी लिपि में आई हैं, जिनकी ओर यहाँ संकेत किया जा सकता है: (क) सबसे महत्वपूर्ण बात है फ़ारसी लिपि का प्रभाव। नागरी में नुक्ते या बिन्दु का प्रयोग फ़ारसी लिपि का ही प्रभाव है। फारसी लिपि मूलतः बिन्दु-प्रधान लिपि कही जा सकती है, क्योंकि उसके अनेक वर्ण-चिह्न (जैसे बे-पे-ते-से, रे-ज़े-फे, दाल-ज़ाल, तोय-ज़ोय, स्वाद-ज़्वाद, ऐन-ग़ैन, सीन-शीन) बिन्दु के कारण ही उसमें अलग-अलग है। नागरी लिपि में ऐसा कोई अंतर प्रायः नहीं रहा है। हाँ, फ़ारसी से प्रभाव ग्रहण करके कुछ परंपरागत तथा नवागत ध्वनियों के लिए नागरी में भी नुक्ते का प्रयोग होने लगा है: ड-ड़, ढ-ढ़, क-क़, ख-ख़, ग-ग़, ज-ज़, फ-फ़। यही नहीं, मध्ययुग में कुछ लोग य-प दोनों को य-जैसा तथा व-ब को व लिखने लगे थे। इस भ्रम से बचने के लिए कैथी लिपि में तो नियमित रूप से तथा कभी-कभी नागरी में भी य के लिए य़ तथा व के लिए व़ का प्रयोग होता रहा है। (ख) नागरी लिपि पर कुछ प्रभाव मराठी लिपि का भी पड़ा है। पुराने अ, ल आदि के स्थान अ, ळ; या अी अु आदि रूप में सभी स्वरों के लिए अ का ही कुछ लोगों द्वारा प्रयोग वस्तुतः मराठी का प्रभाव है। (ग) कुछ लोग नागरी लिपि शिरोरेखा के बिना लिखते है। यह गुजराती लिपि का प्रभाव है। गुजराती लिपि शिरोरेखा-विहीन लिपि है। (घ) अंग्रेज़ी के पूर्ण प्रचार के बाद ऑफ़िस, कॉलिज जैसे शब्दों में ऑ को स्पष्टतः लिखने के लिए नागरी लिपि में ऑ का प्रयोग होने लगा है। इसका चन्द्राकार अंश तो पुराने चन्द्रबिन्दु से गृहीत है, किंतु यह प्रयोग अंग्रेज़ी प्रभाव से आया है। (ङ) नागरी-लेखन में पहले मुख्यतः केवल एक पाई या दो पाइयों या कभी-कभी वृत्त का विराम के रूप में प्रयोग करते थे। इधर अंग्रेज़ी विराम-चिह्नों ने हमें प्रभावित किया है, और पूर्णविराम को छोड़कर सभी चिह्न हमने अंग्रेज़ी से लिए हैं। यों कुछ लोग तो पूर्णविराम के स्थान पर भी पाई न देकर अंग्रेजी की तरह बिन्दु का भी प्रयोग करते हैं। (च) उच्चारण के प्रति सतर्कता के कारण कभी-कभी ह्रस्व ए, ह्रस्व ओ के द्योतन के लिए अब एँ, ऒं का प्रयोग भी होने लगा है। इस प्रकार फ़ारसी, मराठी, गुजराती, अंग्रेज़ी तथा ध्वनियों के ज्ञान ने भी नागरी लिपि को प्रभावित, फलतः न्यूनाधिक रूप में परिवर्तित और विकसित किया है।

वैज्ञानिक लिपि के गुण—विश्व की कोई भी लिपि सभी दृष्टियों से पूर्णतः

स्वर

अ —

अ —

इ —

उ —

ए —

अंक

१ —

२ —

३ —

४ —

५ —

६ —

७ —

८ —

९ —

वैज्ञानिक नहीं है, किंतु पूर्णतः वैज्ञानिक लिपि की कल्पना की जा सकती है और उसके मुख्य गुण गिनाए जा सकते हैं : (१) वैज्ञानिक लिपि को वर्णनात्मक होना चाहिए, आक्षरिक नहीं। अर्थात्, उसके लिपि-चिह्न भाषा में प्रयुक्त हर व्यंजन तथा हर स्वर के लिए अलग-अलग होने चाहिए। उल्लेख है कि नागरी में क, ख, ग आदि व्यंजन चिह्नों में व्यंजन तथा स्वर मिले हुए हैं, अर्थात् वह वर्णनात्मक नहीं है, आक्षरिक है। (२) लिपि में भाषा-विशेष में प्रयुक्त हर ध्वनि (स्वर, व्यंजन) के लिए लिपि-चिह्न होने चाहिए। न कम न अधिक। नागरी में दंतोष्ठ्य व के लिए चिह्न नहीं है। (३) एक चिह्न से केवल एक ध्वनि व्यक्त होनी चाहिए, एकाधिक

नहीं नागरी में व—से कई ध्वनियाँ व्यक्त होती है (४) एक ध्वनि लिए केवल एक लिपिचिह्न होना चाहिए, एकाधिक नहीं। हिन्दी भाषा की दृष्टि से एक ही ध्वनि के लिए नागरी में रि-ऋ, श-ष चिह्न हैं। (५) लेखन में लिपि-चिन्हों को उसी क्रम से आना चाहिए, जिस क्रम से उनका उच्चारण किया जाता हो। इ, उ, ऊ, ए, ऐ की मात्राएँ यथाक्रम नहीं आतीं। (६) दो चिन्हों को एक पढ़े जाने का भ्रम नहीं होना चाहिए। नागरी में है : जैसे घ-ध, म-भ, रा-श ख-रव, तथा रा (र्+आ)— ए (ण का आधा) आदि में। इनके अतिरिक्त लेखन, टंकण तथा मुद्रण आदि की व्यावहारिक दृष्टि से भी कई बातें कही जा सकती हैं।

नागरी लिपि में सुधार—नागरी लिपि में सुधार के पूरे इतिहास के लिए प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की पुस्तक 'हिंदी भाषा' का नागरी लिपि शीर्षक अध्याय देखा जा सकता है। यहाँ केवल संक्षेप में कुछ बातें ली जा रही हैं। यों तो नागरी लिपि विश्व की अनेक लिपियों की तुलना में वैज्ञानिक है किंतु उसमें काफ़ी कमियाँ भी हैं और सुधार की काफ़ी गुंजाइश है। वैज्ञानिक लिपि की पहली शर्त है कि उसे वर्णनात्मक होना चाहिए, आक्षरिक नहीं। नागरी लिपि आक्षरिक है। वस्तुतः यह कमी नागरी की प्रकृति में है, अतः उसे थोड़े-बहुत परिवर्तन से सुधारना कठिन है। हाँ, वैज्ञानिक लिपि में अपेक्षित अन्य गुणों की दृष्टि से नागरी को सुधारा जा सकता है : (१) वैज्ञानिक लिपि में एक ध्वनि के लिए एक ही चिह्न होना चाहिए, किंतु नागरी में एक ध्वनि के लिए एकाधिक चिह्न है : र, र्‍, ्र, ; ल-ळ; अ-अ; ण-ण; त्र-त्र, ग्य-ज्ञ, क्श-क्ष आदि। इनमें र, ल, अ, ण, त्र, ग्य, त्य, क्श को लेकर शेष को छोड़ देने पर यह कमी दूर हो सकती है। (२) आदर्श या वैज्ञानिक लिपि में उन सभी ध्वनियों के लिए अलग-अलग अक्षर होना चाहिए जो उस भाषा में हों, जिसे लिखने में लिपि प्रयुक्त होती हो। इस दृष्टि से नागरी की समस्या थोड़ी अलग है, क्योंकि यह किसी एक भाषा के लिए नहीं, अपितु संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश हिंदी, मराठी, नैपाली तथा सिंधी आदि कई भाषाओं के लिए प्रयुक्त हो रही है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन सभी भाषाओं के ध्वनिग्रामों का निर्धारण करके, जितने अक्षर न हों, उन्हें जोड़ लेना चाहिए। जैसे हिन्दी दंतोष्ठ्य व के लिए व के नीचे बिन्दु दे सकते हैं। (३) वैज्ञानिक लिपि में अक्षर उसी क्रम से लिखे जाने चाहिए, जिस क्रम से वे बोले जायँ। नागरी लिपि में यों तो उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ की मात्राएँ भी इस दृष्टि से अवैज्ञानिक हैं, क्योंकि वे दाईं ओर न दी जाकर ऊपर-नीचे दी जातीं हैं, किंतु यदि उन्हें छोड़ भी दें तो कम से कम 'इ' की मात्रा अवश्य ही परिवर्तित होनी चाहिए; क्योंकि यह अपने स्थान से कभी एक, कभी दो, कभी तीन स्थान पहले (कि, प्रिय, चन्द्रिका) लिखी जाती है। उसके लिए कई सुझाव (ि= ी, ी=ॊ अथवा ि=ी, ी=ी) आए हैं (देखिए 'हिंदी भाषा')। उनमें किसी को भी माना जा सकता है। 'र' (क्रम, कर्म, ट्रेन) के संबंध में भी ऐसी गड़बड़ी है। इसके लिए 'र' को ले लेना तथा शेष (र्‍, ्र, ्र) को छोड़ देना उचित होगा। (४)

वैज्ञानिक लिपि में अक्षरों में समानता के कारण भ्रम की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। हिन्दी में खाना-रवाना, अखडा-अराडा अर्थात ख-रव, ण तथा ण् में है। [illegible] भ्रम ख के यह भ्रम ख के नीचे क भागो को मिला देने तथा 'ण' को अपना [illegible] एवं ण को छोड़ देने से दूर हो सकता है। म-म, घ-ध में भी कभी-कभी भ्रम [illegible] जाता है। इससे बचने के लिए भ तथा ध को घुंडीदार (ध,भ) किया जा सकता है। (५) नागरी में संयुक्त व्यंजन स्वतंत्र अक्षर जैसे हैं (श्र, ज्ञ, क्ष, त्र, द्य आदि)। इन्हें छोड़ 'ग्र' आदि रूपों में संयुक्त व्यंजन लिखे जा सकते हैं। (६) वैज्ञानिक लिपि में लेखन की एकरूपता भी आवश्यक है। हिंदी में शिरोरेखा, बिन्दी (क़, ग़, ज़) तथा अनुस्वार (पम्प-पंप) आदि के संबंध में एकरूपता नहीं है। इस संबंध में एक पद्धति (क़, ख़, ग़, ज़, फ़.शिरोरेखा का न होना तथा अनुस्वार) को स्वीकार कर लेना चाहिए।

भाषा का अध्ययन-विश्लेषण अत्यन्त प्राचीन काल से कई देशों में होता आया है। इन देशों में प्रमुख भारत, अरब, चीन, जापान तथा यूरोप-अमेरिका आदि हैं। इन देशों में हुए अध्ययन का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(क) भारत

अनेक शास्त्रों और विज्ञानों की भाँति भाषा-सम्बन्धी अध्ययन भी अपने देश में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। भारत की इस क्षेत्र में गति अप्रतिम रही है, इस बात को कई चोटी के भाषाशास्त्रियों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[1] इतना ही नहीं, आधुनिक भाषाविज्ञान पाणिनि के ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव के प्रकाश में विकसित हुआ है।[2] भारत में हुए अध्ययन को 'प्राचीन' और 'आधुनिक' दो वर्गों में रखा जा सकता है। 'प्राचीन अध्ययन' का काल वैदिक काल से लेकर लगभग १७वीं सदी तक है। आधुनिक अध्ययन का आरम्भ १९वीं सदी के मध्य से होता है।

(अ) प्राचीन अध्ययन

भारत का प्राचीनतम साहित्य वैदिक साहित्य है। भाषा के सम्बन्ध में चिंतन और अध्ययन के प्रारम्भिक बीज इसी में मिलने लगते हैं। ऋग्वेद के अन्त के कुछ मंडल इस दृष्टि से देखने योग्य हैं।

कृष्ण यजुर्वेद संहिता में देवों ने देवराज इन्द्र से कहा है कि हम लोगों के कथन को टुकड़ों में कर दीजिये। इससे स्पष्ट है कि वे इतना जानते थे कि वाक्य के खंड हो सकते हैं। इन संकेतों से उनके भाषा-सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है, किन्तु व्यवहार-रूप में सर्वप्रथम कार्य ब्राह्मणों में ही मिलता है।

---

१. आधुनिक भाषाविज्ञान के एक प्रकार से पिता ब्लूमफील्ड अपनी पुस्तक Language में, जो आधुनिक भाषाविज्ञान की बाइबिल मानी जाती है, लिखते हैं : This grammar (पाणिनीय अष्टाध्यायी) which dates from somewhere round 350 to 250 B. C. is one of the greatest monuments of human intelligence.........No other language to this day has been so perfectly described.

२. हार्वर्ड विश्वविद्यालय के जान बी० कैरोल लिखते हैं : Western scholars were for the first exposed to the descriptive methods of the Hindu grammarian Panini, influenced either directly or indirectly by Panini began to produce descriptive and historical studies......

लिए अस्पष्ट हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार निघंटुओं की भाँति ही निरुक्त ग्रंथ भी एक से अधिक थे, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध यास्क का था, जो आज उपलब्ध है। निरुक्त की प्रधान बातें—(क) इसमें निघंटु के शब्दों को लेकर उनका अर्थ समझाने का प्रयास है। साथ ही, प्रयोग एवं अर्थ की स्पष्टता के लिये वैदिक संहिताओं के शब्दों के प्रयोग भी दे दिये गये हैं। (ख) निरुक्त में अनेक पूर्ववर्ती तथा समवर्ती व्याकरण-सम्प्रदायों एवं वैयाकरण के नाम[1] एवं उद्धरण दिये गये हैं, जिनसे उस समय तक के भाषा-सम्बन्धी अध्ययन के प्रचार एवं अभिरुचि पर प्रकाश पड़ता है। (ग) शब्दों के इतिहास की गतिविधि पर प्रकाश डालते हुए समाज और इतिहास की ओर भी लेखक को दृष्टि डालनी पड़ी है, जिससे उस समय तथा कुछ पूर्व के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें जानी जा सकती हैं। (घ) शब्दों पर विचार के साथ ही भाषा की उत्पत्ति, गठन और विकास पर भी कुछ विचार किया गया है। भाषा के सम्बन्ध में इतने व्यापक रूप से विचार करने का प्रथम श्रेय भी इसी के लेखक को है। (ङ) निरुक्त का ग्रन्थकार वाणी के अतिरिक्त अन्य अवयव-संकेतों को भी भाषा ही मानता है, यद्यपि अव्यावहारिक एवं अस्पष्ट होने के कारण उनका अध्ययन आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। (च) कुछ शब्दों के नामकरण को लेकर बहुत वैज्ञानिक और सुन्दर शंकाएँ की गई हैं, जिनसे भाषाविज्ञान के अनेक छोटे-मोटे प्रश्नों पर प्रकाश पड़ सकता है। तृण को लेकर कहा गया है कि √तृ = चुभना, अतः चुभने वाला होने के कारण तृण को 'तृण' की संज्ञा दी गई है। पर, यदि यही बात है तो सुई और भाले को भी तृण क्यों नहीं कहा गया? या सीधा खड़ा होने के कारण 'स्थूण' नाम है तो उसे और कोई (एक स्थान पर रहने वाला, या थामने वाला आदि) नाम क्यों नहीं दिया गया? ऐसे विवेचनों से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। (छ) शब्द के श्रेष्ठ होने के दो कारण बतलाये गये हैं—१. शब्द का अर्थ किसी की इच्छा पर पूर्णतः आधारित न होकर सिद्ध और स्थिर रहता है, जिससे श्रोता और वक्ता दोनों में एक भावना उत्पन्न करता है। २. कम परिश्रम में इसके द्वारा सूक्ष्म अर्थ का बोध होता है। (ज) पाणिनि जिस धातु-सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में सफल हुए थे, उसका मूल यही है। निरुक्तकार का भी कम या बेश, सभी शब्दों को कुछ मूलों या धातुओं पर आधारित सिद्ध करने का प्रयास है। (झ) विभाषाओं की उत्पत्ति की ओर भी कुछ संकेत किया गया है। (ञ) प्रातिशाख्यों में नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात का संकेत मात्र है पर यहाँ इसका कुछ विस्तृत विवेचन है (पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च)। (ट) संज्ञा और क्रिया तथा कृदन्त और तद्धित के प्रत्यय-भेदों का भी अस्पष्ट उल्लेख मिलता है। (ठ) निरुक्तकार का प्रयास ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों से अधिक शुद्ध और वैज्ञानिक है तथा विरोधी मतों के खण्डन आदि के कारण तर्कपूर्ण भी है। यास्क का

---

१. आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कात्यक्य, गालव, चर्मशिरा, शाकटायन तथा शाकल्य आदि।

'निरुक्त' कसौटी पर—यास्क के निरुक्त की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। एक ओर, स्कोल्ड (द निरुक्त, लंदन १६२६, पृ० १८१) तथा डॉ० स्वरूप (द निघंटु ऐंड द निरुक्त, आक्सफोर्ड १६२०, भूमिका पृ० ६४) इसे बहुत ही सुन्दर, वैज्ञानिक तथा आश्चर्य में डाल देने वाला कार्य मानते रहे हैं, तो दूसरी ओर बी० के० राजवादे (यास्क्'स निरुक्त, पूना, १६४०, पृ० cii , civ आदि) जैसे विद्वान् इसे बहुत ही अवैज्ञानिक मानते रहे हैं। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा (द एटिमालोजीज आव् यास्क, होशियारपुर, १६५३) ने यास्क के 'निरुक्त' की पूरी परीक्षा की हैं और निष्कर्षस्वरूप इसे वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता के बीच का कहा है। इसमें कुल १२६८ व्युत्पत्तियाँ देने का प्रयास है, जिनसे ८४६ पुराने ढंग की, २२४ वैज्ञानिक और २२५ अस्पष्ट हैं। भाषा के अध्ययन के उस आदिम युग में आज जैसी वैज्ञानिकता की आशा तो नहीं की जा सकती, किन्तु यह कहना असत्य न होगा कि पुराने ढंग का होते हुए भी यह पूर्णतया अवैज्ञानिक नहीं है।

(७) **आपिशलि तथा काशकृत्स्न**—यास्क और पाणिनि के बीच में भाषा के अध्ययन का पर्याप्त विकास हुआ। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि पाणिनि ने प्रत्यय, अव्ययीभाव, बहुव्रीहि, कृत्, तद्धित, प्रथमा, द्वितीया, षष्ठी आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बिना अर्थ बतलाये ही किया है। इससे आशय यह निकलता है कि उस समय तक भाषा के अध्ययन का इतना विकास हो चुका था कि लोग इन शब्दों को समझाने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे। इस सम्बन्ध में दूसरा प्रमाण यह भी है कि यास्क के बाद सीधे पाणिनि[1] इतने उच्च कोटि के व्याकरण की रचना नहीं कर पाते, यदि उनके पीछे एक परम्परा की साधना न रहती। पाणिनि के पूर्व के व्याकरण-सम्प्रदाय के जनक आपिशलि तथा काशकृत्स्न माने जाते हैं। कुछ विद्वान् इन लोगों को ऐंद्र सम्प्रदाय का मानते हैं। जयादित्य और वामन की 'काशिका' में आपिशलि का एक नियम मिलता है। पाणिनि ने भी दस वैयाकरणों में आपिशलि का नाम लिया है। कैय्यट ने आपिशलि और काशकृत्स्न दोनों ही के उद्धरण दिये हैं। काशिका में काशकृत्स्न-व्याकरण के सम्बन्ध में मिलता है कि वह सूत्रों में था और उसमें तीन अध्याय थे (त्रिक काशकृत्स्नम्)। इसी प्रकार की दो-एक अन्य बातों के अतिरिक्त इन दोनों के विषय में कुछ अधिक नहीं मिलता।

(८) **ऐन्द्र सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कोई इन्द्र ऋषि माने जाते हैं। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ये ही प्रथम वैयाकरण थे। यह सम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व का है। कुछ लोगों के अनुसार यह सबसे प्राचीन सम्प्रदाय है। पाणिनि में इसका कोई

---

१. ह्यूआन् चुआङ के अनुसार पाणिनि के पूर्व कई ऋषियों ने व्याकरण बनाये। प्रो० मैक्समूलर ने 'प्रातिशाख्यों' तथा 'निरुक्त' आदि के आधार पर आग्निवेश्य, आग्रायण, काण्व, सेनक तथा बाभ्रव्य आदि लगभग ६५ आचार्यों के नाम गिनाये हैं।

स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन होते हुए भी पाणिनि के समय तक इसमें कोई प्रसिद्ध विद्वान् नहीं हुआ था। पाणिनि के बाद के वैयाकरण कात्यायन इसी सम्प्रदाय के हैं। मूल प्रातिशाख्यों (जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है) पर आधारित वर्तमान प्रातिशाख्य भी कुछ लोगों के अनुसार इसी सम्प्रदाय द्वारा निर्मित हुए थे। कुछ लोग कातंत्र सम्प्रदाय भी इसी का नाम बतलाते हैं। ऐंद्र सम्प्रदाय के सिद्धान्त पाणिनि से कम विकसित हैं, पर इसकी कुछ बातें (विशेषतः परिभाषाएँ) उनसे अधिक सुबोध हैं। ऐन्द्र सम्प्रदाय का प्रभाव और प्रचार दक्षिण में अधिक था। डॉ० बर्नेल के अनुसार, दक्षिण के प्राचीनतम व्याकरणों में से एक 'तोल्कप्पियम' पूर्णतः इसी आधार पर बना है। सामग्री के अभाव के कारण इस सम्प्रदाय के पाणिनि के पूर्व के जीवन पर अभी तक अधिक प्रकाश नहीं पड़ सका है।

(६) पाणिनि—पाणिनि को यदि विश्व का सबसे बड़ा वैयाकरण माना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। दुःख यह है कि इतने बड़े व्यक्ति के समय एवं जीवन के सम्बन्ध में हमें अभी तक अधिक नहीं ज्ञात हो सका है। पाणिनि के अन्य नाम 'आहिक', 'शालंकि', 'दाक्षीपुत्र' तथा 'शालातुरीय' आदि मिलते हैं। इनका जन्म गांधार देश के शलातुर नामक स्थान पर हुआ था। पतंजलि ने एक कारिका में पाणिनि को दाक्षीपुत्र (दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः) कहा है। इससे कुछ लोग इनकी माता का नाम 'दाक्षी' होने का अनुमान लगाते हैं, पर कुछ अन्य लोगों ने इस आधार पर पाणिनि को पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहने वाला दक्ष (जाति का) माना है। कथासरित्सागर और वृहत्कथामंजरी के अनुसार, ये 'वर्ष' नामक आचार्य के शिष्य थे। इन्हें पढ़ना-लिखना बिल्कुल न आता था। एक दिन अपनी अकुशाग्रता से दुःखी हो ये तपस्या करने चले गये और वहीं से शिव के आशीर्वाद से उद्भट व्याकरणकार बनकर आये। समय—पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। पीटर्सन आदि कुछ विद्वान् कवि पाणिनि को इनसे मिलाकर सुभाषितावली तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के आधार पर इनका समय ईसा के आरंभिक वर्षों के समीप मानते हैं। मैक्समूलर तथा वेबर आदि विद्वान् इन्हें ३५० ई० पू० के बाद का मानते हैं। इनका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पाणिनि में 'यवन' शब्द मिलता है और यह शब्द सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीयों को ज्ञात हुआ होगा। भंडारकर और गोल्डस्कर ने ५०० ई० पू० के भी पूर्व इनका समय निश्चित किया है। सत्यव्रत आदि कुछ लोग दूसरे छोर पर हैं। उनके अनुसार पाणिनि का काल २४०० ई० पूर्व है। डॉ० वेलवेकर ने सभी महत्त्वपूर्ण मतों की परीक्षा करते हुए पाणिनि का समय ७०० ई० पूर्व के समीप माना है। इधर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने विस्तार के साथ इस प्रश्न पर विचार करते हुए पाणिनि को ५वीं सदी ई० पू० के मध्य भाग का माना है। यह मत सबसे अधिक तर्कसम्मत है। पाणिनि की अष्टाध्यायी—अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं, और प्रत्येक पाद में अनेक सूत्र हैं। सब मिलाकर सूत्रों की संख्या लगभग चार सहस्र है। पूरी पुस्तक १४ सूत्रों (अइउण् ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, हयवरट्. लण्

ञमङणनम् झभञ् घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतव्, कपय्, शषसर्, हल्) पर जिन्हें माहेश्वर-सूत्र भी कहते हैं, आधारित है। संक्षेप में कहने के लिए, प्रत्याहार, गण आदि का सहारा लिया गया है। **पाणिनि की विशेषताएँ**—(१) किसी भाषा के परिनिष्ठित रूप के पूरे भौगोलिक और सामाजिक विस्तार को एक व्याकरण में समेटने वाले ये प्रथम वैय्याकरण हैं, साथ ही ये अभी तक इस क्षेत्र में अंतिम भी हैं। ब्लूमफ़ील्ड ने इन्हें 'न भूतो न भविष्यति' ठीक ही कहा है (दे० इस अध्याय का प्रथम पृष्ठ)। (२) भाषा की पूरी संरचना ली है: ध्वनि-प्रक्रिया (स्वराघात, संधि आदि), रूप-रचना, वाक्य-रचना तथा व्याकरण के स्तर पर विवेच्य अर्थ-पक्ष। (३) अभूतपूर्व संक्षेप है। १४ सूत्रों के आधार पर लगभग चार हजार सूत्रों में भाषा के सभी स्तरों की व्यवस्था का विश्लेषण है। संक्षेपण के साथ-साथ यथातथता (exactness) और स्पष्टता का भी पूरा निर्वाह है। (४) सभी दृष्टियों से व्याकरण इतना पूर्ण, व्यवस्थित और उपयोगी है कि उनके बाद इसी २५०० वर्षों में जाने कितने संस्कृत व्याकरण लिखे गए, किन्तु किसी की भी दाल न गल सकी। हिमालय की तरह इनका विश्लेषण अटल है। (५) पूरी भाषा के सभी शब्दों को कुछ धातुओं पर आधारित माना है। ये धातुएँ किसी क्रिया का भाव प्रकट करती हैं। इन्हीं से उपसर्ग तथा प्रत्यय आदि की सहायता से शब्द और रूप दिए गए हैं। (६) भाषा का आरम्भ वाक्यों से हुआ है, इसका भी प्रथम उल्लेख यहीं है? भाषा में इसके अनुसार वाक्य ही प्रधान है। (७) यास्क के नाम, आख्यात आदि चार भेदों को न स्वीकार करके पाणिनि ने शब्द को सुबन्त (अव्यय भी सुबन्त हैं। अष्टा० २-४-८२) और तिङन्त इन दो श्रेणियों में विभक्त किया। आज तक विश्व में शब्दों के जितने भी विभाजन किये गये हैं, उनमें यह सबसे अधिक वैज्ञानिक है। पश्चिम के ८ भेद (Eight Parts of Speech) भी इसके समक्ष नहीं टिकते। (६) लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन भी इनकी महत्वपूर्ण विशेषता है। **पाणिनि के अन्य ग्रन्थ**—अष्टाध्यायी के अतिरिक्त इसी के सहायक ग्रन्थ के रूप में पाणिनि ने कुछ अन्य पुस्तकों की भी रचना की। इन ग्रन्थों में प्रथम स्थान **'धातुपाठ'** का है। इसमें धातुओं की सूची है। कहना न होगा कि इसमें संस्कृत के सभी शब्दों को इन्हीं कुछ धातुओं पर आधारित माना गया है। पाणिनि का दूसरा ग्रन्थ गणों से सम्बन्धित **'गणपाठ'** है। एक गण में आए धातुओं का रूप एक प्रकार से चला है। कुछ विद्वानों के अनुसार गणपाठ का कुछ ही भाग पाणिनि द्वारा रचित है। तीसरा ग्रन्थ **उणादिसूत्र** है। इसे कुछ विद्वान् शाकटायन की रचना मानते हैं, किंतु इसके पारिभाषिक शब्दों (उदात्त, उपधा, लोप) को देखने से यह भी पाणिनि का ही ज्ञात होता है। यों इसके विरुद्ध प्रमाण भी काफी मिलते हैं। आशय यह है कि तीसरे ग्रन्थ के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहा नहीं जा सकता। **पाणिनि का प्रभाव**—प्रभाव के सम्बन्ध में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि इनके बाद अधिकतर विद्वान्, चाहे वे जिस सम्प्रदाय के भी हुए केवल अष्टाध्यायी की ही आलोचना, प्रत्यालोचना, टीका-

टिप्पणी आदि में प्रायः लगे रहे। यदि कुछ लोगों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का प्रयास किया तो कार्य इस योग्य न हो सका कि अष्टाध्यायी के समक्ष उसका नाम काल-कवलित होने से बच सके। आज जब हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए पारिभाषिक शब्द बनाने बैठते हैं तो २५०० वर्ष बाद भी हमारी दृष्टि परिपक्व शब्द पाने के लिए उसी ऋषि पर जाती है। प्रभाव की पराकाष्ठा इससे अधिक हो ही क्या सकती है ?

(१०) कात्यायन के वार्तिक— पतंजलि के पूर्व तथा उनके बाद कई वार्तिककार हो चुके हैं, जिनमें व्याघ्रभूति, वाडव, क्रोष्टा, सुनाग, भारद्वाज, कात्यायन आदि प्रमुख हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध कात्यायन हैं। वार्तिकों में कितने कात्यायन के हैं तथा कितने अन्य वार्तिककारों के, यह जानने के लिए आज कोई विश्वसनीय साधन नहीं है, कुल प्राप्त वार्तिकों की संख्या १५०० के लगभग है, जिनमें ९०० से कुछ ऊपर महाभाष्यकार द्वारा स्वीकृत हैं। वार्तिक की परिभाषा दी गई है : उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिंता यत्र प्रवर्तते, तं ग्रंथं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञाः मनीषिणः। अर्थात्, वार्तिक उसे कहते हैं जिसमें अष्टाध्यायी में उक्त (जो कहा गया है), अनुक्त (जो नहीं कहा गया है) तथा दुरुक्त (जो ग़लत कहा गया है) पर विचार किया गया है। वस्तुतः, पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचना के बाद लगभग दो शताब्दियों में भाषा में कुछ परिवर्तन हो गया था। वार्तिककारों के अनुसार पाणिनि में कहीं-कहीं ग़लतियाँ हैं, तथा कहीं-कहीं उन्होंने जो कहा है, अपर्याप्त है। इन्हीं दृष्टियों से वार्तिककारों ने अपने वार्तिक कहे। इस प्रकार वार्तिक अष्टाध्यायी के संशोधक और पूरक हैं। यह दूसरी बात है कि महाभाष्यकार ने पाँच सौ से अधिक वार्तिकों को अस्वीकृत कर दिया और केवल लगभग नौ सौ को ही स्वीकृति दी। वार्तिककार की महत्ता इसी से सिद्ध है कि पाणिनि जैसे पंडित की कृति में उन्होंने अशुद्धियाँ अथवा क़मियाँ ढूँढ़ी और उनकी कही गई लगभग आधी बातें स्वीकार की गईं।

पतंजलि—इनका काल १५० ई० पू० के आसपास माना जाता है ? इनका एक मात्र ग्रन्थ-महाभाष्य है। यह ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी की तरह ही ८ अध्यायों, प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद तथा प्रत्येक पाद में कुछ आह्निक) में विभक्त है। महाभाष्य मुख्यतः तीन उद्देश्यों को सामने रखकर लिखा गया था : (क) पाणिनि के उन सूत्रों की व्याख्या के लिए समय बीत जाने के कारण अन्यथा अन्य कारणों से अस्पष्ट अतः दुरूह हो गए थे; (ख) कात्यायन के उन वार्तिकों का उत्तर देने के लिए जो अनुचित अथवा अनुपयुक्त थे। (ग) भाषा के दार्शनिक पक्ष की यथाप्रसंग व्याख्या के लिए। पतंजलि अपने तीनों ही उद्देश्यों में पूरी तरह सफल हुए हैं। इन्होंने कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा, अपितु यह भाष्य ही लिखा, किन्तु यह 'भाष्य' अपने आकार तथा अपनी गहराई दोनों ही में 'महा' है, और इसीलिए इसका प्रचलित नाम 'महाभाष्य' उचित ही है। संस्कृत में प्रसिद्ध है 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्', अर्थात् मुनित्रय 'पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि' में पाणिनि की अपेक्षा कात्यायन तथा कात्यायन की अपेक्षा पतंजलि

प्रामाणिक हैं। पतंजलि के महत्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है। आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य, अर्थ, ध्वनि-अर्थ का संबंध आदि विषयक अनेक बातें बड़ी ही विचारोत्तेजक और विचारणीय हैं।

मुनित्रय—पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को संस्कृत 'व्याकरण के मुनित्रय' की संज्ञा दी गई है। सचमुच संस्कृत व्याकरण को उच्चतम विन्दु पर पहुँचाने में ये ही लोग सफल हुए हैं। यों पाणिनि के पूर्व के भी एक 'त्रिमुनि-व्याकरण' का पता चलता है, जो प्रसिद्धि नहीं पा सका।

(१२) पाणिनि-शाखा और उसके अन्य वैयाकरण—पाणिनि-शाखा, सच पूछा जाय तो पाणिनि के कुछ पहले से आरम्भ हुई होगी। पाणिनि के अप्रतिम कार्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी परम्परा की साधना उसमें अवश्य सन्निहित है। वह एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। हाँ, इसका नामकरण-संस्कार पाणिनि के ही नाम पर हुआ है। व्याकरण के मुनित्रय (पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि) इस शाखा के प्रधान आचार्य हैं। इन तीनों में ही मौलिकता का अंश पर्याप्त है, पर इनके पश्चात् पाणिनि-शाखा में कोई भी ऐसा विद्वान् न हो सका जो ऐसी प्रतिभा का हो। सभी लोगों ने या तो इसी पर टीकाएँ लिखीं, या समय को देखते हुए पढ़ने और समझने की सुविधा के लिए नवीन क्रम दिया। यहाँ संक्षेप में उन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है—

(अ) टीकाकार—संस्कृत में धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन हो रहा था। उन परिवर्तनों को देखते हुए टीकाकारों ने टीकाएँ लिखीं। इस प्रकार, ये टीकाएँ उस समय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिखी गईं।

(क) जयादित्य तथा वामन (७वीं सदी पूर्वार्द्ध)—इन लोगों की लिखी टीका 'काशिका' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें भी अष्टाध्यायी की भाँति ८ अध्याय हैं, जिनमें प्रथम ५ जयादित्य-विरचित, और शेष ३ वामन द्वारा लिखे गये हैं। काशिका में पाणिनि के सूत्रों को पर्याप्त उदाहरणों के साथ सुबोधता से समझाया गया है। प्राचीन वैयाकरणों के कुछ उदाहरण भी इसमें मिलते हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अमूल्य हैं।

(ख) जिनेन्द्र बुद्धि (८वीं सदी पूर्वार्द्ध)—जिनेन्द्र ने उपर्युक्त काशिका पर एक टीका लिखी, जिसका नाम 'काशिक-न्यास' या 'काशिका-विवरण-पंजिका' है। जिनेन्द्र बौद्ध थे। इन्होंने वार्तिकसिद्ध शब्दों को सूत्रों से ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस न्यास की अभी तक एक भी पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं है।

(ग) हरदत्त (१२वीं सदी)—इनका ग्रन्थ 'पदमंजरी' भी काशिका की ही एक सुन्दर टीका है। हरदत्त दक्षिणी थे और सम्भवतः तेलुगु साहित्य से भी इनका परिचय था, क्योंकि एक उदाहरण 'कूचिमची' इन्होंने उस भाषा का दिया है।

(घ) भर्तृहरि (६वीं सदी)—शृङ्गार, नीति और वैराग्य शतकों के रचयिता

ही ये वैयाकरण भर्तृहरि थे, यह नहीं कहा जा सकता। भर्तृहरि ने महाभाष्य की एक टीका लिखी थी, जिसमें तीन ही पाद पूरा कर पाये थे। सम्भवतः इसके बाद उनका देहान्त हो गया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'वाक्यपदीय' है। इसमें व्याकरण के दर्शन-पक्ष का बहुत सुन्दर विवेचन है। पुस्तक तीन खंडों में बँटी है, जिनका नाम क्रमशः आगम या ब्रह्मखंड, वाक्यखंड और प्रकीर्ण या पदखंड हैं। द्वितीय खंड के अंत में इसमें कुछ व्याकरणकारों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री भी दी गई है।

(ङ) कय्यट (११वीं सदी)—कय्यट कश्मीरी थे। इनका ग्रन्थ महाभाष्य-प्रदीप है। जैसा कि लेखक ने स्वयं भूमिका में कहा है, इनका पथ-प्रदर्शक भर्तृहरि का वाक्य-पदीय है। महाभाष्य के विवेचन में कय्यट बहुत ही सफल हुए हैं। इनमें भी तात्त्विक पक्ष की प्रधानता है। कय्यट के प्रदीप के टीकाकारों में नागोजि भट्ट, नारायण और ईश्वरानन्द प्रधान हैं। विशेषतः नागोजि भट्ट का प्रदीपोद्योत बहुत ही सुन्दर और गम्भीर है। इनके व्याकरण-विषयक अन्य १०-११ ग्रंथों 'परिभाषेन्दु-शेखर' तथा 'वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें दूसरा, भर्तृहरि और कय्यट की भाँति ही तात्त्विक विवेचन का बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है। नागोजि का व्यक्तित्व बहुत ही अलौकिक था। विवाहित होने पर भी आप आजीवन ब्रह्मचारी रहे और अपनी पुस्तकों को ही अपनी सन्तान समझते रहे। कय्यट के तीनों ही टीकाकारों का समय लगभग १६वीं सदी है।

(आ) कौमुदीकार—मुसलमानों के राज्य-स्थापना के बाद देश की दशा में पर्याप्त परिवर्तन आ गया। वातावरण विदेशी-सा बन गया, अतः अष्टाध्यायी को सुबोध बनाने के लिए नये क्रम से रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। कौमुदियों के लिखे जाने का एक और कारण यह भी था कि टीका जितनी संभव थी, हो चुकी थी। अब उस क्षेत्र में और कार्य करने की गुंजाइश नहीं के बराबर थी। तीसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि व्याकरण पर इतने अधिक ग्रंथ लिखे जा चुके थे कि उनको सुबोध बनाने के लिए नवीन क्रम की ही आवश्यकता शेष थी। प्रधान कौमुदीकार नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) विमल सरस्वती (१४वीं सदी)—इनके ग्रन्थ का नाम रूपमाला है। इन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय का क्रम दिया। पहले प्रत्याहार, संज्ञा और परिभाषा के सूत्रों को और उसके बाद स्वर, प्रकृति-भाव, व्यंजन और विसर्ग इन चार भागों में सन्धि के सूत्रों को तथा छः भागों में सुबन्त, तथा स्त्री-प्रत्यय और कारकों को स्थान दिया। अन्त में, कृत, तद्धित और समास के प्रकरणों को रखा। रूपमाला में आख्यात का प्रकरण बहुत ही विस्तार से है। प्रत्येक लकार पर अलग शीर्षक में विचार किया गया है। अन्त में, लकारार्थ-माला के रूप में एक परिशिष्ट भी है। रूपमाला की शैली बहुत ही सुन्दर है। विशेषतः विषयों का क्रम बहुत ही समीचीन है।

(ख) **रामचन्द्र (१५वीं सदी)**—ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनकी पुस्तक प्रक्रिया-कौमुदी है। १६वीं सदी में प्रक्रिया-कौमुदी पर कई टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध विट्ठलाचार्य की है। टीका का नाम 'प्रसाद' है। दूसरी शेषकृष्ण की 'प्रक्रिया-प्रकाश' है। इसके अतिरिक्त, 'सार', 'अमृतिसृति' तथा 'व्याकृति' आदि भी हैं, किन्तु इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

(ग) **भट्टोजि दीक्षित (१७वीं सदी प्रथम चरण)**—इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सिद्धान्त-कौमुदी' है। इसकी महत्ता इतने से ही सिद्ध हो सकती है कि इसके आगे लोग अष्टाध्यायी को भी भूल गये। आज भी अधिकतर विद्यार्थी इसी को पढ़ते हैं। भट्टोजि ने रामचन्द्र की प्रक्रिया-कौमुदी तथा हेमचन्द्र के शब्दानुशासन से अपनी कौमुदी बनाने में विशेष सहायता ली है। आपने स्वयं ग्रंथ पर 'प्रौढ़ मनोरमा' नाम की टीका लिखी। फिर, उसका एक छोटा रूप 'बाल मनोरमा' भी बनाया। सिद्धान्त-कौमुदी पर एक वासुदेव दीक्षित-रचित 'बाल मनोरमा' टीका भी है, जो नागेश के बाद लिखी गई। आपने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर एक टीका लिखी जो अपूर्ण है। भट्टोजि की 'प्रौढ़ मनोरमा' के खंडनार्थ जगन्नाथ ने 'मनोरमा-कुचमर्दन' नामक एक मनोरंजक पुस्तक लिखी। 'प्रौढ़ मनोरमा' की 'शब्दरत्न' नाम की अत्यन्त प्रचलित टीका हरि दीक्षित की है, यद्यपि प्रसिद्ध है कि नागेश ने ही अपने गुरु हरिदीक्षित के नाम से इसे लिखा। इसके बाद बिहारी की सतसई की भाँति इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गईं।

(घ) **वरदराज (१८वीं सदी)**—विद्यार्थी-वर्ग में आपका नाम विशेष आदर से लिया जाता है। वरदराज ने सिद्धान्त-कौमुदी के मध्य, लघु और सार तीन संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किये। इनके इन तीनों संस्करणों पर भी टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन टीकाकारों में राम शर्मा और जयकृष्ण आदि प्रसिद्ध हैं।

(१३) **व्याकरण की पाणिनीतर शाखाएँ**—ब्राह्मणकर्त्ताओं को भाषा-विचारक के रूप में न माना जाय तो शाकटायन, प्रातिशाख्यकर्त्ता (१००० ई० पू०), यास्क (८वीं सदी ई० पू०), आपिशलि तथा काशकृत्स्न (७वीं सदी) आदि पूर्व-पाणिनि शाखा के वैयाकरण थे। इनके बाद पाणिनि शाखा आई, जिसमें पाणिनि से लेकर वरदराज का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इन दो के अतिरिक्त भी कुछ शाखाएँ हैं, जिनमें से कुछ प्रसिद्ध शाखाओं पर हम यहाँ संक्षेप में विचार कर रहे हैं—

(क) **चान्द्र शाखा**—इस शाखा का प्रथम उल्लेख भर्तृहरि के वाक्यपदीय में और अंतिम मेघदूत की मल्लिनाथ-कृत टीका में मिलता है। इस शाखा के अधिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। डॉ० बूलर और डॉ० लीबिक के श्रम से इसके सम्बन्ध में कुछ बातें ज्ञात हो सकी हैं। इस शाखा के प्रसिद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमिन हैं, जिनका समय ५वीं सदी के लगभग है। इन्होंने अपना व्याकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के व्याकरण से अधिक सुन्दर और संक्षेप में लिखा। वैदिक व्याकरण और स्वराघात के विषय में कुछ पाणिनि के नियमों को परिवर्तित भी कर दिया। पाणिनि के माहेश्वर-

सूत्रों की संख्या को घटाकर १३ कर दी। 'हयवरट्' और 'लण्' इन सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र 'हयवरलण्' बनाया। कुछ प्रत्याहारों को निकालकर नये प्रत्याहार बनाये। सूत्रों को भी घटा कर लगभग ३१०० कर दिया। चन्द्रगोमिन् की मौलिक और प्रधान देन ३५ सूत्रों की है। इनके व्याकरण में केवल छः अध्याय हैं। व्याकरण को असंज्ञक कहा गया है। इसके अतिरिक्त, चन्द्रगोमिन् ने उणादि सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ आदि भी लिखे हैं। इस शाखा का प्रचार लंका और तिब्बत में विशेष हुआ, क्योंकि चन्द्रगोमिन् बौद्ध थे। इस शाखा में और भी ग्रन्थ लिखे गये होंगे, पर आज हमें उनका पता नहीं है। १३वीं सदी में लिखित एक ग्रंथ 'बालवबोध' अवश्य लंका के एक बौद्ध पंडित काश्यप का मिलता है, जो चन्द्रगोमिन् के ही ग्रंथ का एक छोटा संस्करण मात्र है।

(ख) जैनेन्द्र शाखा—जिस प्रकार चान्द्र शाखा पूर्णतः बौद्धों की थी, जैनेन्द्र शाखा जैनों की थी। इसके प्रथम वैयाकरण अन्तिम तीर्थंकर महावीर माने जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इस शाखा का भी आरम्भ चान्द्र शाखा के आरम्भ के समय ही हुआ। जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण मिलते हैं। छोटे में ३००० सूत्र और बड़े में ३७०० हैं। इनमें मौलिकता का पूर्ण अभाव है। पाणिनि और कात्यायन से अधिकतर बातें ज्यों की त्यों ले ली गई हैं। इसके रचयिता देवनन्दी या पूज्यपाद हैं। धार्मिक कट्टरता इनमें इतनी है कि अन्य धर्मावलंबी वैयाकरणों का आभार तक नहीं स्वीकार किया है। इस पर अभयनन्दी (८वीं सदी) और सोमदेव की केवल दो टीकाएँ मिलती हैं। 'पंचवस्तु' नाम से व्याकरण आरम्भ करने वालों के लिए इसका एक नवीन संस्करण भी मिलता है। इस शाखा के विषय में कुछ और अधिक ज्ञात नहीं है।

(ग) शाकटायन शाखा—यह शाखा भी जैनों की ही है। इसके प्रधान वैयाकरण शाकटायन (८वीं सदी), दयापाल (१०वीं सदी), प्रभाचन्द्र तथा अभयचन्द्र (१४वीं सदी) हैं। इनका प्रथम और प्रधान ग्रंथ 'शाकटायन-शब्दानुशासन' है। पाणिनि, चन्द्रगोमिन् और पूज्यपाद से इस व्याकरण में अधिक लिया गया है। इसमें चार-चार पादों के चार अध्याय हैं और लगभग ३२०० सूत्र हैं। क्रम कौमुदियों की भाँति है। शाकटायन के ही लिखे पाणिनि के आधार पर उन्हीं नामों के धातुपाठ, गणपाठ आदि कुछ अन्य ग्रंथ भी इस शाखा में हैं। इस शाखा में भी टीकाकारों और कौमुदीकारों के दो युग आये हैं। टीकाओं में 'न्यास' और 'चिन्तामणि' प्रसिद्ध हैं। कौमुदियों में 'प्रक्रिया-संग्रह' मुख्य है। हेमचन्द्र की शाखा के कारण यह शाखा लुप्त हो गई।

(घ) हेमचन्द्र शाखा—प्रचार की दृष्टि से पाणिनि शाखा के बाद हेमचन्द्र शाखा का नाम आता है। इसके सूत्रपातकर्त्ता हेमचन्द्र (१०८८ ई०-११७२ ई०) एक जैन साधु थे। गुजरात के इतिहास में भी इनका हाथ है। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'शब्दानुशासन' है, जिसका पूरा नाम 'सिद्धहेमचन्द्राभिधस्वोपज्ञशब्दानुशासन' है। इसमें ८ अध्याय और ३२ पाद हैं। सूत्रों की संख्या ४५०० है। इनमें लगभग ११०० सूत्र

अन्तिम अध्याय में हैं, जिनमें उस समय की जनभाषा प्राकृतों (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची, अपभ्रंश) का वर्णन है। इनका संस्कृत व्याकरण का अंश तो अच्छा नहीं है, पर इन जनभाषाओं का वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। इन्होंने संक्षेप में अधिक से अधिक कहने का प्रयास किया है। शाकटायन के 'शब्दानुशासन' का इन पर प्रभाव स्पष्ट है। हेमचन्द ने अपने शब्दानुशासन पर 'शब्दानुशासन-वृहद् वृत्ति' नामक टीका भी लिखी। यह टीका बहुत ही विवेचनापूर्ण है। इनके द्वारा लिखे कुछ अन्य ग्रन्थ भी कहे जाते हैं, जिनमें पाणिनि की भाँति, धातुपाठ, उणादि सूत्र तथा गण-पाठ आदि भी हैं। हेमचन्द पर लिखी गई टीकाओं में 'वृहद्वृत्ति ढुंढिका' प्रसिद्ध है, पर इसकी पूरी पोथी नहीं मिलती। इसके लेखक के विषय में भी अनिश्चय है। दूसरी प्रसिद्ध टीका देवेन्द्र सूरी की 'हेमलघुन्यास' है। टीकाओं के अतिरिक्त, 'हेमलघु-प्रक्रिया' आदि कई कौमुदियाँ भी अन्य शाखाओं के अनुकरण पर इस शाखा में बनाई गई। १५वीं सदी तक ही इस शाखा में काम होता रहा।

(ङ) **कातंत्र शाखा**[1]—'कातंत्र' का शाब्दिक अर्थ 'संक्षिप्त संस्करण' है। यह व्याकरण पढ़ना आरम्भ करने वालों के लिए पाणिनि के आधार पर बनाया गया था। मूलतः यह कोई स्वतंत्र शाखा नहीं थी। इसकी रचना सर्वसाधारण के लाभ के लिए की गई थी। विशेषतः जबकि लोगों को प्राकृत के माध्यम से संस्कृत सीखनी थी। इसमें १४०० सूत्र हैं। इसके आरम्भ के विषय में एक बड़ी मनोरंजक कथा है। एक बार एक दक्षिणी राजा शातवाहन ने जलक्रीड़ा करते समय अपनी रानी के 'मोदक देहि राजन्' कहने पर उसे कुछ मोदक (मिठाई) दिये, फिर जब उसे अपनी गलती ज्ञात हुई तो अपने पंडित शर्ववर्मन को संस्कृत जानने के लिए एक विशिष्ट व्याकरण रचने की आज्ञा दी। उसने भगवान कार्तिकेय या कुमार की सहायता से इस संक्षिप्त संस्करण को तैयार किया। इसीलिए इसे 'कौमार व्याकरण' भी कहते हैं। इसी से संबद्ध एक अन्य आधार पर इस शाखा का नाम 'कालाप शाखा' भी है। इसका आरम्भ दूसरी सदी से है। ७वीं सदी के लगभग इसका कश्मीर में प्रचार हुआ। इसके प्रथम टीकाकार दुर्गसिंह (९वीं सदी) हैं। आज के उपलब्ध पाठों में प्रक्षिप्तांश का बाहुल्य है। इसके प्रसिद्ध वैयाकरण जगद्धर तथा महादेव आर्य आदि हैं। १५वीं सदी से इसका प्रचार बंगाल में हो गया और बहुत सी-टीकाएँ लिखी गई। आज भी कश्मीर में प्रचलित व्याकरण 'कातंत्र' के आधार पर ही बने हैं।

(च) **सारस्वत शाखा**—इसका आरम्भ १३वीं सदी से है। इसकी मूल पुस्तक में सारी बातें बहुत सरल ढंग से संक्षेप में समझाई गई हैं। पाणिनि के ४००० सूत्रों के स्थान पर इसमें केवल ७०० सूत्र हैं। इसका अवतरण भी जनता की माँग के कारण ही हुआ। इस शाखा को प्रोत्साहन देने वाले गयासुद्दीन खिलजी और सलेमशाह प्रभृति

---

[1] **कुछ लोग इसी को ऐन्द्र भी मानते हैं। इसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'कातंत्र' है।**

मुसलमान शासक थे। संक्षेप और सरलता इसकी प्रधान विशेषता थी। प्रत्याहार तथा माहेश्वर-सूत्र भी कुछ परिवर्तित ढंग से इसमें रखे गये हैं। वैदिक व्याकरण को यहां अनावश्यक समझ कर स्थान नहीं दिया गया है। कहा जाता है कि सरस्वती से इसे अनुभूतिस्वरूप आचार्य ने प्राप्त किया था। पर, सत्य यह है कि अनुभूतिस्वरूप एक टीकाकार थे। शाखा के जनक कोई अन्य महाशय थे, जिनके सम्बन्ध में आज कुछ भी ज्ञात नहीं है। अमृतभारति, क्षेमेन्द्र, हर्षकीर्ति, मण्डन आदि अन्य टीकाकार भी इस शाखा में हुए हैं। यह शाखा १८वीं सदी तक चलती रही है। फिर इधर पाणिनि शाखा के अधिक प्रचार के कारण इसका लोप हो गया। विल्किन नामक अंग्रेज़ विद्वान् ने भी इस शाखा के आधार पर एक व्याकरण लिखा। कुछ लोग आज भी इसे प्रोत्साहन देते हैं। सचमुच सरलता की दृष्टि से इसे पाणिनि शाखा से कहीं अधिक उपयोगी कहा जा सकता है।

(छ) बोपदेव शाखा—इस शाखा का आरम्भ बरार-निवासी बोपदेव से माना गया है। बोपदेव (१३वीं सदी) बहुत बड़े विद्वान् थे और इन्होंने कई विषयों पर पुस्तकें लिखीं। भाषा-सम्बन्धी इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मुग्धबोध' है। जैन, बौद्ध आदि धर्मों का प्रभाव इन पर नहीं था। इनका भी प्रधान ध्येय सरलता और संक्षेप ही है। इनकी शैली कातंत्र से मिलती-जुलती है। इनके माहेश्वर-सूत्र और प्रत्याहार पाणिनि से कुछ भिन्न हैं। वैदिक विशेषताओं की ओर से ये भी उदासीन हैं। इनके पारिभाषिक शब्द भी पाणिनि से भिन्न हैं (जैसे धातु के लिए 'धु' तथा वृद्धि के लिए 'वृ' आदि)। मुग्धबोध का अधिक प्रचार नहीं हो सका। १७वीं सदी तक यह बंगाल के नदिया जिले तक सीमित हो गया। इस पर टीकाएँ और कौमुदियाँ बनीं, जिनमें रामतर्क वागीश की अधिक प्रसिद्धि है।

(ज) शेष शाखाएँ—शेष में प्रधान जौमर (१२००-१४००), सौपद्म (१३००-१५५०) और हरिनामामृत (१६वीं सदी) आदि शाखाएँ हैं, जिनके प्रसिद्ध लेखक क्रम से जुमरनन्दो[1], पद्मनाभदत्त और जीव गोस्वामी हैं। महत्त्वपूर्ण न होने के कारण इनका नाम ले लेना ही पर्याप्त है।

पालि—पालि व्याकरणों की रचना भारतवर्ष, ब्रह्म प्रदेश और लंका तीनों ही स्थानों में हुई। इन व्याकरणों की तीन शाखाएँ बनाई जा सकती हैं—कच्चायन, मोग्गलान तथा अग्गवंस। ये तीनों ही शाखाएँ संस्कृत से प्रभावित हैं और विषय की दृष्टि से अपूर्ण हैं। यहां इन पर पृथक्-पृथक् विचार किया जा रहा है—

(क) कच्चायन—(कात्यायन) संस्कृत वैयाकरण कात्यायन से भिन्न हैं। इनका समय ८वीं या ९वीं सदी के लगभग है। इनकी प्रधान कृति 'कच्चायन व्याकरण" है, जिसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि यह कृति पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक

---

१. क्रमदीश्वर-कृत 'संक्षिप्त सार-व्याकरण' पर 'जौमर वृत्ति' नामक वृत्ति संभवतः इन्हीं ने लिखी थी।

सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं डालती। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त दो और व्याकरण-ग्रन्थ भी इनके लिखे कहे जाते हैं। इनकी शाखा में 'कच्चायन व्याकरण' की कई टीकाएँ लिखी गईं। इसमें सबसे प्रसिद्ध विमलबुद्धि की टीका 'न्यास' है। इस 'न्यास' पर भी कुछ टीकाएँ भारत तथा ब्रह्मदेव में लिखी गई हैं। छपद की 'सुत्तनिद्देस' तथा संघरचित की 'सम्बन्ध-चिन्ता' आदि पुस्तकें भी इसी शाखा की हैं।

(ख) मोग्गलान (१२वीं सदी)—इन्हें मोग्गल्लायन भी कहा गया है। उनकी प्रधान पुस्तक 'मोग्गलायन व्याकरण' है। इस पर इन्होंने स्वयं 'मोग्गलायन पंचिका' नामक टीका भी लिखी है। इनका व्याकरण भी कुछ दृष्टियों से अपूर्ण है, पर कच्चायन की अपेक्षा बहुत अच्छा है। वर्गीकरण तथा इनके पारिभाषिक शब्द कच्चायन से भिन्न हैं। इन्होंने छोटे-मोटे प्राचीन पाली व्याकरण और पाणिनि तथा चन्द्रगोमिन आदि से अधिक सहायता ली है। इस शाखा में भी अनेक टीकायें लिखी गईं, जिनमें से पियदस्सिन की 'पदसाधन' तथा राहुल की 'मोग्गल्लायन-पंत्रिकापदीय' उल्लेखनीय हैं।

(ग) अग्गवंस (१२वीं सदी)—अग्गवंस ब्रह्मदेश के निवासी थे। इनकी पुस्तक 'सिद्धनीति' है। अग्गवंस की शाखा का प्रचार लंका और ब्रह्मदेव में हुआ। यह शाखा प्रमुखतः कच्चायन पर आधारित है, अतः कुछ लोग इसे स्वतन्त्र शाखा न मान कर कच्चायन के अन्तर्गत ही रखते हैं।

(१५) प्राकृत—प्राकृत के व्याकरण, विशेषतः संस्कृत नाटकों के प्राकृत-अंशों को समझने के लिये लिखे गये थे। जीवित प्राकृत से उनका बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं था। इन व्याकरणों का ढाँचा भी पूर्णतः संस्कृत व्याकरणों पर आधारित था। प्राकृत वैयाकरणों की प्रतीच्य और प्राच्य दो शाखाएँ मानी गई हैं।

(क) प्रतीच्य शाखा—इस शाखा के सूत्रों के रचयिता कोई वाल्मीकि कहे जाते हैं, इसी कारण इस शाखा को वाल्मीकि-शाखा की भी संज्ञा दी गई है। इन सूत्रों की सबसे प्रसिद्ध टीका त्रिविक्रम (१३वीं सदी) की है जो 'प्राकृत व्याकरण' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी टीका लक्ष्मीधर (१६वीं सदी) लिखित 'शब्द-भाषा-चंद्रिका' है।

हेमचन्द्र (१२वीं सदी)—प्रतीच्य शाखा का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ हेमचंद्र-लिखित ('सिद्ध हेमचन्द्र' शब्दानुशासन) है। इस ग्रंथ का नाम 'सिद्धहेमचन्द्राभिधस्वोपज्ञशब्दानुशासन' है। इस पुस्तक के ७ अध्याय तो संस्कृत-व्याकरण के हैं, जिनके सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसका ८वाँ अध्याय पूरे ग्रन्थ के लगभग चौथाई है, जिसमें प्राकृतों पर विचार किया गया है, जिनमें महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची तथा चूलिकापैशाची आदि प्रधान हैं। हेमचन्द्र के सूत्र इनके अपने हैं, पर शैली वही पुरानी है।

(ख) प्राच्य शाखा—इस शाखा के सर्वप्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि हैं, अतः उनके नाम से भी यह शाखा प्रसिद्ध है।

वररुचि (५वीं सदी)—प्राकृत भाषा का सबसे पुराना व्याकरण वररुचि का 'प्राकृत-प्रकाश' है। इसके प्रथम नौ अध्याय में संस्कृत के आधार पर महाराष्ट्रीय प्राकृत का बहुत विस्तृत वर्णन है। १०वें, ११वें और १२वें अध्याय में क्रम से पैशाची, मागधी और शौरसेनी का वर्णन है। शौरसेनी का वर्णन बहुत संक्षेप में है, क्योंकि शेष बातों में वह महाराष्ट्री से भिन्न नहीं है। 'प्राकृत-प्रकाश' पर प्राचीनतम टीका कात्यायन (७वीं सदी) लिखित 'प्राकृत-मंजरी' है।

इस शाखा की अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ लंकेश्वर की 'प्राकृत-कामधेनु', वसंतराज की 'प्राकृत-संजीवनी' तथा उड़ीसा-निवासी मारकण्डेय (१७वीं सदी) की 'प्राकृत-सर्वस्व' हैं। इनमें 'प्राकृत-सर्वस्व' का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है।

अपभ्रंश के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से लिखी गई प्राचीन पुस्तकें प्रायः नहीं के बराबर हैं। हाँ, हेमचन्द्र आदि के प्राकृत व्याकरणों के अंत में इस सम्बन्ध में कुछ सामग्री अवश्य दी हुई है।

व्याकरणेतर ग्रन्थों में भाषा-विषयक अध्ययन—उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ अन्य शास्त्रवालों ने भी भाषा पर प्रकाश डालने के सुन्दर प्रयास किये हैं, जिनमें प्रधान नैयायिक, साहित्यिक तथा मीमांसक हैं।

(क) नैयायिक—बंगाल के नदिया के तार्किकों या नैयायिकों ने भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष की ओर ध्यान दिया। इससे 'अर्थविज्ञान' पर कुछ प्रकाश पड़ा। इस दृष्टि से जगदीश तर्कालंकार का 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका' ग्रंथ अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(ख) साहित्यशास्त्री-कुछ साहित्यकों ने रीति या काव्यशास्त्र का विवेचन करते हुए भाषा के अर्थ-पक्ष का सुन्दर विवेचन किया ऐसों में ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, काव्य-प्रकाश, चन्द्रालोक आदि के रचयिता प्रधान हैं। ये लोग अलंकार एवं शब्द-शक्तियों के वर्णन में इस ओर झुके हैं।

(ग) मीमांसक—इन्होंने भी शब्द-स्वरूप, शब्दार्थ, वाक्य तथा वाक्यार्थ आदि पर विचार किया है।

(घ) वेदांती—इनकी कृतियों में भी भाषा-विषयक कुछ सामग्री है।

भारत में की गई भाषा-सम्बन्धी प्राचीन खोज को यहाँ समाप्त करते हुए कहा जा सकता है कि रूप, वाक्य, ध्वनि और अर्थ प्रत्येक दृष्टि से आधुनिक दृष्टिकोणों के अभाव में भी यहाँ पर्याप्त कार्य हुआ था, और इस क्षेत्र में भारत अन्य देशों से बहुत आगे था।

(ब) आधुनिक अध्ययन

भारत में भाषाविज्ञान का आधुनिक रूप में अध्ययन यूरोप के संसर्ग से आरंभ हुआ है। सत्य तो यह है कि पहले-पहल उन्हीं लोगों ने यहाँ इसका प्रारम्भ भी किया, और इसी कारण यह श्रेय उनको ही प्राप्त है। यहाँ इस क्षेत्र में काम करने वाले प्रमुख लोगों के कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

काल्डवेल (१८१४-१८९१)—द्रविड़ परिवार की भाषाओं के इस पादरी पंडित ने अपना पूरा जीवन इस परिवार की भाषाओं के अध्ययन-विश्लेषण में लगा दिया। १८४६ में इनका द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar of the Dravidian Languages) प्रकाशित हुआ जो एक सदी से अधिक पुराना होने पर भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

जॉन बीम्स—इंग्लैंड-निवासी बीम्स १८५७ में इंडियन सिविल सर्विस में में आए तथा बंगाल में नियुक्त हुए। बाद में पंजाब, बिहार, उड़ीसा आदि में भी कलेक्टर तथा मजिस्ट्रेट रहे। भाषाओं के अध्ययन में ये बचपन से ही रुचि लेते थे। भारत आने के लगभग १० वर्ष बाद इनका पहला ग्रन्थ 'ऐन आउटलाइन आफ इंडियन फिलालोजी' प्रकाशित हुआ। काल्डवेल का 'द्रविड़ भाषाओं का व्याकरण' देखकर इन्हें भारतीय आर्यभाषाओं पर वैसा ही काम करने की प्रेरणा मिली और लगभग १४ वर्षों तक इस विषय पर कार्य करते हुए उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ए कम्पैरेटिव ग्रामर आफ द माडर्न आर्यन लैंग्विजिज आफ इंडिया' तीन भागों (भाग १—१८७२ में, भाग २—७५ में तथा भाग ३—७९ में) में प्रकाशित किया। भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक विकास पर यह पहला कार्य है। इस विषय पर अभी तक कोई दूसरा कार्य नहीं हुआ है। एक हजार से अधिक पृष्ठों के इस विस्तृत ग्रन्थ में प्रारम्भ में भारतीय आर्यभाषाओं के उद्भव और विकास पर १२१ पृष्ठों की एक लम्बी-सी भूमिका है तथा आगे हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, उड़िया तथा बंगला की ध्वनियों तथा उनके संज्ञा, सर्वनाम, संख्यावाचक विशेषण तथा क्रियारूपों का संस्कृत से तुलनात्मक विकास दिखलाया गया है।

केलाग (सैमुयल एस०) (१८३९-१८९९)—न्यूयार्क के वेस्ट हेम्पटन में जन्मे पादरी केलाग भारत में धर्म-प्रचार के लिए आए और १८७२ तक इलाहाबाद के थियोलाजिकल ट्रेनिंग स्कूल में पढ़ाते रहे। यों तो 'लाइट आफ एशिया', 'लाइट आफ द वर्ल्ड' आदि इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, किन्तु इनका अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी व्याकरण (A Grammar of the Hindi Languages) है। इसका प्रथम संस्करण १८७६ में तथा दूसरा परिवर्तित-परिवर्धित संस्करण १८९३ में हुआ। हिन्दी का यह प्रथम सुव्यवस्थित तथा विस्तृत व्याकरण है तथा आज भी कई दृष्टियों से सर्वोत्तम है। इसमें लिपि, ध्वनि-व्यवस्था तथा संधि के अतिरिक्त हिन्दी के तत्कालीन परिनिष्ठित रूपों के साथ-साथ मारवाड़ी, मेवाड़ी, मेरवाड़ी, जयपुरी, हाड़ाती, कुमाऊँनी, गढ़वाली, नेपाली, कन्नौजी, बैसवाड़ी, रीवाड़ी भोजपुरी, मगही और मैथिली आदि के भी रूप यथास्थान दिए गए हैं। वाक्यरचना के विस्तृत प्रायोगिक नियमों के अतिरिक्त रूपों की व्युत्पत्ति तथा उनका विकास भी दिया गया है।

हार्नले (जन्म १८४१—पूरा नाम : आउगुस्टस फ्रेडरिक रूडल्फ होएर्नले। राष्ट्रीयता जर्मन। जन्म भारत (सिकंदरा, आगरा) में। पिता यहीं जर्मन पादरी थे। शिक्षा जर्मनी तथा इंग्लैंड मे। १८६५ में जयनारायण मिश्नरी कालेज बनारस में प्राध्यापक नियुक्त हुए। १८७३ में इंग्लैंड चले गए तथा अपना गॉडियन व्याकरण लिखते रहे। १८९८ में आपने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। ये रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल के संपादक भी रहे। १८७२-७३ में इन्होंने अपना प्रथम भाषा वैज्ञानिक निबंध (लगभग १०० पृष्ठों का), जो गौड़ीय भाषा-समुदाय से संबद्ध था, एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल के जर्नल में प्रकाशित करवाया। १८८० में इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ (A Comparative Grammar of Gaudian Languages) प्रकाशित हुआ, जिसमें भोजपुरी का विस्तृत व्याकरण देने के साथ-साथ आधुनिक आर्यभाषाओं की काफी तुलनात्मक सामग्री दी गई है। इसमें हिन्दी क्रियारूपों में लिंग-परिवर्तन के नियम, विभिन्न रूपों का विकास, भाषायी मानचित्र तथा लिपियों के विकास का चित्र आदि भी है। १८८० में ही उपर्युक्त जर्नल में इनका हिन्दी धातुओं पर एक विस्तृत निबंध प्रकाशित हुआ जिसमें हिन्दी धातुओं का संग्रह, इतिहास तथा वर्गीकरण आदि है। ग्रियर्सन के साथ इन्होंने बिहारी भाषाओं का तुलनात्मक कोष तथा बीम्स के साथ पृथ्वीराज़ रासो के आदि पर्व का संपादन किया। प्राचीन लिपियों के विकास पर भी आपने अच्छा काम किया है।

ग्रियर्सन (१८५१-१९४१)—पूरा नाम 'जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन'। जन्म आयरलैंड। १८७१ में इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास की तथा बंगाल में नियुक्त हुए। १८८३ से ८७ तक इन्होंने अपना (Seven grammars of the Dialects and subdialects of the Bihari language) प्रकाशित किया। इसके बाद ही इन्होंने भारत की सभी भाषाओं, उपभाषाओं, बोलियों तथा उपबोलियों का सर्वेक्षण प्रारंभ किया जो Linguistic Survey of India नाम से ११ बड़ी-बड़ी जिल्दों में (१८९४-१९२७) प्रकाशित हुआ। अभी आज़ तक किसी भी देश की सारी भाषाओं पर इस प्रकार का कार्य नहीं हुआ है। इसमें भाषाओं और बोलियों आदि का संक्षिप्त व्याकरण देने के साथ-साथ प्रत्येक के नमूने तथा मानचित्र भी दिए गए हैं। भारतीय भाषाओं और बोलियों आदि के सीमा-निर्धारण का भी प्रथम प्रयास इसी में है जो कुछ अपवादों को छोड़कर अब तक भी प्रामाणिक है। इतना विस्तृत कार्य कोई एक व्यक्ति नही कर सकता था, अत: ग्रियर्सन को इसमें अन्य अनेक लोगों की सहायता लेनी पड़ी। इसी कारण इसमें यत्र-तत्र कुछ कमियाँ भी हैं, किंतु इनसे इस ऐतिहासिक ग्रंथ का महत्व कम नहीं होता। संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओं एवं लिपियों पर आपके लगभग २०० खोजपूर्ण तथा वैज्ञानिक लेख प्रकाशित हैं। आपकी भाषाविज्ञान-विषयक अन्य

मुख्य कृतिदाँ हैं : बिहारी का तुलनात्मक कोश (हार्नले के साथ १८८६, अपूर्ण) पिशाच लैंग्विज (१९०६), ए मैन्युअल आफ़ कश्मीरी लैंग्विज (१९११), कश्मीरी कोश (४ खंडों में १९१६-३२)।

डॉ० ट्रम्प—ट्रम्प संस्कृत, प्राकृत, सिन्धी तथा पश्तो आदि भाषाओं के विद्वान् थे। १८७२ में इनका सिन्धी व्याकरण (Grammar of the Sindhi Language compared with the Sanskrit, Prakrit and The Cognate Indian Vernaculars) प्रकाशित हुआ, जिसमें संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं से भी तुलनात्मक सामग्री दी गई है। एक वर्ष बाद १८७३ में इनका 'पश्तो व्याकरण' प्रकाश में आया।

डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर—भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक युग में काम करने वाले ये प्रथम भारतीय हैं। भन्डारकर प्रमुखतः प्रत्न भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व के विद्वान् थे, पर आर्यभाषाओं का भी पर्याप्त अध्ययन किया था। १८७७ में बम्बई विश्वविद्यालय में इस विषय पर इन्होंने सात व्याख्यान दिये जो ३७ वर्ष बाद १९१४ में पुस्तक-रूप में (Wilson, Philological Lectures) छपे। भंडारकर ने प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञान के साथ-साथ नवीन यूरोपीय भाषाविज्ञान का भी अध्ययन किया था, इसी कारण यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। आरम्भ में भाषा के विकास के सम्बन्ध में सामान्य नियम दिये गये हैं, तथा संस्कृत के विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में पाली तथा उस समय की अन्य बोलियों का विवेचन है। तीसरे और चौथे अध्याय में क्रम से 'प्राकृत-अपभ्रंश' तथा 'उत्तर भारतीय आधुनिक भाषाओं की ध्वनि' से सम्बन्ध रखते हैं। पाँचवें और छठे में आधुनिक भाषाओं में पाये जाने वाले प्राचीन तथा नवीन रूपों का विवेचन है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय विशेष महत्त्व रखता है। सातवाँ अध्याय प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्माण-काल को देखते हुए ग्रन्थ बहुत ही महत्त्व का है।

रैल्फ लिले टर्नर—लगभग ३०-३५ वर्षों के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ नेपाली कोश १९३१ में प्रकाशित हुआ। इसमें सभी नेपाली शब्दों की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया गया है। साथ में भारत की प्रधान आर्यभाषाओं के शब्द भी तुलना के ढंग पर दे दिये गये हैं। कहीं-कहीं यूरोपीय भाषाओं के भी तुलनात्मक शब्द हैं। लगभग २०० शब्द मूल भारोपीय भाषा के दिये गये हैं। पुस्तक २१२ भाषाओं के आधार पर लिखी गई है। यह सभी ने स्वीकार किया है कि यह भारतीय आर्यभाषाओं का प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोश है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त टर्नर ने मराठी स्वराघात, गुजराती ध्वनि तथा सिंधी पर भी कुछ कार्य किया है। इधर वे सारी भारतीय आर्यभाषाओं के तुलनात्मक व्युत्पत्ति-कोश (तत्सम-तद्भव शब्दों का) को प्रकाशित करने पर लगे थे, जो पूरा हो गया है।

जूल ब्लाक—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मराठी की बनावट' (१९१९) है। किसी भारतीय भाषा का वैज्ञानिक इतिहास तथा उसकी बनावट का पूर्ण विवेचन प्रथम बार इस पुस्तक में हुआ है। ध्वनि और रूप का विवेचन इसमें विशेष है। इसके अतिरिक्त इनका 'भारतीय आर्यभाषाएँ' ग्रन्थ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन्होंने द्रविड़ तथा द्रविड़ों और आर्यों के पूर्व के भारतीयों की भाषा आदि के सम्बन्ध में भी कार्य किया है।

ओझा, गौरीशंकर हीराचंद (१८६३-१९४७)—इतिहास, पुरातत्व, प्राचीन लिपि तथा अनेक भाषाओं के विद्वान् ओझा जो पहले उदयपुर के राजकीय पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष तथा बाद में राजपूताना म्यूजियम अजमेर के क्यूरेटर थे। आपने दो दर्जन से अधिक अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं या संपादित की थीं, जिनमें भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उनकी लिपि-विषयक पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं: प्राचीन लिपिमाला, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, अशोक की धर्मलिपियां। 'प्राचीन लिपिमाला' अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त ग्रंथ है, जिसमें ब्राह्मी, खरोष्टी, गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा, बंगला, पश्चिमी, मध्य प्रदेशी, तेलुगू, कन्नड़, मुंज, कलिंग, तमिल, आदि लिपियों की उत्पत्ति और उनका क्रमिक विकास प्रामाणिक संदर्भों के आधार पर दिखाया गया है। भारतीय लिपियों पर अब भी यही सबसे प्रामाणिक ग्रंथ है।

कामताप्रसाद गुरु (१८७५-१९४७)—गुरुजी मूलतः संस्कृत के विद्वान् थे, किंतु आपका कार्यक्षेत्र था हिंदी भाषा का विश्लेषण। आपकी प्रसिद्ध कृति है 'हिंदी व्याकरण', जिसमें हिंदी भाषा का अत्यंत गहराई और विस्तार से विश्लेषण किया गया है। हिंदी भाषा का इस स्तर का आज भी कोई दूसरा व्याकरण नहीं है। गुरु जी की एक अन्य कृति है: भाषा वाक्य-पृथक्करण।

वर्त्तमानकालिक प्रवृत्तियां—इस दिशा में भारतीय प्रगति का मूल श्रेय पश्चिम को है। काल्डवेल, बीम्स, ट्रम्प, केलॉग हार्नले, प्लैट्स, ग्रियर्सन, टर्नर तथा जूल ब्लाक आदि ने इस दिशा में हमारे लिए अग्रणी का कार्य किया और हमने अपना रास्ता कुछ अपनी प्राचीन परम्परा तथा इन लोगों के आदर्श पर बनाया। इस प्रकार, आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान ने अपना जीवन-रस दो स्रोतों से लिया है; (क) **भाषा-अध्ययन की प्रचीन भारतीय परम्परा**—मुख्यतः प्रातिशाख्य, शिक्षा ग्रंथ, पाणिनि, पतंजलि तथा भर्तृहरि से, तथा (ख) **भाषा-अध्ययन की पश्चिमी परम्परा**—इसका संबंध मुख्यतः इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका तथा रूस से है। आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अब तक जो काम हुआ है, और जो हो रहा है, उसे देखते हुए निम्नांकित चार धाराओं का संकेत किया जा सकता है—(१) **शास्त्रीय धारा**—यह धारा मुख्यतः प्राचीन भारतीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसके सबसे सजग और सशक्त व्याख्याता आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ('हिन्दी शब्दानुशासन' तथा 'भारतीय भाषाविज्ञान' आदि) हैं। दामले (शास्त्रीय मराठी व्याकरण) तथा कामताप्रसाद गुरु (हिन्दी व्याकरण) आदि भी अंग्रेजी व्याकरणों के प्रभाव के बावजूद इसी परंपरा में आते हैं। (२) **ब्रिटिश और फ्रांसीसी प्रभावयुक्त धारा**—इस धारा में डॉ० भंडारकर (भारतीय आर्यभाषा), डॉ० चटर्जी (बंगाली), डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा

(प्राचीन भारतीय ध्वनिविज्ञान), डॉ० कत्रे (कोंकणी), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (ब्रजभाषा, हिन्दी), डॉ० बाबूराम सक्सेना (अवधी), डॉ० मोइनुद्दीन कादरी (हिन्दुस्तानी ध्वनि) डॉ० सुकुमार सेन (प्राकृत), डॉ० मसऊद हसन खाँ (उर्दू ध्वनि), डॉ० विश्वनाथ प्रसाद (भोजपुरी ध्वनि), डॉ० महेन्देले (प्राकृत), डॉ० तगारे (अपभ्रंश), डॉ० उदय नारायण तिवारी (भोजपुरी, हिन्दी); डॉ० बाहरी (लहँदा, हिन्दी), डॉ० एस० के० वर्मा (अंग्रेजी-हिन्दी क्रिया) आदि के नाम मुख्य हैं। दो-तीन अपवादों को छोड़कर इस धारा के विद्वान् प्राचीन भारतीय परंपरा से भलीभाँति परिचित एवं कुछ प्रभावित हैं; तथा जहाँ तक आधुनिक पद्धति का संबंध है, यह धारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इंग्लैंड या फ्रांस की भाषा-अध्ययन-पद्धति से जुड़ी है। यह धारा विशेष सक्रिय पिछले दशक तक ही रही। इस धारा का कार्य मुख्यतया ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में है। अन्य प्रकार के कार्य अपेक्षाकृत कम हुए हैं। (३) **अमेरिकी प्रभावयुक्त धारा**—अमेरिका में यों तो बोआश, सपीर, ब्लूमफ़ील्ड आदि ने काफी पहले बहुत अच्छा काम किया था, किंतु पहले अमेरिकी भाषाविज्ञान से हमारा प्रत्यक्ष संपर्क न था। अमेरिका के राकफेलर फ़ाउंडेशन की मदद से १९५३ से भारत में पूना तथा अन्य स्थानों में भाषाविज्ञान के ग्रीष्म एवं शीतकालीन स्कूलों का आयोजन प्रारम्भ हुआ तथा उनमें पढ़ने के लिए अमेरिकी भाषाशास्त्री (फ़ेयरबैंक्स, ह्वलिंगसवाल्ड, ग्लीसन, एमेन्यू, गम्पर्ज़, केली आदि) आते रहे। मूलतः स्कूलों के माध्यम से ही भाषाशास्त्र में रुचि लेने वाले भारतीयों का परिचय भाषा-अध्ययन की अमेरिकी पद्धति से प्रत्यक्षतः हुआ, और धीरे-धीरे पुराने लोगों में डॉ० घाडगे, डॉ० पंडित, डॉ० उदय नारायण तिवारी आदि अनेक विद्वान् अमेरिकी पद्धति तथा इसके माध्यम से भाषाशास्त्र के क्षेत्र में विकसित नयी पद्धतियों से परिचित हुए। पुरानी और नयी पीढ़ी के अनेक लोग अमेरिका गए, और वहाँ इस विषय का व्यवस्थित अध्ययन किया। इस समय सच पूछा जाय तो भारत में भाषावैज्ञानिक कार्य कुछ अपवादों एवं अवशेषों को छोड़कर अधिकांशतः प्रायः अमेरिकी पद्धति पर ही हो रहा है। इस दृष्टि से कृष्णमूर्ति (तेलुगु), बिलगिरी (मुण्डा), पिल्लई (तमिल), केलकर (मराठी), बहल और गिल (पंजाबी), गोस्वामी (असमिया) आदि १५-२० नाम उल्लेख्य हैं। इस धारा ने विशेष कार्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान (विशेषतः ध्वनि और रूप के क्षेत्र) में किया है। टाटा इन्स्टीच्यूट के सांख्यिकीय विभाग में कम्प्यूटर की सहायता से ध्वनियों के वितरण पर जो काम हो रहा है, वह भी इसी धारा के अंतर्गत है। (४) इस प्रसंग में तत्त्वतः किसी धारा का रूप न ले सकने के बावजूद **रूसी प्रभावयुक्त** एक अंकुरित हो रही धारा यदि उल्लेख्य नहीं तो संकेत्य अवश्य है। अभी हाल तक रूस की भाषा-विश्लेषण-पद्धति से भारत का परिचय प्रायः नहीं के बराबर था। इधर रूस-भारत के संबन्धों में वृद्धि के साथ-साथ हम उससे परिचित होने लगे हैं। इस धारा में प्रथम नाम डॉ० रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव का लिया जा सकता है, जिन्होंने हिन्दी के आदि व्यंजन-गुच्छों की ध्वानिक प्रकृति (acoustic nature) तथा उनके वितरण पर काम किया है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में किसी भारतीय द्वारा रूसी सिद्धान्तों

पर आधारित यह प्रथम कार्य है। मैं स्वयं भी दो वर्षों तक रूस में रहा, और वहाँ के भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों की अनेक नयी बातें मुझे प्रभावित किए बिना न रह सकीं। उदाहरण के लिए, ध्वनिग्राम के लिए वितरण पर बल देने का अमेरिकी सिद्धांत, जिसे प्रायः सभी भारतीय भाषाशास्त्री मानते हैं, मुझे अधूरा लगता है और मैं स्वतन्त्र उच्चारण और स्पष्ट श्रवण को भी समान महत्त्व देने के पक्ष में हूँ। पीछे ध्वनिग्राम के प्रकरण में इसी आधार पर परिपूरक वितरण में न होने पर भी ड़ः ढ़ की बात ध्वनिग्राम के प्रकरण में कही गई है।

यों भारतीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में इधर जो काम हुए है तथा इस समय जो कार्य हो रहे है, उनमें प्रमुख हाथ प्रथम तीन धाराओं का ही है। ये कार्य मुख्यतः ६-७ प्रकार के है : (१) पूरा अध्ययन—भाषाओं, बोलियों, किसी काल की भाषा, किसी कवि या लेखक की भाषा तथा किसी रचना की भाषा का अध्ययन। (२) ध्वनि—ध्वनि, ध्वनिग्राम, व्यंजन-गुच्छ, बलाघात, सुर-लहर, संगम, आक्षरिक रचना आदि का अध्ययन। (३) रूप—प्रत्यय, उपसर्ग, समास, कारक-रूप, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया अव्यय का अध्ययन। (४) वाक्य—वाक्य की रचना का अध्ययन। (५) शब्द—बोलियों की औद्योगिक एवं सांस्कृतिक शब्दावली का अध्ययन, भाषा या बोली के शब्द-समूह का अध्ययन, अन्य भाषा के विदेशी प्रभावों का अध्ययन। पारिभाषिक शब्द-निर्माण तथा एकभाषिक-द्वैभाषिक कोश-रचना आदि। (६) अर्थ—अर्थ-परिवर्तन एवं आर्थिक अन्तर की दृष्टि से अध्ययन, शब्दों का अध्ययन। (७) मुहावरों, लोकोक्तियों का अध्ययन। ये अध्ययन ऐतिहासिक दिशा में अधिक हुए हैं, वर्णनात्मक में कम तथा तुलनात्मक में और भी कम।

आवश्यकता—जीवित भाषाओं के जो अध्ययन आजकल अपने देश में चल रहे है, उनमें अधिकतर ध्वनि तथा रूप तक ही सीमित हैं। ध्वनि के अध्ययन में यूरोपीय देशों की भाँति ध्वनि-अध्ययन के लिए बने कायमोग्राफ, एक्सरे, लैरिंगोस्कोप, एंडोस्कोप, कृत्रिम तालु, आटोफोनोस्कोप, श्रीदिंग फ्लास्क, स्पिरोमीटर, स्टेथोग्राफ, न्यूमोग्राफ तथा स्ट्रोबोलैरिंगोस्कोप आदि का उपयोग अभी तक कम किया गया है, अतएव अपने ध्वनि-अध्ययन को इन साधनों पर आधारित कर पूर्ण वैज्ञानिक रूप देने की आवश्यकता है। इसके लिए प्रयोगशालाएँ अपेक्षित हैं। वाक्य तथा अर्थ विज्ञान का अध्ययन हमारे यहाँ अभी शैशवावस्था में है। इन दोनों ही को मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र के प्रकाश में आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। पश्चिमी देशों में भाषाविज्ञान के लिए मानवविज्ञान का भी अध्ययन किया जाने लगा है। यहाँ भी उसे अपनाना चाहिए। हमारी जीवित भाषाओं ने अपना जीवन-रस प्राचीन भाषाओं से खींचा है, उनका भी अध्ययन आवश्यक है। प्रसन्नता है कि इस ओर लोग यथेष्ट ध्यान दे रहे हैं और संस्कृत पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवेस्ता, अरबी तथा फारसी आदि का कुछ अध्ययन अब चल रहा है। पर, इस क्षेत्र में और गहराई में उतरना

अपेक्षित है। इनके अतिरिक्त, उन **यूरोपीय भाषाओं** का भी अध्ययन आवश्यक है, जिनसे अपने शब्द आदि उधार लिये हैं। इस सम्बन्ध में पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। कहना न होगा कि हमारे विद्वानों ने अंग्रेजी तथा कुछ-कुछ फ्रांसीसी पर ध्यान दिया है, पर अभी पुर्तगाली आदि का कोना पूर्णतः अछूता ही है। आशा है कि शीघ्र ही हम उधर भी ध्यान देंगे। इन सबके साथ-साथ **समाजविज्ञान** तथा **धर्मविज्ञान** का भी पर्याप्त अध्ययन होना आवश्यक है। इनके बिना भारत-जैसे धर्मप्रधान देश की भाषाओं का अध्ययन पूरी गहराई से नहीं किया जा सकता। इन सारे साधनों की सहायता से विभिन्न भाषाओं और उनकी बोलियों का अध्ययन पूरा कर लेने के उपरान्त **भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों** पर काम करना पड़ेगा और इन दोनों कार्यों को समाप्त कर हमें भाषाविज्ञान की सहायता से अपने इतिहास के विस्मृत पृष्ठों का पुनरुद्धार करना है। ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं और उसकी बोलियों का सर्वेक्षण बड़ी योग्यता से किया था, पर पटवारियों आदि की सहायता से सामग्री एकत्र किये जाने के कारण उसे पूर्ण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अब भाषाविज्ञान के विद्वानों की सहायता से उस काम को फिर से कराने की आवश्यकता है। अभी ऐसी बहुत-सी जङ्गली बोलियाँ हैं, जिनका पूरा अध्ययन नहीं हुआ है। इस क्षेत्र में भी आगे बढ़ना आवश्यक है। जीवित भाषाओं के विकास की गतिविधि का अध्ययन तथा उसके आधार पर **व्याकरण** को परिवर्तित करते रहने के लिए हर क्षेत्र में कुछ भाषा-अध्ययन के केन्द्र भी अपेक्षित हैं। आशा है इस क्षेत्र के हमारे विद्वान् इन सभी की पूर्ति शीघ्र ही कर सकेंगे।

[ख] चीन

भाषाओं के प्रकारण में चीनी भाषा पर विचार करते समय उसकी प्राचीनता की ओर हम लोग संकेत कर चुके हैं। कुछ लोग तो पाँच-छः हजार वर्ष ई० पू० से ही इसे सुसंस्कृत भाषा मानने के पक्ष में हैं, पर यदि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम इतनी दूर न भी जायँ तो कम से कम १५०० वर्ष ई० पूर्व से चीनी को समुन्नत भाषा मानने में तो संभवतः किसी को भी आपत्ति न होगी। फू-हि हुआङ-सी तथा शेन-नुङ आन्दि सम्राट्, जिनके समय से वहाँ लिपि का आरम्भ माना जाता है, ढाई हजार वर्ष ई० पू० के बहुत पहले हो चुके थे। चीन का स्वर्ण-युग भी लगभग २००० ई० पू० के पहले ही समाप्त हो चुका था। ऐसी दशा में यह अनुमान सरलता से किया जाता है कि १५०० ई० पू० से साहित्य-सृजन वहाँ पर्याप्त मात्रा में आरम्भ हो गया होगा। महात्मा कनफ्यूशिअस ने ५०० ई० पू० के लगभग १८०० ई० पू० तक के गीतों का संग्रह किया था। चीन में इतिहास और कहानियाँ लिखने की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। जब लोगों की प्रवृत्ति इस प्रकार साहित्य-सृजन की ओर थी तो अवश्य ही भाषा की ओर भी उनका ध्यान गया होगा। अन्य

भाषाओं के व्याकरणों की भाँति किसी व्याकरण[1] का तो आज भी वहाँ अभाव है, पर शब्दकोश अवश्य बहुत-से बनाये गये हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में भी अवश्य ही कुछ कोश बनाये गये होंगे। कुछ भी हो, आज परिस्थिति यह है कि भाषा-सम्बन्धी पुराना ग्रंथ एक भी नहीं मिलता। हूणों, मंगोलों और मंचुओं के आक्रमण के अतिरिक्त, इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि २१३ वर्ष ई० पू० चीन के राजा छिनस्म-ख्वांग ने कुछ राजनीतिक कारणों से सभी उपलब्ध पुस्तकों को जलवा डाला था। इस राजा की मृत्यु के बाद प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार की ओर जब चीनी विद्वानों का ध्यान गया तो वैज्ञानिक रूप से भाषा के अध्ययन की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार, भाषा के अध्ययन की ज्ञात तिथि लगभग २०० ई० पू० है। इसी के लगभग भारतीय बौद्ध अपने धर्म के प्रचार के लिए वहाँ पहुँचे। उस समय तक भाषा का अध्ययन भारत में बहुत आगे बढ़ चुका था, अतः इन साधुओं की सहायता से भी चीनियों ने ध्वनि के सम्बन्ध में अपना अध्ययन आगे बढ़ाया। उसी समय से चीनी कोशों में चिह्नों को ध्वन्यनुसार क्रम भी दिया जाने लगा। चीनी में भाषा के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण और प्रधान कार्य कोशों का है। कोशों में चिह्न या शब्द प्रायः दो प्रकार से सजाए जाते हैं। प्रथम प्रकार अन्य भाषाओं के कोशों की भाँति ध्वनियों पर आधारित है। पर, ऐसे कोश बहुत उपयोगी नहीं समझे जाते; इसका कारण यह है कि चीनी चिह्नों का उच्चारण निश्चित नहीं है। एक ही चिह्न कहीं तो कुछ उच्चरित होता है, और कहीं कुछ। इसका आशय यह है कि जब तक कोई व्यक्ति कोशकार के उच्चारण से परिचित न रहे, वह कोश में शब्द का अर्थ नहीं देख सकता। चिह्नों के सजाने का दूसरा क्रम रेखाओं की संख्या पर आधारित रहता है। जिस चिह्न में एक रेखा हो उसे पहले रखेंगे और जिसमें दो रेखाएँ हों, उसे उसके पश्चात् स्थान देंगे। इसी तरह आगे भी तीन, चार, पाँच इत्यादि। चीन का प्राचीनतम कोश 'एर्ह्य' है, जिसका काल १२वीं सदी ई० पू० के बाद माना जाता है। चीन का प्रथम ज्ञात प्रामाणिक कोशकार हू-शेन है, जिसके कोश का नाम 'शुओ-वेन-की-त्सी' है। इसका प्रकाशन १०० ई० के लगभग हुआ था। इस कोश में उस समय के प्रचलित शब्दों की व्याख्या बहुत ही सुन्दर की गई है। इसमें कुल ३६४ चिह्न हैं। आज भी यह कोश बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है और इसकी टीकाएँ भी लिखी गई हैं। हू-शेन की कृति का आधार तीसरी सदी ई० पू० के एक राजा 'त्स-इन' के मन्त्री 'ली-सी' की एक पुस्तक मानी जाती है। इसके बाद का दूसरा कोश 'त्ज-युआन' ७वीं सदी के आरम्भ का है। सामग्री की दृष्टि से यह भी बहुत

१. जे० एडकिन्स तथा एम० कूरंट आदि कुछ अंग्रेजी और फ्रेंच विद्वानों ने कुछ व्याकरण लिखे हैं, पर वे भी ठीक अर्थ में व्याकरण नहीं कहे जा सकते। सत्य तो यह है कि चीनी के लिए व्याकरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कोश ही वहाँ व्याकरण का कार्य करता है।

महत्त्वपूर्ण है। १२वीं सदी के लगभग सिमाक्वांङ ने भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। चीन के प्रसिद्ध बादशाह 'खाँ-शी' (१६६२-१७२३) ने बहुत से विद्वानों की सहायता से एक बहुत ही अच्छे कोश का सम्पादन कराया जो आज उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। इसका नाम 'खाँ-शी त्जतेंय' है। इसमें ४४,००० शब्दों का अर्थ है। यह १७१६ में प्रकाश में आया।

आधुनिक युग में चीनी भाषा तथा लिपि के बारे में चीनियों तथा विदेशियों दोनों ही ने काम किये हैं। विदेशियों में एल० सी० हॉपकिन्स ने 'चीनी लेखन का विकास' तथा 'चीनी लिपिचिह्नों के छः वर्ग' पर शोधपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। गाइल्स और काउरूर ने अंग्रेजी में कोश लिखे हैं। कार्लग्रेन ने चीनी ध्वनि और प्रतीकों पर कार्य किया है। चीनी लोगों में लो-चेन-यू वाङ-कूओ-वि, वांली, छन्-वाँ-ताओ, त्जूत-शी तथा ल्वी-सु-शां के नाम विशेष उल्लेख्य हैं। ल्वी-सु-शां की प्रशिद्ध पुस्तक 'यू-फ़ा-शू-त्ज है जिसमें चीनी को शुद्ध रूप से बोलने तथा लिखने की वैज्ञानिक विधि दी गई है।

[ग] जापान

जापान में पहले लोग चीनी भाषा में ही लिखते थे, इसी कारण जापान द्वारा भाषा के क्षेत्र में किया गया प्राचीन कार्य जापानी भाषा में न होकर चीनी में ही है। ८वीं सदी में जापानियों ने चीनी भाषा में चीनी लिपि के बारे में लिखा था। ९वीं सदी में जापान में संस्कृत का प्रवेश भलीभाँति हो गया था और उसका अध्ययन होने लगा था। कूके (९वीं सदी) एक बौद्ध पुजारी थे। वे चीन से एक पुस्तक 'सिद्ध-मात्रिका' ले आये और जापानी वर्णमाला बनाया जो संस्कृत के नामों के आधार पर ही 'अइउएओ' [अलफाबेट (अलफा, बेटा) की भांति] कहलाती है। १८वीं सदी तक संस्कृत के अध्ययन के लिए जापानी में संस्कृत का व्याकरण लिखा जा चुका था। १९वीं सदी तक जापान के पुरुष चीनी में लिखते थे, किन्तु वहाँ की स्त्रियों ने जापानी में लिखना शुरू किया, इस प्रकार प्रारम्भिक जापानी साहित्य के विकास में महिलाओं का ही हाथ है।

जापान की एक यह भी बहुत बड़ी विशेषता रही है कि वहाँ बोलने की भाषा बिल्कुल अलग तथा लिखने की अलग रही है। लिखने की भाषा का नाम वूङो और बोलने की भाषा का नाम कोङो रहा है।* १८९० ई० के आसपास इन दोनों भाषाओं को एक करने का कार्य शुरू हुआ और इस दृष्टि से यमाद मिमियो तथा हुतावते शमे

* साथ ही, जापान में इन दो के अतिरिक्त कुछ शब्दों तथा प्रयोगों की दृष्टि से बादशाह के लिए अलग भाषा है तथा अच्छे घर की औरतों के लिए अलग। व्याकरण-रूपों में भी इस प्रकार के अन्तर हैं। उर्दू की भाँति यह बड़ी शिष्ट भाषा है। शब्दों के आदरसूचक रूप अलग हैं, जैसे 'अपने बाप' के लिए 'चिचि' शब्द है, तो 'आपके बाप' के लिए 'उतोसमा'।

स्वाभाविक सम्बन्ध है। सुकरात इसका नकारात्मक उत्तर देते हैं, जो ठीक ही है। वस्तु और उसके नाम या शब्द और अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर माना हुआ सम्बन्ध है, इसके अतिरिक्त सुकरात का यह भी विश्वास था कि ऐसी भाषा का निर्माण असम्भव नहीं है,जिसमें शब्द और अर्थ या वस्तु और नाम का स्वाभाविक सम्बन्ध हो। सुकरात का यह कथन स्पष्ट ही सत्य से दूर है।

२. प्लेटो (४२९ से ३४७ ई० पू०)—प्लेटो अपने गुरु सुकरात की भाँति ही दार्शनिक थे। इनका भी भाषा के विचार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। आनुषंगिक रूप से इन्होंने 'क्रेटिअस' तथा 'सोफ़िस्ट' आदि में अपने विचार इस सम्बन्ध में प्रकट किये हैं। इनके द्वारा दी गई बातों को संक्षेप में यों गिनाया जा सकता है : (क) यूरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय प्लेटो को ही है। इन्हीं ने ग्रीक-ध्वनियों को घोष और अघोष दो वर्गों में बाँटा और फिर अघोष के भी दो भेद किये। (ख) 'सोफ़िस्ट' में 'विचार और भाषा' पर विचार करते समय इन्होंने स्पष्ट किया है कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अन्तर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा दे देते हैं। अपनी एक दूसरी पुस्तक में प्लेटो भाषा और विचार के सत्यतः एक होने की बात को दूसरे शब्दों में दोहराते हैं। आशय यह है कि उनका विचार है कि मूलतः भाषा और विचार एक हैं, पर बाह्य अंतर इतना अवश्य है कि एक ध्वन्यात्मक है और दूसरा अध्वन्यात्मक। (ग) उद्देश्य-विधेय तथा वाक्यों आदि की ओर भी इन्होंने कुछ संकेत किये हैं। (घ) इनकी पुस्तकों में कुछ व्युत्पत्तियों की ओर भी संकेत मिलता है, किंतु उन्हें वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

३. अरस्तू (३८५ ई० पू० से ३२२ ई० पू०)—अरस्तू भी उपर्युक्त विद्वानों की भाँति तत्ववेत्ता थे,किंतु आनुषंगिक रूप में आपने भी भाषा पर कुछ विचार किया, और प्लेटो के कार्य को कुछ और आगे बढ़ाया। अरस्तू का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोलटिकस' है। इसके द्वितीय भाग के २२वें तथा १५वें अंश में शैली के विश्लेषण में लेखक का ध्यान भाषा की ओर भी गया है। यह ध्यान विशेष रूप में भाषाविज्ञान से सम्बन्धित न होने पर भी महत्त्वपूर्ण है, अतः कुछ विस्तार से देखने योग्य है। (क) अरस्तू वर्ण को अविभाज्य ध्वनि मानते हैं। उन्होंने इसके स्वर, अंतस्थ और स्पर्श तीन भेद किये है। इनके आगे दीर्घ, ह्रस्व, अल्पप्राण तथा महाप्राण आदि अन्य भेद किये गये हैं। अरस्तू द्वारा दी गई स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जो बिना जिह्वा या ओंठ के उच्च रित हो) कुछ अंशों में वैज्ञानिक कही जा सकती है। (ख) मात्रा तथा सम्बन्धसूचक शब्दों पर भी संक्षेप में विचार किया गया है। (ग) वाक्यों का पदों (उद्देश्य, विधेय) में विभाजन करते हुए संज्ञा और क्रिया पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। क्रिया का विचार करते समय लेखक का ध्यान काल की ओर भी गया है। (घ) कारक तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दों की ओर भी यूरोप में प्रथम संकेत यहीं मिलता है। (ङ) शब्द, मोटे रूप से 'साधारण' और 'दुहरे', दो प्रकार के माने गये हैं। साधारण से अरस्तू

का अर्थ 'अर्थरहित' से है और दुहरे शब्द वे हैं, जिनमें 'सार्थक' और 'निरर्थक' दोनों तत्त्व हों। इसी प्रसंग में तिहरे और चौरहे शब्द भी माने गये हैं। शब्द के शुद्ध, विदेशी, परिवर्तित, मनगढ़ंत आदि और भी भेद किये गये हैं, जो शब्द-समूह (vocabulary) की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। प्लेटो के वाग्भाग (parts of speech) को पूरा कर ८ बनाने का श्रेय भी अरस्तू को ही है। (च) अरस्तु ने स्त्रीलिंग और नपुसक-लिंग तथा उनके लक्षणों पर भी विचार किया है।

४. अरस्तू और थ्रैक्स के बीच का कार्य—अरस्तू के पद-विभाजन को बाद के ग्रीक-वैयाकरणों ने आगे बढ़ाया। उस आधार को कुछ विकसित करके व्यंजनों के तनु (tenues), मध्य (media) और महाप्राण (aspiratae) तीन भेद किये। इस सम्बन्ध में स्तोइक-वर्ग के तत्त्ववेत्ताओं के कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके बहुत-से पारिभाषिक शब्द लैटिन भाषा का बाना पहन कर आज भी व्याकरण के क्षेत्र में शुद्ध या अशुद्ध रूप में प्रचलित हैं। स्तोइक-वर्ग के विद्वानों के बाद ग्रीक विद्वानों का अलक्षेंद्र-सम्प्रदाय (Alexandrian School) आता है। इन विद्वानों ने ग्रीक भाषा के प्राचीन कवियों की कविताओं को लोगों का समझाने के लिए कुछ अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप शब्दों के नियमित या सादृश्य से प्रभावित तथा अनियमित रूपों की ओर ध्यान गया। साथ ही, अर्थ को समझने में कुछ 'अर्थविज्ञान' पर भी प्रकाश पड़ा।

५. डियोनीमिअस थ्रैक्स (२री सदी ई० पू०)—ग्रीक भाषा के प्रथम वैयाकरण थ्रैक्स महोदय हैं। इनका प्रधान कार्य पुरुष, काल, लिंग तथा वचन आदि पर प्रकाश डालता है। यूरोप में, 'स्वर के स्वयं उच्चरित होने, तथा व्यंजन के स्वर की सहायता से उच्चरित होने की बात' सर्वप्रथम इन्होंने ही की थी। इसके अतिरिक्त, कर्त्ता और क्रिया के सम्बन्ध पर भी इन्होंने सम्यक् विचार किया है। थ्रैक्स के बाद इनकी एक शिष्य-परम्परा चलती रही, जिसमें अपोलोनस, दिसकोलस अधिक प्रसिद्ध हैं। डिसकोलस ने प्रमुख रूप से वाक्यविज्ञान पर कार्य किया था। बाद में भी थ्रैक्स और डिसकोलस को आधार मानकर बहुत से ग्रंथ लिखे गये।

६. यूरोप में भाषा के प्राचीन अध्ययन का अंतिम युग—ग्रीस और रोम से संपर्क बढ़ने पर आदान-प्रदान में रोमवालों ने ग्रीस की भाषा-अध्ययन-प्रणाली को भी अपनाया, जिनके फलस्वरूप लैटिन के भी व्याकरण लिखे जाने लगे। प्रथम प्रामाणिक लैटिन व्याकरण लिखने का श्रेय १५वीं शती के एक विद्वान् लौरेंशस वाल को है। इसी समय ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा, जिसका फल यह हुआ कि ओल्ड टेस्टामेन्ट (Old Testament) का अध्ययन ग्रीस और रोम में होने लगा। इन परिस्थितियों में विद्वानों को ग्रीक, लैटिन और हिब्रू (Old Testament की भाषा) भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का अवसर मिला। धार्मिक भाषा होने के कारण लोग हिब्रू को स्वर्ग में बोली जाने वाली तथा सभी भाषाओं की जननी मानते थे। इसी

आधार पर मिलते-जुलते शब्दों के कोश बनने लगे और यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्दों को हिब्रू के शब्दों से व्युत्पत्ति की दृष्टि से सम्बन्धित माना गया। ऐसे अनुमानों का एक मात्र आधार ध्वनि-साम्य तथा कभी-कभी अर्थ-ध्वनि-साम्य था। इसी सिलसिले में विद्वानों ने सीरियन और अरबी आदि का भी कुछ अध्ययन किया।

नवीन युग के कुछ पहले जागरण-आन्दोलन (renaissance) के कारण सभी लोगों का ध्यान अपनी प्राचीन भाषाओं की ओर गया। फल यह हुआ कि कोश आदि में व्युत्पत्ति के लिए लोग प्राचीन शब्दों को भी देने लगे। इन प्राचीन धार्मिक एवं नवीन सामाजिक आन्दोलनों से भाषा के अध्ययन में निम्नांकित महत्त्वपूर्ण बातें घटित हुईं : (क) तुलनात्मक अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान गया। (ख) विद्वानों को कुछ-कुछ इस बात का संकेत मिला कि शब्द धातुओं पर आधारित हैं। (ग) लैटिन तथा ग्रीक के मूलतः किसी एक भाषा से निकले होने का आभास मिला। (इस प्रकार, भाषा-परिवारों के ज्ञान का मूल भी यही है।)

प्रसिद्ध दार्शनिक लिबनिज़ भी भाषा के अध्ययन का प्रेमी था। उसी से प्रभावित होकर पीटर-महान् ने शब्दों का संग्रह करवाया। रानी कैथरिन-द्वितीय ने भी इस कार्य में प्रोत्साहन दिया। इन्हीं लोगों के फलस्वरूप पल्लस, हर्व्स तथा एडलंग आदि विद्वानों ने शब्द-संग्रह के सुन्दर कार्य किये। १८वीं सदी में काम करने वालों में हर्डर और जेनिश के नाम अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। रूसी ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में निर्णय-सिद्धांत को ठीक माना था। इस सिद्धांत की अव्यावहारिकता भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम देख चुके हैं। इसी प्रकार, कंडिलैक ने भावाभिव्यंजक स्वाभाविक ध्वनियों को उत्पत्ति का आधार माना था। उत्पत्ति के प्रश्न के सम्बन्ध में जे० जी० हर्डर का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। हर्डर ने १७७२ में बर्लिन एकेडमी के लिए 'भाषा की उत्पत्ति' नामक निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने दैवी उत्पत्ति का सफलता के साथ खंडन किया। साथ ही, उन्होंने यह भी नहीं माना कि मनुष्य ने भाषा बनायी। उनका कहना यह था कि आवश्यकता के कारण भाषा का स्वाभाविक विकास हुआ।

(ब) आधुनिक

जिस प्रकार भारत में भाषा-सम्बन्धी आधुनिक अध्ययन यूरोपीय विद्वानों के संसर्ग से आरम्भ हुआ, उसी प्रकार यूरोप में वैज्ञानिक अध्ययन का आरम्भ भारतीय विद्वानों के संसर्ग से हुआ। यूरोपीय विद्वान् भारत में संस्कृत सीख कर ही वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन में सफल हो सके। यों इसका आशय यह नहीं कि नवीन अध्ययन एक मात्र संस्कृत के ज्ञान के कारण हुआ। उसे पूर्व और नव युगों में बाँटा जा सकता है।

पूर्व युग

हम ऊपर संस्कृत के यूरोप में प्रवेश के कारण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन

में सहायता मिलने का उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में प्रथम कार्य फ्रांसीसी पादरी कोर्दो (Coeurdoux) का १७६७ में ही हुआ था, जब उसने ग्रीक, लैटिन तथा फ्रेंच आदि भाषाओं के कुछ शब्दों से संस्कृत-शब्दों की तुलना करने का प्रयास किया था।

१. **सर विलियम जोंस** (१७४६-१७९६)—जोन्स साहब कलकत्ता हाईकोर्ट में चीफ़ जस्टिस थे। यहाँ आपने संस्कृत का अध्ययन किया तो आपको यूरोपीय भाषाओं से अनेक दृष्टियों से अभूतपूर्व साम्य दिखाई पड़ा। १७९६ में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की नींव डालते हुए आपने संस्कृत के महत्त्व की घोषणा की और संस्कृत को कई बातों में ग्रीक और लैटिन से भी श्रेष्ठ बतलाया। The Sanskrit language whatever be its antiquity, is a wonderful structure; more perfect than the Greek, more copious than the Latin, and more exquisitely refined than either. इनकी इस घोषणा के बाद अन्य यूरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ। जोन्स महोदय ने अपने इसी व्याख्यान में शब्द, धातु तथा व्याकरण की दृष्टि से ग्रीक, संस्कृत, लैटिन, गॉथिक, केल्टिक तथा पुरानी फ़ारसी को एक मूल से निकली होने का अनुमान लगाया था।

२. **हेनरी थॉमस कोलब्रुक** (१७६५-१८३७)—कोलब्रुक भी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने संस्कृत के सम्बन्ध में बहुत से निबन्ध लिखकर जोन्स के कार्य को आगे बढ़ाया। ये संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अरबी तथा फ़ारसी के भी विद्वान् थे।

३. **फ्रीड्रिख वान श्लेगल्** (१७७२-१८२९)—श्लेगल् भी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने केवल भाषा की दृष्टि से संस्कृत को न पढ़कर दर्शन और काव्य का भी अवगाहन किया था। आपने पेरिस जाकर १८०३ में एक सिपाही अलेक्जेंडर हैमिल्टन से, जो युद्ध का कैदी था, संस्कृत पढ़ी थी और बाद तक ज्ञानवृद्धि करते रहे। भारतीय भाषा और ज्ञान के सम्बन्ध में इनका प्रसिद्ध ग्रंथ (On the Language and the Wisdom of the Indians) १८०८ में प्रकाशित हुआ। इन्हीं के कारण जर्मनी में संस्कृत का प्रभाव बढ़ा। तुलनात्मक व्याकरण के विषय में भी आवाज उठाने वाले प्रथम विद्वान् श्लेगल् ही हैं। संसार की भाषाओं का वर्गीकरण करने वाले प्रथम विद्वान् भी श्लेगल् ही हैं। इन्होंने भाषाओं को २ वर्गों में रक्खा—(१) संस्कृत तथा सगोत्रीय भाषाएँ—श्लेगल् द्वारा दी गई इस वर्ग की परिभाषा बहुत कुछ आज के श्लिष्ट वर्ग से मिलती-जुलती है। (२) अन्य भाषाएँ—इस वर्ग को श्लेगल् लगभग अश्लिष्ट-वर्गीय मानते हैं, जिसमें प्रत्यय, उपसर्ग आदि जोड़े जाते हैं। इस दूसरी शाखा के अंतर्गत वे चीनी भाषा को स्थान देते हैं, पर साथ ही उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि अन्य भाषाओं से चीनी कुछ भिन्न है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से २ वर्ग बनाते हुए भी श्लेगल् ने संसार की भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा है।

४. **अडोल्फ डब्ल्यू० श्लेगल्** (१७६७-१८४५)—ये श्लेगल् के बड़े भाई थे

और उन्हीं की भाँति संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। फ्रीड्रिख श्लेगल् द्वारा किये गये भाषाओं के अप्रत्यक्ष तीन वर्गों को इन्होंने स्पष्ट किया।

५. **विल्हेल्म फॉन हम्बोल्ड्ट** (१७६७-१८३५)—हम्बोल्ड्ट प्रधान रूप से राजनीति से सम्बन्धित थे, पर भाषाविज्ञान के भी गंभीर अध्येता थे। इस सम्बन्ध में बॉप जैसे प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी का इनसे पत्र-व्यवहार भी हुआ था। इतना ही नहीं, इनके विचारों से प्रभावित होकर ग्रिम जैसे विश्व-विश्रुत भाषाशास्त्रवेत्ता को अपने कुछ सिद्धान्तों को बदलना पड़ा था। भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में अनेक सिद्धांत इनके पूर्णतः अपने हैं। इनकी शैली इतनी सूत्रात्मक और क्लिष्ट थी कि इनके विचारों को सार-रूप में कहना येस्पर्सन जैसे विद्वान् भी एक कठिन कार्य मानते रहे हैं। हम्बोल्ड्ट के शिष्य हेर्मैन स्टेन्थल ने इनके विचारों को कई प्रकार से कई बार समझाया है, और आश्चर्य यह है कि प्रत्येक बार समझाना पिछली बार से भिन्न है। भाषाविज्ञान को इनकी सबसे बड़ी देन इनका भाषा-अध्ययन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण है। यह तुलनात्मक दृष्टिकोण इतना व्यापक था कि इनको तुलनात्मक भाषाविज्ञान का पिता कहा गया है। जावा की भाषा का इन्होंने विशेष अध्ययन किया था और उस सम्बन्ध में एक पुस्तक भी लिखी थी।

६. **रैजमस रैस्क** (१७८७-१८३२)—रैस्क डैनिश विद्वान् थे। ये शैशवावस्था से ही व्याकरण से विशेष प्रेम रखते थे। बड़े होने पर इन्होंने प्राचीन नार्स (आइसलैंड की भाषा का अध्ययन किया। इनकी प्रथम पुस्तक 'आइसलैंडिक व्याकरण' १८११ में प्रकाशित हुई, जो उस समय के लिए अभूतपूर्व पुस्तक थी। १८-१४ में इन्होंने प्राचीन नार्स पर एक बहुत सुन्दर निबन्ध लिखा। उसे देखते हुए बहुत से विद्वान् रैस्क को आधुनिक भाषाविज्ञान के पिता मानने के पक्ष में है। रैस्क के अनुसार, किसी देश का इतिहास पुस्तकों की अपेक्षा वहाँ की भाषा की गठन एवं शब्द-समूह से अच्छी तरह जाना जा सकता है। विशेषतः उस काल के लिए, जिसकी कोई भी लिखित सामग्री उपलब्ध न हो, भाषा से उत्तम और कोई साधन नहीं है। रैस्क भारतवर्ष भी आये थे। अवेस्ता को आर्य-परिवार में उचित स्थान दिलाने का श्रेय इन्हीं को है। इनके पूर्व के विद्वानों का मत इस सम्बन्ध में नितान्त भ्रामक था। इसके अतिरिक्त, रैस्क ने ही सर्वप्रथम द्रविड़ भाषाओं को—जिन्हें वह 'मालाबारिक' कहते है—संस्कृत से पूर्णतया भिन्न बतलाया। कीलाक्षरीय लेखों के दो अस्पष्ट वर्गों को पढ़ने में भी पहले-पहल रैस्क ही सफल हुए।

७. **याकोब ग्रिम** (१७८५-१८६३)—फेयरी टेल्स के लेखक यही ग्रिम महोदय हैं। इनका जन्म जर्मनी में एक वकील-परिवार में हुआ था। इन्होंने स्वयं भी वकालत पढ़ी थी। बाद में प्राचीन जर्मन के अध्ययन की ओर झुके। अपने भाई विल्हेम के साथ इन्होंने लोक-संस्कृति-सम्बन्धी बहुत-सी सामग्री इकट्ठी की और कुछ प्रकाशित भी की। प्राचीन पंडितों की भाँति पहले ये भी भाषा के सम्बन्ध में आनुमानिक व्युत्पत्तिशास्त्र पर काम कर रहे थे, पर रैस्क के कार्य और श्लेगल् की

आलोचना से इन्हें होश आया, और तब इन्होंने प्राचीन जर्मन और सगोत्रीय भाषाओं का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। रैस्क के 'आइसलैंडिक व्याकरण' का परिचय देते हुए इन्होंने बोलियों और असभ्य भाषाओं के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे। अब तक लोगों का अध्ययन केवल प्राचीन भाषाओं तक सीमित था, पर ग्रिम ने ही सर्वप्रथम वर्त्तमान भाषाओं और बोलियों के अध्ययन पर जोर दिया। ग्रिम की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक उनका 'देवभाषा व्याकरण' (Deutsche Grammatik) है। जर्मन भाषा का यह व्याकरण १८१९ में प्रकाशित हुआ। जैसा कि भूमिका में उन्होंने लिखा है, यह अपने ढंग का प्रथम व्याकरण था। इसमें पूरा दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। १८२२ में इसका दूसरा संस्करण निकला, जिस पर रैस्क के व्याकरण का बहुत प्रभाव था। इन्होंने स्वयं रैस्क की बहुत तारीफ की है। इस दूसरे संस्करण में ध्वनि-प्रकरण में नवीनता थी। इसी प्रकरण में इन्होंने Lautverschiebung (वर्ण-परिवर्तन) का विवेचन किया है, जिसे मैक्समूलर के बाद से ग्रिम-नियम कहा जाने लगा। यद्यपि इसका बीज रैस्क में है, अतः उचित नाम तो 'रैस्क-नियम' ही होता।

८. **फ्रान्स बॉप**—उस युग के भाषाविज्ञान के प्रधान स्तम्भों में रैस्क और ग्रिम के अतिरिक्त बॉप का भी नाम आता है। ये अपनी अवस्था के बीस वर्ष समाप्त करने के बाद ही पेरिस जा पहुँचे और वहाँ संस्कृत का अध्ययन करने लगे। बॉप भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के पिता कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध में इनकी प्रथम पुस्तक 'धातुप्रक्रिया' १८१६ में प्रकाशित हुई, जिसमें ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के रूप तुलनात्मक ढंग से दिये गये थे। १९वीं सदी के दूसरे चरण में (१८३३ और १८४९ के बीच में) इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'तुलनात्मक व्याकरण' प्रकाशित हुई। तुलनात्मक व्याकरण की प्रथम पुस्तक यही है। विद्वान् लेखक ने संस्कृत, अवेस्ता, आर्मीनीयन, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लावियन, गॉथिक तथा जर्मन का तुलनात्मक व्याकरण दिया है। बॉप प्रधानतः इस बात का अध्ययन करना चाहते थे कि व्याकरण के रूपों की उत्पत्ति कैसे हुई? इसके लिए उन्होंने संस्कृत को अपनाया। वे यह निश्चित रूप से मानते थे कि संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन आदि का विकास किसी एक भाषा से हुआ है, पर साथ ही यह भी मानते थे कि उस मूल भाषा की विशेषताएँ संस्कृत में औरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं। हम्बोल्ट् आदि की भाँति बॉप का भी विश्वास था कि प्रत्यय कभी-न-कभी स्वतंत्र शब्द अवश्य थे।

९. **पश्च पर एक दृष्टि**—यूरोप में संस्कृत के प्रवेश से ११वीं सदी के मध्य तक भाषाविज्ञान का जो अध्ययन हुआ, समय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी अध्ययन की गहराई और दृष्टिकोण की व्यापकता की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता। हाँ, एक बात अवश्य है कि आगे के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी हो गई थी। इसीलिए इस युग को कुछ लोगों ने **'सामग्री-संग्रह-युग'** का नाम

दिया है। इन पाँच दशाब्दियों के अध्ययन की मुख्य प्रवृत्तियों को हम उँगलियों पर गिन सकते हैं : (१) संस्कृत का विशेष महत्त्व माना जाता था और इसी कारण सभी भाषाविज्ञानी संस्कृत के प्रकांड पंडित होते थे। (२) प्राचीन क्लासिकल भाषाओं का ही अध्ययन प्रधान रूप से किया जाता था। वर्तमान भाषाओं का यदि थोड़ा-बहुत अध्ययन हुआ भी तो उनमें भी पुरानी भाषाओं के ही लक्षणों को खोजने की धुन थी। (३) कुछ-कुछ तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन भी होने लगा था, पर प्रायः सामान्य लक्षणों पर ही अधिक बल दिया जाता था। (४) परिवारों की कल्पना अपने धुंधले रूप में आने लगी थी। (५) आकृतिमूलक वर्गीकरण की ओर भी लोगों का पर्याप्त ध्यान जाने लगा था। (६) प्रत्ययों को लोग मूलतः सार्थक शब्द मानने लगे थे। (७) भाषाविज्ञान को लोग अन्य विज्ञानों की भाँति निश्चित विज्ञान बनाने की आशा रखते थे।

१०. आगस्ट एफ० पॉट—ये वैज्ञानिक व्युत्पत्तिशास्त्र के पिता कहे जाते हैं। इन्होंने इस सम्बन्ध में एक बड़ी पुस्तक भी लिखी।

११. के० एम० रैप—रैप ग्रिम के समकालीन थे। इन्होंने ध्वनिशास्त्र का अच्छा अध्ययन किया था। इस सम्बन्ध में इन्होंने एक बड़ी पुस्तक भी लिखी, जिसके चार भाग क्रम से १८३६,' ३९,' ४०' और ४१' में प्रकाशित हुए। ये जीवित भाषा के अध्ययन को आवश्यक मानते थे। ध्वनि के सम्बन्ध में रैप का अध्ययन स्तुत्य है। ध्वनि और लिपि में विशुद्ध सम्बन्ध की स्थापना करके उन्होंने जो ध्वन्यात्मक अनुलेखन (Phonetic transcription)—मृत और जीवित, दोनों ही भाषाओं का—किया है, वह भी कम श्लाघ्य नहीं है। येस्पर्सन के इस कहने में तनिक अत्युक्ति नहीं है कि यदि ग्रिम आदि विद्वानों ने रैप के मौलिक मूल सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया होता तो भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रगति और तीव्र हो गई होती।

१२. जे० एच० ब्रेड्स्डार्फ—ब्रेड्स्डार्फ डैनिस विद्वान् थे। ग्रिम, बॉप आदि ने भाषा के विकास के कारण पर ध्यान नहीं दिया था। इस ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय ब्रेड्स्डार्फ को है। इस विषय पर इनका ग्रन्थ १८२१ में प्रकाशित हुआ। यों तो ये प्रधानतः ध्वनिशास्त्र के विशेषज्ञ थे, पर उक्त ग्रन्थ में इन्होंने भाषा के सामान्य परिवर्तन के कारणों पर भी विचार किया और उन्हें उदाहरणों द्वारा स्पष्ट भी किया। संक्षेप में, हम कारणों को गिन सकते हैं—१. शब्दों को अशुद्ध सुनना या उनके अर्थ को न समझना, २. अशुद्ध स्मरण, ३. ध्वनि-अवयव की अपूर्णता, ४. आलस्य (विदेशी प्रभाव के कारण होने वाले परिवर्तनों के अतिरिक्त होने वाले ध्वनि-परिवर्तन में लगभग ६० प्रतिशत का कारण ब्रेड्स्डार्फ इस 'आलस्य' को ही मानते हैं।), ५. सादृश्य की ओर जाने की प्रवृत्ति, ६. स्पष्ट होने का प्रयास, तथा ७. नये विचारों को अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता। इसके अतिरिक्त ब्रेड्स्डार्फ यह भी मानते थे कि कुछ परिवर्तन ऐसे भी होते हैं, जो उपर्युक्त कारणों

से घटित हुए नहीं कहे जा सकते और उनमें से अधिक के मूल में विदेशी प्रभाव कार्य करता है। यह कहना न्यायसंगत ही होगा कि बहुत-सी बातों में (सादृश्य आदि) ब्रैड्स्डार्फ अपने युग से बहुत आगे थे।

१३. **आगस्ट स्लाइखर** (१८२१-६८)—यूरोप में संस्कृत-प्रवेश के समय से भाषाविज्ञान का आधुनिक युग मानकर यदि हम इस युग के दो भाग कर दें, तो प्रथम चरण के ऊर्ध्व बिन्दु पर श्लाइखर आसीन मिलते हैं। इनके बाद आधुनिक युग का दूसरा चरण आरम्भ होता है, जिसके ध्येय और मार्ग दोनों ही कुछ भिन्न हैं। श्लाइखर स्लावोनिक और लिथुआनियन के विशेषज्ञ थे, और विशेषतः लिथुआनियन को तो वहाँ जाकर उन्होंने सीखा था तथा बहुत-सी कलाओं और गीतों को वहाँ के किसानों के मुँह से सुनकर नोट भी किये थे। वे कुछ दिन तक प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापक थे, जहाँ उन्हें जेक सीखने का भी अवसर मिला। रूसी का भी उन्हें ज्ञान था। इस प्रकार, कई भाषाओं के वे ज्ञाता थे। शैशवावस्था में उनके पिता उन्हें ग्राम्य वातावरण से दूर रख कर शुद्ध भाषा की शिक्षा देना चाहते थे। इनकी प्रतिक्रिया इतनी हुई कि जनभाषा की ओर ही वे विशेष झुके, और लोकगीतों पर पुस्तकें तक लिखीं। डारविन की भाँति वे भाषा को भौतिक वस्तु मानते थे। इसके लिए विरोध भी हुआ था, जिसके फलस्वरूप, उत्तर में उन्हें एक पुस्तक लिखनी पड़ी। भौतिकविज्ञान से भाषा को वे इतनी संबद्ध मानते थे कि मनुष्यों का वर्गीकरण खोपड़ी या बालों के आधार पर न कर, भाषा के आधार पर करना अधिक ठीक मानते थे। उनका कहना था कि भाषा अधिक स्थिर चीज है। हीगेल के त्रयवाद (trilogies) के आधार पर श्लाइखर ने भाषाओं के तीन वर्ग बनाये : (क) अयोगात्मक भाषाएँ—जिनमें ध्वनि से अर्थ का बोध होता है। (ख) अश्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ—जिनमें ध्वनि से अर्थ और सम्बन्ध दोनों का बोध होता है। (ग) श्लिष्ट-योगात्मक भाषाएँ—अर्थ और सम्बन्ध प्रकट करने वाले अंग आपस में मिले रहते हैं।

श्लाइखर की सबसे मौलिक देन मूल भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण है। इसके पुनर्निर्माण का विचार उनके मस्तिष्क में बहुत पहले से नाच रहा था, पर अपने प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्पेंडियम' के पूर्व से इस पर विस्तारपूर्वक विचार न कर सके। इस पुस्तक में उन्होंने उस मूल भाषा के स्वर, व्यंजन, धातु तथा रूप-रचना आदि पर स्वतन्त्र अध्यायों में विचार किया। मूल भाषा के सम्भावित रूपों को देते हुए उनसे निकलने वाले संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा गॉथिक आदि रूपों को भी दिया। इन संभावित रूपों में उन्होंने एक कहानी 'Avis Akvasas ka' भी लिख डाली। १९वीं सदी के अंतिम तथा २०वीं सदी के प्रथम चरण के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रवेत्ता कार्ल ब्रुगमान इन्हीं के शिष्य थे।

१४. **गेओर्ग कुर्टियस** (१८२०-१८८५)—कुर्टियस श्लाइखर के समकालीन

थे। भाषावैज्ञानिक विद्वता में उस युग में श्लाइखर के बाद इन्हीं का नाम आता है। इसी कारण, नवीन भाषाविज्ञानियों की आलोचना की कटु बौछार श्लाइखर की मृत्यु के बाद कुर्टियस को ही सहनी पड़ी। ध्वनि-नियमों में इनका भी विश्वास था, पर नवयुग के विद्वान् की भाँति ये इस बात को नहीं मानते थे कि ध्वनि-नियम के अपवाद नहीं होते। नवयुग के विद्वान् प्राचीन भाषाओं की पद-रचना में भी सादृश्य का बहुत अधिक प्रभाव मानने लगे थे, पर कुर्टियस ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया। नवयुग की इन मान्यताओं के विरुद्ध कुर्टियस ने अपने अन्तिम काल में एक पुस्तक भी लिखी। इस प्रकार अंत तक ये नवीनतावादियों के विरुद्ध लड़ते रहे।

१५. **निकोलई मैडविग**—ये प्रमुखतः ग्रीक और लैटिन के विद्वान् थे। भाषा-विज्ञान के सामान्य नियमों के विवेचन की ओर इनकी अभिरुचि थी। भाषा के सम्बन्ध में रहस्यवादी भावनाओं या दैवी बातों के ये विरोधी थे। तर्कवाद इनका मूल मन्त्र था, पर इस तर्कवाद की धारा में ये इतने आगे बढ़ गये कि हम्बोल्ट आदि ने जिस ध्वनि-प्रतीकवाद (sound-symbolism) पर इतना बल दिया था, की उसकी स्थिति ही अस्वीकार कर दी। व्युत्पत्ति एवं ध्वनि सम्बन्धी अध्ययन को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देते थे। विद्वान् होने पर भी केवल डैनिश भाषा में लिखने के कारण ये अधिक प्रसिद्धि न प्राप्त कर सके।

१६. **फ्रेडरिख मैक्समूलर** (१८२३-१९००)—भाषाविज्ञान का इतना अध्ययन हुआ, किन्तु अभी तक उसका प्रचार केवल उसके विद्वान्-वर्ग में था। अन्य लोग उससे पूर्णतः अपरिचित थे। इस परिचय कराने के कार्य को मैक्समूलर ने किया। १८६१ में उन्होंने कुछ व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इनकी शैली इतनी रोचक थी कि इस सूखे विषय को भी उन्होंने मनोरंजक बना दिया और इसका फल यह हुआ कि भाषाविज्ञान की ओर बहुत से लोग झुके। पुस्तकें जितनी मैक्समूलर की मनोरंजक और आकर्षक हैं, उतनी गहरी नहीं हैं। ध्यान से देखने पर उनमें ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जहाँ वे किसी प्रश्न को लेकर चलते हैं, और बीच से ही मनोरंजक व्युत्पत्ति आदि के फेर में पड़कर अपना मूल विषय ही भूल जाते हैं। प्रचार-कार्य के साथ ही मैक्समूलर ने जो सबसे बड़ा कार्य किया, वह उनका संग्रह-कार्य है। परिचय देने के लिए उन्होंने भाषा के उद्‌गम, भाषा की प्रकृति, भाषा का विकास, विकास का कारण तथा भाषाओं का वर्गीकरण आदि विषयों पर हुए कार्यों को एकत्र कर दिया। मैक्समूलर भारत के बहुत बड़े हिमायती थे। भारतीय भाषा, साहित्य एवं दर्शन को संसार में उचित स्थान दिलाने वालों में उनका नाम सबसे ऊपर है। 'पूरब की पवित्र पुस्तकें' माला में उन्होंने पचासों पुस्तकों के अनुवाद किये हैं। भाषाविज्ञान से सम्बन्धित इनके तीन अन्य कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनके पूर्व विद्वानों का ध्यान अर्थविज्ञान पर प्रायः नहीं के बराबर था।

हुआ था, पर उनके मूल स्थान पर विशेष नहीं। मैक्समूलर ने इस पर भी पर्याप्त कार्य किया और मूल स्थान मध्य एशिया निश्चित किया। इनका तीसरा कार्य नागरी लिपि के प्रचार का है। इनके पूर्व यूरोप आदि में कौन कहे, भारत के भी सभी प्रान्तों में नागरी लिपि का प्रचार नहीं था। इनके प्रयास के फलस्वरूप यूरोप तथा भारत दोनों ही में इसकी वैज्ञानिकता सराही गई और संस्कृत आदि के लिए इसका प्रयोग होने लगा।

१७. **विलियम ड्वाइट ह्विटनी** (१८२७-१८९४)—भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रथम अमेरिकी विद्वान् ह्विटनी हैं। ये न्यू-हेवन के येल कॉलिज में संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्यापक थे। इन्होंने अपनी पुस्तक 'भाषा और भाषा का अध्ययन' १८६७ में लिखी। दूसरा ग्रन्थ 'भाषा का जीवन और विकास' १८७५ में लिखा गया। इनका संस्कृत भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण १८७९ में निकला जो अपने ढंग का अकेला है। विद्वत्ता की दृष्टि से ये मैक्समूलर से अधिक योग्य कहे जाते हैं। किन्तु अंग्रेजी शासन से प्रोत्साहन न मिलने के कारण भारत में इनका यथोचित आदर एवं प्रचार न हो सका, जिसका इन्हें बहुत दुःख था। इनकी शैली मैक्समूलर की अपेक्षा कम आकर्षक थी, पर दूसरी ओर उनकी अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर थी। मैक्समूलर से इनकी बड़ी प्रतिद्वन्द्विता चली। इन्होंने उनके बहुत-से काल्पनिक सिद्धान्तों की आलोचना की और उन्हें ठीक भी किया। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तकों में उदाहरणों का कहीं-कहीं दुरुपयोग किया है। इस सबकी आलोचना भी ह्विटनी ने अपने अनेक लेखों में की है। मैक्समूलर ने इन आलोचनाओं का उत्तर अपनी पुस्तक Chips from a German Workshop में दिया। ह्विटनी ने अन्त में एक 'मैक्समूलर और भाषाविज्ञान' नाम की छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी थी। भाषा की परिभाषा के संबंध में भी दोनों में मतभेद था। मैक्समूलर के लिए वह भौतिक वस्तुओं की थी, पर ह्विटनी इसे मानवीय उद्योग के फलस्वरूप विकसित मानते थे। उनके लिए भाषा देश के मस्तिष्क की छाया थी।

नवयुग

यों तो किसी भी युग का आरम्भ किसी निश्चित सन् या दिन से नहीं होता, पर जैसा कि कहा जाता है, नवयुग का आरम्भ हम १९वीं सदी के तृतीय चरण से मान सकते हैं। इस समय भाषाविज्ञानियों की एक नयी शाखा चली, जिसे प्राचीन विद्वानों ने **'नौसिखियों की शाखा'** (Junggrammatiker) या **'नव्य शाखा'** कहा। सबसे पहले दोनों शाखाओं (प्राचीन तथा नवीन) का विरोध ध्वनि को लेकर चला। नव्य शाखावालों का, विशेषतः लेस्कीन का, कहना था कि ध्वनि-नियमों के अपवाद नहीं होते, पर प्राचीन शाखा वाले इसे मानने को तैयार न थे। इसे न मानने के लिए पर्याप्त कारण भी था। देख चुके थे कि प्रसिद्ध ग्रिमं-नियम अपवादों से भरा है। इस प्रथम विरोध के बाद फिर दोनों शाखाओं में काफी चखचख रही और पुराने नयों

की बड़ी हँसी उड़ाते रहे, जैसा कि प्रायः होता आया है। पर, अन्त में जैसा कि हम लोग देखेंगे, नयी शाखा की सभी बातें लगभग सत्य निकलीं, जिसके फलस्वरूप प्राचीनों को झुकना पड़ा। आज नयी शाखा के सिद्धान्तों का ही बोलबाला है। इसका केन्द्र बहुत दिन तक लिपज़िग में रहा है।

१. हेर्मन स्टाइन्याल (१८२५-१८९९)—भाषाविज्ञानियों की नव्य शाखा का इनको अग्रणी कहा गया है। ये व्याकरण और भाषाविज्ञान के साथ-साथ तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के भी प्रकांड पंडित थे। इनके पूर्व भाषा के अध्ययन में मनोविज्ञान का सहारा नहीं लिया जाता था। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान के बिना असम्भव है। स्टाइन्याल का प्रथम ग्रंथ १८५५ में प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होंने मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र और व्याकरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन किया। श्लाइखर आदि ने, जो उस समय प्रसिद्धि के ऊर्ध्व बिन्दु पर थे, इस पुस्तक की खूब खिल्ली उड़ाई। जीवित भाषाओं के अध्येता, अस्पर्शित भाषाओं पर कार्यकर्ता एवं भाषाविज्ञान के अध्ययन में मनोविज्ञान की महत्ता के अंगुलिनिर्देशक के रूप में स्टाइन्याल का नाम स्मरणीय है।

२. कार्ल ब्रुगमान—नव्य शाखा के विद्वानों में ये सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। आगे इस शाखा या युग की मूलप्रवृत्तियों के रूप में जो कुछ भी नयी बातें कही जाएँगी, लगभग सभी में इनका हाथ है। ब्रुगमान का सबसे बड़ा कार्य भारोपीय भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में है। यह बड़े-बड़े पाँच भागों में है। इनके समय तक वाक्य के सम्बन्ध में कुछ अधिक कार्य नहीं हुआ था। इन्होंने इस दिशा में भी उक्त व्याकरण के पंचम खंड में कार्य किया। हर्मन ओस्टाफ के साथ इनका मिश्रित कार्य रूप-रचना पर है। यह ग्रंथ **'नयी शाखा की बाइबिल'** के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रुगमान का अनुनासिक सिद्धान्त (Sonant Nasal Theory) भी प्रसिद्ध है। इसकी खोज से भी ग्रिम-नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया है।

३. ग्रॅसमॅन, वर्नर, अस्कोली तथा येस्पर्सन आदि—प्रथम तीनों ही विद्वानों के नाम ध्वनि के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रॅसमॅन ने अपने 'ग्रैसमॅन-नियम' (जिसका पीछे वर्णन किया जा चुका है) की खोज की जिससे ग्रिम-नियम (दे० ध्वनिविज्ञान) के कुछ अपवाद समाप्त हो गये। शेष अपवादों को दूर करने के लिए **कार्ल वर्नर** ने १८७७ में वर्नर-नियम खोज निकाला। **अस्कोली** ने १८७० में खोज निकाला कि मूल भारोपीय भाषा की 'क' ध्वनि आगे चलकर कुछ भाषाओं में तो 'क' ही रही और कुछ में 'स' या 'श' हो गई। इसी आधार पर भारोपीय परिवार के केंतुम् और सतम् वर्ग ब्रैंड के द्वारा बनाये गये। येस्पर्सन ने व्याकरण के दार्शनिक आधार, वाक्य-विज्ञान, अंग्रेजी व्याकरण तथा भाषा की उत्पत्ति और विकास पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम किया है।

आधुनिक भाषाविज्ञान तथा कुछ प्रमुख स्कूल

पीछे के इतिहास में हम देख चुके हैं कि भाषाविज्ञान का अध्ययन ऐतिहासिक और तुलनात्मक रूप में प्रारंभ हुआ था, और कुछ इक्के-दुक्के अपवादों को छोड़कर लगभग सन् उन्नीस सौ तक यही स्थिति रही। बीसवीं सदी के आरंभ में ही यूरोप में प्रसिद्ध भाषाविज्ञानवेत्ता **ससूर** (१८७५-१९१३) ने आधुनिक भाषा-की नींव रखी। उनके मूल मंत्र थे: (क) भाषा का जीवित और बोलचाल का रूप अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है; (ख) भाषाविज्ञान समकालिक (Synchronic) और ऐतिहासिक (Dichronic) दो प्रकार का है, किंतु इसमें प्रथम ही आधार महत्त्वपूर्ण है; (ग) भाषा के अध्ययन का उद्देश्य उसकी आंतरिक व्यवस्था की खोज है, न कि फुटकल प्रवृत्तियों का संग्रह। ससूर के इन सिद्धान्तों ने पूरे यूरोपीय भाषाविज्ञान को प्रभावित किया तथा अमरीका आदि भी इनके दूरगामी प्रभाव से अछूते नहीं रह सके।

आधुनिक भाषाविज्ञान को गति प्रदान करने वालों में दूसरा नाम अमरीकी भाषाविद् **बोआस** (१८५८-१९४२) का लिया जा सकता है। ये मूलतः मानव-विज्ञानवेत्ता थे। इन्होंने भी समकालिक वर्णनात्मक अध्ययन पर बल दिया। इनका सिद्धान्त था कि व्यक्ति के मस्तिष्क में उसकी भाषा का विशेष पैटर्न होता है। आधुनिक भाषाविज्ञान के तीसरे स्तंभ अमरीकी विद्वान् **सपीर** कहे जा सकते हैं। मानवविज्ञान तथा समाजविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इन्होंने भाषा के अध्ययन पर बल दिया। इनकी 'लैंग्वेज' नामक पुस्तक १९२१ में प्रकाशित हुई।

अमरीकी विद्वान् **ब्लूमफ़ील्ड**(१८८७-१९४९) को प्रायः लोग आधुनिक भाषाविज्ञान का पिता कहते हैं। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'लैंग्वेज' १९३३ में प्रकाशित हुई। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की व्यवस्थित आधारशिला रखने का श्रेय इसी पुस्तक को है।

इस समय विश्व में भाषाविज्ञान के कई स्कूल हैं, जिनमें प्रमुख **ब्रिटिश स्कूल** (इंग्लैंड के इस स्कूल के कई उपस्कूल रहे हैं, जिनमें इंगलिश स्कूल, लंदन स्कूल, व्यवस्थापरक व्याकरण-स्कूल प्रमुख हैं), **अमरीकी स्कूल** (इसके अंतर्गत भी कई उपस्कूल आते हैं: सपीर, ऐन आर्बर, ब्लूमफ़ील्ड, हर्वर्ड, आदि), **कोपेन हैगेन स्कूल, प्राग स्कूल** हैं।

आधुनिक प्रवृत्तियां

भाषाविज्ञान की आधुनिक प्रवृत्ति **वर्णनात्मक** (Descriptive) है। यह वर्णन भी ऊपरी न होकर संरचना (Structure) का किया जाने लगा है। इसीलिए इसे प्रायः **संरचनात्मक भाषाविज्ञान** भी कहते हैं। इसमें ध्वनि, रूप तथा वाक्य—मुख्यतः इन तीन का ही विश्लेषण किया जाता है। ध्वनियों के अध्ययन में एक्सरे

स्पेक्टोग्राफ, आसिलोग्राफ, काइमोग्राफ, पिचमीटर इंकराइटर, पैटर्न-प्लेबैक, स्पीच-स्ट्रेचर, फार्मेन्ट ग्राफिंग मशीन, लैरिंगोस्कोप, इंडोस्कोप, ब्रीदिंग फ्लास्क, तथा आटो फ़ोनोस्कोप, आदि अनेक यंत्रों की सहायता बड़ी फलप्रद सिद्ध हो रही है। स्वर-व्यंजन के अतिरिक्त सुर, सुर-लहर, तान, बलाघात, संयम आदि का भी गहराई से अध्ययन हो रहा है। स्वनिमविज्ञान के सहारे भाषा के खंड्य और खंड्येतर स्वनिम तथा उपस्वनों की खोज की जा रही है। कम्प्यूटर के सहारे ध्वनियों के वितरण पर भी काम हो रहा है। रूपिमविज्ञान तथा रूप-स्वनिमविज्ञान के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के रूपों पर काम हो रहे हैं। प्रकारात्मक (typological) एवं व्याकरणिक कोटियों (grammatical categories) की दृष्टि से भाषाओं के अध्ययन की शुरुआत भी हो चुकी है। वाक्य के क्षेत्र में पहले पदक्रम, लोप, उद्देश्य-विधेय आदि की दृष्टियों से काम होता था। इधर कुछ दिनों से निकटतम अवयव, अंत:केन्द्रिक रचना तथा वहिष्केन्द्रिक रचना आदि के आधार पर विश्लेषण होता रहा है।

अपनी अनेकानेक अच्छाइयों के बावजूद सन् १९५० के आसपास संरचनात्मक भाषाविज्ञान की कमियाँ स्पष्ट होने लगी थीं। बाह्य संरचना और आंतिरव संरचना का विवेचन भाषाविज्ञान का यह रूप नहीं कर पा रहा था। चॉम्स्की ने इसका भी संकेत करते हुए अपने ट्रांस्फॉर्मेशनल जेनेरेटिव ग्रामर (रूपांतरक व्युत्पादक व्याकरण) की पद्धति भाषाविज्ञान जगत् के सामने रखी। इसमें बाह्य संरचना और आंतरिक संरचना का संबंध दिखलाते हुए भाषाविज्ञान की अनेक गुत्थियाँ सुलझाई गईं। इसके पूर्व भाषाविज्ञान केवल भाषा के प्रयुक्त रूप का अध्ययन करता था। अब वह भाषा की संभाव्य क्षमता का विश्लेषण भी अपना एक मुख्य विषय मानने लगा। पाइक का टंगमीमिक्स (बंधिमविज्ञान), हैलिडे का सिस्टिमिक व्याकरण (व्यवस्थापरक व्याकरण) तथा लैंब का स्ट्रैटिफिकेशनल ग्रामर (स्तरीकृत चॉम्स्की की पद्धति। १९७० के आस-पास फ़िल्मोर ने भाषा-विश्लेषण की एक नयी पद्धति विकसित की जिसका नाम केस ग्रामर (कारकीय व्याकरण) है। इस पद्धति में कारकीय संबंधों के आधार पर वाक्य का विश्लेषण किया जाता है। अपने यहाँ भी पाणिनि और भर्तृहरि में कारकों के आधार पर वाक्य के गंभीर विश्लेषण की बात संकेतित है। इधर संबंधपरक व्याकरण (रिलेशनल ग्रामर) तथा संदर्भ-अर्थविज्ञान (प्रॉगमैटिक्स) के आधार पर भाषा-विश्लेषण भाषाविज्ञान की नवीनतम नवीनता है।

इधर भाषाविज्ञान की अनेक नई-पुरानी शाखाओं-उपशाखाओं में उपयोगी काम हो रहे हैं। भाषा-भूगोल तथा बोलीविज्ञान के क्षेत्र में कुछ देशों में महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। रूस आदि कुछ देशों को छोड़कर अर्थविज्ञान को भाषाविज्ञान से प्राय: बाहर-सा कर दिया गया था, किंतु अब उसे भी ले लिया गया है। संरचना की

दृष्टि से उस पर भी काम होने लगा है। **कोशविज्ञान, भाषा-कालक्रम-विज्ञान, व्यक्ति-भाषा-विकास** तथा **नामविज्ञान** आदि क्षेत्रों में भी काम चल रहे हैं। **भू-भाषाविज्ञान** (geolinguistics) अपेक्षाकृत नयी शाखा है, जिसमें विश्व में भाषाओं के वितरण, उनके राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व का; भाषाएँ कैसे एक-दूसरे को तथा राष्ट्रों की संस्कृति को प्रभावित करती हैं, तथा विभिन्न राष्ट्रों की भाषिक समस्याओं का हल कैसे हो सकता है, आदि का अध्ययन किया जा रहा है। **प्रायोगिक** (applied) **भाषाविज्ञान** में दूसरी भाषा की शिक्षा, मातृभाषा की शिक्षा, अनुवाद, लिपि-सुधार तथा उच्चारण-सुधार आदि की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित है। गणित इधर सभी विज्ञानों में प्रवेश करता रहा है और भाषाविज्ञान भी अपवाद नहीं है। उसके **सूचना सिद्धान्त** (information theory) तथा **सांख्यिकी** (statistics) भाषाविज्ञान के लिए धीरे-धीरे अनिवार्य होते जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, हिंदी के अच्छे टाइपराइर के लिए आवश्यक है कि हिंदी ध्वनियों के प्रयोग का प्रतिशत निकाला जाय। हिंदी की विभिन्न स्तर की पाठ्य-पुस्तकों के लिए इसो प्रकार हिंदी के शब्दों, रूपों एवं व्याकरण के नियमों के प्रयोग-प्रतिशत की जानकारी आवश्यक है। स्पष्ट ही; इनके लिए गणित का सहारा लेना अनिवार्य है। यों ये तो सामान्य बातें हैं, उच्च स्तर पर और भी कई प्रकार से गणित अनिवार्य होता जा रहा है। **गणितीय भाषाविज्ञान** तथा **सांख्यिकीय भाषाविज्ञान** नाम की नयी शाखाएँ इन्हीं उद्देश्यों के लिए विकसित हुई हैं। मशीन से अनुवाद के क्षेत्र में प्राथमिक तैयारी के रूप में इधर काफ़ी काम हो रहा है। सिस्टेमिक व्याकरण एवं रूपांतरण, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इसके लिए बड़े सहायक सिद्ध हो रहे हैं। किंतु, सब ले-देकर अभी इस दिशा में अपेक्षित सफलता प्राप्त करने में अभी समय लगेगा। **शैलीविज्ञान** में साहित्यिक अभिव्यंजना का भाषाविज्ञान के स्तर पर विश्लेषण हो रहा है। **मनोभाषाविज्ञान** में विचार और अभिव्यक्ति से सम्बद्ध तथा इसी प्रकार की भाषा के अन्य ऐसे पक्षों पर विचार हो रहा है जो मनोविज्ञान से सम्बद्ध हैं। **समाज-भाषाविज्ञान** में समाज को पृष्ठभूमि में रखकर भाषा को देखा तथा सामाजिक स्तर से सम्बद्ध किया जा रहा है। प्रोक्ति-विश्लेषण आदि भाषा-विश्लेषण की कुछ नई दिशाएँ भी इधर विकसित हो गई हैं। इस प्रकार, भाषाविज्ञान दिनोंदिन अधिक वैज्ञानिक, तर्कपूर्ण, गहरा तथा विस्तृत होता जा रहा है। पहले तो यह अन्य विज्ञानों से सहायता ही लेता था, किन्तु अब मनोविज्ञान, यांत्रिकी, तर्कशास्त्र, इतिहास, साहित्य आदि अनेक ज्ञानक्षेत्रों की सहायता करता हुआ मानवता की अधिकाधिक सेवा के लिए अग्रसर हो रहा है।

परिशिष्ट

(१) लहर-सिद्धान्त (Wave Theory)—जे० श्मिट ने १८७२ में ध्वनि-परिवर्तन के प्रसंग में लहर-सिद्धान्त भाषाविज्ञान के विद्वानों के समक्ष रखा। आशय यह है कि जैसे पानी की लहर एक बिंदु पर उत्पन्न होकर चारों ओर धीरे-धीरे फैल जाती है, उसी प्रकार भाषा-परिवर्तन भी एक व्यक्ति से आरम्भ होकर चारों ओर संसर्ग से धीरे-धीरे समाज में फैल जाता है। इसे बहुत लोगों ने ध्वनि-परिवर्तन के कारण के रूप में लिया है, किन्तु वस्तुतः यह कारण नही है। यह सिद्धान्त तो मात्र यह बतलाता है कि ध्वनि-परिवर्तन एक जगह आ जाने या घटित होने के बाद कैसे फैलता है।

(२) सादृश्य (Analogy)—मनुष्य स्वभावतः सरलता का प्रेमी होता है। उसका यह स्वभाव भाषा में भी कार्य करता है। यह किसी पुराने शब्द को किसी पुराने शब्द के वजन पर उसकी आकृति के साँचे में ढाल लेता है और इस प्रकार दोनों शब्द रूप की दृष्टि से एक-से हो जाते हैं, या दोनों में सादृश्य (या रूप-सादृश्य) हो जाता है। जैसे संस्कृत में 'द्वादश' के वजन पर संस्कृत वालों ने 'एकदश' को 'एकादश' बना लिया। सैंतिस और सैंतालिस की अनुनासिकता पैंतिस और पैंतालिस के सादृश्य पर ही आधारित है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा के आरंभ-काल में बहुत से रूप रहे होंगे। धीरे-धीरे सादृश्य के आधार पर रूपों की विभिन्नता दूर हुई होगी। अंग्रेजी की बली (strong) क्रियाएँ इसी आधार पर धीरे-धीरे बलहीन (weak) होती जा रही हैं। एक समय ऐसा भी असम्भव नहीं है, जबकि एक भी बली क्रिया अंग्रेजी में शेष न रहे।

(३) मिथ्या सादृश्य (False Analogy)—सर्वप्रथम रोमांस भाषाओं के अध्ययन में लोगों का ध्यान इस ओर गया। उस समय लोग इसे सादृश्य न कह कर मिथ्या सादृश्य कहते थे। बाद में इस आधार पर कि सभी सादृश्य मिथ्या हैं, 'मिथ्या' शब्द को निरर्थक समझा गया और 'मिथ्या सादृश्य' के स्थान पर 'सादृश्य' का प्रयोग होने लगा।

क्या सादृश्य एक कारण है ?—अधिकतर लोग ऐसा समझते हैं कि सादृश्य स्वयं एक कारण है और इसी कारण से परिवर्तन होते हैं। यथार्थतः यह बात नहीं है। सादृश्य पर आधारित परिवर्तनों का कारण सादृश्य नहीं है। उसका कारण तो सुविधा, सरलता आदि है। सादृश्य तो एक साधन मात्र है, जिससे सुविधा प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, 'मझ' शब्द 'तुझ' के सादृश्य पर 'मुझ' हो गया। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि 'मझ', 'तुझ' के सादृश्य के कारण 'मुझ' हो गया, अपितु यह कहना उचित है कि याद रखने की सुविधा के कारण 'तुझ' के आधार पर 'मुझ' बना लिया गया। 'तुझ' का सादृश्य तो आधार या साधन मात्र है। अतः यह कहना अशुद्ध है कि सादृश्य किसी परिवर्तन का कारण है।

सादृश्य की गति—इसकी गति गणित की भाँति है। यथा—

१ : २ : ६ : १२ :

संस्कृत में केवल युग्म शब्दों के लिए द्विवचन का प्रयोग होता था : पादौ, कर्णौ, पितरौ। बाद में विलोम तथा युग्म के लिए भी प्रयोग होने लगा : लाभालाभौ, जयाजयौ। कुछ दिन बाद सादृश्य के आधार पर द्वन्द्व समास वाले शब्दों में भी यही बात आने लगी : सिंह-मृगालौ, राम-लक्ष्मणौ आदि। अंग्रेजी में shall से should और will से would बना तो यहाँ shall और will में l होने से, यद्यपि l होना अस्वाभाविक नहीं था, पर इसी सादृश्य पर can में l न रहते हुए भी could में l ला दिया गया। छोटे लड़के या नवीन भाषा सीखने वाले सादृश्य के आधार पर अधिकतर रूप बना लेते हैं। अंग्रेज़ी में s लगाकर बहुधा बहुवचन बनाया जाता है। नया विद्यार्थी कभी-कभी उसी सादृश्य पर box से boxes देखकर ox से oxes कर देता है, यद्यपि oxen होना चाहिए। नया हिन्दी सीखने वाला इसी प्रकार मर से मरा, धर से धरा देखकर कर से 'करा' या बैठिए, लिखिए देखकर 'करिए' कह बैठता है, यद्यपि परिनिष्ठित रूप 'किया' और 'कीजिये' हैं।

सादृश्य के कुछ प्रधान कारण—यों तो सुविधा के लिए सादृश्य का सहारा लेना पड़ता है, पर उस सुविधा के भी कुछ विशेष पक्षों की ओर पृथक्-पृथक् संकेत किया जा सकता है : (क) **अभिव्यंजना की किसी कठिनाई को दूर करने के लिए**—एक प्रकार के भाव के लिए दो शब्द भिन्न-भिन्न रूपों के रहने हैं तो कुछ कठिनाई होती है। यदि दोनों को एक वजन का बनाना सम्भव होता है तो जन-मस्तिष्क बना लेता है। 'पूर्वीय' और 'पौरस्त' के रहते हुए भी पाश्चात्य के सादृश्य पर 'पौर्वात्य' शब्द इसी कारण हिन्दी में आ गया है। (ख) **अधिक स्पष्टता लाने के लिए**—यदि रूप बहुत छोटे हों या किसी कारण से अर्थ स्पष्टतः न वहन कर सकते हों तो अन्य शब्दों के आधार पर उनके रूप बना लिये जाते हैं। अंग्रेज़ी में, ग्रीक 'ism' के आधार पर optimism, socialism; जर्मन—ard के आधार पर bastard, coward; इटैलियन —sque के आधार पर romanesque, picturesque तथा फ्रेंच—al के आधार पर national, local आदि शब्द बना लिये गये हैं। (ग) **समानता या विपर्यय पर बल देने के लिए**—अंग्रेजी before, after या लैटिन के antid, postid आदि इसके उदाहरण हैं। संस्कृत में स्वसृ का पंचमी में स्वसुः, मातृ का मातुः, पितृ का पितुः तो ठीक है, पर इस समानता के सादृश्य पर पति का पत्युः रूप चल पड़ा है, यद्यपि पतेः होना चाहिए, जैसा कि कुछ स्थानों पर मिलता भी है। संस्कृत में 'अभ्यन्तर' और 'बाह्य' शब्द थे। अभ्यन्तर से हिन्दी 'भीतर' का बनना तो ठीक था, पर बाह्य से 'बाहर' क्यों बना ? दोनों एक-दूसरे के विपर्यय हैं, अतः रूप की समानता दे दी गई। इसी विपर्यय पर बल देने के लिए 'निर्गुण' के सादृश्य पर 'सगुण' को मध्ययुगीन काव्य में 'सरगुण' का रूप दे दिया गया है। (घ) **किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम की संगति मिलाने के लिए**—कभी-कभी कोई अशुद्ध शब्द चल पड़ता है तो उसे प्राचीन नियम के अनुसार अन्य शब्दों के सादृश्य पर नया रूप दे दिया जाता है। कभी-कभी नवीन नियम के अनुसार भी शब्द बनाये जाते हैं। कुछ लोगों ने हिन्दी के 'इस' प्रत्यय को प्रामाणिक मानकर ऐतिहासिक के स्थान पर 'इतिहासिक' लिखना आरम्भ किया

और अब उसके सादृश्य पर समाजिक, व्यवहारिक, भूगोलिक आदि भी प्रयुक्त हो सकते हैं। (ङ) शीघ्रता, अशुद्धि तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन, आदि—इनका प्रभाव प्रायः अस्थायी होता है। शीघ्रता से, असावधानी से या अज्ञानतः अशुद्ध प्रयोग से भी सादृश्य का आगमन हो जाता है। बच्चों और विभाषियों की भाषा में इसके प्रयोग अधिक मिलते हैं। घोड़ों, लड़कों और घरों के साथ हिन्दी में अनेक का भी 'अनेकों' हो गया है, यद्यपि अनेक स्वयं ही (एक न होने के कारण) बहुवचन है। पांडित्य-प्रदर्शन में भी अशुद्धि कभी-कभी सादृश्य का आधार लेती है। बाहुल्यता, पांडित्यता, आधिक्यता आदि इसके उदाहरण लिये जा सकते हैं। सादृश्य का आरम्भ—कुर्टियस आदि कुछ विद्वानों का मत था कि सादृश्य का आरम्भ हाल में हुआ है, पर इसके विपरीत ग्रील आदि इसे भाषा के आरम्भ के कुछ ही बाद का मानते हैं। यही ठीक भी है। भाषा ही क्या, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव के आरम्भ से ही सादृश्य का आरम्भ हुआ होगा। एक को घर बनाते देख, वैसा ही दूसरे ने बनाया होगा। तीसरे ने जब उससे अधिक उपयोगी बनाया होगा तो अपनी सुविधा के लिये पहले और दूसरे ने भी अपने मकान को तीसरे के आधार पर नया रूप दिया होगा। भाषा के आरम्भ होने पर यही बात भाषा में भी लागू हुई होगी। व्याकरण के सारे नियम 'सादृश्य' के कार्य करने के उपरांत ही समानता देखकर बनाये गये होंगे। सादृश्य के प्रभाव—(१) सादृश्य नियम के विरुद्ध पाये जाने वाले अपवादों को दूर करके नियमबद्धता लाता है। अंग्रेज़ी क्रियाएँ धीरे-धीरे इसी कारण एकरूप होती जा रही हैं। (२) एक भाषा का दूसरी पर भी प्रभाव पड़ता है। अंग्रेजी वाक्यों का प्रभाव इसी रूप में नेहरू, जैनेन्द्र आदि के वाक्यों पर पड़ा है। (३) दो जातियों के मिश्रण के बाद जब भाषा का विकास होता है तो वहाँ भी सादृश्य ही काम करके भाषा को दोनों के उपयुक्त बनाता है। (४) इसके प्रभाव से भाषा आसान होती जाती है। एसपेरेंतो इसी पर आधारित होने के कारण थोड़े समय में ही सीखी जा सकती है। सादृश्य का क्षेत्र—भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रमुख चारों ही शाखाओं में इसका क्षेत्र है। वाक्य में इसका प्रभाव अन्यों से कम मिलता है। अर्थ में भी अधिक नहीं मिलता। पर रूप और ध्वनि में तो इसका प्रधान हाथ है। रूप, ध्वनि तथा अर्थ के प्रकरण में परिवर्तनों के साथ इसका भी कुछ वर्णन किया गया है। अन्त में यह कहना असंगत न होगा कि भाषा के विकास में सादृश्य का प्रधान हाथ है। (३) प्रत्याभिमुख नियम (Law of Polarity)—अफ्रीका में भाषा-कुलों में प्रधान कुल हैमेटिक है। इस कुल की परिभाषाएँ उत्तरी अफ्रीका के बहुत बड़े भाग में बोली जाती हैं। इन भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें संज्ञा एक-वचन का बहुवचन बनाया जाता है तो उसका लिंग भी परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् संज्ञा एकवचन पुल्लिग का बहुवचन स्त्रीलिंग तथा संज्ञा एकवचन स्त्रीलिंग का बहुवचन पुल्लिग हो जाता है। इस कुल की एक प्रधान भाषा सोमाली से इस सम्बन्ध में उदाहरण लिये जा सकते हैं। 'होयोदि' (=माँ) स्त्रीलिंग एकवचन का बहुवचन 'होयोइन-कि' (=माताएँ) शब्द वहाँ के व्याकरण में पुल्लिग है। दूसरी ओर 'लिबाहिह' (=शेर) पुल्लिग एकवचन का बहुवचन शब्द 'लिबाहिह्यो-दि (=कई शेर) वहाँ के व्याकरण से

स्त्रीलिंग है। **कारण और उसका स्पष्टीकरण**—इस प्रकार के कुछ उदाहरण अफ्रीका के दूसरे भाषाकुल 'सेमेटिक' में भी मिलते हैं, पर वे अपवाद हैं और प्रायः हामी (हैमेटिक) के प्रभावस्वरूप हैं। इन भाषाओं के विशेषज्ञ श्री मेनहाफ (Meinhof) ने इस विचित्रता का कारण यह बतलाया है कि असंस्कृत मस्तिष्क एक प्रकार के परिवर्तन के साथ दूसरे प्रकार का भी परिवर्तन मान लेता है। वह दोनों को अलग नहीं कर पाता, अर्थात् एक वचन से दूसरे वचन में जाने में वह मूल लिंग से भी दूसरे में जाना मान लेता है। इस दोनों प्रकार के परिवर्तनों को वह संभवतः एक मानता है। इसका पूरा परिचय अगले चित्र और विवरण में दिया जा रहा है। इन भाषाओं में संज्ञाओं के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग 'व्यक्ति' का है और दूसरा वस्तु' का। व्यक्ति-वर्ग 'जीवित' और वस्तु-वर्ग 'मृत' माना जाता है। साथ ही, व्यक्ति-वर्ग की संज्ञाएँ 'सबल' और 'बड़ी' मानी जाती हैं और दूसरी ओर वस्तु-वर्ग की संज्ञाएँ 'निर्बल' और 'छोटी'। इसके साथ ही एक और विचार है। वे लोग व्यक्ति-वर्ग की संज्ञाओं को कर्त्ता या करनेवाला मानते हैं और वस्तु-वर्ग को 'वह जिस पर कुछ किया जाय।' प्रथम वर्ग की संज्ञाएँ पुल्लिग हैं और जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'व्यक्तित्व', 'जीवन', 'सबलता', 'बड़ा होना' और 'कर्त्ता' आदि उनकी प्रधानताएँ हैं। इसके उलटे दूसरे वर्ग की संज्ञाओं की 'वस्तुत्व', 'अजीवन,' 'निर्बलता', 'छोटी होना' तथा 'अकर्त्ता' आदि विशेषताएँ हैं।

प्रोफेसर मेनहाफ द्वारा बनाया गया चित्र

[ऊपर की कही बातें इस चित्र से स्पष्ट की जा सकती हैं। चित्र में ऊपर और नीचे तीर द्वारा वचन-परिवर्तन दिखाया गया है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वचन के परिवर्तन होने पर संज्ञा एक वर्ग से दूसरे वर्ग में चली जाती है, अतः उसमें सभी उलटी बातें (यदि एकवचन में संज्ञा पुल्लिग, व्यक्ति, सबल और कर्त्ता आदि थी तो बहुवचन में (ऊपरी तीर) स्त्रीलिंग, वस्तु, निर्बल तथा अकर्त्ता आदि) आ जाती हैं।]
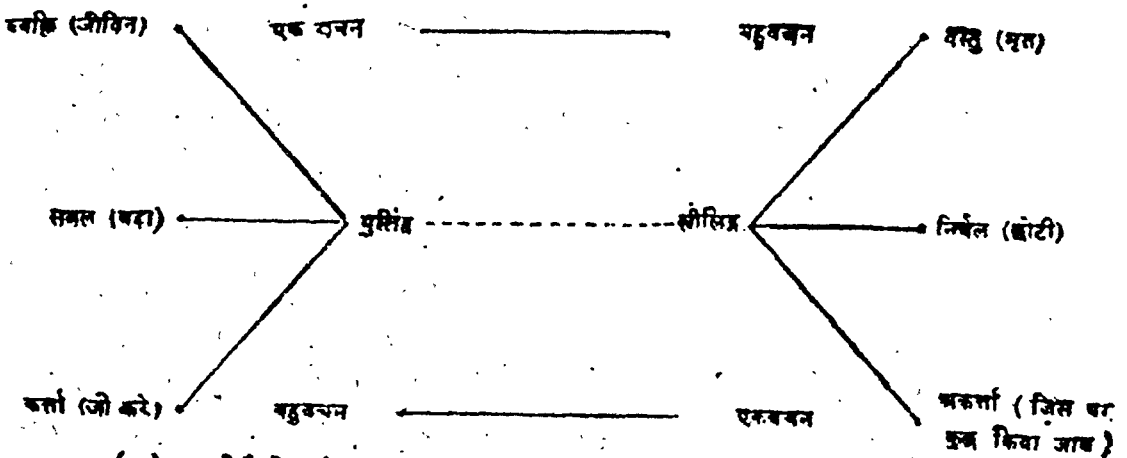
(४) **एसपेरंतो** (Esperanto)—एक विश्वभाषा के निर्माण के लिये कितने ही लोगों ने प्रयास किये, पर इस सम्बन्ध में सबसे सफल और स्तुत्य प्रयास डॉक्टर एल० एल० ज़मेनहाफ़ (Zomenhof) का है। आप बहुत ही बड़े भाषाविज्ञान-विशारद थे। यूरोप की लगभग सभी भाषाओं को लिख. पढ़ और बोल सकते थे। आपने

अपना पूरा जीवन इस कृत्रिम विश्वभाषा एसपेरैंतो के लिये लगाया । **आरम्भ और प्रचार**—सर्वप्रथम सन् १८८७ ई० में डॉक्टर महोदय ने इस अभूतपूर्व भाषा को विश्व के समक्ष रखा । पहले तो लोग इसकी ओर आकर्षित न हो सके, पर शीघ्र ही इसकी उपयोगिता और महत्ता समझ में आने लगी और यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् इसकी प्रशंसा करने लगे । प्रचारार्थ एक इसी नाम की संस्था भी खुली । लीग ऑव नेशन्स ने सभी राष्ट्रों से इसके लिये कहा और यह भी अनुरोध किया कि स्कूलों में इसका पढ़ाया जाना आरम्भ हो । सन् १९२५ में अन्तर्राष्ट्रीय टेलिग्राफिक सङ्घ ने इसकी बड़ी प्रशंसा की और इसे बहुत ही स्पष्ट भाषा कहा । दो वर्ष बाद सन् १९२७ में संसार के ४४ प्रधान रेडियो स्टेशनों से इसके विषय मे और इस भाषा में भाषण दिये गये । दिल्ली में भी इसे पढ़ाने का प्रबन्ध है। **एसपेरैंतो का साहित्य**—इसमें कुछ मौलिक पुस्तकें भी लिखी गईं, पर अनूदित पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक है । सब मिलाकर लगभग चार हजार पुस्तकें और बहुत-सी पत्रिकाएँ हैं। अनूदित पुस्तकों में बाइबिल का अनुवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । इसका साहित्य दिन-पर-दिन बढ़ रहा है । अभी निकट भूत में एपेसरैंतो भाषा में १०० से भी अधिक पत्रिकाएँ निकलती रही हैं । **कमी**—इस भाषा की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह जीवित भाषा नहीं है, और न तो इसका स्वाभाविक विकास ही हुआ है । यदि किसी राष्ट्र या क्षेत्र की यह मातृभाषा होती तो इसका प्रचार और अधिक तेजी से होता और इसके सर्वमान्य होने की भी संभावना होती । उपर्युक्त कमी के कारण ही सरल, उपयोगी और स्तुत्य भाषा होने पर भी अभी तक विश्व क्या किसी एक देश की भी भाषा बनने में एसपेरैंतो सफल न हो सकी । **व्याकरण, लिपि और शब्द-समूह**—स्वयं एसपेरैंतो शब्द लैटिन के एक शब्द से बना है और इसका अर्थ 'आशापूर्ण' है । डॉ० ज़मेनहाफ़ ने इसको बनाने में बहुत-सी भाषाओं के व्याकरणों का विश्लेषण किया था । उस विश्लेषण के आधार पर इस भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने सोलह नियम बनाये, जिन्हें कोई भी पढ़ा-लिखा आदमी आधे घन्टे में पूर्णतः समझ सकता है । इसके व्याकरण में सादृश्य (analogy) का बहुत बड़ा हाथ है । वाक्य-रचना की दृष्टि से यह अश्लिष्ट-योगात्मक भाषा है । तुर्की की भाँति इसमें भी सम्बन्धतत्त्व बिल्कुल स्पष्ट रहते हैं । उदाहरणार्थ—कैट (kat) = *बिल्ली*; इन (in) = *स्त्रीलिंग का चिह्न*; इड (id) = बच्चों का चिह्न; एट (et) = छोटे का चिह्न; ओ (o) = संज्ञा का चिह्न ।

इनके योग से—

एक बिल्ली (स्त्री०) कैट-इन-ओ (Kat-in-o)
एक बिल्ली का बच्चा = कैट-इड-ओ (Kat-id-o)
एक छोटी बिल्ली (स्त्री०) का बच्चा = कैट-इन-एट-इड-ओ (Kat-in-et-id-o)

इसी प्रकार, सभी शब्दों को पद बनाने के लिए केवल प्रत्यय जोड़ने पड़ते हैं । इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अपवाद नहीं मिलते । इसी कारण एक सप्ताह में ही पढ़कर यह बोली जा सकती है । इसकी लिपि रोमन है, पर अंग्रेजी की भाँति इसमें पढ़ने की कठिनाई नहीं । निश्चित नियम के अनुसार जो कहा जाता है,

वही लिखा जाता है और जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। शब्द-समूह विशेषतः भारोपीय है। शब्द धातु पर आधारित हैं। इन धातुओं में आधी से भी अधिक लैटिन भाषा से ली गई हैं और शेष में आधी से कुछ अधिक ट्यूटानिक भाषाओं की हैं। बाकी लगभग १० प्रतिशत धातुएँ अन्य भाषाओं की हैं।

इडो (Ido) : एक शाखा

बीसवीं सदी के आरम्भ में कुछ लोग एसपेरैंतो में कुछ परिवर्तन के पक्षपाती हो गए, पर जब इसके प्रधान लोगों ने उन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं किया तो नये लोग (इन लोगों में प्रधान कांटुरट (Conturat) महोदय थे) एक नवीन, परिवर्तित और अधिक उपयोगी तथा सरल भाषा को जन्म देने की बात सोचने लगे। इसी ध्येय से इस भाषा को और अधिक लचीला, वैज्ञानिक, सरल और स्वाभाविक बनाकर सन् १९०७ में 'इडो' नाम से नवीन भाषा की स्थापना की गई। 'इडो' शब्द स्वयं एसपेरैंतो भाषा का है, जिसका अर्थ 'बच्चा' या 'जन्मा हुआ' है। एसपेरैंतो में जो कुछ कठिनाइयाँ थीं, इडो में नहीं हैं, अतः यह विश्व भाषा होने के लिए और अधिक उपयोगी है। पर, इन दोनों ही में कोई भी विश्वभाषा हो सकेगी, यह विषय संदेहास्पद है। सत्य तो यह है कि किसी भी कृत्रिम भाषा को यह स्थान प्राप्त हो सकेगा, यह कहना कठिन है।

(५) आइसोग्लास (Isoglass)—किसी भाषा या बोली में कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कुछ विशिष्ट शब्दों का या किसी एक शब्द का प्रयोग कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही होता है। भाषा या बोली के नक्शे में उस विशिष्ट शब्द के प्रयोग-स्थलों को मिलती हुई जो रेखा खींची जाती है, उसे आइसोग्लास कहते हैं। भाषा के नक्शों में शब्द के प्रयोग को दिखाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग आइसोग्लास का प्रयोग बहुत ही विस्तृत अर्थ में करते हैं। ब्लूमफील्ड के अनुसार आइसोग्लास उन रेखाओं को कहते हैं जो किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में भाषा-सम्बन्धी किसी भी विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए खींची जायँ।

(६) आइसोफोन (Isophone)—जब किसी भाषा या बोली के क्षेत्र में ध्वनि-सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ कुछ विशिष्ट स्थलों पर ही होती हैं तो नक्शे में उनको एक रेखा से प्रदर्शित करते हैं। इन रेखाओं को ध्वनिरेखा या आइसोफोन कहते हैं। आइसोग्लास की विस्तृत परिभाषा के अनुसार आइसोफोन भी एक प्रकार का आइसोग्लास है।

(७) ध्वन्यात्मक शब्द (Onomatopoeic या Onomatopoetic Word)—किसी वस्तु या प्राणी की ध्वनि के अनुकरण पर जो शब्द बना लिए जाते हैं, उन्हें ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं। प्रायः सभी भाषाओं में ऐसे बहुत-से शब्द होते हैं। इसी आधार पर 'भाषा का आरम्भ' मानने का एक सिद्धान्त है जो अब व्यर्थ सिद्ध हो चुका है। इन शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ध्वनि से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी के कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं : धड़धड़, छलछल, कलकल, भड़भड़, इत्यादि। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में साधारण भाषा में इसका प्रयोग मध्य-भारतीय आर्यभाषा-काल के तृतीय चरण के पूर्व प्रायः कम मिलता है। संसार में कुछ

ऐसी भी भाषाएँ (जैसे अमेरिका की मैकेंजी नदी के किनारे रहने वाली असभ्य जाति अथबस्कन की भाषा) है, जिनमें इस प्रकार के शब्द बिल्कुल नहीं हैं।

(८) प्रतिध्वन्यात्मक शब्द (Echo-word)—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में इनका प्रयोग मिलता है। अभी तक ये साधारणतया बोलचाल में ही विशेष प्रयुक्त होते हैं। साहित्य में इनको स्थान कम ही मिला है। पर, ज्यों-ज्यों जनभाषा का साहित्य पर प्रभाव बढ़ता जा रहा है, साहित्य में भी इनके प्रयोग की अधिक संभावना है। इनमें किसी शब्द की ध्वनि के अनुकरण पर दूसरा शब्द बनाकर उसी के साथ प्रयुक्त करते हैं। इसका अर्थ साधारणतया 'इत्यादि' होता है। जैसे 'राम ओम' में 'ओम' का अर्थ इत्यादि है। इसी प्रकार पानी-वानी, खाना-वाना, रुपया-उपया। मराठी (घोड़ा-वोड़ा), बंगला तथा गुजराती आदि में भी इसका प्रयोग मिलता है। प्रतिध्वन्यात्मक शब्द केवल संज्ञा शब्दों के आधार पर ही नहीं बनते; 'जाना-वाना' आदि क्रियाओं के उदाहरण भी लिए जा सकते हैं।

(९) मैलाप्रापिज्म (Malapropism)—सुन्दर तथा बड़े शब्दों के प्रयोग की लालच से शब्दों का अनुचित प्रयोग करना मैलाप्रापिज्म कहलाता है। इसका नाम शेरिडान की पुस्तक 'दी राइवल्स' (The Rivals) के एक पात्र श्रीमती 'मैलाप्राप' पर आधारित है, जिन्होंने इस प्रकार के बहुत प्रयोग किये हैं। आज हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग बहुत हो रहे हैं। लोग उपसर्गों का मनमाना प्रयोग कर रहे हैं। ज्ञान के स्थान पर परिज्ञान, क्रान्ति के स्थान पर उत्क्रान्ति, संधि के स्थान पर अभिसंधि इत्यादि अनेक, उदाहरण लिए जा सकते हैं, जिनके अर्थ यथार्थतः कुछ दूसरे ही हैं।

(१०) आधार-सिद्धान्त (Substratum Theory)—जब कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह (जाति या देश) अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा को सीखता है तो नवीन भाषा पर अपनी भाषा के उच्चारण तथा प्रयोग विषयक अनेक गुण आरोपित कर देता है। उसके सुर, बल आदि अपनी पुरानी भाषा के ही रहते हैं। इन सब कारणों से वह नवीन भाषा को कुछ परिवर्तित करके ग्रहण करता है। इसी को आधार सिद्धान्त कहते है। शब्द-समूह में भी यह सिद्धान्त देखा जाता है। आधार-सिद्धान्त का प्रभाव—भाषा के परिवर्तन में इसका बहुत बड़ा हाथ है। जितनी ही कोई भाषा विभाषियों द्वारा प्रयुक्त होगी, उसमें विभाषी की मातृभाषा के आधार पर सिखने के कारण परिवर्तन आते जाएँगे। बोलियों के बनने में भी इसका बड़ा हाथ है। एक भाषा जब विभिन्न वर्गों द्वारा ग्रहण की जाती है तो आधार-सिद्धान्त प्रत्येक स्थान पर काम करता है और स्थानानुसार भाषा में परिवर्तन आ जाता है। लैटिन भाषा को गाल और स्पेनी लोगों ने अपनाया और एक ही लैटिन भाषा आधार-सिद्धान्त के कारण (यद्यपि कुछ अन्य कारण भी साथ-साथ काम कर रहे थे) स्पेनिश और फ्रेंच दो बोलियों में परिणत हो गई, जो आज स्वतन्त्र भाषाएँ बन गई हैं। प्रथम जर्मन वर्ण-परिवर्तन आधार-सिद्धान्त के ही कारण घटित हुआ कहा जाता है। अंग्रेजी की ट्, ड्, थ् आदि ध्वनियाँ हिन्दी से भिन्न हैं, पर यहाँ वे ट्, ड्, थ् हो गई हैं। हमने अंग्रेजी को अपने आधार पर सीखा है, इसी कारण हमारे उच्चारण को न जल्दी से अंग्रेज समझ सकता है और न तो उसके उच्चारण को हम। येस्पर्सन दि कुछ विद्वान् तो भाषा के विकास में आधार-सिद्धान्त को बहुत ही महत्त्वपूर्ण बलशाली बतलाते हैं।

(११) **पिजिन और क्रियोल**—कभी-कभी ऐसा होता है कि दो भाषाभाषी समुदाय साथ-साथ रहने लगते हैं और दोनों भाषाओं का एक मिश्रित रूप विकसित हो जाता है। दोनों ही अपनी भाषा की शुद्धता के प्रति आग्रही न होकर विचार-विनिमय की आवशकता की दृष्टि से ऐसी मिश्रित भाषा का प्रयोग करने लगते हैं, जिसमें एक भाषा तो प्रायः आधार भाषा (भा^{1}) का काम करती है, और दूसरी प्रभावक भाषा (भा^{2}) का, किंतु जो भाषा इस प्रकार विकसित होती है वह न तो शुद्ध भा^{1} होती है और न शुद्ध भा^{2}। वह वास्तव में भा^{1} का भा^{2} से प्रभावित रूप होती है। यह प्रभाव भी दो प्रकार का हो सकता है आंशिक तथा पूर्ण। आंशिक प्रभाव ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ किसी एक, दो, तीन या चार क्षेत्रों में होता है, किन्तु पूर्ण प्रभाव पांचों क्षेत्रों में। इस प्रकार प्रभाव से बनी भाषा पिजिन[1] (Pidgin) भाषा कहलाती है। 'पिजिन' शब्द मूलतः अंग्रेज़ी शब्द 'business' है। जब अंग्रेज़ व्यापार करने चीन पहुँचे तो अंग्रेज़ी-चीनी के मिश्रण (आधारभाषा अंग्रेज़ी, प्रभावक भाषा चीनी) से एक विशेष प्रकार की अंग्रेज़ी का विकास हुआ। यह भाषा मूलतः 'बिज़निस' अर्थात् व्यापार में प्रयुक्त होती थी, अतः 'बिज़निस इंगलिश' कहलाई। यह 'बिज़निस' शब्द चीनी उच्चारण में 'पिजिन' हो गया अतः वहां 'बिज़निस इंगलिश' को 'पिजिन इंगलिश (Pidgin English) कहने लगे। बाद में इस प्रकार विकसित किसी भी भाषा को 'पिजिन भाषा' कहा जाने लगा। हिंदी में इसे 'मिश्रित भाषा' नहीं कह सकते, क्योंकि 'मिश्रण' में केवल मिलने का भाव है, एक के आधार भाषा तथा दूसरी के प्रभावक भाषा होने का नहीं। इसीलिए हिंदी में अंग्रेजी से 'पिजिन' शब्द ले लेना उचित समझा गया है।

'पिजिन भाषा' के बनने में भा^{1} बहुप्रचलित, व्यापक या किसी भी कारण अधिक महत्वपूर्ण भाषा होती है, तथा भा^{2} ऐसी नहीं होती। कलकत्ते में कलकतिया हिंदी' इसी प्रकार की पिजिन हिंदी है, जिसमें भा^{1} हिंदी है और भा^{2} बंगला। 'बंबइया हिंदी' भी ऐसी ही है, जिसमें भा^{1} हिंदी है और भा^{2} मराठी। इस प्रकार की बंबइया हिंदी में जगदंबा प्रसाद दीक्षित ने एक पूरा उपन्यास 'मुरदाघर' लिख डाला है। बंबइया हिंदी तथा कुछ अन्य से कुछ उदाहरण हैं। (क) ध्वनि-हिंदी में महाप्राण ध्वनियाँ आदि, मध्य, अंत तीनों स्थितियाँ में आती हैं, किंतु मराठी में प्रायः मध्य और अंत का महाप्राण अल्पप्राण हो जाता है। इसी लिए बंबइया हिंदी में 'हाथ' को 'हात' तथा 'झूठा' को 'झूटा' कहते हैं। स्पष्ट ही शब्द हिंदी के हैं, किंतु उच्चारण में मराठी ध्वनि-व्यवस्था से प्रभावित हैं। कहीं-कहीं गुजराती[1] का भी प्रभाव है। जैसे हिंदी 'सेठ' बंबइया हिंदी में 'शेट' हो गया है जो मराठी और गुजराती दोनों में चलता है। (ख) शब्द—'वेतन' या 'तनख्वाह' के स्थान पर 'पगार' बंबइया हिंदी का बहुप्रचलित शब्द है जो मराठी से आया है। ऐसे ही कलकतिया हिंदी में बंगला के बहुत सारे शब्द आ गए हैं। (ग) ऐसे ही रूप-रचना तथा वाक्य रचना भी प्रभावित होती हैं। (घ) अर्थ—इस क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ा है। बंबइया हिंदी में 'कहना' और 'बोलना' दोनों के स्थान पर 'बोलना' के प्रयोग से बोलना के अर्थ में विस्तार हो गया है।

१—बंबई में मराठी भाषी लगभग ४२ प्रतिशत, गुजराती भाषी लगभग १८ प्रतिशत, हिंदी भाषी लगभग १० प्रतिशत तथा कोंकणी-तमिल-बंगला आदि भाषी शेष ३० प्रतिशत हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि पिजिन भाषा में कुछ प्रवृत्तियां ऐसी भी विकसित हो जाती हैं, जो मूलतः दोनों भाषाओं में किसी में भी नहीं होती। उदाहरण के लिए बंबइया हिंदी से 'क्या किया मैं ?' किंतु मराठी 'मी काय केले' तथा हिंदी 'मैंने क्या किया'। स्पष्ट ही प्रथम वाक्य का पदक्रम नया है, न मराठी का, न हिंदी का।

पिजिन भाषा में प्रभाव के अतिरिक्त सरलीकरण की भी प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के लिए बंबइया हिंदी में 'लूंगा' को 'लेऊंगा' तथा 'दूंगा' को 'देऊंगा' कहते हैं। यह मराठी प्रभाव नहीं है, बल्कि सादृश्य (क़रुंगा, आऊंगा) के आधार पर सरलीकरण है।

जब तक इस प्रकार की भाषा का प्रयोग तो होता रहे, किंतु किसी की वह मातृभाषा नहीं बनती, पिजिन भाषा कहलाती है, किंतु यदि वह किसी क्षेत्र में मातृभाषा नहीं बनती, पिजिन भाषा कहलाती है, किंतु यदि वह किसी क्षेत्र में मातृभाषा के रूप में स्वीकृत हो जाए, बच्चा उसे मातृभाषा के रूप में ग्रहण करने लगें, तो उसे क्रियोल (Creole) कहते हैं। यह शब्द मूलतः लैटिन का है तथा मूलार्थ है 'बनाया हुआ'। फ्रेंच से होता यह शब्द अंग्रेज़ी में आया है। इस प्रकार के प्रभावी मिश्रण से बनी या बनाई गई भाषा को क्रियोल नाम उचित ही दिया गया है।

'पिजिन' और क्रियोल में अंतर है : (क) पिजन के प्रयोक्ताओं की मूल भाषाएं कुछ और होती हैं, किंतु क्रियोल के बोलने वालों की मूल और मातृभाषा वही होती है। (ख) इस तरह क्रियोल का तो निश्चित भाषा-समुदाय होता है, किंतु पिजन का नहीं। (ग) क्रियोल का अपना सुनिश्चित भाषा क्षेत्र होता है, जहाँ की वह मातृभाषा होती है, किंतु पिजिन का कोई ऐसा क्षेत्र संभव नहीं। (घ) पिजिन भाषा की कोई सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, किंतु क्रियोल की होती है। (ङ) पिजिन भाषा के मानकीकरण का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है, किंतु क्रियोल का उठाया जा सकता है। (च) पिजिन की व्यवस्थित शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं, किंतु क्रियोल की होती है। (छ) अंततः सच्चे अर्थों में पिजिन कोई सुनिश्चित भाषा नहीं होतीं, भाषा-रूप होता है, किंतु क्रियोल सुनिश्चित भाषा होती है।

पिजिन भाषा के रूप में चीनी पिजिन अंग्रेज़ी, मलेशियन पिजिन अंग्रेजी, बंबइया हिंदी तथा कलकतिया हिंदी आदि का नाम लिया जा सकता है, तो क्रियोल रूप में कैलीफ़ोर्निया की गुलाह (Gulah) अंग्रेज़ी तथा मॉरीशस की हैशियन (Hatian) फ्रांसीसी का।

(१२) प्रयुक्ति (Register)—जब किसी भाषा का प्रयोग विभिन्न विषयों में होता है तो उसके तरह-तरह के रूप विकसित हो जाते हैं, जिन्हें प्रयुक्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए, बोलचाल की हिन्दी, साहित्यिक हिन्दी, कार्यालयी हिन्दी, व्यापारी हिन्दी खेलकूद की हिन्दी, हिन्दी की कुछ मुख्य प्रयुक्तियाँ हैं।

भाषा परिवर्तन : स्वरूप और प्रवृत्तियाँ[1]

परिवर्तन इस सृष्टि का नियम है। चाहे व्यक्ति हो या वस्तु, वर्ग हो या समाज, कोई व्यवस्था हो या संस्था, सभी में परिवर्तन होते रहते हैं और भाषा भी इसका अपवाद नहीं। भाषा का प्रयोक्ता व्यक्ति और उसका समाज परिवर्तित होता रहता है, अतः उसके साथ-साथ उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। भाषा में परिवर्तन ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, तथा अर्थ इन पाँच स्तरों पर होता है :

स्तर	परिवर्तन
ध्वनि	(क) ध्वनि-परिवर्तन (Sound-change)
	(ख) स्वन प्रक्रिया-परिवर्तन (Phonological change)
शब्द	शब्द समूह-परिवर्तन (Change in Vocabulary)
रूप	(क) रूप-परिवर्तन (Change in Morph)
	(ख) रूप प्रक्रिया-परिवर्तन (Morphological change)
वाक्य	वाक्य रचना-परिवर्तन (Syntactic change)
अर्थ	अर्थ-परिवर्तन (Semantic change)

स्वरूप

जहाँ तक भाषा-परिवर्तन के स्वरूप का प्रश्न है वह प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग होता है। उदाहरण के लिए यदि ध्वनि के स्तर पर परिवर्तन में लोप, आगम, विपर्यय आदि आता है तो अर्थ-परिवर्तन में संकोच, विस्तार आदेश आदि। इसीलिए यहाँ उपर्युक्त सभी स्तरों पर घटित होने वाले परिवर्तन अलग-अलग लिए जा रहे हैं—

(१) **ध्वनि-परिवर्तन**—पीछे 'ध्वनि-विज्ञान' शीर्षक अध्याय में लोप (जैसे स्थाली से थाली), आगम (जैसे पूर्व से पूरब), विपर्यय (जैसे वाराणसी से बनारस), समीकरण (जैसे चक्र से चक्का), स्वतः अनुनासिकता (जैसे सर्प से साँप), ह्रस्वीकरण (जैसे आभीर से अहीर), दीर्घीकरण (जैसे दुग्ध से दूध), घोषीकरण (जैसे कंकण से कंगन), तथा महाप्राणीकरण (शुष्क से सूखा) रूप में ध्वनि-परिवर्तन के विभिन्न रूपों पर विचार किया जा चुका है। इन परिवर्तनों के पीछे मुख सुख, भ्रामक व्युत्पत्ति तथा सादृश्य जैसे अनेक कारण काम करते हैं जो यथा स्थान दिए गए हैं।

(२) **स्वनप्रक्रिया-परिवर्तन**—जैसा कि हमने देखा ध्वनि-परिवर्तन में किसी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है किन्तु, स्वनप्रक्रियात्मक परिवर्तन में भाषा की स्वनिम-व्यवस्था परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत में स, श, ष तीन अलग-अलग स्वनिम थे। प्राकृतों में आकर परिवर्तन हुआ। कुछ प्राकृतों (जैसे नीय) में तो ये तीनों रहे, किन्तु एक तरफ मागधी में केवल एक 'श' रहा ('विष' के लिए बिश तथा, 'दश' के लिए 'दश' तथा 'सार' के लिए 'शार') तो दूसरी ओर शौरसेनी प्राकृत में केवल 'स' रहा ('विष' के लिए 'बिस', 'देश' के लिए 'दस' तथा 'सार' के लिए 'सार')। इस तरह मागधी में भी कुछ स्वनिमों में दो की कमी हो गई तथा शौरसेनी में भी। अर्थात् इन दोनों की ध्वनि-व्यवस्था या स्वनिम व्यवस्था में बदलाव आया।

[1] इस विषय से सम्बद्ध अनेकानेक बातें पुस्तक में अन्यत्र आ चुकी हैं। यहाँ उन्हें संक्षेप में एक स्थान पर अलग से लिया जा रहा है।

इसी तरह हिन्दी में बहुत सारे शब्द हमने लगभग मूलरूप में फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी से लिए तो सुशिक्षित हिन्दी भाषियों की स्वनिम-व्यवस्था बदली, क्योंकि छह नए स्वनिम (क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ऑ) हिन्दी भाषा में आ गए। कहना न होगा इन छहों के न्यूनतम विरोधी युग्म उपलब्ध हैं :

ताक (देख)	—ताक़	(दीवाल का आला)
खाना (भोजन)	—ख़ाना	(अलमारी या मेज़ का)
बाग (घोड़े की)	—बाग़	(फलों की)
राज (राज्य)	—राज़	(रहस्य)
फन (सांप का)	—फ़न	(हुनर)
काफ़ी (पर्याप्त)	—कॉफ़ी	(एक पेय)

इस प्रकार इस निश्चित समुदाय अर्थात् सुशिक्षित लोगों की हिन्दी की स्वनिम्-व्यवस्था बदल गई। इधर स्वतंत्रता के बाद जब से हिन्दी वालों के लिए उर्दू अनिवार्य विषय नहीं रही, क़ का प्रयोग समाप्त-सा हो गया तथा अब इन छह में केवल ख़, ग़, ज़, फ़, ऑ ही स्वनिमिक हैं तथा इनमें भी लगता है कि आगे चलकर ज़ तथा फ़ ही रह जाएँगे, क्योंकि ये अंग्रेज़ी शब्दों में भी हैं। शेष ख़, ग़ निकल जाएँगे।

इस तरह स्वनप्रक्रियात्मक परिवर्तन मुख्यतः दो रूपों में होता है—

(क) पुराने स्वनिम का लोप (जैसे हिन्दी में ष का)

(ख) नए स्वनिम का आगम (जैसे हिन्दी में क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ऑ, का)

यों यदि गहराई से देखें तो कुछ और प्रकार के परिवर्तन भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत शब्दों के बीच के 'ट' हिन्दी में आकर 'ड़' हो गए :

घोटक—घोड़ा
घोटिका—घोड़ी
घटिका—घड़ी

इस तरह जहाँ संस्कृत में 'ड' का मुख्य उपस्वन 'ड' ही था, वहाँ हिन्दी में 'ड़' भी हो गया—

[ड़्] [ड़्] स्वरों के मध्य में तथा शब्दांत में (घोड़ा, पहाड़)

[ड्] अन्यत्र (डाल, गड्डी, बुड्ढा)

अब यदि अंग्रेजी के सोडा, रोड, रेडियो जैसे शब्दों को हिन्दी का अंग मान लें तो घोड़ा-सोडा, मोड़-रोड जैसे शब्द उपन्यूनतम विरोधी युग्म हैं। ऐसी स्थिति में 'ड़्' को हिन्दी का अलग स्वनिम मानने की स्थिति है।

(३) शब्द समूह-परिवर्तन—पीछे शब्द विज्ञान शीर्षक अध्याय में पुराने शब्दों का लोप तथा नए शब्दों के आगम रूप में इसके स्वरूप पर विचार किया जा चुका है। इनके पीछे जो कारण काम करते हैं, वे भी वहाँ दिए गए हैं।

(४) रूप-परिवर्तन—पीछे रूपविज्ञान शीर्षक अध्याय में रूप-परिवर्तन की दिशाओं के रूप में रूप-परिवर्तन के स्वरूप पर विचार किया गया है। साथ ही रूप में परिवर्तन लाने वाले कारण भी वहाँ दिए गए हैं।

(५) रूपप्रक्रिया-परिवर्तन—हिन्दी में 'स्वनप्रक्रिया' का प्रयोग किसी भाषा की स्वनिमों तथा उपस्वनों की व्यवस्था के लिए अंग्रेजी 'फ़ोनोलजी' के अर्थ में चलता